श्री विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला १२२

वाग्विज्ञान

(भाषाशास्त्र)

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला
१२२

वाग्विज्ञान

(भाषाशास्त्र)

लेखक
आचार्य पण्डित श्री सीताराम चतुर्वेदी



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १

१९६९

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०२५

मूल्य



Post Box, No 69

Chowk, Varanasi-1 (INDIA)

1969

Phone : 3076



प्रधान कार्यालय :

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

गोपाल मन्दिर लेन,

पो० आ० चौखम्बा, पोस्ट बाक्स नं० ८, वाराणसी-१

फोन : ३१४५

THE
VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA
122

VĀG-VIJNĀNA

(A Comprehensive Study in Linguistics)

By
ĀCHĀRYA PANDIT ŚRĪ SĪTĀRĀM CHATURVEDĪ

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1
1969

४००
-चतुःशीतिका

First Edition
1969
Price Rs.[redacted]00

Also can be had of
THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
Publishers & Oriental Book-Sellers
P. O. Chowkhamba, Post Box 8, Varanasi-1 (India)
Phone : 3145

प्रस्तावना

इस विशाल पृथ्वीपर जिस किसी प्रदेशमें भी मनुष्योंका वास है वहाँ वे लोग अपने सम्पूर्ण व्यक्तिगत तथा सामूहिक कार्य-व्यवहारके लिये किसी न किसी भाषाका आश्रय लेते ही हैं। कोई भी व्यक्ति अपने ही देशमें १००-२०० मील पैदल चलता चला जाय तो उसे इतनी विभिन्न प्रकारकी भाषाओंके बोलनेवाले मिल जायँगे कि उनमेंसे कुछ भाषाओंका समझना भी कठिन होगा। हिन्दीमें एक सूक्ति प्रसिद्ध है—

चार कोसपर पानी बदले, आठ कोसपर बानी।
बीस कोसपर पगड़ी बदले, तीस कोसपर छानी॥

[चार कोस या आठ मीलपर पानीका स्वाद बदल जाता है, आठ कोस या सोलह मीलपर भाषा बदल जाती है, बीस कोस या चालीस मीलपर वेश विशेषतः पगड़ी बाँधनेका ढंग, बदल जाता है और तीस कोस या साठ मीलपर छप्पर बनानेकी शैली बदल जाती है।]

हमारे देशके जो अनेक साधु, महात्मा और तीर्थ करनेवाले गृहस्थ पैदल ही चारों धाम (बदरीनाथ, वैद्यनाथ या जगन्नाथ पुरी, रामेश्वर और द्वारका) कर आते हैं वे अधिक विस्तारसे इस उक्तिका समर्थन कर सकते हैं कि किस प्रकार हमारे देशमें थोड़ी-थोड़ी दूरपर भाषाएँ बदलती हैं।

यदि कोई व्यक्ति केवल काशीसे प्रयाग-तक ही पैदल विन्ध्यवासिनीजीका दर्शन करते हुए चले तो पंच-क्रोशीकी सीमापर उनसे पूछा जायगा 'केहर् जइब' (आप कहाँ जायँगे ?)। विन्ध्याचल पहुँचते-पहुँचते आप सुनेंगे 'केहर् जाब्य' और

प्रयागमें सुनाई पड़ेगा 'कहाँ जाबो'। इतना ही नहीं, कहीं-कहींपर तो एक नगरमें बसनेवाले विभिन्न समुदाय भी विभिन्न प्रकारकी भाषाका प्रयोग करते हैं। काशीमें 'वह गया था' के लिये सामान्य रूपसे कहा जाता है 'ऊ गयल् रहल्' किन्तु काशीके अग्रवाल कहते हैं 'ऊ गवा रहा'। काशीके गुजराती लोग 'अपने घर' को 'अपाने घर' कहते हैं। यदि कोई इस पृथ्वीकी परिक्रमाके लिये निकल पड़े तो उसे ऐसी अनेक भाषाएँ सुननेको मिलती चलेंगी जो उसकी बोलीसे मिलती-जुलती होनेपर भी कुछ भिन्न होंगी या पूर्णतः इतनी भिन्न होंगी कि समझमें नहीं आ सकेंगी। यदि कोई व्यक्ति अपना सशक्त रेडियो खोलकर संसारके विभिन्न देशोंके रेडियो-केन्द्रोंकी भाषा सुनने लगे तब उसे कुछ-कुछ अनुमान हो सकता है इस संसारमें कितनी विभिन्न भाषाएँ बोली जाती हैं। यह कम आश्चर्यकी बात नहीं है कि इस पृथ्वीके लगभग तीन अरब मनुष्य दो सहस्र सात सौ छानवे (२७९६) भाषाएँ बोलते हैं।

किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि ये सभी लगभग २८०० भाषाएँ एक दूसरीसे पूर्णतः भिन्न और विजातीय हैं, फिर भी कोई भी व्यक्ति कभी यह विचार नहीं करता कि मनुष्य बोलता ही क्यों है? क्या बिना बोले उसका काम नहीं चल सकता? यदि सब बोलते ही हैं तो वे एक ही भाषाका प्रयोग क्यों नहीं करते? यदि वे विभिन्न भाषाओंका प्रयोग करते हैं तो इतनी भाषाएँ आ कहाँसे गईं? किस प्रकार उनका निर्माण हुआ? उनमें परस्पर क्या सम्बन्ध या समता-विषमता है? और उनमें निरन्तर परिवर्तन और परिवर्धन किस प्रकार होते रहते हैं?

किन्तु कुछ विद्वानोंने जब विभिन्न देशोंकी भाषाओंका सूक्ष्म अध्ययन किया तब उन्हें ज्ञात हुआ कि बहुतसे देशोंकी भाषाएँ परस्पर इतनी मिलती-जुलती हैं मानो वे किसी एक ही भाषा-स्रोतसे फूटकर निकली हों और विभिन्न देशोंमें पहुँचकर अलग जान पड़ने लगी हों अथवा किसी प्रबुद्ध भाषा-संस्कृतिने अपनी अनेक विद्याओंके साथ अपनी भाषाका संस्कार भी उन्हें दे डाला हो। इस भाषा-साम्यसे प्रभावित होकर उन्होंने यह परीक्षण प्रारम्भ कर दिया कि ये भाषाएँ किस स्रोतसे आईं? इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है? किन अंशोंमें वे एक दूसरीसे भिन्न या अभिन्न हैं? प्रारम्भमें तो इस प्रकारके परीक्षणको 'साहित्याध्ययन' (फ़िलौलौजी) नाम दिया गया किन्तु पीछे चलकर उसका नाम भाषा-शास्त्र या भाषा-परीक्षण (लिंग्विस्टिक्स) नाम दे दिया गया। इस ग्रन्थमें मनुष्यकी सम्पूर्ण व्याकृता वागभिव्यक्तिके सभी पक्षोंपर विचार किया गया है इसलिये इसका नाम वाग्विज्ञान रक्खा गया है।

जर्मन और योरपकी अन्य भाषाओंमें 'फ़िलौलौजी' शब्दका अर्थ है 'किसी देशके साहित्यका अध्ययन।' इसीलिये भाषाओंके अध्ययनके लिये यह संज्ञा छोड़कर उसके लिये 'भाषा-शास्त्र' या 'भाषालोचन' (लिंग्विस्टिक्स) शब्द प्रचलित हुआ। इस शास्त्रको कुछ

लोगोंने 'भाषाविज्ञान' भी कहा है किन्तु इसे 'विज्ञान' कहना इसलिये उचित नहीं है कि विज्ञानमें तो एक ही प्रकारकी परिस्थिति या लक्षण होनेपर विश्व-भरमें कहीं भी एक ही परिणाम होता है किन्तु भाषाके परीक्षणमें यह सम्भव नहीं है। जिस प्रकार मनोविज्ञानमें यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक परिस्थितिमें सब मनुष्योंकी आंगिक, वाचिक या भावात्मक प्रतिक्रिया एक-सी ही होगी वैसे ही भाषाके सम्बन्धमें भी यह नहीं कहा जा सकता कि विभिन्न सांस्कारिक अवस्थाओंमें मनुष्यकी भाषा एक-सी ही होगी। कहा जाता है कि एक बार अकबरकी राजसभामें कोई ऐसा विदेशी आया जो अनेक प्रकारकी भाषाएँ अत्यन्त प्राकृतिक ढंगसे बोलता था। बहुभाषावाले नगरोंमें ऐसे बहुतसे बहुभाषाभाषी प्राप्त हो भी जाते हैं। अतः, बीरबलको यह काम सौंपा गया कि उसकी मूल भाषाका परिज्ञान करे। बीरबलने उसे अचानक एक घूँसा जमाया तो वह अपनी मातृभाषामें ही चिल्ला उठा। किन्तु परीक्षणकी यह विधि भी सटीक नहीं है क्योंकि ऐसे लोगोंकी कमी नहीं है जिनकी मातृभाषा तो कोई भारतीय भाषा है किन्तु उनपर अँगरेज़ी भाषाका ऐसा संस्कार छा गया है कि वे मुक्का-खानेपर भी अँगरेज़ीमें ही 'माई गौड' कहेंगे। अतः, भाषाके सम्बन्धमें किसी भी वैज्ञानिक पद्धतिपर किसी प्रकारका कोई परीक्षण करके कोई समान परिणाम नहीं निकाला जा सकता इसलिये भाषाओंके परीक्षणके शास्त्रको 'भाषालोचन' या 'भाषाशास्त्र' कहना ही ठीक होगा। हमारे यहाँ शास्त्रको 'लोचन' या 'नेत्र' कहा भी गया है—

सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः ॥

[शास्त्र ही सबकी आँख है। जिसे यह आँख नहीं मिली उसे अन्धा समझना चाहिए।]

'भाषाशास्त्र' नाम भी इसलिये पर्याप्त नहीं प्रतीत होता कि भाषाका विश्लेषण करना तो व्याकरणका काम है इसलिये यह शब्द भी भ्रामक सिद्ध होने लगा क्योंकि वास्तवमें 'भाषाशास्त्र' नामवाले अध्ययनके अन्तर्गत भाषाका तो कम, वाणीके विभिन्न अंगोंकी रचनाका अधिक परीक्षण होता है। इसलिये इस ग्रन्थका नाम 'वाग्विज्ञान' या 'वाणीके सम्बन्धमें विशेष ज्ञान' रख दिया गया है। इस नामकरणमें 'विज्ञान' शब्दका अर्थ 'विशेष ज्ञान' है, न साइन्स, न ब्रह्मज्ञान।

संसारमें प्रत्येक व्यक्ति बोलता तो है किन्तु कभी यह विचार करनेका कष्ट नहीं करता कि हम विभिन्न प्रकारके व्यक्तियोंसे, विभिन्न अवसरोंपर, विभिन्न प्रकारकी भाषाका प्रयोग क्यों करते हैं। हम क्यों एक व्यक्तिसे 'पानी लाओ' कहते हैं और दूसरे व्यक्तिसे 'कृपया जल मँगानेका कष्ट कीजिए' कहते हैं? विभिन्न भाषाओंके कवि और लेखक अपनी-अपनी साहित्यिक रचनामें सामान्य कथनको भी क्यों विशेष शब्दों, शैलियों और सूक्तियोंसे सुसज्जित करते हैं? विभिन्न देशोंमें क्यों अलग-अलग इतनी

भाषाएँ बोली जाती हैं और लोग क्यों अपनी-अपनी भाषामें निरन्तर भाषा-प्रयोगके नये रूप और शैलियाँ निकालते चले जा रहे हैं ? वाणीके इस विचित्र विलासको समाज, मन, परिस्थिति तथा विद्याके संस्कारसे क्या बल और प्रेरणा प्राप्त होती है और वाणीका यह विलास कितने रूप ग्रहण करता है ? यह सब वाग्विज्ञानका ही विषय है। इसीलिये इस ग्रन्थमें विस्तारसे केवल परिपाटीगत 'भाषाशास्त्र' की ही दृष्टिसे ही नहीं वरन् वाणीके प्रयोग और विलासपर मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, नरशास्त्र और कलाकी दृष्टिसे भी विचार किया गया है।

वाग्विज्ञानके विषय

जैसे आयुर्वेदका अध्येता शरीर-रचनाका अध्ययन करते हुए यह जिज्ञासा करता है कि मानव-देह कैसे बनती है, कैसे बढ़ती है, इसके कितने अंग हैं विभिन्न मनुष्योंकी देहोंमें क्या साम्य और वैषम्य है, उसी प्रकार वाग्विज्ञानमें भी यह अध्ययन किया जाता है कि मनुष्यके मुखसे वाणीकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई ? विभिन्न प्रदेशोंके मनुष्योंकी वाणीमें क्यों भेद है ? विभिन्न प्रकारकी वाणियोंका किस प्रकार विकास हुआ ? उनमें कितनी मूल ध्वनियाँ थीं ? कितनी नई ध्वनियाँ आई ? कहाँसे आई ? उनमें कब, क्यों और कैसे परिवर्तन हुआ ? उनमें शब्दोंका निर्माण किस प्रकार होता है और कैसे उनमें परिवर्तन होता है ? उन शब्दोंके पहले क्या अर्थ थे और उन अर्थोंमें कब, कैसे और क्यों परिवर्तन होते चले गए ? उस परिवर्तनसे शब्द या अर्थमें क्या नया चमत्कार आ गया ? कोई भाषा पहले किस प्रकार बोली जाती थी ? उसके रूपमें किस प्रकार विकास हुआ ? कौन-सी भाषाएँ परस्पर मिलती-जुलती हैं ? किन भाषाओंका किस भाषासे विकास हुआ ? इन भाषाओंके कितने परिवार हैं और भाषाओंके परीक्षणके लिये कौन-सी नई विधियाँ प्रयुक्त हो रही हैं ? भाषाओंके विकास और विलासमें कहाँसे प्रेरणा, शक्ति और सहायता मिलती है ? इन सब विषयोंका विस्तारसे इस ग्रन्थमें विवेचन किया गया है।

वाग्विज्ञानसे सम्बद्ध अन्य शास्त्र

वाग्विज्ञानसे सम्बद्ध अनेक समस्याओं, प्रश्नों और जटिलताओंका समाधान व्याकरण, साहित्य, निरुक्त, शिक्षा और प्रातिशाख्योंने हमारे यहाँ अपने-अपने क्षेत्रकी सीमामें कर दिया है।

बहुतसे विद्वान् व्याकरणको भाषाका नियन्त्रक या शासक मानते हैं किन्तु व्याकरण तो किसी भी भाषाके लोक-सम्मत प्रयोगकी साधुताको प्रमाणित मात्र करता है जिसके आश्रयपर कोई भी व्यक्ति उस भाषाका साधु रूप समझकर उसका प्रयोग कर सके तथा उस भाषाके ग्रन्थको ठीक-ठीक समझ सके। साहित्य-शास्त्र या काव्य-शास्त्रमें किसी भी प्रकारकी भाषा-रचनाके उद्देश्य, शब्दोंके प्रयोगकी रीति,

गुण, दोष, अलंकार, रीति, वृत्ति, काव्यरूप और उसके तत्त्वोंकी विवेचना होती है और यह समझाया जाता है कि विभिन्न प्रकारके काव्य-रूपोंके क्या लक्षण हैं, उन्हें किस प्रकार श्रेष्ठ बनाया जा सकता है तथा उनका परीक्षण किस प्रकार किया जा सकता है। निरुक्तकारोंने वैदिक संस्कृतमें प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंका वास्तविक अर्थ समझाते हुए बताया कि उन शब्दोंके कितने प्रकार हैं, वे कहाँसे आए और कैसे बने ? शिक्षामें वेदके उच्चारणकी समस्त प्रक्रिया स्पष्ट रूपसे समझा दी गई है कि वैदिक शब्दों और मन्त्रोंका किस प्रकार उच्चारण किया जाय। प्रातिशाख्योंमें यह बताया गया है कि किस वेदकी किस शाखाके वेदपाठियोंको वेदके मन्त्रोंका किस प्रकार पाठ करना चाहिए।

किन्तु भाषाओंकी उत्पत्ति, प्रकृति और उनके प्रसारका समुचित परिज्ञान करनेके लिए भूगर्भ-शास्त्र, भूगोल, नरशास्त्र, इतिहास, शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र, राजनीति, चित्रकला, भौतिक विज्ञान और संगीत-विद्याका भी आश्रय लेना चाहिए।

भूगर्भ-विद्याके द्वारा पृथ्वीके भीतर मिलनेवाले मानव-पञ्जरों तथा जीव-पञ्जरोंके प्रस्तरीभूत अवशेषों तथा प्राचीन मानव-जातियों-द्वारा प्रयुक्त अस्त्र-शस्त्र और पात्रों आदिका ज्ञान होनेपर तत्कालीन मानव-जीवनका और तत्सम्बद्ध भाषाका परिचय भी प्राप्त हो जाता है। कहीं-कहीं तो पृथ्वीके भीतरसे बहुतसे शिलालेख भी प्राप्त हुए हैं जिनका अभीतक अर्थ-निरूपण नहीं हो सका।

भूगोलके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि पृथ्वीके किस प्रदेशमें, किस प्रकारका जलवायु, भू-प्रकृति, नदी और पर्वत किस प्रकार मानव-जीवनके लिये हितकर या अहितकर हैं। उसके अनुसार विभिन्न प्रदेशोंके विभिन्न प्रकारके मानव-समाजोंके रहन-सहन, खान-पान, वृत्ति-व्यवसाय, खेती-बारी, जीव-जन्तु, पशु-पक्षी आदि सब सम्बद्ध तत्त्वोंका ज्ञान हो जाता है और तब इससे सम्बद्ध भाषा, उसकी प्रकृति, उसका शब्द-भाण्डार, अन्य मानव-जातियोंसे उसका सम्पर्क, उस सम्पर्कसे शब्दों और भावोंका आदान-प्रदान आदि भाषा-सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण जिज्ञासाओंका समाधान हो सकता है। इसी ज्ञानके आधारपर इस ग्रन्थमें यह सिद्ध किया गया है कि पर्वत, नदी मरुभूमि आदि भौगोलिक प्रतिबन्धोंमें रहनेवाले विभिन्न मानव-समुदायोंने स्वतन्त्र रूपसे अपनी-अपनी भाषाओंका विकास किया, इसीलिये संसारमें इतनी अधिक भाषाओंका विकास हुआ। साथ ही विभिन्न भाषाभाषी मानव-समुदायने दूसरे प्रदेशोंपर आक्रमण करके अपनी भाषा दूसरोंपर लादी या किसी समुन्नत सुसंस्कृत जातिके प्रभावसे अन्य देशोंने अपनी संस्कृति और विद्याका विकास करनेके साथ-साथ अपनी भाषाका भी संस्कार किया। इसलिये वाग्विज्ञानके अध्ययनके लिये भूगोलका अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

'देशान्तर' (दूसरा देश, पराया देश) शब्दका अर्थ ही यह था कि वहाँकी भाषा भिन्न हो या पर्वत या कोई बड़ी नदी बीचमें पड़ती हो। वृद्ध मनुने कहा है—

वाचो यत्र विभिद्यन्ते गिरिर्वा व्यवधायकः।
महानद्यन्तरं यत्र तद्देशान्तरमुच्यते ॥

[जहाँ दूसरी भाषा जाती हो, बीचमें पर्वत या बड़ी नदी पड़ती हो उसे देशान्तर कहते हैं।]

देशान्तरके सम्बन्धमें पुरानी संस्कृत सूक्ति ही है—

देशनामनदीभेदान्निकटोऽपि भवेद्यदि।
तत्तु देशान्तरं प्रोक्तं स्वयमेव स्वयंभुवा ॥

[यदि समीप होनेपर बीचमें नदी पड़ गई हो या देश पड़ गया हो तो उसे स्वयं स्वयंभूने देशान्तर कहा है।]

इस ग्रन्थमें इसीलिये स्पष्ट किया गया है कि पर्वत, नदी, मरुभूमि आदिका व्यवधान पड़नेसे विभिन्न मानव-जातियोंकी अलग-अलग भाषाएँ विकसित हुई हैं। बृहस्पतिने देशान्तरकी व्याख्या करते हुए कहा है—

देशान्तरं वदन्त्येके षष्टियोजनमन्तरम्।
चत्वारिंशद्वदन्त्येके त्रिंशदेके तथैव च ॥

[कुछ लोग ६० योजन (१२० मील), कुछ लोग ४० योजन (८० मील) और कुछ लोग ३० योजन (६० मील) के अन्तरपर बसे हुए देशको देशान्तर कहते हैं। किन्तु वृद्ध मनुकी उपर्यंकित व्याख्या ही देशान्तरकी भावनाको स्पष्ट करती है। वास्तवमें परदेश या 'देशान्तर' वही है जो किसी पर्वत और बड़ी नदीके उस पार हो अर्थात् जहाँ पहुँचना सामान्यतः अगम्य हो क्योंकि ऐसे ही भौगोलिक व्यवधानके कारण भिन्न संस्कृतिवाले प्रदेशके लोग भिन्न भाषाका प्रयोग करते हैं।

वाग्विज्ञानका समुचित परिचय प्राप्त करनेके लिये नर-शास्त्रका अध्ययन भी अपेक्षित है जिसके अन्तर्गत विभिन्न मानव-जातियोंके रूप-रंग, शरीर-प्रकृति, आचार-विचार, रीति-नीति, विचार-विश्वास, कथा-वार्ता, गीत-नृत्य, भाषा आदि समस्त सम्बद्ध तत्त्वोंका अध्ययन होता है। यह विज्ञान निश्चय ही वाग्विज्ञानके सटीक अध्ययनके लिये आवश्यक और अपरिहार्य अंग है।

मनुष्यका सम्पूर्ण वाग्व्यापार मुँह और कानसे होता है। सुनकर लिखनेके लिये कान, आँख और हाथका तथा बोलकर लिखनेके लिये मुँह, कान, आँख और हाथका प्रयोग होता है। वाणीकी इस प्रक्रियामें मुँहके भीतर या शरीरके भीतर किस प्रकारके आन्तरिक या बाह्य प्रयत्न और विक्षोभसे किस प्रकारकी ध्वनियों, वर्णों और शब्दोंका

उच्चारण होता है और किस प्रकार किसीके मुखसे निकले हुए अथवा अन्य भौतिक कारणोंसे समुद्भूत शब्द और ध्वनियाँ हम कानसे सुनकर समझ पाते हैं। यह समस्त ज्ञान शरीर-विज्ञानके परिचयसे ही प्राप्त होता है। अतः, वाणीके इस पक्षका अध्ययन शरीर-विज्ञान और भौतिक विज्ञानसे ही होता है। भौतिक विज्ञानकी समुन्नतिके कारण ही आजकल ऐसे यन्त्रोंका आविष्कार हो गया है जिनसे सब प्रकारकी ध्वनियोंका अंकन, रक्षण और पुनरावर्तन सम्भव हो गया है। वर्तमान वैज्ञानिक वाग्विज्ञानके आधारपर आजकल वाग्विज्ञानके क्षेत्रमें वाक्स्वरता (इन्टोनेशन)-सम्बन्धी अनेक अनुसन्धान होते जा रहे हैं। भौतिक विज्ञानके इसी क्षेत्रमें संगीतकी ध्वनियों, लयों, स्वरोंके आरोह-अवरोहों, तानों, मूर्च्छनाओं आदिके अध्ययनके साथ-साथ वाणीकी लयात्मकताका और काव्य तथा संगीतके पारस्परिक सम्बन्धका अध्ययन हो रहा है। इस प्रकार शरीर-विज्ञान, भौतिक विज्ञान और संगीत-विज्ञानका सहयोग भी वाग्विज्ञान-के अध्ययनकी पूर्णताके लिये नितान्त आवश्यक है।

यह सर्वमान्य और सर्वानुभूति तथ्य है कि वाणी स्पष्टतः मानसिक और सामाजिक प्रक्रिया है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ भी कहनेसे पूर्व यह सोच लेता है कि मुझे क्या बात, किस व्यक्तिसे, किस भाषामें, किस प्रकार कहनी चाहिए और उसकी क्या प्रतिक्रिया श्रोतापर होगी। अनेक साहित्यकार भी किसी मानसिक प्रेरणाके कारण ही काव्यकी रचना करते हैं और पाठकको दृष्टिमें रखकर अपने काव्यको अधिकसे अधिक इतना रोचक बनानेका प्रयत्न करते हैं कि श्रोता या पाठक अवश्य उससे प्रभावित हो जाय। इसी मानसिक प्रेरणाके कारण ही मानव-समाजने भाषाके अनेक औपचारिक रूप स्थिर कर लिए हैं और भाषाके क्षेत्रमें ऐसा संस्कार बन गया है कि विभिन्न प्रकारके अवसरोंपर विभिन्न प्रकारके व्यक्तियोंसे विशेष प्रकारका वाग्व्यवहार ही सामाजिक शिष्टाचारका अंग माना जाता है। इसलिये वाग्विज्ञानके अध्ययनमें मनोविज्ञान और समाज-शास्त्रका सहयोग भी नितान्त अपेक्षित है।

मानव-समाजके विभिन्न समुदाय भिन्न-भिन्न प्रदेशोंमें रहते हुए अपने समुदायों-की जनसंख्या बढ़ जानेके कारण किन-किन प्रदेशोंमें, क्यों जाकर रहे? किस प्रकार उन्होंने दूसरे प्रदेशके मानव-समुदायको परास्त करके उनपर अपनी भाषा और संस्कृति थोपी? किस प्रकार अनेक निरंकुश स्वच्छन्द शासकोंने अन्य जातियोंको परास्त करके उनकी भाषा और संस्कृति नष्ट करके बलपूर्वक उनपर अपनी संस्कृति लादी? किस प्रकार किसी सुसंस्कृत समुन्नत जातिकी ओर आकृष्ट होकर भिन्न मानव-समाजोंने उनसे संस्कृति, भाषा और विद्याएँ ग्रहण कीं? किस प्रकार नये-नये समाज और राष्ट्र बने? इन सबका परिज्ञान इतिहास और राजनीतिके परिचयसे ही हो सकता है।

किन्तु भाषाका विकास केवल उपर्यङ्कित विज्ञानों और शास्त्रोंके आश्रयपर ही नहीं, कलाके आश्रयपर भी हुआ। वाणीके समस्त अलङ्करण, काव्यकी अनेक रूप-शैलियाँ और भाषा-शैलियाँ, सूक्तियाँ और मुहावरे, अनेक प्रकारका अलंकृत वाग्विलास सब मनुष्यकी कला-प्रियताका ही परिणाम है और लिपि-कला तो स्पष्टत: आलेख्य-कलाके विकासका ही परिणाम है। इस प्रकार वाग्विज्ञान अनेक शास्त्रों, विज्ञानों और कलाओंके आश्रयसे संजीवन प्राप्त करनेवाला विज्ञान है।

भारतमें वाग्विज्ञानका सूत्रपात

जिस संयत, सूक्ष्म और व्यापक क्रमसे आर्य ऋषियोंने वाणीकी उत्पत्ति, मुखसे निकलनेवाली निरुक्ता तथा व्याकृता वाणीकी समस्त ध्वनियोंके उत्पत्ति-स्थान और प्रयत्नका निर्वचन करके ध्वनि-स्थानके अनुसार उनका समुचित वर्गीकरण किया, शब्दोंके निर्माण, उनकी उत्पत्ति तथा व्युत्पत्ति, उनका संधि-समास, वाक्योंमें उनके प्रयोग, एक-एक शब्दके भिन्न अर्थ, शब्दोंकी शक्तिके अनुसार अर्थमें चमत्कार, शब्दोंका इतिहास, भाषाके गुण और संस्कार, उच्चारणके साधु रूप और उनकी प्रक्रिया सबका जितना साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया उतना वर्तमान कालके विश्व-भरके भाषा-शास्त्रियोंने भी नहीं किया। अपौरुषेय वेदकी दैवी वाणीको लोकवाणीकी प्रगल्भता और बहुरूपतासे बचानेके लिये आर्य ऋषियोंने अष्ट-विकृति-जैसी[1] ऐसी-ऐसी पद्धतियोंका विकास कर लिया था कि उनके कारण आज भी उसी प्रकार वेद-मन्त्रोंका उच्चारण और पाठ होता है जैसा आजसे सहस्रों वर्ष पहले हुआ करता था। उन्होंने सब संहिताओंके पदपाठ बनाकर उन्हें श्रुति बनाकर शिष्योंके गलेमें उतार दिया। इस प्रकार संहिता बनाने और पदपाठकी कल्पनाका श्रेय शाकल्य ऋषिको है। वेदमन्त्रोंके उच्चारणकी शिक्षाके लिये शब्दोंके उदात्त, अनुदात्त और स्वरित उच्चारण तथा आरोह-अवरोहका बहुत ध्यान रक्खा जाता था जिसका विवरण पाणिनीय और याज्ञवल्क्यके शिक्षाग्रन्थोंमें मिलता है। वेदपाठ करनेवालोंको यह भी जानना पड़ता था कि वेदके मन्त्रोंके शब्द किस प्रकार बनते और सिद्ध होते हैं, उनके कितने भेद होते हैं और वे मन्त्रोंमें किस प्रकार प्रयुक्त हुए हैं। इसका ज्ञान व्याकरण या शब्द-शास्त्रसे होता है। वेदके शब्दोंकी प्रकृति, उनके प्रकार और अर्थका विवरण निरुक्तसे मिलता है। इन सब शास्त्रोंके अनुशीलनसे स्पष्ट है कि आर्य ऋषियोंने वैदिक संस्कृत भाषाकी प्रकृतिका अत्यन्त सूक्ष्म, पूर्ण और सर्वाङ्ग निरूपण कर लिया था।

---

१. जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः॥

प्रातिशाख्य

अनेक वैदिक ऋषियोंने अपने-अपने शिष्योंको जिस स्वर-प्रक्रियासे अर्थात्-स्वरोंके आरोह-अवरोह, उदात्त, अनुदात्त और स्वरितके प्रयोगसे मन्त्रोंके शब्दोंको मिलाकर या अलग करके पढ़नेकी जो प्रक्रिया निकाली उसके अनुसार वेदका पाठ करनेवालोंकी उतनी ही शाखाएँ बन गईं और इस प्रकार प्रत्येक वेदके अनेक प्रातिशाख्य (वेदपाठकी विभिन्न-प्रक्रियाओंकी शाखाएँ) बन गए। ज्यों-ज्यों राजनीतिक उथल-पुथलके कारण वेदके अध्ययनमें शिथिलता आने लगी और विभिन्न शाखाओंके आचार्य समाप्त होते गए त्यों-त्यों प्रातिशाख्य भी समाप्त होते गए, यहाँतक कि अब केवल ऋग्वेदकी शाकल शाखाका शौनक-रचित ऋक्प्रातिशाख्य, यजुर्वेदकी तैत्तिरीय शाखाका तैत्तिरीय और वाजसनेयि शाखाका कात्यायन-रचित वाजसनेय प्रातिशाख्य, सामवेदकी माध्यन्दिन शाखाका पुष्प मुनि-रचित साम-प्रातिशाख्य और अथर्ववेदका अथर्व-प्रातिशाख्य या शौनकीय चतुराध्यायी ही बचे रह गए हैं।

ऋग्वेदका प्रातिशाख्य : शौनक, विष्णुपुत्र और उव्वट

शौनकने ऋग्वेदके प्रातिशाख्यमें सभी आवश्यक तत्त्वोंका सन्निवेश कर दिया था और जो कुछ अंश शेष रह गए वे सब उपलेख-सूत्रमें प्राप्त हो जाते हैं। इस ऋग्वेद प्रातिशाख्यपर सर्व-प्रथम विष्णुपुत्रने और उसके पश्चात् उव्वटाचार्यने विस्तृत भाष्य लिखा।

(तैत्तिरीय प्रातिशाख्य : आत्रेय, माहिषेय, वररुचि और कार्तिकेय)

यजुर्वेदके तैत्तिरीय प्रातिशाख्यमें आत्रेय स्थविर, कौण्डिन्य, भारद्वाज, वाल्मीकि, अग्निवेश्य, अग्निवेश्यायन और पौष्करस नामक बहुतसे आचार्योंका उल्लेख मिलता है। इस तैत्तिरीय प्रातिशाख्यपर आत्रेय, माहिषेय और वररुचिने भाष्य लिखे हैं। इन तीनोंपर भी कार्तिकेयने त्रिभाष्य नामसे विस्तृत भाष्य लिखा है।

वाजसनेय प्रातिशाख्य : कात्यायन

कात्यायनके वाजसनेय प्रातिशाख्यमें शाकटायन, शाकार्य, गार्ग्य, काश्यप, दाल्भ्य, जातुकर्ण, शौनक, उपाशिव, काव्य और माध्यन्दिन नामके अनेक प्राचीन आचार्योंके मतोंका उल्लेख है। सर्वप्रथम इसी प्रातिशाख्यमें यह स्पष्ट किया गया था कि वेद और महाभाष्योंकी संस्कृत भाषा भिन्न है। इस प्रातिशाख्यके प्रथम अध्यायमें संज्ञाकी, द्वितीयमें वेदपाठकी शुद्ध प्रक्रियाकी, तृतीयसे पञ्चम-तक शब्दोंके बीचमें आनेवाले वर्णोंके आगम, निगम तथा परिवर्तन और उन शब्दोंके स्वरूपोंकी तथा षष्ठ और सप्तममें वेदमन्त्रोंमें आनेवाले क्रिया-शब्दोंके उच्चारणकी पद्धति बताई गई है।

सामवेदका प्रातिशाख्य : पुष्प मुनि

सामवेदके प्रातिशाख्यमें पुष्प मुनिने अन्य प्रातिशाख्योंके समान ही विवेचन किया है किन्तु साथ ही यह नई व्यवस्था भी दी है कि सामवेदका पाठ कहाँ किया जाय, कहाँ नहीं।

अथर्ववेदका प्रातिशाख्य

अथर्ववेदके दो प्रातिशाख्योंमेंसे शौनकीय चतुराध्यायिकामें स्वर और व्यञ्जनके मेल, शब्दके उच्चारण, आरोह-अवरोह, बलाघात, वाक्य-निर्माण, शब्दका स्वरूप और वेद पढ़नेके उद्देश्यकी विस्तृत व्याख्या की गई है।

प्रातिशाख्यका इतिवृत्त

वेदके उपर्यङ्कित प्रातिशाख्योंमेंसे कुछ तो पाणिनिके पूर्वके हैं और कुछ उनके पीछेके। कुछ विद्वानोंका मत है कि पुष्प मुनि-द्वारा रचित साम-प्रातिशाख्य केवल पाणिनिके सूत्रोंसे ही प्राचीन नहीं वरन् मीमांसा-दर्शनसे भी प्राचीन है क्योंकि साम-प्रातिशाख्यका बहुत-सा अंश मीमांसा-दर्शनमें ज्योंका त्यों ले लिया गया है।

कुछ पश्चिमी विद्वानोंका मत है कि वाजसनेय प्रातिशाख्यके रचयिता और पाणिनीय व्याकरणके वार्तिककार कात्यायन दोनों एक ही हैं क्योंकि दोनोंकी शैली, विवेचन-पद्धति और स्पष्ट आलोचना-प्रणाली समान है। इसलिये उन्होंने यह मान लिया है कि वाजसनेय प्रातिशाख्य पाणिनीय व्याकरणसे बहुत पीछे लिखे गए किन्तु कुछ विद्वान् प्रातिशाख्योंको पाणिनीय व्याकरणसे पूर्वका मानते हैं। पश्चिमीय विद्वानोंका मत है कि इन सब प्रातिशाख्योंमें सर्वप्राचीन अथर्ववेद प्रातिशाख्य (शौनकीय चतुराध्यायिका) है। इसके पश्चात् क्रमशः ऋग्वेद प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य और सबसे अन्तमें वाजसनेय प्रातिशाख्यकी रचना हुई।

अथर्ववेद प्रातिशाख्य और ऋग्वेद प्रातिशाख्यके रचयिता शौनक दो व्यक्ति थे या एक, इसका कोई समुचित समाधान उपलब्ध नहीं है। ऋग्वेद प्रातिशाख्यके रचयिता शौनकने जिस व्याळिका उल्लेख किया है उसने पाणिनिकी अष्टाध्यायीपर 'संग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा है। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि निश्चय ही व्याळिसे बहुत पूर्व रहे होंगे और शौनक तो उनसे भी पीछेके आचार्य रहे होंगे।

प्रातिशाख्यको वेदका व्याकरण नहीं मानना चाहिए। कुछ विद्वानोंने भ्रमवश प्रातिशाख्यको वेदका व्याकरण मान लिया है। वे सम्भवतः भूल गए कि वेदके छह अंगों (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द और व्याकरण) में व्याकरण स्वयं एक वेदाङ्ग है और किसीने भी वेदके अंगोंमें प्रातिशाख्योंकी गणना नहीं की है। भारतीय विद्वानोंने पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि संहिता या वेदपाठमें ध्वनि, स्वर और पदका

प्रयोग समझानेके लिये ही प्रातिशाख्य लिखे गए हैं। वास्तवमें प्रातिशाख्योंका अधिक विषय वही है जो शिक्षाका है। व्याकरणका तो उससे बादरायण सम्बन्ध भी नहीं है। जहाँतक शिक्षाकी बात है, उसके लिये तो शौनकने अलग शौनकीय शिक्षाकी रचना कर ही दी है इसलिये प्रातिशाख्यको न वेदका व्याकरण समझना चाहिए न शिक्षा।

शिक्षा

छह वेदांगोंमेंसे शिक्षा भी वेदका प्रमुख अंग है। शिक्षामें यह उपदेश दिया गया है कि वेद-पाठ करते समय कैसे बैठना और कैसे उच्चारण करना चाहिए उसमें वर्ण, स्वर और व्यञ्जनकी संख्या, मात्राका रूप, वर्ण और स्वरकी सन्धि, विच्छेद, आरोह-अवरोह आदि सबका विवरण दिया गया है। वेदके लिये उच्चारण ही प्रमुख अंग है क्योंकि स्वरके तनिकसे भेदसे अर्थमें भेद हो जाता है—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

[पाणिनीय शिक्षा।

[यदि स्वर या वर्णसे दुष्ट किसी शब्दका प्रयोग हो जाय और समुचित प्रयोग न हो तब वह शब्द वाग्वज्र बनकर उसी प्रकार यजमानको मार डालता है जैसे 'इन्द्रशत्रु' शब्दमें स्वरके दोषसे वृत्रासुर मारा गया था।]

इसी विशेषताके कारण सभी वेदांगोंमें शिक्षाका सबसे अधिक आदर रहा और उसे लोग वेदके समान ही आदरणीय समझते रहे। शब्देन्दुशेखरके रचयिताका कथन है कि पाणिनिके समान महापण्डितने भी शौनक-रचित 'शिक्षा'को वेदके समान ही समादृत किया। इन प्रारंभिक शिक्षा-ग्रन्थोंमें वेदकी संहिताओंकी पाठविधि बताई गई है, फिर वेदके मंत्रोंमें आए हुए शब्दोंको अलग-अलग करके पढ़नेकी प्रक्रियाका विवेचन किया गया है और फिर धीरे-धीरे वेदके पद-पाठकी पद्धति चली जिसमें एक-एक पद अलग-अलग करके मंत्र पढ़े जाने लगे। यह पद्धति बहुत आवश्यक नहीं थी क्योंकि यास्क, पाणिनि और पतंजलिने यह व्यवस्था दे दी है कि जहाँ अर्थ स्पष्ट हो वहाँ पद-पाठकी पद्धतिसे वेद पढ़नेकी आवश्यकता नहीं। ऋग्वेदका प्रातिशाख्य लिखनेवाले और आश्वलायनके गुरु ये ही शौनक हैं। इसलिये ऋग्वेदके प्रातिशाख्य एवं शिक्षाके रचयिता शौनक एक ही व्यक्ति थे। शौनकके ही समान याज्ञवल्क्य और पाणिनिने भी शिक्षा-ग्रन्थ लिखे।

व्याकरण

वेदके अंग व्याकरणमें वर्ण, उनके उच्चारण-स्थान, प्रयत्न, शब्दोंके रूप, सन्धि, समास, धातु, प्रत्यय, उपसर्ग, तद्धित, कृदन्त और लिंगके अतिरिक्त यह भी विवेचन किया गया कि वाक्यमें कर्त्ता, कर्म एवं क्रियाका प्रयोग किस प्रकार हो,

शिष्ट भाषा, शिष्ट जनके बीच प्रयुक्त होनेवाले साधु शब्दोंका निर्माण कैसे होता है अर्थात् व्याकरणके द्वारा लोक-मान्य शब्द-प्रयोगके साधुत्वकी स्थापना की जाती है, शब्दके निर्माण एवं प्रयोगका विवेचन होता है। इसीलिये इसका दूसरा नाम शब्दानुशासन भी है। यह कथा प्रसिद्ध है कि एक बार इन्द्रको एक सहस्र देववर्षोंतक बृहस्पति केवल शब्द ही शब्द सुनाते रहे। फिर भी वे शब्द पूरे न हो पाए। तात्पर्य यह कि शब्द इतने संख्यातीत हैं कि कोई उनकी गणना नहीं कर सकता। इसीलिये किसी भाषाके व्याकरणका भी कोई अन्त नहीं पा सकता और कोई यह नहीं कह सकता कि हमने किसी भाषाका व्याकरण पूर्ण कर लिया या जान लिया है।

संस्कृत व्याकरण

पण्डित लोग व्याकरणको भी वेदके समान ही आदरणीय और अनादि मानते हैं किन्तु कुछ विद्वानोंका मत है कि मंत्रोंके दर्शनके पश्चात् ही व्याकरण बनाए गए होंगे। तब प्रश्न यह उठता है कि ये मंत्र किस नियमके अनुसार बने? इन्द्र और बृहस्पतिकी कथासे यही परिणाम निकाला जा सकता है कि व्याकरणके आदि आचार्य देवगुरु बृहस्पति एवं आदि शिष्य इन्द्र रहे होंगे। किन्तु पाणिनिने अपने व्याकरणमें अइउण्से हल्-तक १४ सूत्रोंको माहेश्वर सूत्र बताया है। कहा जाता है कि ताण्डव-नृत्य कर चुकनेपर शिवजीने १४ बार जो अपना डमरू बजाया उसीकी ढमकसे १४ माहेश्वर सूत्र निकले—

नृत्यावसाने नटराजराजो निनाद ढक्कां नवपंचवारम्।।
उद्धर्तुकामः सनकादि सिद्धान्नेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्।।

[तांडव-नृत्यके अन्तमें नटराज-राज शिवने सनक आदि सिद्धोंको उद्धार करनेके लिये १४ बार डमरू बजाकर शिवसूत्र-समूह उत्पन्न किया।]

कुछ विद्वानोंने माहेश्वराणि सूत्राणिसे यह अर्थ निकाला है कि ये माहेश्वर सूत्र किसी दूसरे व्याकरणके रहे होंगे क्योंकि पाणिनीय व्याकरणसे भिन्न भी ऐसे शिव-सूत्रका अस्तित्व माना जाता है जिसमें २५००० सूत्र बताए जाते हैं। इसके अतिरिक्त इन्द्र-रचित ऐन्द्र व्याकरणमें ५००० सूत्रोंके होनेका उल्लेख मिलता है। बृहस्पति और इन्द्रकी कथाके द्वारा पतंजलिने यही बताया है कि शब्दोंके भाण्डारका कोई अन्त नहीं है और यह सम्भव है कि बृहस्पतिने इन्द्रको माहेश्वर-व्याकरण ही सुनाया हो जिसमें धनराज शास्त्रीके मतानुसार १००००० सूत्र थे। यदि माहेश्वर एवं शिव-सूत्रको मिलाकर एक कर लिया जाय तब १२५००० सूत्र हो जाते हैं। कुछ विद्वानोंका मत है कि पाणिनीय व्याकरणमें प्रत्याहार[1]-सूत्र ही माहेश्वर सूत्र हैं। कुछ

---

१. अइउण् ऋलृक्। एओङ्। ऐऔच्। हयवरट्। लण्। ञमङणनम्। झभञ्। घढधष्। जबगडदश्। खफछठथचटतव्। कपय्। शषसर्। हल्। इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादि संज्ञार्थानि।

भी हो, इन सब विवरणोंसे इतना तो सिद्ध है कि पाणिनिसे पूर्व भी अनेक वैयाकरणोंने संस्कृत व्याकरण लिखे थे क्योंकि स्वयं पाणिनिने ही अपनी अष्टाध्यायीमें अत्रि, आंगिरस, आपिशलि, कठ, कलापी, काश्य, कुत्स, कौण्डिन्य, कौरव्य, कौशिक, गालव, गौतम, चरक, चक्रवर्मा, छागलि, जाबाल, तित्तिर, पाराशर्य, पीलवभ्रु, भारद्वाज, भृगु, मण्डूक, मधूक, यास्क, बडवा, वरतन्तु, वशिष्ठ, वैशम्पायन, शाकटायन, शाकल्य, शिपालि, शौनक और स्फोटायनका उल्लेख किया है। शाकटायनके कुछ थोड़ेसे प्राप्त सूत्र प्रकाशित भी किए जा चुके हैं। बुन्देलखण्डकी ओर गाँवोंके अल्पशिक्षित पाधा लोग अपनी चटसालोंके छात्रोंको जो 'ओनामासीधम्' पढ़ाते हैं वह शाकटायनके प्रथम सूत्र 'ॐ नमः सिद्धम्'का ही अपभ्रष्ट रूप है जिसके तुक मिलाकर विद्यार्थी कहा करते हैं—

ओनामासीधम्। बाप पढ़े ना हम ॥

मुनित्रय : पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि

अभीतक प्रकाशित व्याकरणोंमें प्रथम व्याकरण पाणिनिका और दूसरा व्याळि का प्रसिद्ध है। नागेश भट्टके अनुसार व्याळिके व्याकरणमें १००००० श्लोक हैं। इसके पश्चात् कुछ विद्वानोंने यास्कको भी वैयाकरण मान लिया है। इनके अनन्तर कात्यायन और पतंजलि आते हैं। यों तो पतंजलिने ही महाभाष्यकी रचना करके पाणिनिके व्याकरणको स्पष्ट कर दिया था फिर भी वामन और जयादित्यने उसे और स्पष्ट करनेके लिये उसपर काशिका-वृत्ति लिखी। सर्वप्रथम कात्यायनने ही पाणिनिके सूत्रोंपर वार्तिक लिखा था जिसपर पतंजलिने महाभाष्य लिखा। किन्तु इतनेसे भी विद्वानों-को संतोष नहीं हुआ। कैयटने उसपर प्रदीप नामकी टीका लिखी और नागोजि भट्टने इस प्रदीपपर भी एक टीका लिख दी। यों तो काशिका-वृत्तिमें ही सब कुछ स्पष्ट कर दिया गया था किन्तु उसमें भी जो कुछ कमी रह गई उसे हरिदत्तने पदमंजरी लिखकर पूर्ण किया और उसपर भी जिनेन्द्रने टीका लिखी। यह धारा ऐसी चली कि नागोजि भट्टने वृत्तसंग्रह नामक ग्रन्थमें पाणिनिके सूत्रोंपर टीका लिखी, पुरुषोत्तमने भाषावृत्ति लिखी, सृष्टिधरने विवृति लिखी, भट्टोजि दीक्षितने शब्दकौस्तुभ रचा, बालभट्टने प्रभा नामक टीका लिखी जिसपर शब्देन्दुशेखर नामकी संक्षिप्त टीका लिखी गई और जिसे और भी संक्षिप्त करके लघुशब्देन्दुशेखर लिखा गया। इतनेपर भी जब भट्टोजि दीक्षितका मन न भरा तो उन्होंने सिद्धान्त-कौमुदी लिखी जिसके प्रभावसे अष्टाध्यायी पढ़नेकी पद्धति ही उठ गई। इतना ही नहीं, उन्होंने ही अपनी सिद्धान्त-कौमुदीपर प्रौढ मनोरमा नामक टीका भी लिखी।

सिद्धान्त-कौमुदीको संक्षिप्त करके वरदराजने मध्यकौमुदी और लघु-सिद्धान्तकौमुदी लिखी। किन्तु वैयाकरणोंको इतनेसे भी सन्तोष नहीं हुआ। पाणिनिकी अष्टाध्यायीका

आश्रय लेकर अनेक ग्रन्थ लिखे गए जिनमें परिभाषा, परिभाषावृत्ति, लघुपरिभाषावृत्ति, चन्द्रिका, परिभाषेन्दुशेखर, उसकी काशिका, कारिका, वाक्य-पदीय, व्याकरण-भूषणसार और व्याकरण-सिद्धान्त-मंजूषा प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे पिछले तीन ग्रन्थ तो वाक्य-पदीयकी टीकाके रूपमें हैं। वाक्यपदीयमें तो व्याकरणको अलौकिक ढंगसे समझाया गया है और यह सिद्ध किया गया है कि व्याकरण केवल वाणीके नियमनकी शैली-मात्र नहीं है। यहीं-तक नहीं, पाणिनिके सूत्रोंपर लघु-भूषण-कान्ति, लघु-व्याकरण-सिद्धान्त-मंजूषा-कला, गणपाठ, सटीक गणरत्न-महोदधि, धातु-प्रदीप, पाणिनि-धातुपाठ, माधवीवृत्ति और पद-चन्द्रिका आदि न जाने कितने व्याकरण-ग्रन्थ लिखे गए।

सरस्वती-प्रक्रिया

पाणिनीय व्याकरणके अतिरिक्त अनुभूति-स्वरूपाचार्यका लिखा हुआ सरस्वती-प्रक्रिया नामक सात सौ सूत्रोंवाला व्याकरण बहुत प्रसिद्ध है जिसपर सिद्धान्त-चन्द्रिका नामक टीका भी लिखी गई है। यह प्रसिद्ध है कि इनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर सरस्वतीने इन्हें यह ग्रन्थ दे डाला था। इनके अतिरिक्त एक नवीन शाकटायन भी हुए हैं जिन्होंने कामधेनु नामक व्याकरण लिखा है।

प्राकृत व्याकरण

संस्कृत-व्याकरणके आश्रयपर जो अनेक प्राकृत-भाषाओंके व्याकरण रचे गए उनमें हेमचन्द्रका प्राकृत-व्याकरण अधिक प्रसिद्ध है। वररुचिने 'प्राकृत-प्रकाश' नामसे प्राकृत-भाषाओंका जो व्याकरण लिखा था उसपर प्राकृत-मनोरमा नामकी टीका प्रसिद्ध है। वाल्मीकि (रामायण-रचयिता नहीं) ने भी प्राकृत-व्याकरणके सूत्र लिखे थे जिनपर लक्ष्मीधरने षड्भाषा-चन्द्रिका नामकी टीका लिखी थी।

कलाप या कातंत्र व्याकरण

बंगालमें कलाप या कातंत्र व्याकरण बहुत प्रचलित है जिसके अनुकरणपर बंगालमें अनेक व्याकरण लिखे गए। उनमेंसे २५ तो आज भी प्राप्त हैं। बंगालमें ही बोपदेवके मुग्धबोध-व्याकरणका बड़ा प्रचलन है। जिस प्रकार पाणिनिपर बहुत-सी टीकाएँ लिखी गईं वैसे ही मुग्धबोधपर भी अनेक टीकाएँ हुई हैं। काशीश्वर एवं नन्दिकेश्वरने तो इसपर परिशिष्ट भी लिखे हैं। बोपदेवने व्याकरण ही नहीं, वरन् कविकल्पद्रुम नामक गणपाठ और काव्य-कामधेनु नामक धातुपाठ भी लिखा है जिनपर चार-पाँच ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं।

नव्य व्याकरणवालोंने और भी अनेक व्याकरण लिखे हैं जिनकी गणना कराना निरर्थक होगा।

व्याकरणका प्रारम्भ

व्याकरणका प्रारम्भ कबसे हुआ, यह तो ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता फिर भी गोपथब्राह्मणमें एक प्रसंग मिलता है—

ओंकारः पृच्छामः, को धातुः, किं प्रातिपादिकम्, कि नामाख्यातम्, किं लिंगम्, किं वचनम्, का विभक्तिः, कः प्रत्ययः, कः स्वरोपसर्ग-निपातः, किं वै व्याकरणम्, को विकारः, को विकारी, कति मात्रा, कति वर्णाः, कत्यक्षराः, कति पदाः, कः संयोगः, किं स्थानानुप्रदानकरणम्, शिक्षिकाः किमुच्चारयन्ति, किं छन्दः को वर्ण इति पूर्व प्रश्नाः ।

[ओम् शब्दका परीक्षण करना चाहते हैं कि यह किस धातुसे निकला है ? इसमें क्या प्रतिपादिक है ? क्या नामाख्यात है ? क्या लिंग है ? कौन-सा वचन है ? क्या विभक्ति है ? कौन-सा प्रत्यय है ? कौन-सा स्वर है ? कौन-सा उपसर्ग और निपात है ? उसका क्या व्याकरण है ? क्या विकार है ? कौन विकारी है ? इसमें कितनी मात्राएँ है ? कितने वर्ण हैं ? कितने अक्षर हैं ? कितने पद हैं ? क्या संयोग है ? क्या स्थान, अनुप्रदान और करण है ? शिक्षाके आचार्य उसका किस प्रकार उच्चारण करते हैं ? इसका क्या छन्द और क्या वर्ण है ? यह सर्वप्रथम पूछे जानेवाले प्रश्न हैं ।]

ऊपर गोपथ-ब्राह्मणसे जो प्रसंग दिया गया है उसमें धातु, प्रातिपदिक, नाम, लिंग, वचन, विभक्ति, प्रत्यय और स्वर शब्द व्याकरणसे संबद्ध हैं और यह कहा भी गया है कि ओम्कार शब्दका विवेचन करते समय पहले इन्हीं जिज्ञासाओंका समाधान करना होगा । उपर्युक्त उद्धरणोंमें 'शिक्षिक' और 'व्याकरण' शब्दके प्रयोगसे यह समझनेमें कठिनाई न होगी कि गोपथ-ब्राह्मण तथा अन्य ग्रन्थोंके निर्माणसे बहुत पूर्व ही शिक्षाके अतिरिक्त वेदके अनेक व्यवस्थित, प्रामाणिक और पूर्ण व्याकरणोंका निर्माण हो चुका था । व्याकरणकी रचनासे यह स्पष्ट है कि व्याकरण भी वेदोंके समान ही अत्यन्त प्राचीन है क्योंकि व्याकरणकी रचनाके उद्देश्यके प्रसंगमें यह भी बताया गया है कि—(१) वेदकी भाषाको अन्य भाषाओंके मिश्रणसे बचानेके लिये, (२) वेदका ठीक-ठीक अर्थ समझनेके लिये, (३) शब्दोंका स्वरूप जाननेके लिये, (४) समझमें न आनेवाले किसी शब्दका ठीक अर्थ जानकर संदेह दूर करनेके लिये, (५) अशुद्ध शब्दका त्याग करनेके लिये, (६) यज्ञ, हवन आदिमें समुचित शब्दका प्रयोग करनेके लिये, (७) ऋत्विग् बननेके लिये, (८) अपनी संतानका ठीक नाम रखनेके लिये, और (९) किसी भी वक्तव्यकी सत्यता और असत्यताके परीक्षणके लिये व्याकरणका ज्ञान आवश्यक है । इसीलिये उपनयन-संस्कार होते ही ब्राह्मण-बालकको शिक्षा और व्याकरणका अध्ययन करनेमें दत्तचित्त हो जाना पड़ता था ।

अष्टाध्यायी

पाणिनिके व्याकरणको अष्टाध्यायी या पाणिनि-अष्ट भी कहते हैं। इस ग्रन्थमें आठ अध्याय और एक-एक अध्यायमें चार-चार पाठ हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर इसमें तीन हजार नौ सौ छियानवे सूत्र हैं। पाणिनिने व्याकरण-संबंधो कुछ तो पारिभाषिक शब्द स्वयं गढ़े हैं और कुछ पहलेसे चले आते हुए शब्द लेकर उनमें नये अर्थोंका आरोप करके उनका प्रयोग किया है।

वाग्विज्ञान या भाषाशास्त्रके प्रसंगमें व्याकरणका विवेचन इसलिये आवश्यक है कि व्याकरणमें किसी भाषामें प्रयुक्त होनेवाले वर्णोंकी ध्वनियोंका, उनके उच्चारण-स्थानका, उनके संयोगसे शब्द-निर्माणकी प्रक्रियाका, उनके अर्थोंका, उनकी वाक्य-निर्माण-पद्धतिका, वाक्यविन्यासका और वाक्योंमें शब्दोंके प्रयोगका पूरा विवरण प्राप्त होता है। अतः, भाषाके अवयवोंका संपूर्ण ज्ञान व्याकरणके माध्यमसे ही संभव है। इसीलिये यह स्पष्ट करना आवश्यक हो गया कि भारतोय आचार्योंने व्याकरणकी रचना करते समय वैदिक संस्कृत और काव्य-संस्कृतके समस्त भाषाशास्त्र-संबंधी तत्वों और जज्ञासाओंका समाधान कर दिया जो इतना सूक्ष्म और व्यापक था कि विदेशी भाषा-शास्त्रियोंका समस्त प्रयत्न उसके सम्मुख नगण्य हैं।

निरुक्त

वेदके तीसरे अंग निरुक्तके आदि आचार्य यास्कके निरुक्तको भाषा-शास्त्रका आदि ग्रन्थ मानना चाहिए जिसमें अत्यंत स्पष्ट रूपसे यह समझाया गया है कि वेदमें कितने प्रकार के शब्द हैं, उनमें किस प्रकारकी विकृति हुई है, कैसे उनकी रचना हुई है और उनके किस शब्दका किस प्रसंगमें क्या अर्थ होता है। यास्कके निरुक्तमें पाँच अध्याय हैं—(१) वेदाध्ययन-विधि, (२) छन्दविभाग, (३) छन्दविनियोग, (३) उपलक्षित-कर्मानुकूल-भूतकाल (भूतकालमें कौनसा कार्य कब हुआ इसका विवरण), और (५) उपदर्शित लक्षण।

निरुक्तका महत्व इसीलिये अधिक माना जाता है कि वेदका अर्थ समझनेका वह सबसे बड़ा आधार है। इसे वेदका व्युत्पत्ति-कोश समझना चाहिए। अन्य विवरणोंके साथ इसमें यह भी स्पष्ट किया गया है कि शब्दोंके आगे, पीछे या बीचसे कोई अक्षर कैसे निकल जाता है, कैसे स्थानान्तरण हो जाता है या विकृति आ जाती है अर्थात् वर्तमान भाषा-शास्त्रके अन्तर्गत विचारणीय अनेक प्रश्नोंका समाधान यास्कके निरुक्तमें ही प्राप्त हो जाता है। यास्कसे पूर्व जिन आचार्योंने निरुक्त लिखे उनमें शाकपूणि, ऊर्णनाभ, और स्थौलष्ठीवि नामक तोन निरुक्तकारोंका नाम तो मिलता है किन्तु उनके ग्रंथ अभीतक अप्राप्य हैं। यास्कका निरुक्त इतना प्रतिष्ठित हुआ कि उसपर उग्र, दुर्ग, स्कन्दस्वामी, देवराज और यड्व नामके अनेक विद्वानोंने टीकाएँ लिखी हैं।

अरस्तू, अफ़लातून और सुकरात

यद्यपि भाषाके सर्वांग-परीक्षण और विवेचनके सम्बन्धमें जितनी व्यवस्थित और वैज्ञानिक पद्धतिपर भारतवर्षमें कार्य हुआ उतना किसी भी देशमें नहीं हुआ फिर भी भाषा-सम्बन्धी जिज्ञासा अन्य देशोंमें भी प्राचीन कालसे ही होती रही। सर्वप्रथम योरपमें यूनानियोंने ही यूनानी भाषाका परीक्षण और विश्लेषण प्रारंभ किया। जिस प्रकार हमारे यहाँ वैदिक वैयाकरणोंने वेदकी भाषाको अन्य भाषाओंके मिश्रणसे बचानेके लिये व्याकरणकी रचना की उसी प्रकार सर्वप्रथम यूनानमें अरस्तूने यूनानके बाहरसे आकर मिले हुए शब्दोंको छाँट-छाँटकर अलग किया। प्लेटो (प्लातो या अफ़लातून) ने सर्वप्रथम यह निर्धारित किया कि मनमें उठे हुए विचार और भाषाका इतना अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है कि हम विचार और भाषाको अलग-अलग नहीं कर सकते। इस प्रकार अफ़लातूनने ही मनोविज्ञान और भाषाशास्त्रका अखण्ड और अभिन्न सम्बन्ध निर्धारित कर दिया था। इतना ही नहीं, अफ़लातूनने यूनानी भाषाकी सब ध्वनियोंको अलग-अलग करके एक क्रमसे सुसज्जित किया किन्तु वह कर्म वैसा वैज्ञानिक न हो सका जैसा भारतीय वैयाकरणोंने किया था। अफ़लातूनके 'मन और भाषाके सम्बन्ध' वाले सिद्धान्तपर विचार करते हुए सुकरातने यह निर्णय दिया कि भाषा और मनके विचारके बीच कोई सीधी सम्बद्धता नहीं है तथापि इस प्रकारका सीधा सम्बन्ध रखनेवाली भाषाका निर्माण अवश्य किया जा सकता है। यद्यपि अरस्तू, अफ़लातून और सुकरात तीनोंने यूनानी भाषाके व्याकरणसे सम्बद्ध कुछ समस्याओंपर विचार तो किया तथापि सर्वप्रथम यूनानी व्याकरण बनानेका श्रेय थ्राक्स (दूसरी शताब्दी ई० पू०) को है।

जब यूनानी सभ्यता यूनानसे हटकर रोममें जा पहुँची तब लोग लातिन और यूनानी दोनों भाषाओंका अध्ययन करने लगे। इन दोनों भाषाओंका एक साथ अध्ययन करते समय उन्हें यह अनुभव हुआ कि इन दोनों भाषाओंके बहुतसे शब्द परस्पर मिलते-जुलते हैं। योरपमें जब ईसाई धर्म फैलने लगा तब लातिन और यूनानीके साथ लोग हिब्रू भाषा भी पढ़ने लगे क्योंकि हिब्रू भाषाको वे लोग ईश्वरकी या स्वर्गकी भाषा समझते थे। पारस्परिक सम्पर्कके कारण यूनान और योरपके लोग अरब, मिस्र, असुरिया, बाबुलोन और सुरिया प्रदेशकी भाषाओंका भी अध्ययन करने लगे किन्तु रोम-साम्राज्यकी स्थापनाके पश्चात् लातिन ही व्यापक सामाजिक भाषा मानी जाने लगी और यह लातिन भी विभिन्न प्रदेशोंके भाषा-भाषियोंके मुखमें पड़कर इतनी अधिक भिन्न हो गई कि एक प्रदेशकी लातिन भाषा दूसरे प्रदेशके लिये अगम्य बन गई फिर भी लातिनका इतना अधिक प्रभाव सब योरोपीय भाषाओंपर पड़ा कि सामान्य व्यवहारके शब्दोंके अतिरिक्त पारिभाषिक शब्दोंका स्रोत केवल लातिन भाषा ही बनी रही।

रूसो

अट्ठारहवीं शताब्दीमें योरपमें इतनी प्रचंड सांस्कृतिक क्रांति मची कि अनेक विद्वान् पुरुष भी प्रत्येक समस्या, विषय और प्रवृत्तिपर नये प्रकार और नये ढंगसे सोचने-विचारने लगे।

सर्वप्रथम रूसोने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि जिस प्रकार अनेक मनुष्योंने पारस्परिक संपर्क बढ़ाकर एक दूसरेकी रक्षा करनेके लिये, एक दूसरेके काममें हाथ बँटानेके लिये, एक दूसरेकी विपत्तिमें साथ देनेके लिये पारस्परिक समझौते किए और समाजोंका निर्माण किया वैसे ही लोगोंने परस्पर विमर्श करके भाषाएँ भी बना लीं। रूसोका यह सिद्धान्त किसी भी बुद्धिमान्को मान्य नहीं हुआ क्योंकि किसी भी प्रकारकी भाषाके अभावमें न तो कोई समझौता किया जा सकता था और न किसी प्रकारकी बात ही चलाई जा सकती थी।

कोन्दिलाक

कोन्दिलाकने कल्पना की कि सर्वप्रथम कोई भाषा-रहित पुरुष किसी भाषा-रहित स्त्रीसे जाकर मिला होगा और एक दूसरेने एक दूसरेके मनकी तड़पन, इच्छा और रुचि समझानेके लिये जो हाँ-हूँ किया होगा, वही पहली भाषा होगी। फिर धीरे-धीरे इन अव्याकृता और अनिरुक्ता ध्वनियोंमें आरोह-अवरोहके साथ बोलनेकी शैली चल निकली होगी। धीरे-धीरे उनके शिशुओंमें यह आरोह-अवरोह बढ़ता चला गया होगा और इस प्रकार कुछ पीढ़ियोंमें उनके नाती-पोतोंने अपने-अपने मनकी बात समझानेके लिये बहुतसे नये-नये शब्द और वार्तालापकी बहुतसी शैलियाँ निकाल ली होंगी जिससे भाषाका निर्माण हो चला।

योहान गौटफ़्रीड हेर्डेर

अट्ठारहवीं शताब्दीमें भाषाकी उत्पत्तिपर सबसे अधिक गम्भीर विचार योहान गौटफ़्रीड हेर्डेरने किया और इसीने सर्वप्रथम भाषाओंके परीक्षणका नवीन और व्यवस्थित मार्ग निर्धारित किया। उन्हीं दिनों सुसम्लिख नामक जर्मनने यह कहना प्रारम्भ किया था कि भाषाकी खोज मनुष्यने नहीं की वरन् वह उसे सीधे ईश्वरसे प्राप्त हुई है। हेर्डेरने इसका खण्डन करते हुए कहा कि यदि ईश्वरने भाषा बनाई होती और उसे लाकर मनुष्यके मुँहमें स्थापित किया होता तो वह इतने विभिन्न प्रकारकी, अव्यवस्थित और बेढंगी न होती जैसी आजकलकी बहुतसी भाषाएँ दिखाई पड़ती हैं। हेर्डेरने यदि संस्कृत पढ़ी होती तो वह इतना अवश्य मान लेता कि संसारकी अन्य भाषाएँ भले ही ईश्वर-प्रदत्त न हों किन्तु संस्कृत वास्तवमें ईश्वरका प्रसाद है और इसीलिये उसका गीर्वाण-गिरा या देववाणी नाम सार्थक है। हेर्डेरका मत है कि मनुष्योंने भाषाओंका निर्माण नहीं किया वरन् जैसे-जैसे मनुष्यका कार्य-व्यवहार बढ़ता

गया, उसके रहन-सहनमें नवीनता और जटिलताकी वृद्धि होती गई वैसे-वैसे भाषाएँ भी बढ़ती और फैलती चली गईं। जब भी मनुष्यको कुछ नई बात कहनी हुई तभी भाषाने आकर उसकी सहायता की और अपना भाण्डार भरा।

.जैनिश

सन् १७९४ में बर्लिन अकाडामीने उस लेखकको पुरस्कार देनेका निश्चय किया जो इस बातका पूरा विवरण दे सके कि कोई भी भाषा कैसे पूर्ण बन सकती है और उसकी पूर्णताके लिये कौन-कौनसे तत्त्व अपेक्षित हैं जिससे कि उस कसौटीपर योरपकी अल्प-प्रयुक्त भाषाओंको कसकर उनके गुण-अवगुणका परीक्षण किया जा सके। यह पुरस्कार बर्लिनके डी० .जैनिसको दिया गया जिसने गम्भीर विवेचनके साथ यह बताया कि संसारकी भाषामें मनुष्यके मन और उसकी बुद्धिकी गतिका पूरा विवरण विद्यमान रहता है। इस तुलापर .जैनिशने पूर्ण भाषाकी एक कसौटी ही बनाकर खड़ी कर दी और उसी कसौटीपर कसकर उसने लातिन, यूनानी तथा योरपकी अन्य भाषाओंकी परस्पर तुलना करके उनका परीक्षण किया। इस प्रकार सर्वप्रथम अट्ठारहवीं शताब्दीमें हेर्डेर और .जैनिशने ही भाषाओंके समीक्षणकी दृढ नींव स्थापित की।

अट्ठारहवीं शताब्दीमें भाषाओंके परीक्षणके निमित्त जितना भी प्रयास हुआ उसमें यही देखा जाता रहा कि किस भाषाका, कौन-सा स्वरूप, कब, कैसे, कहाँ और किस रूपमें प्रयुक्त होता था। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दीमें जब अनेक उद्‌भट विद्वान् अनेक भाषाओंका परिज्ञान करके उनकी परस्पर तुलना और परीक्षा करने लगे तब उस प्रसंगमें लोग इस बातका भी परीक्षण करने लगे कि किसी भी भाषाने पूर्ण समृद्ध होकर किस प्रकार वर्तमान रूप ग्रहण कर लिया। अब वे यह जाननेके प्रयत्नमें लगे कि कोई भाषा कबसे बोली जाने लगी, उसपर अन्य भाषाओंका प्रभाव कब और कैसे पड़ा, उसमें अन्य भाषाओंके शब्द किस प्रकार घुलने-मिलने लगे तथा उसके प्राचीन रूपमें क्यों, कैसे और कब परिवर्तन हुए। इसी उन्नीसवीं शताब्दीमें भाषाओंके परीक्षणके सम्बन्धमें मनुष्यकी सम्पूर्ण प्रवृत्तियोंका विवरण भी जोड़ दिया गया जिससे भाषाओंके परीक्षणकी वह नई पद्धति ही स्वीकार कर ली गई जिसमें अब यह विचार किया जाने लगा है कि कोई भी भाषा जिस एक व्यवस्थित रूपमें दिखाई पड़ती है वह उसका मूल रूप नहीं है वरन् न जाने कितने परिवर्तन, सम्पर्क और प्रभावोंसे उसका वर्तमान और नवीन रूप बन पाया है और आगे भी वह न जाने कितने रूप बदलती रहेगी।

कूर्दो

जब योरोपीय जातियाँ भारतसे सम्पर्क करके संस्कृतका अध्ययन करने लगीं तब संस्कृतके अनेक शब्द उन्हें अपनी भाषाओंके शब्दोंके समान ध्वनि और अर्थवाले

दिखाई पड़े और तब उन्हें यह प्रतीति हुई कि योरपकी भाषाओंका संस्कृतसे कुछ गम्भीर सम्बन्ध अवश्य है।

सर्वप्रथम फ़ान्सीसी पादरी कूर्दोने सन् १७६७ ई० में फ़्रेन्च इन्स्टिटयूटको एक पत्र भेजा था जिसमें अनेक संस्कृत और लातिन शब्दोंका उल्लेख करके उनका परस्पर सम्बन्ध दिखाया गया था।

सर विलियम जोन्स

संस्कृतका अध्ययन करनेके पश्चात् सन् १७८६ में सर विलियम जोन्सने यह घोषणा की कि 'संस्कृत भाषा चाहे जितनी प्राचीन हो किन्तु उसकी रचना बड़ी विचित्र है। यह भाषा यूनानी भाषासे कहीं अधिक पूर्ण और लातिनसे कहीं अधिक समृद्ध है। अलंकरणमें भी वह इन दोनों भाषाओंसे अधिक सुसंस्कृत और इन दोनों भाषाओंसे इतनी मिलती-जुलती है कि उसे देखकर यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि यह सम्बन्ध केवल बाह्य है। वास्तवमें इनका पारस्परिक सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि भाषाओंकी परीक्षा करनेवाला कोई भी व्यक्ति उन तीनोंको एक ही स्रोतसे निकला हुआ माने बिना उनकी ठीक-ठीक परीक्षा कर ही नहीं सकता। किन्तु आज वे इतनी भिन्न हो गई हैं कि उनके मूल स्रोतका ठीक ज्ञान नहीं हो पा रहा है। इतना ही नहीं, हम तो यह भी मान सकते हैं कि गोथिक और कैल्टिक भाषाएँ भी उसी स्रोतसे निकली हैं जिससे संस्कृत निकली है, यहाँतक कि प्राचीन फ़ारसीको भी हम बिना बाधाके उसीके साथ जोड़ सकते हैं।' किन्तु आश्चर्यकी बात यह है कि इतना सब कुछ कहनेपर भी सर विलियम जोन्सने इस सम्बन्धमें कुछ विशेष प्रयास नहीं किया।

फ़्रीड्रिख फ़ौन श्लेगेल

संस्कृत भाषा और साहित्यका अध्ययन करके तथा योरपकी कई समृद्ध भाषाओंसे उसकी तुलना करके फ़्रीड्रिख फ़ौन श्लेगेलने सन् १८०८ में यह निष्कर्ष निकाला कि जर्मन, यूनानी और लातिन भाषाओंमें संस्कृतके अनेक शब्द ज्योंके त्यों आ गए हैं। इसी आधारपर श्लेगेलने मानवमात्रकी समस्त भाषाओंको दो वर्गोंमें विभक्त कर दिया जिनमेंसे एकमें उसने संस्कृत और उससे साम्य रखनेवाली भाषाएँ और दूसरे वर्गमें शेष सब भाषाएँ रखीं। श्लेगेलके अनुज ए०डब्ल्यू० श्लेगेलने भी इसी पद्धतिपर भाषाओंके परीक्षणकी नवीन शैली निकाली और भाषाओंकी परस्पर तुलना करके उनका परीक्षण किया।

बौप, ग्रिम और रास्क

उन्नीसवीं शताब्दीके प्रथम चरणमें तीन प्रसिद्ध भाषाशास्त्रियोंने अत्यन्त व्यवस्थित ढंगसे भाषाओंके परीक्षणका कार्य किया। इनमेंसे एक थे जर्मनीके फ़ान्स बौप

(१७६१ ई०), दूसरे थे जर्मनीके ही याकोब ग्रिम (१७८५ ई०) और तीसरे थे डेनमार्कके रास्मस रास्क। इनमेंसे ग्रिमने तो रास्ककी ही पद्धतिपर कार्य किया और उसकी ही पद्धतिपर भाषाओंकी तुलना करके उनका परीक्षण किया किन्तु बौपकी शैली पूर्णतः उसकी अपनी थी।

रास्क

रास्कका स्पष्ट और निश्चित मत था कि संसारकी किसी जातिका पूरा विवरण ज्ञात करनेके लिये उसकी भाषासे ही उसके जातीय जीवनके पूरे विवरणके आँकड़े एकत्र किए जा सकते हैं क्योंकि किसी भी मानव-जातिका रहन-सहन, खान-पान और आचार-विचार चाहे जितना भी बदल गया हो किन्तु उसकी भाषा ज्योंकी त्यों बनी रहती है। यदि उसमें कुछ अन्तर आता भी है तो वह इस प्रकारका होता है कि सैकड़ों वर्ष पीछे-तक भी उसे भली प्रकार जाना-पहचाना जा सकता है। इसलिये किसी भी भाषाका परीक्षण करते समय उसमें प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंका विचार न करके उसकी रचना या वाक्य-विन्यास या रूपपर ही विशेष ध्यान देना चाहिए क्योंकि शब्द तो अदलते-बदलते, आते-जाते, बनते-बिगड़ते, बढ़ते-घटते और मिटते-घिसते रहते हैं किन्तु भाषाके रूप और उसकी प्रकृतिमें बहुत परिवर्तन नहीं होता। इस सम्बन्धमें यह भी जान लेना आवश्यक है कि जिस भाषाका व्याकरण जितना ही अधिक जटिल होगा उतनी ही वह अपने मूल उत्सके समीप होगी। यदि किन्हीं दो भाषाओंके अति प्रयुक्त शब्द परस्पर समान हों तो समझना चाहिए कि ये एक ही शाखाकी दो टहनियाँ हैं। रास्कने बहुत देशोंमें भ्रमण करके अनेक भाषाएँ सीखीं और उनकी परस्पर तुलना भी की पर वह सदा रुग्ण भी रहता था और उसके पास द्रव्यका भी अभाव था इसलिये वह इस प्रयासमें अधिक सफल न हो पाया। फिर भी उसने जितनी भाषाएँ सीखी थीं उनमेंसे बहुतसी भाषाओंके उसने व्याकरण लिखे जिनमें उसने उन भाषाओंकी रचना-प्रकृतिपर ही विशेष ध्यान दिया। इस दृष्टिसे रास्कको भाषा-शास्त्रियोंका नेता मानना चाहिए।

याकोब ग्रिम

याकोब ग्रिमका जन्म जर्मनीके धनी परिवारमें हुआ था। बाल्यावस्थामें ही उसे प्राचीन जर्मन कविता पढ़नेका जो चस्का लगा वह निरन्तर बढ़ता ही गया। उसके भाई विलहेल्मकी भी वही प्रवृत्ति थी इसलिये इन दोनों भाइयोंने प्राचीन जर्मन कविताओं और कहानियोंमें प्रयुक्त होनेवाली भाषाओंके परीक्षणकी एक नवीन पद्धति ही निकाल डाली और जिन पुरानी कथा-कहानियों, लोकगीतों, लोरियों तथा लोक-साहित्यके भाण्डारकी प्राचीन आचार्योंने उपेक्षा की थी उस अलिखित भाण्डारका संग्रह करके उन्होंने उसका परीक्षण प्रारम्भ कर दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने इस पृथ्वीपर रहनेवाले सब मानव-समुदायोंकी परीक्षाका ऐसा व्यवस्थित रूप स्थिर कर लिया जिसके आधारपर

इस पृथ्वीके किसी भी प्रदेशके रहनेवाले मानव-समुदायके मनमें उठने और आनेवाली सब भावनाओंकी तुलना करके उनकी परीक्षा की जा सके क्योंकि संसारमें जितना कुछ लिखित साहित्य मिलता है वह इस समस्त अलिखित साहित्यका अत्यन्त नगण्य अंश है। याकोब ग्रिमने भाषा-परीक्षणकी प्रचलित पद्धतियोंसे भिन्न मार्ग तो अवश्य ग्रहण किया तथापि उनकी एक बात तो उसने मान ही ली और वह थी उनकी वह कसौटी जिससे अलग-अलग भाषाओंकी यह परीक्षा भी की जा सके कि कौन भाषा कितनी समृद्ध है।

बर्लिन विश्वविद्यालयके आचार्यके रूपमें ग्रिमने भाषाओंके परीक्षणका कार्य और भी आगे बढ़ाया। वाक्य-विन्यासपर जो उसने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है वह उसकी सबसे बड़ी देन समझनी चाहिए। जिस प्रकार वाक्य-पदीयमें भर्तृहरिने भाषाकी प्रकृतिमें वाक्यको महत्ता प्रदान करके उसका विशेष विवेचन किया था उसी प्रकार ग्रिमने भाषाका मुख्य आधार वाक्य ही माना और उसी दृष्टिसे भाषापर विचार किया।

फ्रान्त्स बौप

उन्नीसवीं शताब्दीके पहले चरणमें जिन अनेक आचार्योंने भाषाओंके परीक्षणका कार्य प्रारम्भ किया उनमें सबसे प्रमुख समझे जाते हैं जर्मनीके फ़्रान्त्स बौप (१७९१ ई०)। इक्कीस वर्षकी अवस्थामें ये प्राचीन भाषाएँ सीखनेके लिये पेरिस चले गए जहाँ इन्होंने संस्कृत भी पढ़ी। बौपकी इच्छा थी कि विभिन्न भाषाओंके व्याकरणोंके जितने रूप मिलते चलें उन सबके उत्सकी खोज करें। इस कार्यके लिये उन्होंने संस्कृतका आश्रय ग्रहण किया। वे कहा करते थे—'मैं यह नहीं मानता हूँ कि यूनानी, लातिन तथा योरपकी अन्य भाषाएँ उसी संस्कृतसे निकली हैं जो भारतकी संस्कृत पुस्तकोंमें मिलती हैं। मैं समझता हूँ कि ये सब भाषाएँ किसी आदिम भाषाके बहुत पीछेके रूप हैं जिनमेंसे संस्कृतने तो आदिम भाषासे अभी-तक पूरा-पूरा सम्बन्ध बनाए रक्खा है किन्तु इसकी सहयोगिनी भाषाएँ इससे बहुत दूर जा पड़ी हैं।' बौपके इस नितान्त भ्रामक मतके कारण ही आजकलके भाषाशास्त्रियोंने एक 'आदिम हिन्द-योरोपीय भाषा' की कल्पना कर ली है। वास्तवमें भारतके वैदिक आर्योंकी संस्कृतिसे ही पूर्वी योरपके देश प्रभावित थे। इसलिये उन्होंने भाषा तो ग्रहण कर ली किन्तु उनकी वह व्युत्पत्ति उन्होंने नहीं की जिसके अनुसार वैदिक संस्कृतके सब शब्द निरुक्त, व्याकरण और शिक्षाके अनुसार सिद्ध होते चले आए।

बौपकी इच्छा तो यह थी कि इन परस्पर मिलती-जुलती भाषाओंका आदिम स्रोत खोज निकाला जाय किन्तु इस प्रयासमें उसने तुलनात्मक व्याकरणकी ही रचना की। यह कार्य लगभग उसी प्रकारका था जैसा यास्क पहले भी कर चुका था फिर भी जितनी सच्ची लगनसे बौपने यह कार्य किया उतनी लगनसे कोई दूसरा नहीं कर पाया।

विलहेल्म .फौन हम्बोल्ट

ऊपर जिन तीन भाषा-शास्त्रियोंकी चर्चा की जा चुकी है उनके साथ जर्मनीके विलहेल्म .फौन हम्बोल्ट (१७६७ से १८३५) का नाम भी जोड़ देना चाहिए जिसने नवीन पद्धतिसे भाषाओंके परीक्षणकी रीति निकाली थी। उसका मत था कि 'भाषाकी परीक्षा करते समय यह देखना चाहिए कि वह निरन्तर किस प्रकार व्यवहृत की जा रही है क्योंकि भाषाके इस पुनरावर्तनसे ही उस भाषाकी ठीक-ठीक प्रकृति और उसमें होनेवाले परिवर्तनका ठीक-ठीक विवरण जाना जा सकता है। भाषा कोई स्थिर वस्तु नहीं है। वह तो गतिशील प्रक्रिया है जो केवल लिखे जानेभरसे स्थिर नहीं हो जाती। उसे बने रहनेके लिये उसका बोला जाना और समझा जाना आवश्यक है।'

हम्बोल्टने भाषाओंके दो रूप माने हैं—पूर्ण भाषा और अपूर्ण भाषा। किन्तु उसका यह भी मत है कि 'किसी भाषाको इसीलिये क्षुद्र और अपूर्ण नहीं समझना चाहिए कि वह वन्य मानव-जातियोंकी भाषा है।' उसका यह भी मत है कि 'प्रत्येक भाषाका कुछ अपना विशेष गुण-तत्त्व होता है जिससे उस भाषाके बोलनेवालोंकी प्रकृतिका और उनकी मानसिक वृत्तिका पूर्ण परिज्ञान हो सकता है।'

राप, ब्रेड्सफ़ोर्ड, श्लोइ.खेर, कुर्टिअस, माडविग

उपर्यंकित भाषाशास्त्रियोंने भाषा-परीक्षणकी जो परिपाटी स्थापित की वह निरन्तर बढ़ती चली गई। के०एम० रापने ध्वनियोंकी परीक्षा, उनकी तुलना और रचनाका विवरण देकर ध्वनियोंका नवीन वर्गीकरण किया। हौलेंड-निवासी जे० एच्० ब्रेड्सफ़ोर्डने यह परीक्षण प्रारंभ किया कि भाषाओंमें परिवर्त्तन क्यों होता है और किन कारणोंसे संस्कृत, लातिन और फ्रांसीसी भाषाके बीच इतना अन्तर हो गया। आउगुस्ट श्लोइख़ेर (१८२१-१८६८) ने भी अनेक भाषाओंकी तुलना करनेकी अपनी अलग पद्धति निकाली क्योंकि वह स्वयं कई भाषाओंका पंडित था और उसे इस प्रकारके कार्यमें स्वाभाविक रुचि भी थी। श्लौइख़ेरके सहयोगी गेओर्ग कुर्टिअसने यूनानी भाषाका अत्यन्त सूक्ष्म परीक्षण किया था। उसके दूसरे सहयोगी योहान निकोलाई माडविगने भाषा-परीक्षणके क्षेत्रमें बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया और अपनी कुछ नई पद्धतियाँ भी निकालीं।

माक्सम्यूलर, ह्विटनी तथा अन्य विद्वान्

तबतक भाषा-शास्त्रके संबंधमें जितना भी कार्य हुआ था वह इतना व्यवस्थित नहीं था कि सामान्य लोग भी उसका लाभ उठा सकें। सर्वप्रथम सन् १८६१ में जर्मन विद्वान् माक्सम्यूलरने भाषाओंके परीक्षणके संबंधमें इतना अधिक मौखिक विवेचन किया और इतने लेख लिखे कि अनेक विद्वान् इस कार्यमें प्रवृत्त हो गए।

श्लौइखेरके पश्चात् अमरीकावासी विलियम ड्वाइट ह्विटनीने भाषाओंके परीक्षणका कार्य अधिक समुन्नत किया। जिस प्रकार मावसम्यूरलने इस कार्यकी ओर जनता-का ध्यान आकृष्ट किया था उसी प्रकार ह्विटनीने इस संबंधमें ऐसे लेख लिखे कि अनेक विद्वान् उस ओर प्रवृत्त हो गए। उसका मत था कि 'पारस्परिक विचार-विमर्शके लिये मनुष्योंको जैसे-जैसे काम पड़ता गया वैसे-वैसे भाषाएँ बढ़ती चली गईं।'

धीरे-धीरे विभिन्न भाषाओंकी ध्वनियोंका भली-भाँति परीक्षण करनेपर यह निष्कर्ष निकाला गया कि प्राचीन मान-दण्डोंसे काम नहीं चलेगा, नये मानदण्ड स्थापित करने होंगे। इस कार्यमें स्टाइन्थेल (१८२५-९९), कार्ल वर्नर (१८८०), ब्रुगमाँ, डेलब्रुक, आस्टोफ़ और हरमान पाउलने प्रशंसनीय कार्य किया। यह सब भाषा-परीक्षणका कार्य प्रारंभमे तो जर्मनीमे ही होता रहा किन्तु इसके पश्चात् पेरिसमें मेइए, वान्द्रियाज़ और द ऊजाने अत्यन्त मनोवेगसे इस कार्यका प्रसार किया, जर्मनीमे भी ऊंड्ट, हर्ट, लासकिन और स्क्रिप्चर नामक विद्वान् अत्यन्त अध्यवसाय-पूर्वक यह कार्य कर रहे थे। अमरीकाके ब्लूमफील्ड, इँगलैंडके डेनियल जोन्स और हौलैण्डके ओटो येस्पर्सनके श्लाघनीय प्रयासको भुलाया नहीं जा सकता।

भारतमें भाषा-शास्त्र

भारतमें इस योरोपीय शैलीपर और प्रधानतः योरोपीय मान्यताके अनुसार जिन विद्वानोंने कार्य किया उनमें रामकृष्ण गोपाल भंडारकर, तारापुरवाला और सुनीतकुमार चटर्जी आदिका योग अधिक महत्त्वपूर्ण है। जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें भाषा-शास्त्रकी शिक्षा दी जाने लगी तब वहाँके हिन्दी विभागके तत्कालीन विभागध्यक्ष डा० श्यामसुन्दरदासने अपने सहयोगी पंडित केशवप्रसाद मिश्रकी सहायतासे सर्वप्रथम भाषा-विज्ञानपर पुस्तकें लिखीं जिनमें उन्होंने योरोपीय भाषा-शास्त्रीय अध्ययनका परिचय देते हुए हिन्दीकी दृष्टिसे भाषा-शास्त्रका निर्माण किया जिसके अनुकरणपर अन्य अनेक विद्वानोंने भाषा-शास्त्रपर ग्रन्थ लिखे। फिर भी भारतीय भाषाशास्त्रपर अभी कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ और न यही प्रयास किया गया कि उस अक्षय, विशाल और विस्तृत भाषा-शास्त्रीय भंडारका व्यवस्थित संग्रह करके हिन्दीमें उसे प्रस्तुत किया जाय। संस्कृत और प्राकृतोंके सम्बन्धपर, प्राकृतों और योरोपीय भाषाओंके पारस्परिक सम्बन्धपर और वैदिक शब्दोंके क्रमशः कम प्रयोग होते चलनेकी प्रवृत्तिपर भी अध्ययन नहीं हुआ। यह व्यापक और विराट् कार्य भाषाशास्त्रके क्षेत्रमें उपेक्षित रहा है। यदि इसका समुचित अध्ययन हो तो तुलनात्मक भाषाशास्त्रके क्षेत्रकी अनेक गुत्थियाँ सुलझ जायँ और अनेक समस्याओंका समाधान हो जाय।

प्रयोजन

सम्पूर्ण सृष्टिके जीवोंमें मनुष्यको सर्वश्रेष्ठताका गौरव प्रदान करनेवाली सबसे बड़ शक्ति उसकी व्याकृता भाषा और लेखन-कला है। इस व्याकृता भाषाकी उत्पत्ति, इसके स्वरूप, अंग, विभिन्न भाषाओंके परस्पर संबंध आदि विषयोंपर योरपमें पिछले दो सौ वर्षोंसे जो विचार किया गया और किया जा रहा है उसे आधार मानकर भारतके अनेक विद्वानोंने उन्हीं सिद्धान्तोंपर भाषा-विज्ञानके अनेक ग्रन्थ लिखे और निःसन्देह उनकी उपयोगिता किसी प्रकार कुछ कम नहीं है। फिर भी भाषाशास्त्रपर ऐसे ग्रन्थकी नितान्त आवश्यकता थी जिसमें भाषा-शास्त्र-सम्बन्धी उन सब प्रयासोंका भी समुचित परिचय दिया जा सके जिनमें मीमांसा-शास्त्रके भाषा-सम्बन्धी विवेचनके साथ शिक्षा, व्याकरण, प्रातिशाख्य और निरुक्त-कारोंने भाषाके विभिन्न पक्षोंपर अत्यन्त विस्तारके साथ गहन विचार किया है और साथ ही उन अनेक भ्रान्तियोंका भी निराकरण किया जा सके जो योरोपीय भाषाविज्ञानके कारण इतनी अधिक प्रचारित हो गई और हो रही हैं कि हमारे भाषा-शास्त्रके लेखक उस लीकसे हटकर न तो चलना ही चाहते, न चलनेका साहस ही करते।

वर्तमान भाषाशास्त्रियोंके अध्ययन-कार्पण्यका यह क्या कम प्रमाण है कि उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें न तो अमेज़न कछार (दक्षिण अमरीका)–निवासी उन कराया इंडियनोंके वाग्वैचित्र्यकी चर्चा की जो बिना ओठ हिलाए बोलते हैं और जिह्वा तथा तालुसे उत्पन्न ध्वनियोंको नाकसे निकालते हैं, जिनके पुरुष और स्त्रियाँ ऐसी पूर्णतः भिन्न भाषा बोलते

हैं जो वे परस्पर समझ न पानेपर भी सुखसे रहते हैं। इन भाषाशास्त्रियोंने पेरू (दक्षिण अमरिका) निवासी उस विचित्र इंजे-इंजे जातिका भी कहीं उल्लेख नहीं किया जिनके पूरे वाङ्मयमें केवल एक शब्द है—'इंजे', जिसे वे अनेक प्रकारके वाणीके आरोह-अवरोह और भाव-भंगिमाके साथ धुआँधार प्रयोग करते हुए उस एक शब्दसे ही अपना समस्त सामाजिक और व्यावसायिक कार्य-व्यवहार चलाते हैं। इन विद्वानोंने भाषा-शास्त्रकी दृष्टिसे अत्यन्त अद्भुत पुरुष, २४३, साउथ वालरश एवेन्यू, शिकागो-निवासी जौन टी० बावर्सकी भी चर्चा नहीं की, जो काकली, स्वरतन्त्री और श्वासनलिकाके बिना ही स्पष्ट बोलकर वाणीकी उत्पत्तिके वर्त्तमान समस्त वैज्ञानिक सिद्धान्तको चुनौती दे रहा है।

प्रस्तुत 'वाग्विज्ञान' नामक ग्रन्थमें यद्यपि मुख्यत: योरोपीय भाषा-शास्त्रकी पद्धतिपर ही वाणीका विवेचन किया गया है तथापि इसमें कहीं भी न तो अन्धानुकरण किया गया है और न किसी विदेशी सिद्धान्तको अकारण मान्य किया गया। इतना ही नहीं, वाणीका परीक्षण, विवेचन, विश्लेषण और अध्ययन भी नरशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, कला और भौतिक विज्ञानकी दृष्टिसे इसलिये अत्यन्त विस्तारपूर्वक किया गया कि विश्व-भरमें प्रयोग की जानेवाली मानव-वाणीकी प्रकृतिका अध्ययन करनेवालेको ऐसा पर्याप्त और दृढ आधार प्राप्त हो जाय कि उसके आश्रयसे वह आगे निष्पक्ष होकर इस क्षेत्रमें काम कर सके।

इस 'वाग्विज्ञान' ग्रन्थकी रचना सर्वप्रथम 'भाषालोचन' नामसे संस्कृत-सूत्रों और हिन्दी-सूत्रोंके साथ उनकी भाष्यमयी व्याख्याके रूपमें की गई थी किन्तु भाषाशास्त्रके व्यापक क्षेत्रकी दृष्टिसे वह ग्रन्थ निश्चय ही छोटा था। अत:, चौखंभा संस्कृत सीरीज़, काशीके व्यवस्थापक श्रीविट्ठलदासके आग्रहसे और 'भाषालोचन' के प्रकाशक, हिन्दी साहित्य कुटीरके संचालक श्रीराजा बाबूकी सहमतिसे यह ग्रन्थ विस्तारपूर्वक लिखा गया जिसमें योरोपीय भाषाशास्त्रियों और उनके भारतीय अनुयायियोंकी अनेक भ्रान्तियोंका निराकरण करके और भारतीय आचार्यों-द्वारा भाषा-पर किए हुए विचारोंके साथ अत्यन्त नवीन सुविचारित पद्धतिसे वाणीकी उत्पत्ति, उसके अवयव, उसके रूप, उसके अवयवोंमें परिवर्त्तन और विकार, उन परिवर्त्तनोंके कारण तथा वाणीके मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और कलात्मक सब पक्षोंपर अत्यन्त विस्तारपूर्वक गहन विचार किया गया है।

मैं उन अनेक ग्रन्थकारों और विद्वानोंका भी ऋणी हूँ जिनके ग्रन्थोंसे मैंने साभार उनके मतोंका संग्रह किया, उनपर विचार किया और कहीं-कहीं उनका खण्डन भी किया। शास्त्रमें सदा वैमत्य होनेकी संभावना बनी रहती है और वह वैमत्य इसलिये भी आवश्यक है कि कोई परम्परागत भ्रान्त धारणा कहीं विवेकपूर्ण विचारका मार्ग

अवरुद्ध और कीलित न कर दे। भाषाशास्त्रके क्षेत्रमें विदेशी शिक्षाशास्त्रियोंके शोध-कार्य और ग्रन्थोंपर आश्रित एक विशेष विचार-परम्परा बन चली है। दुर्भाग्यवश हमारे देशके भाषा-शास्त्रके लेखकोंने आँख मूँदकर उनके सब सिद्धान्त ज्योंके त्यों मान्य-कर लिए। ऐसी गतानुगतिकताकी अवस्थामें उसपर विवेकपूर्वक विचार करना आवश्यक समझकर ही इस ग्रन्थकी रचना की गई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विदेशी भाषा-शास्त्रियोंने भाषा-शास्त्रके क्षेत्रमें अत्यन्त सराहनीय कार्य किया किन्तु यह भी स्पष्ट है कि उन्होंने भाषाशास्त्रके सम्बन्धमें किए हुए सम्पूर्ण भारतीय प्रयासकी उपेक्षा भी की, उसका गूढ अध्ययन भी नहीं किया और उसपर पक्षपात-पूर्ण व्यवस्था भी दे डाली। विदेशी भाषाशास्त्रियोंकी यह भी प्रवृत्ति रही है कि वे भारतीय ज्ञान-विज्ञानको गौरव प्रदान करनेमें कार्पण्य दिखाते रहे और सदा योरपको ही अवाञ्छनीय और अनावश्यक श्रेय देते रहे। हमारे भारतीय भाषाशास्त्रियोंने भी उन्हींका अन्धानुकरण किया। इसलिये उन सभीके भ्रामक सिद्धान्तों और निष्कर्षोंका निराकरण करनेके लिये इस ग्रन्थका निर्माण आवश्यक हो गया।

यद्यपि इस वाग्विज्ञान ग्रन्थको भी इति नहीं समझना चाहिए तथापि इसमें यह प्रयास अवश्य किया गया है कि भाषा-शास्त्र और मानव-मात्रकी निरुक्ता वाणीके जितने अन्वेषणीय क्षेत्र संभव हैं उन सभीपर यथासंभव विस्तृत विवेचनके साथ विचार हो। भाषाओंके पारिवारिक या गोत्राश्रित वर्गीकरणके सम्बन्धमें जो भ्रान्ति और अराजकता व्याप्त है उसका आलोचन, निरूपण और मन्थन इतने छोटे ग्रन्थमें संभव नहीं है। उस विवेचनके लिये विश्वकी जितनी भाषाओंका अध्ययन अपेक्षित है उसके अभावमें उस पक्षके साथ पूर्ण न्याय करना संभव भी नहीं था क्योंकि अनेक भाषान्वेषकोंके अलग-अलग विचारोंको आधार मानकर उसका व्यवस्थापन करना नितान्त अनुचित है। जो व्यक्ति विश्व-भरकी २७९६ भाषाओंका पंडित हो और उन भाषाओंकी समग्र प्रकृतिसे परिचित हो (जो असंभव है) वही भाषाओंका पारिवारिक वर्गीकरण करनेमें कुछ-कुछ सफल हो सकता है और वही भाषा-शास्त्रपर ग्रन्थ लिखनेका वास्तविक अधिकारी भी है। क्या यह कम आश्चर्य और दुःखकी बात है कि किसी भी भाषाशास्त्रीने विश्वके सबसे महान् भाषा-शास्त्री इटलीके बोलोना नगरवासी जोसेफ़ कास्पर कार्दिनल मेज़ोफ़ान्तीका नामतक नहीं लिया जो विश्वकी ऐसी ११४ भाषाओं तथा ७२ जानपदीय भाषाओंका ज्ञाता था जिनमेंसे ५४ भाषाओंपर उसका पूर्ण अधिकार था और जिसने घरपर रहकर ही सब भाषाएँ सीखी थीं और सबसे अधिक समय (४ मास) जिसे चीनी भाषा सीखनेमें लगे।

भारतकी लगभग सभी भाषाओं और विश्वकी अनेक भाषाओं और उनके साहित्यसे प्रत्यक्ष परिचय होनेके कारण ही मैंने भी इस ग्रन्थकी रचनाका संकल्प किया जिसका सुपरिणाम यह हुआ कि स्थान-स्थानपर भाषाओंका तुलनात्मक निरूपण

और परीक्षण करने तथा विषयके स्पष्टीकरणमें बड़ी सुविधा हुई। मैं विश्वास-पूर्वक कह सकता हूँ कि उस वैभवके बिना इस ग्रन्थको इतना अधिक पूर्ण कर सकना नितान्त असंभव था।

भाषा-विज्ञानके क्षेत्रमें अनेक यन्त्रोंके सहारे भाषाओंके अध्ययनका जो रूपक ग्रहण किया जा रहा है उसमें मुझे न तो विश्वास है और न मैं उसे भाषाके अध्ययनका समुचित आधार मानता हूँ। इसलिये ऐसे सब अंगोंका मैंने संक्षिप्त परिचय मात्र दे दिया है क्योंकि उसे मैं केवल प्रदर्शन-मात्र समझता हूँ—

दिलके बहलानेको ग़ालिब य' खयाल अच्छा है।

इस ग्रन्थमें स्थान-स्थानपर जिज्ञासुओं और शोधकोंके लिये ऐसे आवश्यक और पर्याप्त संकेत भी दे दिए गए हैं जिनके आधारपर नये अनुसंधित्सुओंको आगे प्रयास कर सकनेका सुगम मार्ग मिल सके। मुझे विश्वास है कि वाग्विज्ञानके अध्ययनमें प्रवृत्त सभी विद्वान् इस ग्रन्थसे समुचित लाभ उठावेंगे। यह संभव और स्वाभाविक है कि मेरे अनेक निष्कर्षों और मतोंसे वे सहमत न हों। उनसे आग्रह है कि ऐसे सभी स्थलोंके विषयमें वे मुझे अवश्य अपना मत सूचित करके अनुगृहीत करें जिससे उनपर पुनः विचार किया जा सके।

मैं श्रीविट्ठलदासको हृदयसे धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने इतनी तत्परताके साथ इस ग्रन्थके निर्माण और प्रकाशनमें सहयोग दिया। श्रीराजा बाबूको भी मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अनेक ब्लौक देकर इसकी पूर्णतामें तत्परतापूर्ण सहयोग दिया। मेरे पुत्र चिरंजीवी सुधीरकुमार चतुर्वेदीने इस ग्रन्थके मानचित्र आदि तैयार कराने और सुदर्शन मुद्रकमें पुस्तकका शीघ्र मुद्रण करानेमें जो परिश्रम किया है उसके लिये मैं सात्त्विक आशीर्वाद देता हूँ।

उत्तर बेनिया बाग़, काशी
मार्गशीर्ष पूर्णिमा,
सं० २०२५
[४ दिसंबर, सन् १९५८]

—सीताराम चतुर्वेदी

विषय-विन्यास

॥ श्री: ॥

वाग्विज्ञान

(भाषा-शास्त्र)

भाषाकी परिभाषा

गोस्वामी तुलसीदासजीने अपनी विनयपत्रिकाके एक प्रसिद्ध पदमें मनुष्य-देह पा जानेके लिये भगवान्‌के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा है—

हरि ! तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों ।
साधन-धाम, बिबुध-दुर्लभ तनु, मोहिं कृपा करि दीन्हों ॥

[हे प्रभु ! आपने मुझपर बड़ा अनुग्रह किया कि मुझे आपने सब साधन प्राप्त कर सकनेकी शक्तिवाला और देवताओंके लिये भी दुर्लभ यह मानव-शरीर दे दिया ।]

इस पदमें मानव-शरीरको केवल इसीलिये साधन-धाम नहीं बताया गया है कि मानव-देह पाकर मनुष्यने कोई विशेष बुद्धि प्राप्त कर ली है क्योंकि इतनी बुद्धि और इतना विवेक तो हाथी, घोड़े, गाय, बैल, कुत्ते, बिल्ली, वानर आदि अनेक जीवोंमें लक्षित होता है। मानव-शरीरकी सबसे बड़ी विलक्षणता यह है कि भगवान्‌ने उसमें जिस प्रकारकी वाचा-शक्ति या बोलनेकी

शक्ति भर दी है वह अन्य किसी जीव-देहमें प्राप्त नहीं है। यों तो संसारके प्राय: सभी जीव किसी न किसी प्रकारसे बोल ही लेते हैं किन्तु व्याकृता और निरुक्ता वाणीके द्वारा व्यवस्थित रूपसे अपने मनके इच्छित भाव, विचार, संकल्प, आवश्यकता और अनुभवको दूसरे व्यक्तिसे उसकी अवस्था, अवसर, मनोवृत्ति और योग्यताके अनुसार, तर्क और युक्तिके साथ, प्रभावशाली ढङ्गसे कह डालनेकी शक्ति तथा किसी दूसरे श्रोता या श्रोताओंको अपनी वाणीसे सूचना देने, अपने मनके अनुकूल बना लेने या सहमत कर लेनेकी जो वाणीकी प्रगल्भता मनुष्यको प्राप्त हुई है वह अन्य जीवोंको प्राप्त नहीं हो सकी। मनुष्यको इस प्रकार साधन-धाम बनानेका सारा श्रेय उसकी वाणीको ही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मानव-बुद्धिकी सबसे अधिक रहस्यमय और महत्त्वपूर्ण सृष्टि उसकी भाषा है।

वाणीका चमत्कार

§ १. वाणीके द्वारा निर्दिष्ट अर्थ अत्यन्त स्पष्ट रूपसे समझाया जा सकता है।

वाणीके चमत्कारका अत्यन्त अद्भुत उदाहरण एक बार समाचार-पत्रोंमें प्रकाशित हुआ था कि किसी व्यक्तिका पाला हुआ शुक, उसके पिंजड़ेसे किसी प्रकार उड़ गया किन्तु सात दिनके पश्चात् वह जिस घरमें उड़कर पहुँचा वहाँ उस पक्षीने सीखे हुए शब्दोंके अनुसार अपने स्वामीका ऐसा सटीक नाम-धाम बताया कि उसीके आधारपर वह शुक पुन: उसके पूर्व स्वामीके पास पहुँचा दिया गया। शुक और सारिकाके कण्ठमें बने हुए स्वरयन्त्र या काकलीमें यह सामर्थ्य तो है कि वह सिखाए हुए ध्वनि-क्रमके अनुसार अनुकरण करके, मनुष्यकी वाणीसे मिलती-जुलती वर्ण-ध्वनि उत्पन्न करके, उसकी आवृत्ति कर दे किन्तु उसे भगवान्‌ने यह सामर्थ्य नहीं दिया कि वह बुद्धिके साथ अपने मनकी भावनाका उचित संयोग करके अपने मनका यथेप्सित तात्पर्य या विचार वाणीके द्वारा व्यक्त कर सके।

आद्य शंकराचार्यजी जब मण्डन मिश्रका आवास पूछते हुए काशी पहुँचे तो उन्हें मिश्रजीके आवासकी यही पहचान बताई गई—

जगद्ध्रुवं स्याज्जगदध्रुवं स्यात्कीराङ्गनाः यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थ-नीडान्तरसन्निरुद्धा अवेहि तन्मण्डनपण्डितौकः॥

[जिसके द्वारपर पिंजड़ोंमें बन्द शुक-सारिकाएँ निरन्तर शास्त्रार्थ कर रही हों कि यह जगत् नश्वर है या अनश्वर, वही मण्डन पण्डितका घर समझ लेना।]

इसका तात्पर्य यह है कि इन जीवोंको भगवान्ने स्मृति-शक्ति तो दी किन्तु वाणी और बुद्धिका संयोग करनेकी शक्ति नहीं दी और न उन्हें स्वयं अपनी इच्छा, भावना या संस्कारसे अन्य पशु, पक्षी या मनुष्यकी भाषा सीखनेकी कोई विशेष शक्ति दी। इससे यह भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक तथ्य प्रकट होता है कि स्मृतिका सम्बन्ध बुद्धिसे न होकर मनसे है, बुद्धिका काम केवल विवेक करना और विचार करना है। अतः, बुद्धिके साथ अपनी वाचा-शक्तिका उचित संयोग करके बुद्धिके द्वारा विचार की हुई बातको व्यक्त कर सकनेकी शक्ति केवल मनुष्यके ही कण्ठ-स्थित स्वरयन्त्रमें है और यही कारण है कि मनुष्यने वाणीके माध्यमसे ही (चाहे परम्परागत श्रुतिके द्वारा अथवा लेखके रूपमें सुरक्षित करके) अपने समस्त ज्ञान-विज्ञानको निरन्तर सञ्चित किए रक्खा है। उसी वाणीके माध्यमसे वह अपने सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञानका विकास तथा सामाजिक और मानवीय शास्त्रों और काव्योंका प्रणयन करके अपना सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नयन भी कर सका है।

वाणीके दो चमत्कार : भाषा और सङ्गीत

§ २. वाणीसे भाषा और सङ्गीतकी सृष्टि हुई।

मनुष्यके कण्ठका स्वरयन्त्र (काकली) इतना सशक्त है कि वह अनुकरणसे अनेक जीवोंकी बोलियाँ बोल सकता है किन्तु उसने अपने व्यवहारके लिये ज्ञानके विभिन्न क्षेत्रोंमें जो अपनी भाषाका विकास किया वह स्वयं अपनी बौद्धिक प्रेरणासे किया, केवल शुकके समान अन्य जीवोंकी ध्वनियोंका अनुकरण करके ही नहीं। मनुष्यके मुख-विवरमें कण्ठगत स्वरयन्त्र (काकली)-में इस प्रकारके दो तन्तु तने हुए हैं कि जब भीतरका (और कभी-कभी बाहरका भी) श्वास-वायु उनको कम्पित करते हुए विभिन्न वेगोंसे निकाला (या प्रवेश किया) जाता है तब मुख-विवरके भीतर विभिन्न स्थानोंपर जिह्वाका अटकाव देकर बोलनेसे विभिन्न प्रकारकी ध्वनियाँ और वर्ण व्यक्त होने लगते हैं। इन ध्वनियों और वर्णोंको भी मनुष्य अनेक प्रकारके ऐसे काकु या स्वरके आरोह-अवरोहके साथ व्यक्त करने लगता है कि उनके द्वारा जहाँ एक ओर अनेक भावोंकी अभिव्यञ्जना होती है वहीं दूसरी ओर वाणीके उसी आरोह-अवरोहको विशेष क्रमसे साध लेनेपर अनेक प्रकारके सङ्गीतमय रागों और तानोंकी भी

सृष्टि होती है। इस प्रकार अपने स्वरयन्त्र (काकली) के द्वारा मनुष्य दो चमत्कारी कार्य करता है—१. भाषाका व्यवहार करता है अर्थात् अपने मनके भाव या विचार अथवा किसीके द्वारा पाया हुआ सन्देश दूसरोंको बताता है; और २. अनेक प्रकारसे अनेक लयों, तानों और रागोंमें अलाप भी सकता है। आगे चलकर मनुष्यने अपने स्वरयन्त्रकी इन दोनों शक्तियोंको विकसित और व्यवस्थित करके ऐसी युक्ति निकाल ली कि वह भाषा और सङ्गीतको मिलाकर गीत भी गाने लगा। यह अद्भुत चमत्कार संसारके किसी अन्य वर्तमान जीवके कण्ठ या उसकी वाणीमें प्राप्त नहीं होता। आकार-प्रकारमें मनुष्यके ही समान प्रतीत होनेवाले वानर या वनमानुषमें या मनुष्यके अनेक लक्षणोंसे समन्वित दिखाई पड़नेवाले अन्य जीवोंमें भी वाणीकी यह शक्ति विद्यमान नहीं है कि वे अपने मनके भाव अपनी वाणीके द्वारा व्यक्त कर सकें। वे कुछ अटपट बोलकर परस्पर एक दूसरेकी भावना भले ही समझते हों किन्तु व्याकृता न होनेसे उनकी वाणी न कोई सीख सकता है न समझ सकता है। कभी-कभी कुछ पक्षियों (जैसे कोकिल) या पशुओंकी-सी ध्वनि मुँहसे निकालकर व्याध लोग पक्षी या पशु फँसा लेते हैं। इसका यही अर्थ है कि वह ध्वनि किसी अपनी जातिके जीवके समीप होनेके कारण उसके निकट जानेके लिये प्रेरणात्मक संकेत मात्र है, व्याकृता भाषा नहीं। यह विचित्र बात है कि सहस्राब्दियोंसे मनुष्यके अत्यधिक सम्पर्कमें रहनेवाले अनेक मानवित जीवोंने भी अभीतक यह सामर्थ्य प्राप्त नहीं किया। डार्विन तथा उसके अनुयायी अन्य जीव-शास्त्रियोंके विकासवादका मत इसी एक आधारपर नितान्त भ्रामक सिद्ध हो जाता है। प्रोफेसर यर्कने चिम और पान्ज़ी नामके जो दो वनमानुष पाले थे वे भोजनके लिये 'ख' और 'ङ्ग' बोलते तो थे किन्तु ये ध्वनियाँ केवल भावोत्प्रेरक ध्वनियाँ मात्र थीं, भोजनके गुण-अवगुणपर विचार करके कहनेकी वृत्ति उनमें नहीं थी। इसी प्रकार प्रोफ़ेसर और श्रीमती केलौगने जो गुआ नामक चिम्पान्ज़ी (वानरी) नौ मास-तक अपने बच्चोंके समान पाली थी वह मानवीय वातावरण प्राप्त करनेपर भी अपने ओठ, दाँत, जीभ और मुखका प्रयोग करके कोई शब्द कहनेका प्रयास नहीं कर पाई। इसके विपरीत २४३, साउथ वालरश ऐवेन्यू, शिकागोके निवासी जौन टी० बौवर ऐसे अद्भुत पुरुष हैं जो काकली, श्वासनलिका और वाक्‌तन्तुओंके बिना ही भली प्रकार बोल लेते हैं। दक्षिण अमरीकाके अमेज़न प्रदेशके कराया इंडियन

लोग भी विना ओठ हिलाए, जीभ और तालुसे उत्पन्न सभी वर्णोंको नाकसे उच्चरित कर लेते हैं।

वास्तवमें मनुष्य-जाति स्वयं अपने आपमें निराली और सबसे अधिक प्रबुद्ध जीव-जाति है। उसने बुद्धि और वाणीका संयोग करके संसारका समस्त भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान हस्तामलकवत् सुलभ कर लिया और इसीके सहारे वह इतने वेगसे समस्त भौतिक तत्त्वोंपर ऐसा आधिपत्य करता चला आ रहा है कि उसके लिये कोई स्थान अगम्य, कोई ऊँचाई दुर्लंघ्य और कोई रहस्य अभेद्य नहीं रह गया है।

वाणीका प्रयोजन

§ ३. वाणीका प्रयोजन है दूसरेको अपने मनकी बात बताना।

अधिकांश विद्वानोंने भाषाको केवल साधन माना है, साध्य नहीं। उनका कथन है कि 'भाषा वह साधन है जिसके द्वारा कोई मनुष्य अपने मनके भाव, विचार, अनुभव और प्रतिक्रियाको वाणीके माध्यमसे किसी दूसरेके प्रति अथवा स्वयं आत्म-सन्तोषके लिये अभिव्यक्त करता चलता है।' किन्तु वाणीका मुख्य प्रयोजन यही है कि मुखसे निकले हुए सार्थक वर्णोंके माध्यमसे कोई भाव या विचार या कथनीय किसी दूसरेको समझाया या बतलाया जाय। धीरे-धीरे मनुष्यने मुखसे बोले जा सकनेवाले व्यवस्थित वर्णोंके लिये कुछ लेख-संकेत बना लिए और इस प्रकार वाणीके दो रूप बन गए—१. कानकी भाषा (बोली जानेवाली वाणी या वर्ण) और २. आँखकी भाषा या वर्ण-समाम्नाय (लिखित वाणी या अक्षर)। किन्तु दोनों परिस्थितियोंमें वाणी ऐसा साधन बनी रही जिसके द्वारा या माध्यमसे कोई व्यक्ति अपने भाव या विचार किसी दूसरेके प्रति व्यक्त कर सके। इसका तात्पर्य यह है कि भाषा सदा दूसरेके निमित्त ही बनी है, अपने लिये नहीं। भाषा ऐसा मौखिक संकेत है जिसका कोई ऐसा अर्थ होता है जो दूसरेको बताना अभीष्ट हो।

बेले (१९४०), ब्राउनफील्ड (१९५४), मेकार्थी (१९५४), ब्रोकेनरिज और विन्सेण्ट (१९५५) का मत है कि 'वाणीसे केवल भाव, विचार और सम्वेदनोंका ही आदान-प्रदान नहीं होता वरन् इसका प्रयोग सूचना एकत्र करने, अपने तर्कके परिणाम अभिव्यक्त करने, अपने भाव या सम्वेदनोंको व्यक्त करने, दूसरोंको कुछ कार्य करनेकी प्रेरणा देने, सामाजिकताकी भावनाको सन्तुष्ट

करने, व्यक्तिकी अहं-भावनाको उद्दीप्त और स्थिर करने और सब मानव-समाजको एक सूत्रमें आबद्ध करनेके लिये भी होता है।' बाल्डरिच (१९४९) का कथन है कि 'वाणी तो ऐसा व्यवहार है जो बालकके संस्कार बनानेमें सहायता करता है, उसे व्यक्तिगतसे सामाजिक बनाता है, उसे धारणाएँ स्थिर करनेमें सहायता देता है, सामाजिक रीति-नीति प्रस्तुत करके उसका पथ प्रदर्शन करता और नियन्त्रित करता है, उसे सूचना देता है, उसमें विचार, भाव और प्रवृत्ति भरता है, उसे सुरक्षित या अरक्षित होनेका अनुभव कराता है—ये सब तथा अन्य अनेक प्रकारके प्रभाव भाषाके प्रयोगसे बालकपर पड़ते हैं।' इस प्रकार 'बालककी वाणीसे उसकी जीवन-व्यवस्था प्रभावित होती है और उसकी जीवन-व्यवस्थासे वाणी प्रभावित होती है।'

वाणीकी प्रक्रिया पूर्णतः सीखी हुई और पूर्णतः संभव होती है क्योंकि मनुष्यका बालक ऐसी शक्ति लेकर उत्पन्न होता है कि वह अपने वातावरणके प्रति प्रतिक्रिया करके अपनी व्यवस्था करता चल सके। सामान्यतः प्रत्येक बालक अपनी वाणीकी प्रक्रियाको बनाए रखनेके लिये वाक्तन्तु (वोकल कौर्ड्स), जीभ, दाँत, ओठ, नाक और मुख-विवरसे युक्त उत्पन्न होता है। इसके साथ-साथ वाणीकी सहायताके लिये उसके शरीरमें फेफड़े और डाय.फ्राम (पेट और छातीके बीचका भाग) भी होता है। वाणीकी उत्पत्तिमें अनुकरण और आवृत्ति भी सहायक होती है। जैसे-जैसे मानव बालक बड़ा होता चलता है त्यों-त्यों उसकी अपनी वाणीकी शक्ति और दूसरोंकी वाणी समझनेकी शक्ति बढ़ती जाती है अर्थात् सयानपन भी वाणीकी अभिवृद्धिमें सहायक होता है। बड़ी अवस्थामें मनुष्य अधिक शीघ्रतासे वाणी सीख सकता है।

नाद-ब्रह्मका सिद्धान्त

भारतवर्षके मनीषियों, शब्दशास्त्रियों और दार्शनिकोंने भाषाको केवल साधन ही नहीं, साध्य भी माना। उन्होंने बताया कि सम्पूर्ण सृष्टिकी उत्पत्ति ही प्रणव (ॐ) या नाद-ब्रह्मसे हुई और यह नाद-ब्रह्म ही सबके लिये ज्ञेय, प्राप्य या साध्य है जिसे प्राप्त कर चुकनेपर मनुष्य पूर्णतः मुक्त और आनन्दमय हो जाता है और उसे कुछ अधिक जानना शेष नहीं रह जाता। इतना ही नहीं—

एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति।

[एक भी शब्द यदि भली प्रकारसे जान लिया जाय और उसका समुचित प्रयोग करना किसीको आ जाय तो स्वर्गलोकमें भी वह इच्छित फल देनेवाला सिद्ध होता है।]

योगशास्त्रमें नादब्रह्मके परिज्ञानके लिये अष्टांग-योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) साधनेका विधान किया गया है। जिन साधकोंने इस अष्टांग-योगकी सिद्धि की है उनका कथन है कि शरीरके भीतर समवस्थित षट्चक्र (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा) का भेदन करके मनुष्य जब उस सहस्रार चक्रमें प्राणको अधिष्ठित कर लेता है जहाँ परम ज्योतिका प्रकाश फैला रहता है तब उसे वहाँ परा वाणी अर्थात् अनाहत नादका दिव्य संगीत सुनाई पड़ने लगता है। यह सिद्धान्त यदि हम वैज्ञानिक दृष्टिसे मान्य न भी करें और यह न भी मानें कि नादब्रह्म या प्रणवसे विश्वकी उत्पत्ति हुई है तथापि लाक्षणिक रूपमें यह मानना पड़ेगा कि यदि वाणी न होती तो संसारके अस्तित्वका विवेचन किया ही नहीं जा सकता था। अतः, संसारके अस्तित्वकी सिद्धिका आधार भाषा ही है।

संसारमें जितनी भी मनुष्य-जातियाँ हैं वे सब भाषाके द्वारा ही अपने मनके भाव व्यक्त करती हैं। इन सभी संस्कृत और असंस्कृत, सभ्य और असभ्य, ग्राम्य और अग्राम्य, प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध तथा वन्य और नागरिक भाषाओंमें अपने-अपने कुछ विशेष परिगणित वर्ण होते हैं किन्तु केवल संस्कृतके वैयाकरणोंने ही संस्कृतके वर्णोंको और उनके आधारपर ही भारतकी अन्य भाषाओंके वैयाकरणोंने अपनी भाषाओंमें प्रयुक्त होनेवाले वर्णोंको उच्चारण-स्थानके क्रमसे व्यवस्थित कर लिया है। जिन भाषा-भाषियोंने ऐसा नहीं भी किया वे भी अपनी भाषामें प्रयुक्त होनेवाले वर्णोंके मेलसे ऐसे सार्थक शब्द या वाक्य बना लेते हैं जिनके विशेष क्रमबद्ध मेलसे लोग अपने इष्ट भाव दूसरोंपर प्रकट करके अपना सामाजिक व्यवहार चलाए चलते हैं। संस्कृत भाषाकी एक बहुत बड़ी विशेषता इस सम्बन्धमें ध्यान देने-योग्य यह है कि संस्कृतके जितने भी वर्ण हैं वे सब केवल परस्पर मिलकर शब्द बनानेवाली ध्वनियाँ मात्र नहीं हैं। वे सभी वर्ण अपनेमें पूर्ण शब्द भी हैं। यह विशेषता संसारकी किसी अन्य भाषामें नहीं है। शिष्ट, समुन्नत और सुसंस्कृत जातियोंने अपनी भाषाके वर्णोंको विशेष क्रमसे बाँधकर उनसे बने हुए शब्दोंके अनेक अर्थ और प्रयोजन स्थिर किए, शब्दोंकी शक्ति बढ़ाई तथा उनके प्रयोगोंमें नवीनता और लाक्षणिकता

भरी। इस प्रकारके जितने अधिक व्यवस्थित प्रयास जिन भाषावालोंने किए उनकी भाषाएँ उतनी ही अधिक स्थिर; शुद्ध, व्यवस्थित और सुव्याकृता हो गईं। इस सम्पूर्ण प्रयासका फल यही हुआ कि मनुष्य अपना मनोगत भाव अधिकसे अधिक स्पष्टता, सूक्ष्मार्थता और विशदताके साथ दूसरेके प्रति व्यक्त करने लगा।

अभिव्यक्तिके तीन प्रकार

§ ४. वार्त्तालाप, भाषण और लेखनके लिये वाणीकी अभिव्यक्ति होती है।

अपने मनके भावको वाणीके द्वारा व्यक्त करनेके तीन क्षेत्र हैं—

१. वार्त्तालाप या पारस्परिक बातचीत।

२. भाषण या व्याख्यानके द्वारा जन-समूहको संबोधित करना।

३. लिखना।

व्याख्यान देना और लिखना स्वयं अपनेमें अलग-अलग कलाएँ हैं। उनका विवेचन लेखन-कला और व्याख्यान-कलाके अन्तर्गत अलग किया जायगा किन्तु बातचीतमें तो सम्वादकी ही प्रधानता होती है अर्थात् एक कहता है, दूसरा सुनता है। नाटकोंमें भी उनके पात्र सम्वादके द्वारा ही अपने पाठ्यांश दूसरे पात्रोंके प्रति कहते हैं जिससे उन पात्रोंके चरित्र और नाटककी कथाका विकास होता चलता है। काव्य और शास्त्रके अनेक रूपोंमें भी इसी रीतिसे भाषाका प्रयोग होता है जिनके श्रोता या सम्बोध्य प्रत्यक्ष भी हो सकते हैं और पाठकके रूपमें अप्रत्यक्ष भी। इस प्रकारके सम्पूर्ण वाग्व्यवहारमें वर्णात्मक शब्दों और वाक्योंका ही प्रयोग होता है।

निरुक्ता और अनिरुक्ता तथा व्याकृता और अव्याकृता वाणी

§ ५. वाणी दो प्रकारकी होती है: निरुक्ता और अनिरुक्ता।

वैदिक साहित्यमें वाक् या वाणीके दो भेद किए गए हैं—निरुक्ता और अनिरुक्ता। निरुक्ता वाणी वह है जो प्रकट सुनाई पड़े और व्यक्त हो; अनिरुक्ता वह है जो अप्रकट और अव्यक्त हो। जो वाणी सुनाई दे उसे व्यक्त, जो न सुनाई दे उसे अव्यक्त कहते हैं। वैखरी वाणी निरुक्ता होती है, मध्यमा वाणी कभी निरुक्ता और कभी अनिरुक्ता होती है। पश्यन्ती तथा परा वाणी केवल अनिरुक्ता होती हैं। वैखरी वाणी भी दो प्रकारकी होती है—व्याकृता तथा अव्याकृता। जिन वर्णोंको मनुष्यने सार्थक बनाकर अपने व्यवहारके लिये पारस्परिक बोलचालका साधन बना लिया

है और अपनी भाषाके विशेष नियमके अनुसार जिसका वे प्रयोग करते हैं उसे व्याकृता कहते हैं। शेष सब ध्वनियाँ अव्याकृता हैं जैसे-पशु-पक्षियोंकी बोलियाँ, बच्चेकी प्रारम्भिक तुतलाहट आदि। सभी वाग्व्यवहारोंमें केवल व्याकृता वाणीका ही प्रयोग होता है किन्तु नाटक या रूपक ही ऐसा काव्य-रूप है जिसमें अव्याकृता वाणीका भी प्रयोग किया गया है और किया जा सकता है जैसे अभिज्ञान-शाकुन्तलमें कोकिलका कूजन आदि। मानव-समाजमें भी जो मनुष्य जिस भाषासे अपरिचित होता है वह उसके लिये अव्याकृता ही होती है।

मनुष्य-समाजने अपनी भाषामें प्रयोग किए जानेवाले जिन अनेक वर्णों और उन वर्णोंसे मिले हुए शब्दों और वाक्योंके अर्थ स्थिर कर लिए हैं और वाणीके द्वारा जो व्यक्त किए जा सकते हैं उन शब्दों और वाक्योंके रूपोंको व्याकृता वाणी कहते हैं। इन वर्णोंके अतिरिक्त जितनी अन्य ध्वनियाँ मुखसे व्यक्त तो की जा सकती हैं पर लिखी नहीं जा सकतीं उन्हें अव्याकृता वाक् (व्याख्या न की जा सकनेवाली ध्वनियाँ) कहते हैं। मनुष्यके मुख-विवरमें कण्ठसे ओष्ठ-तकके विभिन्न स्थानोंपर जीभके अटकावसे जब श्वास-वायुके वेगसे वर्ण या सार्थक ध्वनियाँ जान-बूझकर निकाली जाती हैं वे सब व्याकृता कहलाती हैं। भिन्न-भिन्न प्रकारकी वस्तुओंके परस्पर आघातसे अथवा पक्षियोंके बोलनेसे जो ध्वनि सुनाई पड़ती है वह सब अव्याकृता है। यह व्याकृता वाणी और अव्याकृता ध्वनि दो प्रकारकी होती है—श्रुति-मधुर और श्रुति-कठोर। जो वर्ण या ध्वनि सबके कानोंको अच्छी लगे उसे श्रुतिमधुर और जो कानको कठोर प्रतीत हो उसे श्रुति-कठोर कहते हैं। तन्त्रीकी ध्वनि श्रुतिमधुर होती है, कौएकी काँव-काँव, मेंढककी टर्र-टर्र और बिजलीकी कड़क श्रुति-कठोर या कर्कश होती है। यह श्रुति-विवेक केवल मनुष्योंमें ही नहीं, अन्य जीवोंमें भी होता है। भाषाके व्यवहारमें अव्याकृता ध्वनियोंका वर्णन व्याख्याके द्वारा कर दिया जाता है, जैसे—गाय रँभाती है, बादल गरजता है, घंटा टनटनाता है, बिजली कड़कती है, वायु सनसनाता है आदि। किन्तु व्याकृता वाणीके शब्दों और वाक्योंमें वास्तविक व्याकरणीय वर्णोंसे युक्त शब्दोंका ही नियमित प्रयोग होता है।

ध्वनि और वर्ण

यद्यपि भाषा-शास्त्रियोंने वाणीका अणु-तत्त्व ध्वनिको ही माना है किन्तु वास्तवमें व्याकृता तथा निरुक्ता (किसी भी भाषाके नियमानुसार जिसकी

व्युत्पत्ति की जा सके) वाणीका अणु-तत्त्व ध्वनि नहीं वरन् वर्ण-गोत्र है जिसे आजके भाषा-शास्त्री ध्वनिग्राम (फ़ोनीम) कहते हैं किन्तु जो वास्तवमें वर्ण-गोत्र ही कहा जाना चाहिए क्योंकि ध्वनि तो किसी भी प्रकारके श्रुति-गत स्वरको कहते हैं अर्थात् कानसे जो कुछ सुना जाय वह चाहे घण्टेकी ध्वनि हो, सीटीकी कूक हो अथवा चिड़ियोंकी चहचहाहट हो सब ध्वनि ही है, किन्तु वर्ण-गोत्र तो भिन्न होते हुए भी एक वर्ण जैसा सुनाई पड़नेवाला वह स्वर होता है जो किसी भाषाके व्याकरण या व्यवहारके अनुसार उस भाषाके सार्थक शब्दोंके निर्माणमें प्रयुक्त होता हो जैसे तालव्य च और वर्त्स्य च्। यह बताया जा चुका है कि बहुतसी ध्वनियाँ हम मुँहसे निकालते तो हैं किन्तु वे ध्वनि ही होती हैं; वर्ण नहीं, जैसे—घोड़ा हाँकते हुए मुँहसे टक्-टक् करके टिटकारी देना, बैल हाँकते हुए क़्लै-क़्लै करना, मुँहसे सीटी बजाना या किसीके साथ सहानुभूति और दया दिखानेके लिये तालुपर जीभकी चटकारी देकर 'त्च् त्च्'को ध्वनि निकालना सब ध्वनियाँ ही हैं, वर्ण नहीं। किन्तु 'आह, ओह, उः, हुँः' आदि ध्वनियाँ नहीं, वर्ण हैं क्योंकि उनके लेख-प्रतीक भी हैं और वे वर्णोंके रूपमें प्रयुक्त भी होते हैं अर्थात् वे 'आँखकी भाषा और कानकी भाषा' दोनोंमें प्रयुक्त होते हैं। यद्यपि उत्तर प्रदेशके पश्चिमी भाग और पंजाबमें समर्थनवाची 'हाँ' के लिये पुचकारकी ध्वनि और निषेधवाची 'नहीं' के लिये '.क्लै' की चटकारका प्रयोग होता है तथापि ये ध्वनियाँ व्याकृता नहीं हैं। अतः, भाषाके प्रसंगमें ध्वनि और वर्णोंका यह अन्तर स्पष्ट रूपसे समझ लेना चाहिए। ध्वनि अव्याकृता होती है, वर्ण निर्वचन-शील (व्याकृता वाणी) होता है।

वर्ण

§ ६. सभी वर्ण ध्वन्यात्मक तथा अक्षरात्मक होते हैं।

वर्ण दो प्रकारके होते हैं—ध्वन्यात्मक तथा अक्षरात्मक। शारदा-तिलकमें बताया गया है कि प्राणियोंके मूलाधार (गुदा और लिंगके बीच दो अंगुलका वह स्थान जिसे त्रिकोण कहते हैं) में, जो इच्छात्मक, ज्ञानात्मक और क्रियात्मक होता है और जहाँ करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशसे युक्त स्वयं-भू लिङ्ग विराजमान है, सर्पके समान कुण्डली मारे हुए एक नाडी

समवस्थित है जो सब वर्णोंसे मिलकर मन्त्रमय जगत्को प्रकाशित करती है, शब्द और अर्थमें परिवर्तन करती है तथा उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वर-समाहारको भी व्यक्त करती है। ग्रन्थकारके अनुसार इस कुण्डलीसे शक्ति, शक्तिसे ध्वनि, ध्वनिसे नाद, नादसे निरोधिका, निरोधिकासे अर्धेन्दु, अर्धेन्दुसे बिन्दु तथा बिन्दुसे अन्य बयालीस वर्णोंकी वर्णमाला उत्पन्न होती है। वह चित् शक्ति जब सत्त्वसे संयुक्त होती है तब वह शब्द, पद और वाक्यका रूप धारण कर लेती है। वही सत्त्वसे युक्त चित् शक्ति जब आकाशमें पहुँचकर रजोगुणसे मिलती है तब जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह शब्द कहलाता है। जब वह ध्वनि अक्षर-अवस्थामें तमोगुणसे मिलती है तब वह पद और वाक्यका रूप धारण कर लेती है।

वर्णके चार भेद : परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी

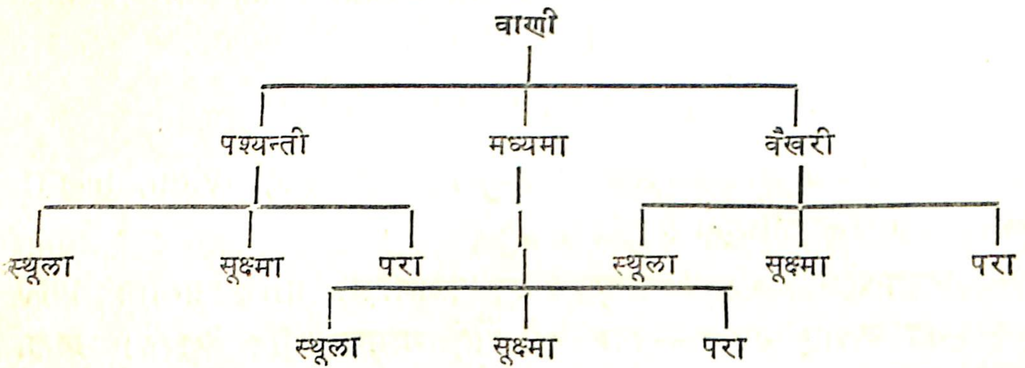
§ ७. व्यक्तता और अव्यक्तताके अनुसार वर्णके परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी चार रूप होते हैं।

योगशास्त्रके अलंकार-कौस्तुभ और पदार्थादर्श आदि ग्रन्थोंमें वर्णके चार भेद बताए गए हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। उनकी परिभाषाके अनुसार जब मूलाधारसे पहले पहल नाद रूपमें वर्णकी उत्पत्ति होती है तब उसे परा कहते हैं। वह वर्ण जब नाद रूपमें मूलाधारसे उठकर धीरे-धीरे हृदयमें पहुँचता है तब वह पश्यन्ती कहलाता है। जब वह हृदयसे उठकर क्रमशः बुद्धि और संकल्पके साथ सम्पर्क कर लेता है तब उसे मध्यमा कहते हैं। इसके पश्चात् जब वह बुद्धिसे उठकर कंठमें पहुँचकर मुखसे प्रकट होता है तब वह वैखरी कहलाता है।

वाक्यपदीय ब्रह्मकांडमें 'पश्यन्त्यां मध्यमायां च' नामक कारिकाकी भावप्रदीप-टीकामें पंडित सूर्यनारायण शुक्लने लिखा है कि 'वास्तवमें पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामकी तीन ही प्रकारकी वाणी होती है और ये तीनों स्थूला, सूक्ष्मा और परा भेदसे तीन-तीन प्रकारकी होती हैं।' उनके अनुसार वाणीके नौ भेद होते हैं—

'वर्णोंके व्यक्त रूपोंसे रहित केवल स्वरयुक्त संगीत-रूपी वाणी ही स्थूला पश्यन्ती है। वही जब जिज्ञासा-रूपिणी हो जाती है तब सूक्ष्मा पश्यन्ती या चिद्रूपा परा पश्यन्ती कहलाती है। चमड़ेसे मढ़े हुए मृदंग आदिपर हाथके

आघातसे उत्पन्न होकर प्रकट होनेवाली ध्वनिरूपी वाणी ही स्थूला मध्यमा कहलाती है। वही जब विवदयिषा अर्थात् बोलनेकी इच्छाको प्रेरित करनेवाली होती है तब सूक्ष्मा मध्यमा कहलाती है। वही जब बोलनेकी इच्छासे रहित निरुपाधिका बनी रहती है तब परा मध्यमा कहलाती है। इसी प्रकार अपने-अपने विशेष लक्षणोंके कारण अलग-अलग वर्णोंके रूपमें प्रकट होनेवाली वाणी स्थूला वैखरी कहलाती है। बोलनेकी इच्छाका रूप धारण करनेवाली वाणी सूक्ष्मा वैखरी कहलाती है और बोलनेकी इच्छासे रहित केवल ज्ञानरूपा या बुद्धिरूपा वाणी परा वैखरी कहलाती है। पश्यन्ती वाणी ही सूक्ष्म होकर परा कहलाती है।'



भाषाका महत्त्व

§ ८. भाषाके कारण ही मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी बन गया।

मनोगत भाव प्रकट करनेका सर्वोत्कृष्ट साधन भाषा है। यद्यपि आँख, सिर और हाथ आदि अंगोंके संचालनसे भी भाव प्रकट किए जा सकते हैं किन्तु भाषा जितनी शीघ्रता, सुगमता, विशदता, सूक्ष्मता, विस्तार और स्पष्टतासे भाव प्रकट करती है, उतनी सरलतासे अन्य साधन नहीं। यदि भाषा न होती तो मनुष्य, पशुओंसे भी गया-बीता होता, क्योंकि पशु भी करुणा, क्रोध, प्रेम, भय आदि कुछ भाव अपने कान-पूँछ हिलाकर या गरज-भूँककर व्यक्त कर लेते हैं। भाषाके आविर्भावसे सारा मानव-संसार गूँगोंकी विराट् बस्ती और पशु बननेसे बच गया।

भाषाके प्रयोजन

§ ९. भाषाका प्रयोजन है शुद्ध बोल या लिखकर दूसरेको अपना मनोगत भाव समझाना।

मनुष्यको ईश्वरने वाणी भी दी और बुद्धि भी। इन दोनोंके उचित संयोगसे उसने भाषाका आविष्कार किया। भाषाने भी बदलेमें उसे इस योग्य बनाया कि वह अपने मनकी बात दूसरेसे कह सके, अपना दुख-सुख दूसरोंको सुना सके और दूसरोंका दुख-सुख स्वयं समझ सके। मूलतः भाषाका यही प्रयोजन है।

परन्तु भाषाकी उपयोगिता केवल कहने-सुनने-तक ही परिमित नहीं है। कहने-सुननेके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि जो कुछ कहा जाय, वह सब ऐसे नपे-तुले शब्दोंमें, इस ढंगसे कहा जाय कि सुननेवाला उन शब्दोंके सहारे सारी बात ठीक-ठीक समझ जाय। ऐसा न हो कि कहे खेतकी, सुने खलिहानकी।

बोलने और समझनेके अतिरिक्त भाषाका उपयोग अब विशेष रूपसे पुस्तक बाँचने और लिखनेमें भी होता है। कहने और समझनेकी भाँति लिखने और बाँचनेमें भी उपयुक्त शब्दोंके द्वारा भाव प्रकट करने और उसे ठीक-ठीक बाँचकर समझनेकी आवश्यकता होती है। अतः, भाषाका प्रयोजन यह है कि मनुष्य ठीक-ठीक बोल, समझ, लिख और बाँच सके।

वूंटने सन् १९०१ तथा १९११-१९१२ में बल देकर कहा था कि 'मानसिक बोध (भावना और विचार) की अभिव्यक्ति ही भाषाका मुख्य कार्य है, विचार या भावका संक्रमण करना या दूसरोंको जताना भाषाका गौण प्रयोजन है।' पिलसबरी और मिएडर (१९२८) ने इसका विरोध करते हुए कहा कि 'भाषाका मुख्य प्रयोजन भाव-संक्रमण ही है।' सन् १९२७ में द'लगूनाने वूंटके मतकी आलोचना करते हुए कहा कि 'भाषापर इसी दृष्टिसे विचार होना चाहिए कि वह मानव-जीवनकी अनिवार्य चर्या है।' आजकल इसी मतका अधिक समर्थन किया जा रहा है कि 'वास्तवमें पारस्परिक सामाजिक व्यवहार चलाना ही भाषाका मुख्य प्रयोजन है।' जौन ड्यूई (१९२६) ने भी यही बताया कि 'भाषाका मुख्य प्रयोजन किसी पहलेसे विद्यमान वस्तु की अभिव्यक्ति नहीं है और पहलेसे चिन्तन किए हुए विचारकी अभिव्यक्ति तो है ही नहीं। भाषा तो पारस्परिक व्यवहार अर्थात् इस प्रकारकी क्रियाके सहयोगकी स्थापना है जिसमें दो या दोसे अधिक सहयोगी हों और जिसमें प्रत्येक व्यक्तिकी यह वाचा प्रक्रिया इस सहयोगिताके द्वारा निरन्तर सुधरती और व्यवस्थित होती चलती हो।' ऐस्पर (१९३५) ने कहा है कि

'भाषाको केवल विचारकी अभिव्यक्तिके लिये ही उपयुक्त मान लेनेका तात्पर्य है पारस्परिक व्यवहार तथा उस वातावरणकी उपेक्षा कर देना, जिसके लिये ही वाणीका वास्तवमें जन्म हुआ है।'

के० ब्यूहलर (१९३५) ने बोली हुई भाषाके तीन प्रयोजन माने हैं—तथ्य-स्थापन (रिप्रेज़ेण्टेशन); अभिव्यक्ति (एक्स्प्रेशन) और अभ्यर्थना (अपील)। मैक्ग्रानाहन (१९३६) का मत है कि 'वाणीकी प्रक्रियापर तीन दृष्टियोंसे विचार करना चाहिए—(क) उस व्यक्तिकी दृष्टिसे जो बोलता है; (ख) उस व्यक्तिकी दृष्टिसे जो सुनता है; और (ग) उस विषयकी दृष्टिसे जो वाणी-द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है।' यद्यपि ब्यूहलरने इन तीन पक्षोंको माना तो सही किन्तु वह स्वयं वाणीकी प्रक्रियाएँ समझनेमें अधिक संलग्न था, उसकी सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक महत्तापर विचार करनेमें नहीं।

प्राचीन भाषाशास्त्री पहले केवल वर्णनात्मक और ऐतिहासिक दृष्टिसे विभिन्न भाषाओं तथा उनके व्याकरणोंका तुलनात्मक अध्ययन करके ही तुष्ट हो रहते थे किन्तु नवीन भाषा-शास्त्री भाषाओंके ध्वनितत्त्व और भावतत्त्वपर अधिक विचार करने लगे हैं। जब कोई भाषाशास्त्री भाव या तात्पर्यका प्रश्न उठाता है तो वह सीधे मनोविज्ञानके क्षेत्रमें प्रविष्ट हो जाता है क्योंकि वह समझ लेता है कि जिस परिस्थितिमें किसी विशेष शब्दका प्रयोग किया गया है उसे दृष्टिमें रखते हुए ही उस भाव या तात्पर्यकी व्याख्या करनी चाहिए। ई० हौर्न (१९४२) का मत है कि 'भाषा-सम्बन्धी सिद्धान्तके रूपमें जो अनेक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियाँ प्रकाशमें आई हैं उनमें, सम्पूर्ण मानव-संस्कृतिकी पोषिका होनेके कारण भाषाकी महत्ता अधिक मान्य होने लगी है और यह अमान्य किया जाने लगा है कि 'भाषा मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओंका बाह्य प्रतिबिम्ब है तथा शाब्दिक संकेतों (भाषा) का अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान चिन्तनकी प्रक्रियामें है।' न्यूमैन (१९३९) ने कहा कि 'भाषा दूसरोंको प्रभावित करनेका जितना महत्त्वपूर्ण साधन है उतना बौद्धिक और सामाजिक व्यवहारका साधन नहीं है यद्यपि साहित्यमें अब भी इसी दृष्टिसे उसे महत्त्वपूर्ण समझा जाता है।' ल्यूइसने (१९४८) अपने 'लैंग्वेज ऐण्ड सोसाइटी' (भाषा और समाज) नामक ग्रन्थमें विशेष रूपसे इस पक्षका समर्थन किया है। विगौत्स्की (१९३९) ने बाह्य या मुखर भाषा,

आभ्यन्तर भाषा और विचारमें अन्तर बताते हुए कहा है कि—'आभ्यन्तर वाणीकी मनोवैज्ञानिक प्रकृतिको ठीक-ठीक समझे बिना शब्द और विचारके जटिल सम्बन्धको नहीं समझा जा सकता और मानव-चेतनाकी प्रकृतिको ठीक प्रकार समझनेके लिये विचार और वाणी ही एक मात्र कुंजी है।'

वाणीकी योग्यतासे मनुष्य अपने वातावरणसे ऊपर उठ जाता है। उसे यह शक्ति मिल जाती है कि वह अपने ज्ञानको भविष्यके लिये प्रेरित कर सके। पारस्परिक सहयोगका तो यह आधार-भूत साधना है ही। अन्य जीवोंमें भी पारस्परिक व्यवहारके अनेक रूप हैं अवश्य किन्तु वाणीके द्वारा मनुष्य अपने मनोगत भावको जितने सुन्दरतम और विशद रूपसे व्यक्त कर सकता है उतने सुन्दर और विशद रूपसे अन्य जीव नहीं कर सकते।

वाणीके प्रयोगसे मनुष्य अपने सम्पूर्ण संचित ज्ञान और विचारको अगली पीढ़ीके लिये सुरक्षित कर सकता है। वाणीसे यह भी संभव हो सका है कि मनुष्य अपने अनुभवोंसे व्यापक सार्वभौम सिद्धान्त निकाले, दूसरोंके अनुभवोंका भागी बने, विभिन्न अर्थों या तात्पर्योंमें भेद करनेकी शक्ति प्राप्त करे, अपना व्यवहार नियंत्रित करे और इन सबको सुरक्षित और संचित करके नई पीढ़ीको सौंप दे। भाषाके प्रयोगसे मनुष्य अनेक नवीन सिद्धान्त स्थापित करके उनपर प्रयोग भी कर सकता है और इस प्रकार स्वयं अपने विकास और उन्नयनके लिये समयकी भी बचत कर सकता है।

प्रभाव और शैली

§ १०. भाषामें दूसरोंको प्रभावित करनेकी अपरिमित शक्ति होती है।

केवल ठीक-ठीक बोलने, समझने, पढ़ने और लिखने मात्रकी योग्यता आ जानेसे हो भाषाका प्रयोजन पूरा नहीं होता। प्रत्येक भाषा स्वतः प्रयोग और संस्कारसे किसी नियमकी कड़ियोंमें बँधकर अपना व्यवस्थित या प्रौढ रूप धारण कर लेती है। किन्तु उस नियमके अनुसार शुद्ध बोलकर कोई बात कह-सुन लेनेसे ही मनुष्यकी तृप्ति नहीं होती। उसकी आकांक्षा यह भी रहती है कि मैं जो बात कहूँ उसका श्रोतापर प्रभाव भी पड़े। साथ ही वह यह भी चाहता है कि लिखने और बोलनेमें मेरा अपना निरालापन हो, मेरी अपनी शैली हो, जिससे मैं लाखोंमें अलग पहचान लिया जाऊँ, लिखने और बोलनेके ढंगपर मेरे व्यक्तित्वकी अलग निराली छाप पड़ी प्रतीत हो। इस भावनाको अग्रसर और उत्साहित करनेमें मनुष्यकी

आत्मप्रियता अथवा उसका अहंकार निरन्तर सहायक होता है। ऐसी स्थितिमें दूसरोंसे अपनी बात मनवानेकी अभिलाषा—'हम चुनीं दीगरे नेस्त' (हमें छोड़कर दूसरा नहीं है) की प्रवृत्ति-कभी-कभी विषम समस्या उपस्थित कर देती है। दूसरोंपर प्रभाव डालनेके लिये जब मनुष्य ओज:पूर्ण शैलीमें कोई बात कहने लगता है तब यह नहीं सोचता कि श्रोता मेरी बातकी चोटसे तिलमिलाता है या खिलखिलाता है। ऊँचे स्वरसे चिल्ला-चिल्लाकर अपशब्दोंके प्रयोगको ही वह भ्रमवश प्रभावपूर्ण और ओज:पूर्ण शैली समझ बैठनेकी भूल करने लगता है। परिणाम यह होता है कि प्रभावके स्थानपर असद्भाव उत्पन्न होने लगता है। बात माननेके बदले, श्रोता बात काटने लगता है।

राजा भोज जब बालक थे तब उनके अभिभावक चाचा मुंजने उनका राज्य हड़प लेनेकी इच्छासे भोजका वध करा डालना चाहा। जब उसका वध करनेके लिये वधिक उसे वनमें ले गए और उन्होंने भोजसे सब कथा कह सुनाई तब भोजने वधिकोंसे कहा—'ठीक है। जब चाचाजीकी यही इच्छा है तो तुम लोग मेरा वध कर डालो। किन्तु मैं जो पत्र लिखकर देता हूँ, वह ले जाकर मेरे चाचाजीको दे देना।' भोजने झट अपनी छठी उँगली काटकर रक्तसे वटपत्रपर यह श्लोक लिखकर उन्हें थमा दिया—

मान्धाता च महीपतिः कृतयुगालंकारभूतो गतः
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते
नैकेनापि समं गता वसुमती नूनं त्वया यास्यति॥

[सत्ययुगके प्रतापी राजा मान्धाता भी समाप्त हो गए। जिस रामने समुद्रपर पुल बाँधकर रावणको मार डाला था, वे भी कहाँ बचे रह पाए? इनके अतिरिक्त युधिष्ठिर आदि जो अनेक बड़े-बड़े राजा चलते बने उनमेंसे किसीके साथ यह पृथ्वी नहीं जा पाई। पर जान पड़ता है आपके साथ यह अवश्य जायगी।]

जब यह पत्र वधिकोंने पढ़ा तो उनकी आँखें डबडबा आईं। उन्होंने भोजको कहीं ले जाकर छिपा दिया और वह पत्र लाकर मुंजको दे दिया। पत्र पढ़ते ही मुंज फूट-फूटकर रो उठा और उसने खोज कराकर भोजको राज्य दे दिया।

इसी प्रकार शेरशाह सूरी जब मलिक मुहम्मद जायसीकी कानी आँखपर व्यंग्यसे मुसकराया तो जायसी बोला—'मोहिका हँसेसि कि कोहरेहि ।' [मुझपर हँस रहे हो या मेरे निर्माता ईश्वरपर ?] यह सुनते ही शेरशाह झेंपकर अपना-सा मुँह लिए रह गया।

तुलसीदासजी भी अपनी स्त्री रत्नावलीकी इन बातोंसे ही प्रभावित होकर तुलसीदास बने—

लाज न लागत आपको, दौरे आएहु साथ।
धिक् धिक् ऐसे प्रेमको, कहा कहौं मैं नाथ ।।
अस्थि-चरममय देह मम, तामें जैसी प्रीति ।
तैसी जो श्रीराम महँ होति न तौ भव-भीति ॥

[आपको लाज नहीं लगती कि आप मेरे पीछे-पीछे दौड़े चले आ रहे हैं। हे नाथ! ऐसे प्रेमको धिक्कार है इससे अधिक मैं और क्या कह सकती हूँ। इस हाड़-माँसवाले मेरी शरीरके लिये आपको जैसा मोह है वैसा यदि श्रीरामके लिये होता तो आप संसारके आवागमनके भयसे मुक्त हो गए होते ।]

महापात्र नरहरि वन्दीजनने गौओंकी ओरसे यह छप्पय लिखकर सम्राट् अकबरसे गोवध बन्द करा दिया था—

अरिहु दन्त तिनु धरै ताहि नहिं मारि सकत कोइ ।
हम संतत तिनु चरहिं बचन उच्चरहिं दीन होइ ॥
अमृत-पय नित स्रवहिं बच्छ महि-थम्भन जावहिं ।
हिन्दुहिं मधुर न देहिं, कटुक तुरकहिं न पियावहिं ॥
कह कवि नरहरि अकबर सुनो, बिनवति गउ जोरे करन ।
अपराध कौन मोहि मारियतु, मुएहु चाम सेवहिं चरन ।।

[यदि शत्रु भी मुँहमें तिनका लेकर खड़ा हो जाय तो उसे भी लोग नहीं मारते। हम निरन्तर तृण चरती हैं और दीन होकर रँभाती रहती हैं। इतना ही नहीं, हम अमृतमय दूध देती हैं और हमारे बछड़े धरती जोतते हैं फिर हम हिन्दुओंको मधुर और मुसलमानोंको कड़वा दूध नहीं पिलातीं, दोनोंको एक-सा देती हैं। नरहरि कवि अकबर शाहसे कहते हैं कि गौ हाथ जोड़कर विनय करती है कि इतनेपर भी हमें किस अपराधपर जीवित मारा जाता है जब कि मरनेपर भी हम आपकी चरण-सेवा करती रहती हैं।]

जब अटककी लड़ाईपर बीरबल गए हुए थे और सम्राट् अकबरको वहाँके गम्भीर समाचार मिलने लगे थे तब उसने डौंड़ी पिटवा दी थी कि जो भी कोई मुझे बीरबलके अवसानका समाचार देगा उसे तलवारके घाट उतार दिया जायगा। उस युद्धमें बीरबल सचमुच वीरगतिको प्राप्त हुए। समाचार देना भी आवश्यक था। अतः, एक साहसी कविने सम्राट् अकबरसे जाकर निवेदन किया—

कटक अटकमें अटकि रहि, अटक न आयो हाथ।
सब सोभा दरबारकी, गई बीरबर साथ॥

[अटकमें पहुँचकर सेनाकी गति रुक गई और अटक भी हाथ न लग पाया। उलटे, दरबारकी सारी शोभा बीरबलके साथ चली गई।]

अकबरने पूछा : क्या बीरबल लड़ाईमें काम आए ?

उसने कहा : हुज़ूर ही कह रहे हैं। ख़ादिम (सेवक) ने तो इसका ज़िक्र भी नहीं किया।

जयपुरके राजा जयसिंह जब अपनी बाल-पत्नीके मोहमें पड़कर राज-कार्यसे उदासीन हो चले, उस समय कविवर बिहारीलालने यह अन्योक्तिपूर्ण दोहा भेजकर ही उनका मोह भंग किया था—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही तैं बिंध्यौ, आगे कौन हवाल॥

[हे भौंरे ! अभी न इसमें पराग फूटा है, न मधुर मकरन्द या रस आ पाया है, न यह पूर्ण रूपसे खिल पाई है तिसपर भी जब अभीसे तू इसमें इतना रम चला है तो आगे न जाने क्या दशा होगी; अर्थात् हे राजा ! जब इस बालिकामें ही तू इतना आसक्त हो चला है तो इसके युवती होनेपर तो तू सारा राजकाज ही भुला बैठेगा।]

एक बार शाह मुअज्ज़मने कविवर आलमको पत्नी शेख़ रँगरेज़िनसे ठट्ठा करते हुए कहा—

'कहिए ! क्या आप ही आलम (संसार) की औरत हैं ?' शेख़ रँगरेज़िनके पुत्रका नाम था जहान। उसने झट उत्तर दिया—'हाँ जहाँपनाह ! जहान (संसार) की माँ मैं ही हूँ।' [व्यंग्य यह हुआ कि मैं संसारकी माता हूँ, पत्नी नहीं; और इस सम्बन्धसे आपकी भी माता हूँ।]

कहनेका तात्पर्य यह है कि वाणीमें बड़ी विचित्र शक्ति होती है पर उसका उचित प्रयोग करना भी आना चाहिए। यह शक्ति वाणीके उचित संस्कारसे ही प्राप्त हो सकती है। इसीलिये कबीरने कहा है—

जिभ्यामें अमृत बसै, जो कोई जानै बोल।
बिस बासिकका ऊतरै, जिभ्या काहि हिलोल ॥

[यदि कोई बोलनेका ढङ्ग जान सके तो उसकी जीभमें ही अमृतका वास हो जाता है। देखो, सर्पका विष उतारनेवाला गारुडी, केवल जीभ ही तो हिलाता है, पर उसीसे विष उतार देता है।]

अतः, भाषामें ऐसा प्रभाव होता है कि उससे कभी-कभी बड़ी-बड़ी विपत्तियाँ भी टाली जा सकती हैं। भाषाने सबसे बड़ा उपकार तो यह किया कि सम्पूर्ण सञ्चित ज्ञानको सुरक्षित रखने और उसे परम्परागत चलाए रखनेमें सहायता दी।

मधुरता

§ ११. भाषामें मधुरता भी होनी चाहिए।

यह तो ठीक है कि लिखते और बोलते समय कोई भी बात प्रभावोत्पादक और ओजःपूर्ण शैलीमें कही जाय किन्तु सामाजिक सौमनस्यके लिये वह मधुर ढंगसे भी कही जानी चाहिए, क्योंकि कोई बात कह देना तो सरल है, किन्तु ढंगसे कहना सरल नहीं है। वाणी उस बाणके समान होनी चाहिए जो अन्तस्तल तक पहुँचकर श्रोताका हृदय बेधे तो सही, किन्तु उसकी चोट खानेवाला न रोवे, न चिल्लावे, न आह करे, न कराहे, वरन् बाण निकालकर चूम ले और तड़पकर कह उठे—'भाई वाह! क्या कहने?' तात्पर्य यह कि बात इस ढंगसे कही जाय कि सुननेवाला उसकी कटुतापर चिढ़े नहीं, वरन् उलटे उसकी कथन-शैलीपर लोटपोट हो जाय। एक पुरानी सूक्ति है—

किं कवेस्तस्य काव्येन किं काण्डेन धनुष्मतः।
परस्य हृदये लग्नं न घूर्णयति यच्छिरः ॥

[उस कविके काव्यसे क्या लाभ जिसकी वाणी सुनकर श्रोता झूम न उठे और उस धनुर्धरके बाण चलानेसे क्या लाभ जिसके बाणकी चोट खाकर भी आहत व्यक्ति चक्कर खाकर गिर न पड़े।]

भाषाका अलङ्करण

§ १२. भाषाको ललित बनानेके लिये उसका अलंकरण भी किया जाता है।

विधाताकी सृष्टिमें सबसे अधिक असन्तुष्ट प्राणी मनुष्य है। वह अपनी आवश्यकताकी पूर्ति-मात्रसे सन्तुष्ट नहीं होता। उसे भूख लगनेपर केवल भोजन ही नहीं चाहिए वरन् भोजनमें कुछ चटपटापन, कुछ स्वाद, कुछ नमक-मसाला भी मिलना चाहिए। इसी प्रकार धूप-सर्दी-वर्षा तथा चोरी-डाकेसे बचनेके लिये मनुष्य घर तो बनाता है, पर केवल घर बनाने मात्रसे ही उसका मन नहीं भरता। वह उसे भिन्न-भिन्न रङ्गोंसे रँगवाता है, उसपर बेल-बूटे बनवाता है, चित्रकारी कराता है। आवश्यकताकी पूर्तिके साथ वह अपनी सौन्दर्य-भावनाकी तृप्तिके साधन भी प्रस्तुत करता चलता है। भाषाका प्रयोग करते समय भी उसकी यह सौन्दर्यात्मिका वृत्ति सचेष्ट हुई रहती है। वह प्रभावशाली ढङ्गसे, व्याकरणकी दृष्टिसे शुद्ध और दूसरोंको सुननेमें मधुर लगनेवाली भाषाका प्रयोग करनेके साथ-साथ उसे अलंकृत करके, उसमें चमत्कार, आकर्षण तथा सौन्दर्य भरनेका भी प्रयत्न करता है, क्योंकि वह जानता है कि इस प्रकारको चमत्कारपूर्ण वाणी श्रोताको अधिक आकृष्ट कर सकेगी और उसका प्रभाव भी स्थायी होगा।

अतः, भाषाका व्यापक उद्देश्य यह है कि मनुष्य दूसरोंकी कही और लिखी हुई बातें ठीक-ठीक समझ और पढ़ सके तथा स्वयं दूसरोंके लिये शुद्ध, प्रभावोत्पादक, मधुर और रमणीय ढङ्गसे बोल और लिख सके।

भाषाकी परिभाषा

§ १३. भाषा भी मौखिक संकेत है और इस दृष्टिसे भाषा वह व्याकृत सार्थक वर्ण-समूह है जिसके द्वारा कोई व्यक्ति उस भाषाके ज्ञाताको अपने मनकी बात ठीक-ठीक समझा सके।

भाषाकी अनेक परिभाषाएँ दी जा सकती हैं—

१. भाषा कोई अर्थ व्यक्त करनेका मौखिक संकेत ही है।
२. किसी विशेष अर्थमें किसीके मुखसे निकले हुए वर्ण या वर्ण-समूह-को भाषा कहते हैं।
३. किसीको कुछ समझानेके लिये जो मुँहसे वर्ण या वर्ण-समूहका प्रयोग किया जाता है उसे भाषा कहते हैं।

४. हाथ, पैर, आँख आदि अङ्गोंके संकेतके साथ मुखसे निकले हुए सार्थक वर्ण-समूहको भाषा कहते हैं।

५. मनके किसी भावको दूसरेपर व्यक्त करनेके लिये जिन मौखिक वर्ण-संकेतोंका प्रयोग किया जाता है उनके समूहको भाषा कहते हैं।

६. भाषा उसी प्रकार भावोंका मौखिक वर्ण-प्रतीक है जैसे लिखित रूपमें अक्षर होते हैं।

७. व्यापक अर्थमें किसी प्राणी-द्वारा अपने संवेगों या विचारोंको अन्य प्राणी या प्राणियोंके प्रति अभिव्यक्त करने या उनके संवेग और विचार ग्रहण करनेका साधन भाषा है। यह पशुओंमें भी होती है।

८. विशिष्ट तथा मान्य अर्थमें, भाषा ऐसी अभिव्यक्ति या भाव-संक्रमण है जो इस प्रकार मानवोंके प्रति बोली या मानवोंसे सुनी जाती हो कि उसके बोले और सुने हुए वर्ण किन्हीं विशेष प्रणालियोंमें विकसित और रूढ होकर सामान्य व्यवहारके लिये किसी विशेष युगमें किसी मानव-जाति-द्वारा किसी विशेष जाति या जातियोंमें मान्य हों और उस जातिके लगभग सभी सदस्योंमें सामान्यतः परस्पर समझे जाते हों।

९. विशेष तथा लाक्षणिक अर्थमें भाषाके अन्तर्गत मानव-मात्रके पारस्परिक व्यवहार, भावाभिव्यक्ति तथा संवेगोंके प्रदर्शनके लिये किए जानेवाले सभी संकेत आ जाते हैं, जैसे—मुखमुद्रा, भावभंगी, अंग-संकेत, लिखे हुए या उत्कीर्ण संकेत अथवा निर्जीव पदार्थ प्रस्तुत करना (माला भेंट करना, जूता दिखाना आदि)।

इतनी सब परिभाषाएँ होते हुए भी भाषा-शास्त्रकी दृष्टिसे 'केवल उस व्याकृत वर्ण-समूहको ही भाषा कह सकते हैं जिसका प्रयोग कोई वक्ता किसी विशेष अर्थमें अपने मुखसे करता हो, जिसका श्रोता या सम्बोध्य भी अपनी बुद्धि, योग्यता, अवसर तथा प्रसङ्गके अनुसार उसका वही अर्थ समझता हो और उस भाषाके व्यवहार-नियम अथवा व्याकरणके अनुसार जिसका निर्वचन किया जा सके।' भाषाका प्रयोग सदा दूसरेके लिये होता है इसलिये बोलनेवालेकी भाषाका स्वरूप सदा सम्बोध्य (श्रोता) की योग्यता, बुद्धि, अवसर तथा प्रसङ्गके अनुसार भिन्न होता चलता है। इसलिये लिखित भाषाकी अपेक्षा बोल-चालकी भाषा विशेष रूपसे बँधी हुई नहीं चलती है, वह निरन्तर श्रोताके अनुसार बदलती चलती है। किन्तु वक्तागण

सार्वजनिक मञ्चपर जिस भाषा-शैलीका प्रयोग करते हैं उसका स्वरूप प्रायः लिखित भाषा-शैली अथवा उस भाषाके व्याकरण और साहित्यकी प्रकृतिके अनुसार एक विशेष स्वरूपमें ढलकर प्रायः रूढ हो जाता है। व्याकरणके बन्धनमें बँध जानेपर किसी भी समाजके शिष्टजनकी भाषा कुछ तो औपचारिक हो जाती है जिसका प्रयोग शिष्ट पुरुषोंके सामाजिक व्यवहारमें होता है और कुछ खिचड़ी (जार्गन) बनकर किसी विशेष वर्ग या व्यवसायके लोगोंमें चल पड़ती है जैसे व्यावसायियोंकी भाषा अथवा न्यायालयोंमें काम करनेवालोंकी भाषा। ऐसे लोगोंके अतिरिक्त विभिन्न शास्त्रोंपर प्रवचन करनेवालों, उनका अध्यापन करनेवालों या लिखनेवालोंके लिये उनकी भाषाओंकी प्रकृतिके अनुसार नये-नये पारिभाषिक शब्द गढ़े जाते रहते हैं और इस प्रकार उनकी शास्त्रीय भाषा निरन्तर बढ़ती और समृद्ध होती चलती है।

व्यावहारिक दृष्टिसे तो यही कहा जाता है कि जो कुछ मुखसे बोला जाय सब भाषा है, किन्तु वास्तवमें यह तथ्य नहीं है। भाषाका प्रयोग तो दूसरोंके लिये ही किया जाता है अपने लिये नहीं, वह चाहे लिखित हो या भाषित। वक्ता या बोलनेवालेकी प्रवृत्ति सदा यह रहती है कि मैं इस प्रकार अपनी बात कहूँ कि श्रोता या सम्बोध्य मेरी बातको ठीक-ठीक उसी अर्थमें समझे जिस अर्थमें मैं समझाना चाहता हूँ, इसलिये भाषाके सम्बन्धमें सम्बोध्यकी योग्यता नितान्त अपेक्षित है। यदि काशीके निवासी किसी संस्कृतके विद्वान्से कोई वस्तु लेकर कृतज्ञता-ज्ञापनके लिये जर्मन भाषामें 'डाङ्कुह् शेह्न' या जापानी भाषामें 'आरिगातो' कहें तो वे यही समझेंगे कि आप उनका उपहास कर रहे हैं क्योंकि उनके लिये जर्मन और जापानी भाषाके ये धन्यवादके पर्यायवाची शब्द नितान्त व्यर्थ हैं क्योंकि वे तो 'धन्यवाद' शब्द ही समझते और उसका व्यवहार करते हैं। इसलिये जो भाषा श्रोताकी समझमें न आवे वह उसके लिये निरर्थक और व्यर्थ है, वह उसके लिये भाषा ही नहीं है। इसीलिये भाषाकी परिभाषा यही है कि 'वक्ताके मुखसे निकले हुए उस व्याकृत ध्वनि-समूहको ही भाषा कहते हैं जिसका प्रयोग वक्ता किसी विशेष अर्थमें करता हो और श्रोता भी अपनी बुद्धि, योग्यता, अवसर तथा प्रसंगके अनुसार उसी अर्थमें उसे समझता हो और उस भाषाके व्यवहार-नियम अथवा व्याकरणके अनुसार जिसका निर्वचन भी किया जा सके।'

व्यवहार-नियमकी बात इसीलिये कही गई है कि संसारमें ऐसी बहुत सी भाषाएँ हैं जिनका न तो कोई लिखित साहित्य है न व्याकरण। ऐसी भाषाओंका निर्वचन व्यवहार-नियमसे ही किया जा सकता है।

ब्रानफील्ड (१९५३) का मत है कि 'दूसरोंसे भाव-सम्पर्क करनेकी योग्यता ही भाषा है। इसके अन्तर्गत भावोंके आदान-प्रदानके वे सभी साधन आ जाते हैं जो विचारों और भावोंके ऐसे प्रतीक मान लिए गए हैं जिनके द्वारा कोई भाव, अर्थ या तात्पर्य दूसरेको समझाया जा सके और जिनके अन्तर्गत लिखे हुए अक्षर, बोले हुए शब्द, चिह्न, मुख-मुद्राएँ, हाथकी मुद्राएँ, मूकाभिनय और कला-कृति (चित्र, सङ्गीत, मूर्त्ति) आदि सभी आ जाते हैं। भाषाके कारण ही मनुष्य अन्य निम्न स्तरके जीवोंसे भिन्न प्राणी हो गया है।' किन्तु लाइनिप (१९५१) ने कहा है कि 'वाणी तो भाषाका वह रूप है जिसमें किसी दूसरेको अपना तात्पर्य, भाव या अर्थ समझाने लिये स्पष्ट व्याकृत ध्वनियों या शब्दोंका प्रयोग किया जाय। भाषाका विकास इसलिये उस वर्ण-रूपणका विकास है जो अस्पष्ट, अव्यवस्थित और अनियन्त्रित दशासे बदलकर स्पष्ट, व्यवस्थित और नियन्त्रित रूपमें विकसित होता है।'

मानव-मुखसे उत्पन्न होनेवाली सभी ध्वनियाँ वाणी नहीं कहला सकतीं। चिल्लाहट, चटकारी अथवा अन्य इस प्रकारकी स्फुट ध्वनियाँ वाणी नहीं कहला सकतीं जबतक कि वे ध्वनियाँ व्याकृता न हों। ऊपर बताया जा चुका है कि कभी-कभी इस प्रकारकी स्फुट ध्वनियोंका प्रयोग बातचीतमें भी होता है और उसका अर्थ भी होता है जैसे उत्तर-प्रदेशके पश्चिमी भाग और पञ्जाबमें समर्थन या 'हाँ' के लिये पुचकारी देना और 'नहीं' के लिये 'क़्लै क़्लै' की चटकारीका प्रयोग करना। किन्तु ये ध्वनियाँ सार्थक होते हुए भी व्याकृता न होनेके कारण वर्ण नहीं हैं। इसलिये वाणीके अन्तर्गत इनपर विचार नहीं किया जा सकता।

पशु-पक्षियोंकी भाषा

प्राय: सभी देशोंमें पक्षियों तथा अन्य जीवोंकी भाषा समझनेवाले मनुष्योंके उल्लेख मिलते हैं। हमारे यहाँ भी पक्षि-वाग्विज्ञानपर पुस्तकोंका उल्लेख तो मिलता है किन्तु अभीतक ऐसी कोई पुस्तक प्राप्य नहीं हो पाई। निश्चय ही ऐसी पुस्तक यदि मिल जाय तो भाषा-शास्त्रके क्षेत्रमें क्रान्ति उत्पन्न कर देगी।

भाषा और अंग-संकेत

§ १४. भाषाके साथ कभी-कभी अंग-संकेत भी अपेक्षित होता है।

ऊपर बताया जा चुका है कि ईश्वरने मानव-कण्ठमें इस प्रकारका स्वरयंत्र बना दिया है जिसके द्वारा मनुष्य सब प्रकारकी ध्वनियोंका सर्जन कर सकता है। अतः, विश्व-भरके किसी भी प्रदेशमें जन्म लेनेवाले मनुष्यने प्रारम्भसे ही अपने क्षेत्रमें किसी न किसी प्रकारकी भाषाका प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया था। नदी, समुद्र, पर्वत आदि प्राकृतिक सीमाओंके बीचमें पड़ जानेसे अलग-अलग प्रदेशोंमें जन्म लेनेवाले मानव-समुदायोंने अपनी-अपनी अलग-अलग भाषाएँ बना लीं और उनका व्यवहार प्रारम्भ कर दिया। जैसे-जैसे आवश्यकता पड़ती और बढ़ती रही वैसे-वैसे निरन्तर नये-नये शब्द जोड़ते चलनेसे उनकी भाषा समृद्ध और व्यवस्थित होती चली गई। भाषाके इस प्रयोगके साथ मनुष्य अपने हाथ, पैर या आँखोंका प्रयोग करके भी अपनी भाषाके अर्थको स्पष्ट करता रहा। यह तो निश्चय है कि प्रारम्भमें प्रत्येक भाषाका शब्द-भाण्डार अत्यन्त संकुचित था। धीरे-धीरे सभ्यता और संस्कृतिके विकास तथा आवश्यकता बढ़नेके साथ-साथ शब्द-भाण्डार तथा अभिव्यक्ति-शैलीका भाण्डार निरन्तर बढ़ता चला गया और बढ़ता जा रहा है। जिस मानव-समुदायको जितना ही अधिक संघर्ष-रत होना पड़ा उतना ही वह विकसित, सभ्य और सुसंस्कृत होता गया और उसकी भाषा भी उतनी ही समृद्ध होती चली गई। जो समुदाय एकान्तमें पड़े रहे, वे सभ्यता और संस्कृतिकी दौड़में पीछे पड़ गए। उनकी भाषा भी उतनी ही पिछड़ी रह गई। इसका सबसे सुन्दर उदाहरण दक्षिणी अमरीकाके पेरू देशकी 'इंजे-इंजे' नामकी मानव-जाति है जिसकी भाषामें केवल एक ही शब्द 'इंजे' है। आज भी वे लोग केवल इन दो अक्षरोंके शब्दका ही अनेक प्रकारके काकु, स्वर-विकृति, अंग-संचालन तथा भाव-भंगिमाके साथ प्रयोग करके अपना सब काम चला रहे हैं। अत्यन्त सभ्य समाजोंकी भाषाओंके व्यवहारमें भी कभी-कभी हाथ, पैर, आँख आदि अंगोंके संकेतका सहायक प्रयोग नितान्त वाञ्छनीय होता है। यदि हमें आकाशमें किसीको मंगल ग्रह दिखाना हो तो हम उँगलीसे ही संकेत करके कहते हैं—'देखो। वह मंगल ग्रह है।' इसी प्रकार किसी वस्तु, व्यक्ति, स्थान आदिका निर्देश करनेके लिये अथवा समूहमेंसे किसीको विशेष रूपसे पहचनवानेके लिये हम अंग-संकेतका ही प्रयोग करते हैं। इस प्रकारका

अंग-संकेत कभी-कभी तो नितान्त आवश्यक और अपरिहार्य हो जाता है, जैसे—किसी वस्तुके आकार-प्रकारका विवरण देते हुए हम अपना हाथ चौड़ाकर अथवा दोनों हाथ अलग-अलग करके ही यह समझा सकते हैं कि अमुक वस्तु इतनी बड़ी, छोटी या मोटी है। ऐसी बातें शब्दके द्वारा उतनी स्पष्ट नहीं होती जितनी शब्दके साथ किए हुए संकेतसे स्पष्ट हो जाती हैं। अतः, कभी-कभी अपने मनके भावको समझानेके लिये भाषाके साथ अंग-संकेत भी आवश्यक और अपरिहार्य हो जाता है जैसे नर्त्तनकी शिक्षायें।

भाषाके साधन-सप्तक

§ १५. भाषाकी व्यवहार-पूर्णताके लिये वक्ता, विषय, मुख, संकेतशील अंग, श्रोता, उसके कानके अवयव और मानसिक स्वास्थ्य आवश्यक है।

भाषाकी पूर्ण स्वरूप-व्यवस्था या भाषाके पूर्ण क्रिया-चक्रके लिये उसमें सात साधन आवश्यक हैं। जबतक इन सात साधनोंका संयोग नहीं होता तबतक भाषाकी क्रिया पूर्ण नहीं होती—

१. कहने या बोलनेवाला कोई मनुष्य वक्ता हो।

२. उस वक्ताके मनमें कोई ऐसा विचार या विषय हो जो वह दूसरेको समझाना या बताना चाहता हो।

३. वक्ताका मुख हो, जिससे वह कही जानेवाली बातको समझानेवाले शब्दोंके सब वर्ण ठीक-ठीक व्यक्त कर सके।

४. आँख-सिर-हाथ-पैर (देहके अंग) हों जिनके सहारे आवश्यकता पड़नेपर वक्ता अपने मनका भाव समझाता चल सके।

५. सुननेवाला (श्रोता) कोई मनुष्य हो, जिसे वह बात कही जानेवाली हो। यद्यपि कभी-कभी कुत्ते, बैल, गाय या अन्य जीव भी मनुष्यके आदेशके अनुसार कार्य करते चलते हैं और वे भी श्रोता माने जा सकते हैं तथापि भाषा मुख्यतः मानव-व्यवहारके लिये ही है अन्य जीवोंके साथ व्यवहारके लिये नहीं क्योंकि भाषा प्रतिव्यवहारात्मक भी होती है। उसमें यह अपेक्षा की जाती है कि श्रोता भी आवश्यकता पड़नेपर उसका उत्तर देगा और कुछ कहेगा। यह प्रति-व्यवहार केवल मनुष्य ही कर सकता है। वानर, रीछ, कुत्ते, बैल तथा सरकसमें पले हुए जीव भी मनुष्यकी वाणी और संकेतके अनुसार काम तो कर

सकते हैं किन्तु उनमें उत्तर देनेकी क्षमता नहीं होती। अतः, भाषा उनके लिये नहीं हो सकती।

६. सुननेवाले मनुष्य (श्रोता) के कान ठीक हों, जिनसे वह सब कही हुई बात ठीक-ठीक सुन सके।

७. सुननेवाले (श्रोता) में समझ या बुद्धि हो, जिससे वह कही हुई बातका अर्थ ठीक-ठीक समझ सके अर्थात् वह मानसिक दृष्टिसे स्वस्थ हो। यद्यपि कोई अन्य जीव भी श्रोता हो सकता है तथापि प्रति-व्यवहारात्मक न होनेके कारण वह श्रोता नहीं माना जा सकता।

कभी-कभी मनुष्य सोते हुए बर्राता भी है, रोगकी दशामें आह-ऊह करके कराहता भी है, प्रसन्न होनेपर 'वाह-वाह' भी करता है किन्तु यह स्वयं-भाषण या स्वयं-शब्दोच्चार भाषा-मय होनेपर भी भाषाका पूरा क्रिया-चक्र नहीं बना पाता। भाषाका क्रिया-चक्र पूरा करनेके लिये एक वक्ता (कहनेवाला) और एक श्रोता या संबोध्य (सुननेवाला) मनुष्य अवश्य होना चाहिए। वक्ता बननेके लिये केवल मनुष्य होना ही पर्याप्त नहीं है। उस मनुष्यमें बोलनेकी शक्ति भी होनी चाहिए अर्थात् वह गूँगा नहीं होना चाहिए। उसके गलेका स्वर-यंत्र तथा उच्चारण करनेवाले मुखके सभी अंग (जीभ, दाँत, मुखविवर, ओठ और नाक) शुद्ध, विकारहीन और सटीक होने चाहिएँ। इसी प्रकार सुननेवाले मनुष्यके कान अत्यन्त सधे हुए और शुद्ध होने चाहिएँ। ऐसा न हो कि वह बधिर हो, किसी प्रकारकी ध्वनिको भली-भाँति स्पष्ट सुन न पा सकता हो। इतना ही नहीं, बोलनेवाले व्यक्ति (वक्ता) के वे अंग भी सुस्थिर और अविकृत हों जिनकी चेष्टाओंके द्वारा वह अपनी वाणीके अर्थको समझा सकनेमें अधिक समर्थ हो सके। कहनेवाला मनुष्य (वक्ता) ऐसा पागल, जड और मूर्ख नहीं होना चाहिए कि उसे यही ज्ञान न हो कि मैं क्या कह रहा हूँ, क्यों कह रहा हूँ, किससे कह रहा हूँ। वह जो कुछ भी कहना चाहे वह बात उसके मनमें अत्यन्त स्पष्ट रूपसे विद्यमान होनी चाहिए। उसे यह भी जानना चाहिए कि अमुक बात मुझे किस श्रेणीके श्रोताके प्रति, किस प्रकार, क्यों, किस अवसरपर तथा किस क्रमसे कहनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि बोलते समय केवल वाणी और मनका ही नहीं, वरन् वाणी, मन और बुद्धि तीनोंका उचित संयोग होना चाहिए। यद्यपि भाषाके प्रसंगमें आंगिक चेष्टाका बहुत कम महत्त्व है

तथापि कभी-कभी आंगिक चेष्टाका प्रयोग अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। ऊपर जो उदाहरण दिए गए हैं उनके अतिरिक्त कभी-कभी गोपनीय संकेत करनेके लिये भी वाणीके साथ अंग-संचालन अपेक्षित होता है। जिस समय श्रीरामचन्द्रजीने शूर्पणखाको लक्ष्मणके पास भेजा तो रामने 'वेद' शब्द कहा और उँगलीसे आकाश काटनेका संकेत किया। इसीसे लक्ष्मण समझ गए कि शूर्पणखाके वेद (श्रुति या कान) और आकाश (नाक) काटने हैं। इस प्रसंगको गोस्वामी तुलसीदासजीने बड़े सुन्दर ढंगसे बरवै रामायणमें स्पष्ट किया है—

वेद नाम कहि, अँगुरिनि खंडि अकास।
भेज्यो सूपनखाहि, लखनके पास॥

[रामने वेद अर्थात् श्रुति (कान) और आकाश अर्थात् स्वर्ग (नाक) शब्द कहकर उँगलीसे काटनेका संकेत किया और उस संकेतके साथ शूर्पणखाको लक्ष्मणके पास भेज दिया।]

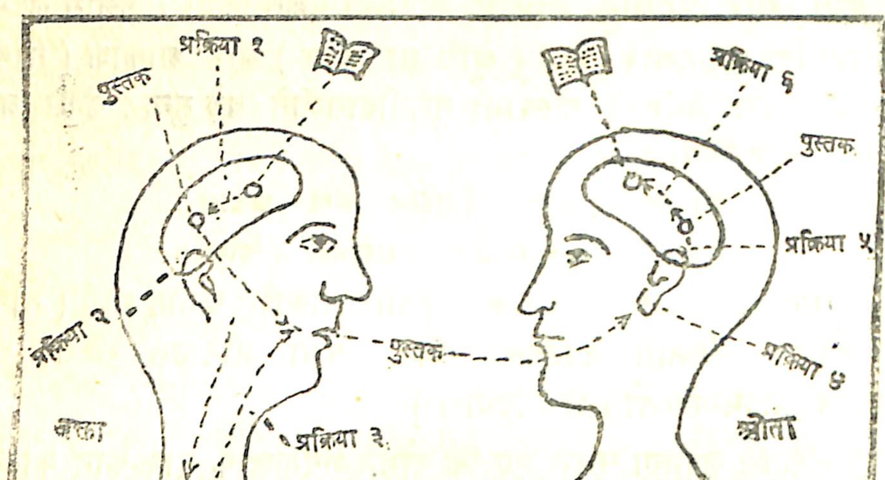
इस संकेतसे लक्ष्मण समझ गए कि रामने शूर्पणखाके नाक-कान काटनेकी आज्ञा दी है। आङ्गिक संकेतका इतना प्रयोजन होनेपर भी भाषाके प्रसङ्गमें यह सदा आवश्यक और अनिवार्य नहीं होता क्योंकि भाषा तो स्वयं संकेत है।

गार्डिनर (१९३२) ने वाणीके चार कारक माने हैं—वक्ता, श्रोता, शब्द और विषय। इनमेंसे वक्ता और शब्दके विषयमें तो अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किए जा चुके हैं किन्तु भाषाके सन्दर्भमें श्रोता और विषयके सम्बन्धमें भाषा-शास्त्र और मनोविज्ञान दोनों क्षेत्रोंमें बहुत कम विचार हुआ है। शब्दके साथ-साथ विषयपर अधिक विचार साहित्य-शास्त्रमें ही हुआ है, अन्य शास्त्रोंमें नहीं। वाणीकी यह प्रक्रिया एक विशेष क्रमसे होती है।

वाणीकी पूर्ण प्रक्रिया

मान लीजिए वक्ताको 'पुस्तक' का परिचय देना है। उसे 'पुस्तक' वस्तुका स्वरूप मस्तिष्कके एक कोषसे मिलता है जिसे वह मस्तिष्कके वाणीके केन्द्र (प्रक्रिया १) को भेज देता है। वहाँ वस्तुका रूप तत्काल वाक-प्रतीक या शब्दके रूपमें बदल जाता है। यह वाणीका केन्द्र वागिन्द्रियोंको 'पुस्तक' शब्दका उच्चारण करनेका आदेश देता है (प्रक्रिया २)। वागिन्द्रियोंसे 'पुस्तक' शब्दका उच्चारण किया जाता है (प्रक्रिया ३)। वायुकी लहरोंके द्वारा यह शब्दध्वनि श्रोताके कानतक पहुँच जाती है (प्रक्रिया ४)

जो श्रोताके मस्तिष्कके वाक्केन्द्रको 'पुस्तक' शब्द सुझाता है (प्रक्रिया ५)। तब वह शब्द अर्थ-बोध-केन्द्रको पहुँचा दिया जाता है (प्रक्रिया ६) जहाँ वह शब्द-प्रतीक श्रोताके मस्तिष्कमें 'पुस्तक' का रूप प्रतिष्ठित कर देता है। यही वाणीकी पूरी प्रक्रिया है।



भाषाका तात्पर्य ही यह है कि बोलकर कोई बात किसी दूसरेको समझाई जाय। अतः, सुननेवाला व्यक्ति (श्रोता) भी जड या उन्मत्त नहीं होना चाहिए। वह ऐसी स्वस्थ बुद्धिवाला हो कि वह वक्ता-द्वारा कही हुई बातका अर्थ उसके इच्छित भावके अनुसार ठीक-ठीक समझता चल सके। तात्पर्य यह है कि भाषाके प्रयोगके लिये केवल मनुष्यका अस्तित्व मात्र ही पर्याप्त नहीं है, उसकी वागीन्द्रियाँ, मन और बुद्धि सब सुस्थिर, संयत, अविकृत और व्यवस्थित होनी चाहिएँ।

भाषाके लिये आत्मा, बुद्धि और मनका संयोग

§ १६. भारतीय वाग्विज्ञानके अनुसार आत्मा, बुद्धि, मन, शरीरकी अग्नि और वायुके संयोगसे वाणी उत्पन्न होती है।

वर्त्तमान विदेशी भाषा-शास्त्री मानते हैं कि भीतरकी साँस जब हमारे कण्ठमें स्थित स्वरयन्त्र (लैरिंक्स) में लगे हुए दो सूक्ष्म कुञ्चनशील तन्तुओंको कँपाती हुई मुँहसे निकलती है तब मुख-विवरके भीतर विभिन्न स्थानोंपर जिह्वा अटकाने अथवा ओष्ठ संकुचित करने या फैलाने अथवा नकियाकर बोलनेसे जो ध्वनियाँ निकलती हैं उन्हींके सार्थक संव्यूहनसे

भाषाका निर्माण होता है। किन्तु भारतीय शिक्षा-शास्त्रियोंने भाषण-प्रक्रियाके सम्बन्धमें बहुत विस्तारके साथ शिक्षा-ग्रन्थोंमें विचार किया है। महामुनि पाणिनिने अपनी पाणिनीय शिक्षामें वाणीके निर्गमकी प्रक्रियाको समझाते हुए बताया है—

आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः॥
वर्णान् जनयते तेषां विभागः पंचधा स्मृतः।
स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः॥

[शब्दोच्चारणके पूर्व पहले आत्मा ही बुद्धिके साथ मिलकर अर्थ ग्रहण करता है। तदनन्तर वह मनको बोलनेकी इच्छासे प्रेरित करता है। तब वक्ताके शरीरकी अग्निपर मन आघात करता है जिसके कारण वायुको अग्नि प्रेरित करती है। वह वायु हृदय-स्थानमें पहुँचनेपर गम्भीर ध्वनि उत्पन्न करता है। वहाँसे चलकर वह ऊपर उठकर मूर्धासे टक्कर खाकर लौट आता है और मुख-मार्गसे बाहर निकलते हुए विभिन्न प्रकारके वर्ण उत्पन्न करता है। कारणके अनुसार इन वर्णोंके पाँच भेद माने जाते हैं—१. स्वरकृत भेद, अर्थात् उदात्त (ऊँचे स्वरसे), अनुदात्त (नीचे या मन्द स्वरसे) और स्वरित (समाहार; अर्थात् न बहुत ऊँचे स्वरसे न बहुत नीचे स्वरसे बोलने) के अनुसार भेद; २. कालकृत भेद, अर्थात् एक स्वरके उच्चारणमें लगनेवाले समयके अनुसार भेद, जैसे इ, इऽ, इऽऽ; ३. स्थानकृत भेद, अर्थात् मुखके भीतर जिन स्थानोंमें वर्णोंका उच्चारण होता है उनके अनुसार भेद; ४. आभ्यन्तर प्रयत्नकृत भेद अर्थात् वर्ण उच्चरित करनेमें मुखके भीतर जीभके संयोगसे जितना प्रयत्न करना पड़े उसके अनुसार भेद; तथा ५. बाह्य प्रयत्नकृत भेद, अर्थात् वर्णोंको जितनी साँसके साथ ध्वनित करके मुखसे बाहर व्यक्त करना पड़े उसके अनुसार भेद।

तात्पर्य यह है कि केवल मुख या उसके साथ मन और बुद्धिका संयोग ही पर्याप्त नहीं वरन् वाणीके प्रकाशमें आत्मा या चैतन्य शक्तिका प्रयोग भी आवश्यक है। यह सभी जानते हैं कि रुग्ण दशामें मनुष्य भली-भाँति बोल नहीं पाता क्योंकि उसके शरीरमें तेज या अग्निका अभाव हो जाता है। इसी प्रकार मूर्च्छित मनुष्य कुछ नहीं बोल पाता क्योंकि उसमें

चैतन्य तत्त्वका अभाव होता है। इस चैतन्यत्वके बिना किसी प्रकारकी कोई भी शारीरिक क्रिया सम्भव नहीं है। यह आश्चर्यकी बात है कि भाषा-शास्त्रियोंने इस प्रक्रियाके सम्बन्धमें किसी प्रकारका कोई कभी विचार नहीं किया। इस प्रक्रियाको समझनेके लिये स्वयं अपनी वाणीका विश्लेषण कर लेना उपयुक्त होगा।

जब भी मनुष्य कुछ बोलना चाहता है उसके लिये कुछ पूर्व-श्रम अपेक्षित होता है। मनुष्यका मन जिस भाव या अर्थको व्यक्त करना चाहता है उसे पहले बुद्धिसे निश्चय करना पड़ता है कि उसे किस प्रकार कब कहा जाय। यह बुद्धि तबतक सक्रिय या सचेष्ट नहीं हो पाती जबतक चैतन्य या आत्मतत्त्व उसे अवलम्ब नहीं देता अर्थात् जबतक मनुष्यकी चेतना-शक्ति उसे विवेकपूर्वक विचार करनेका अवसर नहीं देती। इतना हो चुकने-पर अर्थात् जब मनुष्यका आत्मा उसकी बुद्धिसे अनेक अर्थ या विचार ग्रहण करके उसके मनको बोलनेके लिये प्रेरित करता है तब मन उसके शरीरकी अग्नि या तेजस्को प्रेरित या उद्दीप्त करता है। यह साधारण-सा अनुभव है कि जब कभी किसीको कोई सुन्दर, प्रिय या मनोरञ्जक वस्तु अथवा कोई अप्रिय, कुरूप, भयानक अथवा घृणास्पद वस्तु दिखाई देती है तब उसके शरीरके भीतर विचित्र प्रकारकी उत्तेजनात्मक प्रतिक्रिया होती है। यह उत्तेजना तभी सम्भव है जब शरीरके भीतर समवस्थित अग्नि चेतन हो जाय। इसीलिये द्वेष, क्रोध आदि अवस्थाओंके लिये बोलचालमें 'जल उठना, आगबगूला होना, भड़क उठना, लाल-पीले होना, लाल हो जाना' आदि रूढोक्तियाँ (मुहावरे) चल पड़ी हैं जो अग्निके प्रज्वलित होनेकी विभिन्न क्रियाओंकी बोधिका हैं। यह अग्नि जागकर शरीरमें अवस्थित प्राण-वायुको भड़काती है क्योंकि वायु और अग्नि दोनों परस्पर सहायक तत्त्व हैं। जहाँ कोई स्थान उष्ण हुआ कि चारों ओरका वायु उधर बढ़ा। यही वायु पहले तो हृदयमें गूँजता है और फिर ऊपर मूर्धाकी ओर उठकर मुख-विवरके अनेक भागोंसे टकराकर निकलता हुआ अनेक प्रकारके वर्ण उत्पन्न करता है।

कोई भी ध्वनि तभी ध्वनि कहलाती है जब वह सुनी जाय। इसीलिये कहा गया है कि 'जो सुना जाय उसीको ध्वनि कहते हैं।' जो न सुना जाय उसे ध्वनिकी संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती क्योंकि सुना जाना ही

ध्वनिका एक मात्र लक्षण है। वायुहीन-पेटिकामें यदि बिजलीकी घंटी बजाई जाय तो वह ध्वनि उत्पन्न करनेकी सब क्रियाएँ करनेपर भी ध्वनि उत्पन्न नहीं कर पाती क्योंकि वायु-शून्य स्थानमें ध्वनि नहीं उत्पन्न हो सकती। अतः, यह सिद्ध हुआ कि केवल एक वस्तुका दूसरी वस्तुसे संघात या संघर्ष होनेपर भी ध्वनिकी सृष्टि तबतक नहीं होती जबतक उसके लिये वायुका संचरण न हो अर्थात् ध्वनि कहलानेके लिये उसका सुना जाना भी नितान्त अपेक्षित है। यही बात वर्णके लिये भी है। इसीलिये बोली हुई वाणी वर्ण नहीं है, वरन् सुनी हुई वाणी ही वर्ण है। यह परम विचारणीय तत्त्व है कि यदि कान न होता और कोई ध्वनि सुनी न जा सकती तो सारी सृष्टि मूक ही बनी रहती। इसीलिये जो बालक बाल्यावस्थामें बधिर उत्पन्न होते हैं वे गूँगे भी हो जाते हैं क्योंकि कोई भी ध्वनि न सुन पानेके कारण वे उसकी उच्चारण-प्रक्रियाका अनुगमन और अनुसरण नहीं कर सकते। संगीत-शास्त्री लोग प्रायः कहा भी करते हैं—'संगीत तो कानोंकी विद्या है' (सुनकर ही संगीत आता है) किन्तु केवल संगीत ही नहीं, भाषा भी कानका ही विषय है। जैसा कोई अपने सम्पर्कमें आनेवालोंको बोलते सुनता है वैसा ही वह भी बोलने लगता है।

मनुष्यकी उत्पत्ति, प्रकृति और भाषा

यह विश्व इतना विराट् और इतना विशाल है कि अपने सम्पूर्ण ज्ञान और विज्ञानके आश्रय, अध्ययन और माध्यमसे भी मनुष्य अपने इस ग्रह (पृथ्वी) तकके भी सब रहस्योंका उद्‌घाटन नहीं कर पा सका है, फिर अपने सौर-मण्डलके अतिरिक्त जो अनेक सौरमण्डल, हमारे सूर्यसे भी कई सहस्र गुने बड़े तारे, ग्रह, नक्षत्र, उपग्रह तथा धूमकेतु इस आकाशमें निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं उनके सम्बन्धमें कोई निश्चित ज्ञान प्राप्त करना तो दूरकी बात है। ज्योतिर्विद्याके आचार्योंने जिन अनेक ग्रहों, उपग्रहों और तारोंका या वहाँकी प्रकृतिका परिचय प्राप्त किया है वह इस सृष्टिकी महत्ता, विस्तार और विशालताको देखते हुए नहींके बराबर है।

सृष्टिकी उत्पत्ति : वैदिक मत

यह सम्पूर्ण सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई इस सम्बन्धमें विभिन्न देशोंमें विभिन्न मत प्रचलित हैं। विश्व-वाङ्‌मयके सर्वप्राचीन प्रमाण भारतीय वैदिक साहित्यमें यही कहा गया है—

हिरण्यगर्भः समवर्त्ताताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
[शुक्ल यजुर्वेद : १३, ४, १

[सबसे पहले स्वर्णके समान देदीप्यमान एक गोला प्रकट हुआ। वही सम्पूर्ण भावी सृष्टिका एक मात्र प्रवर्तक सिद्ध हुआ। उसीने इस पृथ्वी और आकाशको अपनेमें सँभाले रक्खा। संसारके उसी स्रष्टाका हम अभिवादन करते हैं।]

वेदमें ही यह भी कहा गया है—

ततो विराडजायतव्विराजो अधिपूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यतपश्चाद्भूमिमथो पुरः॥

[शुक्ल यजुर्वेद : ३१, ५]

[सर्वप्रथम स्वयं प्रकट होनेवाले विराट् आदि पुरुषने ही इस पृथ्वी और पृथ्वीकी सृष्टिको जन्म दिया।]

इसके पश्चात् इस प्रसंगमें जो सृष्टि-क्रम दिया गया है उसके अनुसार क्रमशः भूमि, यज्ञ, वायव्य-आरण्य-ग्राम्य पशु, तीन वेद (ऋक् साम, यजुः), अश्व, गौ, बकरे, देवता, ऋषि, चार वर्ण, चन्द्रमा, सूर्य, वायु, प्राण, अग्नि, आकाश, भूमि तथा अनेक लोक, वसन्त, ग्रीष्म और शरद्की उत्पत्ति हुई। फिर जलसे पृथ्वीमें रस उत्पन्न हुआ [पुरुष-सूक्त]।

वेदोंमें जहाँ हिरण्यगर्भ या विराट् पुरुषसे संसारके उत्पन्न होनेकी चर्चा की गई है वहीं उपनिषदोंने सृष्टिका क्रम समझाते हुए कहा है—

आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेराप अद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते।

[आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वी उत्पन्न होती है।]

मनुका सिद्धान्त

भारतीय धर्मशास्त्रके आदिप्रवर्त्तक मनुने इस विश्वके जन्मकी कथाका विवरण देते हुए कहा है कि आरम्भमें चारों ओर अन्धकार व्याप्त था। इसी अन्धकारमेंसे स्वयं-प्रकाशमान् अरूप भगवान्ने धीरे-धीरे अन्धकार दूर किया और संसार बनानेके लिये अपने शरीरके चारों ओर जल फैलाकर उसमें बीज (चैतन्य तत्त्व) डाल दिया। उसी बीजसे स्वर्णके समान दमकनेवाला और सूर्यके समान प्रकाशमान एक अंडेके आकारका विराट् ज्योतिष्पिण्ड प्रकट हुआ। उसी अंडाकार ज्वलन-पिण्डमेंसे स्वयं भगवान् ही इस विश्वके निर्माता ब्रह्माके रूपमें प्रकट हुए [मनुस्मृति]।

वेदान्त और सृष्टि

भारतीय दार्शनिकोंमें वेदान्ती लोग मानते हैं कि यह सम्पूर्ण सृष्टि केवल ब्रह्म ही है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।

[यह सब कुछ केवल ब्रह्म ही है। यहाँ अनेक रूपों और नामोंमें दिखाई देनेवाली वस्तुएँ कुछ नहीं हैं।]

—केवल अज्ञानके कारण ही लोगोंकी बुद्धिपर आवरण पड़ जानेसे संसारकी समस्त मिथ्या और नश्वर वस्तुएँ सत्य प्रतीत होने लगती हैं।

दार्शनिकोंका मत

न्याय और वैशेषिक दर्शनका तथा यूनानी दार्शनिक एपिकुरसका भी मत है कि जब यह संसार पूर्णतः ध्वस्त होकर लय हो जाता है तब केवल परमेश्वर ही एक मात्र शेष रह जाते हैं। वे जब पुनः संसारका निर्माण करनेकी इच्छा करते हैं उस समय अदृष्ट परमात्माके सम्पर्कसे वायुके सूक्ष्म कणोंमें हलचल होने लगती है। इन नन्हें-नन्हें वायुकणोंके मिलते चलनेसे वायुका वेग तीव्र हो जाता है और वह आकाशमें व्याप्त होने लगता है। इस वायुके वेगके साथ-साथ जलके कण भी इस प्रकार बढ़ते चलते हैं कि उनके बढ़नेसे चारों ओर जल फैल जाता है क्योंकि जल तो वायुसे (दो अंश हाइड्रोजन और एक अंश ऑक्सिजनसे) ही बनता है। इसी प्रकार पृथ्वीके छोटे-छोटे परमाणु भी धीरे-धीरे मिलकर बढ़ते-बढ़ते पानीमें बैठते चलते हैं और सृष्टिका निर्माण होने लगता है। न्याय और वैशिषिक दर्शनके आचार्य इन्हीं परमाणुओंसे ही इस सृष्टिका निर्माण मानते हैं। सांख्य और योगदर्शनके आचार्योंका मत है कि प्रकृति और पुरुषके संयोगसे सृष्टि होती है। जैनियोंका मत है कि द्व्यणु, त्र्यसरेणु ही उठते-उठते जब आकाशमें फैल जाते हैं तब उन्हींसे पहले वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वी बनने लगती है। पुराणोंमें प्रायः यही कहा गया है कि एक ही देवता या ईश्वरने यह सब स्वर्ग, पृथ्वी, पाताल, रसातल, जीवजन्तु और वृक्ष-लता-वीरुधोंसे भरा हुआ संसार बनाया है और वे ही इसका पालन करते हैं।

यूनानी दार्शनिकोंकी कल्पना

यूनानी दार्शनिक अरस्तूने विशिष्टाद्वैतवादियों, शुद्धाद्वैतवादियों और त्रैतवादी आर्यसमाजियोंके समान कहा है कि यह समस्त संसार और उसका

सौरमण्डल नित्य है। वह ऐसा ही सदासे चला आया है और ऐसा ही सदा रहेगा। उसके कथनानुसार यह संसार जैसा दिखाई देता है, वैसा ही था, वैसा ही है और वैसा ही रहेगा। यूनानके ही दूसरे दार्शनिक अफ़लातून (प्लातो या प्लेटो) का मत है कि अपरिवर्तनीय वस्तुओंमें जो परिवर्तित न होनेकी वृत्ति सदासे चली आ रही है वह वृत्ति और सदा विद्यमान बाह्य प्रकाश ही यह संसार है। छठी शताब्दी ई० में अलक्षेन्द्रियामें जो नव-अफ़लातूनी (निओ-प्लेटोनिस्ट) हुए वे मानते थे कि ईश्वर और संसार सदासे हैं और सदा रहेंगे। दूसरा सिद्धान्त यह है कि ईश्वरके साथ-साथ संसारमें विद्यमान सभी कुछ सदासे रहता आया है और सदा रहेगा। इन विद्वानोंका मत है कि पहले यह सारा संसार छितरा हुआ पिंड मात्र था। इसी पिंडसे सर्वप्रथम एरियस और वायु और उनके पश्चात् वायु-दिवा उत्पन्न हुए। एक मत यह भी है कि सर्वप्रथम केवल ईश्वर थे। उन्होंने कहा—'प्रकाश हो' और झट प्रकाश हो गया। इसी प्रकार उन्होंने जो इच्छा की वही होता चला गया। सर्वप्रथम यह सिद्धान्त आनाक्सागोरसने प्रवर्तित किया था जिसका समर्थन पीछे चलकर एत्रस्कनों, पारसियों, द्रुइदों और ईसाईयोंने भी स्वीकार कर लिया था। यह सिद्धान्त हमारे भारतीय उपनिषद्के उसी सिद्धान्तका अनुगमन है जिसके अनुसार यह माना जाता है कि ईश्वरने यह इच्छा व्यक्त की—

एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय।

[मैं एक हूँ, मैं बहुत हो जाऊँ।] और यह नाम-रूपात्मक जगत् प्रकट हो गया।

यहूदियोंका मत

यहूदियोंने इस सृष्टिके जन्मके सम्बन्धमें कहा है कि जैसे सप्ताहमें सात दिन होते हैं वैसे ही यह ब्रह्माण्ड या सृष्टि भी सात सहस्र वर्षतक चलती है। फिर पुरानी सृष्टि समाप्त हो जाती है और नई सृष्टिका जन्म हो जाता है। प्रत्यक्षतः यह सिद्धान्त असत्य सिद्ध हो चुका है। अरस्तूके समान कुछ यहूदी यह भी मानते हैं कि यह संसार नित्य है, यह सदासे है और सदा रहेगा। कुछ यहूदी आचार्योंका मत है कि यह ब्रह्माण्ड रचा हुआ नहीं है। यह तो सृष्टिका स्फुरण मात्र है।

मिस्रवालोंका मत

प्राचीन मिस्रके आचार्यगण मनुके समान ही यह मानते थे कि सर्वप्रथम चारों ओर घना अन्धकार छाया हुआ था। ईश्वरकी शक्तिसे उसमें जल और प्रकाश उत्पन्न हुआ। उसीसे एक पवित्र ज्वाला उठी और वह ज्वाला बाष्पके समान घनीभूत होकर ब्रह्माण्डके रूपमें ढलती चली गई। इसके पश्चात् देवताओंने ही जीव-जन्तु और वृक्ष-वनस्पतिसे पूर्ण इस सृष्टिका निर्माण किया।

स्कन्दिनेवियाका विचित्र सिद्धान्त

स्कन्दिनेवियाके 'बलास्या' नामक काव्यमें लिखा है कि पहले चारों ओर विशाल शून्य व्याप्त था जिसके उत्तरमें कोहरे और हिमसे भरा हुआ अन्धकार छाया हुआ था। दक्षिणके उष्ण जलके एक गढ़ेसे निरन्तर बारह नदियाँ प्रवाहित होती थीं और किसी प्रकाशमान् दिशासे एक किरण इस दक्षिणी भागको प्रकाशित करती रहती थी। धीरे-धीरे इस उष्ण देशकी एक उष्ण लहरीने उत्तरकी ओर चलकर उस जमे हुए जलको पिघलाना प्रारम्भ किया। उस जलसे मनुष्यके आकारका ज़मीर नामक दैत्य और आउधूमवला नामकी एक गाय उत्पन्न हुई जिसका दूध पी-पीकर ज़मीर पुष्ट होने लगा। उस समय नमक और घने कुहरेसे ढके हुए पत्थरोंको चाट-चाटकर उस गौने तीन दिनमें बुधि नामका एक मनुष्य उत्पन्न किया। इस बुधिके पुत्र बोरका विवाह एक दैत्य-कन्यासे हुआ जिसके गर्भसे उत्पन्न होनेवाले तीन देवताओंने ज़मीरको मारकर उसके मांससे यह पृथ्वी, रक्तसे समुद्र और नदी, अस्थियोंसे पर्वत और खोपड़ीसे आकाश बनाया। एक दिन इन तीनों देवताओंने समुद्रके तटपर घूमते हुए देखा कि दो लकड़ीके टुकड़े बहे चले जा रहे हैं। उन तीनों देवताओंमेंसे एकने झट उन लकड़ियोंमें श्वास और प्राण डाल दिए, दूसरेने उनमें स्फूर्त्ति और आत्माका प्रवेश कराया, तीसरेने उसे बोलने, देखने और सुननेकी शक्ति तथा सुन्दरता दी। ये ही दोनों आदि पुरुष और आदि स्त्री हुए।

इसलामका मत

मुसलमान भी यही मानते हैं कि पहले पहल .खुदा (ईश्वर) ने यह इच्छा की कि 'यह संसार बन जाय' और यह संसार बन गया।

वैज्ञानिकोंके सिद्धान्त

§ १७. मूल ज्योतिष्पिण्डसे सृष्टि उत्पन्न हुई।

विभिन्न देशों और धर्मोंमें सृष्टिकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें जितने भी मत प्रचलित हैं उनमेंसे कोई भी मत वैज्ञानिक कसौटीपर पूर्णतः ठीक नहीं उतरता। जिन्होंने केवल पृथ्वीको ही आदि सृष्टि माननेकी बात कही है वे तो प्रत्यक्षतः भ्रान्त हैं क्योंकि सृष्टिमें पृथ्वी ही नहीं वरन् पृथ्वीके अतिरिक्त अन्य न जाने कितने ग्रह-उपग्रह भी समाए हुए हैं। सौरमंडलकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें फ्रान्सके वैज्ञानिक ला प्लेने अट्ठारहवीं शताब्दीमें बताया था कि सर्वप्रथम एक अत्यन्त प्रज्वलित और प्रकाशमान वायवीय गोला आकाशमें वात्याचक्र बनकर बड़े वेगसे चक्कर काट रहा था। धीरे-धीरे वह गोला शीतल होता गया, उसका बाहरी पृष्ठ-तल जमता गया और वेगसे घूमनेके कारण उसके टूटते जानेसे उसके बहुतसे पिंड गोलाकार बनकर इधर-उधर घूमने लगे। उसका मूल अंश आज-तक भी प्रज्वलित गोलेके रूपमें सूर्य बनकर चमक रहा है। उस मूल ज्वलन-पिंडसे जो पिंड टूट-टूटकर अलग निकले वे ही मंगल, पृथ्वी, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, नैप्चून (कुबेर), यूरेनस (वरुण), और प्लूटो (यम) बनकर अबतक अपने मूल पिंड (सूर्य) के आकर्षणमें बँधे हुए उसके चारों ओर चक्कर काट रहे हैं और इन सबके समूहसे हमारा सौर-मण्डल बन गया है। किन्तु उन्होंने यह नहीं सोचा कि केवल हमारा ही तो एक सौर-मण्डल नहीं है। ऐसे-ऐसे न जाने कितने सहस्र सौर-मण्डल आकाशमें निरन्तर चक्कर लगा रहे हैं।

सर नौर्मन लौकयरका कथन है कि आकाशमें प्रकाशित होनेवाले और विचरण करनेवाले जितने भी ग्रह, नक्षत्र, सूर्य, धूमकेतु और तारे हैं वे सब उसी प्रकारके छोटे-छोटे टूटे हुए तारोंकी कणिकाओंसे बने हैं जो कभी-कभी इस पृथ्वीपर उल्काके रूपमें बरस जाती हैं। जब आकाशमें भ्रमण करनेवाले दो पिंड टकराकर चूर-चूर होकर आकाशमें बिखर जाते हैं तब जो खंड जिस ग्रहके आकर्षणमें पड़ जाता है वह या तो उसीमें मिल जाता है या उपग्रह बनकर उसके चारों ओर घूमने लगता है। प्रसिद्ध विद्वान् सौ भी मानते हैं कि आकाशमें जो अनेक सूक्ष्म कणिकाएँ व्याप्त हैं उन्हींके मेलसे पृथ्वी-जैसे पिंड बनते रहते हैं। जैफ़रेका कथन है कि कभी न कभी हमारा मूल सूर्य भी किसी बड़े नक्षत्रसे टकरा गया होगा जिसकी बिखरी हुई धूल-मिट्टी ही एकत्र होकर पृथ्वी बन गई है।

ऐसे काल्पनिक वैमत्यकी स्थितिमें यह कहना सम्भव नहीं है कि यह सम्पूर्ण सृष्टि किस प्रकार उत्पन्न हुई किन्तु यह निश्चय है कि इस सृष्टिमें पृथ्वी-पर जो इतने जीव-जन्तु और वनस्पति-समूह दृष्टिगोचर हो रहे हैं उन सबका कारण जल है। वैज्ञानिक अनुसन्धानोंसे यह भी सिद्ध हो गया है कि जिन ग्रह-पिण्डोंपर जलका अभाव है वहाँ जीव-जन्तु-वनस्पतिका पूर्ण अभाव है। जलको इसीलिये जीवन भी कहते हैं क्योंकि इस जलसे ही जीवोंकी उत्पत्ति होती है इस सम्बन्धमें कोई दो मत नहीं है। पृथ्वीपरके सभी मानव-समुदाय अन्य जीवोंके समान विभिन्न प्रदेशोंमें उत्पन्न हुए और उनकी मैथुनी सृष्टिसे उनके समुदायका विकास होता गया। विचित्र बात यह है कि ठंढेसे ठंढे आइसलैंड और टुण्ड्रा-जैसे प्रदेशोंमें और गरमसे गरम सहाराके मरुस्थल-जैसे प्रदेशोंमें मनुष्य उत्पन्न होता और रहता चला आया है। अतः, मनुष्य किसी विशेष जलवायुका जीव न होकर सब जलवायुओंका जीव है। वह विशेष रूपसे नदी-तटोंपर ही बसता रहा क्योंकि उसे पीनेके लिये जल और भोजनके लिये फल या अन्नकी आवश्यकता थी। ये दोनों पदार्थ नदी-तटपर ही उसे सुलभ हो सकते थे।

पृथ्वी और मनुष्य

§ १८. साढ़े बारह लाख वर्ष पहले मनुष्य अपने रूपमें आ गया।

इस पृथ्वीकी प्राचीनताके सम्बन्धमें प्रायः सभी भूगर्भ-शास्त्रियोंका अनुमान है कि यह कमसे कम दो अरब (२०००००००००) वर्ष पुरानी है। प्रारम्भमें यह पृथ्वी भी सूर्यके समान उष्ण थी। धीरे-धीरे यह ठंढी होती गई, सिकुड़ती गई, इसपर बादल, पानी, आँधी और धुन्ध छाता गया और धीरे-धीरे जलके कारण इसपर वृक्ष, वनस्पति, जीव-जन्तु और मनुष्य उत्पन्न होने लगे। प्राणि-शास्त्रियोंका मत है कि प्राचीन युगमें इतने भयंकर और विशाल जीव-जन्तु तथा पक्षी इस पृथ्वीपर विचरण करते थे कि मनुष्यको उनसे अपनी रक्षाके लिये बहुत सावधान रहना पड़ता था। उनका मत है कि कमसे डेढ़ करोड़ वर्ष पूर्व मनुष्य अन्य जीवोंसे अलग मानव-रूपमें प्रकट होने लगा और साढ़े बारह लाख वर्ष पहलेसे तो वह हाथीके समान विशाल जीवोंके साथ युद्ध करता चला आ रहा है।

अन्य सामान्य जीवोंके समान आज भी मनुष्य भोजन-सामग्री एकत्र करने या जीविकाके लिये दौड़-धूप कर रहा है, परिवार एकत्र कर रहा

है, उनकी सुरक्षाके लिये आवास बना रहा है, अपना सामाजिक सङ्घटन कर रहा है और समाज-मर्यादाके अनुसार सामुदायिक जीवन वहन कर रहा है। इसी प्रकार प्रारम्भिक मनुष्य भी सर्वप्रथम भोजनके लिये प्रयास करता रहा, परिवार जुटाता रहा, घर बनाकर रहता रहा, अपने परिवारकी सुरक्षाके लिये अन्य जीवों और मानव-समुदायोंसे युद्ध करता रहा और सङ्घ बनाकर उसके नियमके अनुसार रहता रहा। प्रारम्भिक मनुष्य निश्चय ही मांसाहारी नहीं रहा होगा क्योंकि उसकी शरीर-प्रकृति देखनेसे जान पड़ता है कि उसके जबड़ेमें वैसे फाड़नेवाले दाँत नहीं हैं जैसे अन्य हिंसक जीवोंके जबड़ोंमें होते हैं। पत्थर और धातु-युगके जो अनेक अस्त्र-शस्त्र मिले हैं वे भोजनार्थ मांस जुटानेके लिये नहीं वरन् भालू, सिंह, भेड़िए आदि हिंस्र जीवोंको मार भगानेके लिये होंगे जिनकी खालसे वह अपना शरीर ढकता था और अपने आवास बनाता था जैसे एस्किमो लोग आज भी करते हैं। यदि मनुष्य मांसाहारी प्राणी होता तो वह अन्य हिंसक जीवोंके समान सभी प्राणियोंको मार-मारकर खा डाला करता, खेती करनेकी झंझट न उठाता। किन्तु मनुष्यने प्रारम्भसे ही अपनी सेवा और सहायताके लिये हाथी, घोड़े, ऊँट, गाय, बैल, भैंस, याक, बारहसिंगे, कुत्ते, बिल्ली, तोते, मैना आदि जीवोंका पालन किया। यह इस बातका साक्षी है कि मनुष्य मूलतः मांसाहारी नहीं था। जिन प्रदेशोंमें कोई वनस्पति नहीं उग सकती वहाँके मनुष्योंको विवश होकर, मांससे अपना पेट भरना पड़ा होगा। वे मछली अथवा अन्य अस्थि-रहित जीवोंका कच्चा मांस भी खाते रहे होंगे और उनके सम्पर्कमें आनेवाले अन्य लोगोंने भी उनकी देखा-देखी ही मांस खाना प्रारम्भ कर दिया होगा। ऐसे लोगोंकी आज भी कोई कमी नहीं है जो कच्चा मांस खाते हैं और जिनके लिये पिशाच शब्दका प्रयोग ठीक किया गया है। मांसाहारी लोग भी यह बात तो मानते ही हैं कि कच्चा मांस नहीं खाया जा सकता।

मानव-जीवनका विकास

§ १९. मानव-जीवनके विकासमें भाषाने सबसे अधिक सहयोग दिया।

इतनी शताब्दियाँ बीत जाने और मानव-संस्कृतिका इतना विकास हो चुकनेपर भी ऐसी बहुत-सी मनुष्य-जातियाँ विद्यमान हैं जो उसी प्रकार आज भी जीवन-निर्वाह कर रही हैं जिस प्रकार आजसे सहस्रों वर्ष पूर्व करती

थीं। जहाँ एक ओर अधिक सभ्य समझे जानेवाले लोग विशाल अट्टालिकाएँ, और भवन बनाकर रहते हैं वहीं दूसरी ओर ऐसी असंस्कृत तथा वन्य जातियाँ भी विद्यमान हैं जो आज भी खोहों और गुफाओंमें रहती हैं। हो सकता है कि जैसे आज टुण्ड्राके ऐस्किमो लोग अपने इग्लू (हिमके घर) के भीतर भालुओंके डरसे अत्यन्त सँकरे द्वारसे चारों हाथों-पैरोंसे वन्य जीवोंके समान घुसता है अथवा सँकरे मुँहवाली गोल झोंपड़ियोंमें रहनेवाली आस्ट्रेलिया और अफ्रीकाकी जङ्गली मानव-जातियाँ चारों हाथ-पैरोंपर अपनी झोंपड़ियोंमें पैठते-निकलते हैं वैसे ही आदि मानव भी अपने आवासोंमें पैठता-निकलता रहा होगा और आवश्यकता पड़नेपर उसी प्रकार चलता भी रहा होगा। वर्तमान सैन्य-शिक्षणमें भी सैनिकोंको चारों हाथ-पैरोंपर रेंगकर चलनेका अभ्यास कराया जाता है क्योंकि कभी-कभी शत्रुसे बचने या उसपर आक्रमण करनेके लिये उसकी भी आवश्यकता पड़ जाती है। अतः, प्रारम्भिक युगमें जब मनुष्यको निरन्तर हिंसक तथा वन्य जीवोंसे जूझना पड़ता था तब उसे भी चारों हाथ-पैरोंपर चलने तथा सँकरे मुँहवाले झोंपड़ों, खोहों या गुफाओंमें रहना पड़ता था। वह अपने साथ सम्भवतः एक ही नारी रखता था या एक नारी एक ही पुरुषको साथ रखती थी। प्रारम्भकी वन्य अवस्थामें विवाह-प्रथाके अभावमें परिवारमें ही परस्पर यौन-सम्बन्ध हो जाता था। ये नर और नारी एक साथ अपने बच्चोंके साथ रहकर उनकी देख-भाल करते थे और उनपर अथवा भोजनकी सामग्रीपर किसी प्रकारकी विपत्ति या बाधा पड़ते देखकर युद्ध करनेपर भी उतारू हो जाते थे। इस प्रारम्भिक जीवनमें ही शीतसे बचनेके लिये जब मनुष्य पेड़ोंकी छालसे या जीवोंकी खालसे शरीर ढकने लगा, सोचने-विचारने लगा, खोह या गुफा छोड़कर पत्थरोंको ऊपर-नीचे सजाकर या बाँस-बल्लीपर पत्ते छाकर छप्पर बनाने लगा, पत्थरोंको टकराकर, लकड़ी रगड़कर अथवा वनमें लगी हुई आगके सहारे अपना भोजन पकाने लगा, अकेले अपना ही अलग परिवार लेकर रहनेके बदले अपने कुलके अथवा संबद्ध मानव-परिवारोंके साथ अलग झुण्ड बनाकर एक दूसरेके सुख-दुःखमें साथ देता हुआ रहने लगा, अपने खानेके लिये बीज बोकर अन्नका उत्पादन करने लगा, स्वाभाविक रूपसे घिसे हुए पत्थरोंसे अन्न पीसकर उन्हें आगपर पकाने लगा, अन्न आदि सामग्रियोंके रखने तथा जलका संग्रह करनेके लिये बर्तन-भाँड़े पकाने और बनाने लगा,

शरीर ढकनेके लिये वस्त्र बुनने लगा, कृषि आदि कर्मोंके लिये गाय-बैल आदि जीव पालने लगा, इधर-उधर आने-जानेके लिये घोड़े, बैल, गाड़ी और नावका प्रयोग करने लगा, अन्य आक्रामक समुदायोंसे अपने समुदायको सुरक्षित रखनेके लिये पहाड़ों, नदियों आदि प्राकृतिक सुरक्षाके स्थानोंमें बसने लगा, वन्य जीवों और हिंसक मानव-जातियोंसे बचनेके लिये अस्त्र-शस्त्र बनाने और सजाने लगा तबसे उसका जीवन कुछ जटिल हो चला। उसके इस सम्पूर्ण आयास और प्रयासमें उसकी भाषाने उसे निरन्तर सहायता दी किन्तु यह भाषा उसकी अपनी, अपने समुदायकी और अपनी विशेष भू-परिधिकी रही। धीरे-धीरे उसने अन्य समुदायोंसे आदान-प्रदान या वस्तु-विनिमय-सम्पर्क स्थापित किया, परस्पर आचार-विचारोंके आदान-प्रदानसे परस्पर आचार-विचारमें सुविधाजनक सुधार किए, नए शब्दोंका आदान-प्रदान हुआ, परस्पर विवाह-सम्बन्ध होने लगे अथवा विजयी मानव-समुदाय अन्य समुदायोंको हराकर उनके पुरुषोंको दास बनाकर और स्त्रियोंको दासी या पत्नी बनाकर ले आए और इस प्रकार दो समुदायोंकी भाषाका समन्वय और आदान-प्रदान होने लगा और उस संयोगसे एक नई भाषा चल निकली। कभी-कभी यह भी हुआ कि पुरुषोंकी भाषा अलग बनी रही, स्त्रियोंकी अलग, जैसे दक्षिण अमरीकाके अमेज़न प्रदेशकी कराया इंडियन जातिमें है। विजयी जातिकी भाषामें विजित जातिके नये शब्द आ मिले। विभिन्न जातियाँ अपने व्यवसाय, भोजन अथवा अन्य दैवी कारणोंसे एक देशसे दूसरे देशमें आने-जाने लगे और इस प्रकार धीरे-धीरे एक समुदाय या प्रदेशकी भाषा दूसरे प्रदेशमें जा पहुँची और परस्पर मिलनेसे उनका मिश्रण और भाषा-संकर होता गया जिससे परस्पर मिलनेवाली दोनों मानव-जातियोंकी भाषाएँ पुष्ट और समृद्ध होती गईं। मानव-समुदायोंका यह पारस्परिक मेल प्रायः एक भू-परिधिके लोगोंमें ही हुआ, बहुत दूरके लोगोंमें नहीं अर्थात् पर्वत, नदी, समुद्र, मरुभूमि आदि भौगोलिक व्यवधानोंके कारण जो परिमित प्रदेश बने हुए थे उनमें रहनेवाले लोगोंमें ही परस्पर सम्बन्ध स्थापित हुआ। इसके पश्चात् जब आवश्यकताएँ बढ़ने लगीं और उन्हें ज्ञात हुआ कि नदी या पहाड़के उस पार कोई मानव-समूह उनकी आवश्यकताकी पूर्त्ति करनेवाली किसी वस्तुका उत्पादन करते हैं तो वे विनिमयके लिये अपना उत्पादन वहाँ ले गए और विनिमयमें उनका उत्पादन अपने यहाँ ले आए अथवा आक्रमण करके उनका उत्पादन तो अपने उपभोगके लिये ले ही आए साथ

ही उत्पादन करनेवालोंको भी वन्दी कर लाए कि वे आकर हमारे यहाँ उस प्रकारका उत्पादन कर सकें। जैसे-जैसे जीवनकी यह जटिलता बढ़ती गई वैसे-वैसे मनुष्यने पहले परिवारके लोगोंके नामके शब्द बनाए, फिर भोज्य पदार्थोंके, फिर अपने पशुओंके, फिर हिंसक जीव अथवा हानि पहुँचानेवाले जीवोंके नाम रक्खे, इसके पश्चात् आस-पासके पेड़, पौधे, पशु, पक्षी, खेती-बारी और अस्त्र-शस्त्र आदिका यदृच्छा (मन-गढ़न्त) नामकरण किया और इसी प्रकार इनसे सम्बन्ध रखनेवाले कार्योंके क्रिया-पद बनाए जिनकी असङ्गतताके सम्बन्धमें कबीरने कहा था—

> चलतीको गाड़ी कहें, बने दूधको खोया।
> रंगीको नारङ्गी कहें, देख कबीरा रोया॥

भाषा-निर्माणमें मुखियोंका हाथ

§ २०. भाषाका निर्माण प्रत्येक जातिके मुखियाने किया।

जैसे-जैसे मनुष्यका समाज या मानव-जाति बढ़ने लगी, एक दूसरीके सम्पर्कमें आने लगी, वैसे-वैसे पारस्परिक सम्बन्धी, मित्र, सहयोगी, ग्राम और समाजके अनेक सम्बन्धोंके लिये शब्द बनाए जाने लगे और जो शब्द जिस पदार्थके लिये उनके मुखियाने निश्चय कर दिया वही शब्द उसके लिये रूढ हो गया। समाजशास्त्र और नरशास्त्रके अनुसार विश्वभरकी सब जातियोंमें मुखियोंका शासन और बोलबाला था। वे जो चाहते थे वह होता था, जो कहते थे वह किया जाता था। अतः, भाषा भी विभिन्न मानव-समुदायोंके मुखियाओंकी ही कृति है।

सभ्य जातियोंकी भाषाको छोड़कर यदि हम वन्य जातियोंकी भाषाओंपर विचार करें तो प्रतीत होगा कि आज भी वन्य जातियोंकी भाषाओंमें शब्द-भाण्डार तो बहुत बड़ा है किन्तु उनमें विशेषण प्रायः नहींके बराबर हैं, अव्ययोंकी संख्या बहुत अधिक है, संज्ञा और क्रिया-वाची शब्दोंकी अधिकता है तथा सर्वनामका प्रयोग प्रायः संकेतके साथ प्रयुक्त होता है। अतः, यह निश्चय है कि जैसे-जैसे मनुष्यका जीवन जटिल होता चला गया वैसे-वैसे उसका शब्द-भाण्डार और भाषाका घटन भी विस्तृत और जटिल होता चला गया जिसमें पहले सम्बोधनात्मक अव्यय और सर्वनाम बने, फिर संज्ञा और क्रिया-शब्द बने और बहुत पीछे चलकर विशेषण-शब्दोंका निर्माण किया गया और यह सब हुआ उनके एकाधिपति मुखियाकी प्रेरणा और इच्छासे।

मानव-प्रकार

मानव-जातियोंके रूप, रङ्ग, आकार देखनेसे निश्चय हो जाता है कि विभिन्न प्रदेशोंमें विभिन्न आकार-प्रकार और रंग-रूपके मानव अलग-अलग विभिन्न देशोंकी भू-प्रकृति, जलवायु आदिके कारण उत्पन्न हुए। यद्यपि मनुष्य सभी प्रकारके जलवायुवाले प्रदेशमें रहता चला आया है किन्तु जहाँ उसे भोजन, जल और सुरक्षाकी सुविधा रही है वहीं वह अधिक संख्यामें जाकर बसा है, फिर भी भूमिका मोह ऐसा प्रबल होता है कि असुविधा होने और अपने समुदायका बहुत विस्तार हो जानेपर भी वह उसी प्रदेशमें रहता चला जाता है। आज भी मरुभूमि, पार्वत्य प्रदेश, घने जङ्गल और ठण्ढे देशोंमें मनुष्य कम होते हुए भी रहते ही हैं। पहले स्वभावतः मनुष्य ऐसे ही स्थानकी खोज करता था जहाँ योगक्षेमका पूरा सुपास हो, जहाँ वह फल-फूल तथा अन्य खाद्य पदार्थोंका उत्पादन करके अपना, अपने परिवारका तथा अपने पशुओंका पालन कर सके क्योंकि मानव-जीवनमें पालतू पशुओंका बहुत अधिक महत्त्व था। वे पशुओंको धन मानते थे और ईश्वरसे कामना करते थे कि हमारे यजमानके पशुओंकी रक्षा करें—

यजमानस्य पशून् पाहि।

[यजमानके पशुओंकी रक्षा कीजिए।]

—क्योंकि ये पशु उनके लिये दूध भी देते थे, खेतीमें भी सहायता करते थे, अपने ऊन और खालके रूपमें वस्त्र भी देते थे और एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाने-आने तथा लाने-ले जानेमें भी भारवाही भी सिद्ध होते थे।

मनुष्यका सामाजिक और बौद्धिक विकास

§ २१. नदियोंके कछारोंमें मानव-सभ्यता और भाषाका विकास हुआ।

धरतीकी बनावट देखनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ऊँचे-ऊँचे ऊबड़-खाबड़ पथरीले पहाड़ोंपर न तो जल प्राप्त होता है न वहाँ अन्नका उत्पादन सम्भव है। यही बात मरुभूमि और हिमाच्छन्न प्रदेशोंकी भी है। घने जंगलोंमें भी वन्य हिंसक जीवोंके कारण और विशाल वृक्षोंके कारण घर बनाना और खेती करना सम्भव नहीं था फिर भी मनुष्य इन बीहड़ प्रदेशोंमें रहता आया। किन्तु नदियोंके कछारोंमें और उनके बीचकी

समतल भूमिमें जल और खेतीकी सुविधा रहती है इसलिये अधिकांश मानव-जातियाँ और मानव-समूह नदियोंके कछारों और तटोंपर ही बसते रहे। प्राचीन सभ्यताके चिह्न सिन्धु, गंगा, नील, दजला, फ़रात आदि नदियोंके कछारोंमें ही प्राप्त होते हैं। सब प्रकारकी जीवन-सुविधाएँ प्राप्त होनेके कारण ही इन कछारोंमें रहनेवाली जातियोंने बौद्धिक, सामाजिक और कलात्मक विकास किया। यदि कभी उन कछारोंमें बाढ़ भी आई तो वह अपने साथ उपजाऊ मिट्टी लाकर वरदान ही सिद्ध हुई। इसलिये जब मनुष्यने अपनी बुद्धिका प्रयोग किया, अपना जीवन जटिल बनाया, उसके साथ-साथ उसकी भाषा भी समृद्ध होती गई और केवल उन्हीं जातियोंकी भाषा अधिक समृद्ध हुई जो सबसे पहले नदियोंके कछारोंमें खेती करने लगे, बस्तियाँ बनाकर रहने लगे, समाज बनाकर और राज्य स्थापित करके एक ओर खेती और गोपालन करने लगे, दूसरी ओर उनकी सुरक्षाकी व्यवस्था करने लगे और तीसरी ओर मनुष्य-समाजकी सुविधाके लिये अनेक प्रकारके यंत्र, अस्त्र-शस्त्र और साधन जुटाने लगे। इतना ही नहीं, नदियोंके कछारोंमें रहनेवाले मानव-समुदायोंने जब जीवनकी स्थिरता प्राप्त कर ली तब वे मानव-जीवनकी भौतिक आवश्यकताओं और व्यवस्थाओंसे ऊपर उठकर आध्यात्मिक चिन्तन करने लगे, ईश्वर, जीव और जगत्के सम्बन्धमें विचार करने लगे। यह दार्शनिक वृत्ति और दार्शनिक चिन्तनकी अवस्था मनुष्यकी सबसे उदात्त और सबसे ऊँची मानसिक भाव-भूमि ही नहीं वरन् भाषाकी भी सर्वोच्च समृद्धि-भूमि है क्योंकि मनुष्य प्रत्यक्ष जगत्के पदार्थों, भावों, क्रियाओंसे ऊपर उठकर परोक्ष जगत्के तत्त्वोंके लिये नये शब्द गढ़ने लगा, भाषाकी दृष्टिसे सूक्ष्म चिन्तनकी नई भावात्मक शैली और प्रक्रियाका अनुसंधान करने लगा।

इसके विपरीत जो लोग केवल एक विशेष भौगोलिक परिधिमें ही परिमित रह गए या केवल अपने भोजन-पानीके फेरमें ही एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाते-आते और घूमते रह गए वे अपने जीवनकी अस्थिरताके कारण न तो अपनी भाषाको ही समृद्ध कर पाए, न अपने जीवन-क्रममें ही विशेष समुन्नति कर सके, न सामाजिक व्यवस्था या राज्य-व्यवस्थाकी बात सोच सके और न अपने जीवनको ही विशेष परिष्कृत अथवा समुन्नत कर सके। जो लोग नदियोंके कछारोंमें बसते थे उन लोगोंने आजसे सहस्रों वर्ष पूर्व केवल खेती-बारी ही नहीं की, वरन्

बड़े-बड़े नगर स्थापित किए, उनमें विशाल भवन बनवाए, कूप-वापी-तडाग-मन्दिर आदिका निर्माण कराया, सड़कें बनवाईं, दुर्ग बनवाए, लकड़ी, पत्थर, ईंट आदिसे उन्हें सजाया, अपने आवास, परिधान, शृंगार आदिके लिये एकसे एक बढ़कर बहुमूल्य धातु और अन्य पदार्थ एकत्र किए जिनकी गाथा आज भी भारतके अनेक स्तम्भ, मन्दिर और मूर्तियोंमें, मैक्सिकोकी माया-संस्कृतिके अवशेषोंमें, मिस्रके पिरेमिडोंमें, यूनान और रोमके विशाल भवनोंमें, चीनकी बड़ी दीवार आदिमें प्रत्यक्ष प्रमाण बनकर विद्यमान हैं जिनके साथ-साथ पत्थरों, पकी हुई मिट्टीकी ईंटों तथा ताम्रपत्र आदि अनेक पदार्थोंपर खुदे और लिखे हुए विवरण इस बातके साक्षी हैं कि उन्होंने किस प्रकार अपनी वाणीका संस्कार और परिष्कार करके अपनी संस्कृतिका विकास किया। इन सभी मानव-जातियोंकी अलग-अलग विकसित होनेवाली भाषाओंका किस प्रकार प्रसार हुआ इसका विवरण निश्चित रूपसे अत्यन्त रोचक और रोमांचक है।

यह बताया जा चुका है कि विभिन्न भौगोलिक परिधियोंमें रहनेवाले मानव-समुदायोंने एक दूसरेसे सम्पर्क स्थापित करके भाषाके विकासमें योग दिया। यह सम्पर्क जहाँ व्यावसायिक आदान-प्रदानके रूपमें हुआ, वहीं आक्रामक और आक्रांतके रूपमें भी हुआ और जिन समुदायोंने दूसरे समुदायोंपर आक्रमण करके उन्हें जीत लिया और उन्हें वन्दी बनाकर अपने देशमें ले आए उनके सम्पर्कसे एक नई भाषा चल निकली। कभी-कभी किसी आकस्मिक दैवी विपत्तिसे पीडित होकर भी जब एक मानव-समुदाय एक स्थानसे दूसरे स्थानकी ओर बढ़ गया और अन्य मानव-समुदायोंके सम्पर्कमें आया तब उसने कुछ अपने शब्द उन्हें दिए और कुछ उनके शब्द तथा संस्कार स्वयं ग्रहण किए। अपने ही देशको लें तो हमारे यहाँ पंजाबी (कई रूपोंमें), राजस्थानी (कई रूपोंमें), गुजराती, मराठी, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, उड़िया, मालवी, छत्तीसगढ़ी, बुन्देलखण्डी, बँगला, असमिया, संथाली, मुंडा तथा सैकड़ों वन्य जातियोंकी सैकड़ों भाषाएँ, तमिळ, तेलुगु, कन्नड़, मळयालो, तुलु और कोंकणी आदि सैकड़ों भाषाएँ बोली जाती हैं। योरपमें केवल एक कैस्पियन सागरके चारों ओर उक्रानी (रूसी), कौकेशी, आरमीनी, कुची, तुर्की, बलगेरी और रूमानी बोलियाँ सुननेको मिलेंगी। स्पेनमें पूर्वी समुद्रके तटपर कतलान भाषा

बोली जाती है, और पूर्व-उत्तरके कोनेपर फ्रांस और स्पेनकी पूर्वोत्तर सीमापर 'बास्क' नामकी एक विचित्र भाषा बोली जाती है। इसी प्रकार जिब्राल्टरके पास सागर-संधिके उत्तरमें स्पेनकी ओर स्पेनी और दक्षिणमें अफ्रीकाकी ओर अरबी और बेरबेर नामक भाषा बोली जाती है। अतः, आज भी, इतना पारस्परिक मानव-सम्पर्क होनेपर भी, एक भौगोलिक परिधिमें भी एक ही भाषा नहीं बोली जाती। इस प्रकार एक ही देशमें बहुत पास-पास रहनेवाली किन्तु किसी नदी, पर्वत या भौगोलिक व्यवधानके कारण अलग-अलग जीवन यापन करनेवाली जातियोंकी भाषाएँ अलग-अलग हैं। अफ्रीकामें एक विशेष बात दिखाई पड़ती है कि पूरे दक्षिण अफ्रीकामें बन्तू भाषाका प्रयोग होता है, पश्चिमसे पूर्व-तक सूदानी और गिनिया भाषाएँ तथा उत्तरमें सैमिटिक-हेमेटिक बोलियाँ बोली जाती हैं। उसका कारण यही है कि इस विशाल देशमें भू-प्रकृति लगभग एक-सी है और बाहरकी जातियोंसे उनका सम्पर्क बहुत कम हो पाया है। उत्तर अफ्रीकामें जहाँ योरोपीय देशोंसे उनका अधिक सम्पर्क हुआ, वहाँ आज भी जिब्राल्टरसे लेकर अलक्षेन्द्रिया-तक अनेक भाषाएँ रूम सागरके दक्षिण तटवर्तीय प्रदेशोंमें बोली जाती हैं। अतः, भाषाओंके विकासके सम्बन्धमें केवल शरीर-विज्ञानका ही अध्ययन पर्याप्त नहीं है वरन् उसे समझनेके लिये पिछली अनेक शताब्दियोंका इतिहास जानना भी आवश्यक है क्योंकि विभिन्न मानव-जातियोंका इतिहास जाने बिना भाषाओंके विकासका ठीक क्रम समझना सम्भव नहीं है।

भाषाके विकासमें इतिहासका हाथ

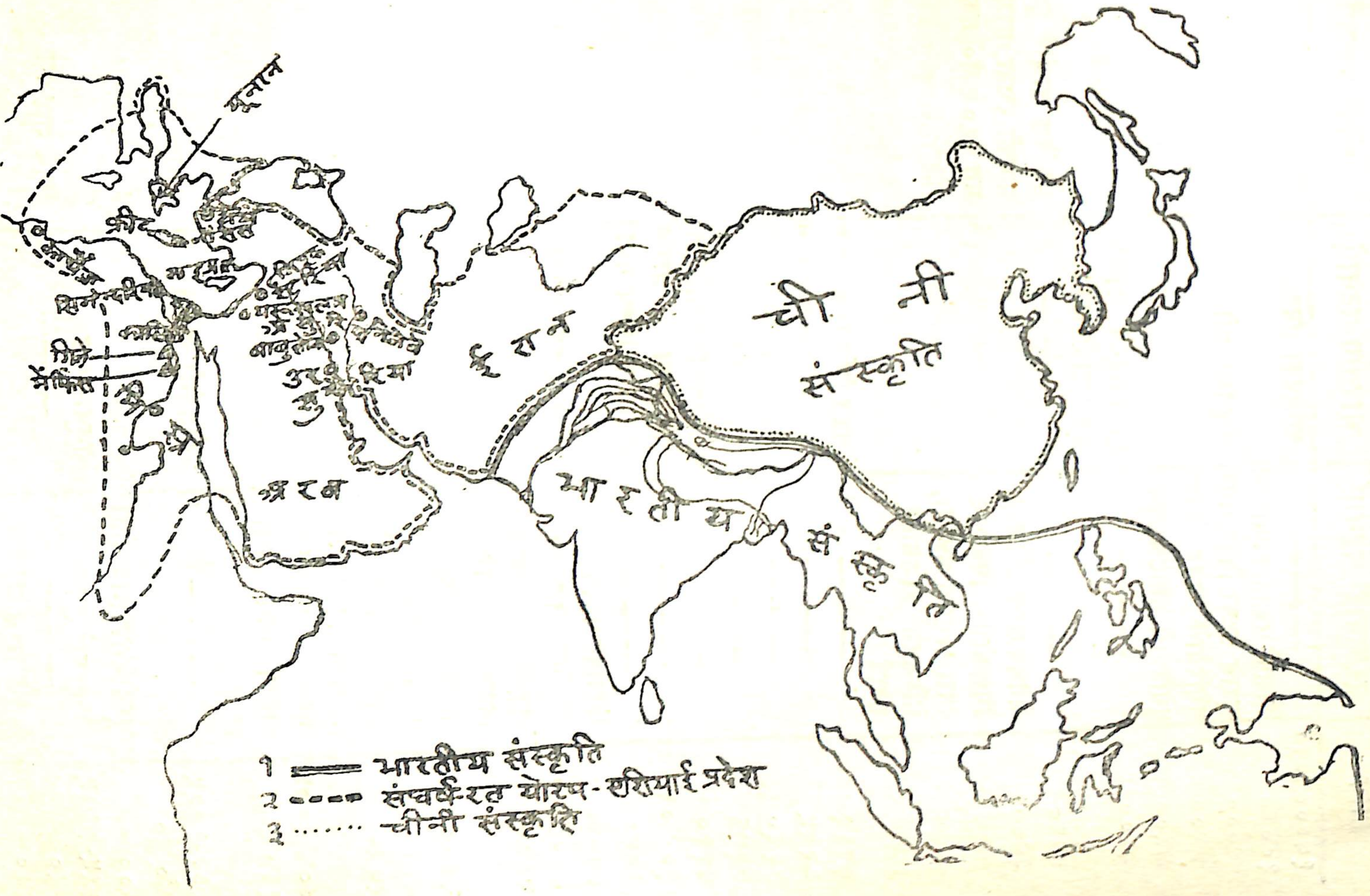
§ २२. भाषाका विकास-क्रम जाननेके लिये इतिहासका ज्ञान आवश्यक है। वैज्ञानिकोंका मत है कि प्राचीनतम मनुष्यका जन्म डेढ़ करोड़ वर्ष पहले हुआ किन्तु आकार-प्रकार-व्यवहारवाला मनुष्य साढ़े बारह लाख वर्ष पूर्व अन्य जीवोंसे पृथक् होकर मनुष्य रूपमें व्यक्त हो गया था। उसके पश्चात् अनेक प्रकारकी पाषाण-युग और नवपाषाणयुगकी मानव-जातियाँ (भूमध्यसागरके उत्तरमें निएण्डर्थल और औरिग्नेशी, उत्तर अफ्रीका और दक्षिण एशियामें क्रो-मेग्नन और ग्रिमाल्डी, दक्षिणी स्पेनमें एजीलियन और योरपमें मग्दालीनियन) प्रकट हुईं। उसके पश्चात् ७००० से ६००० वर्ष ई० पू० में मनुष्य धातुका प्रयोग करने लगा था। फ़्लिन्डर्स पेत्रीने नील नदीके कछारमें १०००० ई० पू० से मिस्र सभ्यताका प्रारम्भ माना

है। लोकमान्य टिळकका मत है कि जिस समय योरप तथा अन्य भूभागोंमें वन्य मानव-जातियाँ रहती थीं उस समय (१८ सहस्र वर्ष पूर्व) वेदकी रचना होने लगी थी। मोहनजो दड़ो और हड़प्पामें जो खुदाइयाँ हुई हैं, उनसे ज्ञात होता है कि ईसासे ६००० वर्ष पूर्व भारतसे मिस्रतकके देश (मिस्र, सुरिया, असुरिया, बाबुल, ईरान और आर्यावर्त्त) परस्पर एक दूसरेसे बहुत सम्बद्ध हो चुके थे। जब ईसासे ६००० वर्ष पूर्व ऐसे समृद्ध नगरोंका विवरण मिलता है तब यह निश्चित है कि ये जातियाँ कई सहस्र वर्ष पूर्वसे ही पर्याप्त विकास करती चली आ रही होंगी क्योंकि सप्तसिन्धुमें मोहनजो दड़ो और असुरियामें असुर नगर और असुर देवताकी प्रतिष्ठा लगभग एक समय अर्थात् ६००० से ४००० ई० पू० तक हो चुकी थी। भारतके उत्तरमें प्रसिद्ध चीनी दार्शनिक यो-किङ्-ताओके मूल ग्रन्थकी रचना ३४६८ ई० पू० हो चुकी थी अर्थात् ईसासे चार सहस्र वर्ष पूर्व चीनमें भी पर्याप्त सांस्कृतिक जागर्ति हो चुकी थी। इधर उत्तर भारतमें गान्धारसे हस्तिनापुर तथा काशीतक शान्तनु, भीष्म और विचित्रवीर्य आदि अनेक प्रतापी राजा राज्य कर रहे थे जिनका विवरण महाभारतमें विस्तारसे मिलता है। इतना ही नहीं, कलियुगके आगम (३१०२ ई० पू०) में भी उत्तर भारतके विभिन्न क्षेत्रोंमें अनेक प्रसिद्ध राजा राज्य कर रहे थे। इसके पश्चात्का भारतका इतिहास ही भारतीय भाषाओंके भाषा-शास्त्रियोंके लिये विशेष महत्त्वका है।

महाभारतके युद्धके पश्चात् भगवान् कृष्णका निर्वाण होनेपर उनकी पत्नियोंको लेकर जब अर्जुन द्वारकासे हस्तिनापुर आ रहे थे तब बीचमें ही आभीरोंने घेरकर कृष्णकी पत्नियाँ उनसे छीन लीं। इसका अर्थ यह है कि ३००० वर्ष ई० पू० वर्तमान राजस्थानमें दस्युओंके रूपमें आभीर विद्यमान थे। इसी समय मिस्रमें पिरैमिड बन रहे थे और मिस्रके राजा सारगौन प्रथमने सुमेरियाके साम्राज्यका अन्त कर दिया था अर्थात् मिस्रके लोग सुमेरिया (ईरानकी सीमा) तक पहुँच गए थे। इसके पश्चात् (२१०० ई० पू० में) हम्मूरबीने बाबुलोनिया जीत लिया। १५८० ई० पू० अरबोंने मिस्र जीत लिया। १४३५ ई० पू० पश्चिमी एशिया-तक भारतके आर्योंका राज्य फैला हुआ था। १४०० से १६०० ई० पू० यहूदी लोग फिलिस्तीन जा पहुँचे थे। १३७५ ई० पू० में मितन्नी अर्थात् पश्चिमी एशियामें आर्य देवताओंकी पूजा होने लगी थी और मिस्रमें सूर्यका विशाल मंदिर बन

गया था। १००० ई० पू० यूनानी लोग एशिया कोचक-तक फैल गए थे। ७७० ई० पू० यूनानके साथ भारतका व्यापार होने लगा था। असुरिया ने ७२२ ई० पू० इसराइल और ६७० ई० पू० मिस्र जीत लिया किन्तु ६१२ ई० पू० खल्दियोंने वह असुरी साम्राज्य भी उखाड़ फेंका। ६०० ई० पू० ईरानियोंने मिस्र जीत लिया। ५८६ ई० पू० बाबुलके राजा नबूखदनज़रने यरूसलम ध्वस्त किया और वह सहस्रों यहूदी नागरिकोंको वन्दी बनाकर बाबुल ले गया। ५३९ ई० पू० में कुरसने खल्दी साम्राज्य नष्ट करके ईरानी राज्य स्थापित किया। ५२५ ई० पू० में ईरानियोंने मिस्रपर अधिकार जमाकर ५२२ ई० पू० में भारतीय सीमातक साम्राज्य स्थापित कर लिया। ३२६ ई० पू० में सिकन्दरने पश्चिमी एशिया और भारतपर आक्रमण किया किन्तु हारकर लौट गया। इसके पश्चात् चन्द्रगुप्तसे हारकर सैल्युकसने भारतकी पश्चिमी सीमाके पश्चिमी प्रदेशके साथ ही अपनी कन्या भी चन्द्रगुप्तको प्रदान कर दी। इसके पश्चात् शक, सीथिआई, हूण, अरब, तुर्क और मंगोल जातियाँ निरन्तर भारतपर आक्रमण करने आती रहीं और यहाँ बस जाती रहीं। इस संपूर्ण विवरणका तात्पर्य यह है कि तीन अलग-अलग क्षेत्र अपनी-अपनी सभ्यताका विकास या विनाश कर रहे थे—१. भारत; २. चीन, तथा ३. पूर्वी योरोप, उत्तरी अफ्रीका और पश्चिमी एशिया। तात्पर्य यह है कि भारतकी सीमासे छेड़छाड़ पहली बार ईरानी राजा कुरस (कुरु) ने ५२२ ई० पू० में की।

भाषाविज्ञानके पंडित यदि इन घटनाओंपर दृष्टिपात करें तो प्रतीत होगा कि मिस्रसे लेकर ईरानतकके प्रदेश निरन्तर मिस्री, यूनानी, असुरी, बाबुली, सुमेरी, ईरानी, अरबी, हूण और शक जातियोंके परस्पर युद्ध, संहार, उथल-पुथल, व्यापार तथा आदान-प्रदानसे प्रभावित होते रहे। अतः, जिस समय भारतके पंडित और राजा लोग संस्कृतमें ज्ञान-विज्ञान और दर्शनका चिन्तन करते हुए विद्याओंका पोषण कर रहे थे उस समय अन्य पड़ोसी पश्चिमी देशोंके महत्त्वाकांक्षी राजा और सामन्त एक दूसरेके प्रदेश जीत रहे थे और जो इन युद्धोंमें विजयी होता वह विजित देशके सैनिकों और नागरिकोंको वन्दी बनाकर अपने देशमें ले जाता था। परिणाम यह हुआ कि इस संघर्षसे उन सभी देशोंकी सभ्यता, संस्कृति, विभूति और भाषा सदाके लिये समाप्त हो गई। आगे दिए हुए मानचित्र और सारिणीसे यह विवरण अधिक स्पष्ट हो जाता है।


चीनी संस्कृति
भारतीय संस्कृति
ईरान
अरब
यूनान
1 भारतीय संस्कृति
2 संघर्ष-रत योरप-एशियाई प्रदेश
3 चीनी संस्कृति

तिथि	यूरेशियाई घटनाएँ	भारतीय घटनाएँ	चीनी घटनाएँ
१८०००ई०पू०	——	ऋग्वेदका संग्रह	
१००००	मिस्रकी सभ्यताका प्रारम्भ		
६०००	फ़रात तटपर निपर नगर	मोहनजो दड़ो	
५५००	सुमेरियामें असुर देवता		
४५००	सुमेरियामें सेमेटिक पहुँचे		
३५००	——	हस्तिनापुरसे काशी-तक प्रतापी राज्य	
३४६८	——	——	यो-किङ ताओके मूल ग्रन्थकी रचना, ताओ मत (५०९ ई० तक)
३४००	मेनेसने उत्तर-दक्खिनी मिस्रको मिलाकर मिस्र राजवंश चलाया, मेम्फिसमें राजधानी बनाई		
३३११	——	देवव्रत (भीष्म) का जन्म	
३२३५	——	भगवान् कृष्णका जन्म	
३१६०	——	युधिष्ठिरका राजसूय यज्ञ	
३१४६	——	महाभारत-युद्ध	
३११०	——	परीक्षितका राज्याभिषेक	
३१०२-०१	——	कलियुगका प्रारंभ	
३०४०	——	महाभारत लिखा गया	
३०००	हित्ताइत सभ्यता		
३०००-२५००	पिरॅमिड बनने प्रारंभ	मोहनजो दड़ो-हड़प्पा	
२९००	खुफ़ूकी स्मृतिमें गिजेका पिरेमिड		
२८००	सेमेटी - फ़िनीशी सुरिया-तटपर		
२७५०	असुरी सारगोनने सुमेरी साम्राज्य नष्ट किया		
२३०५-२०७५	मिस्रमें अराजकता		
२१६०	थीब्समें नया मिस्री राज्य		
२१३३-१९५५ ई० पू०	——	प्रद्योतवंशी क्षत्रिय	
२१००	हम्मूरबीने बाबुलोन जीता		
१९५५-१६२५	——	शिशुनाग-वंश	
१७५०	——	——	चीनमें शाङ्वंश
१६००	क्रेतकी चरम सभ्यता		
१६००-११५०	मिस्र साम्राज्य		

तिथि	यूरेशियाई घटनाएँ	भारतीय घटनाएँ	चीनी घटनाएँ
१५८० ई० पू०	अरबोंने मिस्र जीता		
१४००-१२००	मिस्रमें यहूदी आए		
१४००	हित्ताइत पराकाष्ठा		
१२२५	———	———	शाङ्के बदले चू वंश
१२००	सेमेटियोंका सुरियापर रा.		
१०१०—९७०	यहूदी डेविडने फिनी-शियोंको हराया		
१०००	यूनानियोंने नौसस नगर नष्ट किया, एशिया माइनर तक बसे		
९४५	मिस्रका राज्य नष्ट		
९३०	मिस्रके राजा शिशाकने सोलोमनका मंदिर लूटा		
८१७	———	२३वें जैन तीर्थंकर	
८१४	कार्थेज नगरका निर्माण		
८००	———	१६ महाजनपद	
७७०	———	भारतके साथ यूनान-का व्यापार	
७२२	असुरियाने इसराइल जीता		
६७०	असुरियाने मिस्र जीता		
६१२	खल्दियोंने असुरी साम्राज्य नष्ट किया		
६००	ईरानियोंने मिस्र जीता	गौतम बुद्ध	
५८६	बाबुलके नबूखदनजरने यरूसलम ध्वस्त किया और यहूदी नागरिकोंको वन्दी बनाया।		
५३९	कुरसने खल्दी साम्राज्य नष्ट करके ईरानी राज्य स्थापित किया।		
५२५	ईरानियोंने मिस्रपर अधिकार किया।		
५२२	ईरानियोंने भारतीय सीमातक राज्य फैलाया।	सिकन्दरने भारतपर आक्रमण किया किन्तु लौट गया।	
३२६	सिकन्दरने पश्चिमी एशिया जीता।		

इतना ही नहीं, जो व्यापारी अथवा सार्थवाह अन्य देशोंसे व्यापार कर रहे थे वे उनकी भाषा और संस्कृतिके साथ वहाँसे अनेक दास-दासियाँ और नारियाँ भी ले आते थे क्योंकि उस समय अन्य धर्मोंका जन्म नहीं हुआ था और धार्मिक कर्मकांड तथा व्यवस्था भी इस संबंधमें कठोर नहीं थी। अतः, इन घटनाओंको देखनेसे ज्ञात होता है कि हिमालय तथा पामीर पर्वतोंके कारण भारत और चीन सुरक्षित होकर जब अपना सांस्कृतिक विकास कर रहे थे उस समय पश्चिमी एशिया, उत्तरी-पूर्वी अफ्रीका और पूर्वी योरप परस्पर संघर्ष करके अपनी संस्कृति और सभ्यताका विनाश कर रहे थे। इससे पास-पड़ोसके प्रदेशोंमें न जाने कितनी प्रकारकी भाषाओंका मेल बराबर होता रहा। हमारे यहाँ भी बाहरकी अनेक जातियोंके यहाँ आ बसनेके कारण पंजाब, राजस्थान, सिन्ध और सौराष्ट्रके विभिन्न प्रदेशोंकी भाषाएँ बहुत रूपोंमें उनसे प्रभावित होकर ढलीं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण यह है कि पाकिस्तान बननेके कारण सिन्धके जो लोग भारतमें आए वे यहाँ रहकर अपना संस्कार भी बनाए हुए हैं और साथ ही यहाँकी भाषाका भी अपनी भाषाके स्वर-संस्कारके अनुसार प्रयोग कर रहे हैं। इसी प्रकार मिस्र और ईरानके बीच बसी हुई प्रतापी और समृद्ध जातियोंके परस्पर संघर्षसे जो भगदड़ मची उसके कारण कुछ (यहूदियों और पारसियों) ने भारतमें भी आकर आश्रय लिया। ये जातियाँ अपने उच्चारण-क्रमके अनुसार ही संस्कृतका उच्चारण करती रहीं और वे जहाँ-जहाँ आकर बसीं वहाँ-वहाँ मिश्रित भाषाएँ बन चलीं, अर्थात् उन प्रदेशोंमें वहाँके प्राकृत लोग (स्वाभाविक देशवासी) जिस भाषाका प्रयोग करते थे उसीको बिगाड़कर ये नये आगन्तुक प्राकृत बनाते चले गए। इसीलिये नाट्यशास्त्रमें प्राकृतकी बड़ी स्पष्ट व्याख्या दी गई है—

> एतदेव विपर्यस्तं गुण-संस्कार - वर्जितम्।
> विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम्॥

[इस (संस्कृत) को ही कुछ उलट-पलटकर बोले जाने और गुण तथा संस्कारसे रहित होनेके कारण अनेक अवस्थाओंवाली प्राकृत जाननी चाहिए।]

स्वाभाविक विकास

§ २३. भाषा मनुष्यकी स्वाभाविक उत्प्रेरणा है।

शरीर-शास्त्र, मानव-शास्त्र, जीव-विज्ञान तथा इतिहासके अतिरिक्त भाषाकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें इस दृष्टिसे भी विचार करना चाहिए कि मनुष्यको

बोलनेकी आवश्यकता ही क्या पड़ गई या पड़ रही है? क्या भाषाके बिना उसका काम नहीं चल सकता है? सामान्य अनुभवमें देखा जाता है कि मनुष्यको, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, बालक हो या वृद्ध, पुरुष हो या स्त्री, जो अनुभव होता है या कोई नई सुन्दर या असुन्दर वस्तु, जीव, स्थान या अद्भुत दृश्य दिखाई देता है अथवा भय, आशंका आदिकी अनुभूति होती है उसे वह दूसरेको बतानेके लिये उत्कंठित और व्याकुल हो उठता है। भाव-संक्रमणकी उसकी यह इच्छा ही आदि अभिव्यक्तिकी मनोवैज्ञानिक भूमिका है। इतना ही नहीं, अन्य जीवोंके समान मनुष्यकी भी कुछ आवश्यकताएँ होती हैं। प्रायः इन आवश्यकताओंके अनुसार ही मनुष्यका सम्पूर्ण वाग्व्यापार चलता है। कभी-कभी शंकाका समाधान करनेके लिये अथवा कोई आकस्मिक विपत्ति या कठिनाई उपस्थित हो जानेपर मनुष्य भाषाका प्रयोग करके अपनी विपत्ति या कठिनाई सुनाकर दूसरेसे सहायता लेना चाहता है। जब मनुष्य अधिक समुन्नत हो जाता है तब वह स्वयं विचार करके अनेक परिस्थितियों, भावों और विचारोंका मंथन करके स्वयं विवेकपूर्वक अथवा तर्क और युक्तिके आश्रयपर अपने विचार प्रस्तुत करता, उनकी व्याख्या करता या दूसरोंको समझाता है। कभी-कभी दूसरोंको अपने पक्षमें करने या विशेष रूपसे प्रभावित करके अथवा किसी ऐसी बातको अत्यन्त सूक्ष्मताके साथ समझानेके लिये भी मनुष्य वाणीका आश्रय लेता है जिसे संकेत या अन्य किसी माध्यमसे नहीं समझाया सकता, क्योंकि सामान्यतः बहुत सी बातें ऐसी होती हैं जो न तो संक्षेपमें कही जा सकती हैं, न किसी इंगित या संकेतके द्वारा ही भली प्रकार समझाई जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त कभी तो किसी बातको विस्तारके साथ कहने, कभी संक्षेपमें कहने, कभी दूसरेको प्रेरित करने अथवा कभी किसी दूसरेसे कोई कार्य करानेकी इच्छासे भी वाणीका प्रयोग करना पड़ता है। अतः, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, दूसरेके लिये ही वाणीका प्रयोग होता है अपने लिये नहीं। मानवीय चेतनाका अध्ययन करनेवाले लोग स्पष्ट रूपसे बताते हैं कि विचार और वाणीका अन्योन्याश्रय सम्बद्ध होता है। पहले विचार आते हैं तब वाणी खुलती है। बहुतसे लोग कुछ बात तो कहना चाहते हैं किन्तु उसे भली प्रकार अभिव्यक्त न कर सकनेके कारण 'एथी' 'ये' आदि शब्द लगाते चलते हैं और वे अपनी बात भली प्रकार कह सकनेमें सफल नहीं हो पाते। इससे एक बड़ा महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह

निकलता है कि भाषा निश्चित रूपसे सम्पर्कसे ही सीखी जाती है और मानव-जातियोंने पारस्परिक सम्पर्कसे ही भाषाके स्वरूप और उसकी प्रकृतिमें इतनी अभिवृद्धि की।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करनेपर स्पष्ट है कि मनुष्य एक ओर अपना अनुभव, विचार, आदेश या इच्छा बताना चाहता है और यह वह करता है दूसरोंका अनुकरण करके, अपने समूहके बड़े-बूढ़ोंसे पाई हुई वाक्संकेतोंके द्वारा। वह अपने अनुभवको अपने मनमें छिपाकर नहीं रख सकता क्योंकि उसके मनमें निरन्तर अपने मनकी बात बतानेका कुतूहल और आवेग विद्यमान रहता है। वह निरन्तर प्रत्येक वस्तुके रूप, गुण और प्रकृतिके सम्बन्धमें जानना चाहता है। यह जिज्ञासा-वृत्ति ही उसे भाषा सीखनेके लिये अर्थात् किसी वस्तुका नाम, गुण, क्रिया, विशेषता आदि जानने-समझनेके लिये प्रेरणा देती है। बहुत-सी वस्तुओं और क्रियाओंका वह अपने मनसे भी नाम गढ़ देता है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य भाषाकी वृद्धिमें योग देता है। प्रत्येक मनुष्य दूसरोंकी सहायताका अपेक्षी होता है क्योंकि समाजमें रहनेके लिये उसे दूसरोंकी सहायता करना और दूसरोंसे सहायता लेना आवश्यक हो जाता है। इसके अतिरिक्त सबसे महत्त्वकी बात यह है कि प्रत्येक मनुष्यके भीतर रहनेवाला अहंकार भी उसे दूसरोंपर प्रभुत्व जमानेके लिये भाषाका प्रयोग करनेकी प्रेरणा देता है। अतः, उपर्युक्त सभी मनोवैज्ञानिक कारण भाषाके विकासमें सृष्टिके प्रारम्भसे ही योग देते चले आ रहे हैं।



भाषाकी उत्पत्ति

मनुष्यके चारों ओर जीव-जन्तुओं और पशु-पक्षियोंके रूपमें जितने भी प्राणी हैं वे सभी किसी न किसी प्रकारकी व्यक्त ध्वनि मुँहसे निकालते हैं किन्तु उनमेंसे कोई जीव ऐसा नहीं है जो मनुष्यकी वाणीके समान निरुक्ता और व्याकृता वाणीका प्रयोग करता हो; फिर भी उनके जीवन-व्यापारमें कोई बाधा नहीं है और प्रत्यक्षतः उन्हें अपने जीवन-यापनमें कोई विशेष कठिनाई भी नहीं हो रही है। किन्तु यदि वे भी हमारे समान ही बोल सकते तो वे भी मनुष्यके समान समुन्नत प्राणी बन सकते थे। वे भी दूसरोंको अपनी व्यथा सुना और समझाकर अपने साथ कुछ सदय व्यवहार करनेकी प्रार्थना कर सकते थे और तब नरहरि बन्दीजनको गौओंकी ओरसे छप्पय लिखनेकी आवश्यकता न पड़ती। फिर भी उन जीवोंकी भाव-भंगी और उनके मुखसे निकली हुई ध्वनियोंसे ही हम जान लेते हैं कि यह प्रसन्न है या पीडित, सुखी है या दुखी, तृप्त है या अतृप्त, सीधा है या क्रोधी। ऐसी स्थितिमें मनुष्यको ही क्या आवश्यकता पड़ी थी कि उसने वाणीका इतना जटिल विस्तार कर डाला ? वह भी हाँ-हूँ या गाँ-गूँ करके अथवा 'इंजे-इंजे' जातिकी भाषाके समान 'इंजे'-जैसे एक-दो वर्णोंके शब्दसे काम चला लेता। प्राचीन पुस्तकोंमें ऐसे विवरण अवश्य मिलते हैं कि मनुष्यने पशु-पक्षियोंकी भाषा सीखकर उनका निर्वचन भी किया और उनका अर्थ भी समझा। यदि कोई ऐसी विद्या रही भी हो तो वह इस युगमें लुप्त हो गई है। जीव-जन्तुओंकी मौखिक ध्वनिसे यह अवश्य प्रतीत हो जाता है कि उनकी अपनी बोलियोंमें कुछ परिमित ध्वनियाँ हैं जिनके कुछ विशेष उतार-चढ़ाव, खिंचाव, सकुचाव, वेग या मन्दता-से वे एक दूसरेका भाव समझते और समझाते हैं तथा उनके परिमित जीवन-व्यवहारके लिये वे ध्वनियाँ पर्याप्त हैं। किन्तु मनुष्यने वाणीका जो

विराट् और जटिल विस्तार किया उसके जन्म और विकासका ज्ञान प्राप्त करना इसीलिये आवश्यक है कि मनुष्यकी वाणीके विकासका वैज्ञानिक क्रम निश्चत किया जा सके और उस क्रममें वाणीकी विविधताओंके पारस्परिक सम्बन्ध और भेदके सूत्र एकत्र किए जा सकें।

भाषा और मानव-शरीर

§ २४. ईश्वरने मनुष्यको ऐसा विवेक और सामर्थ्य दिया है कि वह अपने मुँहसे जैसी चाहे वैसी ध्वनि या वर्ण चाहे जितने ऊँचे या नीचे स्वरसे निकाल ले।

अभीतक भाषाकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें जितने भी सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं उन सबका आधार केवल कल्पना है। भाषाकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें इतने अधिक काल्पनिक मत प्रतिपादित होनेका कारण यही है कि जिन अनेक आधारोंपर भाषाकी उत्पत्तिपर विचार किया जाना चाहिए था उनमेंसे किसी भी आधारका उन्होंने आश्रय नहीं लिया। सर्वप्रथम भाषाकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें शारीरिक कारणोंकी खोज करनी चाहिए जिनसे भाषाकी उत्पत्ति संभव है। ऊपर बताया जा चुका है कि मनुष्यके कण्ठमें जो स्वरयंत्र (काकली) बना हुआ है उसके भीतर लगी हुई दोनों तनियोंको फैला-सिकोड़कर मनुष्य स्वेच्छासे अपना स्वर ऊँचा या नीचा कर सकता है और अपनी वाणीमें उतार-चढ़ाव या आरोह-अवरोह उत्पन्न कर सकता है। यह विवेकपूर्ण स्वेच्छा अन्य किसी जीवमें नहीं है। अतः, विभिन्न स्थानोंके विभिन्न मानव-समूहोंने स्वभावतः अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न भाषाएँ बना लीं। इसलिये यह कहना नितान्त भ्रामक और निर्मूल है कि ईश्वरने कोई विशेष वाणी बनाकर मनुष्यको सौंप दी थी। हाँ, ईश्वरने मनुष्यको यह विवेक और सामर्थ्य अवश्य दिया है कि वह चाहे जैसी ध्वनि या वर्ण चाहे जितने ऊँचे या नीचे स्वरमें मुँहसे निकाल सकता है। फिर जैसे-जैसे मनुष्यकी आवश्यकता बढ़ती गई वैसे-वैसे वह नये-नये शब्द गढ़ता भी गया।

भूगोलका आधार आवश्यक

§ २५. भाषाकी उत्पत्तिकी कथा जाननेके लिये भूगोलका आधार अपेक्षित है।

भाषाकी उत्पत्तिकी खोजके लिये दूसरा महत्वपूर्ण आधार है भौगोलिक। समुद्रों, नदियों, पर्वतों, मरुभूमियों आदि भौगोलिक व्यवधानोंके कारण

मनुष्य-समुदाय अलग-अलग क्षेत्रोंमें रहकर अलग-अलग प्रकारसे विकसित हुए और तदनुसार उनकी भाषा भी उसी प्रकार अलग-अलग रूपसे विकसित हुई। मनुष्यके इस विकासमें वहाँकी वनस्पति और वहाँके जीवोंने भी सहायता की और वहांकी भूप्रकृति, जल-प्रकृति, उद्भिज पदार्थ और जलवायुने भी उन्हें प्रभावित किया अर्थात् जिस प्रकारके जलवायु, वनस्पति-जगत् और जीव-जगत्के बीच मनुष्य रहा उसीके अनुसार उसकी मानवीय आवश्यकताएँ उत्पन्न हुईं और उन्हीं आवश्यकताओंके अनुसार उसकी भाषामें भी शब्द-संग्रह हुआ। आगे चलकर जैसे-जैसे मनुष्यकी भौतिक समृद्धि, व्यवसाय तथा अन्य आवश्यकताएँ बढ़ीं और अपनी जीविकाके लिये उसे अनेक उद्योगोंका आश्रय लेना पड़ा उसीके अनुरूप उसकी भाषा भी समृद्ध होती चली गई। भोजन, पेय, वस्त्र, आवास, यंत्र, यातायातके साधन, आखेट, मत्स्य-ग्रहण, पशु-पालन, कृषि, काष्ठ-संग्रह, वस्तु-उत्पादन, वाणिज्य, स्वास्थ्य, सांस्कृतिक प्रगति, मनोरंजन, शासन, सामाजिक संघटन, शिक्षा, विज्ञान, धर्म, कला, साहित्य और दर्शनके क्षेत्रमें मनुष्य जैसे-जैसे क्रमशः बढ़ता गया वैसे-वैसे उसकी भाषामें उन प्रवृत्तियोंके अनुसार शब्द और वाक्य बढ़ते गए और जहाँ जिस प्रकारका कार्य या व्यवसाय चला वहाँ वैसी ही भाषा बना ली गई। किन्तु यह भाषा किसने बनाई इस सम्बन्धमें समाज-शास्त्रका आश्रय लेना ही अधिक उपयुक्त होगा।

समाज-शास्त्र और भाषा

§ २६. विभिन्न मानव-समुदायोंके मुखियोंने भाषा बनाई।

समाज-शास्त्रके अनुसार प्रारंभिक मानव-जातियोंमें छोटे-छोटे जन-समुदाय थे जिनका शासन या तो उस मानव-समुदायके मुखिया करते थे अथवा राजा, जो प्रायः कुल-परम्परागत होते थे। प्रायः इन सब जातियोंके मुखियोंके साथ उस समाजके वृद्धोंका एक पंच भी होता था जो जातिगत विषयोंके सम्ब्रन्धमें अपनी सम्मति देता रहता था किन्तु मूलतः उस जातिपर उसके मुखियाका ही शासन होता था। वह जिस क्रिया या वस्तुका जो नामकरण कर देता था वही उस वस्तुका नाम चल पड़ता था। ये सब मूलतः यदृच्छा शब्द होते थे किन्तु उसके पश्चात् जैसे-जैसे मानव-समाज समुन्नत होता गया वैसे-वैसे उसके व्यवसाय, वाणिज्य, कार्य, सामाजिक संघटन और राज्य-विस्तारके

अनुसार शब्दों और वाक्योंके निर्माणके भी नियम बना लिए गए। कुछ अधिक सुसंस्कृत होनेपर मनुष्योंने शब्दोंमें चमत्कार या शक्ति भरनी प्रारम्भ कर दी जिससे विभिन्न जातियोंमें काव्य-संस्कार भी बढ़ने लगा। दार्शनिक अनुभूतिकी अवस्था केवल उन जातियोंमें ही आ पाई जिनकी सभ्यता अधिक शान्त वातावरणमें पनपी और जिन्होंने भौतिक जीवनसे ऊपर उठकर जीव, जगत् और जगत्के स्रष्टाके संबंधमें आध्यात्मिक चिन्तन प्रारम्भ कर दिया था। किन्तु यह अवस्था अत्यन्त सभ्य और सुसंस्कृत जातियोंकी ही थी और यह कार्य भी समाजके प्रबुद्ध नेता ही कर रहे थे। इस प्रकार विभिन्न मानव-समुदायोंने अलग-अलग भौगोलिक परिधियोंमें रहकर अलग-अलग भाषाओंको जन्म दिया किन्तु यह सब किया उन समाजोंके नेताओं या मुखियोंने ही।

इस प्रकार पृथ्वीके विभिन्न मानव-समुदायोंके मुखियोंने अपनी इच्छाके अनुसार विभिन्न वस्तुओं और क्रियाओंके नाम दे दिए। पीछे चलकर उन्हीं नव-निर्मित शब्दों और किसी क्रिया या वस्तुके लिये प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य शब्द भी बना लिए गए। आजके अत्यन्त विकसित युगमें भी पिडगिन अँगरेज़ी (आस्ट्रेलियाके निवासियोंमें बोली जानेवाली अँगरेज़ी) में मच्छरके लिये 'मौस्किटो' न कहकर 'इम-लांगा-डार्क-फ़ैला' (वह लम्बा काला जीव) कहते हैं और रेलगाड़ीको 'रेलवे ट्रेन' न कहकर 'बिग-फ़ैला-फ़ायर-स्नेक' (बड़ा भारी आगका साँप) कहते हैं।

मनोविज्ञान और भाषा

§ २७. मनोवैज्ञानिक लोग भाषाको मनुष्यकी जटिल स्नायविक प्रणालीका अथवा आनन्दप्रद तथा कष्टप्रद अनुभवोंका परिणाम मानते हैं।

मनोवैज्ञानिकों तथा अन्य विद्वानोंने इस बातपर बड़ी अटकलें लगाई हैं कि भाषा या वाणीका प्रारंभ कैसे हुआ? कुछने यह परिणाम निकाला है कि भाषा एक विशेष विकासात्मक प्रक्रियासे उत्पन्न हुई है और वह प्रारंभिक अवाक् अर्थात् वाणी-रहित व्यवहारके रूपोंसे एक पग आगे-भर है। इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि मानव-शरीरकी अत्यन्त जटिल स्नायविक प्रणालीके विकासके कारण ही भाषा बनी है। अधिकांश लोगोंने माना है कि आनन्द-दायक या कष्टदायक अनुभवोंसे उत्पन्न होनेवाली वाग्-ध्वनियोंसे ही भाषाकी उत्पत्ति हुई। भयसे चिल्लाना, हर्षसे

विह्वल होकर कोलाहल करना, प्रसन्न होनेपर गुनगुनाना या अलापना आदि इसके प्रमाण हैं [मिलर्ड : चाइल्ड ग्रोथ एंड डेवलपमेंट]। उनका कथन है कि आज भी बच्चेका रुदन और उसके मुँहसे निकलनेवाली अनेक ध्वनियाँ पहले सुनाई पड़ जाती हैं, वाणी बहुत पीछे आती है।

अमौखिक संकेत

§ २८. अमौखिक संकेतोंसे मौखिक संकेतोंका प्रादुर्भाव हुआ।

मनोवैज्ञानिकोंका यह भी मत है कि प्रारंभिक अमौखिक संकेतोंसे ही मौखिक संकेत उत्पन्न हुए। जब किसी व्यक्तिको हाथसे संकेत किया जाता है और वह नहीं समझता है तब 'हूँ—हाँ' करके उसे संकेत समझनेके लिये प्रेरित किया जाता है। भाषा (वाणी नहीं) कोई स्वाभाविक या सहज उत्पन्न होनेवाली वृत्ति नहीं है। यह तो पूर्णतः सीखी जाती है। बच्चेमें यह सहज शक्ति होती है कि वह अपने वातावरणकी प्रतिक्रियाके अनुसार अपनी वाणीका व्यवहार बढ़ाता चलता है क्योंकि वह अपने कंठमें स्थित वाणीके तंतु, जिह्वा, दाँत, ओठ, नासिका और मुख-विवरका समुचित संयोग करके वर्ण उच्चरित करने लगता है। इनके अतिरिक्त वाणीके प्रयोगके लिये उसे फेफड़े और डाय.फ्राम (उदर और छातीके मध्य भाग) का भी सहयोग मिलता चलता है। फिर अनुकरण और आवृत्ति तो वाणीके विकासके मुख्य आधार हैं ही। जैसे-जैसे मनुष्य दूसरोंके सम्पर्कमें आता है वैसे-वैसे वह भाषा सीखता है और उसी प्रकार सीखता है जैसे किसी नए देशमें पहुँचा हुआ व्यक्ति वहाँकी भाषा सीखता है।

अतः, भाषाकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें जितने भी सिद्धान्त अभीतक प्रचलित हैं वे सभी अपूर्ण, अधूरे और भ्रामक हैं। इसलिये समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान, शरीर-शास्त्र और भूगोल-शास्त्रके आधारपर ही भाषाकी उत्पत्तिपर विचार किया जाना चाहिए क्योंकि भाषाकी उत्पत्तिका मूल कारण मनुष्यके गलेमें बना हुआ स्वरयंत्र, मनुष्यकी कूतहल-वृत्ति, भौगोलिक वातावरण, सामाजिक व्यवस्था (मुखियाका शासन) और स्वाभाविक अनुकरणकी वृत्ति है इसलिये मनुष्यने अपनी काकली, भौगोलिक वातावरण तथा समाजकी आवश्यकताके अनुसार अलग-अलग प्रदेशोंमें अलग-अलग भाषाओंको जन्म दिया तथा उनका विकास, संस्कार, परिष्कार और शृंगार किया।

भाषाकी उत्पत्तिके सिद्धांत : दैवोत्पत्तिवाद

§ २९. ईश्वरने कोई भाषा नहीं बनाई।

अनेक देशोंमें यह मान्यता रही है कि वाणीका स्वरूप ईश्वरने ही स्थिर करके मनुष्यको प्रदान कर दिया है। भारतमें यह विश्वास रहा है कि मन्त्र-द्रष्टा ऋषियोंने मन्त्रोंका साक्षात् दर्शन किया, इसीलिये वे ऋषि कहलाए। वैयाकरण लोग मानते हैं कि शंकरजीने जो १४ बार अपना डमरू बजाया उन्हींसे शिवसूत्र-जाल या १४ वाक्सूत्र उत्पन्न हुए—

> **नृत्यावसाने नटराजराजः निनाद ढक्का नवपञ्चवारम् ।**
> **उद्धर्त्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्र-जालम् ॥**

[हम समझते हैं कि सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार आदि सिद्धोंके उद्धारके लिये (नाद-ब्रह्मका प्रत्यक्ष ज्ञान देकर उन्हें मुक्त करनेके लिये) नटराजराज शिवजीने जो १४ बार अपना डमरू बजाया वही यह शिवसूत्र-जाल (१४ सूत्र) है।]

इसी आधारपर हम संस्कृतको देववाणी या गीर्वाण गिरा कहते हैं। ईसाई सन्तोंका विश्वास था कि ईश्वरने हिब्रू भाषा रचकर मनुष्यको प्रदान की। मुसलमानोंका विश्वास है कि क़ुरान साक्षात् ईश्वरका सन्देश है। जैन बन्धु यह मानते हैं कि मागधी ही मूल भाषा है (सा मागधी मूल भाषा)। किन्तु जब विश्वभरमें फैले हुए ढाई अरब (२५०००००००) मनुष्य दो सहस्र सात सौ छानबे (२७९६) भाषाएँ बोलते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि भाषाका निर्माण ईश्वरने नहीं किया अन्यथा वह मनुष्य-मात्रके लिये उसी प्रकार एक ही भाषाका निर्माण करता जैसे उसने इस धरणीके प्राणियोंके लिये एक पृथ्वी, एक पवन, एक अग्नि, एक आकाश और एक जलका निर्माण किया। ईश्वरने मनुष्यपर यह कृपा अवश्य की कि उसने मनुष्यको ऐसा सामर्थ्य और विवेक दे दिया कि उसके सहारे वह सब प्रकारकी ध्वनियाँ और वर्ण अपने मुखसे निकाल सके। इसीलिये संगीत-शास्त्रमें सब प्रकारकी तन्त्रियोंकी अपेक्षा कंठवीणा (मनुष्यके कंठ) को सर्वश्रेष्ठ वाद्ययन्त्र माना गया है। अतः, मनुष्यने अपने कंठसे उत्पन्न की जा सकनेवाली विभिन्न ध्वनियोंके मेलसे जो अनेक प्रकारके वर्णों और शब्दोंका निर्माण किया वह पूर्णतः मनुष्यकी कृति है। जिस प्रकार उसने कण्ठसे निकलनेवाले विभिन्न स्वरोंके संयोगसे संगीतकी अनेक राग-रागिनियोंकी सृष्टि कर ली वैसे ही

उसने भाषामें भी अनेक प्रकारका ध्वनि-मेल मिलाकर अनेक वर्णों, शब्दों और वाक्योंकी सृष्टि कर ली।

संकेतात्मक ध्वनियाँ

§ ३०. कुछ संकेतात्मक ध्वनियोंका प्रयोग भी मनुष्य करता रहता है।

मुँहसे निकलनेवाले अनेक वर्णोंको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—एक तो वे, जिनका व्यवहार बोलचालमें और लिखने-पढ़नेमें होता है अर्थात् जिनके लिये मनुष्यने लेख-संकेत या अक्षर भी बना लिए हैं किन्तु कुछ ध्वनियाँ ऐसी भी हैं जिनके लेख-संकेत तो नहीं बने हैं किन्तु जिनका प्रयोग किया जाता है जैसे—मुँहसे सीटी बजाना, बैल या घोड़ा हाँकते हुए जीभसे टंकारी देना या क़्लै-क़्लै करके जीभको मुँहमें एक ओर अटकाकर चटकारी देना, दुःख प्रकट करने या सहानुभूति दिखानेके लिये दाँतके पीछे जीभसे त्च्-त्च् करना, 'नहीं' कहनेके लिये क़्लै-क़्लै करना, कड़वा या तीता लगनेपर सिसकारी भरना, असहमतिके लिये छिः करना आदि। अपने कंठमें स्थित इस स्वर-यंत्रको इतने अच्छे ढंगसे साध लेनेपर भी मनुष्य भाषाके क्षेत्रमें अभी-तक भी उतना सूक्ष्म स्वर-विस्तार और लय-विस्तार नहीं कर पाया जितना संगीतके स्वर-साधन और राग-प्रस्तारमें।

संकेतवाद

§ ३१. संकेतसे भाषाकी सृष्टि तो नहीं हुई किन्तु संकेत ही भाषाके प्रारंभिक रूप थे।

कुछ विद्वानोंका मत है कि प्रारम्भमें मनुष्य केवल संकेतसे हाथ, पैर, सिर या उँगली उठा-हिलाकर, सैन (भौहें) मटकाकर या आँखें चला कर अपने मनके भाव व्यक्त कर लेते थे जैसे आजकल भी लोग पानी पीनेकी इच्छा व्यक्त करनेके लिये अपने मुँहपर हाथका ओक बना लेते हैं। फिर धीरे-धीरे इन्हीं संकेतोंके सहारे उसने 'वह, यह' आदिके लिये 'आ, ए' जैसी ध्वनियाँ प्रयोगमें लानी प्रारम्भ कर दीं। इन्हीं सब ध्वनि-संकेतोंके सहारे धीरे-धीरे भाषाका निश्चित स्वरूप निखर चल निकला।

किन्तु मनुष्यके कंठमें बने हुए स्वर-यन्त्रके द्वारा जब सभी प्रकारकी ध्वनियाँ उत्पन्न की जा सकती हैं तब यह संकेतसे भाषाकी उत्पत्तिका तर्क कैसे मान्य हो सकता है? संकेतसे बात करना तो मनकी बात व्यक्त

करनेका अत्यन्त अधूरा तथा अपूर्ण साधन है। मूढ लोगों, विदेशियों तथा गूँगोंसे बातें करते समय ही लोग संकेतोंका प्रयोग करते हैं। अतः, संकेतसे भाषाके उत्पन्न होनेका तर्क किसी प्रकार मान्य नहीं हो सकता।

इसका यह अर्थ नहीं कि हम जीवनमें संकेतोंका प्रयोग करते ही नहीं। लाल और हरी झंडी या प्रकाश, चौराहेपर खड़ पुलिसमैनके हाथके संकेत, विद्यालयमें बजनेवाले घंटे, सेनामें बजनेवाले बिगुलकी विशेष ध्वनि, खेलमें निर्णायकके-द्वारा बजाई जानेवाली सीटी आदि न जाने कितने संकेत हमारे जीवन-व्यवहारके सार्थक संकेत बने हुए हैं जिनके अनुसार हमारा नित्यप्रतिका जीवन-क्रम ढलता चला जा रहा है और जिनके बिना हमारा बहुत-सा काम या तो अधूरा रह जाता या उसमें अधिक समय लगा करता।

अनुकरणवाद

§ ३२. अनुकरणसे भाषाकी उत्पत्ति नहीं, भाषाका विकास हुआ।

कुछ विद्वानोंका मत है कि मनुष्यने सर्वप्रथम अपने चारों ओर विचरण करनेवाले पशु-पक्षियोंकी बोलियोंका अनुकरण करके ही भाषणका अभ्यास प्रारम्भ किया। इस सिद्धान्तको भौं-भौंवाद (बाउ-वाउ थ्योरी), शब्दानुकरण-वाद (ओनोमोटोपोइक), प्रतिध्वनिवाद (ईको थ्योरी) कहते हैं। यह बाउ-वाउवाद नाम माक्ससम्यूलरने कुत्तेकी भौं-भौंके आधारपर हँसीमें दे दिया था। इसके अनुसार 'काक' (कौए) की काँव-काँव ध्वनिके आधारपर उसका नाम 'काक' रख दिया गया और कूकनेवाले पक्षीको 'कोकिल' कहने लगे। तो क्या अनुकरणके लिये वन्य जीव ही रह गए थे? मनुष्यके कंठमें जब स्वतः अत्यन्त समर्थ और समृद्ध काकली बनी हुई थी तब उसे अनुकरण करनेकी आवश्यकता क्या आ पड़ी। संसारकी सब भाषाओंके शब्दोंपर विचार करनेपर प्रतीत होगा कि यह कोई व्यापक आधार नहीं है क्योंकि उत्तरी अमरीका तथा अन्य देशोंकी भाषाओंमें ऐसे शब्द हैं ही नहीं। इस तुलाके आधारपर विचार करनेपर प्रश्न उठता है कि फिर माताको 'माता' और पिता को 'पिता' क्यों कहा गया और अधिकांश देशोंमें 'मा', 'मामा' 'अम्मा', 'अम्बा' आदि शब्दोंका प्रयोग माताके लिये क्यों होता है क्योंकि 'मा' कभी 'मामा' करके नहीं बोलती है। फिर अनुकरणके आधारपर मनुष्य यदि शब्द बनाता भी तो दस, बीस, पचीस शब्दोंसे आगे न बढ़ पाता। इस सिद्धान्तका सबसे बड़ा विरोधी प्रमाण तो पीरूकी इंजे-इंजे जाति है जिसके

पूर्ण वाङ्मयमें केवल एक 'इंजे' शब्द ही है। फिर ऐसे अगणित जीव संसारमें मिलते हैं जिनके कण्ठसे कोई ध्वनि नहीं निकलती तब उनका नामकरण कैसे किया गया होगा। अतः, भौं-भौंवाद या बाउ-वाउ-वाद-वालोंका यह अनुकरण-का सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता। यह तो ठीक है कि बालक जितनी भी भाषा-प्रक्रिया सीखता है वह सबकी सब अन्य अपने चारों ओर बोलनेवालोंकी ध्वनियाँका अनुकरण करके ही सीखता है किन्तु भाषाकी उत्पत्ति केवल अनुकरणसे ही हुई हो यह मत ग्राह्य नहीं हो सकता। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक वाणीके निर्माणमें कुतूहलवश चारों ओरके वातावरणकी ध्वनियोंका अनुकरण करनेकी प्रवृत्ति भी अवश्य विद्यमान रही जैसे आजकल भी कोयलको खिझानेके लिये बच्चे और बड़े भी उसका अनुकरण करके उसे चिढ़ानेमें आनन्द लेते हैं।

जीवोंकी बोलियोंकी ध्वनिके अनुकरणके समान ही निर्जीव पदार्थोंकी ध्वनिके आधारपर भी भाषाकी उत्पत्ति मानी जाती है जैसे—टनटन, सरसराहट, रिमझिम, छपछप आदि, किन्तु ऐसे शब्द भी सब भाषाओंमें गिनतीके हैं। अतः, यह अनुरणनानुकरणका सिद्धान्त भी ग्राह्य नहीं है।

इसी प्रकार दृश्यात्मक प्रभावसे बनाए गए चमक, जगमग, चकाचौंध आदि तथा स्पर्शात्मक प्रभावसे लुचलुच, लिसलिस, चिपचिप आदि शब्दोंके निर्माणके आधारपर पूरी भाषाकी उत्पत्ति मानना भी ठीक नहीं है।

भावाभिव्यक्तिवाद

§ ३३. मनोभावोंको आवेगके साथ व्यक्त करनेसे कुछ ध्वनियाँ निकल तो सकती हैं पर भाषा नहीं बन सकती।

कुछ विद्वानोंका कथन है कि प्रारम्भमें मनुष्यने स्वभावतः भय, क्रोध, घृणा, हर्ष आदि मनके अनेक भावोंको व्यक्त करनेके लिये 'आह! हुम्! छिह! ओह!' आदि शब्दोंका अनायास स्वभावतः प्रयोग किया होगा उसीसे भाषा बन निकली होगी किन्तु संसार-भरकी भाषाओंकी परीक्षा करनेपर यह जान लेना कठिन न होगा कि इस प्रकारके भय, विस्मय, क्रोध, हर्ष आदिके बोधक शब्द सभी भाषाओंमें इतने कम तथा इतने भिन्न रूपोंमें है कि वे उँगलियोंपर गिने जा सकते हैं। अतः; वाणीकी उत्पत्तिके लये यह तर्क भी संगत नहीं है।

डिङ्गडौङ्गवाद या धात्वाधारवाद

§ ३४. प्रत्येक ध्वनिको सुनकर उसे धातु मान लेनेसे भी भाषा नहीं बनी।

कुछ विद्वान् मानते हैं कि सहसा मनुष्य-समाजमें कुछ ऐसी अलौकिक शक्ति आ गई कि वह जो ध्वनि सुनता उसकी प्रतिक्रियामें उसके मुँहसे जो ध्वनि निकलती वह धातु मान ली जाती। इस प्रकार मनुष्यने सहसा चार-पाँच सौ ऐसी ध्वनियाँ बना लीं जो आगे आनेवाले शब्दोंका आधार बननेवाली धातुके रूपमें स्थिर हो गईं और फिर इन्हीं धातुओंके आधारपर जटिल भाषाका निर्माण हो गया। इस सिद्धान्तका सर्वप्रथम प्रवर्तन हेसेने किया जिसका प्रचार उसके शिष्य डा० स्टाइन्थलने किया था। फिर माक्सम्यूलरने इसे स्वीकार करके छोड़ दिया। किन्तु इन विद्वानोंने इस बातका कोई कारण नहीं समझाया कि आरम्भमें मनुष्यको कहाँसे सहसा इतनी ध्वनियाँ प्राप्त हो गईं और क्यों उसने इनका प्रयोग किया और क्यों संसारकी सब भाषाओंके लिये ऐसी घटना हो गई। इससे अधिक महत्त्वकी बात यह है कि संसारकी अनेक भाषाओंमें धातुका प्रयोग होता ही नहीं। केवल हिन्द-योरोपीय तथा सेमेटिक भाषाओंमें ही धातुओंका प्रयोग होता है। और फिर भाषाके लिये धातु ही नहीं, अन्य अवयव भी तो अपेक्षित हैं। अतः, यह सिद्धान्त भी भाषाकी उत्पत्तिके मान्य नहीं समझा जा सकता।

ये-हे-हो-वाद या श्रमाभिव्यक्तिवाद

§ ३५. श्रमके समय मुँहसे निकलनेवाली अव्याकृता ध्वनियोंसे भी भाषाकी उत्पत्ति नहीं हुई।

नौयरका मत है कि जब मनुष्य कठोर परिश्रम करता है उस समय श्वास-प्रश्वासका वेग बढ़ चलता है और उसके मुँहसे स्वभावतः 'हे, ये, हो,' आदि ऐसी ध्वनियाँ निकलने लगती हैं, जिनसे उसे शान्ति मिलती है। इन ध्वनियोंके उत्पन्न होनेपर स्वभावतः मनुष्यके मनमें यह भाव उत्पन्न हुआ होगा कि मैंने नया अविष्कार किया है और फिर वह और भी दूसरी ध्वनियाँ निकालने लगा होगा। किन्तु इस प्रकारकी ध्वनियाँ भी अत्यन्त परिमित होती हैं और वे भी व्याकृता नहीं होतीं। अतः, यह सिद्धान्त भी ग्राह्य नहीं माना जा सकता।

विकासवाद

§ ३६. भाषाका विकास तो हुआ किन्तु उसकी उत्पत्ति किसी विकास-क्रमसे नहीं हुई ।

विकास-वादी आचार्योंका मत है कि जिस प्रकार धीरे-धीरे यह संसार विकसित होकर इस रूपमें प्रकट हुआ, उसी प्रकार प्रारम्भमें मनुष्य कुछ निरर्थक, असम्बद्ध और अनर्गल ध्वनियोंका प्रयोग करता रहा किन्तु ज्यों-ज्यों उसकी बुद्धिका विकास होता गया त्यों-त्यों उसने अपनी इन अनर्गल और असम्बद्ध ध्वनियोंको व्यवस्थित करना प्रारम्भ कर दिया और भाषाका निर्माण हो गया। यह मत भी इसलिये ग्राह्य नहीं है कि जब मनुष्यमें इतनी बुद्धि आ गई कि अमुक बात असंगत या निरर्थक है तब उसे सँवारनेके बदले वह सम्बद्ध या संगत भाषाका व्यवहार ही क्यों नहीं करने लगा।

सर्वनिश्चयवाद

§ ३७. बिना भाषाकी उत्पत्ति हुए भाषाके निर्माणके लिये लोगोंका एकत्र होकर भाषा बनाना असंगत है।

कुछ आचार्योंका मत है कि जब मनुष्य कुछ अधिक सभ्य और सुसंस्कृत हो चला तब उसने अपने सब मित्रोंको एकत्र किया और सबने मिलकर अपने काममें आनेवाली सब वस्तुओंके नाम रख लिए। किन्तु यह अवस्था तो भाषाकी उत्पत्तिके बहुत पीछेकी हो सकती है। अतः, उत्पत्तिके सम्बन्धमें यह मत भी ग्राह्य नहीं माना जा सकता क्योंकि जो लोग कोई भाषा जानते ही नहीं थे उन्होंने विभिन्न वस्तुओंका नाम-करण करने और एकत्र होनेकी बात ही कैसी चलाई होगी।

समन्वयवाद

§ ३८. विकास, भावात्मक उद्वेग, अनुरणनानुकूल नामकरण तथा श्रमानुगत अभिव्यक्तिके अनुसार भी भाषा नहीं बनी।

स्वीट आदि कुछ आचार्योंका मत है कि 'उपर्यंकित कोई भी मत स्वतः अपनेमें पूर्ण नहीं है। वास्तवमें भाषाकी उत्पत्ति इन सब अनेक कारणोंके

समन्वयसे हुई और जहाँ जैसा अवसर मिला वहाँ नये शब्दका निर्माण और प्रयोग करते चलनेसे भाषा बन गई।'

इन विद्वानोंका मत है कि 'भाषाएँ धीरे-धीरे विकसित होकर अपना स्थिर स्वरूप प्राप्त कर पाई हैं।' इनका कथन है कि 'प्रारम्भिक भाषामें इतना सामर्थ्य नहीं था कि वह वेगसे आगे बढ़कर मानव-जीवनके सब क्षेत्रोंमें व्यवहृत होनेवाली वस्तुओं, तथा व्यवहारों और मनुष्यके सब भावोंको स्पष्टतः और पूर्णतः व्यक्त कर सके। इसलिये किसी भी भाषाके प्रारम्भिक स्वरूपमें केवल तीन ही प्रकारके शब्द थे—

१. वे शब्द, जो घृणा, क्रोध, द्वेष, खीझ, पीडा, उल्लास, स्नेह आदिके आकस्मिक उद्रेकके कारण 'छिः, हुँः, शिः, हः, आह, वाह, ओह' आदिके रूपमें मुखसे निकले होंगे।

२. वे शब्द, जो अपने चारों ओर पत्ते या बाँस आदिकी खड़खड़ाहट, पंखोंकी फड़फड़ाहट, बादलकी गड़गड़ाहट आदि सुननेके कारण उनके अनुकरणपर खड़-खड़, फड़-फड़ या गड़-गड़के रूपमें विकसित हुए और कुछ अनुध्वन्यात्मक शब्द काक, कोयल, बिल्ली, कुत्ते आदिकी बोलियोंके आधारपर काँवँ-काँवँ, कूऽऽऽकू, म्याउँ-म्याउँ और भौं-भौं आदि रूपोंमें ढल गए।

३. वे शब्द, जो किसी श्रम-कार्यके साथ होनेवाली ध्वनिके आधारपर उस क्रियाके नामकरणके लिये बन गए; जैसे—पानी पीनेके लिये दोनों ओठ मिलाकर पीते समय पपकारकी ध्वनिके अनुसार संस्कृतकी 'पा' धातु बन गई।

इन्हीं तीनों आधारोंपर जो सहस्रों शब्द बने उनमेंसे कुछ शब्द व्यवहारमें न आनेके कारण समाप्त हो गए, कुछ अवयवरहित शब्दोंके बदले नए गढ़ लिए गए या व्यवहारमें आने लगे और इस प्रकार धीरे-धीरे भाषा पूर्ण हो गई।'

किन्तु स्वीट आदि विद्वानोंका यह विचार भी केवल कल्पना मात्र है क्योंकि उनके इस सिद्धान्तका तात्पर्य तो यह है कि मनुष्य प्रारम्भिक अवस्थामें पूर्णतः मूक रहा होगा। किन्तु जीव-विज्ञानका अध्ययन करनेपर स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश जीव किसी न किसी न प्रकारसे बोलते अवश्य हैं। फिर मनुष्य तो इतना पूर्ण जीव है कि वह अपने मुखसे अनेक प्रकारकी या सभी प्रकारकी ध्वनियाँ बड़ी सुगमताके साथ व्यक्त कर सकता है। भारतीय

संगीत-शास्त्रियोंका तो स्पष्ट मत है कि तंत्री-वीणामें भी जो मीड़, गमक, मूर्च्छना और स्वरोंका आरोह-अवरोह नहीं दिखाया जा सकता वह सब और उससे कहीं अधिक स्वरोंकी अभिव्यक्ति कंठ-वीणा अर्थात् कंठसे व्यक्त हो सकती है।

सामान्यत:, प्रत्येक जीवमें कुछ व्यवहार व्यापक दिखाई पड़ते हैं; जैसे—भोजनके लिये प्रयत्न करना, अपने या अपने बच्चोंकी रक्षाके लिये भागना, छिपना, डरना, सामना करना, युगल रूपसे एक साथ रहना, अवसर पड़नेपर एकत्र होकर वैरीका सामना करना, समूहमें रहना और अपने वैरीको समाप्त कर चुकनेपर उल्लासके साथ हर्ष व्यक्त करना। इन विभिन्न व्यवहार-कार्योंमेंसे भोजनके लिये प्रयत्न करने और अपनी तथा अपने बच्चोंकी रक्षाके लिये भागकर छिपनेका काम तो मनुष्यने मौन होकर किया होगा किन्तु जिस प्रकार चील या काक आदि पक्षियों अथवा बिल्ली आदि जीवोंको देखकर छोटे पक्षी बोलने या चहचहाने लगते हैं उसी प्रकार मनुष्यको भी कुछ अवसरोंपर सम्मिलित स्वरसे शत्रु या हिंसक जीवोंको भगानेके लिये कोलाहल करना पड़ा होगा जैसा अब भी आखेटके समय हाँका देते हुए करते हैं। इस प्रकारका सम्पूर्ण वाग्-व्यवहार प्रारम्भसे ही स्वभावत: होने लग गया। इसके लिये किसी प्रकारका विचार-विमर्श, सभा या प्रस्ताव करनेकी आवश्यकता ही नहीं थी। इस वाग्व्यापारकी शक्ति मनुष्यको निसर्गत: अपने शरीर और विवेकके साथ मिल गई थी।

स्वाभाविकोन्मेषवाद

§ ३९. वाणीका उन्मेष स्वाभाविक रूपसे मनुष्यके भाषा-विवेक और आवश्यकताके कारण हुआ।

यदि कोई ध्यानपूर्वक अपने वाग्व्यापारका विश्लेषण करे तो प्रतीत होगा कि एकान्त समयमें अथवा बच्चोंको बहलाते, फुसलाते, खेलाते समय वह अनेक प्रकारकी ऐसी ध्वनियाँ मुखसे निकालता है जिनका कोई सम्बन्ध उसकी भाषासे नहीं होता। वह अपने प्रयत्नसे अपनी जिह्वाको अपने मुखके भीतर इधर-उधर संचालन करते और अटकाते हुए अपने जबड़े और ओठोंको आगे-पीछे, नीचे-ऊपर सिकोड़ते-फैलाते हुए अपने चारों ओर बोलनेवाले पशुओं, जीवों और पक्षियोंकी ध्वनियोंका अनुकरण करते हुए, उनकी बोलियोंके साथ-साथ बोलते हुए, दूसरोंका मुँह बनाते हुए, गूँगों या हकलानेवालोंका अनुकरण करते हुए न जाने कितनी अगणित नवीन

ध्वनियोंका उच्चारण करता रहता है जिनमेंसे कुछ ध्वनियाँ वह अपनी भाषामें भी जोड़ता चलता है। इसी प्रकार प्रारम्भमें आहत होने अथवा शारीरिक पीडाके कारण मनुष्यको क्रोध भी हुआ होगा और वह कराहा भी होगा, अपनेसे अधिक समर्थ जीवको सामने देखकर वह भयके कारण दैन्य दिखाता और घिघियाता भी होगा, बन्दरके समान घुड़कता भी होगा, किसीको आक्रमण करते देखकर क्रोधसे दाँत किटकिटाता हुआ उसपर झपटता भी होगा और इसी प्रकार अपने बच्चोंपर या आहारपर आक्रमण करनेवाले अन्य जीवोंपर क्रोध करके उनके प्रति हुंकारता और उनपर मौखिक क्रोध भी प्रकट करता होगा। इन सब अनेक कारणोंसे अत्यन्त स्वाभाविक रूपमें अपने सर्वोच्चारण-शक्तिवाले कंठसे उसने अनेक प्रकारकी नई ध्वनियोंका प्रयोग अपनी भाषामें करना प्रारम्भ कर लिया होगा, नवीन ध्वनियोंका अन्वेषण किया होगा और इस प्रकार उसने धीरे-धीरे नवीन ध्वनियोंसे बने शब्दों और शब्दोंसे बने हुए वाक्योंके द्वारा अपनी भाषाको समृद्ध कर लिया होगा। धीरे-धीरे एव शब्दसे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थों या क्रियाओंका नामकरण करते हुए उसने अनेक वस्तुओंके रूप, स्वाद, गन्ध, तथा स्पर्श आदि गुणोंके आधारपर अनेक शब्दोंका सर्जन कर लिया होगा। यह प्रक्रिया विभिन्न मानव-समुदायोंमें विभिन्न प्रकारसे हुई होगी। जिस प्रकार ईश्वरने विभिन्न जीवोंको विशाल शरीर, बड़े-बड़े दाँत, भयंकर नख, और पैने सींग आदि आक्रमण और रक्षाके साधन देकर उन्हें सशक्त बनाया उसी प्रकार उसने मनुष्यको अन्य जीवोंकी अपेक्षा कहीं अधिक समुन्नत बुद्धि और विवेकके साथ बोलनेकी शक्ति दी जिनके संयोगसे उसने अत्यन्त वेगसे सब जीवोंपर अपना अखण्ड आधिपत्य स्थापित कर लिया। डार्विनका यह मत सर्वथा भ्रामक है कि मनुष्यका विकास वानरसे हुआ है क्योंकि यदि इस किन्तु प्रकार विकास हुआ होता तो अबतक संसारमें कोई भी वानर न रह जाता। वानरका अस्तित्व ही इस बातका प्रमाण है कि मनुष्य और वानर दोनों दो प्रकृतिकी जीव-जातियाँ हैं जिनमें परस्पर कुछ रूप-साम्य होनेपर भी उनकी प्रकृति इतनी भिन्न है कि वानर सिखानेपर भी बोल नहीं सकता।

मानव तथा अन्य जीव

§ ४०. अन्य जीवोंमें भाषाके विवेकका अभाव है।

ऊपर बताया जा चुका है कि हमारे कंठके भीतर जो काकली या स्वरयंत्र है उसमेंसे भीतरका पवन वेगसे बाहर निकलते हुए उसी प्रकार

ध्वनि उत्पन्न करता है जैसे बंशीमें फूँक मारनेपर ध्वनि उत्पन्न होती है और जैसे वंशी-वादक उसमें बने हुए छिद्रोंपर विवेकपूर्वक उँगलियाँ चलाते हुए एक ही बंशीसे अगणित स्वर उत्पन्न कर लेता है वैसे ही हम भी विवेकपूर्वक अपनी जिह्वाको मुखके भीतर अलग-अलग स्थानोंपर अटकाते हुए काकलीसे अनेक ध्वनियाँ उत्पन्न कर लेते हैं। कंठसे इस प्रकार आरोह-अवरोहके साथ स्वर निकालनेका विवेक केवल मनुष्यके कंठमें ही है, अन्य जीवोंमें नहीं। शुक, काकातूआ और सारिका आदि कुछ पालतू पक्षियोंमें मनुष्यकी ध्वनियोंका अनुकरण करनेकी शक्ति तो है किन्तु उनमें और मनुष्योंमें यही भेद है कि वे केवल अनुकरण मात्र कर सकते हैं, अपने विवेकसे नवीन शब्दका निर्माण नहीं कर सकते।

§ ४१. अनेक अवस्थाओं, प्रकृतियों और परिस्थितियोंने भाषाकी उत्पत्तिमें योग दिया।

वन्य मानव-जातियोंकी भाषाओंका अध्ययन करनेपर यह समझनेमें कठिनाई नहीं होती कि अपने क्रोध या हर्षके अनुसार ध्वनि व्यक्त करनेकी रीतिसे आगे बढ़कर मनुष्यने अन्य जीवोंको फँसाने या कुतूहलवश उनकी ध्वनिका अनुकरण करनेके लिये अपने कंठसे उनकी ध्वनियाँ निकालीं और फिर इन ध्वनियोंके उत्पादनकी शक्तिका विकास उसने अपने बुद्धिके संयोगसे बहुत पहले कर लिया। विभिन्न प्रकारके मानव-समाजोंमेंसे जो समाज जितना ही अधिक विकसित, समुन्नत तथा अन्य समाजोंके साथ सम्पर्कमें आया उसकी शब्दावली और भाषा उतनी ही अधिक बढ़ती चली गई और जो समाज कूप-मण्डूक होकर एक ही भौगोलिक सीमामें घिरा पड़ा रहा या जिसने विभिन्न प्रकारके समाजोंसे सम्पर्क स्थापित नहीं किया या जिसका सम्पर्क नहीं हो पाया उसकी भाषा संकुचित बनी रही। सामान्यतः यह व्यापक अनुभव है कि हमारे सभ्य कहलानेवाले संसारमें भी जिन समाजोंने शिक्षा नहीं प्राप्त की और जो अन्य सभ्य समाजोंके अधिक सम्पर्कमें नहीं आए उनकी भाषा और शब्दावली आज भी अत्यन्त परिमित और उनकी भाषा आज भी पिछड़ी हुई है। प्रायः केवल काल्पनिक रूपसे ही मनुष्यने इच्छा-पूर्वक जिस वस्तुका जो मनमें आया नाम रख दिया, कभी किसीने नये शब्द भी गढ़ दिए, इसलिये यह कहना उचित नहीं कि भाषाकी उत्पत्ति किसी एक विशेष प्रकारसे हुई। वास्तवमें अनेक अवस्थाओं, प्रकृतियों और परिस्थितियोंने भाषाकी उत्पत्तिमें योग दिया।

§ ४२. सभी मानव-भाषाएँ अपनेमें पूर्ण हैं।

किसी भी पशु या पक्षीकी अत्यन्त अस्पष्ट प्रेमभरी या क्रोधभरी वाणी और मनुष्यके अत्यन्त साधारण 'हाँ' या 'नहीं' जैसे शब्दोंके बीच आकाश-पातालका अन्तर है। मनुष्यकी वाणीमें अर्थ-संकेतोंका इतना स्वतंत्र और पूर्ण विकास हुआ है कि वह भावात्मक चिन्तन या विचारकी मुखर अभिव्यक्ति है क्योंकि भाषाके बिना किसी प्रकारके व्यक्त विचारका कोई अस्तित्व नहीं। पृथ्वीकी समस्त मानव-जातियाँ, यहाँतक कि घने जंगलोंमें रहनेवाली आदिम जातियाँ और शताब्दियोंसे सभ्य संसारसे दूर द्वीपोंमें बसनेवाली मानव-मांसाहारी पिशाच भी पूर्ण और स्पष्ट उच्चरित भाषाका प्रयोग करते हैं। प्रायः यह समझा जाता है कि इन निम्न संस्कृतिवाली मानव-जातियोंकी भाषाएँ अपूर्ण होंगी। किन्तु यह कम आश्चर्यकी बात नहीं है कि दक्षिण अमरीकाकी पेरू प्रदेश-निवासी 'इंजे-इंजे' जातिको छोड़कर अन्य किसी भी मानव-जातिकी भाषा अनगढ़, अपूर्ण या अव्यवस्थित नहीं है। जिन मानव-जातियोंने वस्त्रका आविष्कार नहीं किया, अभीतक वृक्षोंकी पत्तियोंके झोंपड़ोंमें निवास किया, जिनमें किसी प्रकारके शील या स्वच्छताका विचार नहीं है और जो अपने शत्रुको भूनकर खा-तक जा सकते हैं वे भी अपनी भाषामें ऐसी बातचीत करते हैं जो संस्कृतके समान व्याकरण-सिद्ध और हिन्दीके समान प्रवाहशील है।

§ ४३. मनुष्यके अतिरिक्त अन्य सभी जीव भाषा-हीन हैं।

मनुष्यके अतिरिक्त जितने भी प्राणी संसारमें विद्यमान हैं वे परस्पर भावोंका आदान-प्रदान तो करते हैं किन्तु वे जिन मौखिक ध्वनि-संकेतोंका प्रयोग करते हैं उन्हें भाषा नहीं कहा जा सकता। वे प्राणी अपने आवेग, उद्वेग तथा इच्छाओंको व्यक्त तो करते हैं किन्तु वह अभिव्यक्ति भाषा नहीं है। एक वनमानुष दूसरेका हाथ पकड़कर खींचकर किसी खेलमें सम्मिलित कर सकता है, अपने बिस्तरपर बैठा सकता है, भोजन माँगनेके लिये हाथ फैला सकता है और ले भी सकता है किन्तु कोई भी वनमानुष आजतक भाषाके प्रयोगका न तो कोई प्रमाण दे सका न कोई प्रयास करता दिखाई दे सका। वह अपने मुँहसे जो ध्वनियाँ निकालता है उनपर जिन्होंने बहुत गम्भीर और सूक्ष्म अध्ययन किए उन व्यवस्थित सम्प्रेक्षण करनेवालोंका भी इस विषयमें एक मत है कि उनकी मौखिक ध्वनियोंमेंसे एक भी ध्वनि सूचनात्मक या सार्थक वर्ण नहीं है। इस सम्बन्धमें खोज करनेवाले फर्नेस महोदयने लिखा है कि 'यदि इन

जीवोंकी कोई भाषा हो भी तो वह केवल कुछ इनी-गिनी सामान्य भावव्यंजक अभिव्यक्तिकी ध्वनियों-तक ही परिमित होगी। उनमें किसी भी प्रकारकी स्पष्ट या व्यक्त भाषा नहीं है और वे परस्पर एक दूसरेसे जो मौखिक ध्वन्यात्मक व्यवहार करते हैं वह वैसा ही है जैसे कुत्तोंको गुर्राना, भौंकना, घिघियाना और कराहना।'

§ ४४. वनमानुषोंपर किए हुए भाषा-सम्बन्धी प्रयोग निष्फल सिद्ध हुए।

श्री यर्क्स और श्रीमती यर्क्स बहुत दिनोंसे वनमानुषों और वानर-जातियोंकी मानव-पूर्व भाषा-प्रक्रियाका अनुसंधान करके इस परिणामपर पहुँचे हैं कि यद्यपि वज्रकीट (कीड़ोंको खानेवाला जीव लैमूर) से वनमानुष-तकमें वाणी और निश्चित शब्दोंके समान ऐसी ध्वनियाँ प्रचुर मात्रामें सुनाई पड़ती हैं जो भावों और सम्भवत: विचारोंके प्रतीक हैं किन्तु इनमेंसे किसी भी मानव-तुल्य जीवमें ऐसे व्यवस्थित वाक्-संकेतका प्रमाण नहीं मिलता जिसे वाणी क्या वाणीके समान भी कहा जा सके।

यदि वनमानुष वास्तवमें अपने भावों और सम्भवत: अपने विचारोंके संकेतके रूपमें निश्चित शब्दोंके समान ध्वनियोंका प्रयोग करते होते तो उनकी वाचा शक्तिको अमान्य नहीं किया जा सकता था किन्तु उनके व्यवहारके जो विवरण मिले हैं उनसे प्रतीत होता है कि वे केवल अपने भावों अथवा अपनी इच्छाओंको प्रत्यक्ष करानेके लिये ही उन ध्वनियोंका प्रयोग करते हैं अर्थात् उनकी वह वाग्गत अभिव्यक्ति केवल भावका लक्षण मात्र है, उसका ध्वनि-संकेत या भाषा नहीं। एक दूसरेके प्रति उनका प्रेमका ध्वन्यात्मक अभिव्यंजन केवल पारस्परिक रागका प्रदर्शन मात्र है, उसकी मौखिक अभिव्यक्ति नहीं और न उसका प्रतिनिधित्व करनेवाला कोई अन्य संकेत ही है। वास्तविक भाषा तो तब प्रारम्भ होती है जब कोई ध्वनि उसके स्वाभाविक अभिव्यंजनकी परिस्थितिसे परे भी उसका सम्बन्ध व्यक्त करती हो जैसे यदि कोई व्यक्ति कहे 'मेरे प्यारे, मेरे प्यारे' तो इतना पर्याप्त नहीं है। भाषाका स्वरूप धारण करनेके लिये उसमें यह कहनेकी शक्ति भी होनी चाहिए कि 'वह मुझे प्यार करता है या वह मुझे प्यार नहीं करता है।' यद्यपि प्रो० यर्क्सके छोटे-छोटे वनमानुष चिम और पांज़ीने भोजन आनेपर 'ख' और 'ङ्ग' की ध्वनि तो निकाली किन्तु यह वैसी ही ध्वनि थी जैसे दूध दूहनेके समय गायका रँभाना। यह केवल उत्साह-प्रेरक

ध्वनि मात्र थी जो विशेष आवेगात्मक प्रतिक्रियाका मौखिक प्रतीक है किन्तु उसमें भोजनके गुण-अवगुणपर विचार करनेकी विवेचनात्मकता नहीं है।

वनमानुषोंमें भाषाके अभावका एक निश्चत कारण तो यह है कि उनमें बच्चोंके समान तुतलाने या बलबलानेकी शक्ति नहीं है। प्रो० कैलौग और श्रीमती कैलौगने गुवा नामक जो चिम्पांज़ी (मानव-कल्प वानरी) नौ मासतक अपने बच्चेके साथ पाली थी उसके सम्बन्धमें उन्होंने कहा है कि बोलने-चालनेवाले व्यक्तियोंके वातावरणमें रक्खे जानेपर भी गुवाने नई ध्वनियोंके उत्पादनके निमित्त अपने ओठ, जीभ, दाँत और मुख-विवरका प्रयोग करनेका कोई प्रयास नहीं किया किन्तु मानव-शिशुमें प्रारम्भिक महीनोंसे ही लगातार ध्वनियोंका विकास स्पष्ट होने लगा था। गुवाने विशेष उत्तेजनाके बिना अर्थात् किसी स्पष्ट बाह्य प्रेरणाके बिना कोई ध्वनि कभी मुँहसे नहीं निकाली। भोजनके लिये वह एक प्रकारकी 'खो-खो' ध्वनि करती थी और भयकी अवस्थामें करुणापूर्ण 'ऊँ-ऊँ-ऊँ' करती थी। किन्तु यह 'खो-खो' उसके समर्थनका और 'ऊँ-ऊँ' उसकी विरक्तिका द्योतक था। बच्चेने भी तुलनात्मक प्रयोगके अन्ततक कुछ ही शब्दोंका प्रयोग किया किन्तु उल्लेखनीय बात यह है कि उसने 'हाँ' या 'नहीं' का प्रयोग नहीं किया वरन् संकेतात्मक शब्दोंका प्रयोग किया जैसे 'डिन-डिन्' या 'गिया' (गुवा) और 'डैडी'। 'हाँ' और 'नहीं' कहनेकी वास्तविक ध्वन्यभिव्यक्ति बच्चोंमें देरसे आती है अर्थात् रुचि और अरुचिके लिये व्यक्त करनेवाले शब्दोंका प्रयोग वे बहुत पीछे करते हैं क्योंकि उनकी सारी रुचि व्यक्तियों, वस्तुओं और क्रियाओंके नामों और सर्वनामोंमें केन्द्रित रहती है।

§ ४५. भाषा सहज रूपमें उत्पन्न होती है, यह सन्देहास्पद है।

यदि मनुष्यके सबसे निकटतम समरूपवर्त्ती वनमानुषमें भाषाका कोई संस्कार नहीं मिलता तब हम इस अत्यन्त महत्वपूर्ण मानव-प्रयुक्त भाषाके प्रारम्भकी कल्पना कैसे कर सकते हैं। हमें यही मान लेना पड़ता है कि भाषा मनुष्यका विशेष स्वाभाविक गुण है अर्थात् मनुष्य प्रकृतितः भाषाभाषी स्तनधारी जीव है। सन् १८८७में हौरेशियो हेलने अमेरिकन असोसिएशन फ़ौर दि एडवान्समेन्ट औफ़ साइंसमें 'भाषाकी उत्पत्ति और बोलनेवाले मनुष्यकी प्राचीनता' पर भाषण देते हुए यही मत व्यक्त किया था कि 'मुझपर इस घटनाका

बड़ा प्रभाव पड़ा कि प्रायः सभी बच्चोंमें सहसा वाणीके विस्फोटके समय घरमें बोली हुई भाषासे अलग एक सहज भाषाका जन्म होता है। बहुतसे बच्चे तो विद्यालय आनेकी अवस्था या उससे और आगे चलकर भी इसी प्रकारकी अव्यवस्थित परिस्थितिमें रहते हैं।' इस सम्प्रेक्षणसे उन्होंने यह परिणाम निकाला कि 'मनुष्य प्रकृतितः भाषा-निर्माता जीव है और अपनी मातृभाषाको केवल स्वभावके तीव्र आवेगके कारण सीख लेता है क्योंकि बचपनसे ही वह एक बनी-बनाई भाषा सुनने लगता है। घुमन्तू परिवारोंके आदिम जातियोंके जीवनमें यह सम्भव हुआ होगा कि छोटे बच्चोंका समूह किसी जंगलमें अनाथ छूट गया होगा और वह गरम जलवायु और पर्याप्त भोजनके कारण जीवित रह गया होगा और इन छोटे बालकोंकी भाषा ही परिवारकी रूढ भाषा बन गई होगी।' यह कल्पना उन्होंने इस आधारपर की है कि संसारमें सैकड़ों भाषाएं पूर्णतः एक दूसरेसे असम्बद्ध हैं। अतः, उनकी उत्पत्ति और विस्तारका यही रहस्यमय कारण होगा। किन्तु उनके भाषणकी सबसे मुख्य बात यही थी कि 'मनुष्य स्वभावतः भाषाका निर्माण करता है।' उन्होंने कहा है कि 'जितने उदाहरण मिले हैं उनसे यही शुद्ध परिणाम निकाला जा सकता है कि भाषाओंका उत्पादन या उनकी उत्पत्ति बहुत छोटे-बच्चोंकी भाषा-निर्माण-प्रवृत्तिके कारण होती है।' ऐसे दो बच्चोंका उदाहरण देते हुए, जिन्होंने पूर्णतः अपनी नई भाषा बना ली थी, उन्होंने कहा है— 'इस उदाहरणमें कोई ऐसी बात नहीं है जिससे यह स्पष्ट हो सके कि यदि उन बच्चोंने मौखिक रूपसे अपने माता-पिता या अन्य लोगोंसे बोलते न सुना होता तो वे कुछ भी न बोलते। किन्तु हमारा यह साधारण विश्वास है वे अवश्य बोलने लगते।'

ऊपर जो वक्तव्य दिया गया है उसमें सहज-वृत्तिके सिद्धान्तकी ही दुहाई दी गई है किन्तु वह केवल सिद्धान्त मात्र है। हम उन बच्चोंके विषयमें क्या जानते हैं जो बहरे न होनेपर भी स्वयं अपने शब्दोंसे अपरिचित होनेके कारण अपने चारों ओर रहनेवाले मनुष्योंकी भाषा सुने बिना ही बड़े हो गए। इस विषयमें जो थोड़ा-सा विवरण प्राप्त है वह भी अवश्य विचारणीय है। कुछ ऐसे वन्य बच्चोंके अत्यन्त प्रामाणिक उदाहरण प्राप्त हुए हैं जो बचपनसे ही जंगलमें अनाथ होकर रहे और जो स्वयं अपने प्रयत्न अथवा किसी बड़े जीवके मातृत्वपूर्ण संरक्षणमें बड़े हुए। उन प्रदेशोंमें जहाँ अनिच्छित

बच्चोंको त्याग देना प्रथा थी वहाँ जंगलमें बच्चोंका रहना और पाया जाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। प्रायः इस प्रकारके बच्चे या तो अरक्षित होनेके कारण समाप्त हो जाते हैं या उन्हें अन्य जीव खा डालते हैं। किन्तु ऐसे भी उदाहरण मिले हैं कि किसी भालू या भेड़ियेकी मातृभावनाके कारण ऐसे बच्चोंका लालन-पालन हुआ और वह बालक पूर्व किशोर-अवस्थातक मनुष्यका सम्पर्क प्राप्त किए बिना ही बढ़ता रहा।

इस प्रकारके अत्यन्त प्रामाणिक विवरणवाले बालकोंमें एक था वन्य बालक पीटर (पीटर दि वाइल्ड बौय) जो सन् १७२३ में हनोवरके निकट जंगलमें मिला था। दूसरा था विक्टर जो 'अवेरोंका वन्य जीव' (दी सैवेज औफ़ अवेरों) कहलाता था और जो सन् १७९९ में दक्षिण फ्रांसके अवेरों जनपदमें पकड़ा गया था। तीसरा उदाहरण है भारतके मिदनापुरके पास सन् १९२० में पकड़ी हुई दो छोटी-छोटी लड़कियाँ अमला और कमला। कुछ और भी ऐसे वन्य बच्चोंका विवरण मिला है किन्तु उनका पूरा विवरण छान-बीनके योग्य है जिनमेंसे बबून बालक लूकसकी कथा तो पूर्णतः बनावटी है। ऊपर भी जो उदाहरण दिए गए हैं उनमेंसे केवल विक्टरका ही वैज्ञानिक दृष्टिसे अध्ययन किया गया और उसका विवरण मिला है किन्तु इन सबके विषयमें सबसे विचित्र बात यह है कि इनमेंसे कोई भी बालक न तो स्मृतिसे न अपनी मानसिक प्रवृत्ति या प्रयत्नसे कोई भाषा बोल सकता था। अभी दस वर्ष पूर्व इसी प्रकार रामू नामका एक बालक पाया गया था जो डा० शर्माके अधीन लखनऊके बलरामपुर अस्पतालमें रक्खा गया है। वह भी किसी प्रकारकी भाषा नहीं बोलता था, कच्चा मांस खाता था और कोई भी मानवीय व्यवहार नहीं कर पाता था, यहाँ तक कि हँसता भी नहीं था। वह छेड़नेपर केवल दाँत किटकिटाता और काटने दौड़ता था। दस वर्षके मानव-सम्पर्कसे भी उसमें अभीतक मानवोचित गुण, विशेषतः भाषाकी शक्ति नहीं आ पाई। इसका तात्पर्य यह है कि भाषाकी वृत्तिको बनानेके लिये भी प्रारम्भसे ही उस सम्पर्क-संस्कारकी आवश्यकता है जिससे मनुष्य भाषाके प्रयत्नमें बुद्धि और विवेकका प्रयोग करे। प्रारम्भमें समाज-संपर्क न मिलनेके कारण विवेक-संस्कार लुप्त हो जाता है और मनुष्य अन्य जीवोंके समान जड हो जाता है। यदि वाणी मनुष्यकी मौलिक वृत्ति होती तो वह अवश्य ही स्वयं बोल सकता और फिर अमला और कमला नामक मानव-बालिकाएँ तो साथ-

साथ रहती थीं फिर भी वे बोल नहीं पाईं। तब यह सिद्धान्त कैसे मान लिया जाय कि छोटे बच्चोंमें भाषा-निर्माणकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इस उदाहरणसे स्पष्ट है कि भाषा-निर्माणकी कोई सहज प्रवृत्ति होती ही नहीं।

प्रारम्भमें बच्चे जो भाषा सीखते हैं वह किसी दबाव या औपचारिक शिक्षाके कारण नहीं वरन् सम्पर्कसे सीखते हैं और यह सम्पर्क एक पीढ़ीसे दूसरी पीढ़ीमें बालकोंको मिलता चलता है। अन्तर केवल इतना ही होता है कि जहाँ अध्यापक नहीं होते वहाँ भाषामें पूर्णता नहीं आती। प्रो० हेलने जिन बच्चोंका उदाहरण दिया है उन्हें छोड़ भी दिया जाय तब भी यह निश्चय है कि यदि बच्चे मानवीय बोली न सुनें तो वे कभी न बोलें। बड़ोंकी अपेक्षा बालक तिगुनी-चौगुनी सरलताके साथ जो भाषा सीख लेते हैं वह कोई वाणी या भाषाकी सहज वृत्तिके कारण नहीं क्योंकि शब्द-भाण्डार और वाक्य-निर्माण किसीका जन्म-सिद्ध अधिकार नहीं है। वह तो सीखनेसे ही आता है।

इस निष्कर्षसे हमारी समस्या पुन: ज्योंकी त्यों रह जाती है कि यदि उच्चतम जीवोंमें (वनमानुष-जैसे जीवोंमें) भाषाका कोई रूप प्राप्त नहीं है और मनुष्यके बच्चेमें भी कोई सार्थक शब्द कहने या भाषाके रूपमें बोलनेकी कोई सहज वृत्ति नहीं है तब मनुष्यकी इतनी जातियोंमें विभिन्न भाषाएँ कहाँसे आ गईं; और यदि आईं भी तो ये भाषाएँ केवल अधिक संस्कृत जातियों-तक ही क्यों नहीं परिमिति रह गईं क्योंकि अफ्रीकासे लेकर ध्रुव प्रदेशोंतकमें रहनेवाली एकान्तवासी आदिम जतियोंमें भी भाषाका प्रयोग होता है। यह विचित्र बात है कि जिन अनेक वन्य और आदिम जातियोंमें वस्त्र बनाने, पहनने, भोजन पकाने, बर्तन बनाने आदि सरलतम जीवनकी आवश्यकताओंकी सिद्धिके प्रयत्नका अभाव है या बहुत अव्यवस्थित तथा असंस्कृत रूपमें विद्यमान है उनमें भी न तो भाषाका अभाव है और न उनकी भाषा किसी प्रारम्भिक दशामें है। सापिरने सामाजिक विज्ञानके विश्वकोषमें बड़ी महत्त्वपूर्ण बात लिखी है—'भाषाकी उत्पत्तिके रहस्यका उद्घाटन करनेके लिये बहुत प्रयत्न किए गए किन्तु इनमेंसे अधिकांश केवल अटकलपूर्ण कल्पनाके आयास मात्र हैं। सामान्यत: भाषा-शास्त्रियोंने इस समस्यामें रुचि लेना ही दो कारणोंसे समाप्त कर

दिया। पहला तो यह है कि मनोविज्ञानकी दृष्टिसे कोई वास्तविक आदिम भाषाएँ अब रही नहीं। दूसरी बात यह है कि व्यापक रूपसे संकेतात्मक प्रक्रियाके मनोविज्ञानका हमारा ज्ञान इतना पर्याप्त नहीं है जो भाषाके उद्गमकी समस्याका समाधान कर सके। सम्भवत: भाषाकी उत्पत्तिकी समस्याका समाधान भाषा-शास्त्रियोंकी परिधिसे बाहरकी बात है क्योंकि वास्तवमें यह समस्या है संकेत करनेके व्यवहारकी उत्पत्तिकी समस्या और हमारे कण्ठमें इस व्यवहारका विशेषीकरण, जो सम्भवत: प्रारम्भमें केवल अभिव्यक्ति मात्र रहा होगा।

§ ४६. भाषा भी संकेतका मौखिक रूप है।

कहा जाता है कि भाषाका मुख्य उद्देश्य भावोंका आदान-प्रदान या पारस्परिक व्यवहार है। बच्चोंकी स्वत: बोली हुई बोलीसे यह प्रकट होता है कि एक दूसरेसे व्यवहार करनेके लिये भाषाकी उत्पत्तिकी कल्पना बहुत अतिरञ्जित है। वास्तवमें यही कहना अधिक उचित होगा कि वास्तविकताको संकेतके द्वारा देखने या समझनेकी प्रवृत्तिकी मौखिक अभिव्यक्ति ही भाषाका प्रारम्भिक स्वरूप है और इसीलिये यह स्वरूप पारस्परिक व्यवहारके लिये भी उचित साधन मान लिया गया और फिर जैसे-जैसे सामाजिक सम्पर्क बढ़ता गया वैसे-वैसे भाषा भी जटिल होती गई और आज जिस रूपमें भाषा प्राप्त होती है उस रूपमें वह परिष्कृत हो गई।

यदि यह सत्य है कि संकेतके रूपमें वास्तविकताको समझने या देखनेकी प्रवृत्ति ही भाषाकी उत्पत्तिका वास्तविक कारण है तब भाषाके प्रयोजनके सम्बन्धमें जो बहुतसे अनुसन्धान हुए या हो रहे हैं वे सब ठीक नहीं है। मौखिक ध्वनिके द्वारा व्यवहारके सम्बन्धमें वनमानुषोंके साथ जो प्रयोग किए गए उनमें प्रयोजनात्मक ध्वनियोंका प्रयोग ही केवल मिल पाया है और यही प्रवृत्ति वन्य बच्चोंमें भी देखी गई। किन्तु भाषाकी उत्पत्तिके लिये ये प्रयोग बहुत कामके सिद्ध नहीं होते। हमें तो संकेतात्मक व्यवहारका ऐसा प्रथम प्रमाण प्राप्त करना चाहिए जो किसी प्रकार भी विशेष चेतन अर्थात् उस प्रकारका बौद्धिक न हो जैसा सार्थक ध्वनिके लिये हम लोग प्रयोग करते हैं। भाषा तो संकेतात्मक व्यवहारका अत्यन्त उदात्त रूप है। वस्तु प्रदर्शित करके या चित्र बनाकर अन्य जितने भी संकेत दिए

जाते हैं वे सभी तर्कपूर्ण बातचीतकी अपेक्षा बहुत नीचे स्तरके हैं और किसी अर्थका अभिप्रशंसन तो उसकी अभिव्यक्तिसे बहुत पहलेकी प्रक्रिया है। संकेत करनेकी प्रवृत्तिका सर्वप्रथम प्रयोग किन्हीं वस्तुओंके प्रतीक या उनका महत्त्व दिखानेकी वृत्तिसे हुआ होगा जिसके लिये कुछ ध्वनियाँ मुँहसे निकाली गई होंगी और जो वस्तु न तो भयानक होगी न वास्तवमें किसी कामकी होगी उसके प्रति ही स्पष्ट भावात्मक एकाग्रता स्थापित करानेके लिये ही उसका प्रयोग हुआ होगा।

यह मान लेना नितान्त भ्रामक है कि सर्वप्रथम संकेतका आविष्कार किया गया। संकेत तो किसी जीवकी इन्द्रियोंको धुँधला-सा अर्थ प्रदान करनेके लिये आनुमानिक क्रिया मात्र है। कालिदास और विद्योत्तमाके शास्त्रार्थके प्रसङ्गमें कहा जाता है कि विद्योत्तमाने एक उँगली उठाकर यह बताया कि ब्रह्म एक है किन्तु कालिदासने (विमूढावस्थामें) यह समझा कि यह मेरी एक आँख फोड़ना चाहती है। इसलिये उसने दो उँगलियाँ दिखा दीं जिसका अर्थ यह था कि मैं तेरी दोनों आँखें फोड़ दूँगा। किन्तु पण्डितोंने उसका यह अर्थ लगाया कि कालिदास ब्रह्म और जीव दोनोंको मानते हैं। अतः, संकेतको कोई स्थायी और निश्चित अर्थवाला नहीं माना जा सकता। गूँगे लोगोंके साथ बात करते हुए भी इस प्रकारकी कठिनाई होती है क्योंकि ऐसे संकेतोंका कोई निश्चित अर्थ नहीं माना गया है। किन्तु यह निश्चय है कि इस प्रकारके अनगढ़ व्यवहारोंमें अवश्य ही शुद्ध संकेतोंके संस्कारका प्रारम्भ अवश्य हुआ। आज भी जब दो भाषा-भाषी परस्पर मिलते हैं तो वे अपना अधिकांश व्यवहार संकेतसे ही करते हैं। सौन्दर्यात्मक आकर्षण और रहस्यात्मक भय ही सम्भवतः उस मानसिक प्रक्रियाकी प्रारम्भिक अभिव्यक्ति होंगे जो मनुष्यमें वास्तविकताको प्रतीकके रूपमें देखनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न करते हैं और जो विचारकी शक्तिमें प्रविष्ट होकर भाषाका जीवन-पर्यन्त रहनेवाला अभ्यास बन जाते हैं।

मनुष्यसे बहुत मिलते-जुलते जीव वनमानुषमें भी सौन्दर्यात्मक भावनाका प्रदर्शन कभी-कभी देखनेको मिल जाता है। अत्यन्त सावधानीके साथ उनपर प्रयोग करनेवाले और उनके व्यवहारका निरीक्षण करनेवाले अनुसन्धान-कर्त्ताओंने चिम्पाञ्जियोंमें इस प्रकारकी अवास्तविक प्रवृत्तिका सम्प्रेक्षण किया है। उनमें यर्क्स, कैलौग और कोहलरके प्रयोग अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। गुवा

नामक जिस छोटी वनमानुषीको कैलौगने अपने बच्चेके साथ पाला था उसने कुछ ऐसो वस्तुओंके प्रति बड़ी विचित्र और महत्त्वपूर्ण प्रतिक्रिया प्रदर्शित की जिनका उसके भूतपूर्व अनुभवोंसे कोई सम्बन्ध नहीं था; जैसे—कुकुरमुत्तेको देखकर वह भयभीत हो जाती थी, उसे देखकर चिल्लाने लगती थी या भाग खड़ी होती थी और यदि उसे वहाँ रोक रक्खा जाता था तो अपना मुँह छिपा लेती थी मानो उसे देखना ही न चाहती हो। इस प्रकारका व्यवहार उसने सब प्रकारके कुकुरमुत्तोंके प्रति प्रदर्शित किया। ऐसा भी नहीं था कि उनके विषाक्त होनेकी प्रकृतिके कारण ही सूँघकर उसने विरक्ति दिखाई हो क्योंकि गिलहरियाँ तथा अन्य कुछ जीव तो कुकुरमुत्तोंको खाते भी हैं। एक बार इन प्रयोक्ताओंने कुछ कुकुरमुत्ते एक कागजमें लपेटकर उसे थमा दिए जिनमेंसे कुकुरमुत्तेकी गन्ध भी आती थी किन्तु गुवाने वह बण्डल बिना किसी प्रकारके विरोधके स्वीकार कर लिया और उसपर लिपटे हुए कागजको चबाने लगी। उसके पश्चात् जब वह बण्डल खोला गया तो वह डरकर पीछे हट गई और फिर न तो कागज लेनेके लिये तैयार हुई और न उसके भीतरके कुकुरमुत्ते। इसका अर्थ यह है कि वह कुकुरमुत्तेके आकार-प्रकारको देखनेसे ही भयभीत हो जाती थी।

इस व्यवहारकी परीक्षाके लिये पास ही स्थापित प्रयोगात्मक केन्द्रमें पाले हुए १३ वनमानुषोंके साथ भी यही प्रयोग किया गया जिनमेंसे केवल ४ ने तो उस प्रकारका भय प्रदर्शित किया किन्तु यह भय भी उन्होंने पाइन वृक्षके ऊपरी कोणों या छड़ियोंके प्रति प्रदर्शित नहीं किया जो उसी आकारके थे। इन चार वनमानुषोंमेंसे दो तो सयानी वनमानुषनी थीं और दो तीन-तीन सालके बच्चे थे। किन्तु इस प्रकारकी प्रतिक्रिया व्यापक सिद्ध नहीं हुई इसलिये इन सम्प्रेक्षकोंने यह परिणाम निकाला कि अज्ञातके प्रति चिम्पाञ्जीका स्वाभाविक भय ही विरक्तिका कारण था। किन्तु पाइनकी शाखाएँ भी तो पाले हुए चिम्पाञ्जीके लिये नये ही होते हैं। वे लोग यह भी कहते हैं कि प्रारम्भिक भयके ढाई महीने पश्चात् भी गुवा न तो तोड़े हुए कुकुरमुत्तेके पास जाती है और न उगे हुएके और न तबतक जबतक उस प्रकारका कोई कुकुरमुत्ता जङ्गलमें विद्यमान रहता है। यह भी सम्भव है कि उसकी प्रतिक्रिया इस अनुसन्धानकी किसो अवधिमें ज्योंकी त्यों बनी रही हो। निश्चय ही गरमी-भर उनके नये होनेके कारण पौधों या वनस्पतियोंसे भय होना कोई कारण नहीं हो सकता।

वनमानुषोंमें जो प्रतिक्रिया हुई वह तीन या चार महीने एक-सी नहीं दिखाई दी जिससे यह प्रतीत होता है कि यह भाव सामान्य तो है फिर भी व्यक्तिगत है और सौन्दर्यात्मक अनुभवोंसे सम्बद्ध रखता है। उनमेंसे कुछ तो दृश्यके प्रति प्रतिक्रिया प्रदर्शित करते हैं और कुछ नहीं करते; कुछ वस्तुएँ उन्हें विशेष अर्थवाली प्रतीत होती हैं और कुछ तो कोई वस्तु मात्र प्रतीत होती हैं चाहे वह कुकुरमुत्ता हो या और कुछ।

गुवाके भयके लिये अन्य सामग्रियाँ भी थीं जिन्हें देखकर वह भयभीत हो उठती थी। नीली पतलून, चमड़ेके दस्ताने और जंग लगे हुए टिनके डब्बोंसे वह भड़कती थी जिन्हें वह स्वयं बाहर खेलते हुए देख आई थी। इस व्यवहारको देखकर सम्प्रेक्षकोंने कहा कि 'एक ओर तो वनमानुषको नये खिलौनोंसे प्रेम होता है और दूसरी ओर वह इस प्रकार व्यवहार करती है, यह विचित्र समस्या है।'

यर्क्स और लरनेडने भी वनमानुषोंमें इसी प्रकारके विचित्र व्यवहारोंका विवरण दिया है। वे कहते हैं—'चिम्पांजियोंमें भय और आशंकाके अनेक प्रकारके ऐसे कारण थे जिन्हें समझना सरल नहीं है। घाससे भरे हुए बड़ेसे उस बोरेको देखकर वह पांजी भड़ककर खड़ी हो जाती थी जिसके पाससे होकर उसे प्रायः जाना पड़ता था किन्तु वह इस प्रकार उसके पाससे निकलती थी मानो कोई वीरताका काम कर रही हो। वह सिर उठाकर, पैर पटककर रोमांचित होकर इस प्रकार उसके पाससे होकर निकलती थी मानो उसके आत्म-सम्मानको बड़ी ठेस लग रही हो।'

अपने प्रारम्भिक बचपनके संसारकी बहुतसी विचित्र वस्तुओंका स्मरण करके कोई भी इस बातपर आश्चर्य और कल्पना कर सकता है कि उस बोरेसे पांजीके मनमें क्या भाव उठते होंगे अथवा उस बोरेसे पांजीको क्या प्रतीत होता होगा।

§ ४७. कुछ जीव वस्तुओंमें भावोंके प्रतीकोंकी स्थापना कर लेते हैं।

सौंदर्यात्मक भयका अत्यन्त विशद वर्णन वोल्फगांग कोहलरने दिया है जिन्होंने 'वनमानुषोंकी प्रवृत्ति' (दी मैन्टेलिटी औफ़ एप्स) नामक पुस्तकमें कहा है—'मैंने चिम्पांजियोंको कुछ आदिम प्रकारके खिलौने दिखाए जो एक आधारपर लकड़ीके चौखटेमें जड़े हुए थे और जिनके भीतर भूसा भरकर उन्हें कपड़ोंसे सी दिया गया था और जिनकी आँखोंमें काले बटन लगे हुए थे। ये सब लगभग ३५ सेंटीमीटर ऊँचे थे और कुछ-कुछ

बैलों या गदहोंसे मिलते-जुलते थे किन्तु बहुत अनगढ़ रूपमें हास्यास्पद और अस्वाभाविक बने हुए थे। सुल्तान (चिंपांजी) को इन छोटे-छोटे खिलौनोंके पास ले जाना असम्भव हो गया जिनकी आकृति वास्तवमें किसी भी प्रकारके जीवसे नहीं मिलती-जुलती थी। एक दिन मैं इन खिलौनोंको हाथमें लेकर उनके कक्षमें पहुँचा। क्षण भरमें सब चिम्पांजी दूर किनारेपर छतपर लगे हुए तारमें जाकर टँग गए और एक दूसरेको धक्का देकर अपना सिर आपसमें गड़ाकर छिपानेका प्रयत्न करने लगे।'

इस प्रयोगपर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा है कि 'इन प्रतिक्रियाओंका यह समाधान ठीक नहीं है कि जो भी नई अपरिचित वस्तु उन्हें दिखाई जाय उससे वे भयभीत होते हों। नई वस्तुएँ चिम्पांजीको भयभीत करनेके लिये उतनी ही आवश्यक नहीं हैं जितनी मानव बच्चेके लिये आवश्यक नहीं। इस प्रकारका प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये कुछ संस्कारगत गुण अपेक्षित हैं किन्तु ऊपर जो प्रयोग बताए गए हैं उनसे निश्चित होता है कि उनके जीवन-शत्रुओंसे वस्तुओंका रूप मिलते-जुलते होना आवश्यक नहीं है और यह भी प्रतीत होता है कि कोई भी विशेष रूपसे भयभीत करनेकी तात्कालिक भावना उत्पन्न करना तब भी सम्भव है जब कोई भयानक वस्तु या पदार्थ बनाया जाय और वह भी किसी जीवित जानवरके रूपका न हो (साँपको छोड़कर)। मनुष्य भी बहुत-सी ऐसी वस्तुओंके रूपोंसे डरते हैं जैसे भूतप्रे-तके कल्पित रूप जिनका जीवनके व्यवहार या अनुभवसे कोई सम्बन्ध नहीं होता और जो निश्चय ही जीवनमें नित्यप्रति आनेवाले अत्यन्त घातक पदार्थोंकी अपेक्षा अधिक भयप्रद और अप्रिय लगते हैं।

केवल भयसे ही नहीं, वरन् इन जीवोंको ऐसी वस्तुओंसे भी आनन्द या सुखकी प्रेरणा दी जा सकती है जिसका उनके लिये कोई जीवशास्त्रीय महत्त्व नहीं है। कैलौगने गुवा नामक जिस चिम्पांजीको अपने यहाँ पाल रक्खा था वह उस समय तत्काल भयभीत और दुखी हो जाती थी जब कैलौग बाहर जाते थे किन्तु जब उसे उनका ओढ़ना दे दिया जाता था तब वह शान्त हो जाती थी और उसे घसीटती हुई वह तबतक इस भावनासे घूमती रहती थी कि यही मेरी रक्षा करनेवाला है। जब कभी कैलौग बाहर जाते थे तो वे गुवाको पहले ही अपना ओढ़ना-बिछौना दे देते थे जिससे वह चिन्तित, भयभीत और दुखी न हो। यहाँ यह ओढ़ना-बिछौना वास्तवमें

बड़े महत्त्वका हो गया। इस सम्बन्धमें उस कुत्तेका उदाहरण ध्यान देने-योग्य है जो अपने स्वामीके वस्त्र भी पहचानता था किन्तु वह वस्त्रोंसे सन्तुष्ट न होकर अपने स्वामीको ढूँढ़ निकालनेके लिये अधिक व्यग्र रहता था। परन्तु गुवा तो अपने स्वामीके ओढ़ने-बिछौनेसे ही तृप्त हो जाती थी। यही दोनोंमें बड़ा भारी अन्तर था। गुवाको वह ओढ़ना-बिछौना प्रो० कैलौगकी उपस्थितिमें भी उसे मिला रहता था और इसलिये वे वहाँ रहें या न रहें, वह उनके ओढ़ने और बिछौनेसे ही समझ लेती थी कि वे विद्यमान हैं। इस ओढ़नेको वह अपने चारों ओर ऐसे लपेटे रहती थी मानो वह कैलौगके लौटने-तक उसकी रक्षाका कवच हो। प्रायः जब उन्हें बाहर जाना आवश्यक हो जाता था तो वे उसे ओढ़ना दे देते थे और इतनेसे ही उनके वियोगका सारा भावात्मक प्रदर्शन समाप्त हो जाता था।

इस उदाहरणसे स्पष्ट है कि यहाँ व्यक्तिकी अपेक्षा वस्तु अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई। ऊपर-ऊपरसे देखा जाय तो जैसे कुत्तोंको अपने स्वामीके कपड़ोंकी पहचान हो जाती है वैसी ही यह स्थिति भी है किन्तु कुत्ता तो उन कपड़ोंके स्वामीको ढूँढ़नेकी क्रियामें लग जाता है किन्तु गुवा उन कपड़ोंसे ही सन्तुष्ट हो जाती थी। इतना ही नहीं, कैलौगकी उपस्थितिमें भी वह ओढ़नेको उसी प्रकार प्रयोगमें लाती थी और इस प्रकार अपनी कल्पनामें अपने स्वामीकी उपस्थिति मान लेती थी। इसीलिये चाहे कैलौग रहें या न रहें वह उस ओढ़नेको ही कैलौग माने रहती थी।

कोहलरने चिम्पांजियोंका विवरण देते हुए लिखा है कि 'वे निरन्तर वस्तुओंको इकट्ठा करके अपने पेड़ूके नीचे और जंघाके ऊपर बीचमें लिए हुए घूमते रहते और इस प्रकार स्वाभाविक पैंटकी जेब बनाए हुए उन वस्तुओंको कई दिनों-तक लिए घूमते रहते हैं।' सैगो नामकी एक बड़ी-सी चिम्पांजीने एक अच्छा गोल चिकना पत्थर अपने पास ले रक्खा था। कोहलरने लिखा है कि 'किसी भी प्रकार उससे यह पत्थर ले सकना सम्भव नहीं था, यहाँतक कि सायंकाल होनेपर भी वह चिम्पांज़ी उस पत्थरको अपने कमरे और अपने दड़बेमें लिए चली जाती थी। बन्दरोंकी तो यह स्वाभाविक प्रवृत्ति ही होती है कि वे अपने मरे हुए बच्चोंको भी तबतक चिपकाए फिरते हैं जबतक कि वे सड़-गलकर गिर न जायँ।

यह बात स्पष्ट नहीं है कि सैगो उस पत्थरको क्यों इतना मूल्यवान् समझती थी। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसका कुछ वैसा महत्त्व था

जैसे गुवाको ओढ़नेका था। किन्तु यह निश्चय है कि जो वस्तु सौंदर्यात्मक भावनाकी दृष्टिसे सन्तोषजनक या भयप्रद होती है वह किसी रक्षा-कवच या भयप्रद वस्तुका स्थान ले सकती है। वनमानुषके लिये अपने स्वामीकी उपस्थितिका भाव उसकी वस्तुमें परिवर्तित हो गया था और केवल दृश्यमान होनेके गुणके विशेष भावोंके साथ ऐसी प्रतिक्रिया बन गया था जो शुद्ध तथ्यात्मक प्रभावकी प्रतिक्रियाके स्तरसे ऊपर उसके स्नायविक संस्थानसे सम्बद्ध हो गया था। इसलिये यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है कि चिम्पांज़ीमें प्रतीकात्मक व्यवहारके ऐसे विचित्र निश्चित लक्षण प्राप्त हों। यह स्थिति संकेतात्मकता (डिनोटेशन) के उस प्रयोजनकी वास्तविक तैयारी है जो भाषाका प्रमुख आधार है अर्थात् अपने स्वामीके ओढ़नेको वह स्वामी समझती है और उसे स्वामीका प्रतीक मानती है। यह भी भाषाका वह प्रारम्भिक तत्त्व है जिसमें कोई व्यक्ति किसी वस्तुको किसी भाव, अर्थ या तात्पर्यका प्रतीक मान लेता है। यह भी उन प्रतीकात्मक या संकेतात्मक क्रियाओंका ही व्यवहार है जिनमें कोई जीव किसी परिस्थितिको समझनेके व्यवहारको केन्द्रित कर देता है और वह केवल किसी सम्वेदनका लक्षण मात्र नहीं रह जाता। कोई कार्य प्रतीकात्मक है या निरीक्षणात्मक इसका अन्तर किसी प्रत्यक्ष प्रतीककी चेतनायुक्त भाव-व्यंजना तथा उसके स्वरके भावात्मक कम्पनकी तुलना करनेसे स्पष्ट हो जाता है। चेतनायुक्त व्यवहारमें तो एक सधी-सधाई क्रिया होती है किन्तु वाणीका कम्पन केवल भावात्मक ही होता है, उसकी कोई परम्परा नहीं होती। इस प्रकार किसी भावना या प्रवृत्तिकी सधी हुई अभिव्यक्ति किसी भी संकेतार्थका प्रथम और न्यूनतम रूप है।

प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति और मौखिक अभिव्यक्ति

§ ४८. वनमानुषोंमें प्रतीकात्मक अभिव्यक्तिकी प्रवृत्ति तो विद्यमान होती है किन्तु भाषाकी प्रवृत्ति नहीं।

इस प्रकार कोहलर और कैलौग दोनोंने अपने वनमानुषोंमें प्रतीकात्मक भाव-मुद्राओंके निश्चित लक्षण प्राप्त कर लिए। इतना ही नहीं, गुवाके संबंधमें कैलौगने लिखा है कि 'वह जब कभी कोई भूल कर देती थी तो झट चुम्बनके लिये अपना मुँह बढ़ा देती थी और जबतक यह क्रिया पूरी नहीं हो जाती थी तबतक न तो वह शांत होती थी न संतुष्ट ही होती थी। इसका

अर्थ यह है कि अपने अनुभवकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्तिकी वह प्रवृत्ति, जो भाषाका मूल आधारगत तत्त्व है, वनमानुषमें पूर्णत: लुप्त तो नहीं किन्तु अत्यन्त अव्यवस्थित और अनगढ़ अवस्थामें अवश्य है। यदि हम इस प्रकारकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्तिको भाषाकी योग्यताका मानदण्ड मान लें तो कुछ अंशोमें वनमानुषमें यह प्रवृत्ति मानी जा सकती है किन्तु यह भी नितान्त सत्य है कि उसमें वाणीका पूर्ण अभाव होता है। विचित्र बात यह है कि विभिन्न उपकरणोंका प्रयोग करने, अपना शरीर सजाने, नाचने, चलने तथा अन्य आदिम चेष्टाएँ करनेके लिये वह जैसा प्रयास करता है वैसा कोई प्रयास वह शब्दोच्चारणके लिये नहीं करता।

संभवत: बचपनमें तुतलाने या बलबलानेकी भी कोई सहज इच्छा वनमानुषमें नहीं होती। जिस प्रकार मानव-शिशु अपने मुँह और साँससे खेलता हुआ कूदता, चिल्लाता 'माँ माँ, बाबा' कहता है उस प्रकार वनमानुष कुछ नहीं बोलता। परिणामत: जैसे वह सामने दृष्टिमें पड़ी हुई अनेक वस्तुओंको देखकर प्रसन्न होता, डरता या संतुष्ट होता है वैसे वह ध्वनि और वर्णोंको सुनकर उनकी श्रुति-मधुरता या श्रुति-कटुतासे न प्रसन्न होता न डरता है यहाँतक कि जैसे वह अन्य क्रियाओं और भावभंगियोंका अनुकरण करता है वैसे वह मानवीय ध्वनियोंका कोई अनुकरण नहीं करता।

फ़र्नेसने एक छोटेसे ओरंग-ऊटन (वनमानुष-कल्प वानर) को दो शब्द सिखानेमें सफलता प्राप्त की थी जिनका प्रयोग वह विवेकपूर्वक करता था। किन्तु दुर्भाग्यवश वह वनमानुष पाँच महीनेमें ही चल बसा इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि वह कहाँतक भाषा सीख पाता। इतनेपर भी फ़र्नेसको आत्मविश्वास नहीं हुआ क्योंकि उस ओरंग-ऊटन (वनमानुष) में स्वयं मुख-संचालन और उच्चारण-प्रक्रियाके अनुकरणकी कोई प्रवृत्ति नहीं थी। उसे बोलकर सिखानेके बदले हाथसे उसके होठ चलाने पड़ते थे। एक बार उसे जब यह कौशल आ गया तब वह शब्द तो बोलने लगा किन्तु प्रकृतित: वह स्वयं उस कौशलको कभी नहीं सीख पा सकता था। इसलिये डारविनके विकासके सिद्धान्तको पूर्णत: अमान्य करते हुए यह नि:शंक कहा जा सकता है कि इन वनमानुषोंकी कोई पीढ़ी आगे दस सहस्र वर्ष पश्चात् भी मौखिक बातचीत नहीं कर सकेगी।

भाषाकी उत्पत्तिकी रहस्यमय समस्याके सम्बन्धमें एक और भी विचारणीय विषय यह है कि भाषा केवल दूसरोंपर किसीकी प्राकृतिक

आवश्यकताओंकी अभिव्यक्ति मात्र नहीं वरन् उसके विचारोंका निर्माण और उनकी अभिव्यक्ति भी है। भाषाका प्रारम्भ कोई प्राकृतिक संयोग या किसी साध्यके लिये साधन नहीं है वरन् लक्ष्यहीन बलबलानेकी प्रवृत्ति, आदिम सौन्दर्यात्मक प्रतिक्रिया और किसी वस्तु या स्थितिपर विचार करनेका साधन है। भाषाके लिये तैयारी तो शब्द-प्रयोगकी अपेक्षा विवेकपूर्ण क्रियाका बहुत निम्न स्तरका कार्य है और ध्वनिके द्वारा विचार-संक्रमणके किसी भी विकासात्मक स्तरसे बहुत नीचा है।

ऊपर (§ ४७) बताया जा चुका है कि वनमानुषों तथा वन्य बालकोंको बोलना सिखानेके सब प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए। हेलन केलरकी गाथा तो प्रसिद्ध ही है कि जब उसे कुछ शब्द सिखाए गए तो वह न तो किसीका प्रयोग ही कर सकी और न शब्द तथा वस्तुका सम्बन्ध ही स्थापित कर सकी। जलका महत्त्व और उसकी विशेषता उसे जलकी इच्छाके समय नहीं वरन् उसके हाथपर पानीकी धारा बहानेपर प्रतीत हुई।

समाजसे बहिर्गत बालकोंमें भी भाषाका अभाव

§ ४९. मानव-समाजसे दूर वन्य प्राणियोंके आश्रयमें पलकर बड़े हो जानेवाले बालकोंको भी भाषा नहीं आ पाती।

'एवरोंके वन्य मानव' विक्तरकी कथा भी कम करुणाजनक नहीं है। वह इस बातकी द्योतिका है कि भाषासे जीवनकी कितनी उपादेयता सिद्ध होती है। जब कोई व्यक्ति उस बालकके सामने 'ओह' कहता था तो वह चौकन्ना हो उठता था और उस ध्वनिका अनुकरण भी करता था। यह देखकर डौक्टर इतार्दने उसे जलके लिये फ़्रांसीसी शब्द 'ओ' सिखानेका बहुत प्रयत्न किया किन्तु विचित्र बात यह हुई कि वह अनेक प्रकारके संकेत तो करता रहा किन्तु शब्द कभी नहीं कह पाया। इसके पश्चात् विक्तरको 'लै' (दूध) शब्द सिखानेका प्रयत्न किया गया और विक्तरने उसका उच्चारण भी किया किन्तु पीछे चलकर यह प्रतीत हुआ कि इस ध्वनिका प्रयोग वह दूधके लिये नहीं वरन् दूध मिलनेकी प्रसन्नताके लिये करता था। विक्तरने स्वयं एक और शब्द 'ली' का प्रयोग करना प्रारम्भ किया था जो डौक्टर इतार्दके घरमें कुछ दिनोंतक आकर रहनेवाली लड़की 'यूली' के नामके अन्य वर्णोंकी अनावश्यक आवृत्ति थी क्योंकि विक्तर रातको सोतेमें भी 'ली ली' कहता रहता था। इसलिये डौक्टर इतार्दने उसे भाषा सिखानेका प्रयास ही बंद कर दिया। उसका कारण सम्भवतः

यही था कि तुतलाने और बलबलानेकी जो प्रवृत्ति मानव-बच्चोंमें बचपनमें होती है वह उसमें समाप्त हो गई थी क्योंकि वह लगभग बारह वर्षका हो चुका था। इसका अर्थ यह है कि भाषा सीखनेकी एक अवस्था (दोसे पाँच वर्ष) होती है। वह अवस्था निकल जाय तब भाषा सीखना सम्भव नहीं होता।

मिदनापुरमें प्राप्त अमला और कमला नामकी कन्याओंमेंसे कमला नामक वन्य लड़कीने मानव-परिवेशमें छह वर्ष रहनेके पश्चात् लगभग चालीस शब्द सीख लिए थे और दो-तीन शब्दोंको मिलाकर वाक्य भी कह लेती थी किन्तु विचित्र बात यह थी कि वह तबतक किसीसे बात नहीं करती थी जबतक उससे कोई न बोले। उसमें स्वयं बात करनेकी प्रवृत्ति समाप्त हो चुकी थी। एक बार गम्भीर ज्वरकी अवस्थामें वह बच्चोंके समान बड़बड़ाने लगी थी जिसके पश्चात् उसके भाषा-प्रयोगकी गति बड़ी वेगशील हो चली थी। किन्तु दुर्भाग्यवश वह अधिक दिन जीवित नहीं रह सकी।

भाषाकी सहज वृत्ति

§ ५०. **भाषा** सीखने या बोलनेकी कोई सहज वृत्ति नहीं होती।

बोलने और उच्चारण करनेका अभ्यास सामाजिक वातावरणमें पारस्परिक व्यवहारसे होता है। बहुत सी ऐसी ध्वनियाँ मनुष्यके लिये सदाके लिये समाप्त हो जाती हैं जिनका प्रयोग वह नहीं सुन पाता; जैसे—फ्रांसीसी, यूनानी, इतालवी और रूसी लोग 'ट ठ ड ढ' का उच्चारण नहीं कर सकते और अँगरेज लोग त थ द ध का। किन्तु जो अँगरेज बच्चे प्रारम्भसे ही भारतीय बालकोंके साथ पढ़ते और बढ़ते रहे वे केवल इन वर्णोंका उच्चारण ही नहीं वरन् देशी भाषाका भी प्रयोग धड़ल्लेसे करते रहे। इस परिस्थितिसे जे० डब्लू० इम नामक अँगरेज़ मनोवैज्ञानिकने यह परिणाम निकाला कि 'बच्चोंकी आरंभिक अवस्थामें जो भाषाकी सहज वृत्ति रहती है वह बड़े होनेपर समाप्त हो जाती है।' किन्तु सहज वृत्तिका सिद्धान्त अब अमान्य कर दिया गया है इसलिये यह कहना उचित नहीं है कि भाषाकी कोई सहज वृत्ति होती है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि भाषा सीखनेकी एक निश्चित अवधि होती है और यह अवधि मानसिक विकासकी उस अवस्थामें होती है जिसमें अनेक प्रकारकी रुचियाँ और वृत्तियाँ एक साथ पनपती हैं, जिनमें 'तोतली वाणी' (लालिंग) की सहज वृत्ति; अनुकरण करनेकी उत्प्रेरणा, विभिन्न ध्वनियोंमें स्पष्ट रुचि और

विभिन्न प्रकारके अनुभवोंमें मनकी लगन मुख्य है। उपर्यंकित परिस्थितियोंमेंसे यदि एकका भी लोप हो तो भाषाकी वृत्ति पनप नहीं सकती।

यह विचित्र बात है कि मनोवैज्ञानिकों और भाषा-वैज्ञानिकोंने इन परिस्थितियोंपर बहुत कम ध्यान दिया। यह ज्ञातव्य है कि एक विशेष अवस्था (३ से ८ वर्ष तक) में ही ध्वनि, रंग, रूप, भावना, स्पर्शानुभव, रसानुभव और गंधानुभवके प्रति स्वाभाविक तथा उत्कंठापूर्ण जिज्ञासा होती है। इतना ही नहीं, उन सबकी प्रकृतिके सम्बन्धमें भी तभी भाव-निर्माण होता है अर्थात् यह भाव पुष्ट होने लगता है कि कौन-सी ध्वनि, गंध, वाणी, स्पर्श या रस अच्छा या बुरा, ग्राह्य या अग्राह्य, प्रिय या अप्रिय, सुहावना या डरावना है। ज्यों-ज्यों बालक बड़ा होता चलता है त्यों-त्यों ये अनुभवात्मक जिज्ञासा-वृत्तियाँ कम होती जाती हैं और बालक भावात्मक जगत्से हटकर व्यवहारात्मक जगत्में प्रवेश करने लगता है।

भाषाके लिये शिक्षा आवश्यक

§ ५१. भाषाके उत्पादनके लिये शिक्षा आवश्यक है।

वास्तविकता यह है कि हमारा समस्त प्रारम्भिक संसार पूर्णत: मौखिक या वर्णात्मक होता है क्योंकि शब्दोंके बिना हमारी कल्पना विभिन्न वस्तुओंके पारस्परिक भेद और सम्बन्धका ज्ञान नहीं कर सकती। यह स्मरण रखना चाहिए कि विचारके रूपमें किसी अनुभवका परिवर्तन हो जाना केवल संकेतों और लक्षणोंका विस्तार मात्र नहीं वरन् भाषाका ही मुख्य उद्देश्य है। इसलिये भाषा वस्तुत: प्रतीकात्मक ही होती है, केवल कभी-कभी संकेतात्मक होती है। इसलिये यह कहना भ्रामक सिद्ध होगा कि भाषाकी उत्पत्ति पूर्णत: पारस्परिक व्यवहार या भाव-संक्रमणकी आवश्यकतासे ही प्रारम्भ हुई और रचनात्मक तथा भावात्मक अनुभवसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वाणीके सभी गुणों और सामर्थ्योंसे युक्त मनुष्यको भी वाणीके विकासके लिये ही नहीं वरन् वाणीकी उत्पत्तिके लिये भी शिक्षाकी आवश्यकता है। किन्तु यह शिक्षाकी वृत्ति उत्पन्न कैसे हुई?

§ ५२. धार्मिक कर्मकांडके गीतों और नृत्योंसे वाणी फूटनेकी कल्पना भी कल्पना ही है।

मिदनापुरसे पाई हुई अमला और कमला नामकी दोनों कन्याओंके सम्बन्धमें विवरण दिया जा चुका है कि उन्होंने साथ रहकर भी किसी प्रकारकी

वाणी अर्थात् सार्थक वर्णोंकी अभिव्यक्तिका न स्वयं कोई प्रयास किया न परिचय दिया। अतः, भाषा उन्हीं मानव-समाजोंमें विकसित हुई जिनमें प्रतीकात्मक चिन्तन अर्थात स्वप्न, कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास, घातक जीवों या दैवी विपत्तियोंसे भयकी भावनाके कारण उनके प्रति भयपूर्ण आदरकी भावना और प्रतीकीकरणकी प्रक्रिया अधिक स्पष्ट रूपमें साकार और सक्रिय हुई । ऐसी स्थितिमें सामाजिक समूहोंमें विशेषतः धार्मिक या उत्सवात्मक कृत्योंमें वाणी या नृत्यके द्वारा अथवा भावनात्मक प्रसन्नता और भयकी अभिव्यक्तिके कारण स्वभावतः अभिव्यंजनकी चेष्टा अधिक वेगसे हुई। इसलिये यह असंभव नहीं है कि ऐसे गंभीर धार्मिक कृत्योंसे ही भाषाका विकास हुआ हो और मनुष्यने ऐसे अवसरोंपर कम्पनयुक्त स्वर, वर्ण और पुकारोंकी स्वाभाविक सृष्टि कर ली हो। आज भी जहाँ प्रतियोगिताएँ होती हैं वहाँ पढ़े-लिखे और संभ्रांत लोग भी अपने पक्षकी विजयके समय उल्लाससे चिल्लाते, कूदते और नाचते हैं। देवी-पूजाके समय भी इसी प्रकारकी शारीरिक चेष्टाओंके साथ वाणीका प्रयोग किया जाता है और अनेक भयानक जीवोंको भगाने अथवा अपने विरोधी मानव-समुदायोंसे लोहा लेनेके लिये तो इस प्रकारके युद्ध-कोलाहल किए हो जाते रहे।

भाषाशास्त्रके प्रसिद्ध विद्वान् येस्पर्सनने भी माना है कि वाणी और गीत एक ही स्रोतसे उत्पन्न हुए हैं जैसा कि बहुत पहले हेर्डेर और रूसोने कल्पना की थी। उसने कहा कि 'वन्य जातियाँ अब भी सङ्गीतात्मक वाणीका ही प्रयोग करते हैं' और इस आधारपर उसने माना है कि 'एक समय वह था जब सम्पूर्ण वाणी गीतमय ही थी या यह कह सकते हैं कि जब वाणी और गीतमें कोई भेद नहीं था।' तब प्रश्न यह है कि क्या प्रारंभमें गीतके माध्यमसे ही भाव-संक्रमण किया जाता था। यदि नहीं तो उससे वाणीका विकास कैसे हुआ? इसका समाधान करते हुए येस्पर्सनने कहा है कि 'यद्यपि हम आजकल भाव-संक्रमणको ही वाणीका मुख्य उद्देश्य मानते हैं किन्तु इस बातका कोई आधार नहीं है कि भाषा सदा ही भाव-संक्रमणका आधार रही है।' सम्भवतः येस्पर्सनने सन् १८९१-९२ में प्रकाशित 'माइण्ड' नामक पत्रिकामें प्रकाशित डोनोवन-द्वारा लिखित 'मानव-वाणीकी उत्सवात्मक उत्पत्ति' (दि .फेस्टल ओजिरिन औफ़ ह्यू मन स्पीच) नामक लेख नहीं पढ़ा था। स्वभावतः दार्शनिक पत्रिकामें प्रकाशित होनेके कारण वह उनकी दृष्टिमें नहीं आ पाया होगा।

डोनोवनका सिद्धान्त संक्षेपमें यही है कि 'सर्वश्रेष्ठ प्रकारसे प्रतीकात्मक बननेकी शक्ति ध्वनिमें ही है क्योंकि उसके प्रति एकाग्र होनेके लिये उसका उपादेय होना आवश्यक नहीं होता। कानमें पड़ी हुई सभी ध्वनियाँ बलपूर्वक समय-कुसमय हमारी चेतनामें पहुँचती ही रहती हैं चाहे वे रुचिकर हों या न हों यहाँतक कि सब ध्वनियाँ हमारी चेतनामें इतनी शीघ्रतासे पहुँच जाती हैं कि हम उनके चेतनामें प्रविष्ट होनेके पूर्वतक भी नहीं जाँच पाते कि वे हमारी रुचिके अनुकूल हैं या नहीं। इसलिये ध्वनियोंमें ऐसी मौलिक प्रभावात्मक शक्ति होती है कि वे स्वतन्त्रतापूर्वक हमारे मस्तिष्कमें प्रविष्ट हो जाती हैं क्योंकि आँखके समान कानको कभी बन्द नहीं किया जा सकता। खेल और हर्षके उल्लासमें तालके साथ नाचना, ताली बजाना प्रारम्भिक मनुष्योंमें स्वभावतः आ गया होगा और उसी क्रममें मुँहसे निकली हुई ध्वनियोंमें उतार-चढ़ाव करना भी मनुष्य सीख गया होगा और धीरे-धीरे वाणीमें वह बहुरूपता आ गई होगी जो वाणीका आवश्यक लक्षण है।'

डोनोवनका कथन है कि 'पहले उत्सवात्मक नृत्यकी क्रियाएँ मूक होती रही होंगी। फिर उसके साथ कुछ शब्द जुड़ गए होंगे और इस प्रकार मृतकके चारों ओर नाचे जानेवाले मृत्यु-नृत्य अथवा शत्रुको, भालूसे भेंट होनेको वन्दी करने, निधि प्राप्त करने अथवा अन्य उल्लासयुक्त अवसरोंपर मुँहसे कुछ बोलनेकी प्रेरणा मिली होगी और इस प्रकार धार्मिक कर्मकाण्ड तथा अन्य उत्सवोंके साथ पहले तो अव्याकृता ध्वनियाँ उत्पन्न हुई होंगी और फिर धीरे-धीरे स्पष्ट, सार्थक भाषा-ध्वनियाँ उत्पन्न हो गई होंगी।'

परिणाम

§ ५३. भाषा सामाजिक संस्कार है, व्यक्तिगत उपलब्धि या सहज वृत्ति नहीं।

इन सब अनेक सिद्धान्तों और अटकलोंसे भी भाषाकी उत्पत्तिका कोई स्पष्ट कारण तो नहीं निकलता किन्तु जितना कुछ ऊपर शास्त्रार्थ किया गया है उससे निम्नांकित निश्चित परिणाम अवश्य निकाले जा सकते हैं—

१. भाषाकी शक्ति मनुष्यको छोड़कर अन्य किसी जीवमें नहीं है।

२. भाषा किन्हीं अन्य मानव-पूर्व जीवोंकी मौखिक ध्वनियोंसे विकसित नहीं हुई।

३. अनुकरण और अनुरणनके आधापर भी भाषा नहीं बनी।

४. समाजसे पूर्णतः विलग पड़े हुए बच्चोंके पारस्परिक संयोगसे भी भाषा नहीं बनी।

५. विभिन्न भौगोलिक परिधियोंमें अलग-अलग भाषाओंका जन्म हुआ।

६. प्रारम्भमें भाषा भले ही संकेतात्मक रही हो किन्तु अब संकेत मात्र नहीं है।

७. प्रारम्भसे ही समाजके सम्पर्कमें आनेसे भाषा सीखी जाती है और वह मानव-शिशुके प्रारम्भिक वर्षोंमें ही वेगसे आती है। मानव-कण्ठके अवयवोंका यदि प्रारम्भमें प्रयोग न कराया जाय तो आगे चलकर वे निःशक्त हो जाते हैं और फिर उसे भाषा नहीं सिखाई जा सकती।

८. भाषाका सम्बन्ध कानसे है और इसलिये सिखाने और सुननेसे मानव-शिशु स्वयं वस्तुओं, क्रियाओं तथा भावोंके साथ उन शब्दोंका अर्थ स्थापित कर लेता है।

९. युद्ध, आक्रमण, सामूहिक नृत्य आदि अवसरोंपर स्वतः कोलाहल करनेकी प्रवृत्ति होती है।

१०. भाषा और गीतकी सृष्टि साथ-साथ हुई।

इस प्रकार भाषा पूर्णतः सामाजिक सृष्टि, सामाजिक आवश्यकता, सामाजिक प्रक्रिया और सामाजिक व्यवहार है। जैसे ढाई अरब मनुष्योंमें दो-चार-दस ही विशेष बुद्धिशाली वैज्ञानिक आज सम्पूर्ण मानवताका नेतृत्व कर रहे हैं उसी प्रकार प्रत्येक मानव-समाजके विवेक-वरिष्ठ बुद्धि-शाली व्यक्तियोंने (जो प्रायः उस समाजके नेता, मुखिया या सरदार भी होते थे) भाषा बनाई और समाजको व्यवहारके लिये दे दी। इतना ही नहीं, उन्होंने स्वयं दूसरोंको उस भाषाकी शिक्षा दी और इस प्रकार शिक्षाकी परम्परा चल निकलनेसे ही प्रत्येक समाजमें भाषाका प्रचलन हुआ। इस भाषाकी शिक्षाका कुछ अंश मानव-बालकने अपने-अपने समाजके बड़े बूढ़ों या परिवारवालोंसे, कुछ अपने मित्रों और साथियोंसे, कुछ अपने अनुभवसे और कुछ दूसरोंके सम्पर्कसे प्राप्त किया और इस प्रकार विभिन्न मानव-समाजोंमें भाषा बनी और चल निकली।

● ●

भाषाके अवयव

किसी भी प्रदेशकी भाषाका अध्ययन करनेपर प्रतीत होगा कि प्रत्येक भाषामें कुछ अपने विशेष वर्ण होते हैं। उन वर्णों या उन वर्णोंके मेलसे शब्द बनते हैं। उन शब्दोंका अपना कोई विशेष निश्चित अर्थ होता है जिसे अभिधेयार्थ कहते हैं किन्तु संस्कृत-जैसी किसी-किसी भाषामें कोई शब्द वाक्यमें आकर विभक्ति या धातु-प्रत्यय लग जानेसे अपना रूप बदल लेता है जैसे 'राम' का 'रामस्य' या 'गच्छ' का 'गच्छति'। चीनी-जैसी कुछ भाषाओंमें शब्दोंको इधर-उधर उलट-पलट देनेसे उनका अर्थ बदल जाता है। वाक्यमें इस प्रकार आए हुए शब्दको पद कहते हैं। इन पदोंके मेलसे ही वाक्य बनते हैं। कई वाक्योंके संयोगसे महावाक्य बनते हैं। इन वाक्यों और महावाक्योंको विभिन्न प्रकारकी भाव-शैलियों और रचना-शैलियोंमें ढाल देनेसे मुक्तक कविता, प्रबन्ध काव्य, नाटक, चम्पू, उपन्यास, कथा, प्रबन्ध, निबन्ध आदि अनेक प्रकारके काव्य और शास्त्र अर्थात् वाङ्मयके अनेक रूप बन जाते हैं। राजशेखरने अपनी 'काव्य-मीमांसा' में वाङ्मयके दो स्वरूप निर्धारित किए—काव्य और शास्त्र। कल्पना-प्रधान, मनोरञ्जक और विशिष्ट शैली तथा चमत्कारसे युक्त रचनाको काव्य और किसी विशेष विषयके तात्त्विक निरूपणको शास्त्र कहा जाने लगा। विश्वकी अन्य भाषाओंसे संस्कृतका सबसे बड़ा अन्तर यही है कि संस्कृत भाषाका जो सबसे छोटा मूल अवयव वर्ण कहलाता है उस वर्णका भी अपना अर्थ होता है। अन्य भाषाओंमें सबसे छोटा अवयव ध्वनि होता है किन्तु उसका कोई अर्थ नहीं होता फिर भी भाषा-ध्वनिके रूपमें स्वीकृत होनेके कारण उसे भी वर्ण कहा जा सकता है।

भाषाके इन विभिन्न अवयवोंके सम्बन्धमें दो प्रकारसे विचार होता है एक तो भाषाकी दृष्टिसे, दूसरे काव्यकी दृष्टिसे। वर्ण, शब्द, अर्थ तथा वाक्यकी रचनाका विवेचन तो व्याकरण, निरुक्त और भाषा-शास्त्रके अन्तर्गत होता है, शेष काव्य-वाङ्मयका विवेचन साहित्य-शास्त्रके अन्तर्गत। किन्तु अँगरेज़ीके फ़िलोलौजी शब्दके अन्तर्गत तो साहित्यका ही विवेचन होता है भाषाका नहीं, पर लोग भूलसे उसका अर्थ भाषा-शास्त्र करने लगे हैं जो 'लिंग्विस्टिक्स' का पर्याय है।

ध्वनि और वर्ण

पीछे (§ ५) बताया जा चुका है कि जो सुनाई पड़े उसे ध्वनि कहते हैं। बहुतसे विद्वानोंने ध्वनिकी परिभाषा यह दी है कि मुँहसे जो स्वर निकले या दो वस्तुओंके पारस्परिक आघातसे जो रव निकले उसे ध्वनि कहते हैं। किन्तु यह परिभाषा तथ्य-पूर्ण नहीं क्योंकि ध्वनिका सम्बन्ध कानपर पड़े हुए प्रभावसे है। यदि कोई ध्वनि श्रवणगत न हो तो वह ध्वनि नहीं कहला सकती। यदि किसी काँचके आवरणमें बिजलीकी घण्टी रखकर उस आवरणसे पूरा वायु निकालकर घण्टी बजाई जाय तो बजनेकी सारी क्रिया होते हुए भी अर्थात् धातु-खण्डपर आघात होनेपर भी ध्वनि उत्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार संसारमें कई अरब-खरब ध्वनियाँ प्रतिक्षण होती रहती हैं किन्तु सबके कानोंतक उनकी ध्वनि नहीं पहुँच पाती, यहाँतक कि जब लोग सोए रहते हैं उस समय भी जितनी ध्वनियाँ होती रहती हैं उन सबका भी उन्हें ज्ञान नहीं होता क्योंकि उनकी चेतना-शक्ति और श्रवणकी ग्राहिका-शक्ति दोनोंका उचित समन्वय नहीं हो पाता। इसलिये वे सब ध्वनियाँ भी उनके लिये ध्वनि नहीं रह पातीं। अतः, ध्वनि वही है जो किसीके कानतक पहुँचे और उसका चैतन्य उसकी पहचानकर सके।

दैवी, भौतिक तथा पार्थिव वाक्

§ ५४. वैदिक साहित्यमें दैवी, भौतिक और पार्थिव नामसे तीन प्रकारकी वाक् मानी गई है।

वैदिक साहित्यमें दार्शनिक और व्यवहारिक दृष्टिसे तीन प्रकारकी वाणी (वाक्) का निर्देश किया गया है—दैवी, भौतिक तथा पार्थिव।

१. दैवी वाक् वह कहलाती है जो समाधिकी अवस्थामें योगीको ही श्रवणगत होती है और जिसे अनाहत नाद कहते हैं। इसके भी तीन भेद हैं—परा, पश्यन्ती और मध्यमा (§ ७)। मूलाधार या गुद-स्थानसे सर्वप्रथम नाद

रूपमें परिवर्तित हुआ वर्ण जब मूलाधारसे उठकर हृदयमें पहुँचता है उस समय उसे पश्यन्ती कहते हैं। यह वर्ण भी योगियोंको ही समाधिकी अवस्थामें श्रवणगत होता है। उसके पश्चात् जब वह वर्ण हृदयसे उठकर धीरे-धीरे बुद्धि और संकल्पके साथ संयुक्त हो जाता है तब वह मध्यमा कहलाता है। जब वह मध्यमा वाक् आगे बढ़कर बुद्धिसे संयुक्त होकर कंठमें पहुँचकर मुखसे निकलती है तब वैखरी कहलाती है।

२. भौतिक वाक्के अन्तर्गत मेघका गर्जन, भूकम्पकी गड़गड़ाहट, बिजलीकी कड़क, वृक्षोंकी सरसराहट आदिका समावेश होता है।

३. पार्थिव वाक् वह है जो विभिन्न प्रकारके जीवोंके मुखसे सुनाई पड़ती है। इसी पार्थिव वाक्को निरुक्ता और अनिरुक्ता (§ ५) नामक दो भेदों विभक्त कर दिया गया है।

परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाक्मेंसे वैखरी तो सदा निरुक्ता होती है; मध्यमा कभी निरुक्ता और कभी अनिरुक्ता होती है; पश्यन्ती और परा सदा अनिरुक्ता होती हैं (§ ५)। इसीलिये रहस्यवादी साधकोंने उस नाद या ध्वनिके सम्बन्धमें कहा है कि वह अनाहत या अनहद नाद व्याख्यात नहीं किया जा सकता। 'गूँगेका गुड़ गूँगै जाना'। गूँगेको गुड़ देनेपर यदि उससे गुड़का स्वाद पूछा जाय तो वह ऊँ-आँ करता रहेगा, ठीक स्वाद नहीं बतला सकता। उसी प्रकार पश्यन्ती और परा वाणीकी भी कोई व्याख्या नहीं की जा सकती। जैसे वीणा, मृदंग या वंशीका रव सुननेमें बड़ा मधुर लगता है और उसका आनन्द लिया जाता है किन्तु उसका अर्थ नहीं बताया जा सकता उसी प्रकार पश्यन्ती और परा वाणीका आनन्द तो लिया जा सकता है किन्तु उसका अर्थ नहीं बतलाया जा सकता।

पीछे (§ ५) बताया जा चुका है कि मानव-कंठसे निकलनेवाली वैखरी वाणी दो प्रकारकी होती है—व्याकृता और अव्याकृता। यह भी समझाया जा चुका है कि जिस भाषाको कोई व्यक्ति समझ नहीं पाता है वह उसके लिये अव्याकृता ही होती है भले ही वह उस भाषाका व्यवहार करनेवालोंके लिये व्याकृता क्यों न हो।

व्युत्पन्ना और अव्युत्पन्ना वाक्

§ ५५. व्याकृता वाक् दो प्रकारकी होती है—व्युत्पन्ना अव्युत्पन्ना।

संस्कृतके भाषा-शास्त्रियोंने व्याकृता वाक्को भी दो प्रकारका माना है—व्युत्पन्ना और अव्युत्पन्ना। व्याकरण या भाषाके नियमोंसे जिन

ध्वनियोंकी व्युत्पत्ति या व्याख्या करके उनका अर्थ समझाया जा सके उन्हें व्युत्पन्ना कहते हैं जैसे 'खग' शब्दमें 'ख' का अर्थ है 'आकाश' और 'ग' का अर्थ है 'चलनेवाला' जिससे 'खग' शब्दका अर्थ हुआ 'पक्षी'। अव्युत्पन्ना ध्वनि वह कहलाती है जिसका अपना कोई अर्थ नहीं होता किन्तु उन्हें मिलाकर कोई शब्द अनायास बनाया जा सकता हैं; जैसे—टका, डंक, छाज, झोला आदि शब्दोंमें आनेवाली ध्वनियाँ।

मूल-ध्वनि (फ़ोनीम)

§ ५६. जिस मूल ध्वनिके मेलसे शब्द बनाए जाते हैं उसे मूल या आधार-ध्वनि (फ़ोनीम कहते) हैं।

मुखसे निकलनेवाली जिन ध्वनियोंका प्रयोग भाषामें होता है वे मुखमें किसी एक ही स्थानसे उच्चरित होती हैं। इस प्रकारकी ध्वनियोंको मूल-ध्वनि (फ़ोनीम) कहते हैं जिन्हें भ्रमसे कुछ लोगोंने ध्वनिमात्र, ध्वनिश्रेणी, ध्वनिग्राम या ध्वनितत्त्व कहा है। किन्तु ये ध्वनियाँ मूल-ध्वनि ही कहला सकती हैं क्योंकि इनका उच्चारण एक ही स्थान और प्रयत्नसे होता है, जैसे—पंक और बंकमें 'प' और 'ब' एक स्थान (ओष्ठ) से उच्चरित होते हुए भी भिन्न प्रयत्नके कारण और भिन्न शब्दोंमें प्रयुक्त होनेपर भिन्न अर्थ देनेके कारण भिन्न मूल ध्वनियाँ (फ़ोनीम) हैं। संस्कृतमें 'क' का अर्थ है 'जल' और 'ख' का अर्थ है आकाश। कण्ठ्य वर्ण होनेपर भी ये दोनों दो मूल या आधार कण्ठ्य ध्वनियाँ (फ़ोनीम) हैं। कभी-कभी सूक्ष्म अन्तर होनेपर भी उनकी कोई एक आधार ध्वनि ही होती है, जैसे—अँगरेजीके कीप, कूल और कौटके क की ध्वनिमें अन्तर तो है पर उसकी मूल-ध्वनि (फ़ोनीम) एक क ही है। ऐसी मूल ध्वनियाँ प्रत्येक भाषामें २० से ६० तक (संस्कृतमें ६३ या ६४) होती हैं। तमिल भाषामें तो एक-एक वर्गमें कुल दो ही दो ध्वनियाँ हैं—क वर्गमें क ङ, च वर्गमें च ञ, ट वर्गमें ट ण, त वर्गमें त न, प वर्गमें प म। वर्गके पहले अक्षरसे ही वे उस वर्गके अन्य तीन वर्णोंका अध्याहार कर लेते हैं। वे क लिखकर प्रसंगतः उसे क, ख, ग, घ चारों पढ़ लेते हैं। इस प्रकार तमिल भाषामें एक मूल-ध्वनि (फ़ोनीम) से ही अन्य तत्स्थानीय मूल-ध्वनियोंका भी अध्याहार कर लिया जाता है। तमिल भाषाकी यह अपनी विशेषता है। मूल-ध्वनि (फ़ोनीम) या आधार-ध्वनिका विचार नवीन भाषा-शास्त्रमें

अब होने लगा है। किन्तु पाणिनिने विक्रमसे तीन सौ वर्ष पहले ही इसका विशद निरूपण करके संस्कृतमें उच्चरित होनेवाले समस्त वर्णोंको वर्गोंमें विभक्त करके एक स्थानसे उच्चरित होनेवाली मूलध्वनियों (फ़ोनीम) को भी वैज्ञानिक क्रमसे सजा दिया है।

मूल-ध्वनि (फ़ोनीम) और मूलशब्द (मौर्फ़ीम)

§ ५७. मूल-ध्वनिके समान ऐसे मूलशब्द भी होते हैं जिन्हें और छोटा नहीं किया जा सकता। संस्कृतमें प्रत्येक वर्ण मूल-वर्ण भी है और मूल-शब्द भी।

संस्कृतकी एक अपनी विशेषता यह है कि उसमें केवल मूल वर्णोंसे ही शब्द नहीं बनते, वरन् वर्णोंमेंसे प्रत्येक वर्ण स्वयं भी अर्थ-पूर्ण होता है अर्थात् वह मूल-शब्द (मौर्फ़ीम) भी होता है। अन्य भाषाओंमें दो, चार, पाँच वर्ण ऐसे निकल आ सकते हैं जिनके अपने अर्थ भी हों जैसे अँगरेज़ीमें 'ए, आई, ओ'। किन्तु अन्य वर्णोंका स्वतः कोई अर्थ नहीं होता, कई वर्णोंको मिलाकर शब्द बनाए जाते हैं। इन शब्दोंमें कुछ मूलशब्द (मौर्फ़ीम) होते हैं जिन्हें तोड़कर उससे छोटा शब्द नहीं बनाया जा सकता जैसे 'जल' शब्द एक मूल शब्द (मौर्फ़ीम) है किन्तु 'खग' शब्द नहीं है क्योंकि उसे ख (आकाश) 'ग' (चलनेवाला) दो मूल शब्दोंमें तोड़ा जा सकता है। इसी प्रकार प्रत्यय, विभक्ति, उपसर्ग, परसर्ग, भी सब मूल शब्द ही हैं।

स्वर और व्यंजन

§ ५८. सम्पूर्ण मानवीय मौखिक ध्वनियोंके दो रूप होते हैं—स्वर और व्यञ्जन।

इन सम्पूर्ण वर्णोंको (मनुष्यके मुखसे निकलनेवाले सम्पूर्ण वर्णोंको) वैयाकरणोंने दो भागोंमें विभक्त कर दिया—स्वर और व्यंजन। ये स्वर और व्यंजन ही भाषाकी ध्वनि (स्पीच साउण्ड) कहलाते हैं। इनमेंसे कुछ वर्ण तो सभी भाषाओंमें समान रूपसे व्याप्त मिलते हैं और कुछ विभिन्न भाषाओंमें भिन्न हैं।

वर्णोंका वर्गीकरण

यह बताया जा चुका है (§ २) कि हमारे कंठमें विद्यमान काकली या स्वरयंत्रके भीतर दो सूक्ष्म तन्तु तने हुए हैं। जब भीतरसे आनेवाला वायु उन

तन्तुओंको बिना अधिक कँपाए और बिना किसी बाधाके वर्ण बनकर निकलता है, उस वर्णको अघोष कहते हैं। जब भीतरका वायु उन तन्तुओंको तानते या झकझोरते हुए बाहर निकलता है उसे घोष वर्ण कहते हैं। इन विभिन्न प्रकारके वर्णोंका सूक्ष्म भेद समझनेके लिये लैरिंगोस्कोप, स्ट्रोवास्को, एण्डोस्कोप, आउटोसोनोस्कोप, त्रिलिग फ़्लास्क, स्पाइरोमीटर, स्टेथोग्राफ़, न्यूमोग्राफ़, मोनोमीटर, फोनेटिक काइमोग्राफ, स्ट्राविलैरिंगोस्कोप, मोनोमीटरिक फ्लेम्स, आल्सटेरफोइर्फ, रिज़ोनेटर्स, ग्रामोफ़ोन, माइक्रोफ़ोन, औसिलोग्राफ़, और रेडियोग्राम नामके बहुतसे यंत्र बना लिए गए हैं किन्तु अत्यन्त सरलतासे यदि घोष और अघोष ध्वनियोंका अन्तर जानना हो तो अपने टेंटुएपर हाथ रखकर ही दोनों ध्वनियोंका अन्तर स्पष्ट जाना जा सकता है। अपने कंठकी काकलीके खुले मुखकी अनुभूति करनी हो तो 'ईऽऽ' कहकर मुँह खोलकर अलापना प्रारम्भ कर दीजिए तो आपकी जिह्वा दाँतोंके पीछे शान्त होकर लेटी रहेगी और काकलीके ऊपरका मुँह खुला दिखाई पड़ जायगा।

वर्णका स्थान

§ ५९. मुखमें जिस स्थानसे कोई ध्वनि उच्चरित की जाती है उसे उस ध्वनिका स्थान कहते हैं।

संस्कृतके शिक्षा-सूत्रोंमें वर्णोंके उच्चारणके आठ स्थान माने गए हैं—उर, कण्ठ, सिर, जिह्वा, मुख, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु। यदि हम संसार-भरकी भाषाओंके वर्णोंका वर्गीकरण करें तो उनके नीचे अंकित स्थान देखनेको मिलते हैं—

ध्वनि	स्थान	विवरण
अ्	कण्ठका मूल	
अ	कण्ठका मध्य	
अ़ (जिह्वामूलीय)		बोलनेके साथ मुँह और नाकके बीचका द्वार बन्द करके, जैसे पुर्तगालीमें है। अ़रबीमें भी ऐसा ही है।
अइ (ऐ)	कण्ठ + तालु	

अए (ऐ)	कण्ठ + तालु	
अउ (औ)	कण्ठ + ओष्ठ	
अओ (औ)	कण्ठ + ओष्ठ	
आ	कण्ठ	
आ	जिह्वामूल	बोलनेके साथ मुँह और नाकके बीचका द्वार बन्द करके, जैसे पुर्तगालीमें है।
आइ	कण्ठ + तालु	जैसे जर्मन और अँगरेज़ीमें है।
आउ	कण्ठ + ओष्ठ	जैसे जर्मना और अँगरेज़ीमें है।
इ	तालु	
इ	ओष्ठ	जैसे .फ्रांसीसीमें दोनों ओठ आगे निकाल कर इ बोलते हुए।
इआओ	तालु + कंठ + ओष्ठ	
ई	तालु	
ई़	निम्न दन्त + ओष्ठ	आगेसे ई और भीतरसे ऊ बोलना जैसे रूसी और तुर्कीमें है।
ईअऽ	तालु + कण्ठ	
उ	ओष्ठ	
उअऽ	ओठ + कण्ठ (शुअऽ)	
उआ	ओठ + कण्ठ (चीनी)	
उई	ओठ + तालु (चीनी)	
उए	ओठ + तालु (चीनी)	
उओ	ओठ + कण्ठ + ओठ (चीनी)	
ऊ	ओष्ठ	
ऊ़	ओष्ठ	(ऊ उमलाउट) जैसे जर्मन और .फ्रांसीसीमें।
ए	कण्ठ + तालु	
एअऽ	कण्ठ + तालु + कण्ठ	

.ए.	ओष्ठ	जैसे .फ्रांसीसीमें ।
एउ	कण्ठ + तालु + ओष्ठ	जैसे चीनीमें ।
एओ	कण्ठ + तालु + ओष्ठ	जैसे फ्रांसीसीमें ।
ओ॒	कण्ठ + ओष्ठ	ओका ह्रस्व उच्चारण
ओ	कण्ठ ओष्ठ	
ओ़	ओष्ठ + दन्त	जैसे ओ़ उमलाउट निम्न जर्मनमें ।
ओए	ओष्ठ + कण्ठ + तालु	जैसे जर्मन तथा अँगरेज़ीमें है ।
औ(अउ)	कण्ठ + ओष्ठ	जैसे संस्कृतके 'औदार्य' शब्दमें ।
औ(अओ)	कण्ठ + ओष्ठ	जैसे फ़ारसीके 'फ़ौरन्' शब्दमें ।
अं	कण्ठ + ओष्ठ + नासिका	
अँ	कण्ठ + नासिका-गुंजन	
अः	कण्ठ या जिह्वामूल	
क्	कण्ठ	
क़	जिह्वामूल	
ख	कण्ठ	
ख़	जिह्वामूल	
ग	कण्ठ	
ग़	जिह्वामूल	
घ	कण्ठ	
घ़	जिह्वामूल	
ङ	कण्ठ + नासिका	
ङ़	कण्ठ + नासिका	ङ्ग् के समान, जैसे चीनीमें ।
च	तालु	
च़	वर्त्स	
छ	तालु	
छ़	वर्त्स	
ज	तालु	
ज़़	तालु	भीतर साँस लेकर जैसे सिन्धीके 'ज़़िब्भ' (कीचड़) शब्दमें ।

ज़	वर्त्स	जैसे फ़ारसीके 'ज़मीन' शब्दमें।
ज़...	कंठ-मूल	जैसे तमिळके कज़...गम् शब्दमें। इसे ष़ भी लिखते हैं और ऴ भी।
झ	तालु	
झ़	वर्त्स	
झ़.	दन्त + वर्त्स	जैसे चीनीमें।
ञ	तालु + नासिका	
ञ़	तालुपर चोट देकर नाकसे	जैसे स्पेनीमें।
ट	मूर्धा	
ट़	दन्त + वर्त्स	ऊपर दाँतके पीछे जीभ छूकर।
ट़.	दन्त + वर्त्स	जैसे स्पेनीमें
ट...	दन्त + काकल	जैसे चीनी भाषाके ट्हेल... शब्दमें।
ड	मूर्धा	
ड़	कण्ठ	जीभकी नोक उलटकर कण्ठ-मूलमें थपककर।
ड़.	वर्त्स + दन्त	जैसे स्पेनीमें दन्त्य द्य।
ढ	मूर्धा	
ढ़	मूर्धा	मूर्धापर जीभकी चोट देकर।
ण	मूर्धा	
त	दन्त और कहीं-कहीं वर्त्स	
थ	दन्त और कहीं-कहीं वर्त्स	
थ़	दन्त + जिह्वा	ऊपरके दाँतके तले जीभका ऊपरी भाग छूकर, जैसे अँगरेज़ीके थ़ौट शब्दमें।
द	वर्त्स या दन्त या तालु	
द़	तालु	भीतर साँस लेकर जैसे सिन्धीके देदी़ (मेंढक) शब्दमें।
द़.	वर्त्स	जैसे अँगरेज़ीके देअर (वहाँ) शब्दमें।

ध	तालु या दन्त या वर्त्स	
न	वर्त्स + नासिका या तालु + नासिका या दन्त + नासिका	
प	श्रोष्ठ + काकल	प में साँसकी धौंक देकर जैसे चीनीमें प्ः।
फ	श्रोष्ठ	
फ़	दन्त + श्रोष्ठ	जैसे फ़ारसीमें।
ब	श्रोष्ठ	
ब़	श्रोष्ठ	भीतर साँस लेकर जैसे सिन्धीके ब़करी शब्दमें।
भ	श्रोष्ठ	
म	श्रोष्ठ + नासिका	
य	तालु	
र	मूर्धा	
ऱ	कण्ठ	जैसे फ्रांसीसी और जर्मनमें।
रँ	अनुनासिक	जैसे रँगाई शब्दमें।
रं	कम्पित तालु	जैसे इटैलियनमें।
र॔॔॔	अधिक तालु-कम्पित	जैसे आइरिश शब्द बेगोर्र॔॔॔ में।
ऋ	मूर्धा	
ॠ	मूर्धा	
ल	दन्त	
ल़	मूर्धा	मूर्धापर जीभकी नोकका आघात देकर।
ळ	कण्ठ	जीभकी नोकको मूर्धापर रगड़कर।
ऌ	तालु	तालुपर जीभकी नोकका नीचेका भाग अटकाकर छोड़नेसे।
व़	श्रोष्ठ	जैसे अँगरेज़ीके '.वेल' शब्दमें।
व	दन्त-श्रोष्ठ	ऊपरके दाँतके तले नीचेका ओठ लगाकर जैसे अँगरेजीके 'वेरी' शब्दमें।
व	संकुचित श्रोष्ठ	ओठ सिकोड़कर जैसे स्पेनीमें।
श	तालु	
ष	मूर्धा	
स	दन्त	

स़	दन्त-वर्त्स	जैसे अरबीके स़न्दूक़ शब्दमें।
स़.	दन्त-जिह्वा	दोनों दाँतोंके बीच जीभ लगाकर।
स...	दन्त	सिसकारी देकर जैसे मलायी भाषामें।
ह	कण्ठ	
ह़	जिह्वामूल या काकल	उसाँस मात्र।
ह़.	काकल	गहरी उसाँससे जैसे स्पेनीमें।

पुर्त्तगालीमें साघात (स्ट्रेस्ड) स्वरको लम्बा करके और अनाघात (अनस्ट्रेस्ड) को अस्पष्ट बोलते हैं। इटैलियनमें स्वर चाहे साघात (स्ट्रेस्ड) कर हो या अनाघात (अनस्ट्रेस्ड) झटकेके साथ हो, दोनों बराबर होते हैं—जैसे पाद्रे, दोन्ना, बेक़्न।

उच्चारण-स्थानके अनुसार ध्वनियोंका वर्गीकरण

§ ६०. उच्चारणका स्थान वही माना जाता है जहाँ जीभ या ओठके प्रयोगसे ध्वनि निकलती है।

नीचे संसार-भरकी बोलियोंकी ध्वनियोंको उनके बोलनेके स्थानके क्रमसे दिया जा रहा है—

काकल—अ़ (अरबी), क़, ख़, ग़, घ़, ह, आ़ (मुँह और नाकके बीचका द्वार बन्द करके), ह़ (गम्भीर ऊष्म जैसे स्पेनीमें), अँ।

जिह्वामूल—अ़, क, ख, ग, घ, क़, ख़, ग़, घ़, ह़।

कण्ठ—अ, क ख ग घ ङ, ऱ (फ्रांसीसी, जर्मन), आ, ड़, ह,।

तालु—इ, ई, च, छ, ज, झ, ञ, य, श, रँ (कम्पित तालु इटैलियन), रँ॰॰॰ (अधिक तालु कम्पित जैसे आयरिश बेगोर्रा॰॰॰ शब्दमें)।

मूर्धा—ऋ, ॠ, ऌ, ट, ठ, ड, ढ, ण, र, श, ड़, ढ़, ळ, ऱ्ह, र, ष, ष़ (तमिल,) ह्ज़ (चीनी)।

वर्त्स—च़ (मराठी), ज़ (गुजराती), झ़ (चीनी), ञ्य (स्पेनी), ड़ (द्य स्पेनी, ऊपर दाँतोंके पीछे जीभकी नोक लगाकर), त़, थ़, द़, ध़, न्ह, ऱ्ह, स़।

दन्त—त, थ, द, ध, न, लृ, ल, स।

दन्ताग्र—स, थ़ (ऊपरके दन्ताग्रसे जीभ लगाकर जैसे अँगरेज़ीके थ़ौट शब्दमें)।

ओष्ठ्य वर्ण पाँच प्रकारके होते हैं—

१—स्पृष्ट : प, फ, ब, भ, म।

२—कुंचित : उ, ऊ, व़ (स्पेनी)।

३—प्रसारित : इ, ई (ई के लिये ओठ फैलाकर भीतरसे ऊ बोलना जैसे रूसी और तुर्कीमें)।

४—प्रलम्बित : ओ ओ, .ओ, औ, व़, स (ओठ निकालकर सिसकारी देकर जैसे मलायोमें), .ओ (जर्मन उमलाउट) र की ध्वनिके साथ, ए (फ्रान्सीसी), इ (फ्रांसीसी इउ)।

नासिका—ङ, ञ, ण, न, म, अँ के साथ सब व्यंजन (अनुनासिक) तथा ङ़ (चीनी)।

कण्ठतालु—ए, ऐ, अइ, अए, आइ (जर्मन, अँगरेज़ी), ऐ।

कण्ठोष्ठ—ओ, औ, आउ (अँगरेज़ी, जर्मन आदिमें)।

कण्ठोष्ठ + तालु—ओए।

कण्ठ + तालु + ओष्ठ—एउ (चीनी)।

कण्ठ + तालु + कण्ठ—एअऽ (अँगरेज़ी)।

तालु + कण्ठोष्ठ—एओ (फ़्रांसीसी), इआओ (फ़्रांसीसी)।

दन्त + वर्त्स—त्स (जर्मन), त्स, ज़।

दन्तोष्ठ—फ़, व़,।

ओष्ठ + कण्ठ—उअऽ, उआ (चीनी), ऊअ।

ओष्ठ + कण्ठ + तालु—उए (चीनी)।

ओष्ठ + कण्ठोष्ठ—उओ (चीनी)।

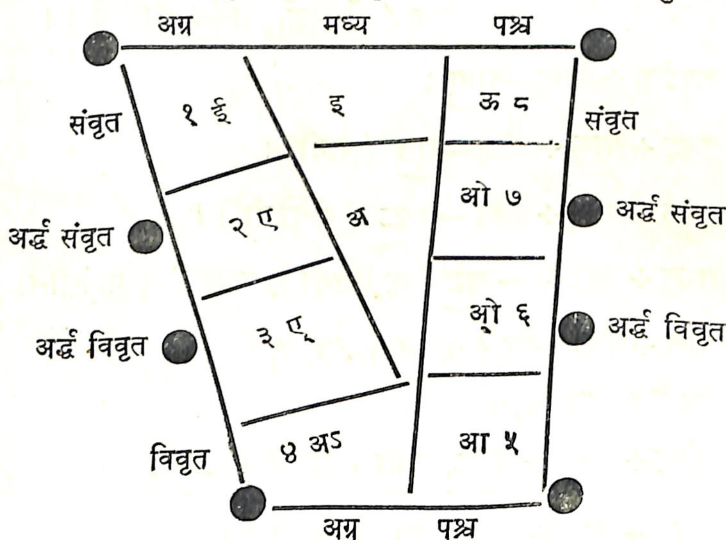
पाणिनिने संस्कृत और वैदिक संस्कृतमें आनेवाली सब ध्वनियोंको वर्गक्रमसे बाँधकर इस प्रकार रख दिया है—

वर्ण	स्थान
अ, क, ख, ग, घ, ङ, ह	कण्ठ
इ, च, छ, ज, झ, ञ, य, श	तालु
ऋ, ट, ठ, ड, ढ, ण, र, ष	मूर्धा
लृ, त, थ, द, ध, न, ल, स	दन्त
उ, प, फ, ब, भ, म, उपध्मानीय वर्ण	ओष्ठ
ङ, ञ, ण, न, म	नासिका
व	दन्त और ओष्ठ

मूल स्वर (कार्डिनल वौवेल्स)

§ ६३. डैनियल जोन्सने ८ मूल स्वर माने हैं।

डैनियल जोन्सने मुखसे उच्चरित होनेवाले स्वरोंका वर्गीकरण करके निर्धारित किया है कि मूल स्वर केवल आठ ही हैं जिन्हें ओष्ठके फैलाने या सिकोड़नेके आधारपर चार भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—विवृत, अर्द्धविवृत, अर्द्धसंवृत और संवृत अर्थात् मुखको चौड़ाकर बोला हुआ, आधा चौड़ाकर बोला हुआ, थोड़ा सँकरा करके बोला हुआ और बहुत सँकरा करके बोला हुआ।



इन मूल स्वरोंमेंसे अ तो बीचके तालुपर जीभका अटकाव देकर बोला जाता है। अऽ ए॒ ए और ई को पूरी जिह्वाके अग्रभागको

कठोर तालुकी ओर कुछ उठाकर भीतरकी साँसको कठोर तालुतक टकराकर उच्चरित किया जाता है और आ ऑ ओ और उ को जीभके पिछले भागके कोमल तालुकी ओर थोड़ा बढ़ाकर बोला जाता है। कुछ विद्वानोंने इन मूल स्वरोंको दो वर्गोंमें विभक्त कर दिया है—साधारण मूल स्वर (प्राइमरी कार्डिनल वौवेल्स) और गौण मूल स्वर (सेकेण्डरी कार्डिनल वौवेल्स) ।

उच्चारणमें प्रयत्न

§ ६१. उच्चारणमें स्थानका ही नहीं, प्रयत्नका भी महत्त्व होता है।

पाणिनिने वर्णोंके उच्चारणके लिये केवल स्थान मात्रका ही निर्देश नहीं किया। उन्होंने बताया है कि ये सब वर्ण विशेष प्रयत्नके साथ उच्चरित किए जाते हैं। ये प्रयत्न दो प्रकारके होते हैं—आभ्यन्तर (भीतरी) और बाह्य (बाहरी)। अ, इ उ और ऋका विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा कि ये सभी स्वर ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेदसे बोले जाते हैं। एक झटकेके साथ उच्चारण करना ह्रस्व, दुहरा बल देना दीर्घ, अधिक लम्बा करके बोलना प्लुत कहलाता है जैसे—अ ह्रस्व है, अऽ (आ) दीर्घ है और अऽऽ (आऽ) प्लुत है। इतना ही नहीं, जो वर्ण मुखके ऊपरी खंडसे ऊँचे स्वरसे बोल जाते हैं वे उदात्त कहलाते हैं। जो न बहुत धीरे न बहुत ऊँचे वरन् सामान्य स्वरसे बोल जाते हैं वे स्वरित कहलाते हैं और जो धीमे स्वरसे बोले जाते हैं वे अनुदात्त कहलाते हैं। इन सबके भी दो-दो भेद हैं—अनुनासिक और अननुनासिक। इन स्वरोंके मेलसे ए ऐ ओ औ मिश्र स्वर भी बनते हैं जिनमेंसे ए ऐ का कण्ठतालु स्थान है और ओ औ का कण्ठोष्ठ। इनके अतिरिक्त अनुस्वारका स्थान नासिका है और जिह्वामूलीयका जिह्वामूल है। पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागरने क वर्गका उच्चारण-स्थान जिह्वामूल माना है।

आभ्यन्तर प्रयत्न

§ ६२. मूल वर्णोंका स्पष्ट उच्चारण करनेके लिये आभ्यन्तर और बाह्य दो प्रकारके प्रयत्न करने पड़ते हैं।

पाणिनिने बताया है कि एक वर्गकी सवर्गीय ध्वनियोंके उच्चारण करनेमें विभिन्न प्रकारका प्रयत्न करनेसे ही उनका अन्तर स्पष्ट होता है। ये

प्रयत्न आभ्यन्तर और बाह्य नामसे दो प्रकारके होते हैं। आभ्यन्तर प्रयत्न पाँच प्रकारका होता है—१. स्पृष्ट : जिह्वा या ओष्ठका स्पर्श करके; २. ईषत्स्पृष्ट : ओष्ठ और जिह्वाके सूक्ष्म स्पर्शसे; ३. ईषद्विवृत : थोड़ा मुख खोलकर बोलनेसे; ४. विवृत : अधिक मुख खोलकर बोलनेसे; ५. संवृत : मुँह बन्द करके बोलनेसे। क से म तक जितने वर्ण हैं उन्हें स्पर्श वर्ण कहते हैं क्योंकि उनका उच्चारण करते हुए स्पृष्ट प्रयत्न होता है अर्थात् जिह्वा या दोनों ओठोंका स्पर्श करना पड़ता है। य र ल व अर्थात् अन्तःस्थ वर्णोंका उच्चारण करते समय जिह्वा या ओष्ठका बहुत कम प्रयोग करना पड़ता है, अतः इनमें ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न होता है। श ष, स और ह अर्थात् ऊष्माके उच्चारणमें मुख कुछ थोड़ा खुला रखना पड़ता है इसलिये इनका ईषद्विवृत प्रयत्न कहलाता है। आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ का उच्चारण करनेके लिये मुख खुला रखना पड़ता है इसलिये इनके उच्चारणमें विवृत प्रयत्न करना पड़ता है। सामान्य अ या ह्रस्व ह के उच्चारणमें मुख खोलनेकी अधिक आवश्यकता नहीं होती। अतः, इसके लिये संवृत प्रयत्न करना पड़ता है। किन्तु जब यही ह्रस्व अ अन्य वर्णोंके साथ मिलाकर प्रयुक्त किया जाता है तब उसका प्रयत्न विवृत हो जाता है। पाणिनिके समयमें अ का उच्चारण भी विवृत था जैसा अब भी पंजाबमें बोला जाता है।

बाह्य प्रयत्न

§ ६४. बाह्य प्रयत्नसे भी वर्णका उच्चारण स्पष्ट होता है।

जिस प्रकार आभ्यन्तर प्रयत्नसे ध्वनिमें अन्तर हो जाता है उसी प्रकार बाह्य प्रयत्नसे भी होता है। ये बाह्य प्रयत्न ११ प्रकारके होते हैं—१. विवार (मुँह खोलना), २. संवार (मुख सँकरा करना), ३. श्वास (साँसकी धमक देना), ४. नाद (ध्वनिकी धौंक देकर बोलना), ५. घोष (ध्वनिको गम्भीर करके बोलना), ६. अघोष (बिना गम्भीर किए हुए बोलना), ७. अल्पप्राण (श्वासकी थोड़ी ठसक देना), ८. महाप्राण (श्वासकी अधिक ठसक देना), ९. उदात्त (स्वर ऊँचा चढ़ाकर बोलना), १०. अनुदात्त (स्वर नीचा करके बोलना), ११. स्वरित (मध्यम स्वरसे बोलना)।

पाणिनिने इन बाह्य प्रयत्नोंके अनुसार संस्कृत वर्णमालाका निम्नांकित क्रम निर्धारित किया है—

१. ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स : विवार, श्वास, अघोष प्रयत्न ।

२. ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द : संवार, नाद, घोष प्रयत्न ।

३. क, ग, ङ, च, ज, ञ, ट, ड, ण, त, द, न, प, ब, म, य, र, ल, व : अल्पप्राण प्रयत्न ।

४. ख, छ, ठ, थ, फ, घ, झ, ढ, ध, भ, श, ष, स, ह : महाप्राण प्रयत्न ।

पाणिनिने क से म तकके वर्णोंको स्पर्श; य व, र, ल को अन्त:स्थ; श, ष, स, ह को ऊष्म; अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ को स्वर बताया है। भीतर साँस लेकर आधे विसर्गकी धौंक देकर गलेसे ⌓ : क ⌓ : ख का उच्चारण करनेके स्थानको जिह्वामूलीय, आधे विसर्गकी धौंक देकर भीतर साँस लेकर ⌓ : प ⌓ : फ के उच्चारण स्वरको उपध्मानीय; अं के ऊपर लगे हुए म् को अनुस्वार और अ के आगे साँससे ह के उच्चारणको विसर्ग (:) बताया है। पाणि ने यह भी बताया है कि ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा अनुनासिक और अननुनासिक भेदसे अ इ उ वर्ण अठारह-अठारह प्रकारके, ऋ और लृ तीस-तीस प्रकारके; ए ऐ, ओ, औ बारह-बारह प्रकारके तथा य, व, ल अनुनासिक और अनुनासिक भेदसे केवल दो प्रकारके होते हैं।

अत्यनुदात्त

§ ६५. कभी-कभी उच्चारणमें अत्यनुदात्त प्रयत्न भी किया जाता है।

कभी-कभी परस्पर एक दूसरेसे कोई गोपनीय बात कहनेके लिये अथवा किसी सभा या गोष्ठीमें बाधा न देनेके विचारसे लोग फुसफुसाकर बोलते हैं। इस प्रकारकी बात-चीतमें स्थान और प्रयत्नके क्रमसे सब ध्वनियोंका उच्चारण अत्यनुदात्ता अर्थात् बहुत धीमा होता है। इसमें अत्यनुदात्त प्रयत्नसे ध्वनि निकाली जाती है।

स्पर्श ध्वनियोंके भेद

§ ६६. स्पर्श वर्ण पाँच प्रकारके होते हैं—कण्ठ्य, मूर्धन्य, तालव्य, दन्त्य तथा ओष्ठ्य ।

ऊपर बताया जा चुका है कि क से म तक उच्चरित होनेवाले वर्ण

स्पर्श कहलाते हैं क्योंकि उनके उच्चारणमें ओष्ठ या जिह्वाका स्पर्श होता है। ये स्पर्श ध्वनियाँ पाँच प्रकारकी होती हैं—१. कंठ्य, (वेलर), २. मूर्धन्य (सेरेब्रल); ३. तालव्य (पेलेटल), ४. दंत्य (डेण्टल) तथा ५. ओष्ठ्य (लेबियल)। इन विभिन्न प्रकारके स्पर्श वर्णोंका विवरण पाणिनिने इस प्रकार दिया है—

१. कंठ्य (वेलर) ध्वनियोंका उच्चारण जीभके अगले भागको हाथीकी सूँड़के सामान मुखमें आगे झुकाकर और पीछेका भाग गलेमें अटकाकर साँस छोड़नेसे होता है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागरने अ, क, ख, ग, घ, ङ का उच्चारण-स्थान कंठ न मानकर जिह्वामूल माना है (जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तः)। आजकल सामान्यतः क और ग का उच्चारण कंठसे कुछ ऊपर कोमल तालुपर जिह्वाके पिछले भागको अटकाकर होता है। किन्तु ख और घ को गलेमें ही जीभ अटकाकर बोलते हैं इसलिये हमारा वर्त्तमान क और ग कंठ्य न रहकर कोमल तालुवाला हो गया है। दक्षिण भाषी-भाषी इसका उच्चारण कंठ्य ही करते हैं।

२. मूर्धन्य (सेरेब्रल) वर्णोंका उच्चारण जिह्वाकी नोकको मुखके भीतर ऊपरके भागके बीच (मूर्धा) में अटकाकर किया जाता है, जैसे—ट, ठ, ड, ढ, ण, ऋ, र, ष, ।

३. तालव्य (पेलेटल) वर्णोंके उच्चारणके लिये जिह्वाकी नोकको ऊपर दाँतोंके भीतरी मसूड़ेसे कुछ ऊपर तालुपर लगाया जाता है—जैसे च, छ, ज, झ। कुछ विद्वानोंने इन्हें भूलसे तालव्य संघर्ष-स्पर्शी मान लिया है क्योंकि उनका कथन है कि च का उच्चारण केवल जिह्वाके स्पर्श मात्रसे नहीं वरन् जिह्वाके घर्षणसे होता है। यह घर्षोच्चारण मराठीमें वर्त्स्य च़ के उच्चारणमें ही होता है किन्तु हिन्दीका च शुद्ध तालव्य ही है। कुछ विद्वानोंका यह भी अनुमान है कि च, छ, ज, झ, ञ का उच्चारण पहले मूर्धा और कंठके बीचमें जिह्वा स्पर्श करनेसे होता था जैसा अब भी सिन्धीके ज॒ञ्ञा (बारात) के ज॒ में।

४. दन्त्य (डेण्टल) वर्णोंका उच्चारण जिह्वाकी नोक ऊपरके अगले दाँतोंके पीछे लगाकर किया जाता है जैसे त, थ, द, ध, न। इनमेंसे 'न' अब तालव्य बन गया है और अन्य ध्वनियाँ भी दन्त्यके बदले वर्त्स्य हो चली हैं।

५. ओष्ठ्य (लेबियल) ध्वनियोंका उच्चारण दोनों ओठोंके द्वारा साँस देनेसे होता है—जैसे प, फ, ब, भ, म।

इस विवरणसे स्पष्ट हो जाता है कि पाणिनिके समयमें जिन वर्णोंका उच्चारण जिन स्थानोंसे होता था उनके स्थान अब बहुत बदल गए हैं और कुछ नई ध्वनियाँ भी आ गई हैं जैसे हिन्दीमें ही ष को श और ख दो प्रकारसे उच्चरित करते हैं। इसी प्रकार ज्ञ को गुजरातमें ग्न, मराठीमें द्न्य, पञ्जाबमें ग्य, बङ्गालमें ग्गो, उत्तर प्रदेशमें ग्यँ और वेदपाठी लोग मूल उच्चारणके अनुसार ज्ञ पढ़ते हैं। मराठोमें च और ज का उच्चारण च़, ज़ होता है अर्थात् च़ के लिये तालुपर जीभ अटकाकर और ज़ के लिये दाँतके पीछे जीभ अटकाकर बोलते हैं। हिन्दीमें त, थ, द, ध, न का उच्चारण ऊपर दाँतके पीछे जीभ अटकाकर बोलनेके बदले ऊपरी मसूड़ेपर जीभ अटकाकर किया जाता है। अँगरेज़ीमें थ़ौट शब्दमें थ़ का उच्चारण ऊपरके दाँतकी कोनेके नीचे जीभ फैलाकर किया जाता है। यद्यपि हिन्दीमें संस्कृतकी ही वर्णमाला स्वीकार की गई है तथापि उस भाषामें बहुत सी देशी और कुछ विदेशी ध्वनियाँ भी आ गई हैं, जैसे—ड़, ढ़, म्ह, न्ह, ल्ह, क़, ख़, ग़, ज़, फ़ आदि। इन सब प्रकारकी ध्वनियोंके उच्चारणमें जिह्वा सबसे अधिक सहायक है। वह कभी मुखके भीतर किसी स्थानको स्पर्श करती है, कभी उठी रहती है कभी आघात करती, कभी आघात नहीं करती, कभी कम्पन करती, कभी नीचे लेटती और कभी टंकार देता है।

डायोफ़ोन (बहुल सम-ध्वनि)

§ ६७. कभी-कभी एक ही ध्वनि कई प्रकारसे उच्चरित होती है। इन सब प्रकारोंके समूहको बहुल-सम ध्वनि कहते हैं।

ध्यान देनेपर तथा बहुत-सी बोलियोंके सुननेपर जान पड़ेगा कि एक शब्दमें आनेवाले एक ही स्वरको एक ही भाषा बोलनेवाले लोग कई ढंगसे बोलते हैं; जैसे—'कौन' शब्दको पश्चिमी उत्तरप्रदेशमें कओन; अवधी और भोजपुरीमें कउन, राजस्थानमें कुण और कोन; अवधी तथा भोजपुरीके कुछ भागोंमें कवन बोला जाता है। ऐसे ही शब्दके अन्तके ए का ब्रजमें ऐ हो जाता है, जैसे—उसनै। इस प्रकार बहुत ढंगोंमें सुनाई पड़नेवाली एक ही ध्वनि बहुल-सम ध्वनि (डायोफ़ोन) कहलाती है।

क्लिक (.क्लै क़्लै ध्वनियाँ)

§ ६८. सभी भाषाओंमें कुछ ध्वनियाँ जीभकी चटकारी देकर बोली जाती है किन्तु उनके लिये वर्णमालामें अक्षर नहीं होते।

सभी भाषाओंमें कुछ ऐसी भी ध्वनियाँ हैं जो दया-घृणा-प्रदर्शन अथवा गाय, बैल, घोड़ा हाँकने या चुमकारी भरनेके लिये काममें आती हैं। इनमेंसे कुछ तो दाँत, मसूड़े या तालुपर जीभकी अगाड़ी चटकाकर बोली जाती हैं किन्तु चुम्बनवाली ध्वनि दोनों दाँत और ओठोंके पीछे जीभ जमाकर चुमकारी देनेसे निकलती है। पश्चिम उत्तम प्रदेश (मेरठके आसपास) में 'हाँ' के लिये पुचकारी देने और नहींके लिये 'चटकारी' (क्ल़ै) देनेकी सामान्यतया चलन है किन्तु इनके लिये कोई लेख-संकेत या अक्षर नहीं होते।

अफ़्रीकाकी कुछ बोलियों और बुशमैनीमें ऐसी ध्वनियाँ बहुत हैं जिनमें मुख-विवरके ऊपर बोली जानेवाली (मूर्धन्य), तालुसे बोली जानेवाली, जीभके दोनों ओर वायुकी बाट छोड़कर बोली जानेवाली, दाँतके पीछे जीभ अटकाकर बोली जानेवाली और ओठसे बोली जानेवाली अनेक ध्वनियाँ हैं।

पार्श्विक, लुंठित और सङ्घर्षी

§ ६९. पार्श्विक, लुंठित और सङ्घर्षी भेद मानना ठीक नहीं है।

कुछ विद्वानोंने बताया है कि ल ध्वनि जब हम मुँहसे निकालते हैं तब हम जीभकी नोकको ऊपरके मसूड़ेके पीछे अटकाते तो हैं पर उसके दोनों ओर भीतरकी साँस निकालनेके लिये स्थान खुला रखते हैं इसलिये इसे पार्श्विक कहना चाहिए। पर ऐसा तो ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, और च, छ, ज, झ के लिये भी होता है।

ऐसे ही लुंठित या आलोडित ध्वनिमें भी जीभकी नोक तालुपर जाती तो है पर वह जीभको वहाँ कँपाकर, साँस निकालकर बोली जाती है। इसी प्रकार र को अनेक प्रकारसे कहीं तालुपर, कहीं मूर्धापर और कहीं जीभके नीचेके भागको मूर्धापर घुमाकर टेकनेसे बोला जाता है किन्तु वह लुंठन या आलोडन नहीं वरन् कम्पन होता है।

इसी प्रकार स बोलते हुए जीभ रगड़ती नहीं है। उसमें दाँतके पीछे भी जीभ टेकनी पड़ती है।

जिन्होंने ड़ को उत्क्षिप्त या ऊपर फेंका हुआ कहा है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि ड़ बोलते हुए भी हम पिछले तालुपर जीभका अटकाव देकर बोलते हैं। इसलिये पार्श्विक, लुंठित और सङ्घर्षी भेद मान्य नहीं हैं।

संयुक्त ध्वनियाँ

§ ७०. विभिन्न वर्णोंके संयोगसे संयुक्त वर्ण भी बनाए जाते हैं।

जितनी ध्वनियाँ हैं उन सबको परस्पर मिला सकते हैं इसलिये स्वरसे स्वर, व्यञ्जनसे स्वर और व्यञ्जनसे व्यंजन मिलाकर संयुक्त वर्ण बना लिए जाते हैं जैसे—ऐ (अ + ए); टक्कर (क् + क्); का (क + आ)।

ध्वनियोंके गुण

§ ७१. ध्वनिमें तीन गुण होते हैं—मात्रा, स्वर और आघात।

मौखिक ध्वनियोंके उच्चारणमें तीन बातें देखनेको मिलती हैं—खिंचाव या मात्रा, चढ़ाव-उतार या स्वर और चोट या ठोकर या आघात। इन्हें ही क्रमशः मात्रा, स्वर और आघात कहते हैं।

मात्रा

§ ७२. किसी भी ध्वनिको बोलनेमें जो समय लगता है उसकी नापको मात्रा कहते हैं।

मात्राएँ तीन प्रकारकी होती हैं—१. इकहरी (ह्रस्व), हाथसे एक ताली बजानेके समयमें बोली हुई ध्वनि; २. दुहरी (दीर्घ), जो दो बार ताली बजानेतक खिंचे; और ३. लम्बी (प्लुत), जिसमें ध्वनिका खिंचाव दुहरेसे लम्बा हो जाय, जैसे—'ओऽऽ' को लम्बा खिंचाव देकर पुकारते हुए। संगीतमें तो एक ही ध्वनि एक मात्रासे लेकर बीस-बीस मात्रा-तक खींची जा सकती है। कभी-कभी दो व्यंजन तथा मिश्र वर्ण एक ही मात्रामें बोले जाते हैं। इनमेंसे जो मिश्र वर्ण किसी शब्दके प्रारंभमें आते हैं वे तो एक मात्रामें ही बोले जाते हैं जैसे—प्रथम, स्वगत, क्रम तथा श्रमके प्र, स्व, क्र, और श्र। पर जब ये मिले हुए व्यंजनोंवाले वर्ण किसी शब्दके बीचमें आते हैं तब वे दुहरी मात्रावाले हो जाते हैं। जैसे यदि अप्रधान कहना हो तो कहेंगे अप्-प्रधान। छन्दःशास्त्रमें ऐसे स्थानपर यह मान लिया गया है कि मिश्र व्यंजन वर्णसे पहले आनेवाले ह्रस्व वर्णको दो मात्रावाला गिनना और समझना चाहिए जैसे 'विप्र' शब्दका 'वि' या 'अभ्र' शब्द का 'अ' दो मात्रावाला माना जाता है।

आधी मात्रा

बहुत-सी ऐसी भी ध्वनियाँ हैं जिनमें आधी मात्रा ही लगाई जाती है। शब्दके बीच आनेवाले सब मिले हुए (संयुक्त) व्यंजनवाले अक्षरोंमेंका पहला वर्ण आधी मात्रामें बोला जाता है, जैसे—कल्पना, पर्वत, प्रस्तार शब्दोंमें ल् र् प् और स्।

चौथाई मात्रा

कुछ ध्वनियाँ ऐसी भी हैं जिनमें व्यंजन बहुत हलकेसे छूते हुए लगाकर बोले जाते हैं। इन्हें स्पर्श मात्रिक या चौथाई मात्रावाले कह सकते हैं, जैसे—कुम्हार, तुम्हारा, उन्होंने, चूल्हा, भेज्यो, कह्यो, कऱ्यो, या मराठीके दुसऱ्या शब्दोंमें आए हुए म्ह, न्ह, ल्ह, ज्य, ह्य, ऱ्यके म, न, ल, ज, ह्, र। ये ध्वनियाँ प्राकृत ध्वनियोंके बम्हण, खन्ध, कल्हार और संस्कृतके सह्य और चतुर्थमें आए हुए म्ह, न्ह, ल्ह, ह्य और र्थ के म, न, ल, और ˚ से भिन्न हैं।

इससे समझा जा सकता है कि चौथाई मात्रावाले, आधी मात्रावाले, एक मात्रावाले (ह्रस्व) और दुहरी मात्रावाले (दीर्घ) वर्णोंका भी भाषामें प्रयोग होता है पर कभी-कभी पुकारनेमें हम तिहरी या बहुतेरी मात्रावाली ध्वनियाँ भी काममें लाते हैं और उन्हें 'ओ ३' या 'ओऽऽऽ' लिखकर समझाते हैं।

कभी-कभी दुहरी मात्रावाले अक्षर लिखनेमें तो दुहरी मात्राके होते हैं पर बोलनेमें एक मात्रामें ही बोले जाते हैं, जैसे—ओसारा, कोहनी, एक्काके ओ, को और ए। योरपकी कुछ भाषाओंमें और भारतकी दक्षिणी भाषाओंमें ए, ओ को भी एक मात्रामें ह्रस्व बोला जाता है। उर्दू, अवधी और ब्रजकी कविताओंमें दो मात्रावाली (दीर्घ) ध्वनियाँ कभी-कभी एक मात्रामें (ह्रस्व) पढ़ी या बोली जाती हैं जैसे—

> अवधेशके द्वारे सकारे गई, सुत गोद कै भूपति लै निकसे।
>
> अवलोकि हौं सोच-विमोचनको ठगि सी रही जे न ठगे धिकसे॥

—में के, रे, रे, कै, हौं, ही।

उर्दू ग़ज़ल पढ़ते हुए बहुत-से दो मात्रावाले वर्णोंको एक मात्रामें पढ़नेकी चलन है, जैसे—

आए वो मेरे पास तो शरमाके चल दिए।
आँचलको कुछ सँभालके कतराके चल दिए॥

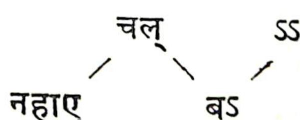
—में वो, मे, तो, के, को, के, के।

योरपकी लगभग सभी भाषाओंमें ए, ऐ, ओ, औ सब दो-दो मात्राओं (दीर्घ) में भी मिलते हैं और एक मात्रा (ह्रस्व) में भी।

आरोह-अवरोह (स्वर)

§ ७३. भावके अनुसार वाणीके आरोह-अवरोहको स्वर कहते हैं।

हम सीधे-सीधे कोई ध्वनि मुँहसे नहीं निकालते हैं। हम उसे भावके अनुसार थोड़ा चढ़ाते-उतारते भी हैं। यह चढ़ाव-उतराव तब किया जाता है जब हम अपने मनकी रीझ-खीझ-घिन भी उसके साथ समझाना चाहते हैं। ऐसा करनेमें हमारी बोलीकी लहर ऊँची-नीची होती चलती है। इसी ऊँची-नीची लहरको स्वरका उतार-चढ़ाव सुस्वरता (इन्टोनेशन) कहते हैं। यह स्वर कभी तो पूरी बोलीमें ही समाया रहता है जैसा मगही या भोजपुरीमें जहाँ वाक्यका अन्तिम अक्षर कुछ खींचकर और नीचे गिराकर फिर ऊपर उठा दिया जाता है; जैसे—'नहाए चलबऽऽ' (नहाने चलोगे ?) वाक्य—



संसारकी सभी भाषाओंमें बात-चीत करते समय मनके भावके अनुसार वाणीका यह उतार-चढ़ाव अपने आप होता चलता है। एक शब्द लीजिए—'हाँ'। इसी 'हाँ' को हम आश्चर्यमें नीचेसे ऊपर स्वर चढ़ाकर कहते हैं—हाँ ? जब हम यह समझाते हैं कि मैं तुम्हारा सब भेद समझ गया हूँ तब हम सिरको ऊपर-नीचे घुमाकर और दोनों ओर डुलाकर अपने स्वरमें लहरा देकर कहते हैं ? हाँऽऽऽऽ। यही वाणीका स्वर है।

कभी-कभी हम किसीपर बिगड़ते या किसीको पुकारते समय चिल्लाते हुए स्वर-चढ़ाकर (उदात्त) बोलते हैं, कभी किसीसे धीरे बात-चीत करते समय धीरे (अनुदात्त) बोलते हैं या खुलकर बात-चीत करते समय ठीक-ठीक स्वरमें (स्वरित) बोलते हैं। यही क्रमशः स्वरको ऊँचा करना, नीचा करना और

ठीक बल देकर बोलना कहलाता है। हम जितने ही ऊचे स्वरसे बोलेंगे उतना ही हमारे गलेकी तनियोंपर तनाव पड़ेगा। तन्त्रीमें ध्वनि उपजानेके लिये किसी खिचे हुए तार या ताँतको छेड़ना पड़ता है। यह काम हमारे गलेकी लगी हुइ तनियाँ करती हैं। इसीलिये कभी-कभी बहुत चिल्लानेसे हमारा गला बैठ जाता है क्योंकि गलेकी दोनों तनियाँ बहुत रगड़ खाते-खाते या तो भीतर ही आपसमें उलझ जाती हैं या दोनों ओरकी भीतोंसे चिपककर सट जाती हैं जिससे भीतरकी साँसको बिना गुँजाए और बिना कँपाए बाहर निकालना पड़ता है। इसे स्वरका ऊँचा-नीचापन कह सकते हैं, उतार-चढ़ाव या आरोह-अवरोह नहीं।

ऊपर (§ ७३) बताया गया है कि जब वाक्य कहते समय उसके अर्थमें अलगाव लानेके लिये उतार-चढ़ावका ध्यान रक्खा जाता है। एक वाक्य लीजिए—'यह पुस्तक मेरी है।' इसे हम तीन ढंगसे बोल सकते हैं। एकमें 'यह' पर बल देकर, दूसरेमें 'पुस्तक' पर और तीसरेमें 'मेरी' पर। पहलेका अर्थ यह होगा कि जितनी पोथियाँ दिखाई जा रही हैं उनमें वही पोथी मेरी है, दूसरी नहीं। दूसरेका अर्थ यह होगा कि जो बहुत-सी वस्तुएँ वहाँ रक्खी हैं, उनमेंसे पुस्तक तो मेरी है, दूसरी वस्तुएँ भले ही दूसरोंकी हों। तीसरेका अर्थ यह है कि पुस्तक मेरी ही है, और किसीकी नहीं। यह भी एक प्रकारका स्वर है।

कभी-कभी बोलनेमें किसी एक अक्षरपर ही बल देकर बोलना पड़ता है। वैदिक संस्कृतमें इसका बहुत प्रयोग होता था। कथा प्रसिद्ध है कि वृत्रासुरने इन्द्रके वधके लिये जो यज्ञ कराया उसमें देवताओंके हितैषी ऋषियोंने केवल स्वरके आरोह-अवरोहमें तनिक-सा अन्तर करके यज्ञके द्वारा वृत्रासुरका नाश करा डाला। इन्द्रशत्रु शब्दमें इन्द्र शब्दके 'इ' स्वरको खींचकर या झटकेसे बोलनेमें ही उसके अर्थमें भेद हो गया। प्रायः लोग जिसे काकु या गलेकी मुर्की कहते हैं, उसमें स्वर ही काममें आता है जिससे सब समझ जाते हैं कि कहनेवाला कुछ पूछ रहा है, ताना दे रहा है, अचरज दिखा रहा है, डाँट रहा है या किसी बातको मानकर हामी भर रहा है। अफ्रीकाकी कुछ बोलियाँ ऐसी हैं जिनमें चीनी बोलीके ढंगपर ध्वनियोंके साथ स्वरका उतार-चढ़ाव होता चलता है। अच्छे वक्ता, तथा नाटक खेलनेवाले अभिनेता लोग स्वरके आरोह-अवरोहका बहुत महत्त्व मानते हैं।

संगीतमें आरोह-अवरोह

गाने-बजानेमें जो स्वरोंका उतार-चढ़ाव होता है उसे भी आरोह-अवरोह कहते हैं किन्तु वह दूसरे प्रकारका होता है। उसमें अलग-अलग रागोंकी प्रकृतिके अनुसार अलग-अलग प्रकारसे स्वरोंका उतार-चढ़ाव होता है, भावोंके अनुसार नहीं।

आघात

§ ७४. शब्दके किसी अक्षरपर विशेष बल देकर बोलनेको आघात कहते हैं।

बहुत-सी बोलियाँ ऐसी हैं जिनके शब्दोंमेंसे किसी विशेष अक्षरपर कुछ बल देकर बोला जाता है। इसे आघात कहते हैं। कुछ लोग इसे बलाघात या स्वराघात भी कहते हैं। वेदमें जहाँ-जहाँ ऐसे अक्षर आते हैं वहाँ उनके ऊपर एक खड़ी पाई दे दी जाती है जिसका अर्थ यह है कि इसे झटकेके साथ बोला जाय, जैसे—'गणानान्त्वा' में 'ना'। योरपकी बोलियोंमें उसके लिये एक आड़ी छोटी-सी लकीर ऊपर लगा दी जाती है जैसे—Per'-cept (पर्सेप्ट = इन्द्रियज्ञान) शब्दमें।

अन्ताराष्ट्रीय ध्वनिशास्त्र-समिति (इन्टरनेशनल फ़ोनिटिक एसोसिएशन) ने भी इसके लिये अक्षरसे पहले तनिक ऊपर खड़ी पाई (।) लगानेका चलन माना है। ऐसा देखा गया है कि धीमी (अघोष) ध्वनियोंको कुछ झटकेके साथ बोला जाता है और गहरी (घोष) ध्वनियोंको जमाकर। पर कभी-कभी अलग-अलग शब्दोंके बीचमें भी यह झटका (घात) देकर बोलना पड़ता है। 'चंचलता' शब्दको ही लीजिए। इसे 'चंच-लता' पढ़ें तो ऐसा जान पड़ेगा कि चंच नामकी कोई लता है। यह भ्रम चं और ल पर बल देकर बोलनेसे ही हुआ है। चंचलता शब्दके 'ता' पर बल देकर ही इसे पढ़ा जाय तभी ठीक होगा। ऐसे ही यदि कोमलता शब्दको कोम-लता पढ़ें तो अशुद्ध होगा पर सोमलताको हमें सोम-लता ही पढ़ना चाहिए। इसलिये जो लोग समझते हैं कि हिन्दीमें स्वराघात नहीं है वे बड़ी भूल करते हैं।

कुछ भाषाओंमें बीचके अक्षरोंपर अलग-अलग बल देनेसे अर्थ बदल जाते हैं। अँगरेज़ीके 'परफ़ेक्ट' शब्दके 'फ़े' पर आघात होगा तो वह विशेषण हो जायगा और यदि 'प' पर होगा तो क्रिया। हिन्दी और संस्कृतमें शब्दके बीचमें आनेवाले । को खींचकर बलके साथ बोलते हैं जैसे 'अप्रकाशित' शब्दको 'अप्प्रकाशित' पढ़ते हुए हम 'प्र' से पूर्व एक और 'प्' का बल देते हैं। यह भी आघात या स्वराघात ही है।

वाग्ध्वनियाँ और उनमें परिवर्तन

मानवीय वाग्ध्वनिके रूप

§ ७५. अर्थकी दृष्टिसे मनुष्यके कण्ठसे आठ प्रकारकी ध्वनियाँ निकलती हैं।

पीछे (§ ५) बताया जा चुका है जो सुनाई पड़े उसे ध्वनि कहते हैं। उन ध्वनियोंमें मनुष्यके कण्ठसे निकलनेवाली ध्वनियाँ आठ प्रकारकी होती हैं—

१. निरर्थक ध्वनियाँ : जिनका स्वत: कोई अर्थ नहीं होता, जैसे—छोटे बच्चोंको चुप कराते या दुलराते हुए माताएँ आऽऽऽ करती हैं अथवा केवल कुतूहल-पूर्वक लोग मुँहसे सीटी बजाते हैं।

२. भावार्थक किन्तु अव्याकृता ध्वनियाँ : कभी-कभी मनुष्य बोलते हुए कुछ ऐसी ध्वनियोंका उच्चारण करते हैं जिनका प्रयोग उनकी व्याकृता वाणीमें नहीं होता और भाषाकी दृष्टिसे जिनका निर्वचन नहीं किया जा सकता; जैसे—किसीके साथ सहानुभूति दिखाते हुए ऊपरके दाँतके पीछे जीभ लगाकर 'त्च् त्च्' करना अथवा जैसे पश्चिमी उत्तर प्रदेशमें 'नहीं'के लिये जीभको ऊपरके दाँतके पीछे दाईं ओर लगाकर चटकारी देना या 'हाँ' के लिये पुचकारी देना अथवा हाथी, ऊँट, घोड़े, बैल आदि जीवोंको चलने या ठहरनेके लिये क्लै-क्लै, टुक्, टिक्-टिक्, होऽऽ, अगत्-अगत् कहना। ये ध्वनियाँ अव्याकृता तो हैं, किन्तु भावार्थक हैं।

३. व्याकृता किन्तु निरर्थक ध्वनियाँ : संस्कृतको छोड़कर विश्व-भरकी अन्य सभी भाषाओंके वर्ण-समाम्नाय या वर्णमालाकी लगभग सभी ध्वनियाँ स्वयं अपनेमें निरर्थक होती हैं किन्तु एक दूसरीके साथ मिलकर सार्थक शब्दका रूप ग्रहण कर लेती हैं—जैसे 'बम' शब्दमें 'ब' और 'म' दोनों वर्ण निरर्थक

हैं किन्तु दोनोंके मिलनेपर विध्वंस करनेवाले पदार्थका बोध हो जाता है। इसी प्रकार अरबीमें 'अलिफ़, बे, पे' आदि नामवाले 'अ, ब, प' वर्ण और अँगरेज़ोके 'बी, यू, एस्' नामवाले 'ब, उ, स' वर्ण स्वयं अपनेमें निरर्थक हैं किन्तु इनके परस्पर मिलनेसे शब्द बन जाता है। अतः, ये सब ध्वनियाँ या वर्ण, भाषाकी दृष्टिसे व्याकृत तो हैं किन्तु निरर्थक हैं। इनका निर्वचन भी संस्कृतके वर्ण-शब्दोंके समान न होकर वर्ण-विन्यासकी दृष्टिसे होता है, शब्दकी व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे नहीं।

४. निरर्थक किन्तु नाम-बोधक ध्वनियाँ : आजकल अँगरेज़ीके प्रचारके कारण भारतमें और जहाँ-जहाँ विश्व-भरमें योरोपीय भाषाओंकी वर्ण-मालाका प्रयोग होता है वहाँ-वहाँ विभिन्न पदों और नामोंके प्रथम अक्षरसे ही नाम-बोध करा दिया जाता है, जैसे—म० मो० मा० मदन मोहन मालवीय नामका, डी० एम्० डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेटका, यू० एन० ओ० यूनाइटेड नैशन्स ऑर्गेनाइज़ेशनका, संविद संयुक्त विधायक दलका, द्रमुक द्रविड मुन्नेत्र कषगमका, प्रसोपा प्रजा सोशलिस्ट पार्टीका तथा अँगरेज़ीके 'के ए वी ए एल्' अक्षरोंसे बना हुआ 'कवाल' टाउन्स शब्द कानपुर, अलाहाबाद, वाराणसी, आगरा, लखनऊ नामक पाँच नगरोंके समूहका बोधक होता है। इन सब उदाहरणोंमें एक-एक वर्ण एक-एक शब्द या नामका बोध कहो गया है।

५. सार्थक किन्तु व्याकृता ध्वनियाँ : सभी भाषाओंमें ऐसे अनेक वर्ण होते हैं जो स्वयं अपनेमें सार्थक भी होते हैं और व्याकृत भी, जैसे—हिन्दीमें घी, जी, ओ, मैं, तू, सो, न, खा, जा आदि। ये सभी ध्वनियाँ या वर्ण केवल ध्वनि मात्र नहीं वरन् सार्थक शब्द भी हैं और हिन्दोके व्याकरणके अनुसार इनका निर्वचन भी हो सकता है। इसी प्रकार अँगरेज़ीमें ए (एक), आइ (मैं), ओ (हे) ध्वनियाँ वर्ण भी हैं और सार्थक शब्द भी। संस्कृतमें तो सभी वर्ण सार्थक और व्याकृत हैं अर्थात् प्रत्येक वर्ण या अक्षरका स्वयं अर्थ भी होता है। यह विशेषता केवल संस्कृत भाषामें ही है। नीचे संस्कृत-वर्णमालाके पूरे वर्ण देकर यह स्पष्ट किया जाता है कि उसके वर्ण-समाम्नायका प्रत्येक वर्ण सार्थक शब्द भी है—

अ—विष्णु।

आ—महादेव।

इ—कामदेव।

ई—कन्दर्प, लक्ष्मी।

उ—शिव, ब्रह्मा।

ऊ—चन्द्रमा ।

ऋ—अदिति ।

ॠ—अदिति ।

लृ—दैवी प्रकृति, पृथ्वी, पर्वत ।

ॡ—दैवी तथा नारी-प्रकृति, माता, शिव, दैत्योंकी माता ।

ए—विष्णु ।

ऐ—शिव ।

ओ—ब्रह्मा ।

औ—अनंत, शेषनाग, पृथ्वी ।

क—ब्रह्मा, विष्णु, कामदेव, अग्नि, वायु, यम, सूर्य, आत्मा, चतुर पुरुष, राजा, गाँठ या जोड़, मन, शरीर, मोर, समय, धन, सम्पत्ति, ध्वनि, प्रकाश, ज्योति, सिर, जल, आनन्द, बाल ।

ख—आकाश, स्वर्ग, ज्ञानेन्द्रिय, ज्ञान, हर्ष या आनंद, शून्यता, बिन्दु, नगर, खेत, कार्य, शुभमुहूर्त्तता, ब्रह्म, सूर्य ।

ग—जो जानेवाला हो, गणेश, गन्धर्व, गीत, गायन ।

घ—घंटी, घरघराहट, घुँघरूदार करधनी, मारना, भिगोना ।

ङ—इन्द्रिय-बोध, वस्तु, इच्छा ।

च—बीजरहित, नीच, शिव, चन्द्रमा, चोर, कछुआ ।

छ—पवित्र, स्वच्छ, कंपन, स्थिर, काटना, बाँटना, भाग, टुकड़ा, बच्चा, ढकना, छिपाना ।

ज—वेगवान्, खाया हुआ, विजयी, शिव, विष्णु, उत्पत्ति, माता या पिता, विष, प्रसन्नता, प्रकाश, चमक, गति ।

झ—शयन, सुप्त, नरक, बृहस्पति, दैत्योंका राजा, आँधी, गत बजाना या ताल देना, झड़ना, झाँझका स्वर ।

ञ—शुक्र, बैल, नास्तिक, गायन ।

ट—ध्वनि, प्रत्यंचाकी टंकार, बौना, चौथाई, खोखला, नारियल, पृथ्वी, प्रतिज्ञा ।

ठ—शिव, चन्द्र या सूर्यका मंडल, गोला, वृत्त, शून्य, हल्ला, देवमूर्ति या देवता, बर्त्तनके गिरने या लुढ़कनेकी ध्वनि ।

ड—शिव, भय, ध्वनि, बाडवाग्नि, ढोल, एक पक्षी, टोकरी ।

ढ—बड़ा ढोल, कुत्तेकी पूँछ, ध्वनि, साँप ।

ण—ज्ञान, निश्चयता, शिव, जैन देवता, बिन्दु, देव, एक आभूषण, जलधर

या निदाघ-गृह, गुणहीन, एक प्रकारकी ध्वनि, नहींकी ध्वनि, दान।

त—चोर, अमृत, जाति-बहिष्कृत, नीच, नितंब, ऊँचा, गर्व, दुष्ट, वृक्ष, एक रत्न, एक बुद्ध, पार करना, पाससे होकर निकलना, गुण, पवित्रता।

थ—शुभ-मुहूर्त्तता, भय, रक्षा, पर्वत, भोजन, एक रोग।

द—पत्नी, दान, काटना, बाँटना, तोड़ना, माँजना, रक्षा करना, पश्चात्ताप, पर्वत।

ध—ब्रह्मा, कुबेर, नैतिक गुण, धन, सम्पत्ति।

न—पतला, बचा हुआ, अतिरिक्त, रिक्त, ठीक वैसा हो, निश्चित, रोषहीन, अविभक्त, बौद्ध, बाँधना, प्रशंसित, गणेश, युद्ध, दान, भलाई, समृद्धि, एक रत्न, नाडी, एक बाजा, ज्ञान।

प—पवन, राजा, पत्ता, अंडा, पीना, रक्षा करना, शासन करना।

फ—बढ़ाना, फैलाना, कुबेरके सेवकोंको प्रसन्न करनेके लिये एक प्रकारकी तांत्रिक पूजा, आँधी, जँभाईके समय निकला हुआ वायु, उत्पादकता बढ़ानेवाला, निरर्थक या व्यर्थ बात, क्रोध-वचन, ध्वनिके साथ कूद पड़ना, चिन्ता, व्यथा।

ब—वरुण, घड़ा, समुद्र।

भ—तारा, ग्रह, सत्ताईस नक्षत्र, शुक्र, मधुमक्खी, भूल या भ्रम, प्रकाश, ज्योति, प्रकाशकी किरण, भय।

म—ब्रह्मा, शिव, यम, समय, ऋतु, विष, मंत्र, चन्द्रमा, सरगमका चौथा स्वर, लक्ष्मी, माता, नाप-तौल, प्रकाश, ज्ञान, बाँधना, मृत्यु, स्त्रीकी कटि, सौभाग्य, जल।

य—जानेवाला, चलानेवाला, आयु, मेल, प्रसिद्ध, जो, प्रकाश, परित्याग, यम, गाड़ी, रोकना, ध्यान, प्राप्ति।

र—अग्नि, गर्मी, जलाना, प्रेम, इच्छा, वेग, देना, स्वर्ण, जलाना।

ल—इन्द्र, काटना, लघु मात्रा, देना, लेना, गले लगाना, पिघलाना।

व—वायु, भुजा, वर्म, वक्तव्य, शुभमुहूर्त्तता, शक्तिशाली, आकाश, वरुणका निवास-स्थान, समुद्र, जल, क्षौर-कर्म, राहु, सिंह, वस्त्र, जाना, चोट, बाण, बुनना, जुलाहा, वरुणका मंत्र।

श—शिव, शस्त्र, काटनेवाला या नाशक, प्रसन्न।

ष—सर्वश्रेष्ठ विद्वान्, अध्यापक, चूचुक, विनाश, शेष, ज्ञान-नाश, शाश्वत, आनन्द, स्वर्ग, निद्रा, अन्त, बाल, गर्भ, संतोष, सहनशीलता।

स—सर्प, शिव, विष्णु, वायु, षड्ज स्वर, एक पक्षी, लक्ष्मी, ज्ञान, ध्यान, गाड़ीका मार्ग, बाड़ा।

ह—हँसी, पागल, मद्यप, शिव, जल, शून्य, ध्यान, शुभ-मुहूर्त्तता, आकाश, स्वर्ग, रक्त, मरण, भय, ज्ञान, चन्द्र, विष्णु, युद्ध रोमहर्षण, घोड़ा, अभिमान, वैद्य, कारण, परित्याग, वीणा, परमेश्वर, आनन्द, पुकार, शास्त्र, रत्नकी चमक, वीणाकी ध्वनि।

६. निरर्थक किन्तु प्रतीकात्मक ध्वनियाँ : कुछ ऐसी भी ध्वनियाँ हैं जो संगीतके स्वरों, तालके स्वरों या नृत्यकी गतियोंके स्वरोंकी बोधिका होती हैं, जैसे—सा, रे, ग, म, प, ध, नी ध्वनियाँ क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद स्वरोंके तथा 'धा, धिन, ता, क, धे' आदि वर्ण तालके बोलोंके प्रतीक और ता, ता, थै, या आदि नृत्यकी गतियोंके प्रतीक होते हैं। ये सब वर्ण स्वयं अपनेमें निरर्थक हैं किन्तु ये विभिन्न स्वरों, तालके बोलों और नृत्यकी गतियोंके बोधक होते हैं।

७. भावबोधक ध्वनियाँ : मनुष्यके मुँहसे बहुत-सी ऐसी ध्वनियाँ निकलती हैं जिनका स्वयं कोई अर्थ नहीं होता किन्तु वे किसी न किसी भावात्मक वृत्तिको द्योतिका होती हैं अर्थात् न तो वे उन भावोंके नामसे सम्बद्ध होती हैं न उनके प्रतीक ही वरन् स्वयं भावकी ही द्योतिका होती हैं,—जैसे पुचकार, चुम्बन, हुंकार, कराह, हँसी, रोदन, चिल्लाहट, सीत्कार, फूत्कार, कुत्तेको फुसलाने या बुलानेके लिये तो-तो करना, बन्दरको भगानेके लिये लगे-लगे करना, बन्दरको चिढ़ानेके लिये खो-खो करना अथवा कोयल या अन्य जीवोंकी बोलीकी अनुकृति करके उन्हें चिढ़ाना।

८. अनुकरणात्मक ध्वनियाँ : कभी-कभी केवल अनुकरणके कुतूहलके लिये ही जीवोंकी ध्वनियाँ मनुष्य मुँहसे निकालता है, जैसे—कुत्ते, बिल्ली, गाय, भैंस, सियार, कोयल आदिकी बोली बोलना। यह वृत्ति स्वयं अपनेमें कला है जिसका हमारे देशमें तो कोई विशेष नामकरण नहीं हुआ है किन्तु अँगरेज़ीमें जिसे 'वेण्ट्रीलोक्विज्म कहते हैं। वास्तवमें इस कलामें बिना मुँह चलाए इस प्रकार मुँहसे वर्ण और शब्द बोले जाते हैं कि सुननेवाला यह समझे कि येध्वनियाँ कहीं दूरसे आ रही हैं। इसे मुख-संचार-हीन ध्वनि या जीवानुकरण-ध्वनि कह सकते हैं।

उच्चारणकी प्रक्रिया

§ ७६. स्वरयन्त्रमें प्रश्वासके द्वारा स्वरतन्त्रियोंको कम्पित करनेसे और मुखविवरमें जीभ अटकाने, ओठ चलाने और नकियानेसे वर्ण उत्पन्न होते हैं।

मनुष्यके मुखसे जो ये विभिन्न प्रकारकी उपर्यंकित ध्वनियाँ निकलती हैं वे अधिकांश हमारे गलेसे भीतरकी साँसके निकलनेसे उत्पन्न होती हैं। मनुष्यके गलेसे एक ध्वनि तो वह अनायास निकलती है जो कुल्ला करते हुए, जँभाई लेते हुए, गाते, हँसते या रोते हुए 'आऽऽऽ' या हः हः हः हः या ऊँ-ऊँ-ऊँ के रूपमें सुनाई पड़ती है। यह ध्वनि या स्वर मनुष्यके गलेसे तब निकलता है जब उसके भीतरकी साँस उसके गलेके स्वरयंत्र (लैरिंक्स) में लगी हुई दो पतली लचकदार तनियों या डोरियोंको कँपाकर मुँहसे निकलती है। ये ध्वनियाँ वाग्ध्वनि नहीं कहलातीं। वाग्ध्वनि वही होती है जो गलेके स्वरयन्त्रसे होकर निकलनेवाली भीतरकी साँसको मुखके भीतर जीभका अटकाव देकर, ओठोंको सिकोड़ या फैलाकर या नकियाकर एक विशेष निश्चित ढंगसे संस्कारतः निकाली जाती है।

भीतरके मलिन वायुसे वाग्ध्वनि

§ ७७. भीतरके मलिन श्वास-वायुसे ही अधिकांश वर्ण उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी भीतर साँस खींचकर भी वर्णोंकी उत्पत्ति की जाती है।

मनुष्यके मुखमें वायु या भोजन-पानी पहुँचानेके लिये गलेके भीतर मुखके मूलमें दो छेद बने होते हैं जिनके बहिर्द्वार मुख और नाकके रूपमें मनुष्यके मुखपर प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं। नाकका काम है श्वास-प्रश्वास लेना और सूँघकर किसी पदार्थके अच्छे या बुरे गन्धवाला होनेका निर्णय करना। मुखका काम है खाना या पीना किन्तु उससे बोलनेका भी काम लिया जाता है। इतना ही नहीं, हम मुखसे गाते हैं, सीटी देते हैं, वंशी बजाते हैं, चुम्बन करते हैं तथा अन्य जीवोंकी ध्वनियोंका अनुकरण करते हैं। किन्तु मनुष्यके मुखका सबसे अधिक और विशेष प्रयोजन बोलना या वाग्ध्वनि निकालना ही है। मनुष्य जो कुछ खाता या पीता है वह सबका सब उदरमें चला जाता है, फिर मुखसे नहीं लौटता। केवल कभी-कभी अजीर्ण अन्न वमन बनकर मुखसे निकलता है। वह भी केवल अस्वस्थताकी दशामें होता है। किन्तु विचित्र बात यह है कि बाहरका जो वायु श्वासके साथ नाकके मार्गसे भीतर फेफड़ेमें जाता है वह जब शरीर और रक्तके सम्पूर्ण विषको लेकर कारबन डाइ ऑक्साइड बनकर प्रश्वासके रूपमें कंठके मार्गसे बाहर निकलता है, वही भीतरका मैला वायु बोलते समय हमारे कण्ठमें स्थित स्वरयन्त्र (लैरिंक्स) में तनी हुई दोनों डोरियोंको कँपाता और वेगसे झकझोरता हुआ मुख-विवरके

विभिन्न स्थानोंपर जीभका अटकाव देने या ओठके फैलाने, सिकोड़ने, आगे बढ़ाने या न कियानेसे अनेक प्रकारकी ध्वनियाँ (वाग्ध्वनियाँ) उत्पन्न करता है। सिंधी आदि कुछ भाषाओंमें कुछ ऐसी विचित्र ध्वनियाँ भी हैं जो भीतरके वायुसे उत्पन्न न होकर बाहरसे भीतर खींचे जानेवाले श्वासके साथ उत्पन्न होती हैं जैसे ब़ द़ ज़ आदि। ये ध्वनियाँ भीतर साँस खींचकर बोली जाती हैं।

ध्वनि-शास्त्र

७८. भाषाकी ध्वनियोंके सम्बन्धमें ध्वनि-शास्त्र और भाषा-ध्वनि-विवेचन-की दृष्टिसे विचार किया जाता है।

योरप और अमरीकामें भाषाकी ध्वनियोंके सम्बन्धमें दो प्रकारसे विचार किया जा रहा है—१. ध्वनिशास्त्र (फ़ोनिटिक्स या फ़ोनिक्स) तथा २. भाषा-ध्वनि-विवेचन (फ़ोनोलौजी)।

ध्वनिशास्त्रके अंतर्गत ध्वनियोंके सैद्धान्तिक पक्षका अध्ययन किया जाता है अर्थात् यह विचार किया जाता है कि ध्वनि क्या है, भाषा-ध्वनि किसे कहते हैं और वह कितने प्रकारकी होती है, ध्वनियोंकी उत्पत्ति किस प्रकार तथा किन अवयवोंके कारण होती है, ध्वनियोंका वर्गीकरण किस प्रकार किया जाय या किया जाता है और उनका क्या रूप है, किस प्रकार कोई ध्वनि किसी एक व्यक्तिके मुखसे निकलकर किसी दूसरेके कानतक पहुँचती है, वह उस ध्वनिको किस प्रकार सुनता है तथा किस प्रकार ध्वनियोंमें विकृति या दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इस ध्वनिशास्त्र (फ़ोनेटिक्स या फ़ोनिक्स) का सम्बन्ध किसी विशेष भाषासे नहीं होता वरन् इसमें सामान्य रूपसे विश्व भरके मानव-समुदायके मुखसे निकलनेवाली सभी वाग्ध्वनियोंसे सामग्री लेकर उनपर उपर्यंकित दृष्टियोंसे विचार किया जाता है।

भाषाध्वनि-विवेचन

भाषा-ध्वनि-विवेचन (फ़ोनोलौजी) में किसी विशेष भाषा या बोलीकी समस्त ध्वनियोंका रूप तथा उनके वर्गीकरण आदिपर ध्वनिशास्त्रमें निर्धारित नियमोंके अनुसार विचार किया जाता है और फिर उसके इतिहास और पारंपरिक विकासकी दृष्टिसे उस भाषाकी प्रत्येक ध्वनिका अध्ययन करके नियमकी व्यवस्था की जाती है।

इस दृष्टिसे ध्वनिशास्त्र तो भाषाओंका सार्वभौम सैद्धान्तिक विवेचन है किन्तु भाषा-ध्वनि-विवेचनमें ध्वनिशास्त्रके सिद्धान्तोंका आरोप करके किसी

विशेष भाषाकी ध्वनियोंके विकासका विवेचन किया जाता है। अतः, यह केवल वर्णनात्मक या विश्लेषणात्मक न होकर ऐतिहासिक भी होता है। कुछ विद्वानोंने इन दोनों प्रकारके अध्ययनोंको केवन ध्वनिशास्त्र (फ़ोनिटिक्स) कहा है। कुछ विद्वानोंने किसी एक विशेष भाषाके ध्वनि-तत्त्वके अध्ययनको सम-भावित ध्वनिशास्त्र (सिनक्रौनिक फ़ोनेटिक्स) नाम दिया है और विकासात्मक या ऐतिहासिक अध्ययनको ऐतिहासिक ध्वनिशास्त्र (हिस्टौरिकल फ़ोनेटिक्स या डायक्रौनिक फ़ोनेटिक्स) कहा है। कुछ विद्वान् फ़ोनेटिक्स और फ़ोनोलौजीका एक ही अर्थमें प्रयोग करते हैं। कुछ विद्वान् फ़ोनेमिक्स, फ़ोनोलौजी और फोनेटिक्स सबका या किसी एकका प्रयोग करते हैं। किन्तु भारतीय शब्द-शास्त्रके विज्ञानमें इस प्रकार ध्वनियोंके अध्ययन और उनके प्रयोगकी शुद्ध प्रक्रियाके विज्ञानको शिक्षा कहा गया है। उपर्युक्त प्रकारके विभिन्न भेदोंको मिटाकर इस ध्वनिके विवेचनके विज्ञानका नाम ध्वनिशास्त्र ही समीचीन है।

ध्वनिशास्त्रके क्षेत्र

§ ७६. वर्त्तमान भाषाशास्त्री ध्वनि-शास्त्रके तीन क्षेत्र मानते हैं— व्यक्त-ध्वनिशास्त्र, ध्वनि-प्रसरण-शास्त्र, श्रुत-ध्वनि-विज्ञान।

ध्वनिशास्त्रके अंतर्गत वर्णनात्मक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक तीनों प्रकारसे मनुष्यकी वाग्ध्वनियोंका विवेचन किया जा सकता है। ऐतिहासिक ध्वनि-विज्ञान और वर्ण-ध्वनि (फ़ोनीम) का विवेचन छोड़कर वर्त्तमान भाषा-शास्त्री ध्वनि-विज्ञानके तीन क्षेत्र मानते हैं—

१. व्यक्त-ध्वनिशास्त्र (आर्टिकुलेटरी फ़ोनेटिक्स), जिसके अंतर्गत ध्वनि या वर्णके उच्चारण और उससे संबद्ध सभी अंगों और विषयोंका अध्ययन किया जाता है।

२. ध्वनि-प्रसरण-शास्त्र (एकाउस्टिक फ़ोनेटिक्स), जिसके अंतर्गत यह अध्ययन किया जाता है कि मुखसे निकलनेवाली ध्वनि किस प्रकारकी ध्वनि-लहरियाँ उत्पन्न करती हैं। इस प्रकारके अध्ययनके लिये काइमोग्राफ़, स्पैक्ट्रोग्राफ़ और औसिलोग्राफ़ नामक यन्त्रोंसे सहायता ली जाती है।

३. श्रुत-ध्वनि-विज्ञान (औडीटरी फ़ोनेटिक्स), जिसके अंतर्गत यह अध्ययन होता है कि ध्वनियाँ कैसे सुनी जाती हैं।

शरीर और ध्वनिशास्त्र

§ ८०. शारीर-ध्वनिशास्त्रमें ध्वनि-उत्पादक अवयवों और व्यवहारोंका विवेचन होता है।

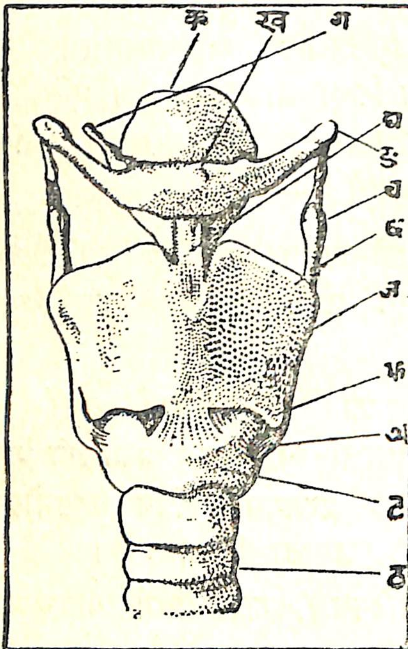
आधुनिक ध्वनिशास्त्रमें शारीर ध्वनिशास्त्रके अंतर्गत ध्वनि उत्पन्न करनेवाले अवयव, शरीरके अंग और उनके व्यवहारोंका विवेचन किया जाता है जिनके कारण या जिनकी सहायतासे कोई ध्वनि उच्चरित होती तथा सुनी जाती है।

शरीरके जिन विभिन्न अंगों या अवयवोंसे मानवीय वाग्ध्वनियोंका उच्चारण होता है उन्हें वागवयव अर्थात् वाणीके अवयव कहते हैं।

मनुष्यका कण्ठ

§ ८१. कण्ठ ही वाग्ध्वनिकी उत्पत्तिका प्रधान अंग है।

मनुष्यके कण्ठके भीतर मुखके मूलसे लगी हुई दो नलियाँ हैं जिनमेंसे एकके द्वारा नाकसे खींचा हुआ वायु या श्वास हमारे फेफड़ोंमें पहुँचता है। इसे श्वास-नलिका कहते हैं। इसीसे लगी हुई ठीक इसके पीछे भोजन-नलिका है जो मुखमें डाले हुए खाद्य या पेय पदार्थको मनुष्यके आमाशयमें पहुँचाती है। भोजन-नलिकाके ऊपर श्वास-नलिकाकी ओर एक ऐसी ढपनी लगी हुई है जो एक ही ओरको खुलती है और जिसे स्वर-यंत्र या लैरिंक्स कहते हैं।



चित्र सं० १

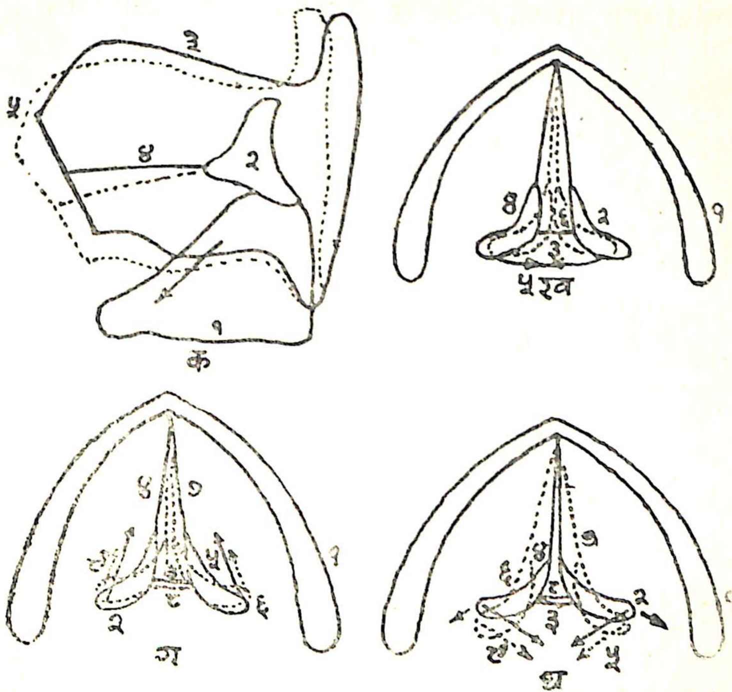
[बोलीकी डिबिया (स्वरयन्त्र या लैरिंक्स), उसकी चबनी (कार्टिलेज) और झिल्लियाँ (लिगामेंट)।

(क) स्वरयन्त्रका ढकना (एपिग्लौटिस); (ख ग, ङ) स्वरयन्त्रकी भीतरी हड्डियाँ; (च, ज, झ, ञ) चबनी; (घ, छ, ट) चबनियोंको जोड़नेवाली झिल्लियाँ; (ट) साँसकी नलीका दूसरा छल्ला (उसके ऊपर पहला छल्ला है)।]

ढपनीका ढकना

इसके मुखपर लगी हुई ढपनी (ऐपिग्लौटिस) ही श्वास-नलिकाका प्रहरी है। यह ढपनी दो काम करती है—(१) मुखसे आमाशयमें जानेवाले भोजन या पानीको स्पर्श करते ही यह श्वास-नलिकाका मुँह बन्द कर देती है जिससे खाद्य या पेय पदार्थ श्वास-नलिकामें पहुँचकर मनुष्यके प्राण न ले ले। (२) भीतरसे निकलनेवाले वायु या प्रश्वासके द्वारा स्वरयंत्रके भीतर तनी हुई दो पतली लचकदार तनियोंको कँपाकर वाग्ध्वनि उत्पन्न करनेमें यह सहायक होती है। इसीलिये आयुर्वेदमें बताया गया है कि भोजन करते समय बोलना और बोलते समय भोजन करना अनर्थकारा होता है।

चित्र सं० २

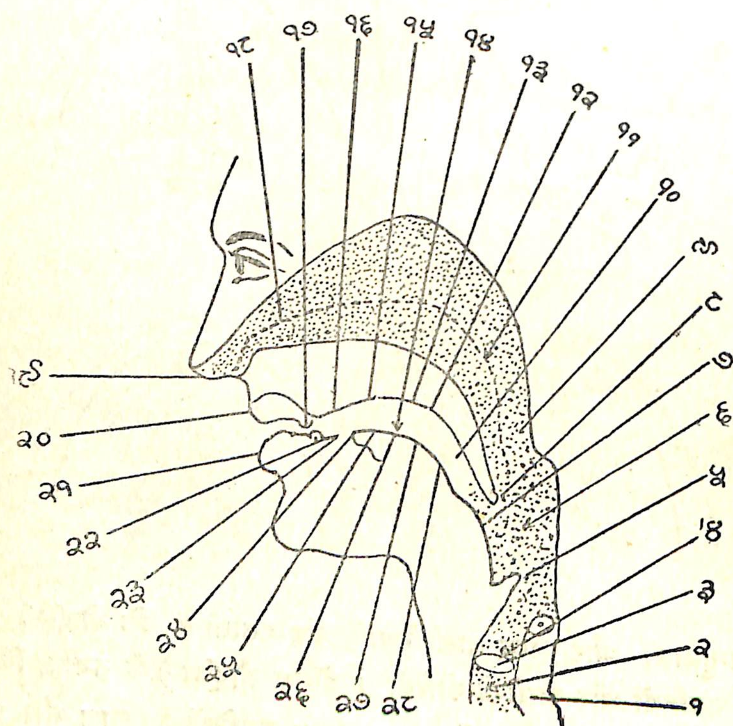


[बिन्दुवाली और बाण वाली रेखाएँ यह बताती हैं कि बोलीकी डिबियाके भीतरकी चबनियों और बोलीकी डोरियों (वोकल कौर्ड्स) के तनाव, खिंचाव और मिलाव कैसे होते हैं। (क) में १, २, ३, ५ चबनियोंकी चाल और ४ बोलीकी डोरी। (ख) में १, २, ५, ६ चबनियाँ और झिलितयाँ, ३ डिबियाका ढकना (एपिग्लौटिस), ४ बोलीकी डोरी। (ग) में वैसा ही जैसा क और ख में हैं।

इसमें ४ और ७ बोलीकी डोरियाँ हैं और ८ ढकनेकी पिछाड़ी है। (घ) में (ग) का पीछेका भाग दिखाया गया है।]

चित्र १ में बनी हुई बोलीकी डिबिया (स्वरयन्त्र) में बहुत-सी मांसकी भीतें या चबनियाँ दिखाई गई हैं जो लचीली झिल्लियोंसे जुड़ी हैं। उसीमें भीतर दो लचीली पतली तनियाँ (डोरियाँ) हैं जिन्हें बोलीकी डोरियाँ (वोकल कौर्ड्स) कहते हैं। ये तनियाँ भीतरकी तनिक-सी साँसके झोंकेसे हटकर अलग हो जाती और फिर मिल जाती हैं। इस डिबियामें दो माँस-पट्टियाँ है जिनमेंसे एक इस डिबियाका ढकना (एपिग्लौटिस) है जो जीभके समान साँसकी नलीकी ओर झुका हुआ है। यही भोजन या पानीको साँसकी नलीमें जानेसे रोकता है। इस बोलीकी डिबियामें जो दो बोलीकी डोरियाँ हैं उनके बीचमें जो खुला हुआ मार्ग बन जाता है उसीमेंसे होकर वायुका आना-जाना होता है। यह मार्ग छोटा-बड़ा या चौड़ा-सँकरा होता रहता है (देखो चित्र २)।

चित्र सं० ३



१. (भोजनकी नली (गलेट); २. बोलीकी डिबिया (स्वरयंत्र या लैरिंक्स); ३. ध्वनिकी डोरियाँ (वोकल कौड्‌स या स्वर-तन्त्री); ४. बोलीकी डिबियाका

मुँह (ग्लौटिस या अभिकाकल); ६. साँसकी नली (विंड पाइप); ७. मुख-विवर (माउथ कैविटी); ८. कौवा (युवुला); ९. नासिका-विवर (नैसल कैविटी); १०. गला (गटर या कंठ); ११. श्वास-मार्ग; १२. कोमल तालु (सौफ्ट पैलेट); १३. मूर्धा (सेरेब्रल); १४. जीभ; १५. कठोर तालु (हार्ड पैलेट); १६. ऊपरका मसूड़ा (वर्त्स या अलवेओला); १७. ऊपरके दाँत (अपर टीथ); १८. साँस लेनेका ठीक मार्ग (नाकके भीतर); १९. नाक; २०. ऊपरका ओठ; २१. नीचेका ओठ; २२. नीचेके दाँत; २३. नीचेका मसूड़ा; २४. जीभकी नोक; (जिह्वाग्र); २५. जीभकी अगाड़ी (पुरोजिह्वा); २६. जीभका बीच (मध्य-जिह्वा); २७. जीभकी पिछाड़ी (पश्चजिह्वा); २८. जीभकी जड़ (जिह्वा-मूल)।

कौवा (अलिजिह्वा या युवुला)

बोलीकी इस डिबियासे ऊपर चढ़कर हम मुँहके उस विवरमें पहुँच जाते हैं जहाँसे साँस और भोजनकी दो नलियाँ नीचेको जाती हैं और ऊपर मुँह और नाकके दो द्वार खुल जाते हैं। ये दोनों द्वार जहाँसे फटते हैं वहाँ कौवा या एक छोटी-सी जीभ नीचेको लटकी रहती है जो भीतरसे आनेवाले वायुको नाक या मुँहमें जाने या न जानेके लिये अटकावका काम करती है।

जीभ

§ ८१. जीभ और ओठ ही वाग्ध्वनिके लिये मुख्य अवयव हैं।

मुँहके विवरमें जीभ सबसे अधिक कामकी है क्योंकि वही मुँहके विवरके भीतर ऊपरके ढलवाँ पाटनमें अलग-अलग अटकाव देकर ध्वनियाँ निकालती हैं। मुँहके ऊपरी पाटनमें गलेसे उठकर दाँततक बढ़ चलें तो बोलते हुए जीभके लगभग पाँच अटकाव देने पड़ते हैं—१. पहला गलेसे थोड़ा-सा ऊपर चढ़कर, जहाँ कोमल तालु है; २. दूसरा, मुख-विवरकी छतके ठीक बीचों-बीच, जिसे मुँहका सबसे ऊँचा सिरा (मूर्द्धा) कहते हैं; ३. तीसरा, कड़े या कठोर तालुपर, जो ऊपरके मसूड़े और मूर्द्धाके बीचमें है; ४. चौथा अटकाव मसूड़े (वर्त्स) पर; और पाँचवा अटकाव दाँतपर होता है। इस अटकावमें जीभके पाँच और भी भाग काम आते हैं—१. जीभकी जड़, २. जीभकी पिछाड़ी, ३. जीभका बीच, ४. जीभकी अगाड़ी और ५. जीभकी नोक। इनके आगे दाँत हैं जिनके या तो पीछे जीभकी नोक अटकाकर कुछ ध्वनियाँ बोली जाती हैं या जिनके सिरोंपर जीभकी नोक अटकाकर ध्वनियाँ निकाली जाती हैं (जैसे अँगरेज़ीके थ़ौट शब्दका थ़)।

कभी-कभी जीभको भीतर उलटकर जीभकी नोकके सिरेको मूर्द्धा या कोमल तालुपर अटकाना और रगड़ना पड़ता है जैसे वैदिक या तमिलका ळ बोलते हुए।

ओठ

इसके आगे ओठ हैं जिन्हें मिला, अलगा, फैला, सिकोड़ या तानकर बहुत-सी ध्वनियाँ निकाली जाती हैं।

मनुष्यके मुखके भीतर दो ही ऐसे अवयव हैं जिन्हें चलाने-घुमानेसे ध्वनियाँ निकलती हैं—वे हैं जीभ और ओठ। तालु, दाँत और मसूड़े तो अपने-अपने स्थानपर ज्योंके त्यों स्थित रहते हैं। चीनी और तिब्बती-जैसी कुछ ऐसी बोलियाँ अवश्य हैं जिनमें ओठ ही नहीं, गाल भी फैलाने-सिकोड़ने पड़ते हैं और जबड़े भी आगे-पीछे चलाने पड़ते हैं।

नाक

जब किसी ध्वनिको कुछ नकियाना होता है (जैसे आँख पाँच, साँप, गाँवँ शब्द बोलते हुए), तब मुँहके भीतरसे बाहर आनेवाली कुछ साँस नाकसे छोड़ दी जाती है और नाक भी हमारी बोलीमें हाथ बँटा लेती है। कभी-कभी पाठ-पूजा करते हुए हाँ हूँ जैसी ध्वनियाँ मुँह बन्द करके केवल नाकसे ही बोली जाती हैं।

अन्तःश्वसित ध्वनियाँ

§ ८२. भीतर साँस खींचकर भी वाग्ध्वनि उत्पन्न की जाती है।

पर यह नहीं समझना चाहिए कि भीतरसे बाहर निकलनेवाली साँस ही ध्वनि उपजाती है। कभी-कभी बाहरसे मुँहमें साँस खींचकर भी ध्वनियाँ निकाली जाती हैं (§ ७७) जैसे भैंस, गाय, बैल या घोड़ा हाँकते हुए क़्लै-क़्लै करनेमें या सिन्धी बोलीके ब़, ़द, ़ग़ ़ज़, ध्वनियोंको बोलते हुए (जो ब़करी, द़िअल, ़ग़या और ़ज़िभ शब्दोंमें भीतर साँस लेकर बोली जाती हैं) या संस्कृतकी उपध्मानीय ध्वनियाँ बोलते हुए।

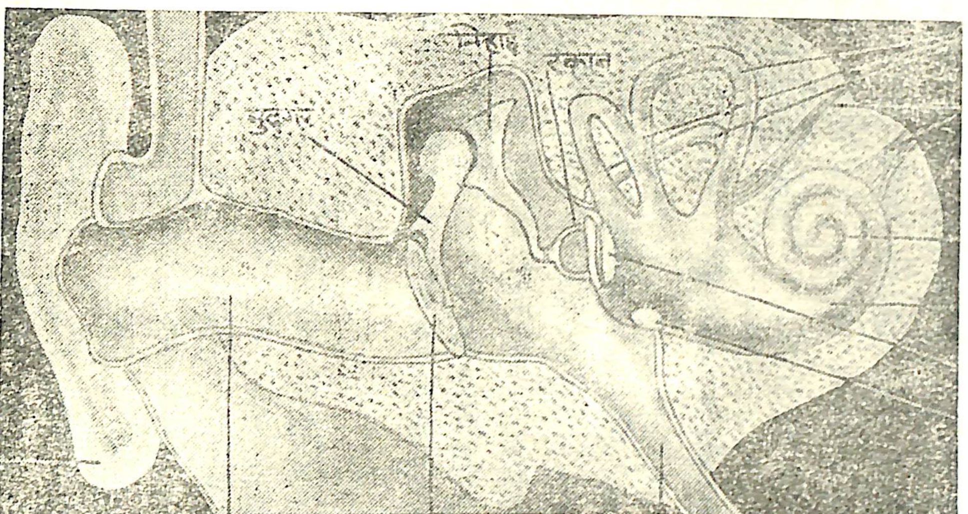
कान

§ ८३. ध्वनिका आधार कान ही है।

ऊपर जो विवरण दिया गया है उससे स्पष्ट है कि बोलियोंकी ध्वनियाँ उत्पन्न करनेका काम हमारा मुख ही करता है पर यह समझना बड़ी भारी

चित्र सं० ४

कानके तीन भाग और उनके चारों ओरके अंग



[बाहरी कान और उसके बीचके छेदमें कहीं हड्डी और कहीं चबनी हैं। बाहरी और बिचले कानके बीच एक झिल्लीका पर्दा है। बिचले कानकी सकरी कोठरीमें छोटी छोटी तीन हड्डियोंकी साँकल हैं जो एक ओर इस पर्देसे लगी रहती है और दूसरी ओर भीतरी कानकी भूल भुलैयाको घेरनेवाली हड्डीकी खिड़कीमें जुड़ी रहती है। बिचले कानको गलेसे जोड़नेवाली गला-कान-नली भी चित्रमें दिखलाई गई है।]

भूल है। यदि भगवान्‌ने हमें कान न दिए होते और हम सुन न पाते तो हमारी बोलियाँ ही न बनतीं, हम गूँगे रह जाते और मुँहसे खाने-पीने-भरका काम लेते। कान न होते तो हम न गा सकते, न बजा सकते, न बोल सकते, न सुन सकते क्योंकि कान इतना ही काम नहीं करता है कि वह अपने चारों ओर उत्पन्न होनेवाली ध्वनियाँ सुनता रहे वरन् वह दूसरेके मुँहसे निकली हुई बोलियों और ध्वनियोंको भी सुनता, समझता, परखता, जाँचता और खोटे-खरेकी पहचान करके ठीक भी करता चलता है। इसीलिये जो लोग बचपनसे बहरे होते हैं वे गूँगे भी होते हैं।

चित्र सं० ४ में दिए हुए कानके ढाँचेको ध्यानसे देखनेपर जान पड़ेगा कि इसमें तीन कोठे हैं। इनमेंसे पहलेको बाहरी कान, दूसरेको बीचका कान और तीसरेको भीतरी कान कह सकते हैं। बाहरी कानमें एक तो वह ऊबड़-खाबड़, ऊँचा-नीचा, पंखे या सूप-जैसा कनपटी-पर उठा हुआ पंखा (लोर) है जो सामनेसे आनेवाली ध्वनिकी लहरको इधर-उधर बहककर निकल जानेसे रोकनेके लिये आड़ बनकर खड़ा रहता है। जैसे सिंधके हैदराबाद नगरमें सब घरोंकी छतोंपर बने हुए मंघे (मकानोंके कान), दक्षिणसे आनेवाले वायुको रोककर नीचे तीन खण्डोंतक पहुँचा देते हैं वैसे ही हमारे कानके ये उठे हुए पंखे बाहरसे आनेवाली ध्वनियोंकी लहरोंको रोककर कानके भीतर घुमा देते हैं और वे लहरें इसी ढकनेसे लगी हुई नली या छेदसे होकर भीतर उस झिल्ली-तक पहुँच जाती हैं जो इस बाहरी कान और बीचके कानके बीचमें ओट बनकर खड़ी रहती है।

बीचका कान एक छोटी सी कोठरी-जैसा है जिसमें हथौड़े (मुद्‌गर), निहाई और घोड़ेकी काठीके पावदान (रकाब) की बनावटकी हड्डियाँ होती हैं। इन हड्डियोंका हथौड़ेवाला सिरा तो बाहरी और बिचले कानकी झिल्लीसे सटा रहता है और दूसरा सिरा भीतरी कानके बाहरी छेदसे मिला रहता है।

भीतरी कानमें शंखकी आकृतिका एक हड्डीका ढाँचा (कौक्लिया) होता है जिसके विवरमें झिल्लियाँ बनी रहती हैं। इन झिल्लियोंके बीच कुछ पनियल रस भरा रहता है। इस शंख-जैसे हड्डीके ढाँचेके दूसरी ओर भीतरी सिरेकी झिल्लीसे मिली हुई पतली-सी नली हमारे बुद्धि कक्षसे जाकर जुड़ जाती है। कोई भी ध्वनि जब बाहरसे कानमें घुसती है तब वह बाह्य और मध्य कानके बीचकी झिल्लीको कँपा देती है। उसके कँपनेसे बीचके कानकी तीनों हड्डियोंमें हलचल होती है और वे भीतरी कानके

शंखमें बहते हुए पनियल रसमें लहरें उठाती हैं। वे लहरें बुद्धिकी कोठरीसे जुड़ी हुई नलीके सहारे हमारी बुद्धि-तक सब ध्वनि पहुँचा देती हैं। पीछे (§ ५) बताया गया है कि जो सुना जाय उसीको ध्वनि कहते हैं।

कानमें जहाँ यह ज्ञान होता है कि यह मधुर है या कठोर, कैसी है, कहाँसे, किस वेगसे आई कितनी ऊँची या नीची है, कितनी दूरसे आ रही है, वहीं यह भी ज्ञान होता है कि यह किस पदार्थ या किन पदार्थोंके आघातसे तथा किन जीवोंके मुखसे आ रही है और क्यों आ रही है। इसका अर्थ यह है कि ध्वनिका सम्बन्ध केवल कानसे नहीं वरन् बुद्धिसे भी है जो प्रत्येक ध्वनिका अर्थ स्पष्ट करती है। इसपर भारतीय भाषा-शास्त्रियों और मीमांसकोंने बड़े विस्तारसे विचार किया है।

वाणीकी अभिव्यक्ति-प्रक्रिया

§ ८४. आत्मा, बुद्धि, मन, शरीरकी अग्नि और वायुसे वाग्ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं।

पाणिनिने अपनी शिक्षामें वाग्ध्वनिकी उत्पत्तिका क्रम समझाते हुए कहा है कि जब हम कोई काम करना चाहते हैं तो पहले हमें उस कामकी जानकारी होती है, फिर उसके लिये इच्छा उत्पन्न होती है और तब हम उसे पाने या पूरा करनेके लिये यत्न करते हैं। इसी प्रकार जब हम कुछ बोलते हैं तब हमारे बोलनेसे पहले भीतर ही भीतर बहुत-सी क्रियाएँ हो चुकती हैं। इन्हीं क्रियाओंको समझाते हुए पाणिनि कहते हैं—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णान् जनयते तेषां विभागः पंचधा स्मृतः।
स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः॥

[बोलनेसे पूर्व हमारा आत्मा बुद्धिके साथ मिलकर कोई भी अर्थ या बोलनेका विषय ग्रहण करके मनको बोलनेकी इच्छासे प्रेरित करता है। तब शरीरके भीतरकी आगको मन भड़काता है और वह आग वायुको झकझोरती है। वह वायु हृदयमें पहुँचकर धीरे-धीरे गूँजता है और तब वह वायु वहाँसे ऊपर चढ़कर सिरसे टकराकर मुँहमें पहुँचकर बहुतसी ध्वनियाँ उपजाता

है। ध्वनिके उतार-चढ़ाव (स्वर), बोलनेमें समय (काल), बोलनेका स्थान, बोलनेमें किया हुआ आन्तरिक प्रयत्न और अनुप्रदान या बाह्य प्रयत्नके भेदसे ये वर्ण पाँच प्रकारके हो जाते हैं]

इस प्रक्रियामें दो बातें समझनेकी हैं। एक तो मनका शरीरकी आगको भड़काना और वायु उपजाना, दूसरे उस वायुका हृदयमें जाकर गूँजना। ये काम बोलनेके साथ होते हैं या नहीं इसपर अभीतक खोज नहीं की गई है। फिर भी इसे हम इस प्रकार समझ या समझा सकते हैं। जब हम कोई भी अच्छी या बुरी वस्तु देखते हैं या अच्छी बुरी बात सुनते हैं तो हमारे शरीरमें भीतर ही भीतर हलचल होती है। यह हलचल तभी हो सकती है जब भीतरकी आग या उष्णता सुलग खड़ी हो। इसीलिये जलना (डाह करना), आग-बगूला होना या जल उठना (बिगड़ खड़े होना) जैसे मुहावरे भी बन गए हैं। इसी उष्णतासे प्रेरित होनेपर ही बोलनेके निमित्त भीतरका वायु बाहर निकलता है। रोगकी अवस्थामें शरीरकी अग्नि अत्यन्त मन्द हो जाती है इसलिये रोगी अत्यन्त मन्द स्वरमें बोलते हैं। ऊपरके विवरणसे यह भी स्पष्ट हो जायगा कि वाणी केवल शारीरिक प्रयत्नका ही फल नहीं वरन् मन, बुद्धि और आत्माके प्रयत्नका परिणाम है।

स्फोटवाद

भारतमें व्याकरण लिखनेवालों और शास्त्र लिखनेवालोंने ध्वनिसे निकले हुए अर्थकी छान-बीन करते हुए उस प्रसंगमें स्फोटकी चर्चा की है। कुछ लोग स्फोट उसे कहते हैं जिसमेंसे अर्थ निकले (स्फुटति अर्थों यस्मात्)। ये लोग वर्णस्फोट मानते हैं और कहते हैं कि एक-एक वर्ण (अक्षर) से अर्थ निकलता है और इन अलग-अलग अर्थोंवाले वर्णोंसे ही शब्द (पद) बनता है। ये लोग अभिहितान्वयवादी कहलाते हैं।

कुछ लोग पद-स्फोट मानते हैं और कहते हैं कि वर्णोंसे नहीं वरन् शब्द या पदसे ही अर्थ निकलता है। ये लोग मानते हैं कि एक-एक शब्दके अर्थमें एक-एक वाक्यका अर्थ भी रहता है। ये लोग अन्विताभिधानवादी कहलाते हैं।

परन्तु व्याकरणवाले इन बातोंको नहीं मानते। वे शब्दोंके एकत्र होने-भरको वाक्य नहीं मानते क्योंकि वे कहते हैं कि वाक्य तो शब्दसे अलग अपना

भिन्न ही अर्थ देता है। शब्दका अपना कोई अर्थ नहीं होता, क्योंकि संसारमें जितने भी लोग हैं वे सब अपनी बोलचालमें वाक्य ही काममें लाते हैं, शब्द नहीं।

महाभाष्यकार पंतजलिने स्फोटको शब्द, और ध्वनिको शब्दका गुण माना है। इस ध्वनिको भी वे दो प्रकारका मानते हैं—१. प्राकृत और मौलिक जो स्वाभाविक और सदा रहनेवाली (नित्य) है, और २. वैकृत या बनावटी जो सदा नहीं रहती, अनित्य है। वास्तवमें शब्दका कोई महत्त्व नहीं है। हम जिसे अपनी बोलीमें 'घोड़ा' कहते हैं उसे तमिलमें 'कुदरइ' कहते हैं। वहाँ घोड़ा कहनेसे उस चार पैरवाले जीवको कोई नहीं समझेगा जो हम समझाना चाहते हैं। इसलिये 'घोड़ा' शब्द वहाँ इच्छित स्फोट या अर्थ देनेवाला नहीं होगा। इस प्रकार किसी शब्दका अर्थ उसके सुननेवालेकी बुद्धिपर निर्भर है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि यदि सुननेवाले अलग-अलग हुए तो उन्हें अर्थ भी अलग-अलग जान पड़ेंगे। किसी कवि-सम्मेलनमें बेढंगी और बेसुरी कविता पढ़नेवाले कविको 'भाई वाह! क्या कहने'का अर्थ प्रशंसा लगता है और दूसरोंको निन्दा लगता है। यहाँ स्फोट या शब्दसे तो कविजीकी बड़ाई है पर उसके छिपे हुए अर्थमें निन्दा भरी हुई है। यदि हम किसी अरबमें रहनेवालेको संस्कृतमें गाली देने लगें और अपना मुँह ऐसा बनाए रक्खें मानो हम उसकी बाईड़ कर रहे हों तो ऐसी दशामें स्फोट शब्द और ध्वनि दोनों बेकाम हो जाती है और हमारे मुखकी मुद्रा ही उस समय अर्थवती हो जाती है। कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है कि जब कोई व्यक्ति बहुत काममें उलझा हुआ हो और अपने यहाँ आए हुए अतिथिकी आवभगत न करके इतना ही कह देता है—'थोड़ा बैठिएगा', इससे वह अतिथि तो बहुत बुरा मान जाता है पर सचमुच वह कहनेवाला उस अतिथिका पूरा आदर करना चाहता है।

एक राजा साहब प्रातः काल अपने सामने खड़े हुए पाँच नौकरोंसे एक साथ कहते हैं—'ले आओ।' पाँचों क्रमशः बालटीमें पानी, दाँतका मंजन, साबुन, नहानेका पीढ़ा और धोती-तौलिया ले आते हैं। उन पाँचोंको 'ले आओ' कहने यह कैसे समझमें आ गया कि हमें क्या ले आनेको कहा गया। पर जिनका जो काम पहलेसे बँधा हुआ है उसके अनुसार ही वे 'ले आओ'का अर्थ लगा लेते हैं। कभी-कभी हम सड़कपर चलते जाते हैं और कोई पुकार देता है 'पंडितजी', तो हम घूमकर उसकी

ओर देखने लग जाते हैं मानो संसारमें एक हम ही पंडितजी हों। इसलिये कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक-सा नाम होनेसे हम दूसरेके लिये संबोधनको अपने लिये समझ बैठते हैं। यहाँ भी स्फोट (शब्द) का न तो अर्थ ही काम आता है न ध्वनि। कभी-कभी जब कोई चोर पुलिसके डरसे भागता है तो एक राह-चलतेके मुँहसे भी 'ए' सुनकर समझने लगता है कि यह गुप्तचर होगा और मुझे ही संकेत कर रहा है। यहाँ पहलेसे मनमें बैठा हुआ डर इस भ्रान्ति-पूर्ण अर्थको मनमें बैठाता है, स्फोट और ध्वनि नहीं।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि बातचीत तो किसी दूसरेको लेकर हो रही है और हम उसे अपने सिर मढ़कर इसी चिन्तामें घुले जाते हैं कि यह क्यों हमारे लिये ऐसी बात कर रहा है। इसलिये कभी-कभी हमारा अज्ञान भी हमें बिना बातके एक ऐसा अर्थ समझनेको विवश करता है जिसका हमसे कुछ लेना-देना नहीं। इसीके भीतर वह सब अज्ञान भी आ जाता है जिससे हम अनहोनी बातको भी सत्य मानकर मूर्ख बन जाते हैं। बेढबजीने एक डाक्टरसे कहा कि अमरीकामें एक मंजन तैयार हुआ है जिसे अपने बनावटी दाँतपर आप लगा लीजिए तो दाँत जम जायँ। डाक्टर साहब उसे सत्य समझ बैठे और लगे मंजनका ठिकाना पूछने क्योंकि उनके मनमें यह बात तो बैठी ही हुई थी कि विज्ञान बड़ी अनहोनी बातें भी सामने दिखा रहा है इसलिये उन्होंने इसे भी सत्य समझ लिया।

स्फोट और ध्वनि

§ ८५. स्फोट शब्द है और ध्वनि उस शब्दका गुण है।

भारतीय दर्शनोंमें जहाँ यह बताया गया है कि किन-किन प्रमाणोंके होनेसे कोई बात मान्य की जा सकती है वहाँ उन्होंने शब्दको भी प्रमाण माना है। वहाँ कहा गया है कि वह प्रमाण या तो शब्दोंसे दिया जाता है या बहुतसे शब्दोंसे बने हुए ऐसे वाक्यसे जिसके शब्द एक दूसरेके साथ मिलकर अर्थ व्यक्त करते हों। यों तो सामान्यतः यह माना जाता है कि शब्दोंके अर्थ निश्चित होते हैं पर इस बातपर सब लोग एकमत नहीं हैं। कुछ लोग यह मानते हैं कि शब्दोंके जो पुराने निश्चित अर्थ हैं वे सदासे चले आ रहे हैं और वे ईश्वरके बनाए हुए हैं। दूसरे लोग यह समझते हैं कि वे सदासे नहीं हैं, मनुष्यने बनाए हैं और मनुष्यने ही शब्दोंके अर्थ स्थिर किए हैं। यह कहा जाता है कि विश्वसनीय महापुरुष किसी शब्दका जो अर्थ

बतावें या जो अर्थ वे मानते चले आए हों वही ठीक मानना चाहिए। इसपर लोगोंने कहा कि सबसे बड़ा तो भगवान् या ब्रह्म है और क्योंकि वेद उसी ब्रह्मके शब्द हैं इसलिये वेद ही सबसे बड़े प्रमाण हैं। पर मीमांसक लोग इसे नहीं मानते। वे तो शब्दको सदासे चला आता हुआ (नित्य) मानते हैं। वे कहते हैं कि शब्दकी सब ध्वनियाँ सदासे चली आ रही हैं, नित्य हैं।

भारतीय शब्द-शास्त्रके आचार्योंने ध्वनिके सम्बन्धमें दार्शनिक दृष्टिसे विचार करते हुए स्फोट और ध्वनिपर अत्यन्त गम्भीर विचार किया है। प्रसिद्ध भाष्यकार पतञ्जलिने कहा है—

स्फोटः शब्दः। ध्वनिः शब्दगुणः। कथं? भेर्याघातवत्। स्फोटस्तावानेव भवति। ध्वनिकृता वृद्धिः।

ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।
अल्पो महाँश्च केषांचिदुभयं तत्स्वभावतः॥ महाभाष्य १।१।६७

[स्फोट शब्द है और ध्वनि शब्दका गुण है अर्थात् शब्दमें स्फोट और ध्वनि दोनों रहते हैं। इन दोनोंमेंसे ध्वनि ही प्रत्यक्ष होती है। हम जिस स्वरको छोटा या बड़ा, बढ़ता और घटता समझते हैं वह ध्वनि ही है। कभी-कभी स्फोट और ध्वनि दोनों ही प्रत्यक्ष होते हैं जैसे मनुष्यकी व्यक्त वाग्ध्वनिमें स्फोट और ध्वनि दोनोंका ज्ञान होता है। घण्टे आदिकी अव्यक्त ध्वनिमें केवल ध्वनिका ही ज्ञान होता है। किन्तु स्फोट और ध्वनि दोनों सब स्थानोंपर स्वाभाविक रूपसे विद्यमान रहते हैं। नगाड़ेपर थाप देनेसे नगाड़ेका शब्द समान दूरीतक नहीं जाता वरन् थापकी चोटसे कोई ध्वनि थोड़ी दूरतक जाती है कोई अधिक दूरतक, कोई देरतक रुकती है, कोई थोड़े समयतक। किन्तु थापसे उत्पन्न ध्वनिका स्फोट सदा एक-सा ही होता है किन्तु उसकी वृद्धि या कमी केवल ध्वनिके कारण होती है।]

तात्पर्य यह है कि ध्वनि तो स्फोटका व्यञ्जक या बोध करानेवाली होती है। शब्द व्यंग्य होता है और ध्वनि उसका व्यञ्जक है। उस व्यञ्जक ध्वनिमें ही वृद्धि और कमी दिखाई पड़ती है। ध्वनिको इसीलिये शब्दका गुण बताया गया है कि वह स्फोटको प्रकट करती है। स्फोटसे ध्वनिकी उत्पत्ति होती है इसलिये उनमें कार्य-कारण सम्बन्ध है अर्थात् स्फोट कारण

है और ध्वनि कार्य है। इनमेंसे ध्वनि तो कानसे सुनी जाती है और स्फोटका ज्ञान या ग्रहण बुद्धिसे किया जाता है। इसलिये अर्थ-ज्ञानकी दृष्टिसे दोनोंकी आवश्यकता होती है।

स्फोट और ध्वनिमें भेद बताते हुए व्याकरण लिखनेवालोंने कहा है कि स्फोट कारण है और ध्वनि कार्य है। जो कानसे सुना जाय वह ध्वनि होती है जैसे 'घोड़ा' शब्द मुँहसे निकलनेपर यह दो अक्षरोंकी ध्वनि फूटी और दूसरेको सुनाई दी। यह तो ध्वनि है, पर सुननेवालेने यह शब्द सुनते ही अपने पहलेके ज्ञान या बुद्धिसे एक चार पैरका वेगसे चलनेवाला जीव समझ लिया। यह समझमें आनेवाला अर्थ ही स्फोट है। पतञ्जलिका कहना है कि अर्थ-ज्ञानके लिये दोनों अपेक्षित हैं। इसे हम इस प्रकार समझा सकते हैं। कोई वक्ता जब-जब 'घोड़ा' शब्द कहता है तब-तब उसकी बुद्धिमें बैठा हुआ घोड़ेका रूप उससे 'घोड़ा' शब्द कहलाता चलता है। यहाँ 'घोड़ा' शब्द ही स्फोट है और वह वक्ताके मुँहसे कही जानेवाली 'घोड़ा' ध्वनिका कारण है और सुनते समय सुननेवालेकी बुद्धिमें बैठे हुए घोड़ेके स्फोट शब्दके (अर्थ) को प्रकट करता है। इसी प्रकट किए हुए स्फोटसे ही अर्थ जाना जाता है। व्याकरणवाले लोग मानते हैं कि वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ बतानेवाले वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक शब्द या उनमें रहनेवाली जातिको ही स्फोट कहते हैं या यों कहिए कि वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक शब्द ही स्फोट होते हैं।

स्फोट और ध्वनिका सम्बन्ध

पतञ्जलिने स्फोटको सदा रहनेवाला शब्द (नित्य शब्द) तथा सदा रहनेवाला सम्बन्ध (नित्य सम्बन्ध) माना है और कहा है कि यह स्फोट ही प्रतिभा या वह शक्ति है जो शब्दमें रहनेवाले अर्थको चमकाती चलती है। शब्दमें यही अर्थ चमकाने या अर्थ निकालनेकी शक्ति भरना ही ध्वनि है। व्याकरण लिखनेवाले मानते हैं कि शब्द ही अपने आपमें स्फोट और ध्वनिका मेल है। न स्फोटके बिना ध्वनि रह सकती है न ध्वनिके बिना स्फोट रह सकता है। स्फोट ही शब्द है और ध्वनि ही उसका गुण है। स्फोट ही आकाश है और ध्वनि ही उसका गुण है। इसलिये स्फोटको शब्द और ध्वनिको अर्थ समझना चाहिए। इसे स्पष्ट समझाते हुए उन्होंने बताया है कि स्फोट ही वास्तविक तत्त्व (प्रकृति) है और ध्वनि ही उसकी पहचान (प्रत्यय) है। स्फोट ही ब्रह्म

है और ध्वनि ही उसकी माया है। स्फोट है आत्मा और ध्वनि है शरीर, स्फोट है प्रतिभा और ध्वनि है ज्ञान। स्फोट है न दिखाई देनेवाला परोक्ष और ध्वनि है दिखाई देनेवाली प्रत्यक्ष। स्फोट है छोटेसे छोटा अंश (परमाणु) और ध्वनि है अणु। स्फोट है कभी न मिटनेवाला अक्षर और ध्वनि है मिटनेवाली क्षर। स्फोट है सदा रहनेवाला (नित्य) और ध्वनि है सदा न रहनेवाली (अनित्य)। इसलिये पतञ्जलिने स्फोट और ध्वनि दोनोंको शब्द कहा है और इस स्फोट रूपवाले शब्दको समझाते हुए वे कहते हैं कि वह नित्य, कूटस्थ और अविकारी है या यों कहिए कि उसमें कोई कमी नहीं होती, उसमें कुछ जुड़ता नहीं, उसमें कोई बिगाड़ नहीं होता और वह कभी मिटता नहीं। अतः, यहाँ ध्वनिका अर्थ केवल कानसे सुनी हुई ध्वनि नहीं वरन् बुद्धिसे समझा हुआ अर्थ है।

वैयाकरणोंने १. वर्ण-स्फोट, २. पद-स्फोट, ३. वाक्य-स्फोट, ४. अखंड पद-स्फोट, ५. अखण्ड वाक्य-स्फोट, ६. वर्ण-जाति-स्फोट, ७. पदजातिस्फोट, ८. वाक्य-जातिस्फोट, इन आठोंमें वाक्यस्फोटको ही सबसे अधिक सत्य और ठीक माना है। भट्टोजि दीक्षित, कौण्ड भट्ट, नागेश, श्रीकृष्ण, मण्डन मिश्र, शंकराचार्य और भरत मिश्र आदि सभी आचार्योंने माना है कि स्फोटवाद ही ठीक मत है जिसमें वाक्यस्फोट ही सबसे दृढ और सच्चा है।

पर मुख्य प्रश्न यह है कि अर्थ निकलता ही क्यों है? भारतके व्याकरण लिखनेवाले लोगोंने माना है कि पद या शब्दसे अर्थ नहीं निकलता, अर्थ तो वाक्यसे ही निकलता है। इसलिये वाक्य ही सत्य है। यह कहकर उन्होंने वाक्यका अर्थ छह प्रकारसे साधा है—प्रतिभा, संसर्ग, संसर्गके कारण, विशेषार्थक किन्तु निराकांक्ष पदार्थ, संश्लिष्ट अर्थ, क्रिया-प्रयोजन। इसका विशेष विवेचन अर्थके प्रसंगमें किया जायगा।

मीमांसावालोंका कहना है कि जिस बातको हम नहीं जानते उसे जना देनेका काम शब्द करता है, इसलिये वह निश्चित और अमिट अर्थात् स्थायी प्रमाण है। उस शब्दको समझनेके लिये किसी दूसरे सहारेकी आवश्यकता नहीं रहती इसलिये वह निश्चित और स्वतःसिद्ध है। यह शब्द, बनावटी या अलल-टप हाथ-पैर चलाकर समझा देनेवाला संकेत-भर नहीं है। यह सत्य स्वाभाविक है। इसलिये यह बिना रुकावटका और बिना मिलावटका (आनिर्बाध, अव्यतिरेक और अव्यभिचारि सत्य) है। जैमिनिने कहा है कि शब्द और अर्थ दोनोंका सम्बन्ध सदासे अमिट (नित्य

है)। शब्द होगा तो अर्थ भी होगा और अर्थ होगा तो शब्द भी होगा और जब उन दोनोंका नाता अमिट है तो उनके बतलानेवाले और बताए हुए (बोधक-बोध्य सम्बन्ध) होनेका नाता भी अमिट और स्पष्ट है। जैमिनिने अपने आप ही अपनी इस बातपर छह प्रश्न खड़े किए और उन सबका उन्होंने अपने-आप उत्तर देकर अपनी बातको सिद्ध किया है। वे प्रश्न ये हैं—

१. कुछ लोग (गौतम और कणाद) कहते हैं कि शब्द एक बोलनेका ढंग-भर ही तो है जो क्षणभर रहता है और मुँह या जीभको एक विशेष ढंगसे चलाने-हिलानेसे निकलता है। इसलिये क्रियासे पूर्ण (क्रियात्मक) शब्दके बोले जानेसे पहले वह शब्द नहीं रहता, बोलनेके पीछे समझमें आता है। उसके लिये कुछ करना नहीं पड़ता। पर वह सदा बना रहता है इसलिये क्रियात्मक और क्षणभर रहनेवाले (अनित्य) का आपसमें क्या सम्बन्ध हो सकता है ?

२. शब्द तनिक भी ठहरनेवाला (स्थिर) नहीं होता। उसे देखनेसे जाना जाता है कि शब्द पहले क्षणमें उपजता है, दूसरेमें रहता है और तीसरेमें मिट जाता है।

३. लोग कहते हैं कि शब्द मत करो। इससे समझमें आता है कि शब्द मनुष्यने बनाया है। तब वह सदा रहनेवाला (नित्य) कैसे हो सकता है ?

४. एक ही शब्दको एक ही स्थानपर बहुतसे लोग बोलते और सुनते हैं। यदि शब्द एक और नित्य होता तो एक साथ बहुत-से स्थानोंपर कैसे बोला जा सकता था ?

५. व्याकरण और भाषाओंको देखनेसे जान पड़ता है कि सब शब्द कुछ न कुछ विकृत होकर वाक्यमें पहुँचते हैं। पर शब्द यदि नित्य होता तो उसमें विकार कैसे हो सकता क्योंकि नित्य वस्तुमें विकृति नहीं होती।

६. शब्द ऊँचा और नीचा सुना जाता है। यदि बोलनेवाले बहुत हों तो शब्द बढ़ जाता है और ऊँचा हो जाता है, कम हों तो नीचा या कम हो जाता है। जिसमें इस प्रकारका घटना-बढ़ना हो वह नित्य कैसे हो सकता है ?

इसका उत्तर देते हुए जैमिनिने स्वयं कहा है कि—

१. नित्य और निराकार शब्द भी बोलनेसे पहले कौन जानता है। पर वह रहता तो है ही, इसलिये वह नित्य ही है।

२. कोई शब्द मिटता नहीं। वह रहता तो जैसेका तैसा है, बस सुननेमें नहीं आता। इसलिये वह नित्य ही है।

३. शब्द करो या शब्द न करो जब कहा जाता है तब वह केवल ध्यान दिलानेके लिये कहा जाता है, शब्दके लिये नहीं।

४. जैसे एक सूर्य एक ही समय बहुत स्थानोंपर देखा जाता है, वैसे ही एक नित्य वर्तमान शब्द बहुत स्थानोंपर कहा और सुना जा सकता है।

५. व्याकरणके अनुसार जो शब्दमें विकार बताया जाता है वह विकार नहीं है। उसमें तो दोनों भाग अलग-अलग विद्यमान रहते हैं। इसलिये उन्हें विकृति नहीं समझना चाहिए।

६. ऊँचा या नीचा बोलनेसे शब्द नहीं वरन् स्वर ही घटता या बढ़ता है।

ध्वनियोंमें परिवर्त्तन

किसी भाषाकी ध्वनियाँ कभी स्थिर नहीं बनी रहतीं। उनमें निरन्तर परिवर्त्तन होता रहता है। यह परिवर्त्तन जिन अनेक कारणोंसे सम्भव होता है उनके सम्बन्धमें भाषा-शास्त्रियोंने बड़े विस्तारसे विचार किया है।

§ ८६. प्रयोक्ताके अज्ञान, मिथ्यानुकरण, भावावेग तथा स्थानीय भाषा-प्रकृतिके कारण ध्वनियाँ बदलती रहती हैं।

जिन विद्वानोंने ध्वनि-परिवर्तनके सम्बन्धमें विचार किया है उनका कथन है कि 'कोई विशिष्ट ध्वनि अनेक कारणोंसे परिवर्तित होती रहती है जिनमेंसे निम्नांकित कारण विशेष महत्त्वके हैं—१. मुखकी बनावट अर्थात् अलग-अलग प्रकारके गोल, भरे, लम्बे, बिना दाँतवाले या बड़े दाँतवाले मुख होनेसे, दबी या उठी हुई नाकवाले, आगे निकले हुए या भीतरको दबे हुए मुख होनेसे अथवा मुखके भीतर जीभ आदि किसी अङ्गके सदोष होनेके कारण ध्वनिमें अन्तर हो जाता है; २. कानकी बनावट भिन्न होनेके कारण अर्थात् कानमें किसी प्रकारका दोष होनेके कारण अथवा प्रथम बार बोली हुई किसी ध्वनिको ठीक समझ न पा सकनेके कारण उच्चारण-दोष आ जाता है; ३. कभी-कभी व्युत्पत्ति-ज्ञान न होनेसे भी अर्थात् किसी शब्दका ठीक अर्थ और उसकी प्रकृति न समझनेके कारण भी ध्वनि-दोष आ जाता है; ४. भाषाका संस्कार न होनेके कारण प्रायः इस प्रकारकी अशुद्धियाँ या ध्वनि-दोष आ जाते हैं; ५. कभी-कभी भ्रमवश अशुद्धको शुद्ध समझ लेनेके कारण भी इस प्रकारका दोष आ जाता है,

६. भाषणमें शीघ्रता करनेसे भी इस प्रकारकी अशुद्धियाँ आ जाती हैं और ध्वनिमें दोष आ जाता है; ७. प्रायः बोलनेमें सुविधा ढूँढ़नेके कारण भी इस प्रकारका दोष आता है; ८. अधिक स्नेह, लाड़ अथवा अधिक क्रोधमें बोलनेके कारण भी ध्वनिमें भेद पड़ जाता है; ९. अन्य भाषाओंके सम्पर्कमें आनेपर भी इस प्रकारका दोष आने लगता है; १०. विभिन्न प्रकारके जलवायुमें निवास करने अर्थात् भौगोलिक कारणोंसे भी ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है; ११. राज्य-विप्लव अथवा सामूहिक सङ्कटके कारण तितर-बितर हो जानेपर अन्य भाषा-भाषियोंका सम्पर्क प्राप्त हो जानेसे भी ध्वनि-दोष आ जाते हैं; १२. लेखनमें भ्रम होने और उसे शुद्ध न पढ़ पानेसे भी इस प्रकारका दोष आ जाता है; १३. लम्बे शब्दोंको छोटा करनेकी प्रवृत्तिसे, तथा ह आदि हल्के व्यञ्जनोंके निकलनेसे भी ऐसे दोष आ जाते हैं; १४. भाषाओंके विकासमें ध्वनियोंके हटने-बढ़ने और घिसनेसे भी ध्वनियोंमें परिवर्तन हो जाता है; १५. कभी-कभी कविताओंमें तुक बैठानेके लिये भी कवि जान-बूझकर ध्वनिमें परिवर्तन कर दिया करते हैं; १६. समान ध्वनियोंवाले शब्दोंके साथ आ जानेसे भी इस प्रकारका दोष हो जाता है; १७. स्वराघातसे; १८. सामाजिक सम्पर्कसे; १९. अनजाने विद्वत्ता झाड़नेसे; तथा २०. अन्य भाषाओंके शब्दोंपर अपने इच्छित अर्थोंका आरोप करनेसे भी ध्वनिमें दोष आ जाता है।

दो प्रकारके परिवर्तन

§ ८७. ध्वनियोंमें दो प्रकारके परिवर्तन माने गए हैं—स्वतःपरिवर्तन और बाह्य परिवर्तन।

विद्वानोंका कथन है कि ध्वनियोंमें दो प्रकारके परिवर्तन होते हैं—स्वतः या अपने आप (अन्कण्डीशनल या स्पौण्टेनियस), और २. बाह्य अथवा सम्पर्क (कण्डीशलन या कौण्टेक्ट) से होते हैं। उनका मत है कि बाह्य प्रभाव या सम्पर्कसे तभी परिवर्तन होता है जब ऊपर दिए हुए अनेक कारणोंमें-से कोई कारण उपस्थित हो जाता है। किन्तु स्वतःपरिवर्तन होनेके लिये कोई कारण नहीं होता। वह अकारण या अनायास हो जाता है। वास्तवमें कोई भी परिवर्तन स्वतः नहीं होता। निश्चय ही उसमें या तो अज्ञानता होती है या सज्ञान अनुकरण होता है या स्नेह अथवा क्रोधके कारण बोलनेसे परिवर्तन होता है या अपनी भाषाकी प्रवृत्तिके अनुसार ध्वनि-

परिवर्तन हो जाता है जैसे अँगरेज लोग 'तुम' को को 'टुम' कहते थे। कुछ विद्वानोंका मत है कि ध्वनियोंका अनुनासिकीकरण स्वत: होता है। किन्तु यह भी भ्रामक मत है। इस प्रकारका अनुनासिकीकरण करनेवाला व्यक्ति या तो ठीक ध्वनिसे परिचित नहीं होता अथवा उसकी नाकमें दोष होता है अथवा उसकी भाषाकी प्रकृतिमें ही किसी ध्वनिका अभाव होता है। अत:, स्वत: ध्वनि-परिवर्तनका कोई आधार नहीं है।

निरुक्तके अनुसार ध्वनि-परिवर्तनके कारण

§ ८८. निरुक्तकारने पाँच प्रकारका ध्वनि-परिवर्त्तन माना है—वर्णागम, वर्ण-विपर्यय, वर्ण-विकार, वर्णलोप, धात्वर्थातिशययोग।

निरुक्तकारने शब्दोंकी परीक्षा या निर्वचन करते हुए बताया है कि पाँच प्रकारसे शब्दोंमें ध्वनि-परिवर्तन होता है—१. वर्णागम : किसी नये अक्षरका बाहरसे शब्दमें आ जाना, २. वर्णविपर्यय : एक ही शब्दके अक्षरोंमें परस्पर इधरका उधर हो जाना, ३. वर्णविकार : शब्दके किसी एक वर्णके बदले दूसरा वर्ण आ जाना, ४. वर्णलोप या वर्णनाश : शब्दमेंसे किसी अक्षरका लुप्त या समाप्त हो जाना, ५. धात्वर्थातिशययोग : अर्थके अनुसार ही धातुका अर्थ मान लेना।

ध्वनि-परिवर्त्तनका वर्त्तमान सिद्धान्त

§ ८९. वर्त्तमान भाषा-शास्त्री पन्द्रह प्रकारसे ध्वनि-परिवर्त्तन मानते हैं।

वर्तमान भाषा-शास्त्रियोंने ध्वनियोंमें परिवर्त्तन होनेके सम्बन्धमें विस्तारसे विचार करके १५ प्रकार बताए हैं—१. वर्णागम अर्थात् शब्दमें नई ध्वनिका आगमन; २. विपर्यय, शब्दमें आई हुई ध्वनियोंका इधर-उधर हो जाना; ३. वर्णलोप, शब्दकी किसी ध्वनिका लुप्त हो जाना; ४. आत्मीकरण या सवर्णीकरण अर्थात् एक साथ मिलकर आई हुई दो भिन्न ध्वनियोंमेंसे एक ध्वनिका लोप होकर दूसरी ध्वनिका द्वित्व हो जाना; ५. विकार, रूप-त्याग या विषमीकरण अर्थात् शब्दमें समान दो ध्वनियोंमेंसे एकका अपना स्वरूप छोड़कर अन्य रूप धारण कर लेना; ६. सन्धि अर्थात् शब्दके भीतर आनेवाली दो ध्वनियाँ ऐसी मिल जायँ कि उनमें आए हुए कोई स्वर या व्यंजन या तो बाहर निकल जायँ या उनमें परिवर्तन हो जाय;

७. ऊष्मरण, अर्थात् किसी शब्दकी ध्वनियोंका ऊष्म (श, ष, स, ह) बन जाना जैसे क का श हो जाना; ८. अनुनासिकत्व अर्थात् किसी शब्दके कुछ वर्णोंका अनुनासिकमें बोला जाना जैसे—'यूका' का 'जूँ', 'भ्रू' का 'भौं', 'अक्षि' का 'आँख'; ९. अभिमात्रण या मात्राभेद अर्थात् किसी शब्दके किसी अक्षरका ह्रस्व या दीर्घ होना; १०. अघोष ध्वनिका घोष बन जाना, जैसे मकरका 'मगर' होना; ११. अघोषीकरण अर्थात् घोषका अघोष होना; १२. अल्पप्राणका महाप्राण होना, जैसे 'भक्त' का 'भगत'; १३. महाप्राणका अल्पप्राण होना, जैसे सिन्धुका हिन्दू; १४. स्वरभावन (उमलाउट या वौवेल म्यूटेशन) अर्थात् अपनेसे पहले स्वरको अपने रूपमें ढाल लेना; १५. स्वरावर्त या वौवेल ग्रेडेशन (ऐब्लाउट) अर्थात् किसी शब्दके एक स्वरको अदल-बदल-कर उस शब्दको अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त करना, जैसा 'मिला, मेला, मिलूँ, मिले, मिल, मेल' आदि।

ये ध्वनिपरिवर्तन किस क्रमसे और कितने प्रकारसे होते हैं इनका विवरण भी स्पष्टताके लिये जान लेना नितांत आवश्यक है।

ध्वनि-परिवर्त्तनके चार कारण

§ ९०. चार ही प्रकारसे ध्वनि-परिवर्त्तन होता है—वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्ण-लोप, वर्ण-विकार।

वास्तवमें सब परिवर्तन वर्णागम, वर्णलोप, वर्णविपर्यय और वर्णविकारके अन्तर्गत आ जाते हैं। आत्मीकरण या सवर्णीकरण, विकार अर्थात् रूप-त्याग या विषमीकरण, ऊष्मरण, अनुनासिकत्व, अभिमात्रण, घोषीकरण, अघोषी-करण, अल्पप्राणीकरण, महाप्राणीकरण, स्वरभावन या अभिश्रुति और स्वरपरिवर्तन या अपश्रुति आदि सभी वर्णविकारके अन्तर्गत आ जाते हैं। अतः, वास्तवमें चार ही प्रकारसे वर्ण-परिवर्तन होता है।

ऊपर बताया गया है कि विदेशी भाषा-शास्त्रियोंने ध्वनियोंमें परिवर्तन होनेके अनेक कारण बताए हैं कि किसी भाषामें किसी शब्दके अन्तर्गत प्रयुक्त होनेवाली कोई ध्वनि किस प्रकार परिवर्तित हो जाती है। इन कारणोंका विवेचन निम्नांकित प्रकारसे किया जा सकता है—

१. मुखकी भिन्नतासे, जैसे रामको ज़ाम या फ़ाम कहना अथवा किसी ध्वनिको गोल और बड़ा मुँह होनेके कारण गम्भीर स्वरमें या चौड़ा मुँह होनेके

कारण मुँह चौड़ाकर कहनेसे भी ध्वनियोंमें परिवर्तन हो जाता है जैसे 'लड़का' शब्दको 'लिड़िका' कहना।

२. कानमें दोष होनेके कारण या स्पष्ट न सुन पा सकनेके कारण, जैसे—'इजलास'को 'गिलास' कहना।

३. शब्दका यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण, जैसे—छात्रको क्षात्र कहना, इच्छाको इक्षा कहना।

४. भाषणमें शीघ्रता करनेसे, जैसे—अहमदाबादको अमदाबाद कहना।

५. भाषणमें उच्चारण-सुविधा ढूँढनेसे, जैसे—मास्टर साहबको माट्साब या मास्साब कहना।

६. प्यार या रीझ या क्रोधमें बोलनेसे, जैसे—संजयका संजू कहना।

७. अन्य भाषाओंके सम्पर्कमें आनेपर अपनी भाषा-ध्वनिके अनुसार शब्दकी ध्वनियोंका रूप ढाल लेना, जैसे—आर्ट्स कालेजका आठ कालेज या लैण्टर्नको लालटेन कहना।

८. भिन्न-भिन्न जलवायुमें रहनेके कारण।

९. किसी राज्य-विप्लव या युद्ध आदि भौतिक, दैवी या मानवीय विपत्तिके कारण विभिन्न प्रदेशोंमें चले जानेसे।

१०. लिखनेके भ्रमसे, जैसे—पंजाबमें उर्दूमें लिखनेके कारण 'तिलक' को 'तिल्क' कहते हैं अथवा हिन्दोमें 'खड्ग' को खड्ग पढ़ते हैं क्योंकि दोनोंमें केवल एक बिन्दीका ही अन्तर होता है।

११. लम्बे शब्दोंको छोटा करनेकी इच्छासे, जैसे—बाइसिकिलको साइकिल कहना।

१२. ह आदि हल्के व्यंजनोंके निकलनेसे, जैसे—पहलाको पैला कहना।

१३. ध्वनियोंके विकास और पल्लवनसे, जैसे—संस्कृतका वर्तते शब्द भोजपुरी भाषामें 'बाटै' बन गया।

१४. कवितामें तुक बैठानेके लिये तोड़ने-मड़ोरनेसे, जैसे—रावका राउ या राऊ बनना।

१५. समान प्रकृतिके शब्दोंके साथ भ्रांति होनेसे, जैसे—पंचम, सप्तम, अष्टम और नवमके जोड़में षष्ठको षष्ठम कहना।

१६. सुनी हुई ध्वनि मुखसे न निकाल पा सकनेके कारण, जैसे—'प्रधान' को 'परधान' कहना।

१७. स्वराघातसे, जैसे—'लोटा' को 'लोट्टा' अथवा 'कवि' को 'कवी' कहना ।

१८. अपनी भाषाकी प्रकृतिके अनुसार ध्वनिको ढालनेके कारण, जैसे—अवधीमें 'देखो' का 'द्याखऒ' और 'कोट' का 'क्वाट' हो जाता है ।

१९. सामाजिक संसर्गसे दुरुच्चरित होनेके कारण, जैसे—'कलेक्टर' को 'कलट्टर' और 'मिनिस्टर' को 'मिलस्टर' कहना ।

२०. किसी शब्दको बिना जाने पांडित्य-प्रदर्शनके लिये प्रयोग करनेसे, जैसे—जनाबको ज़नाब या शापको श्राप कहना ।

२१. अन्य भाषाओंके शब्दोंको अपनी भाषाकी ध्वनिके अनुसार अज्ञानताके कारण ढालनेके कारण, जैसे—आनरेरी कोर्टको अँधेरी कचहरी कहना ।

किन्तु वास्तवमें चार कारणोंसे ही ध्वनिमें परिवर्तन होता है—१. अज्ञानसे, २. मिथ्यानुकरण करनेसे, ३. अधिक स्नेह, भावावेग क्रोध या जान-बूझकर बिगाड़कर बोलनेसे, तथा ४. अपनी भाषाकी ध्वनिके आधारपर ढाल लेनेसे। ठीक न सुनने, शब्दका अर्थ और उसकी व्युत्पत्ति न जानने, शीघ्रता करने, सुविधा ढूँढ़ने, लेखन-दोष, लम्बे शब्दको छोटा करनेकी प्रवृत्ति, हलके व्यंजनोंको निकालनेकी वृत्ति, कवितामें तुक बैठाने, समान ध्वनियोंके कारण भ्रम होने, स्वराघात, सामाजिक सम्पर्क और अन्य भाषाओंके शब्दोंपर अपनी भाषाके अर्थ आरोपित करनेसे जो ध्वनिमें दोष आते हैं वे सबके सब अज्ञानके कारण आते हैं। जो लोग प्रारम्भसे भाषाका संस्कार प्राप्त करते हैं और शुद्ध बोलनेवालोंके सम्पर्कमें रहते हैं वे कभी इस प्रकारके दोष नहीं करते। एक ही व्यक्ति जब कई भाषा-भाषियोंसे सम्पर्क करता है तब वह उन लोगोंसे वार्तालापके समय उन्हींकी ध्वनियोंका अनुकरण करके बोलने लगता है। इसी प्रकार स्नेह या क्रोधमें बिगाड़कर बोलनेसे भी ध्वनियोंमें परिवर्तन हो जाता है। कभी-कभी अपनी भाषाकी प्रकृतिके कारण दूसरी भाषाका प्रयोग करनेसे भी ऐसे दोष आ जाते हैं। जहाँतक भौगोलिक कारणोंसे ध्वनि-परिवर्तनकी बात कही जाती है वह नितांत भ्रामक है क्योंकि एक कैस्पियन सागरके चारों ओर उक्रानी (रूसी), कौकेशी, आर्मीनी, तुर्की, बलगेरी और रूमानी भाषाएँ सुनाई पड़ेंगी जब कि उस सम्पूर्ण प्रदेशका जलवायु पूर्णतः एक प्रकारका है। इसी प्रकार स्पेनके

पूर्वमें समुद्रके तटवर्ती प्रदेशपर कतलान, पश्चिमी समुद्रतटपर पुर्त्तगाली और गलीकन और फ्रांस तथा स्पेनके सीमांतपर पूर्व-उत्तर कोणमें बास्क भाषा बोली जाती है। जिब्राल्टरके जल-डमरूमध्यके उत्तरमें स्पेनी और दक्षिणमें अरबी और बेर-बेर बोली जाती है। समान जलवायुके प्रदेशोंमें भी कई भाषाओंके अस्तित्वका कारण यही है कि जहाँ नदी, नद, पर्वत आदि किसी प्राकृत बाधाके कारण दो मानव-समुदाय अलग-अलग रहने लगे वहाँ भाषा-विभेद हो गया किन्तु जहाँ दूरतक इस प्रकारका बाधक तत्व नहीं रहा वहाँ ये परिवर्तन नहीं हुए, जैसे—दक्षिणी अफ्रीकामें बन्तू भाषा, पश्चिमसे पूर्वतक सुदानी और गिनिया भाषा तथा उत्तरमें सेमेटिक-हेमेटिक भाषाएँ अभीतक बोली जाती हैं क्योंकि अफ्रीकामें जहाँतक मैदान है वहाँतक एक ही बोली है। भारतमें बिहारके संथाल परगनेकी सन्थाली भाषा मगध-जैसे सशक्त, समृद्ध और सभ्य राष्ट्रके बीचमें होते हुए भी पहाड़ियोंसे घिरी रहनेके कारण वन्य और अलग ही बनी रही।

१. अज्ञानसे : प्रायः ध्वनिमें परिवर्तन या दोष आनेका मुख्य कारण अज्ञान होता है। यह अज्ञान या तो भाषा न जाननेके कारण होता है या सुनकर अपनी बुद्धिके अनुसार उसे ठीक माननेके कारण होता है या बिना अर्थ जाने उसका अनुकरण करनेके कारण होता है अथवा उसके सम्बन्धमें भ्रामक विश्वास होनेके कारण होता है। शापको श्राप कहना, छात्रको क्षात्र कहना, आश्रय और प्रश्रयको एक समझना, विकास और विकाशमें भेद न करना, जनाबको ज़नाब कहना अज्ञानका ही फल है।

२. कभी-कभी जान-बूझकर दूसरेकी भाषाओंका अनुकरण करनेसे भी ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है जैसे बंगाल या बम्बईमें जाकर उत्तर प्रदेशके लोग वहाँकी भाषाओंके अनुसार उच्चारण करने लगते हैं जैसे 'खबर'का बंगालमें 'खोबोर' कर देते हैं अथवा बम्बईमें 'किधर'का 'किदिर' बोलने लगते हैं।

३. स्नेह या क्रोधमें दुरुच्चरित करके बोलनेसे भी ध्वनि-दोष आ जाता है, जैसे—वीरबहादुरको स्नेह या क्रोधमें बीरू कहना।

४. अपनी भाषाकी प्रकृतिपर ढालकर दूसरी भाषाके शब्दका प्रयोग करना जैसे—बौटलको बोतल और लैन्टर्नको लालटेन कहना।

सभी भाषाओंमें उच्चारणकी कुछ अपनी प्रकृति होती है जो उस भाषाके प्रयोग करनेवाले लोग सदा उसका आश्रय लेते हुए प्रयोग करते चलते हैं।

प्रायः प्रत्यके व्यक्ति अपने घरमें ही अपने अपढ़ सेवकसे या छोटे बच्चोंसे एक प्रकारसे उच्चारण करता है और अन्य लोगोंसे दूसरे प्रकारसे।

अवधमें रहनेवाला एक व्यक्ति अपने सेवकसे कहता है—

'द्याखओ हुआँ जउन मनई होय उहिका दइ दिहओ'।

वही अवधी न जाननेवाले किसी अन्य पढ़े-लिखे व्यक्तिसे कहता है—

देखो, वहाँ जो मनुष्य हो उसे दे देना।

कलकत्तेका व्यापारी मारवाड़ी तीन प्रकारके व्यक्तियोंसे तीन ढंगसे बोलता है—

१. कुण ऐ, के ऐ, के खबर ऐ? (मारवाड़ीसे)
२. कौन है, क्या है, क्या खबर है? (उत्तर प्रदेशवालेसे)
३. की मौशाए, का आछे, की खोबोर? (बंगालीसे)

तात्पर्य यह है कि सुशिक्षित व्यक्ति भी अपनी भाषाका प्रयोग कई रूपोंमें करता है और किसी शब्दकी ध्वनियोंका उचित ज्ञान होनेपर भी वह श्रोताकी योग्यता, बुद्धि और भाषा-ज्ञानके आधारपर अपनी भाषाकी ध्वनियोंको परिवर्तित करता चलता है। इसे अज्ञान नहीं कह सकते हैं। यह तो जान-बूझकर दूसरेकी भाषाके अनुसार बोलनेका प्रयत्न कहलाता है। अतः, ध्वनियोंमें परिवर्तन होनेका दूसरा मुख्य कारण श्रोताकी भाषाके अनुसार अपनी भाषाकी ध्वनि परिवर्तित कर देना ही कहलायगा।

यह बताया जा चुका है कि स्नेह और क्रोधमें भी बोलनेसे ध्वनियोंमें परिवर्तन हो जाता है। छोटे बच्चोंको खिलाते हुए प्रौढ माता-पिता भी तुतलाकर या ध्वनि बदलकर उनसे बोलते या बोलनेका प्रयत्न करते या कभी-कभी उनका अनुकरण करते हैं। बहुतसे लोग किसीको चिढ़ानेके लिये भी उसकी विकृत ध्वनियोंका प्रयोग करते हैं। एक भृत्य जो बहुत दिनों-तक अत्यन्त शिष्ट परिवारमें कार्य करता रहा वह कटोरीको कुटोरी, कुत्ताको कूता और डिब्बाको डीबा कहता रहा। उसे चिढ़ानेके लिये घरके सभी बालक कुटोरी, कूता और डीबा कहते रहे।

ऊपर बताया जा चुका है कि मुख और कानकी बनावट भिन्न होने तथा जलवायु या प्रदेश बदलनेसे ध्वनियोंमें परिवर्तन नहीं होता। भारतके विशेषतः उत्तर प्रदेशके पूर्वी अंचलोंके सहस्रों व्यक्ति मौरिशश, फिजी, डच गायना और

ब्रिटिश गायना आदि सुदूर देशोंमें तथा मलाया, ब्रह्मदेश, जावा तथा थाइलेण्ड आदि पड़ोसके देशोंमें जाकर बस गए हैं किन्तु उनकी अपनी भाषापर वहाँका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वे सौ वर्षसे अधिक होनेपर भी आजतक अपनी ही भाषा-ध्वनियोंका प्रयोग कर रहे हैं।

बहुतसे विद्वानोंका कथन है कि मुख-सुख अर्थात् बोलनेकी सुविधाके कारण ध्वनियोंमें परिवर्तन आ जाता है। किन्तु यह कथन भी निराधार है। वास्तवमें जिन लोगोंको प्रारम्भमें किसी भी भाषाकी मूल ध्वनियोंका शुद्ध उच्चारण नहीं सिखाया जाता उन्हें मुख-सुखके प्रलोभनके कारण नहीं वरन् अज्ञानके कारण उच्चारणमें भ्रम और दोष होता है। भली भाँति उच्चारण सिखाया हुआ व्यक्ति कभी अशुद्ध नहीं बोलना चाहेगा। यदि मुख-सुख भी ध्वनि-परिवर्तनका कारण हुआ होता तो जर्मन आदि भाषाओंकी बहुत-सी श्रुतिकटु ध्वनियाँ फ्रान्सीसी-जैसी श्रुतिमधुर भाषाओंके पड़ोसमें रहकर न जाने कबकी बदल गई होतीं; जापान और चीनकी भाषाओंमें अलग-अलग रुकावट देकर बोलनेकी प्रकृति भी दूर हो गई होती और अ-ता-ए-रू (देना) जैसे शब्दकी अलग-अलग ध्वनियाँ अबतक अतैरू बन गई होतीं। इसी प्रकार तेलुगु भाषाका वेनेल (चाँदनी) और चन्द्रडु (चन्द्रमा) अबतक कभीका वेनल और चन्द बन गया होता। वास्तवमें उत्तर भारतकी विभिन्न बोलियोंके वर्णोंमें ध्वनि-परिवर्तन बहुत अधिक हुआ है जहाँ 'कृष्ण' शब्द 'कृश्न, क्रिशन, किशन, कन्ह, कान्हा, कान्धा, कन्हैया, करसन' आदि अनेक रूपोंमें बोला जाता है। इस प्रकारका भीषण और अतिगत ध्वनि-परिवर्तन संसारकी अन्य किसी भाषामें नहीं हुआ। उसका एक मात्र कारण यही है कि वहाँ निरक्षरताके कारण अधिकांश लोग अपढ़ रह गए जिन्होंने सब ध्वनियाँ बिगाड़ डालीं। नाट्यशास्त्रमें इसीलिये ध्वनि बिगाड़नेके कारणोंका विवेचन करते हुए कहा गया है—

एतदेव विपर्यस्तं गुण - संस्कार - वर्जितम्।
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम्॥

[यही संस्कृत ही अदल-बदल जाने तथा उच्चारणके गुण और संस्कारसे हीन हो जानेपर अनेक रूपोंवाली प्राकृत भाषा या जन-भाषा बन जाती है।] यही कारण है कि आर्योंने वेद और संस्कृतकी भाषाका स्वरूप तथा उसके वर्णोंका उच्चारण व्यवस्थित किए रखनेके लिये जिस शिक्षा और

व्याकरणकी व्यवस्था की उसका ह्रास हो जानेके कारण विभिन्न प्रदेशोंमें जो भाषा-संकर हुआ उसके कारण संस्कृतके शब्दोंकी सब ध्वनियाँ विशृंखलित हो गईं और भाषाशास्त्रियोंने भूलसे उसका कारण मुख-सुख मान लिया, यहाँतक कि कुछ भाषाशास्त्रियोंने तो इस विकारको भाषाका विकास-तक माननेकी भूल की है। किन्तु ये सब विकार और ध्वनियोंमें परिवर्तन अज्ञानके कारण ही हुए। धर्मको धरम, कर्मको करम और लैन्टर्नको लालटेन बना लेना अज्ञानका ही फल है, मुख-सुखका नहीं। इसी प्रकार इच्छाको इक्षा, छात्रको क्षात्र और शापको श्राप कहना भी अज्ञान और असावधानीका ही फल है।

प्रायः यह भी हुआ है कि शिष्ट सुशिक्षित पुरुषोंने किसी विकृत शब्दकी ध्वनियोंको सुधारकर उसे शिष्ट बना लिया। उन्होंने जैसे डुमराँवको द्रुमग्राम, सेगाँवको सेवाग्राम और लखनऊको लक्ष्मणपुर बना लिया वैसे ही यह सम्भव है कि पंडितोंने अपनी-अपनी विशिष्ट और शिष्ट भाषाकी प्रकृतिके अनुसार बहुतसे प्राकृत और देशी शब्दोंको भी अपनी भाषाकी व्युत्पत्तिके अनुसार सुधार लिया हो। चाहे विद्वान् लोग जान-बूझकर किसी देशी या प्राकृत शब्दके वर्णको शिष्ट रूपमें ढाल दें अथवा कोई अपढ़ तथा असंस्कृत व्यक्ति किसी शिष्ट भाषाकी ध्वनिको अज्ञानवश अथवा असंस्कारवश विकृत करके उच्चरित करे वह दोनों ही अवस्थाओंमें ध्वनि-परिवर्तन या वर्ण-विकार ही होगा अर्थात् 'सेगाँव' को 'सेवाग्राम' बनाना अथवा 'धर्म' को 'धरम' कहना या 'इच्छा' को 'इक्षा' कहना सभी वर्ण-विकार ही हैं।

§ ९१. विशेष भौगोलिक परिधिके वासियोंकी भाषा-ध्वनियाँ प्रायः नहीं बदलतीं।

मगध-जैसे शक्तिशाली, सुसंस्कृत तथा बौद्ध धर्मके प्रधान केन्द्र-स्थलमें रहनेवाली संथाल जाति संथाल परगनेकी सीमामें बँधी रहनेके कारण और बाहरके समस्त धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलनोंसे अस्पृष्ट रहनेके कारण अपनी भाषाको अक्षुण्ण बनाए रख सकी है। जहाँ बिहारमें—'मेरा नाम सूरज है' के लिये वे कहते हैं—'हमार नाँवँ सुरुज बाड़ै' कहते हैं, वहीं संथाली कहता है—'इञाक् ञुतुम दो सुरजू काना,' जिसका बिहारकी किसी भाषा (भोजपुरी, मगही, मैथिली आदि) से कोई साम्य नहीं है।

इस विचित्र घटनासे स्पष्ट है कि उत्तर भारत आदि जिन प्रदेशोंमें विभिन्न जातियों, भाषा-भाषियों, व्यवसायियों तथा अन्य वर्गोंका परस्पर सम्पर्क बढ़ता रहा वहाँ-वहाँकी भाषाओंमें और उन भाषाओंकी वर्ण-ध्वनियोंमें अराजकता व्याप्त होती चली गई। इस अराजकताको न तो वहाँकी प्रारम्भिक पाठशालाओंके अध्यापकोंने रोका, न शासनकी ओरसे उसे रोकने या टोकनेकी व्यवस्था की गई और न विद्वानोंकी ओरसे ही उस प्रकारका कोई प्रयास किया गया। उसका दुष्परिणाम यह हुआ कि उन भाषाओंके अनेक वर्ण अपनी मूल प्रकृतिसे पूर्णतः भिन्न हो गए। किन्तु दक्षिण भारतमें तमिळ, तेलुगु, कन्नड और मलयाळम् भाषाएँ अपनी-अपनी परिधिमें रहनेके कारण अपनी भाषा-ध्वनियोंका ऐसा संरक्षण कर सकीं कि उन भाषाओंमें जो वर्ण-ध्वनियाँ युगोंसे चली आ रही हैं उनमें आजतक भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ, यहाँतक कि वे लोग जब अँगरेजी भी बोलते हैं तो अपनी भाषाकी प्रकृति और स्वराघातके अनुसार ही अँगरेज़ीकी ध्वनियोंका व्यवहार करते हैं। वे 'रेलवे' को 'रइलवे' कहते हैं क्योंकि वे 'रेलगाड़ी' को 'रइलवण्डी' कहते हैं। तमिळमें आजतक भी 'कादु' (कान) शब्द 'कादू' नहीं बन पाया जैसे हिन्दीमें 'भानु' का 'भानू' हो गया।

वर्ण-परिवर्त्तनके पन्द्रह प्रकार

§ ९२. वर्तमान भाषा-शास्त्री १५ प्रकारसे ध्वनिमें परिवर्तन मानते हैं।

वर्त्तमान भाषा-शास्त्रियोंके अनुसार वर्ण-परिवर्त्तनके निम्नांकित प्रकार हैं—

वर्णका आगम, विपर्यय, लोप, सवर्णीकरण, विकार, सन्धि, ऊष्मरण, अनुनासिकीकरण, अभिमात्रीकरण, महाप्राणीकरण, अल्प-प्राणीकरण, अभिश्रुति, अपश्रुति, घोषीकरण, अघोषीकरण।

१. वर्णागम

§ ९३. कभी-कभी किसी शब्दके आदि, मध्य या अन्तमें कोई नवीन स्वर या व्यञ्जन आ जाता है।

किसी शब्दके आदि, मध्य या अन्तमें किसी नवीन स्वर या व्यंजनका प्रवेश हो जानेका कारण यह माना जाता है कि मनुष्य जब अपनी भाषाके उच्चारणमें अपनी जिह्वाको अधिक सुविधा देना या कम चलाना चाहता है तब ये नये वर्ण आते हैं। इस प्रकारके वर्ण स्वरोंमें, व्यंजनोंमें और कभी-कभी स्वर मिले हुए व्यंजनोंमें भी आ जाते हैं।

स्वरागम

किसी शब्दमें नये स्वर या तो शब्दके प्रारम्भमें या बीचमें या अन्तमें आते हैं।

(क) प्रारम्भमें स्वर आना (आदि-स्वरागम या प्रोथीसिस)।

ऐसा देखा गया है कि शब्दके प्रारम्भमें आकर लगनेवाला स्वर ह्रस्व होता है, जैसे—परौंठाका उपरौंठा, स्कूलका इस्कूल, स्थितिका इस्थिति, स्पष्टका अस्पष्ट, और स्तोत्रका अस्तोत्र। यह स्वरागम कभी तो उच्चारण-दोषसे, कभी जान-बूझकर, कभी अज्ञानसे होता है। उर्दूवाले तो सदा स्कूलको इस्कूल ही लिखते-पढ़ते हैं। यह नया स्वर शब्दसे पहले बहुतायतसे उन्हीं शब्दोंमें आता है जिनमें पहला अक्षर 'स'के साथ मिला होता है, जैसे—स्क, स्ट, स्त, स्प, स्न (इस्कूल, इस्टूल, इस्त्री, इस्पून, अस्नान आदि शब्दोंमें)। पर इनके अतिरिक्त भी बहुतसे शब्द हैं जहाँ इसी प्रकार प्रारंभमें स्वर आ लगताहै, जैसे—न्हानाके लिये अन्हाना, प्रबलसिंहका अपरबलसिंह और कलंकका अकलंक।

(ख) बीचमें स्वर आना (मध्य-स्वरागम, स्वरभक्ति या एनैप्टैक्सिस)

कभी-कभी दो व्यंजनोंके बीचमें भी कोई स्वर आ जाता है, जैसे—स्टूडेण्टको सटूडेण्ट, स्टूलको सटूल, स्नानको सनान, प्रसादको परसाद, पर्वको परब, प्रजाको परजा, स्वीकारको सुवीकार, ट्रामको टिराम, शास्त्रको शासतर और खड्गको खड़ग कहते हैं। पर इसका सबसे बढ़िया उदाहरण है 'मंडी' का 'मंडई' या 'निर्जल' का 'निराजल'।

(ग) पीछे स्वर आना (अन्त्यस्वरागम)

जिन भाषाओंके शब्दोंके अन्तिम वर्ण या अक्षर व्यंजन होते हैं वे अन्तिम व्यंजन हलन्तके समान ऐसे बोले जाते हैं मानो उनमें स्वर न हों, जैसे—कलमका कलम्, कुन्दनका कुन्दन्। पर ऐसे बहुतसे शब्दोंके अन्तमें कहीं-कहीं बल देनेके लिये 'आ' या 'ओ' लगानेका भी चलन है, जैसे—गनपतका गनपती, गनपतिओ या गनपतिआ।

बँगलामें भी इसी प्रकार 'कमल' को 'कोमोल्'; मराठीमें 'मदत' को 'मदत्' (सहायता) और गुजरातीमें 'जरूर' (आवश्यकता) को 'जरूर्' कहते हैं। तमिल, तेलुगु कन्नड, मलयालम् आदि द्राविड कुलकी भाषाओंमें कुछ शब्दोंके अन्तिम व्यंजन-वर्णपर स्वरका इतना बल देकर बोलते हैं कि वह 'अऽ' या 'आ' हो जाता है, जैसे—'केरल' का 'केरला' हो जाता है किन्तु स्वरहीन वर्ण हलन्त ही बने रहते हैं। यह बात केवल संज्ञामें ही नहीं, क्रियामें भी होती है—

तमिळ

तमिळके कुछ व्यंजनान्त शब्द अस्वर होते हैं कुछ सस्वर और वे वैसे ही बोले भी जाते हैं।

आँख = कण्

पैर = काल्

सुन = केळ्

किन्तु 'चल' कहनेके लिये 'वड' शब्दका अन्तिम 'ड' सस्वर 'डऽ' बोला जाता है।

तेलुगु

तेलुगुमें संज्ञाओंके अन्तमें 'उ, मु, डु' लगानेका प्रचलन है—

नीर = नीरु

पुस्तक = पुस्तकमु

ताला = ताळमु

मनुष्य = मनुष्युडु

क्रियापदोंके अन्तमें ह्रस्व व्यंजन ही आता है और वैसे ही बोला भी जाता है—

खा = तिनु

लाओ = रंडि

देख रहा है = चूचुचुन्नदि

कन्नड

कन्नडमें तो नामका अन्तिम दीर्घ वर्ण भी ह्रस्व हो जाता है—

सीता = सीतँ

गायिका = गायकि

कन्नडमें अन्तिम व्यंजन वर्ण हलन्त नहीं बोला जाता। उसके साथ या तो ह्रस्व स्वर लगा होता है, (जैसे—'भावि' (कुआँ), 'तंगि' (छोटी बहन), अगुवढु (होगी), या अन्तिम व्यंजन पर स्वरका बल देकर बोला जाता है, जैसे—अक्कऽ (बड़ी बहन); चिन्नऽ (स्वर्ण)।

मलयाळम्

मलयाळम्में कुछ शब्दोंका अन्तिम व्यंजन वर्ण या तो हलन्त होता है या उसके साथ ह्रस्व स्वर लगा होता है—

कुटम् = घड़ा

पकल् = दिन

आकुन्नु = है

तरुम् = देंगे

काणुम् = देखूँगा

किन्तु जिन शब्दोंका अन्तिम व्यंजन वर्ण सस्वर होता है वह सस्वर ही उच्चरित भी होता है। जैसे—

तलिकऽ = थाली; वलियऽ = बड़ा; मेशऽ = मेज़।

योरपकी सभी भाषाओंमें अन्तिम ह्रस्व व्यंजनको हलन्त ही बोलते हैं। फ़्रांसीसी भाषाके अधिकांश शब्दोंमें अन्तिम व्यञ्जन लुप्त हो जाता है, जैसे 'रेस्तोरेंत' का 'रेस्तराँ,' 'दूप्लेक्स' क 'दूप्ले'। अफ़रीकाकी स्वाहिली तथा बन्तू भाषाओंमें अन्तिम व्यंजन हलन्त ही बोला जाता है। चीनी, बर्मी, मलेशियाई, जावाई तथा चीनी भाषाओंके अन्तिम व्यंजन स्वर-रहित हलन्त ही बोले जाते हैं किन्तु जापानीमें प्रत्येक शब्दके अन्तमें या तो दीर्घ स्वर रहता है या ह्रस्वको जमाकर बोला जाता है।

सवर्णागम

(घ) समान स्वरका शब्दके प्रारम्भमें आना (सवर्णागम, अपिनिहिति या ऐपेन्थेसिस)।

कुछ लोग एक और भी प्रकारसे शब्दके प्रारंभमें स्वरका आना मानते हैं और उसे अपिनिहिति या सवर्णागम कहते हैं। कुछ लोग अपिनिहिति (सवर्णागम) और स्वर-भक्ति (व्यंजनोंके बीचमें स्वर आने) को एक ही मानते हुए कहते हैं कि स्वर-भक्ति तो दो व्यंजनोंके मेलसे बने हुए अक्षरसे पहले आती है जैसे इस्टेशन शब्दमें स्टेसे पहले इ, परन्तु अपिनिहिति वहाँ होती है जहाँ अकेले व्यंजनसे पहले स्वर आ जाय जैसे परौंठाके पहले उ लगाकर उपरौंठा या कलंकके पहले अ लगाकर अकलंक बोल जाता है। किन्तु ये दोनों आदि-स्वरागमके ही दो रूप हैं।

कुछ लोग मानते हैं कि सवर्णागम तब होता है जब शब्दमें एक स्वर पहलेसे रहता हो और उसीके साथ एक दूसरा उसीके समान स्वर उससे पहले आ पहुँचे, जैसे–संस्कृतके 'तरुण' शब्दमें 'रु' के साथ 'उ' लगा हुआ है वह अवेस्तामें अपने पहले 'उ' लगाकर 'तउरुण' हो जाता है। अवधी बोलोमें भी इसी प्रकार सवर्णागम होता है, जैसे—'लोटा' (ल + ओ + ट + आ) का ल्वाटा (ल + ओ + आ + ट + आ) हो जाता है। यहाँ आया हुआ स्वर 'आ' है। इस प्रकार तो 'तनिक' शब्दसे बिगड़े हुए 'तिनिक' शब्दके 'ति' में जो 'इ' आ गई है वह भी अपिनिहिति माना जायगा। पर वह सीधा स्वरागम है। बहुतसे लोग भूलसे 'स्त्री' को 'इस्त्री' बोले जानेवाले शब्दके 'इ' को भी समस्वरागम मानते हैं पर यह आदिस्वरागम ही है। कुछ लोग मानते हैं कि आदिस्वरागममें कोई भी स्वर आ सकता है जैसे 'स्तुति' में 'अस्तुति' पर अपिनिहितिमें ठीक वही स्वर आना चाहिए जो पहलेसे शब्दमें हो। पर यह सब भेद मानना ठीक नहीं है क्योंकि आदि, मध्य और अन्त-स्वरागममें ये सब भेद समा जाते हैं।

व्यंजनागम

किसी शब्दके प्रारम्भमें, बीचमें या अन्तमें जब नया व्यञ्जन आ जाता है उसे व्यंजनागम कहते हैं।

(क) शब्दके प्रारम्भमें नया व्यञ्जन आना (आदि-व्यञ्जनागम)

किसी शब्दके आरंभमें कोई नया व्यञ्जन आ लगता है, जैसे—बनारसी बोलीमें औरंगाबादका नौरंगाबाद हो जाता है।

(ख) किसी शब्दके बीचमें व्यञ्जन आना (मध्य-व्यञ्जनागम)

किसी शब्दके बीचमें नया व्यंजन आ जाता है, जैसे—शापका श्राप।

(ग) शब्दके अन्तमें नया व्यंजन आ जुटना (अन्त-व्यंजनागम)

किसी शब्दके पीछे कोई नया व्यंजन आ जुटता है जैसे तमिलमें राधाकृष्णका राधाकृष्णन्, तीर्थ (जल) का तीर्थम्।

अक्षरागम

स्वर मिला हुआ व्यंजन (अक्षर) भी कभी-कभी शब्दके प्रारम्भमें, बीचमें या अन्तमें आ जुटता है।

(क) शब्दके प्रारंभमें अक्षर का आना (आदि-अक्षरागम)

किसी शब्दके पहले नया अक्षर आ जुटता है जैसे—'खालिस' (शुद्ध) के पूर्व 'नि' लगकर 'निखालिस' बन गया।

(ख) शब्दके बीचमें नया अक्षर आना (मध्य-अक्षरागम)

किसी शब्दके बीचमें भी नया अक्षर आ जाता है, जैसे—कमण्डलुका करमण्डल, सुशीलका सुरसील, अमोल (अमूल्य) का अनमोल और आलस(स्य) का आलकस।

(ग) शब्दके अन्तमें अक्षर आना (अन्त्याक्षरागम)

किसी शब्दके अन्तमें कोई अक्षर आ जुटता है, जैसे—जीभका जीभड़ी या जीभड़िया, रंगका रंगत, गाँवँका गाँवँड़ा।

स्वर-व्यंजनागम

कभी-कभी शब्दके अन्तमें स्वर और व्यंजन दोनों आ जाते हैं, जैसे 'जो' का भोजपुरी भाषामें 'जौन', 'छोटा' का 'छोटौना'।

२. वर्ण-विपर्यय

§ ६४. किसी शब्दके स्वर, व्यंजन या अक्षर इधरके उधर भी हो जाते हैं।

जब किसी शब्दमें कोई स्वर, व्यंजन या अक्षर इधरके उधर हो जाते हैं उसे विपर्यय या अदला-बदली (मैटाथीसिस) कहते हैं। यह अदला-बदली दो प्रकारसे होती है—

१. पासवाले वर्णोंमें (पार्श्ववर्ती), जैसे—चिह्नका चिन्ह, २. दूरवाले वर्णोंमें (दूरवर्ती), जैसे—'पहुँचाना' का 'चहुँपाना' या 'हृदय' का 'हियरा' (हिरदय<हिरअय<हिअरय<हियरअ<हियरा)। यह उलटफेर स्वरों, व्यंजनों और अक्षरों तीनोंमें होता है।

स्वर-विपर्यय

स्वरोंमें अदला-बदली दो प्रकारसे होती है—पासके स्वरोंमें, दूरके स्वरोंमें।

(क) पासके स्वरोंमें अदला-बदली (पार्श्ववर्ती स्वर-विपर्यय)

किसी शब्दके पास-पासके स्वरोंमें अदला-बदली हो जाती है, जैसे—कुँअरजीका कँउरजी।

(ख) किसी शब्दके दूरके स्वरोंमें अदला-बदली हो जाती है, जैसे—काजरका कजरा, पागलका पगला।

व्यंजन-विपर्यय

शब्दोंमें आए हुए व्यंजनोंमें भी दो प्रकारसे अदला-बदली होती है—पासके व्यंजनोंमें तथा दूरके व्यंजनोंमें।

(क) पासके व्यंजनोंमें अदला-बदली (पार्श्ववर्ती-व्यञ्जन-विपर्यय)

किसी शब्दके पास-पासके व्यञ्जनोंमें भी अदला-बदली हो जाती है, जैसे—चिह्नका चिन्ह, ब्राह्मणका ब्राम्हण, सिग्नलका सिंगल, मह्यं का पालिमें मय्हं। कुछ लोगोंने भूलसे 'डूबना' से 'बूड़ना' को भी पासके व्यञ्जनोंका उलटफेर माना है पर वे यह भूल गए कि इन व्यञ्जनोंके बीचमें स्वर भी फँसे हुए हैं।

(ख) दूरके व्यञ्जनोंमें अदला-बदली (दूरवर्ती व्यञ्जन-विपर्यय)

कभी-कभी शब्दोंके व्यञ्जनोंमें भी परस्पर दो प्रकारसे अदला-बदली हो जाती है–१. स्वरको सुरक्षित रखते हुए, जैसे—चाकूका काचू या पिशाच-मोचनका पिचासमोचन, और २. व्यंजनोंका बीच देकर, जैसे—चिल्ड्रेन्स स्कूलका चिन्ड्रल्स इस्कूल। दूरवर्त्ती-व्यञ्जन-विपर्ययके उदाहरणोंमें कुछ लोगोंने भूलसे 'नखलऊ' शब्द भी दिया है पर यह तो अक्षर-विपर्यय (स्वर मिले हुए व्यञ्जनकी अदला-बदली) है, अकेले व्यञ्जनकी नहीं।

अक्षर-विपर्यय

शब्दोंमें आए हुए अक्षर भी कई प्रकारसे इधर-उधर हो जाते हैं।

(क) पासके अक्षरोंमें अदला-बदली (पार्श्ववर्ती-अक्षर-विपर्यय)

किसी शब्दके पास-पासके पूरे अक्षरोंमें परस्पर अदला-बदली हो जाती है, जैसे—हदस (भय) का दहस, गज़बका गबज़।

(ख) दूरके अक्षरोंमें अदला-बदली (दूरवर्ती अक्षर-विपर्यय)

किसी शब्दके दूरके अक्षरोंमें परस्पर अदला-बदली हो जाती है, जैसे—लखनऊका नखलऊ।

(ग) स्वर, व्यञ्जन या अक्षरोंकी कूद (वर्णोत्प्लवन)

कभी-कभी कोई स्वर, व्यञ्जन या अक्षर अपने स्थानसे उठकर कहीं दूसरेके स्थानपर जा बैठता है, जैसे—दउँगड़ा (पहली वर्षा) का दगउँड़ा, प्रसादका पस्राद, फ़ितरतीका तरफ़िती।

(घ) वाक्यमें शब्द-खण्डोंकी अदला-बदली (लयान्विति-विपर्यय या स्पूनरिज्म)।

औक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालयके सुप्रसिद्ध प्राध्यापक डाक्टर डब्ल्यू० ए० स्पूनर (१८४४-१९३०) जब बोलते थे तब उनकी जीभ लटपटाकर किसी वाक्यके शब्दोंके खण्ड ही इधरसे उधर कर देती थी, जैसे—उन्होंने एक विद्यार्थीसे—'यू हैव वेस्टेड ए होल टर्म' (तुमने एक पूरा सत्र नष्ट कर डाला) के बदले

कहा —'यू हैव टेस्टेड ए होल वर्म' (तुमने एक पूरा कीड़ा चख लिया)। हम लोग भी कभी-कभी बोलते हुए 'दाल-भात' का 'भालदात' या 'तुम पढ़ने नहीं जा रहे हो' के बदले 'तुम जढ़ने नहीं पा रहे हो' कह देते हैं। ऐसी भूलें अनमनेपन, हड़बड़ी, असावधानी या घबराहटमें ही होती हैं।

३. वर्णलोप

§ ६५. किसी शब्दके एक या अनेक स्वर, व्यंजन या अक्षर लुप्त हो जाते हैं।

कभी-कभी लोग जब झटके या हड़बड़ीमें बोलते हैं तब बहुत-सी ध्वनियोंको चबा या खा जाते हैं। इस प्रकार बोलते-बोलते लोगोंकी बान ही ऐसी पड़ जाती है कि उस शब्दको बोलते हुए उसकी कुछ ध्वनियाँ वे पूरी घिस डालते हैं जिससे सुननेवाला भी उसी प्रकार अक्षर छोड़-छोड़कर बोलने लगता है। इस प्रकार स्वरों, व्यञ्जनों और अक्षरोंके निकल जानेको लोप (एलीज़न) कहते हैं। यह लोप शब्दके पहले, बीचके या अन्तके वर्णका होता है।

स्वर-लोप

(क) शब्दके पहले स्वरका मिटना (आदि स्वर-लोप या ऐफ़ैसिस)

जब किसी शब्दके प्रारम्भमें आनेवाला स्वर निकल जाता है तब वहाँ आदि-स्वर लोप होता है, जैसे—अनाजका नाज, उठानाका ठाना, अकेलाका केल्ला, अधेलाका धेला, अफ़ीमका फ़ीम, अमावसका मावस हो जाता है।

(ख) शब्दके बीचका स्वर मिटना (मध्य-स्वर-लोप या सिङ्कोपी)

जब किसी शब्दके बीचसे स्वर निकल जाता है तब वहाँ मध्य-स्वर-लोप होता है, जैसे—फ़ारसीके ज़ियादहका .ज्यादह, बदरीदासका बद्रीदास, तिलकका तिल्क, तरीका का त्रीका, तारीखका त्रीख। पंजाबी भाषामें यह मध्य स्वर-लोप अधिक होता है।

इसी प्रकार लोग परमको पर्म, नरकको नर्क और सकताको सक्ता बोलते और लिखते हैं। बहुतसे लोग तो कृपयाको भी कृप्या लिखने लगे हैं।

प्राय: जहाँ दो शब्दोंका समास होती है वहाँ यदि पहले आनेवाला शब्द अकारान्त होता है तो उसका अन्तिम 'अ' निकल जाता है, जैसे—कमल-देवको कमल्देव, परम-मित्रको पर्म्मित्र और जलपात्रको जल्पात्र बोला जाता है।

(ग) अन्तका स्वर निकल जाना (अन्त्यस्वर-लोप)

जैसे शब्दोंके बीचसे स्वर निकल जाता है वैसे ही शब्दके स्वरान्त अक्षरोंका भी अन्तिम स्वर निकल जाता है, जैसे—कमलको कमल्, रीतिको रीत् और चन्द्रभानुको चन्दर्भान् कहते हैं।

व्यंजन-लोप

(क) शब्दका पहला व्यंजन निकल जाना (आदि-व्यंजन-लोप)।

शब्दके प्रारंभमें जो संयुक्ताक्षर आवे उसमेंसे पहला व्यंजन प्रायः छूट जाता है, जैसे—स्थालीका थाली, स्फोटका फोड़, स्थानका थान, स्त्रीका तिरिया, स्पर्शका परस।

(ख) शब्दके बीचसे व्यंजन निकल जाना (मध्य-व्यंजन-लोप)

किसी शब्दके बीचसे भी व्यंजन निकल जाता है, जैसे—सूचीसे सूई, पिष्टान्नसे पिसान, ब्राह्मणसे बाम्हन या बामन और कायस्थसे कायथ।

(ग) शब्दके अन्तसे व्यंजन निकल जाना। (अन्त्य-व्यंजन-लोप)

शब्दके अन्तमें आनेवाला व्यंजन भी कभी-कभी निकल जाता है, जैसे—पालि भाषामें 'भगवान्' का 'भगवा' हो जाता है।

लयान्विति-लोप

जैसे शब्दोंसे स्वर और व्यंजन निकल जाते हैं वैसे ही कभी-कभी शब्दके प्रारम्भमें, बीचमें या अन्तमें आनेवाली पूरी लयान्विति (सिलेबिल) ही निकल जाती है। इसे लयान्विति लोप (सिलैबिक एलिज़न) कहते हैं।

(क) शब्दकी पहली लयान्वित निकल जाना (आदिलयान्विति-लोप या ऐ.फ़ैरेसिस)।

कभी-कभी किसी शब्दके प्रारंभमें आनेवाली लयान्विति निकल जाती है, जैसे—बदबूका बू, एअरोप्लेन का प्लेन, ओझा का झा रह जाता है।

(ख) बीचसे लयान्विति निकल जाना (मध्यलयान्विति-लोप)

शब्दोंके बीचसे भी कभी-कभी लयान्विति निकल जाती है, जैसे—मास्टर साहबका मास्साब रह गया, टर निकल गया।

(ग) शब्दके अन्तकी लयान्विति निकल जाना (अन्त्यलयान्विति-लोप)

शब्दकी अन्तिम लयान्विति भी कभी-कभी निकल जाती है, जैसे—माताका माँ, पानीयम्का पानी, (पंजाबीमें) भ्राताका प्रा मात्र रह गया।

अमरीकावासी ब्लूमफ़ील्डने बताया है कि कभी-कभी जब एक शब्दमें एक ही अक्षर दो बार पास-पास आवे तो एक निकल जाता है, जैसे— नाककटाका नकटा, ऐवर-रेडी (सदा प्रस्तुत) का ऐवरेडी ।

(घ) समस्त पदका आदि या अन्तिम पद निकल जाना (शब्द-लोप) ।

कभी-कभी समस्त पदवाले नामोंमेंसे पूरा आदि पद निकल जाता है, जैसे—रेलवे ट्रेनका ट्रेन, मोटर-कारका कार कहलाना।

कभी-कभी समस्त पदवाले नामोंका अन्त्य पद भी लुप्त हो जाता है, जैसे— मोटर-कारका मोटर विद्याभवनका भवन कहलाना ।

४. सवर्णीकरण या आत्मीकरण

§ ६६. किसी शब्दका कोई वर्ण अपने पासके किसी वर्णको अपने समान बना लेता है ।

कभी-कभी जब दो ध्वनियाँ एक साथ मिलकर आती हैं तब उनमेंसे एक ध्वनि अपनेमें दूसरी ध्वनिको मिलाकर अपनेको दुहरा कर लेती है, जैसे—पक्वसे पक्का । इसीको सवर्णीकरण (ऐसिमिलेशन) कहते हैं । यह दो प्रकारसे होता है—१. आगे आनेवाले वर्णको अपने जैसा बना लेना, और २. अपनेसे पहले आनेवाले वर्णको अपने जैसा बना लेना । यह भी दो प्रकारसे होता है— कभी तो पास-पासके दो वर्णोंमेंसे एक वर्ण दूसरे वर्णको अपने जैसा बना लेता है, और कभी एक ही शब्दका एक वर्ण उसी शब्दमें दूर बैठे वर्णको अपने रूपमें बदल लेता है ।

स्वर-सवर्णीकरण

(क) दूरके अगले स्वरको अपने जैसा बनाना (दूरस्थ अग्रात्मीकरण या इन्कौन्टेक्ट प्रोग्रेसिव ऐसिमिलेशन)

किसी शब्दके व्यंजनमें पहले आया हुआ स्वर आगेवाले व्यञ्जनमें लगे स्वरको अपने रूपमें बदल लेता है, जैसे—कुड़कका कुड़क ।

(ख) दूरपर स्थित पहले आए हुए स्वरको अपने जैसा बना लेना— (दूरस्थ पूर्वात्मीकरण या इन्कौण्टेक्ट रिग्रेसिव ऐसिमिलेशन) ।

किसी शब्दमें दूर-दूर बैठे हुए दो स्वरोंमें दूसरा स्वर अपनेसे पहले आए हुए स्वरको अपने रूपमें ढाल लेता है, जैसे—अवधीमें तेहि का तिहि, मटिया (हाँड़ी) का मिटिया ।

व्यंजन-सवर्णीकरण

(क) दूरस्थ आगेवाले वर्णको अपने जैसा करना (दूरस्थ पर-सवर्णीकरण, इन्कौन्टेक्ट प्रोग्रेसिव ऐसिमिलेशन या अपार्श्वस्थ अग्रात्मीकरण)

किसी शब्दका एक व्यंजन उसी शब्दमें आगे दूर आए हुए व्यंजनको अपने जैसा बना लेता है, जैसे—खरपतका खरखत हो गया।

(ख) पासके अगले वर्णको अपने जैसा करना (पार्श्वस्थ परसवर्णीकरण या कौन्टेक्ट प्रोग्रेसिव ऐसिमिलेशन)।

किसी शब्दके-पास पास आए हुए दो व्यंजनोंमेंसे पहला व्यंजन अपने साथके आगेवाले दूसरे व्यंजनको भी अपने रूपमें बदल लेता है, जैसे—चक्रका चक्क, भद्रका भद्दा, पक्वका पक्का, पत्रका पत्ता।

(ग) दूरपर पहले आए हुए वर्णको अपने जैसा करना (दूरस्थ पूर्व-सवर्णीकरण, इन्कौन्टेक्ट रिग्रेसिव ऐसिमिलेशन)

किसी शब्दमें कोई वर्ण दूर बैठे पहले आए वर्णको अपने रूपमें ढाल लेता है, जैसे—बारहसिंगाका सारहसिंगा।

(घ) पासके पहले व्यंजनको अपने जैसा बना लेना (पार्श्वस्थ पूर्व-सवर्णीकरण या कौन्टेक्ट रिग्रेसिव ऐसिमिलेशन)

पास-पास बैठे हुए दो व्यंजनोंमेंसे दूसरा व्यंजन अपनेसे पहले आए हुए व्यंजनको अपने रूपमें ढाल लेता है, जैसे—धर्मका धम्म, कलक्टरका कलट्टर, सक्तुका सत्तू।

५. वर्ण-विकार

§ ६७. किसी शब्दके कोई वर्ण अपना रूप छोड़कर दूसरे वर्ण बन जाते हैं। कभी-कभी एक शब्दमें ही दो समान वर्णोंमेंसे एक वर्ण अपना रूप छोड़कर दूसरा वर्ण बन जाता है। व्यंजनों और स्वरों दोनोंमें यह रूप-परिवर्त्तन होता है। इनमें कभी तो समान वर्णोंमेंसे आगेके वर्णमें विकार होता है, कभी पहलेमें और कभी-कभी किसी भी अक्षरमें। इसे वर्ण-विकार या रूप-त्याग (डिस्सिमिलेशन) कहते हैं।

स्वरोंमें विकार

स्वरोंमें भी निम्नांकित प्रकारके रूप-विकार देखे जाते हैं—

(क) आगेवाला स्वर बदल जाना (अग्रगत विकार)

शब्दमें आनेवाले दो समान स्वरोंमेंसे अगला स्वर बदल जाता है; जैसे—पुरुषका प्राकृतमें पुरिस।

(ख) पहलेवाला स्वर बदलना (पूर्वगत विकार)

कभी-कभी शब्दके वर्णोंके दो समान स्वरोंमेंसे पहला स्वर ही बदल जाता है, जैसे—मुकुटका मकुट।

व्यंजनमें विकार

(क) आगे आनेवाले व्यंजनमें विकार (अग्रगत विकार)

कभी-कभी एक शब्दमें आनेवाले दो समान व्यंजनोंमेंसे अगला व्यंजन अपना रूप बदल लेता है, जैसे—चिक्कटका चिकवट, काक्कका काग, कंकणका कंगन।

(ख) पहले आनेवाली ध्वनिमें विकार (पूर्वगत विकार)

किसी शब्दमें आनेवाले दो समान व्यंजनोंमेंसे पहले आनेवाला व्यंजन बदल जाता है, जैसे—जगन्नाथका जगनाथ, नवनीतका लोनी, दरिद्रका दलिद्दर, हनूमानका हलूमान।

व्यंजन-विलयन

दोनोंका मिटना (उभय-विलयन या म्यूचुअल ऐसिमिलेशन) कभी-कभी यह भी होता है कि दो पास-पास बैठे हुए व्यंजन आपसमें लड़कर मर मिटते हैं और उनके बदले कोई तीसरा व्यंजन आ बैठता है, जैसे—पक्षीका पंछी, सत्यका सच्च, विद्युत्का बिज्जु।

कभी-कभी किसी शब्दके प्रारम्भ, मध्य या अन्तमें अपने आप भी व्यंजनके बदले कोई स्वर या व्यंजनके बदले दूसरा व्यंजन या स्वरके बदले दूसरा स्वर आ टपकता है, जैसे—दशाश्वमेधका दसासुमेर, खिदमतका खिजमत, इतनाका एतना, घोटालाका घुटाला, खेलाड़ीका खिलाड़ी।

कभी-कभी शब्दके लगभग सभी व्यंजन बदल जाते हैं, जैसे—'चैतन्य-मठ' का 'जतनबर' बन गया।

६. संधि

§ ६८. किसी शब्दके दो वर्ण मिलकर बीचके स्वर या व्यञ्जनको दूर कर देते या बदल देते हैं।

जब हम हड़बड़ाकर झटपट बोलने लगते हैं तब किसी शब्दके भीतर आनेवाले दो वर्ण मिलकर अपनेमेंसे किसी स्वर या व्यंजनको या तो निकाल फेंकते हैं या उनमें कुछ हेरफेर कर लेते हैं। अँगरेजी विद्यालयोंमें पढ़नेवाले छात्र अपने गुरुजीको 'मास्टर साहब' न कहकर 'माट्साब' कहते हैं।

इसमें 'स्, र, ह' को तो वे खा ही जाते हैं, साथ ही 'ट सा ब' को भी आधा करके (अर्ध-मात्रिक) बनाकर बोलते हैं। संस्कृत-जैसी बहुत सुलझी हुई भाषाओंने इस प्रकारकी सन्धिके लिये अपने नियम बना दिए हैं पर और बहुत-सी भाषाओंमें तो बोलते-बोलते ही सन्धि हो गई है, जैसे—वचन शब्दका प्राकृतमें बअण, उससे बयन और फिर बैन बन गया। ये सब दोष अनाड़ियों और अपढ़ोंके मुँहमें पड़नेसे ही आते रहते हैं पर जब बहुत चल जाते है तब पढ़े-लिखे लोग भी उन्हें अपना लेते हैं, जैसे—कपर्दिकासे कौड़ी, कृषाणसे किसान, अक्षवाटसे अखाड़ा बनकर इतना चल निकला कि अब कपर्दिका, कृषाण और अक्षवाटको कोई जानता भी नहीं।

७. ऊष्मण (ऐसिबिलेशन)

§ ९९. कभी-कभी शब्दके वर्ण ऊष्म हो जाते हैं।

कभी-कभी किसी शब्दके कुछ वर्ण ऊष्म (श ष स ह) बन जाते हैं, जैसे—कैन्टुम्‌का कुछ भाषाओंमें शतम् हो गया है।

८. अनुनासिकीकरण (नैसलाइज़ेशन)

§ १००. कुछ भाषाओंमें शब्दोंके वर्णोंको अनुनासिक बनाकर बोला जाता है।

कुछ भाषाएँ ऐसी हैं जिनमें बाहरसे लिए हुए शब्दों या अपनी भाषाके शब्दोंके कुछ वर्ण नकियाकर बोले जाते हैं, जैसे हिन्दीमें—आँख, गाँव, टाँग पाँच, जूँ, आदि बहुतसे शब्दोंके वर्णोंको नकियाकर बोलनेकी चाल है। फ्रांसीसी भाषामें भी इस ढंगसे नकियानेकी बहुत चाल है; जैसे—आँकोर (एक बार और)।

९. मात्रा-भेद

§ १०१. कभी-कभी शब्दके अन्तर्गत दीर्घ मात्रा ह्रस्व और ह्रस्व मात्रा दीर्घ हो जाती है।

कभी-कभी एक शब्दमें किसी स्वरकी मात्रा कभी दीर्घसे ह्रस्व हो जाती है, जैसे—'आकाश' से 'अकास' और 'बादाम' से 'बदाम' शब्दोंमें 'आ' और 'बा' दीर्घसे ह्रस्व हो गए हैं।

कहीं कहीं ह्रस्वसे दीर्घ भी हो जाता है, जैसे—कलका कालि, कविका कवी, यतिका यती, गुरुका गुरू।

१०. घोषीकरण (वोकलाइज़ेशन)

§ १०२. कभी-कभी अघोष वर्ण भी घोष हो जाते हैं।

कभी-कभी अघोष वर्ण (क, च, ट, त, प) भी घोष (ग, ज, ड, द, ब) हो जाते हैं, जैसे—मकरका मगर, भक्तका भगत, प्रकटका प्रगट, शाकका साग, शतीका सदी।

११. अघोषीकरण (डीवोकलाइज़ेशन)

§ १०३. कभी-कभी घोष वर्ण भी अघोष हो जाते हैं।

कहीं-कहीं घोष (ग, ज, ड, द, ब) वर्ण भी अघोष (क, च, ट, त, प) हो जाते हैं, जैसे—.खूबसूरतका खपसूरत या भोजपुरी भाषामें डण्डा का डण्टा।

१२. महाप्राणीकरण (ऐस्पिरेशन)

§ १०४. कभी-कभी अल्पप्राण वर्ण भी महाप्राण हो जाते हैं।

कभी-कभी अल्पप्राण (क ग, च ज, ट ड, त द, प ब) वर्ण भी महाप्राण (ख घ, छ झ, ठ ढ, थ ध, फ भ) हो जाते हैं, जैसे—क़ासका खाँसी, ठंडाका ठंढा या तमिळमें सीतारामका सीथाराम, मराठीमें कुर्सीका खुर्ची हो जाता है।

कभी-कभी कुछ महाप्राण घोष (घ, झ, ढ, ध, भ) वर्ण भी अल्पप्राण अघोष (क, च, ट, त, प) बनाकर बोले जाते हैं, जैसे—पंजाबीमें घण्टाका कंटा, झाँझका चाँज, ढकनाका टकना, धेनुका तेनु, भ्राताका प्रा और भानुका पानु हो जाता है।

१३. अल्प-प्राणीकरण (डीएस्पेरेशन)

§ १०५. कभी-कभी महाप्राण वर्ण भी अल्पप्राण हो जाते हैं।

कुछ शब्दोंमें महाप्राण वर्ण भी अल्पप्राण हो जाता है, जैसे—साँझका साँज, सिन्धुका हिन्दु।

१४. स्वर-भावन (उमलाउट या वौवेल म्युटेशन)

§ १०६. कभी-कभी लयान्वितिमें आगे आनेवाला स्वर अपनेसे पूर्व आनेवाले स्वरको अपने समान बना लेता है।

ट्यूटोनी (अँगरेज़ी आदि) भाषाओंके शब्दोंमें आनेवाला इ (i) या य (j) वर्ण भी किसी लयान्विति (सिलेबिल) में अपनेसे पहले आनेवाले स्वर, जैसे—

'ऊ' (uu) को 'ई' (y y) बना लेता है। ऐसा स्वरभावन ट्यूटोनी (निम्न जर्मन अँगरेज़ी आदि) भाषाओंमें होता है। पुरानी अँगरेज़ीके मूस (muse = mous) शब्दका बहुवचन पुरानी अँगरेज़ीके मूसी (musi) से बना मीस (mys = mice)। इसमें पहले तो स का बना स्य (sj) और इस य की ध्वनिके अनुसार मूस्यके 'यू' का 'ऊ' भी 'ई' बन गया। इसे ग्रिमने उमलाउट (स्वरभावन या अभिश्रुति) कहा है। इसके अनुसार किसी शब्दके अन्तर्गत 'ई' से पूर्व आनेवाला कोई भी स्वर 'ई' की ध्वनि ग्रहण कर लेता है। अवधीमें 'तेहि' का 'तिहि' इसका अच्छा उदाहरण है।

१५. स्वरावर्त्त (एब्लाउट या वौवेल ग्रेडेशन)

§ १०७. किसी शब्दके एक स्वरको अदल-बदल कर भिन्न अर्थ निकाल लिए जाते हैं। इसमें स्वरके रूप और मात्रा दोनोंमें परिवर्तन होता है।

कुछ भाषाओंकी ऐसी प्रकृति है कि उनके किसी शब्दके किसी एक स्वरको अदल-बदलकर विभिन्न अर्थ निकाल लिए जाते हैं, जैसे—मिल (मिलना) से मेल, मिला, मिलूँ, मिले, मिलो; मिलिए बनाकर कई अर्थ निकाल लिए जाते हैं। अरबी भाषामें तीन व्यञ्जनोंका ही धातुएँ होती हैं। उन तीनोंमें स्वरोंका परिवर्त्तन करके अर्थ ही बदल दिए जाते हैं, जैसे—'त ल ब' धातुसे तलब (इच्छा), तालिब (इच्छुक), तुलबा (बहुतसे इच्छुक, छात्र) शब्द बन जाते हैं।

स्वरोंमें यह परिवर्त्तन दो प्रकारसे होता है—१. रूप-परिवर्त्तन (क्वालिटेटिव चेंज) और २. मात्रा-परिवर्त्तन (क्वाण्टिटेटिव चेंज)। इनमेंसे पहले प्रकारके परिवर्त्तनमें पूरा स्वर बदल जाता है, जैसे—'मिल' का 'मेल' और दूसरे प्रकारके परिवर्त्तनमें ह्रस्वका दीर्घ और दीर्घका ह्रस्व हो जाता है, जैसे—'मिल'का 'मिला' या 'भुना'का 'भूना'।

ध्वनि-परिवर्त्तनमें विचित्रता

§ १०८. ध्वनि या वर्णके परिवर्त्तनका कोई नियम नहीं बनाया जा सकता।

ऊपर जो वर्ण-परिवर्त्तनके अनेक प्रकार बताए गए हैं उस दृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो और भी सैकड़ों प्रकार निकल सकते हैं। प्राकृत व्याकरण लिखनेवालोंने बड़े व्यवस्थित ढंगसे इस प्रकारके परिवर्त्तनोंका पूरा

विवरण दिया है। यदि हम हिन्दीकी सहयोगिनी भाषाओंका अध्ययन करें तो प्रतीत होगा कि जहाँ उत्तर भारतमें 'ब' का और 'ज' का अधिक प्रयोग होता है, वहाँ मराठीमें 'व' और 'य' का प्रयोग होता है—

हिन्दी		**मराठी**
बहिन	—	वहिणी
बिद्यार्थी	—	विद्यार्थी
(कितने) बजे	—	(किती) वाजतां, वाजे
बाँचना	—	वाचणे

उत्तर भारतमें ही 'य' को 'ज,' 'श' को 'स', 'स' को 'श' और 'व' को 'ब' बोलनेका बहुत प्रचलन है—

यजमान	—	जजमान	शंकर	—	संकर	वर	—	बर
यथा	—	जथा	शीत	—	सीत	वैद्य	—	बैद्य
यज्ञ	—	जग्य	शादी	—	सादी	वैदेही	—	बैदेही
सरयू	—	सरजू	शोर	—	सोर	वनवास	—	बनबास
यमुना	—	जमना	विशेष	—	बिसेस	विरह	—	बिरह
योगी	—	जोगी	देश	—	देश	विधान	—	बिधान
यशोदा	—	जसोदा	विदेश	—	बिदेस	व्यवहार	—	ब्यौहार

बँगलामें 'स' का 'श' हो जाता है, जैसे—सकलका शोकोलो।

इसी प्रकार क्ष का छ, च्छ, ह और ख हो जाता है—

दक्षिण	—	दक्खिन, दच्छिन, दछिन दखिन, दहिना
लक्ष्मण	—	लक्खन, लछमन, लखन (लषन)
क्षण	—	छन, छिन, खिन
क्षीण	—	छीन, खीन
लक्षण	—	लच्छन
कुक्षि	—	कोख
अक्षि	—	आँख
क्षार	—	छार, खारा
नक्षत्र	—	नखत, नच्छत्र, नछत्तर, नछत्र
क्षिति	—	छिति

ध्वनियोंमें यह परिवर्त्तन विभिन्न भाषाओंमें इतने अधिक रूपों और प्रकारोंसे होता है कि उन्हें किसी नियममें नहीं बाँधा जा सकता। उत्तर

प्रदेशके पश्चिमी अंचलके मुज़फ्फ़रनगर जनपदकी भाषामें अध्यापक और शिष्यका वार्त्तालाप लीजिए—

अध्यापक : क्यूँ रै ! तन्नै स्वाल नी काड्डे ? (क्यों रे ! तूने सवाल नहीं निकाले ।)

छात्र : अजी मका लिकड़ नी रे । (जो, मैंने कहा, निकल नहीं रहे हैं ।)

संसार-भरकी भाषाओंमें सबसे अधिक विकृत उच्चारण बँगला भाषामें होता है । इस सम्बन्धमें पुरानी कथा हो प्रसिद्ध है कि एक बार बंगालियोंके संस्कृतके दुरुच्चारणसे खीझकर सरस्वतीजीने ब्रह्माजीसे जाकर कहा—

ब्रह्मन् विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकारजिहासया ।
गौडस्त्यजतु वा गाथामन्या वास्तु सरस्वती ॥

[हे ब्रह्माजी ! मैं अपना अधिकार छोड़नेकी इच्छासे आपको यह सूचित कर देना चाहती हूँ कि या तो बंगाली लोग (संस्कृत) श्लोक पढ़ना छोड़ दें या आप कोई दूसरी सरस्वती बना लीजिए ।]

बँगलामें पद्मको पोद्दो, लक्ष्मीको लौक्खी, व को भ, य को ज, जगहको जाइगा, वरुणको बोरूण, दिव्यका दिब्बो, ध्यानका धैन, विद्याका बिद्दा सुननेको मिलेगा । विचित्र बात यह है कि 'लक्ष्मी' लिखकर भी उसे वे 'लौक्खी' पढ़ते और बोलते हैं ।

इस प्रकार ध्वनियोंके परिवर्त्तनका परीक्षण किया जाय तो जान पड़ेगा कि जो लोग ध्वनियाँ विकृत करके बोलते हैं, उसका कारण उनका अज्ञान, असंस्कार, अशिक्षा, भाषा-प्रकृति तथा असावधानी है, कोई भाषाका नियम नहीं ।

चार ही प्रकारसे वर्ण-परिवर्त्तन

§ १०९. आगम, विपर्यय, लोप और विकारके अन्तर्गत ही सब प्रकारके वर्ण-परिवर्त्तन आ जाते हैं ।

वर्णागम : किसी भी भाषाके किसी भी शब्दमें कोई भी एक, दो या आधी मात्राका नया स्वर या व्यंजन वर्ण शब्दके आदि, मध्य या अन्तमें आया हो सब वर्णागमके अन्तर्गत आ जाता है ।

वर्ण-विपर्यय : किसी भी भाषाके किसी शब्दके स्वर या व्यञ्जन-वर्णोंमें जो आदि, मध्य या अन्तमें परस्पर स्थान-परिवर्त्तन होता है सब वर्णविपर्ययके अन्तर्गत आ जाता है ।

वर्णलोप : किसी भी भाषाके किसी भी शब्दके आदि, मध्य या अन्तमेंसे कोई भी अक्षर, स्वर या व्यञ्जन निकल जाय वह सब लोपके भीतर आ जाता है। सन्धि भी इसीके अन्तर्गत आ जाती है।

वर्ण-विकार : किसी भाषाके किसी शब्दके किसी स्वर या व्यञ्जन-वर्णके बदले जहाँ भी कोई दूसरा वर्ण आ जाता है वह सब विकार ही है जिसके अन्तर्गत आत्मीकरण (सवर्णीकरण), विकार (रूप-त्याग, असावर्ण्य या विषमीकरण), ऊष्मीकरण, अनुनासिकीकरण, अभिमात्रण, घोषीकरण, अघोषीकरण, अल्पप्राणीकरण, महाप्राणीकरण, स्वरावर्त्त या अपिश्रुति (वौवेल ग्रेडेशन) और स्वर-भावन या अभिश्रुति (ऊमलाउट) सब आ जाते हैं।

धात्वर्थातिशययोग

§ ११०. निरुक्तकारने धात्वर्थातिशययोग भी वर्ण-परिवर्त्तनका कारण माना है।

निरुक्तकारने पाँच प्रकारके शब्द-निर्वचनमें धात्वर्थातिशययोग भी कारण माना है और इसलिये व्याकरणकी रीतिके अनुसार शब्दोंका निर्वचन मुख्यतया पाँच प्रकारसे हो सकता है,—नये वर्णोंका आ जाना, वर्णोंका विपर्यय हो जाना, वर्णोंका विकृत हो जाना, वर्णोंका नाश होना तथा धातुका अपने स्वाभाविक अर्थके रहते हुए भी विशेष अर्थका द्योतन करना। इसलिये कहा गया है—

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकार-नाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगात् प्रतीयते पंचविधं निरुक्तम्॥

प्रत्येकका उदाहरण इस प्रकार समझा जा सकता है—

१. वर्णागम : नये वर्णका आना, जैसे— हिंसार्थक हिस् धातुसे नुम् किया गया। फिर अनुस्वार आदि लगानेपर 'हंस' शब्द बन गया। यहाँपर 'न्' रूपमें नया वर्ण आ गया।

२. वर्णविपर्यय : जैसे 'हिंस' के स्थानपर 'सिंह' शब्द बना।

३. वर्णविकार : वर्णका विकृत हो जाना, जैसे–गूढ+आत्मा। यहाँपर 'ढ' के अकारको 'उ' कर दिया गया। फिर गुण होनेसे 'गूढोत्मा' निष्पन्न हुआ।

४. वर्णनाश : जैसे 'पृषत्+उदर' (चितकबरे पेटवाला) शब्दके 'त्' के नाश होनेसे 'पृषोदर' शब्द बन गया।

इन चारों उदाहरणोंका संग्रह-श्लोक इस प्रकार दिया गया है —

भवेद्वर्णागमाद्धंसः सिंहो वर्णविपर्ययात् ।
गूढोत्मा वर्णविकृतेर्वर्णनाशात्पृषोदरः ॥

[व्याकरण सिद्धान्त-कौमुदी, समासाश्रय—प्रकरण, सूत्र : पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्; ६ । ३ । १०९]

[वर्णागमसे 'हंस' शब्द, वर्ण-विपर्ययसे 'सिंह' शब्द, वर्ण-विकारसे 'गूढोत्मा' शब्द और वर्णनाशसे 'पृषोदर' शब्द बना ।]

किन्तु पीछे (§ ८८) बतलाया गया है कि निरुक्तकारने शब्दके निर्वचनके प्रसंगमें उपर्युक्त चार कारणोंके साथ धात्वर्थातिशययोगको भी कारण माना है। कोई धातु जब अपने प्रसिद्ध अर्थके साथ किसी विशेष अर्थ का द्योतन करने लगती है तब उसे धात्वर्थातिशययोग कहते हैं। उदाहरणके लिये 'अद् भक्षणे' धातु सामान्यतया मनुष्य आदि प्राणियोंकी भक्षण-क्रियाका बोध कराती है परन्तु साथ ही साथ 'अत्तीत्यात्मा' इस निर्वचनसे विश्वभरके अन्न-वृह्यादिका भक्षण करनेवाले विशेष आत्माका भी इस धातुसे बोध होता है।

'अत् सातत्य-गमन' धातुका सामान्य अर्थ 'निरन्तर गमन करना' है परन्तु आत्मा व्यापक है इसलिये सर्वत्र व्याप्त होना विशेषार्थ भी ध्वनित होने लगा है।

'अङ्' पूर्वक 'दा' धातुका सामान्य अर्थ 'ग्रहण करना' है परन्तु जो जगन्मात्रको ग्रहण करे वह आत्मा ही हो सकता है।

'आप्लृ व्याप्तौ' धातुका 'व्याप्ति' तो सामान्य अर्थ है, परन्तु चराचर विश्वके साथ जिसका सम्बन्ध हो या जो सर्वत्र व्यापक हो वही आत्मा है, यह विशेष अर्थ हो गया।

इस प्रकार अपने-अपने सामान्य अर्थोंको लिये हुए विशेष-विशेष अर्थोंका बोध कराना ही धातुओंका धात्वर्थातिशययोग कहलाता है। पूर्वोक्त चारों धातुओंके अतिशय अर्थके द्योतनसे आत्माका यथार्थ लक्षण घटित भी होता है—

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह ।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कथ्यते ॥

लिंगपुराणम् १ । ७० । ९६

[जो सभी विषयों (योग्य पदार्थों) को प्राप्त करता है, लेता है, खाता या भोगता है तथा जो सबमें निरन्तर व्याप्त रहता है वह आत्मा कहलाता है।]

किन्तु धात्वर्थातिशययोगका विचार शब्दके निर्वचनके लिये किया जाता है, ध्वनि-परिवर्त्तन या वर्ण-परिवर्त्तनके प्रसङ्गमें उसका उल्लेख असङ्गत होगा ।

वर्ण-परिवर्त्तनके शारीरिक कारण

वर्ण-ध्वनियोंके परिवर्त्तनपर विचार कर चुकनेके पश्चात् वर्ण उत्पन्न करनेवाले स्वरयन्त्र और उसकी प्रक्रियापर पुनः विचार कर लेना आवश्यक है क्योंकि वाग्ध्वनिकी इतनी विषमताओंका कारण मुख्यतः स्वर-यन्त्र और उससे उत्पन्न अगणित प्रकारकी समान-सी सुनाई पड़नेवाली ध्वनियाँ या वर्ण ही हैं ।

पीछे (§ ७६, ७७) बताया जा चुका है कि श्वासके द्वारा भीतर गया हुआ वायु जब शरीरका समस्त दोष लेकर दूषित वायु (कार्बन डाइ ऑक्साइड) बनकर बाहर निकलता है, वही स्वर-यन्त्रके भीतर तनी हुई दो तनियों या पतली झिल्लीके दो पल्लों (वोकल कौर्ड्स) से टकराकर मुख-विवरमें जीभके अटकाव या ओठके फैलाने-सिकोड़नेसे वाग्ध्वनि उत्पन्न करता हुआ मुख या नाकसे बाहर निकलता है । गलेमें, विशेषतः पुरुषके गलेमें, बाहरको निकली हुई ग्रन्थि या टेंटुएमें ही यह स्वरयन्त्र (लैरिंक्स) होता है । इस स्वरयन्त्रके भीतर तने हुए झिल्लीके पल्लोंके बीचके खुले भागको स्वरयन्त्रका मुख या काकल (ग्लौटिस) कहते हैं । केवल बोलनेके समय ही नहीं, वरन् श्वास लेनेके समय भी श्वास-प्रश्वासका वायु इसी मार्गसे भीतर-बाहर आता-जाता है । बोलते समय स्वरके ऊँचे-नीचे या मन्द तथा वेगपूर्ण होनेके अनुसार स्वर-यन्त्रके भीतर तनी हुई दोनों तन्त्रियाँ कभी एक दूसरीके समीप और कभी दूर होती रहती हैं । इन स्वर-तन्त्रियोंमें दोष होनेके कारण ही प्रायः अनेक प्रकारके वाग्-दोष (हकलाना आदि) या रोग हो जाते हैं । पुरुषोंके कण्ठमें स्वरयन्त्र या काकली कुछ बड़ी होती है और स्त्रियोंके कण्ठमें छोटी या संकुचित । इसलिये पुरुष अपने कण्ठसे मन्द्र सप्तकसे भी नीचेका स्वर उत्पादन कर सकते हैं किन्तु स्त्रियाँ प्रायः मध्य सप्तक या उससे ऊपरके ही स्वर उत्पन्न कर सकती हैं । किशोर अवस्था-तक बालकोंका स्वर भी काकलीकी लघुताके कारण पतला होता है किन्तु किशोर अवस्था-तक आते-आते बालकोंका स्वर भारी होने लगता है किन्तु स्त्रियोंका स्वर अन्ततक काकलीकी लघुताके कारण पतला ही बना रहता है । प्रयोग करके देखा गया है कि अधिकांश

बहुत बोलनेवाली, भाषण देनेवाली, चिल्लानेवाली महिलाओंका स्वर भी आगे चलकर भारी होने लगता है किन्तु वह भी मन्द्र सप्तक-तक नहीं उतर पाता। पुरुषोंमें काकलीकी वृद्धि होनेके कारण उनमें शारीरिक विषमता अर्थात् बड़े-छोटे होने अथवा दुबले और मोटे होनेके अनुसार काकलीका रूप भी अनेक प्रकारका हो जाता है किन्तु स्त्रियोंकी काकलीमें इतना अन्तर नहीं हो पाता। यही कारण है कि चार पुरुष एकत्र होकर समवेत स्वरमें नहीं गा सकते किन्तु दो सौ स्त्रियाँ समवेत स्वरमें एक साथ गा सकतीं और काव्य-पाठ कर सकती हैं। जिस गति और वेगसे भीतरका वायु स्वर-तन्त्रियोंको कँपाता हुआ बाहर निकलता है उस कम्पन और वेगके आधार-पर ही ध्वनिकी गुरुता, वेग और स्वर (ऊँचा, नीचा या मध्यम होना) निर्भर होता है।

स्वर-कम्पन

§ १११. मुखध्वनि जितनी गम्भीर होगी उतना ही स्वर-कम्पन कम होगा, जितनी पतली और ऊची होगी उतना ही अधिक होगा।

स्वरकम्पन नापनेवाले ध्वनियन्त्रों-द्वारा परीक्षण करनेपर देखा गया है कि मुखसे निकली हुई ध्वनि जितनी गम्भीर या भारी होगी उतना ही स्व-कम्पन कम होगा और जितना ही स्वर ऊँचा और पतला होगा उतना ही स्व-कम्पन अधिक होगा। इसीलिये प्राय: पुरुषोंकी काकलीमें १०९ से १६३ कम्पन प्रति सेकेण्ड-तकके वेगसे होता है और स्त्रियोंका स्वर-कम्पन २१८ से ३२६ प्रति सेकेण्ड-तक होता है। गीतके आरोह, अवरोह तथा मन्द्र, मध्य और तार सप्तकतक स्वर चढ़ाने और उतारनेके अनुसार तथा भाषण या वाचिक अभिनयमें भावके अनुसार स्वर उतारने-चढ़ानेमें ४२ कम्पन प्रति सेकेण्डसे लेकर २०४८ प्रति सेकेण्ड-तक स्वर-कम्पन बढ़ सकता है।

§ ११२. स्वरतन्त्रियाँ ही फैल-सिकुड़कर ध्वनियाँ उत्पन्न करती हैं।

कभी-कभी परस्पर बातचीत करते हुए अथवा किसी वक्ताके भाषणके समय, सभाके अधिवेशनमें या परस्पर गोपनीय बात करते समय एक दूसरेसे लोग फुसफुसाहटके साथ बातचीत करते हैं (§ ६५) जिसे सामान्य भाषामें काना-फूसी कहते हैं और जिसका उद्देश्य यह होता है कि तीसरा व्यक्ति उस बातको न सुन सके। इस प्रक्रियामें सभी वर्ण व्यक्त तो होते हैं किन्तु अल्पघोष होते हैं। जितने प्रकारके घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त,

अत्यनुदात्त तथा स्वरित वर्ण हैं सबमें ये स्वर-तन्त्रियाँ ही फैल-सिकुड़कर विभिन्न प्रकारकी ध्वनियाँ उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार उच्चारण-प्रक्रियामें इन स्वर-तन्त्रियोंकी अगणित प्रकारकी स्थितियाँ हो जाती हैं और विभिन्न व्यक्तियोंकी काकलीके आकार और स्वरतन्त्रियोंके स्वरूप और विस्तारके अनुसार अनेक व्यक्तियोंके मुखसे निकला हुआ एक ही वर्ण अनेक प्रकारका प्रतीत होता है। यह भी ईश्वरका विशेष वरदान है क्योंकि इसी विभिन्नताके कारण केवल स्वरसे किसी व्यक्तिकी पहचान हो जाती है।

कृत्रिम स्वर-तन्त्री

पीछे वर्णित (§ ८१) स्वर-तन्त्रियोंके ऊपर वैसी ही दो और स्वर-तन्त्रियाँ होती हैं जिन्हें कृत्रिम स्वर-तन्त्रियाँ (फ़ाल्स वोकल कौर्ड्स) कहते हैं। ये स्वर-तन्त्रियाँ उपर्यंकित स्वर-तन्त्रियोंसे कुछ छोटी भी होती हैं। फुसफुसाहटकी ध्वनि मुखसे निकालते समय ये ऊपरकी कृत्रिम स्वर-तन्त्रियाँ इतने पास आ जाती हैं कि वायुके बाहर निकलनेका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। अधिक चिल्लाने, देरतक गाने अथवा बोलनेके पश्चात् ठण्ढा जल पीने, बरफ़ खाने या ठण्ढा वायु लग जानेसे दोनों प्रकारकी स्वर-तन्त्रियाँ संकुचित होकर परस्पर इतनी सट जाती हैं कि उनमें कम्पन नहीं हो पाता और इसलिये मुँहसे ठीक स्वर नहीं निकलता। यही गला बैठना, स्वर फटना या गला ठीक न होना कहलाता है। भारतीय सङ्गीतज्ञ इस दोषको उत्पन्न न होने देनेके लिये बादाम, हलवा अथवा पानका निरन्तर प्रयोग करते रहते हैं। आजकल चाय या कौफीका भी प्रयोग होने लगा है।

कभी-कभी बोलते हुए शब्दोंके बीच-बीचमें ऐसा झटका भी देना पड़ता है कि स्वर-तन्त्रियाँ अलग भी हो जाती हैं। वैदिक उच्चारणमें इस प्रकारकी प्रक्रिया बहुत होती है, जैसे—'गणानांत्वा' में 'त्वा' के उच्चारणसे पहले। अफ़रीकी, हिब्रू, डच, जर्मन तथा मुंडारी भाषामें और संस्कृतकी जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय ध्वनियोंमें इसी प्रकार झटका देनेके साथ स्वर-तन्त्रियाँ अलग हो जाती हैं और काकल्य स्पर्श (ग्लौल स्टौप या ग्लौटल कैच) नामकी ध्वनि उच्चरित होती है। इतना ही नहीं, ओठ सिकोड़कर या मुँहमें दो उँगली डालकर सीटी बजाने, जीभकी चटकारी देने आदिके कारण भी स्वर-तन्त्रियाँ समीप या दूर होती रहती हैं।

ध्वनिकी विचित्र प्रक्रियाएँ

§ ११३. कुछ भाषाओंकी ध्वनि-प्रक्रियामें मुख चौड़ाना, जबड़े चलाना, नकियाना तथा प्रत्येक वर्णपर श्वासका अटकाव देना पड़ता है।

चीनी, जापानी आदि पूर्वी एशियाकी कुछ भाषाओंमें उच्चारणकी प्रक्रियाएँ विचित्र होती हैं। उनमें या तो मुखको चौड़ाकर या जबड़े चलाकर या नकियाकर ध्वनि की जाती है। ये ध्वनियाँ उस प्रकार व्यवस्थित, क्रमिक और स्थिराघातपूर्ण नहीं होती जैसी आर्य, द्राविड, हेमेटिक, सेमेटिक, स्वाहिली तथा बन्तू परिवारकी भाषाओंकी ध्वनियाँ होती हैं। पूर्वी एशियाकी इन भाषाओंमें एक-एक ध्वनि स्पष्ट अलगावके साथ कुछ झटका देकर बोली जाती है जैसे कोई अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्थाका बालक नए सीखे हुए अक्षरोंको टटोल-टटोलकर पढ़ रहा हो। मुख-विवरके भीतर जीभका अटकाव देकर ध्वनि निकालना अथवा ओठ चलाकर नाकसे ध्वनि निकालना ही इनके लिये पर्याप्त नहीं है। इनके निमित्त विशेष प्रकारसे प्रत्येक वर्णके पश्चात् श्वासकी धौंक देना, विशेष प्रकारसे मुँह फैलाना और जबड़े चलाना भी आवश्यक होता है। इन भाषाओंका वाग्ध्वनि-विज्ञान विश्वकी समस्त भाषाओंके वाग्विज्ञानसे भिन्न है।

इंजे-इंजे भाषा

§ ११४. इंजे-इंजे जातिकी भाषामें केवल एक इंजे शब्द ही अगणित काकु-प्रयोगसे उच्चरित होता है।

विश्वकी सबसे विचित्र भाषा दक्षिण अमरीकाके पेरू प्रदेशके अन्तर्गत इंजे-इंजे मानव-जातिकी भाषा है जिनके पूरे वाङ्मय और वर्णसमाम्नायमें केवल दो वर्ण हैं—'इं' और 'जे'। इन्हीं दोनों वर्णोंसे मिले हुए 'इंजे' शब्दसे वे अपना समस्त जीवन-व्यापार चला लेते हैं। विभिन्न व्यक्तियों, वस्तुओं, स्थानों, व्यवहारों और भावोंके लिये वे केवल स्वरके उतार-चढ़ावसे और कंठमें विभिन्न प्रकारके काकुका प्रयोग करके ही इस तीव्र गतिसे 'इंजे' शब्दका प्रयोग करते हैं कि उनकी स्वर-तन्त्रियोंको न जाने कितने असंख्य रूपोंमें अपना संकोच और विस्तार करना पड़ता है। अतः, ध्वनि-शास्त्रियोंका यह कथन निराधार है कि केवल कुछ गिने-चुने प्रकारसे स्वर-तन्त्रियाँ फैलती, सिकुड़ती, समीप होती या दूर होती हैं।

काइमोग्राफ़ और औसिलोग्राफ़की सहायतासे जो ध्वनि-कम्पनके आकलन हुए हैं उनसे स्पष्ट है कि विभिन्न गतिके कम्पनोंके अनुसार मनुष्यकी स्वर-तन्त्रियाँ आगे पीछे या समीप-दूर होती चलती हैं। कुछ भाषाओंमें ऐसी अन्तः स्फोट ध्वनियाँ भी होती चलती हैं जिनका उच्चारण करते समय स्वर-यन्त्र स्वयं कुछ नीचे भी हो जाता है।

भाषा-ध्वनि, मूलध्वनि और सम-मूलध्वनि

§ ११५. कुछ भाषाओंकी भाषाध्वनिमें मूलध्वनिके साथ सममूलध्वनियाँ भी सुनाई पड़ती हैं।

'वाग्ध्वनि' या 'भाषा-ध्वनि' शब्दका प्रयोग केवल मनुष्यकी विशेषतः उस वाणीके लिये ही किया जाता है जो व्याकृता हो अर्थात् जो किसी भाषाके व्याकरणके नियमके अनुसार काममें लाई जाती हो। यद्यपि मनुष्य अपने मुखसे संगीतके अनेक स्वर तथा अनेक जीवोंके अनुकरणात्मक स्वर उत्पन्न कर सकता है किन्तु वे भाषा-ध्वनि या वाग्ध्वनि नहीं कहला सकतीं। वाग्ध्वनि वह मनुष्यके मुखसे निकला वर्ण है जो स्वतः अपनेमें सार्थक हो अथवा जो अन्य वर्णोंके साथ मिलकर सार्थक शब्दकी सृष्टि करे और जो मुखमें एक स्थान और प्रयत्नसे उच्चरित हो। 'मकर' शब्दमें 'म क र' तीन वाग्ध्वनियाँ या वर्ण हैं। संस्कृतके व्याकरणके अनुसार इन तीनों वर्णोंके भी अर्थ होते हैं किन्तु 'म क र' वर्ण मिलकर एक प्रकारके जलजीवका बोध कराते हैं। ये तीनों वर्ण अपनेमें भाषा-ध्वनियाँ या वाग्ध्वनियाँ (स्पीच साउंड) हैं।

भाषाध्वनि या वाग्ध्वनिमें जिन वर्णों (सिलेबिल) या एकाक्षरी ध्वनियोंका प्रयोग होता है उन्हें मूलध्वनि या मूलवर्ण (फ़ोनीम) कहते हैं जिसे बहुतसे लोग ध्वनिग्राम, ध्वनिश्रेणी या ध्वनितत्त्व भी भूलसे कहते हैं। एक स्थान और एक प्रयत्नसे उच्चरित होनेवाली ध्वनिको मूलवर्ण कहते हैं, जैसे—कवर्गमें पाँच मूलवर्ण (क ख ग घ ङ) हैं (§ ५६.)। कभी-कभी एक ही वर्ण अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर होनेपर भी समान सुनाई पड़नेके कारण एक ही वर्ण होता है, जैसे—मराठीमें च (तालव्य) और च़ (वर्त्स्य)।

जब हम वेगसे किसी भाषाके वर्णोंका प्रयोग करते हैं तब किसी एक मूलवर्णके आगे-पीछे आनेवाले स्वरों और व्यंजनोंके कारण उनके उच्चारणमें

कुछ थोड़ा-सा स्थान और प्रयत्नका अन्तर करते रहते हैं, जैसे—निम्नांकित पद—

मधुरता मधुमें महकी महा

—के अन्तर्गत आनेवाले 'म' वर्णोंका उच्चारण कुछ थोड़ा-थोड़ा भिन्न हो जाता है। 'मधुरता' का 'म' शुद्ध ओष्ठ्य अनुनासिक है। 'मधु' का 'म' झटकेके साथ बोला जाता है। 'में' का 'म' लंबा होनेके कारण ओष्ठका कम स्पर्श करता है। 'महकी' का 'म' आगे 'ह' हलका व्यञ्जन आ जानेसे अधिक अनुनासिक हो जाता है और अंतिम 'महा' का 'म' उच्चरित होते ही 'हा' के कारण विवार हो जाता है अर्थात् मुँह खोलकर बोला जाता है। इस प्रकार एक 'म' के ही पाँच रूप दिखाई पड़ जाते हैं। किन्तु इतनी सूक्ष्म भिन्नता होते हुए भी 'म' एक ही ओष्ठ्य अनुनासिक ध्वनि है। अतः, उच्चारणमें सूक्ष्म विभिन्नता होते हुए भी इनका मूल रूप एक ही है। वह एक रूप तो मूलवर्ण कहलाता है और जो ऊपर विभिन्न रूप बताए गए हैं वे सम-मूलध्वनि (एलोफ़ोन) कहलाते हैं अर्थात् 'म' मूलध्वनिकी पाँच सममूलध्वनियाँ मानी जाती हैं। किन्तु थाई, चीनी और जापानी भाषाओंमें प्रत्येक वर्ण अलग-अलग अटकाव देकर बोला जाता है इसलिये वहाँ सम-मूलध्वनि (एलोफ़ोन) का पूर्ण अभाव है। उन भाषाओंमें मूलध्वनियाँ भी उतनी स्पष्ट नहीं है जितनी आर्य, द्राविड, सेमेटिक, हैमेटिक और अफ़रीकी परिवारकी भाषाओंमें है।

इसका तात्पर्य यह है कि मूलवर्ण और सममूलवर्ण सब भाषाओंमें नहीं, किसी-किसी भाषामें होते हैं। केवल वेगसे वर्णोंको मिलाकर बोली जानेवाली भाषाओंमें ही सममूलध्वनियाँ संभव हैं और उनमें वाग्ध्वनिकी दृष्टिसे सममूलध्वनिका अस्तित्व माना जा सकता है। ये सममूलध्वनियाँ विभिन्न परिस्थितियोंमें भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करती हैं अर्थात् एक सममूलध्वनि जिस दशामें प्रयुक्त होता है उस दशामें दूसरी सममूलध्वनिका प्रयोग नहीं हो सकता।

संस्कृतके वर्णसमाम्नायमें शिक्षाके सिद्धांत और वर्णोंके वर्गीकरणके कारण सममूलवर्णोंका कोई प्रश्न ही नहीं उठा क्योंकि शिक्षाके नियमोंके अनुसार उच्चारणकी प्रक्रियामें जिस वर्णका जो स्थान और प्रयत्न निर्धारित है उसके अनुसार उसका प्रयोग स्पष्टतः निर्दिष्ट था और वह किसी भी प्रकार अपने आसपासकी वर्ण-ध्वनियोंसे प्रभावित नहीं होता था, यहाँतक कि

'रलयोरभेद:' सूत्रका प्रयोग भी शब्दके निर्माणमें तो हुआ किन्तु उच्चारणमें 'र' के बदले 'ल' या 'ल' के बदले 'र' उच्चरित करनेकी कोई छूट नहीं दी गई। इतना ही नहीं, उच्चारणकी शुद्धता और सटीकता बनाए रखनेके लिये जो सावधानी बरती जाती थी उसके सम्बन्धमें स्वयं भाष्यकार पतंजलिने कहा है—

उदात्ते कृते योऽनुदात्तः करोति खंडिकोपाध्यायः तस्मै चपेटां ददाति ।

[उदात्तके बदले यदि कोई शिष्य अनुदात्त स्वरसे उच्चरित करता था तो पाधाजी उसे तत्काल एक चपेटा लगा देते थे ।]

इसलिये संस्कृतमें मूलवर्ण ही मुख्य रहे सम-मूलध्वनि (एलोफ़ोन)-जैसी किसी ध्वनि-प्रक्रियाका न अस्तित्व रहा न उसका विधान करनेकी आवश्यकता ही पड़ी। पाणिनि तथा भारतीय वैयाकरणोंने जिस सूक्ष्मताके साथ वाग्ध्वनियोंका अध्ययन, विश्लेषण, उच्चारणार्थ स्थान-प्रयत्न-निरूपण और वर्गीकरण किया वैसा विश्वकी किसी भाषाके लिये नहीं हुआ। पाणिनिके ही वर्णसमाम्नायकी परम्परामें भारतकी अधिकांश देशी भाषाओंने अपनी भाषाके वर्णोंका क्रम स्थिर किया और उसी क्रममें अपनी विशेष भाषा-ध्वनियोंको भी यथास्थान जोड़ दिया। उदाहरणके लिये 'फ़' ध्वनि 'व' के समान ही दन्त्योष्ठ्य है। अत:, फ़ वर्ण यदि हमारी वर्णमालामें सम्मिलित कर लिया जाय तो उसका स्थान व के पश्चात् आवेगा। यदि उसके लिये सूत्र बनाना पड़े तो कहा जायगा—

वफ़योर्दन्तौष्ठम् ।

[व और फ़ का दाँत और ओष्ठ स्थान है ।]

यह कम आश्चर्यकी बात नहीं है कि जिस सप्तसिंधु प्रदेशमें वैदिक संस्कृत और काव्य-संस्कृत दोनोंका जन्म और संस्कार हुआ उस सिंधु प्रदेशकी भाषामें 'ब़ ज़ द़'—जैसी अंत:श्वसित ध्वनियाँ भी हैं जो भीतर श्वास लेकर बोली जाती हैं। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय वर्णोंसे भिन्न इन तीन ध्वनियोंका प्रयोग सिंधी भाषामें ही होता है, विश्वकी अन्य किसी भाषामें नहीं। पंजाबीमें भी घंटेको कैंटा कहते हुए क का उच्चारण अंत:श्वसित ही होता है और वह कुछ-कुछ खैंटाके समान सुनाई पड़ता जाता है। इस प्रकारकी उच्चारणकी बहुतसी विचित्रताएँ विभिन्न भाषाओंमें प्राप्त होती हैं जो ध्वनि-शास्त्रके नियमोंका कभी-कभी बहुत उल्लंघन कर जाती हैं।

ध्वनियोंके रूप और वर्ग

§ ११६. वर्णोंके वर्गीकरणके तीन पक्ष होते हैं—मुखके विभिन्न अवयवोंके विशेष प्रयत्नसे उत्पन्न वर्णोंके अनुसार, उच्चरित वर्णके विशेष गति, वेग आकारके अनुसार, श्रोतापर प्रभावके अनुसार ।

पीछे (§ ५९, ६०, ६१) विश्व भरकी भाषाओंमें तथा भारतीय भाषाओंमें उच्चरित वर्णोंका जो वर्गीकरण किया गया है उन वाग्ध्वनियों या वर्णोंके वर्गीकरणके तीन पक्ष होते हैं—

१. श्रोताके वर्णोच्चारणके अनुसार वर्गीकरण : अर्थात् मुखके अंतर्गत किसी विशेष स्थानपर जीभका अटकाव देने अथवा ओठ चलाने या सिकोड़ने या नाकसे उच्चारण करने तथा उस उच्चारणके लिये विशेष प्रयत्नके अनुसार वर्गीकरण ।

२. मुखसे ध्वनि उत्पन्न होनेपर विशेष गति, वेग और प्रकारसे श्रोता या श्रोताओंके कान-तक उसकी वाक्-लहरियोंका संचरण: अर्थात् मुखसे निकलनेवाली वाक्-लहरियोंके स्वरूपके अनुसार वर्गीकरण ।

३. श्रोतापर किसी विशेष वाग्ध्वनिके ग्रहणसे उत्पन्न होनेवाले प्रभावके अनुसार वर्गीकरण ।

इस प्रसंगमें यह जान लेना अत्यंत आवश्यक है कि ध्वनिविस्तारक यंत्रके प्रयोगसे वाग्ध्वनिको ध्वनि-लहरियोंका स्वरूप अधिक तीव्र और उदात्त हो जाता है। अतः, उसका विवेचन वाग्ध्वनिकी अध्ययन-प्रक्रियामें नहीं किया जाता ।

प्रथम पक्षके अन्तर्गत वर्णोंका वर्गीकरण अर्थात् मुखके विभिन्न अवयवोंसे विशेष प्रयत्नके द्वारा उत्पन्न होनेवाले वर्णोंका विभिन्न वर्गोंमें विभक्त करना आता है, जैसे—भारतीय वैयाकरणोंने कंठ्य, तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य, ओष्ठ्य और दन्त्यौष्ठ्य नाम देकर मुखके विभिन्न अवयवोंसे उत्पन्न होनेवाले वर्णोंको क्रमशः सजाकर रख दिया है (§ ६३, ६६)। इसके पश्चात् विभिन्न प्रकारके प्रयत्नोंके अनुसार भी घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, विवार, संवार, नादके आधारपर वर्णोंका वर्गीकरण किया है (§ ६२, ६४)।

इनमेंसे भाषाशास्त्रके ध्वनि-विज्ञानकी दृष्टिसे केवल प्रथम पक्ष महत्त्वपूर्ण है और उसी दृष्टिसे किसी भी भाषाकी ध्वनियोंका वर्गीकरण होना चाहिए। यह कम आश्चर्यको बात नहीं है कि जहाँ एक ओर सभी भाषा-शास्त्री

इस बातपर सहमत हैं कि संस्कृत, लातिन, यूनानी और जर्मन आदि भारत और योरपकी भाषाएँ एक परिवारकी हैं वहाँ उन्होंने इस बातपर कभी विचार नहीं किया और न कोई कारण ही प्रस्तुत किया कि संस्कृतको छोड़कर अन्य किसी भाषामें उच्चारण-स्थानके अनुसार वर्ण-समाम्नायकी वर्ग-योजना क्यों नहीं बनाई गई। क्या कारण है कि जैसे संस्कृत वैयाकरणोंने कण्ठ्य, तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य और ओष्ठ्य वर्णोंको अलग-अलग वर्गोंमें विभक्त कर दिया उस प्रकार अन्य भाषाओंके वर्णोंका वर्ग-क्रम क्यों नहीं स्थिर हुआ। दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि यदि उनमें उच्चारण-स्थानके अनुसार वर्णोंका वर्गीकरण नहीं भी हुआ तो इसका क्या कारण है कि उनके यहाँ प्रत्येक वर्णका नाम अलग है और उसके उच्चारण भिन्न हैं, यहाँतक कि कभी-कभी तो एक नामके वर्णसे कई-कई ध्वनियोंका बोध हो जाता है, जैसे—ए (A) वर्णसे अ, आ, ए, ऐ, ऑ आदि अनेक ध्वनियोंका उच्चारण होता है। कहीं-कहीं एक ही ध्वनिके लिये तीन-तीन वर्णोंका विधान है, जैसे—फ़ारसीमें से, स्वाद और सीन नामके तीन-तीन वर्ण एक ही 'स' ध्वनिके लिये आते हैं।

दूसरे पक्षके अनुसार इस आधारपर वाग्ध्वनियोंका वर्गीकरण किया जा सकता है कि वाग्ध्वनियोंसे उत्पन्न स्वर-लहरियोंका स्वरूप क्या है। इसका निर्णय विभिन्न भौतिकशास्त्रीय यंत्रों-द्वारा होता है। इसी पक्षके अंतर्गत यह भी विचार किया जाता है कि वाग्ध्वनि कितनी तीव्र या मंद है, कितनी ऊँची या नीची है अथवा उसकी गति कितनी मंद या वेगपूर्ण है। किन्तु भाषा-विज्ञान लिये इस प्रकारके वर्गीकरणका कोई महत्त्व नहीं है। इस पक्षके अनुसार ध्वनिकी लहरियोंके वेग और गतिके अनुसार जो ध्वनियोंका वर्गीकरण किया जाता है वह भाषाशास्त्रकी सीमासे बाहर है। वह शुद्ध ध्वनि-शास्त्रका विषय है जिसका सम्बन्ध भौतिक-शास्त्रके ध्वनि-विज्ञानसे ही है।

तीसरे पक्षके अन्तर्गत इस आधारपर वाग्ध्वनियोंका वर्गीकरण किया जाता है कि वह वाग्ध्वनि श्रोताको किस प्रकार प्रभावित करती है। इसका सम्बन्ध सौन्दर्य-शास्त्र, सङ्गीत-शास्त्र, मनोविज्ञान तथा आयुर्वेदसे अधिक है। साहित्य-शास्त्रमें इसी आधारपर शब्द-शक्ति और ध्वनिका निरूपण किया गया है और वह समस्त शब्द-शक्ति-विधान श्रोतापर प्रभावकी दृष्टिसे ही किया गया है।

यह पक्ष श्रोतापर वाग्ध्वनिके प्रभावसे सम्बद्ध है इसलिये इसके अंतर्गत वाणीसे सम्बन्ध रखनेवाले अनेक शास्त्र आ जाते हैं। पहले (§१३,६) बताया जा चुका है कि भाषा क्या है और उसका प्रयोजन क्या है। उस प्रसंगमें यह भी समझाया जा चुका है (§५३) कि भाषा पूर्णतः सामाजिक तत्त्व है। भाषाका प्रयोग सदा किसी दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियोंके लिये किया जाता है (§३)। दूसरेके लिये वाणीका प्रयोग किए जानेकी दृष्टिसे मनुष्यकी वाणी अनेक रूप ग्रहण कर लेती है जिनपर अलग-अलग शास्त्रोंमें विचार होता है—

वाणीका रूप	शास्त्र
वाणीका विलास	साहित्यशास्त्र
वाणीका स्वरूप-निर्धारण	व्याकरण
वाणीके विकासका विवेचन	निरुक्त
वाणीका संस्कार	शिक्षा
वाणीकी प्रभावशीलता	तर्क-शास्त्र
वाणीका माधुर्य	छंदःशास्त्र
वाणीकी कला	काव्य-कला
वाणीका प्रवाह	कहानी कहनेकी कला
वाक्कौशल	वार्त्तालाप-कला
वाणी-द्वारा लोक-वशीकरण	भाषण-कला
वाक्संगीत	काव्यपाठ तथा काव्यगान-कला
वाणीका शिष्टाचार	समाजशास्त्र
वाणीकी उत्पत्ति	नृविज्ञान, शरीर-शास्त्र
वाणीकी ध्वनियाँ	ध्वनि-विज्ञान (भौतिक-शास्त्र)
वाग्ध्वनियोंका अध्ययन	भौतिक-शास्त्र, जीव-विज्ञान, शरीर-शास्त्र
सर्वांगीण अभिव्यक्ति	मनोविज्ञान, नाट्यकला
अलौकिक वाणी (परा आदि)	दर्शन-शास्त्र

वाङ्माधुर्य उत्पन्न करनेके लिये छंदःशास्त्रमें पदोंको गाने, पाठ करने और प्रभावशाली ढंगसे पढ़नेकी अनेक प्रणालियोंका विवेचन किया जाता है किन्तु ऊपर जिन अनेक शास्त्रोंका उल्लेख किया गया है उनमेंसे सामान्य व्यक्ति या व्यक्तियोंको प्रभावित करनेके लिये साहित्यशास्त्र,

व्याकरण, शिक्षा, तर्कशास्त्र, छंद:शास्त्र, काव्य-कला, कहानी कहनेकी कला, वार्त्तालाप-कला, भाषण-कला, काव्यगान-कला, वाणीका शिष्टाचार नितांत आवश्यक है। हमारे देशमें भाषण-शास्त्र, कहानी-कला, वार्त्तालाप-कला तथा भाषाके शिष्टाचारका उतना विस्तृत विधान नहीं किया गया जिता अन्य देशोंमें। यूनान और रोममें भाषणशास्त्र या भाषण-कलाको शिक्षाका प्रमुख अंग माना जाता था। फ़्रांसीसी, स्पेनी, फ़ारसी तथा अरबी भाषाओंमें कहानी कहनेकी कला तथा वार्त्तालाप-कलाकी शिक्षाकी विशेष व्यवस्था थी। वाणीका शिष्टाचार यद्यपि सभी भाषाओंमें थोड़ा-बहुत रहा किन्तु फ़ारसीमें सबसे अधिक उदात्त रूपमें विकसित हुआ। किन्तु साहित्यशास्त्र, व्याकरण, शिक्षा, तर्कशास्त्र और छंद:शास्त्रके सम्बन्धमें संस्कृतके विद्वानोंने पारमिता प्राप्त कर ली। भाषा-सम्बन्धी इन समस्त सामाजिक प्रयोगोंके साथ एक और विशिष्ट कलात्मक सामाजिक प्रयोग नाट्यके रूपमें विकसित हुआ जिसमें वाग्ध्वनि, शारीरिक चेष्टा और भावाभिव्यक्ति तीनोंका सुन्दर समन्वय हुआ। इस प्रकार भाषाके प्रयोगकी दृष्टिसे अनेक शास्त्रों, अभिव्यक्तिकी शैलियों, रूपों और कौशलोंका प्रादुर्भाव हो गया जिसके सहस्रों रूप आज विश्व-वाङ्मय-श्रीकी अभिवृद्धि कर रहे हैं और जो सबके सब मानव-समाजको प्रभावित करनेके लिये ही उत्पन्न हुए हैं। आज ये सब दो रूपोंमें प्राप्त होते हैं—एक, बोले हुए या वाणीके रूपमें और दूसरा, लिखित या लेखके रूपमें। विचित्र बात यह है कि वाणी तो काकुके द्वारा आरोह-अवरोहसे अलंकृत करके प्रभावशाली बनाई जा सकती है किन्तु लिखित भाषाको काकुके बदले शैलीसे प्रभावशाली बनाया जाता है। आगे चलकर प्रयोगकी दृष्टिसे भाषापर विचार करते समय उन अनेक विभिन्न रूपोंका विवेचन किया जायगा जो श्रोता या पाठकको प्रभावित करनेके लिये भाषाके आवश्यक तत्त्व हैं क्योंकि इन तत्त्वोंको वाग्विज्ञान या भाषाशास्त्रके क्षेत्रसे बाहर नहीं रक्खा जा सकता।

§ ११७. वक्ताके बोलनेके ढङ्ग और शब्द-प्रयोगके अनुसार श्रोतापर प्रभाव पड़ता है।

श्रोताके कानपर जो वाग्ध्वनि तत्काल प्रभाव डालती है वह वक्ताके बोलनेके प्रकार और भावपर अवलम्बित होती है। यह प्रभाव बाह्य भी होता है और मानसिक या आन्तरिक भी। इन दोनों प्रभावोंमेंसे पहला प्रभाव श्रोताको यह समझनेके लिये प्रेरित करता है कि अमुक वाणी

कठोर, श्रुति-कटु, श्रुतिमधुर, गम्भीर, घर्घर, फटी हुई, बैठी हुई, पतली, सुरीली, प्रवाहशील, उखड़ी हुई, मन्द, उच्च या तीखी कैसी है। किन्तु दूसरी आन्तरिक ध्वनि श्रोताको भावात्मक दृष्टिसे प्रभावित होनेके लिये विवश करती है अर्थात् वाणीको सुनकर श्रोता उसके वक्ताकी ओर आकृष्ट होता है, उससे घृणा करता है, उसे सुननेको लालायित होता है, प्रसन्न होता है, दुखी होता है, क्रुद्ध होता है, भयभीत होता है, उत्तेजित होता है, शान्त होता है, बात मानता है, विरोध करता है, दया दिखाता है, शोक प्रकट करता है, रोता है, हँसता है, प्रतिक्रियाके रूपमें चिल्लाता, सीटी बजाता, कोलाहल करता, तिलमिलाता अथवा व्यंग्यानुकरण करता है। इस प्रकार भाषा या वाग्ध्वनियोंके प्रयोगसे श्रोता, विशेष प्रकारसे विभावित होकर अपने मानसपर उस ध्वनिकी प्रकृति और शब्दोंकी योजनासे पड़े हुए प्रभावके कारण विशेष मानसिक प्रतिक्रिया करता है जिसके साथ उसकी शारीरिक (आङ्गिक) या वाचिक चेष्टाएँ भी संयुक्त हो सकती हैं। अतः, वाणीके अध्ययनकी परम्परामें इस प्रवृत्तिका अध्ययन भी आवश्यक है।

● ●

ध्वनि-परिवर्त्तनके नियम

पिछले अध्यायमें (§ ८६ से १०२ तक) समझाया गया है कि किसी शब्दके वर्ण किसी एक ढंगसे नहीं बदलते। फिर भी कुछ विद्वानोंने बतलाया है कि कुछ बोलियोंकी ध्वनियोंमें बहुतसे हेरफेर किसी सधे-सधाए और नपे-तुले ढङ्गसे ही होते हैं।

ध्वनि-नियम और ध्वनि-वृत्ति

§ ११८. वाग्ध्वनियोंमें परिवर्त्तनका क्रम जाननेके लिये नियम और वृत्तिका विधान किया गया है।

कुछ लोगोंने यह कहा है कि वाग्ध्वनियोंमें हेरफेरको ध्वनि-नियम (फ़ोनेटिक लौ) न कहकर ध्वनिकी टेव या ध्वनि-वृत्ति (फ़ोनेटिक टेंडेन्सी) कहना चाहिए क्योंकि नियमके अनुसार तो सदा एक ही रूपमें परिवर्त्तन होता है पर वृत्ति तो बनी भी रह सकती है और कभी-कभी उसमें कुछ हेरफेर भी हो सकते हैं। इसलिये जहाँ परिवर्त्तनकी सम्भावना बनी रहे उसे 'ध्वनि-परिवर्त्तनका नियम' न कहकर 'ध्वनि-वृत्ति' कहना चाहिए। इसीलिये बहुतसे लोग मानते हैं कि ध्वनियोंमें जो हेरफेर होते हैं वे कभी तो नियमित रूपसे होते हैं, कभी आगे चलकर बदल जाते हैं। इनमेंसे जिस प्रयोगमें बराबर परिवर्त्तन होते दिखाई पड़ते हैं उसे हम 'ध्वनि-वृत्ति' कहते हैं पर जिस ढंगमें ध्वनियाँ अपना पूरा रूप बदल लेती हैं और फिर उनमें अदल-बदल होनेका अवसर नहीं रह पाता, वह नियम बन जाता है। इसीलिये कुछ लोग मानते हैं कि पुरानी बोलियों और पूर्ण हो चुकी हुई ध्वनियोंके लिये तो 'ध्वनि-नियम' बनते हैं पर जो बोलियाँ अभी बोली जा रही हैं और आगे भी बोली जाती रहेंगी उनके लिये जो नियम बनता है उसे 'वृत्ति' ही कहना चाहिए।

ध्वनि-परिवर्त्तनके नियम

§ ११९. किसी भाषाकी कुछ गिनी-चुनी ध्वनियोंमें किसी एक समय, एक निश्चित ढङ्गसे जो निश्चित हेर-फेर, उलट-पलट, अदला-बदली, बिगाड़-सुधार या परिवर्त्तन होता है, उसे ध्वनि बदलनेका नियम (फ़ोनेटिक लौ) कहते हैं।

किसी एक परिवारकी कुछ गिनी-चुनी ध्वनियोंमें, किसी एक समयमें, कुछ निश्चित कारणोंसे हो चुकनेवाले हेर-फेरके लिये ही नियम बनते हैं।

यह नहीं समझना चाहिए कि ध्वनियोंके हेर-फेरका कोई नियम सब बोलियोंमें सदा, अपने आप लागू हो जाता है। भाषा-ध्वनियोंका परिवर्त्तन देखनेपर समझमें आ सकेगा कि—

१. एक भाषाकी ध्वनियोंमें हेरफेर होनेके नियम दूसरी भाषापर चरितार्थ नहीं हो सकते ।

२. एक ही नियम किसी एक भाषाकी सब ध्वनियोंपर नहीं चलता, कुछ गिनी-चुनी ध्वनियों या वर्णोंपर ही चलता है।

३. ध्वनियोंमें यह हेरफेर कभी किसी एक विशेष समयमें ही होता है, उस भाषामें भी सदा नहीं होता रहता।

४. कोई भी ऐसी गिनी-चुनी ध्वनियाँ किसी भाषामें किसी एक समय बिना समझे-बूझे अचानक नहीं बदल जातीं। उसके लिये भी कुछ कारण और परिस्थितियाँ होनी चाहिएँ।

अँगरेज़ीमें लिखा जाता है 'लौघ' पर पढ़ा जाता है 'लौफ़'। यह नियम अँगरेज़ीके लिये भले ही ठीक हो पर जर्मन भाषापर नहीं लग सकता। ऐसे ही फ्रांसीसी भाषाके कुछ शब्दोंके अन्तमें आनेवाले 'न' को नकियाकर बोलनेकी जो चाल है वह अँगरेज़ी या जर्मन भाषामें नहीं है। बैसवाड़ीमें 'लोटा' को 'ल्वाटा' कहनेकी जो चाल मिलती है और जिसमें 'ए' का 'आ' और 'ओ' का 'वा' हो जाता है वह उत्तर भारतकी दूसरी बोलियोंमें नहीं है। पश्चिमी उत्तर प्रदेशमें 'लोटा' को 'लोट्टा' कहते हैं, पर यह बात ब्रजभाषा या अवधीमें नहीं है। फिर ये हेरफेर भी सदा, सब समय नहीं होते। हिन्दीमें ही आजसे सौ वर्ष पहले 'उसको' को 'उसकू, तिसकू, विसकू' बोलते और लिखते थे पर अब 'उसको' ही लिखते हैं। अतः, ऐसे हेरफेर किसी एक समय ही होते हैं। फिर

यह भी समझ रखना चाहिए कि ये हेरफेर भी किन्हीं गिने-चुने शब्द-क्षेत्रोंमें होते हैं, जैसे—बैसवाड़ीमें 'लोटा' को तो 'ल्वाटा' कहते हैं पर वे ही लोग 'कोर्ट' को 'क्वार्ट' या 'शोणभद्र' को 'श्वाणभद्र' नहीं कहते।

नियमोंकी खोज

§ १२०. रास्क और इहरेने ध्वनि-परिवर्त्तनके नियमकी बात सुझाई और ग्रिमने नियम बनाए।

सबसे पहले डेनमार्कके नामी विद्वान् और बोलियोंकी छान-बीन करनेवाले रास्क और इहरेने यह सुझाया था कि बोलियोंमें जो हेरफेर होते हैं वे एक सधे हुए ढंगसे होते हैं। पर वे इसपर बहुत कुछ कर न पाए, सुझाव-भर देकर रह गए। तब जर्मन विद्वान् ग्रिमने 'जर्मन बोलीके व्याकरण' के दूसरे संस्करण (सन् १८८२) में अपने ग्रिम-नियम छापे और यह बताया कि ये नियम हिन्द-योरोपीय (इण्डो-योरोपियन) बोलियोंमें काम आनेवाले उन व्यञ्जनोंपर लागू है जो जीभके अटकाव या ओठोंके आपसमें छूने या चलानेसे बोले जाते हैं और जिन्हें स्पर्श (क से म तक) वर्ण कहते हैं। जर्मनीमें इसे वाणीका हेरफेर (लाउटवेश्ररशीबुङ्ग) कहते हैं। उनका कहना है कि जर्मन बोलीमें यह हेर-फेर दो बार हुआ था। दूसरा परिवर्त्तन तब हुआ जब सातवीं सदीमें उत्तरी जर्मनवालोंसे ऐंग्लो-सैक्सन लोग अलग हो गए। पीछे चलकर वर्नर और ग्रासमानने इस नियममें अपवाद देखे और तदनुसार कुछ नए नियम बनाए जो आगे समझाए जायँगे।

हमारी बोलियोंमें हेर-फेरके नियम

§ १२१. भारतीय प्राकृतोंका व्याकरण लिखनेवालोंने ग्रिम आदि योरोपीय भाषा-शास्त्रियोंकी अपेक्षा कहीं अधिक सटीक नियम बनाए।

हमारे यहाँ भी ऐसे हेरफेर कई बार हुए हैं। पहला तो तब हुआ जब लोग संस्कृतमें काव्य और शास्त्रीय ग्रन्थ लिखने लगे। वेदकी संस्कृत भाषाके और काव्यके ग्रन्थोंकी संस्कृतके व्याकरणोंको पढ़नेसे यह बात ठीक-ठीक समझमें आने लगती है कि कैसे वेदके 'कर्णेभिः' और 'देवासः' का काव्यकी संस्कृतमें 'कर्णैः' और 'देवाः' हो गया। दूसरा हेरफेर तब हुआ जब प्राकृतोंका चलन बढ़ चला और संस्कृतके शब्द प्राकृतोंमें ढलने लगे। प्राकृतके व्याकरणोंमें ऐसे परिवर्त्तनोंवाले बहुतसे शब्द दिए हुए हैं। उनके पीछे जब अपभ्रंशोंका बोलबाला

हुआ तब संस्कृत और प्राकृतके शब्दोंकी ध्वनियाँ अपभ्रंशोंकी ध्वनियोंके अनुसार ढलने लगीं और उनके भी ऐसे नियम बन गए कि संस्कृत और प्राकृतकी कौन-सी ध्वनि किस देशके अपभ्रंशमें क्या बन जाती है, जैसे—'पुरुष' शब्दका किसी प्राकृतमें 'पुरिस' और किसीमें 'पुलिस' (राजपुरुष< राजपुरिसो< लाजपुलिसो) हो गया। जब अपभ्रंश बोलियाँ भी बिगड़ने लगीं तब आजकी देशी बोलियोंकी ध्वनियाँ ढल निकलीं। 'कर्म' शब्द प्राकृत और अपभ्रंशमें 'कम्म' होता हुआ देशी बोलियोंमें 'काम' और 'करम' बन गया और संस्कृतका 'अग्नि' प्राकृतमें 'अग्गि' बनकर आजकी बोलियोंमें 'आग, आगि, आगी, अगिया' बनकर चल निकला। यहीं तक नहीं, वह 'अग्नि' शब्द पुंल्लिङ्गसे स्त्रीलिङ्ग भी हो गया। हमारे यहाँ भाषाओंके व्याकरण बनाने-वालोंने ऐसे नियम बनाते हुए यह स्पष्ट कर दिया कि जब दो ध्वनियाँ मिलती है तब उनमें क्या हेरफेर होता है और संस्कृतकी कौन-सी ध्वनि अलग-अलग प्राकृतोंमें जाकर क्या बन जाती है। आज ग्रिम, वर्नर और ग्रासमानके नियमोंका बड़ा हल्ला मचाया जा रहा है, पर प्राकृत-व्याकरणोंको देखनेसे जान पड़ेगा कि उन्होंने संस्कृतकी ध्वनियोंके जितने परिवर्त्तन प्राकृतोंमें होते हैं या हो सकते हैं, सबके लिये बड़े पक्के नियम बना डाले थे। प्राकृत व्याकरणोंके सब सूत्र ऐसे ध्वनि-नियम हैं जिनके सामने ग्रिम, ग्रासमान, वर्नरके नियम खेलवाड़ जान पड़ते हैं। ये नियम उन्हीं प्राकृत बोलियोंके लिये बनाए गए जो उत्तर भारतमें बोली जाती थीं। ग्रिम, वर्नर और ग्रासमानने भी केवल ट्यूटोनीका अध्ययन करके ही नियम बनाए जो केवल ट्यूटोनी भाषाओंपर लागू हो सकते थे।

ग्रिमके नियमोंमें त्रुटियाँ

§ १२२. ग्रिमके नियमोंमें तीन दोष थे—विभिन्न कालोंकी भाषाओंके लिये नियम बनाए गए; केवल ट्यूटोनी भाषाओंके लिये ही नियम बनाए गए, और; नियमकी कोई सीमा नहीं बाँधी गई।

ग्रिमके नियमोंमें कई कमियाँ भी थीं। पहली बात तो यह थी कि उसने दो अलग-अलग कालोंमें होनेवाले ध्वनियोंके हेरफेरको एक साथ बाँधकर अपना नियम बनाया और जिन दो भाषाओंकी ध्वनियोंके हेरफेरपर विचार किया उनमेंसे दूसरेका घेरा बहुत छोटा भी था। दूसरी बात यह है कि यह हेरफेरका नियम केवल ट्यूटोनी बोलियोंके लिये ही बनाया गया, पुरानी

हिन्द-योरोपीय बोलियोंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये उस नियमको व्यापक नहीं माना जा सका। तीसरी बात यह है कि उसने अपने नियमकी कोई सीमा नहीं बाँधी थी इसलिये उसमें बहुत-सी भूलें और बहुत-सी त्रुटियाँ बनी रह गईं। इन्हीं अपवादोंको दूर करनेके लिये ग्रासमान और वर्नरने अपने उपनियम बनाए।

ग्रिमका नियम

§ १२३. ग्रिमने माना है कि संस्कृत, यूनानी, लातिन भाषाएँ किसी आदिम भाषासे निकली हैं जिनमेंसे संस्कृतमें आदिम भाषाकी ध्वनियाँ अधिक हैं। ग्रिमके नियम केवल ट्यूटोनी भाषाओंके लिये ही हैं।

ऊपर (§ १२०) बताया जा चुका है कि जर्मन परिवारकी बोलियोंकी छान-बीन करनेपर रास्क और इहरेने कुछ ऐसे नियम सुझाए थे जिनसे यह समझा जा सकता था कि उन बोलियोंमें कौन-सी ध्वनियाँ किस ढंगसे बदलीं। पर उसका ठीक और पूरा विस्तार ग्रिमने ही बनाकर दिया, इसलिये इसको ग्रिमका ही नियम कहते हैं। इस नियमको समझनेके लिये कुछ बातें जान लेनी चाहिएँ—

(१) ग्रिमने माना है कि हिन्द-योरोपीय परिवारकी सभी भाषाएँ किसी एक आदिम भाषासे निकली हैं।

(२) उस आदिम भाषाकी ध्वनियाँ संस्कृत, यूनानी और लातिनमें ही मिलती हैं। इनमें भी संस्कृतकी ध्वनियाँ आदिम बोलीकी ध्वनियोंसे बहुत अधिक मिलती हैं।

(३) ग्रिमने जो नियम बनाए हैं वे हिन्द-योरोपीय भाषाओंमेंसे केवल जर्मन-परिवारकी या ट्यूटोनी बोलियोंपर ही लागू होते हैं।

---

१. हिन्द-योरोपीय परिवारकी भाषाओंके लिये एक अशुद्ध 'भारोपीय' शब्द 'इंडो-योरोपियन' शब्दके अनुवादके रूपमें चल पड़ा है। 'इंडो-योरोपियन' शब्दमें 'इंड' और 'योरोपियन' दोनों शब्द पूरे हैं किन्तु 'भारोपीय' शब्द जिस प्रकार बनाया गया है वह विचित्र है। 'भारत' शब्दका पहला अक्षर और 'योरोपीय' शब्दके अन्तिम तीन अक्षर लेकर भानुमतीका कुनबा जोड़ लिया गया जिसका समर्थन समस्त-पद बनानेके किसी भारतीय नियमसे नहीं होता। अतः, इस ग्रन्थमें 'हिन्द-योरोपीय' शब्दका ही प्रयोग किया गया है।

(४) ग्रिमने माना है कि इन जर्मन-परिवारकी बोलियोंकी ध्वनियोंमें दो बार हेरफेर हुए हैं—

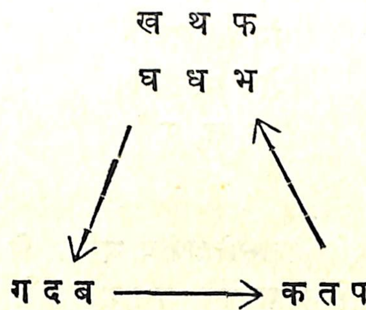
क—एक तो इतिहाससे बहुत पहले, जब जर्मन-भाषाओंके व्यञ्जन दूसरी हिन्द-योरोपीय बोलियोंके व्यंजनोंके रूपसे अलग हो गए।

ख—दूसरा हेरफेर सातवीं सदी ईसवीमें या उससे कुछ पहले हुआ जब कि ऊँची जर्मन-बोली (आजकी जर्मन-बोली) और नीची जर्मन बोलियों (अँगरेज़ी, डच या हुलाँश, गोथिक आदि) की ध्वनियाँ अलग हो गईं अर्थात् उस समय जब उत्तरी जर्मनीवालोंसे ऐंग्लो सैक्सन लोग अलग हो गए।

प्रथम वर्ण-परिवर्त्तन

§ १२४. ग्रिमके मतानुसार, प्रथम उलट-फेरमें आदि हिन्द-योरोपीय भाषाके घोष महाप्राण तो घोष अल्पप्राण और अघोष अल्पप्राण भी अघोष महाप्राण हो गए।

ग्रिमने यह नियम बनाया कि पहले हेरफेरमें आदिम हिन्द-योरोपीय (संस्कृत, यूनानी, लातिनमें मिलनेवाली) भाषाके व्यञ्जनोंकी ध्वनियोंमें एक हेरफेर हुआ जिससे आदिम भाषाओंके अघोष-अल्पप्राण (क त प) का जर्मन बोलियोंमें घोष ('ख थ फ' या 'घ ध भ'); आदिम बोलीके महाप्राण ('ख थ फ' और 'घ ध भ') का जर्मन बोलियोंमें घोष अल्पप्राण (ग द ब) और आदिम बोलीके घोष अल्पप्राण (ग द ब) का जर्मन बोलियोंमें अघोष अल्पप्राण (क त प) हो गया। नीचेके चक्रको देखनेपर ठीक-ठीक समझमें आ जायगा कि प्रथम परिवर्त्तनमें आदिम बोलियोंकी ध्वनियोंमें कैसे हेरफेर हुए।



यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिए कि जहाँतक दाँतके सहारे बोले जानेवाले (दन्त्य या तवर्ग) वर्णोंकी बात है वे तो ठीक ढंगसे परिवर्त्तित होते

जाते हैं (थ का द, द का त और त का द हो जाता है) पर कवर्ग और पवर्गमें एक ही परिवर्त्तन होता है (जिससे आदिम भाषाके ख और फ का ग और ब हो जाता है)।

यहींपर यह समझ लेना चाहिए कि संस्कृतकी देवनागरी वर्णमालामें घोष और अघोष अलग-अलग रक्खे गए हैं पर हिन्द-योरोपीय परिवारकी दूसरी भाषाओंमें घोष और अघोष दोनोंके अक्रम होनेके कारण उनमें बहुत विकृति आ गई है। सच्ची महाप्राण ध्वनियाँ तो यूनानी और संस्कृतमें ही मिलती हैं। अन्य भाषाओंकी कुछ महाप्राण ध्वनियाँ अरबीके 'ख़' जैसी जिह्वामूलीय या काकल्य हो गई हैं। जर्मन बोलीमें भी यह बात हुई है कि न तो नीची जर्मन बोलियोंका 'ह' ऊँची जर्मन या आजकी जर्मनमें 'ग' बना और न 'फ' का 'ब' बना।

ग्रिम मानते हैं कि हिन्द-योरोपीय बोलियाँ जिस मूल भाषासे निकलीं उसके कुछ व्यंजन आगे चलकर हिन्द-योरोपीय बोलियोंमें आकर बदल गए, जिन्हें हम यों समझा सकते हैं—

मूल हिंद-योरोपीय भाषा (संस्कृत, लातिन यूनानीमें सुरक्षित) के

घोषमहाप्राण (घ, ध, भ)	घोष अल्पप्राण (ग, द, ब)	अघोष अल्पप्राण (क, त, प)
का	का	का
जर्मन बोलियोंमें	जर्मन बोलियोंमें	जर्मन बोलियोंमें
घोष अल्पप्राण (ग, द, ब)	अघोष अल्पप्राण (क, त, प)	घोष-अघोष महाप्राण (ख (ह), थ, फ) (घ, ध, भ)

ग्रिमने माना है कि मूल हिन्द-योरोपीय भाषा जो भी रही हो, उसके कुछ व्यंजन संस्कृत-जैसी पुरानी भाषाओंमें अभीतक बचे हुए हैं। संस्कृतके ऐसे जो व्यंजन जर्मन परिवारकी बोलियोंमें अदल-बदल गए हैं उन्हें अँगरेज़ीके कुछ शब्दोंके सहारे समझाया जा रहा है—

			संस्कृत		अँगरेज़ी	अर्थ
१	घ से ग	जैसे	घर्न	का	गौंग	घंटा
	ह से ग	जैसे	हाफिका	का	गेपिंग	जँभाई
	ध से द (ड)	जैसे	विधुर	का	विडोअर	रँडुआ
	भ से ब	जैसे	भ्रू	का	बाउ	भौंह
२	ग से क	जैसे	गौ	का	काउ	गाय
	द से त (ट)	जैसे	द्वि	का	टू	दो
	ब से प	जैसे	बाधन	का	पेन	पीडा
३	क से ख	जैसे	पुस्तक	का	बुख़ (जर्मनमें)	पोथी
	क से ह	जैसे	कः	का	हू	कौन
	त से थ	जैसे	त्रयः	का	थ्री	तीन
	प से फ	जैसे	पार	का	फ़ार	दूर

द्वितीय वर्ण-परिवर्त्तन

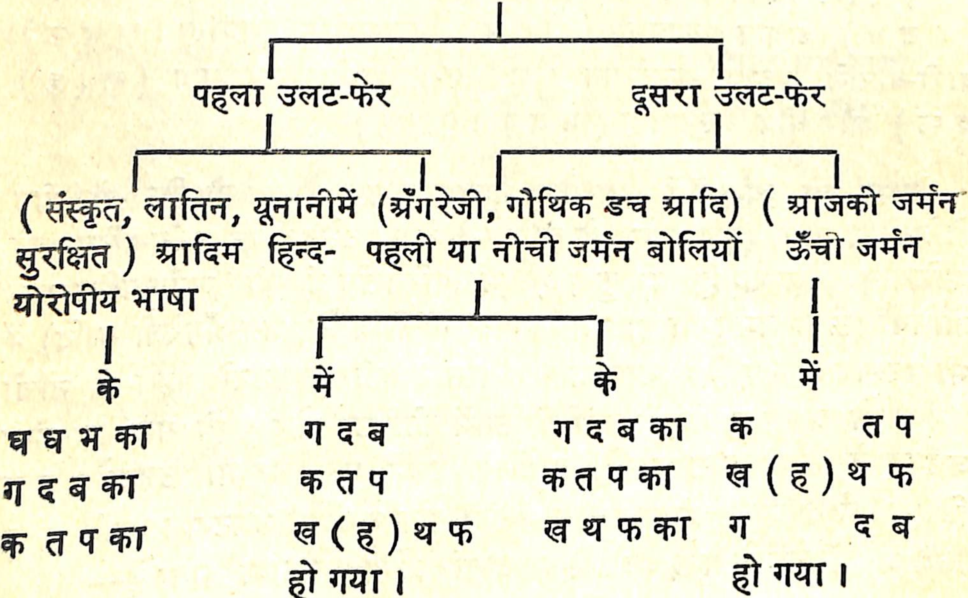
§ १२५. ग्रिमके मतानुसार दूसरे परिवर्त्तनमें नीची जर्मनके घोष अल्पप्राण (ग द ब), अघोष अल्पप्राण (क त प) और अघोष महाप्राण (ख थ फ) बारी-बारीसे अघोष अल्पप्राण (क त प), अघोष महाप्राण (ख (ह) थ फ) और घोष अल्पप्राण (ग द ब) हो गए)

ऊपर जो व्यंजनोंमें उलटफेर दिखाया गया है वह तो हिन्द-योरोपीय बोलियोंकी माता (मूल भाषा) के व्यंजनोंके वे उलटफेर हैं जो जर्मन-परिवारकी बोलियोंमें मिल रहे हैं, पर कुछ ऐसे भी परिवर्त्तन हैं जो जर्मन-परिवारकी बोलियों (ऊँची जर्मन या हाइ जर्मन और नीची जर्मन, जैसे अँगरेज़ी आदि) में भी परस्पर हो गए हैं। भाषाओंके विस्तार और विकारसे पहले ही नीची जर्मनवाले अलग हो गए थे इसलिये उनमें कोई उलटफेर न हो सका पर ऊँची जर्मनवाले सब एक साथ रहे, इसलिये उनमें एक और भी उलटफेर हुआ जिससे ऊँची जर्मन और नीची जर्मनकी कुछ ध्वनियाँ उलट-पलट गईं। इसके लिये भी अँगरेज़ीके कुछ शब्द लेकर दोनोंका भेद समझाया जाता है—

नीची जर्मन (अँगरेज़ी)	का शब्द	ऊँची जर्मन (जर्मन बोली) में	अर्थ
प का फ	स्प्रिग	फ़्रुहलिंग	वसन्त
ट का त्स	हार्ट	हेर्त्स	हृदय
ट का स्स	वाटर	वास्सेर	जल
क का ख (ह)	बुक	बुख़	पुस्तक
व का ब	लव	लीबे	प्रेम
ड का ट	डे	टाग	दिवस
थ का ड (द)	नौर्थ	नौर्डेन	उत्तर

इससे जान पड़ेगा कि दूसरे हेरफेरमें एक पग और आगे बढ़ना पड़ता है जिससे नीची जर्मन (या आदिम जर्मन) के ग द ब, क त प और ख (ह) थ फ ऊँची जर्मन या आजकी जर्मन बोलीमें क्रमश: क त प, ख थ फ और ग द ब हो जाते हैं। ऊपर (§ १२४) दिए हुए चक्रमें नीचेके दाहिने कोनेसे केवल एक-एक पग आगे बाएँसे दाएँ चलनेपर दूसरे हेरफेरका पूरा विवरण मिल जाता है।

ग्रिमने आदिम हिन्द-योरोपीय बोलीके जो दो उलट-फेर बताए हैं उन्हें नीचेकी सारिणीसे भलीभाँति समझा जा सकता है।



ग्रिमके नियममें दोष

ग्रिमने नियम बनानेके पश्चात् अपने आप देखा कि मैंने जो नियम बनाया है वह ठीक नहीं उतरता, उसमें स्थान-स्थानपर अपवाद मिलता चलता है और यह दोष भी एक निश्चित ढंगका है, जैसे—

'स्क स्त स्प' के 'क त प' में 'स्+प' मिलनेके कारण कोई हेरफेर नहीं होता। ऐसे ही 'क्त' और 'प्त' का 'त' भी ज्यों का त्यों रह जाता है और 'ट्ट' भी गोथिकमें जाकर 'स्त' और पीछे 'स्स' हो जाता है। पर यहींतक बात नहीं थी। भली भाँति देखभाल करनेपर उसमें और भी बहुतसे दोष निकलने लगे इसलिये उन्हें ठीक करनेके लिये और भी नये-नये नियम बनने लगे।

ग्रासमानका नियम

§ १२६. ग्रासमानके अनुसार आदिम हिन्द-योरोपीय बोलीके शब्द या धातु या लयान्विति (सिलेबिल) के पहले और अन्तके महाप्राण अक्षरोंका संस्कृत, लातिन आदि भाषाओंमें अल्पप्राण हो जाता है।

यह नहीं समझना चाहिए कि ग्रिम अपनी भूल नहीं पकड़ सका। उसके नियमसे आदिम हिन्द-योरोपीय भाषाके 'क त प' का ट्यूटोनी बोलियोंमें 'ख (ह) थ फ' हो जाना चाहिए था पर ऐसे बहुतसे शब्द मिलते हैं जिनके 'क त प' का ट्यूटोनीमें 'ग द ब' बन जाता है। इसीलिये ग्रासमानने उस नियमको सुधारते हुए अपना नया नियम निकाला कि आदिम हिन्द-योरोपीय भाषाके किसी शब्द, धातु या लयान्विति (सिलेबिल) के पहले और अंतके अक्षर यदि महाप्राण (ख घ छ झ ठ ढ थ ध फ भ) हों तो संस्कृत और यूनानीमें अल्पप्राण (क ग च ज ट ड त द प ब) हो जाते हैं। संस्कृतमें 'धा' (धारण) करना) धातुसे 'धधाति' बननेके बदले 'दधाति' और 'भी' (डरना) धातुसे 'भिभेति' के बदले 'बिभेति' बनते देखकर ग्रासमानने यह बताया कि—

१. आदिम हिन्द-योरोपीय भाषामें इस हेरफेरके दो रूप रहे होंगे। पहले रूपमें दो महाप्राण रहे और दूसरेमें नहीं। इसीलिये कहीं-कहीं 'क त प' के बदले जहाँ 'ग द ब' मिलते हैं वहाँ उस पुरानी आदिम बोलीमें इस 'क त प' का पुराना रूप 'ख (ह) थ फ' रहा होगा जो हिन्द-योरोपीय बोलियोंमें 'घ ध भ' हो गया।

यहाँ भो ग्रासमानने कल्पना ही की है क्योंकि आदिम भाषा भी कोरी कल्पना मात्र है।

२. यूनानी और संस्कृत भाषामें एक लयान्विति (सिलेबिल) के पहले और पीछे दोनों स्थानोंपर महाप्राण स्पर्श वर्ण नहीं रह सकते। एक लयान्विति (सिलेबिल) में एक ही प्राणवाली ध्वनि रहेगी, जैसे—'थस्थौ' न होकर 'तस्थौ' ही होगा।

वर्नरका नियम

§ १२७. आदिम हिन्द-योरोपीय बोलीके शब्दोंके बीचमें जो 'क त प स' अक्षर रहे हों और उनके पहले कोई उदात्त स्वर रहा हो तो वे संस्कृत और लातिनमें क्रमसे 'ह प फ स' और 'ग द ब र' हो जाते हैं।

ग्रासमानका नियम बन जानेपर भी बहुत सी त्रुटियाँ बनी ही रह गईं। यूनानी और संस्कृतमें ऐसे बहुतसे शब्द मिलने लगे जिनके 'क त प' का जर्मन बोलियोंमें 'ग द ब' हो जाता है। इसीलिये वर्नरने कहा—

१. ग्रिमके नियम तो स्वरके आघात (ऐक्सेंट) के बलपर बनाए गए थे अर्थात् यदि हिन्द-योरोपीय बोलियोंकी आदिम बोलीमें 'क त प' से पहले स्वराघात रहा हो तभी ग्रिमके नियमसे उसमें उलटफेर होता है पर यही स्वराघात यदि 'क त प' से आगे आनेवाले व्यंजनपर हो तो इस उलट-फेरमें ग्रासमानके नियमसे 'ग द (ड) ब' हो जाता है, जैसे— संस्कृतके 'सप्त' का जर्मनमें 'सीबेन' और 'शतं'का 'हुंडर्ड' हो जाता है। तो वर्नरने यह नियम बनाया कि शब्दके बीचमें आनेवाले 'क त प स' के ठीक पहले आदिम हिन्द-योरोपीय बोलीमें कोई ऊँचा बोला जानेवाला (उदात्त) स्वर रहा हो तो उनके बदले 'ह प फ स' या 'ग (ग्व) द ब र' हो जाता है। उनके मतानुसार संस्कृत और यूनानी बोलियोंमें आदिम हिन्द-योरोपीय भाषाके स्वर ठीक-ठीक मिलते हैं।

२. वर्नरने यह भी बताया कि दो व्यंजनोंसे मिले हुए (संयुक्त) वर्णोंपर ग्रिम नियम नहीं चलता। वह सदा अकेले वर्णोंपर ही चलता है। वर्नरने यह भी बताया कि जर्मनीके संयुक्त व्यंजन 'ह्ट, ह्स, ़फ्ट, फ़्स, स्क, स्ट, स्प' पर ग्रिमके नियम नहीं लगते।

इन्हें हम इस प्रकार समझा सकते हैं—

हिन्द-योरोपीय भाषाओंके 'स्क, स्ट, स्प' ज्योंके त्यों रहते हैं, कभी-कभी अँगरेजीमें इनमें कुछ हेरफेर हो जाते हैं जिससे 'स्क' का 'श' हो जाता है।

कौलित्सका तालव्य-नियम

§ १२८. कौलित्सके मतसे आदिम हिन्द-योरोपीय बोलीके कंठसे बोले जानेवाले अक्षर पीछे तालुसे बोले जाने लगे।

विलहेल्म टौम्सन् (१८७५), योहान्स स्मिट (१९२०), ऐसौय तेंगर, कौलित्स और देस्सउ शोरने तालव्य-नियमकी भी चर्चा की है जिसपर वर्नरने भी पीछे छानबीन की थी। पर सब लोग इसे कौलित्सका ही तालव्य-नियम कहते हैं।

पहले यह माना जाता था कि संस्कृतके कुछ शब्द आदिम हिन्द-योरोपीय बोलीके उन शब्दोंसे बहुत मिलते-जुलते हैं जो दूसरी हिन्द-योरोपीय बोलियोंमें नहीं मिल पाते। संस्कृतमें जिन शब्दोंमें 'च' और 'ज' आता है, उनके बदले दूसरी हिन्द-योरोपीय बोलियोंमें 'क' और 'ग' मिलते हैं। इससे इन लोगोंने यह अटकल लगाई कि ये 'क' और 'ग' भी पहले 'च' और 'ज' ही रहे होंगे। इसपर यह नियम निकाला गया कि संस्कृतके जिन शब्दोंमें 'अ' की ध्वनि यूनानी या लातिन-जैसी है उससे पहले 'क' या 'ग' व्यंजन मिलता है, पर यदि अ की ध्वनि यूनानी या लातिन 'ई' जैसी हो तो गलेसे बोले जानेवाले 'क' या 'ग' वर्णोंके बदले तालुसे बोले जानेवाले 'च' या 'ज' वर्ण मिलते हैं, जैसे 'च' (च+अ) में 'अ' की ध्वनि यूनानी-जैसी है पर 'कक्षा'के 'क' में आया हुआ 'अ' यूनानी 'आ' जैसा है। एक ही धातु 'पच्'से 'पचति' भी बनता है और 'पकति' भी। इससे यह जान पड़ता है कि कभी संस्कृतमें 'अ' के बदले 'ई' और 'आ' स्वर रहे होंगे। इसमें आगेके स्वर 'ई' के बदले जो कण्ठसे बोला जानेवाला व्यंजन रहा होगा, वह तालुसे बोला जाने लगा और तालव्य बन गया जिसके 'क' से 'च' और 'ग' से 'ज' हो गया। इस नियमसे आदिम बोलीमें कण्ठसे बोले जानेवाले व्यंजन यूनानी या लातिनमें तालुसे बोले जानेवाले बने हुए मिलते हैं। इसीलिये इसे तालव्य नियम कहते हैं। इसी नियमके कारण अब यह माना जाने लगा है कि हिन्द-योरोपीय बोलियोंकी आदिम या पहली बोलीसे संस्कृत इतनी पास नहीं जितनी यूनानी या लातिनसे।

यह नियम भी केवल कल्पनापर आश्रित है क्योंकि यदि संस्कृत 'अ' के बदले 'ई' रहा होती तो यास्कने अपने निरुक्तमें अवश्य उसका विवरण दिया होता।

इस नियमसे आदिम हिन्द-योरोपीय बोलीके तीसरे ढंगका कवर्ग (क्व, ख्व, ग्व, घ्व) संस्कृतमें कहीं कवर्ग बना रहा पर अपनेसे ठीक पहले आनेवाले स्वरके कारण तालव्य (च, छ, ज, झ) बन गया।

यूनानी नियम

§ १२९. ऐसे और भी अनेक नियम बनाए गए।

ऊपर जो चार नियम बताए जा चुके हैं, उसके साथ-साथ और भी ध्वनि-नियम चलते हैं जिनमेंसे एक है यूनानी नियम कि आदिम हिन्द-योरोपीय बोलीके किसी शब्दमें दो स्वरोंके बीच यदि स् रहा हो तो वह पहले ह् हो जाता है और फिर निकल जाता है।

लातिन नियम

लातिन नियम यह है कि आदिम हिन्द-योरोपीय बोलीके किसी शब्दमें दो स्वरोंके बीचमें जो स् रहा रहा वह आगे चलकर र् हो गया।

ओष्ठ्य और मूर्धन्य नियम

ओष्ठ्य नियम और मूर्धन्य नियम जैसे और भी बहुतसे नियम बोलियोंकी छान-बीन करनेवालोंने बना दिए हैं पर वे बहुत कामके नहीं हैं।

क्या ये नियम माने जा सकते हैं ?

§ १३०. जब आदिम बोलीका ही कोई आधार नहीं तो ये नियम भी असङ्गत हैं क्योंकि ध्वनियोंके नियम तबतक नहीं माने जा सकते जबतक वे किसी पूर्ण परिवारकी पूरी ध्वनियोंपर लागू न हो सकें।

बोलियोंकी छानबीनसे जान पड़ेगा कि ऊपर जितने नियम बताए गए हैं उन सभीमें कुछ न कुछ दोष हैं इसीलिये जैसे ही एक नियम बना कि झट पीछेवालोंने उसमें दोष निकालकर उसके उपनियम बना दिए। इस ढङ्गसे संसार-भरकी बोलियोंके नियम बनने लगें तो उनका कोई पार नहीं पा सकता। ग्रिम, ग्रासमान और वर्नरके नियमोंमें सबसे बड़ा दोष तो यह है कि उन्होंने हिन्द-योरोपीय बोलियोंकी कोई एक माता बोली ऐसी मान ली है जिसकी कुछ ध्वनियाँ वे संस्कृत, यूनानी और लातिनमें मिलती मानते हैं। पर वे ध्वनियाँ क्या रहीं और वह आदिम बोली क्या रही इसपर केवल अटकलसे एक

कल्पित वर्णमाला बनाकर रख दी गई है। वास्तवमें नियम तो उन्हीं व्यवहारोंके लिये बन सकते हैं जिनके कारणोंका पूरा-पूरा ठीक-ठीक विवरण मिल जाता हो। जिन सिद्धान्तोंका पूरा प्रासाद ही कल्पनापर खड़ा हो उनके आधारपर कोई नियम नहीं बनाया जा सकता।

इसलिये भाषाओंके लिये ऐसा कोई नियम नहीं बनाना चाहिए जो सबपर प्रयुक्त न हो सके। पाणिनि मुनि और दूसरे वैयाकरणोंने संस्कृत या प्राकृत भाषाओंके रूप समझाते हुए जो नियम बनाए हैं, वे संस्कृत या प्राकृतपर ठीक बैठ जाते हैं। फिर भी बहुत-सी दशाओंमें उन्होंने दोष देखकर अपने आप ही उन अपवादोंका निर्देश देकर उसके लिये भी नियम बना दिए हैं। पर ग्रिम, ग्रासमान और वर्नरने तो उस पेड़का सहारा पकड़ा है जिसकी जड़का भी कहीं ठौर-ठिकाना नहीं है। जबतक पहली या आदिम बोलीका कोई समुचित विवरण नहीं मिल पाता तबतक कोरी कल्पनाके भरोसे उसकी ध्वनिके नियम नहीं बनाए जा सकते।

इन अनेक विद्वानोंने भाषामें जो अनेक परिवर्त्तन सुझाए हैं और जिनकी छानबीन की गई है उनका आधार शिष्टजनकी भाषा या लिखित भाषा ही रही हैं। बोलनेवाले तो इतने अनोखे, नए और अटपटे ढंगसे बोलते हैं कि उसका कोई ठिकाना नहीं है। इसलिये भी इन नियमोंका कोई आधार नहीं और ये माने नहीं जा सकते। आजकल सभी देशोंके नाटककारोंने अपने नाटकोंमें सब प्रकारकी घरेलू और निजी बोलचालकी बोलियोंमें संवाद लिखे हैं और यह प्रयत्न किया है कि जिस उच्चारण-क्रमसे कोई शब्द बोला जाता हो उसीकी ध्वनियोंके अक्षरोंसे वह शब्द लिखा जाय, रूढ वर्त्तनी (स्पेलिंग) के अनुसार नहीं। संस्कृतमें तो यह बहुत पुराना क्रम रहा है कि नाटकोंमें किस ढंगके पात्रसे कैसी भाषा बुलवाई जाय। इन बोलचालकी ध्वनियोंका संग्रह किया जाय तो जान पड़ेगा कि ध्वनियोंके परिवर्त्तनके कभी कोई नियम बनाए ही नहीं जा सकते। हाँ, सबको एक प्रकारसे बोलना सिखानेके लिये, एक प्रकारसे बोलनेकी शैली निकालनेके लिये या भाषाको बाँधनेके लिये नियम अवश्य बनाए जा सकते हैं जैसे संस्कृतमें 'शिक्षा' के द्वारा संस्कृतके उच्चारणका विधान किया गया या इँगलैंडमें 'किंग्स इँगलिश' बना ली गई या अन्य भाषाओंके व्याकरण बनाकर उनके शब्दों और ध्वनियोंके रूप निश्चित कर दिए गए। ●●

शब्द और पद

किसी भी भाषाका अध्ययन करनेपर प्रतीत होगा कि उसमें किसी प्रकारका कोई भाव समझाने या कहनेके लिये शब्द या शब्द-समूहकी आवश्यकता पड़ती है। 'इंजे-इंजे' जातिवालोंकी एक-शब्दीय भाषामें भी शब्दका प्रयोग होता ही है, भले ही उनके सम्पूर्ण वाङ्मयमें केवल एक ही शब्द क्यों न हो।

शब्दकी प्रकृति

§ १३१. वर्णोंके जिस समूहसे कोई अर्थ निकलता हो उसे शब्द कहते हैं और वाक्यमें पहुँचकर परस्पर संबंध प्रकट करनेवाले रूपमें व्यक्त होनेवाले शब्दोंको पद कहते हैं।

विश्वकी विभिन्न भाषाओंमें जिन शब्दोंका प्रयोग होता है वे या तो सदा एक ही रूपमें अविकृत होकर प्रयुक्त होते हैं या वाक्यके अन्य शब्दोंके साथ सम्बन्धका निर्वाह करनेके लिये अपने अन्तमें विभक्ति-प्रत्यय या सम्बन्ध-प्रत्यय जोड़ दिए जानेपर या विशेष अर्थ प्रकट करनेके लिये प्रारंभमें उपसर्ग जोड़ दिए जानेपर अपना रूप बदल लेते हैं। नीचे उदाहरण देकर इसे स्पष्ट कर दिया जाता है। एक संस्कृतका वाक्य लीजिए—

सः रामस्य गृहात् आगच्छति।

[वह रामके घरसे आता है।]

'तत्' शब्दके प्रथमा एक वचन रूप बना 'सः,' राम शब्दका षष्ठी एक वचनका रूप बना 'रामस्य', 'गृहं' का पंचमी एक वचन रूप बना 'गृहात्' और 'गम्' धातुमें 'आ' उपसर्ग लगाकर लट् लकारमें तृतीय पुरुष एक वचनमें बना 'आगच्छति।' इस प्रकार वाक्यमें प्रयुक्त होनेपर इन सब शब्दोंके मूल या प्रातिपदिक रूपोंमें विकार आ गया।

एक हिन्दीका वाक्य लीजिए—

इनका सम्बन्ध श्रेष्ठ पुरुषोंसे है।

यहाँ 'यह' शब्दका आदरार्थ संबंध कारकमें 'इनका' बना, 'बन्ध' में 'सं' उपसर्ग लगाकर 'सम्बन्ध' बना; बहुवचन-सूचक 'ओं' और सम्बन्ध-सूचक 'से' लगाकर 'पुरुष' शब्दका 'पुरुषोंसे' बन गया। इस प्रकार परस्पर सम्बन्ध प्रकट करनेवाले विकार साथ लेकर जो शब्द किसी वाक्यमें प्रयुक्त होते हैं उन्हें 'पद' कहते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक भाषामें कुछ शब्द कुछ निश्चित विशेष अर्थ या अर्थोंके लिये रूढ हो गए हैं। इन्हें कोश-सिद्ध शब्द कहते हैं। किन्तु वे ही शब्द जब वाक्यमें प्रयुक्त होकर अन्य शब्दोंके साथ सम्बन्ध प्रकट करनेवाले प्रत्यय लगा लेते हैं तब वे पद कहलाने लगते हैं। पाणिनिने इसे स्पष्ट करनेके लिये सूत्र ही दिया है—

सुप्तिङन्तं पदम्। (सुबन्तं तिङन्तं च पद संज्ञा स्यात्।)

सुप् (कर्त्ता, कर्म करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण) के प्रत्ययों (ने, को, से, को या के लिये, से, का की के, में या पर) से युक्त तथा तिङ् (विभिन्न लिंग, वचन, पुरुष, कालके अनुसार धातुके रूपों) से युक्त शब्द ही पद कहलाता है। वाक्यमें पदोंका ही प्रयोग होता है। चीनी आदि जिन भाषाओंमें शब्दोंके स्थानान्तरण मात्रसे अर्थमें भिन्नता आ जाती है उनमें भी जिन शब्दोंका प्रयोग होता है वे भी पद ही कहलावेंगे क्योंकि सुबन्त और तिङन्तके प्रत्यय या ध्वनि-संकेत साथ न लगनेपर भी उनकी भावना तो उनमें विद्यमान रहती ही है।

शब्दोंके पाँच प्रकारके अर्थ

§ १३२. वाक्योंमें शब्द पाँच प्रकारका अर्थ लेकर प्रयुक्त होते हैं— रूढार्थक, भावार्थसिद्ध, शक्तिभावित, कूट तथा औपचारिक।

१. रूढार्थक : जैसे 'बैल' शब्दका अर्थ गायसे उत्पन्न उस पुंजीवसे है जिसका प्रयोग भारतमें हल चलाने या गाड़ी खींचनेके लिये किया जाता है। यह अर्थ प्रसिद्ध और रूढ होता है। कभी-कभी इस प्रकारके शब्दोंके कई-कई अर्थ होते हैं जैसे 'हरि' शब्दके 'विष्णु, सर्प, मेंढक, हरा, भूरा, पीला, वायु, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, सिंह, यम, किरण, घोड़ा, शुक, वानर, शिव, ब्रह्मा, अग्नि, कोकिल, हंस, मोर, विद्वान्' आदि अनेक अर्थ हैं और इन सभी रूढार्थक शब्दोंका अर्थ कोशमें दिया रहता है।

२. भावार्थ-सिद्ध : कुछ शब्द निरन्तर अभ्यासके कारण भाव-सिद्ध हो जाते हैं। ऐसी दशामें एक ही शब्द विभिन्न व्यक्तियोंके लिये विभिन्न अर्थोंका बोधक हो जाता है। एक सज्जन अपने चार सेवकोंको प्रातःकाल केवल 'ले आओ' कहते थे और वे सेवक केवल 'ले आओ' शब्द सुनकर पहलेसे निर्दिष्ट अपने कर्त्तव्यके अनुसार क्रमशः नहानेका पीढ़ा, जल-भरा पात्र, धोती-तौलिया और संध्या-पूजनकी सामग्री (आसन, अर्घ्य-पात्र, त्वष्टा, पंचपात्र, आचमनी तथा माला) ला कर रख देते थे। ऐसे सब आदेश-शब्द अभ्यास-सिद्ध या भावार्थ-सिद्ध होते हैं।

३. शक्ति-भावित : कुछ शब्दोंका अर्थ अभिधा, लक्षणा व्यंजना तथा तात्पर्याख्या वृत्तिसे ही जाना जा सकता है। इन्हें शक्तिभावित कहते हैं।

४. कूट : किसी विशेष व्यवसाय या राजनीतिमें गोपनीय संकेतोंके लिये प्रयुक्त होनेवाले शब्द कूट कहलाते हैं। ऐसे शब्दोंकी न कोई सीमा है न गणना, क्योंकि कोई भी व्यक्ति किसी भी प्रकारके कूट शब्द किसी भी ढंगसे बना सकता है, जैसे—काशीके दलाल कहते हैं—'रवा त्ररी कऽ बरँगा बिलौले आवऽ' (अधेलेका पान लगवाते लाना)। ऐसे शब्द कूट कहलाते हैं।

५. औपचारिक : कुछ शब्द सामाजिक शीलके लिये प्रयुक्त किए जाते हैं, जैसे—पधारनेका कष्ट कीजिए, मेरी कुटिया पवित्र कीजिएगा।

§ १३३. स्वरों या स्वर-मिश्रित व्यंजनों या स्वरहीन व्यंजनोंसे शब्द बनते हैं।

पिछले अध्यायमें बताया जा चुका है कि सभी भाषाओंमें जितने वर्णोंका प्रयोग होता है वे या तो स्वर होते हैं या व्यंजन होते हैं। स्वर भी या तो एक-मात्रिक होते हैं जैसे अ, इ, उ या विलंबित अथवा द्विमात्रिक हो जाते हैं जैसे आ, ई, ऊ। ये भी पुकारमें प्रयुक्त होनेपर बहु-मात्रिक हो जाते हैं जैसे पुकारनेपर एक कन्या उत्तर देती है—'आई ऽऽऽऽ।'

कुछ मिश्रित स्वर भी होते हैं जैसे ए (अ+इ), ओ(अ+उ)। जर्मन भाषाके उमलाउट-जैसे कुछ स्वर ऐसे भी होते हैं जिसमें मुखाकृति तो 'ऊ' के लिये बनाई जाती है किन्तु उच्चारण 'ई' किया जाता है (यू उमलाउट)।

व्यंजन भी कभी तो स्वर-रहित प्रयुक्त होते हैं जैसे 'श्रीमन्' शब्दका अन्तिम 'न्'; कभी स्वर-सहित होते हैं जैसे 'श्रीमन्' का 'म'; कभी एक स्वरके साथ दो व्यंजन मिले रहते हैं जैसे 'श्री' शब्दमें 'श्+र+ई' मिलकर आए हैं। कोई

भी मिश्र व्यंजन अन्त्य स्वरके बिना प्रयुक्त नहीं होता और न कोई व्यंजन अन्त्य वर्ण होकर किसी संयुक्त वर्णमें प्रयुक्त होता है। व्यंजनोंका संयोग अधिकसे अधिक पाँचतकका मिलता है, जैसे—'कात्स्न्र्य' शब्दमें। ऐसे बहु-व्यञ्जन-युक्त शब्दोंके व्यंजनोंकी दो लयान्वितियाँ होती हैं जिनमेंसे पहलीमें दो व्यंजन और दूसरीमें शेष व्यंजन होते हैं जैसे 'कार्+त्स्न्य।'

निरुक्तके अनुसार चार प्रकारके शब्द

§ १३४. यास्कने अपने निरुक्तमें चार प्रकारके शब्द माने हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात।

यास्कने अपने निरुक्तमें बताया है कि हम जितने भी शब्दोंका प्रयोग अपने व्यवहारमें करते हैं वे सबके सब नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपातके अन्तर्गत ही आ जाते हैं। प्रसिद्ध वैयाकरण इन्द्रका मत है कि शब्द एक ही प्रकारका होता है—'जिसका कोई अर्थ हो वही शब्द या पद कहलाता है'—अर्थः पदम् (अर्थ ही पद है)।

पाणिनिने दो प्रकारके शब्द माने हैं—सुबन्त और तिङन्त—'सुप्तिङन्तम् पदम्।' जिन शब्दोंके पीछे सुप् (विभक्ति) लगी हो अर्थात् कर्त्ता, कर्म, करण सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण और सम्बोधनमें एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन बतानेवाले प्रत्यय लगे हों उन्हें सुबन्त और जिन शब्दोंमें तिङ् (विभक्ति) लगी हो अर्थात् क्रियाके सब कालों, वचनों और पुरुषोंके रूप बतानेवाले प्रत्यय लगे हों उन्हें तिङन्त कहते हैं। उनका मत है कि नाम और आख्यातके अन्तर्गत सब प्रकारके शब्द आ जाते हैं।

कुछ आचार्योंका मत है कि शब्द तीन प्रकारके होते हैं—सुबन्त, तिङन्त तथा निपात-उपसर्ग।

कुछ आचार्योंका मत है कि शब्द पाँच प्रकारके होते हैं—सुबन्त, तिङन्त, निपात, गति और कर्म-प्रवचनीय। कुछ आचार्य इन पाँच प्रकारके शब्दोंमें उपसर्गको जोड़कर छह प्रकारके शब्द मानते हैं।

यास्कने अपने निरुक्तमें नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात नामक चार प्रकारके पदोंको दो वर्गोंमें विभक्त कर दिया है। उन्होंने नाम और आख्यातको एक वर्गमें तथा उपसर्ग और निपातको दूसरे वर्गमें रक्खा है—

नामाख्याते तथा उपसर्गनिपाताः।

इनमेंसे भी उन्होंने नाम और आख्यातको प्रधान तथा उपसर्ग और निपातको गौण बताया है। उन्होंने इन चारोंकी व्याख्या करते हुए इन्हें इस प्रकार समझाया है—

१. नाम-पद तीन प्रकारके होते हैं—स्त्रीलिङ्ग-वाची जैसे रमा, पुंलिङ्ग-वाची जैसे रामः और नपुंसकलिङ्ग-वाची जैसे पुस्तकम्।

२. आख्यात या क्रिया-पद भी तीन प्रकारके होते हैं—१. कर्तृवाच्य, जैसे—रामने रावणको मारा; २. कर्मवाच्य, जैसे—रामके द्वारा रावण मारा गया; और भाववाच्य, जैसे—मुझसे खाया नहीं जाता।

३. उपसर्ग-पद वे शब्द कहलाते हैं जिनके पहले प्र, परा, अप, सम, अव, निः, दुः, वि, आ, नि, अधि, अप, सु आदि उपसर्ग लगा दिए जाते हैं, जैसे—हृ धातुमें आ, वि, सं लगाकर आहार, विहार, संहार शब्द बन गए हैं।

४. निपात-पद वे होते हैं जो दो शब्दों या वाक्योंको 'मिलाने या उनका सम्बन्ध बतानेके लिये' प्रयुक्त होते हैं, जैसे—इव, च, वा, तु, हि।

इन चारोंमेंसे नाम और आख्यातका तो अपना निश्चित अर्थ होता है किन्तु उपसर्ग और निपातका प्रयोग अन्य शब्दोंके अर्थको उद्दीप्त करने, विशिष्ट बनाने या उनका अर्थ परिवर्त्तित करनेके लिये किया जाता है। इसीलिये कहा गया है कि नाम और आख्यात-पद तो अपने वाच्य अर्थके कारण अर्थवान् कहलाते हैं किन्तु उपसर्ग और निपात-पद अन्य शब्दोंके अर्थका द्योतन करनेके कारण द्योत्य अर्थवाले कहलाते हैं।

किसी भी भाषामें जितने प्रकारके शब्दोंका प्रयोग होता है उनमें कुछ शब्द तो वस्तुओं, स्थानों, भावों तथा व्यक्तियोंके नाम (संज्ञा) होते हैं। कुछ ऐसे (क्रिया) शब्द होते हैं जो किसी क्रियाका बोध कराते हैं। कुछ ऐसे शब्द होते हैं जो नामों और क्रियाओंकी विशेषता बतानेवाले (विशेषण) होते हैं। कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं जो बार-बार संज्ञाओंकी आवृत्ति बचानेके लिये काममें लाए जाते हैं और जिन्हें सर्वनाम कहते हैं। कुछ ऐसे भी शब्द होते हैं जो दो शब्दों या वाक्योंका सम्बन्ध जोड़नेवाले होते हैं। उन्हें सम्बन्ध-वाचक शब्द कहते हैं। ये शब्द सदा एक ही रूपवाले होते हैं और इनमें किसी भी अवस्थामें कोई विकार या परिवर्त्तन नहीं होता, इसलिये इन्हें अव्यय कहते हैं। 'आह, वाह, ओह' आदि कुछ ऐसे भी शब्द हैं जो आश्चर्य, सराहना,

क्रोध, प्रशंसा आदिके कारण अचानक मुँहसे निकल पड़ते हैं जिन्हें विस्मयादि-बोधक शब्द कहते हैं।

कुछ विद्वान् मानते हैं कि वागंग या वाणीके अंग (पार्ट्स औफ़ स्पीच) आठ प्रकारके होते हैं—संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रिया-विशेषण, परसर्ग (प्रिपोज़ीशन), विस्मयादि-बोधक (इन्टरजेक्शन), सम्बन्ध-वाचक (कंजंक्शन)। ये वागंग योरोपीय भाषाओंके वैयाकरण व्यापक रूपसे मानते हैं।

तीन प्रकारके पद

§ १३५. अभिनवभरतके अनुसार पद केवल तीन प्रकारके होते हैं—नाम, अव्यय तथा स्वयंस्फुट।

वास्तवमें वाणीके सब अंग अर्थात् सभी पद केवल तीन प्रकारके होते हैं—नाम, अव्यय और स्वयंस्फुट। नामके अन्तर्गत वस्तु, व्यक्ति, स्थान, भाव, क्रिया तथा गुण सबके नाम और नामके स्थानपर प्रयुक्त होनेवाले सर्वनाम, सभीका समावेश हो जाता है। अव्ययके अन्तर्गत उन सभी पदों और शब्दोंका समावेश हो जाता है जिन्हें यास्कने अपने निरुक्तमें निपात कहा है और जिन्हें सम्बन्ध-वाचक शब्द कहते हैं। उपसर्ग और परसर्ग वास्तवमें शब्द नहीं है। वे तो ऐसे प्रत्यय है जिन्हें लगाकर पद बनाए जाते हैं। तीसरे प्रकारके शब्द स्वयंस्फुट होते हैं जो आश्चर्य, क्रोध, प्रशंसा, सराहना या प्यारमें अपने आप मुँहसे निकल पड़ते हैं। संसार-भरकी सभी शिष्ट भाषाओंमें इन्हीं तीन प्रकारके शब्दोंका प्रयोग होता है।

अभिनव-भरतका मत है कि जिन शब्दोंको क्रिया कहते हैं और जिन्हें यास्कने अपने निरुक्तमें आख्यात माना है, वे भी तो किसी न किसी क्रियाके नाम ही हैं, जैसे—'खाना' किसी वस्तुको मुँहमें डालकर और चबाकर निगल जाने, 'पीना' किसी तरल वस्तुको मुखमें डालकर घोंट जाने और 'सोना' आँख मूँदकर लेटकर सुध-बुध भूल जानेका नाम ही तो है। इसी प्रकार 'लाल, अच्छा, मीठा' आदि शब्द भी 'ललाई, अच्छेपन और मिठाई' आदि शब्दोंसे ही बने हैं जो गुणोंके ही नाम हैं। यही स्थिति क्रिया-विशेषणोंकी भी है। जब हम कहते हैं कि 'वह वेगसे दौड़ रहा है' तो यहाँ 'वेग' शब्द स्वयं संज्ञा है। इसलिये किसी भी वस्तु, व्यक्ति, स्थान, भाव, क्रिया या गुणका नाम सब नाम-पद ही कहला सकते हैं। इसलिये पद या शब्दके तीन ही रूप या वागंग मान्य हो सकते हैं—नाम, अव्यय तथा स्वयंस्फुट।

§ १३६. कुछ शब्द अव्यय और स्वयंस्फुट दोनों होते हैं।

'हाँ' और 'नहीं' भी विचित्र प्रकारके शब्द हैं क्योंकि ये प्रायः एक पूरे भाव या वाक्यके समर्थन या विरोधके लिये प्रयुक्त होते हैं और ये कभी अपना रूप भी नहीं बदलते। इसलिये इन्हें भी अव्यय ही मानना चाहिए। कभी-कभी तो दो शब्दों या वाक्योंका सम्बन्ध बतानेके लिये भी ये 'हाँ' और 'नहीं' शब्द प्रयुक्त होते हैं और कभी-कभी आश्चर्य, स्नेह, क्रोध या प्रशंसाके रूपमें स्वयं मुँहसे निकल पड़ते हैं इसलिये ये स्वयंस्फुट भी होते हैं, अर्थात् कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो अव्यय और स्वयंस्फुट दोनों होते हैं।

पीछे (§ १३१) बताया जा चुका है कि जिस वर्ण-समूहसे कोई अर्थ निकले उसे शब्द कहते हैं। उसी प्रसंगमें यह भी समझाया जा चुका है कि ये शब्द कभी तो एकाकी रूपमें प्रयुक्त होनेपर अर्थ देते हैं और कभी अन्य शब्दोंको साथ लेकर उनके प्रसंगमें या उनके मिलनेसे अर्थ पूरा करते हैं। ऊपर (§ १३२) बताया जा चुका है कि जो शब्द कोशमें दिए रहते हैं और जिनका अर्थ भी निश्चित होता है उन्हें संस्कृतमें प्रातिपादिक कहते हैं किन्तु जब कोई शब्द अन्य शब्दोंसे सम्बन्ध पूर्ण करनेके लिये कारक, लिंग, वचन, काल या पुरुषका बोध करानेवाले किसी शब्द या प्रत्ययको लगाकर वाक्यमें प्रयुक्त किया जाता है उसे पद कहते हैं। अर्थकी दृष्टिसे प्रातिपदिक शब्दका उतना महत्त्व नहीं है जितना पदका है।

ऊपरके विवरणसे स्पष्ट हो जाता है कि कुछ भाषाओंके शब्दोंको वाक्यमें पहुँचकर अन्य शब्दोंके साथ अपना अर्थ स्पष्ट करनेके लिये कुछ अपना स्वरूप बदलना पड़ता है। प्रत्यय, उपसर्ग, मध्यग, विभक्ति और समास आदिके कारण वाक्यमें आए हुए शब्दका रूप इस प्रकार बदल जाता है कि उसका सम्बन्ध वाक्यमें आए हुए अन्य शब्दोंसे ठीक-ठीक जाना जा सके। धातुओंके रूपोंमें भी यह परिवर्तन, काल, लिंग तथा वचनका बोध करानेके लिये ही होता है। इससे यह ज्ञात होता है कि कोई क्रिया किस समयके लिये, कितने व्यक्तियों या कार्योंके लिये और किन लिंगवालोंके प्रयुक्त की गई है। कभी-कभी एक ही शब्द किसी वस्तु, व्यक्ति, स्थान या भावका नाम भी होता है और वही कभी-कभी गुणका बोधक भी हो जाता है, जैसे—'सोना' एक प्रकारके धातुका नाम है पर जब हमें यह कहना होता है कि 'उसका रंग सोनेके समान है' तब हम 'सोना'

शब्दको थोड़ा बदलकर उससे 'सुनहला' शब्द बना लेते हैं। इसी प्रकार स्त्री, पुरुष और नपुंसक-लिंगवाची शब्द बनानेके लिये भी हम शब्दके रूपमें परिवर्तन कर लेते हैं। किन्तु चीनी आदि कुछ ऐसी भाषाएँ भी हैं जिनके शब्दोंका रूप वाक्योंमें आनेपर भी कभी नहीं बदलता। वाक्यमें उनका स्थानान्तरण करने मात्रसे उनका अर्थ बदल जाता है।

सम्बन्धक योग और अर्थकर योग

§ १३७. पदके दो अंग माने गए हैं—सम्बन्धक योग और अर्थकर योग।

कुछ भाषाओंकी ऐसी प्रकृति है कि उनमें जब कोई शब्द वाक्यमें पहुँचता है तब वह अपना रूप बदल देता है, जैसे-संस्कृतका 'रामः' शब्द सप्तमीके एक वचनमें 'रामे' बन जाता है। इस प्रकार शब्दोंके रूपमें परिवर्तन करनेके लिये प्रयुक्त हुई इन ध्वनियोंको सम्बन्धक योग (मौर्फ़ीम) कहते हैं। इसी सम्बन्धक योगके कारण वाक्यमें आए हुए शब्दोंका अर्थ स्पष्ट होता है और वाक्यके शब्दोंका परस्पर सम्बन्ध भी ज्ञात होता है। निम्नांकित वाक्यसे यह स्पष्ट होजायगा—

श्रीकृष्णने अपने मामा कंसको मथुरामें पटककर मार डाला।

इस वाक्यमें अर्थ देनेवाले शब्द सात ही हैं—श्रीकृष्ण, अपना, मामा, कंस, मथुरा, पटकना, मारना। ऐसे शब्दोंको अर्थकर योग (सीमेंटीन) कहते हैं। इन सातों अर्थंकर योगवाले शब्दों या अर्थंकर योगोंका पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट करनेके लिये उनमें जो सम्बन्धक योग या उनका सम्बन्ध बतानेवाले ध्वनि-संकेत जोड़े जाते हैं उन्हें सम्बन्धक योग कहते हैं। उपर्युक्त वाक्यमें ये सम्बन्धक योग निम्नांकित हैं—ने, को, में, कर, आ। इस क्रमसे 'अपना' शब्दसे 'अपने' शब्द बन गया और वह बना 'आप' से। इसी प्रकार 'पटकना' से 'पटकवर' बना। 'श्रीकृष्ण' के साथ 'ने', 'कंस' के साथ 'को' और 'मथुरा' केसाथ 'में' लगा है। 'मामा' शब्द ज्योंका त्यों रह गया है क्योंकि उसमें सम्बन्धक योग लगानेकी आवश्यकता नहीं है। इस उदाहरणसे स्पष्ट हो जाता है कि कुछशब्दोंमें सम्बन्धक योग ऐसे लगते हैं जो शब्दका रूप बदल देते हैं और कुछ ऐसे हैं जो बाहरसे जोड़े हुए स्पष्ट जान पड़ते हैं। बहुतसे विद्वानोंने नागरी (हिन्दी) के 'ने, के, को, में' को अलग जुड़ा हुआ माना है किन्तु आगे समझाया जायगा कि ये भी संस्कृतकी विभक्तियोंके प्रयोगके विकृत

रूप हैं जो स्वयं भाषामें आकर ढल गए हैं और केवल देखने-भरको अलग प्रतीत होते हैं।

यदि हम मलयाळम् भाषाका उदाहरण लें तो वहाँ 'का, की' के लिये 'न्ट' या 'उट', 'में' के लिये 'इल्,' 'पर' के लिये 'मेल्,' 'को' के लिये 'क्कु' और 'एँ;' 'से' (करण) के लिये ओटु, या कॉण्टु, 'के लिये' के लिये 'वेण्टि' या 'आयिक्कोण्टु,' 'से' (अपादान) के लिये 'इल निन्नु, आल्' और 'काळ्'। किन्तु ये सब शब्द नहीं हैं विभक्तियाँ ही हैं जो शब्दोंमें लगकर अन्य शब्दोंसे उनका सम्बन्ध स्पष्ट करती हैं। उनका प्रयोग ठीक उसी प्रकार होता है जैसे हिन्दीकी क्रियाओंमें 'खाना' शब्दसे 'खाओ, खाते, खाया, खाइए, खाए' शब्द बनते हैं जिन्हें देखकर यह कहना भ्रामक होगा कि इन शब्दोंके अन्तमें लगे हुए 'ओ, ते, या, इए, ए' कोई शब्द हैं। ये सब ध्वनियाँ केवल कालका संकेत करनेवाले अनेक प्रकारके प्रत्यय हैं जो शब्दोंका अर्थ स्पष्ट करनेके निमित्त विकारके रूपमें जोड़ दिए गए हैं। बहुतसे विद्वानोंने हिन्दीके 'में' को 'मध्ये < मज्झे < में' के रूपमें ढाला हुआ माना है किन्तु उन्होंने यह ध्यान देनेका कष्ट नहीं किया कि संस्कृतके शब्दोंकी सप्तमीके एक वचनमें जो 'स्मिन्' लगा हुआ है (तस्मिन्, यस्मिन्), वही प्राकृतोंमें 'म्हि' बनकर हिन्दीमें 'में' रह गया है।

मराठीमें संबंध कारकका चिह्न कुछ विचित्र प्रकारसे लगता है। सामान्यतः 'का, की, के' के लिये 'चा, ची, चे' का प्रयोग होता है किन्तु आदरपूर्ण नामके साथ 'चा' का प्रयोग नहीं होता। यदि वहाँ कहना होगा 'उसका' तो उसके लिये मराठी प्रयोग है 'त्यांचा त्यांची' (उसका, उसकी), किन्तु यदि कहना होगा 'मालवीयजीका भाषण' तो मराठीमें यह नहीं कहेंगे कि 'मालवीयजीचा भाषण' वरन् उसके बदले आदरार्थ कहेंगे 'मालवीयजी यांचे भाषण'। इस प्रकार विभिन्न भाषाओंमें विभिन्न प्रकारसे सम्बन्धक योग लगाकर वाक्यके शब्दोंका सम्बन्ध स्पष्ट किया जाता है। कुछ ऐसी भी भाषाएँ हैं जिनमें इस प्रकारके सम्बन्धक-योगोंका कोई प्रयोग नहीं होता।

शब्दोंके संबंधक योगके प्रकार

§ १३८. सम्बन्धक योग पाँच प्रकारके होते हैं।

शब्दोंमें जुड़नेवाले जिन संबंधक योगोंसे वाक्यमें आनेवाले विभिन्न शब्दोंके पारस्परिक सम्बन्धोंका ज्ञान होता है वे पाँच प्रकारके होते हैं :—

शब्दक्रम, ध्वनियोग, शब्दयोग, अपश्रुति, और काकु।

१. शब्द-क्रम : कुछ भाषाओंमें किसी शब्दका ठीक रूप और अर्थ इस बातसे ज्ञात होता है कि कौन सा शब्द वाक्यमें किस शब्दसे पहले या पीछे आया है। चीनी भाषाके समान बहुत-सी भाषाओंमें उनके वाक्योंमें आए हुए शब्दोंके स्थानसे ही शब्दोंके अर्थका ज्ञान होता है। उनमें सम्बन्धक योग नहीं होते। स्पेन और फ्रान्सके उत्तरी संधि-स्थलपर बास्क नामकी भाषामें यदि हमें कहना हो—

'टोपीवाले व्यक्तिके साथ'

तो कहेंगे—

पॉनेत-एकिला-को-अरे-किन्;

जिसे यदि हम अलग-अलग अनुवाद करके रक्खें तो कहा जायगा—

टोपी-साथ-वह-का-टोपी।

कौकेशी भाषाके वाक्योंमें कुछ विचित्र प्रकारसे ही शब्दोंका प्रयोग होता है। यह बताया जा चुका है कि चीनी भाषाके वाक्योंमें शब्दके इधर-उधर हो जानेसे ही अर्थमें परिवर्तन हो जाता है। कभी-कभी हिन्दीमें भी इस प्रकारके वाक्य आ जाते हैं, जैसे—'राम आम खा रहा है।' यहाँ वाक्यमें राम और आमका क्रम देखनेसे ही उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

२. ध्वनियोग : कुछ भाषाओंमें शब्दोंके आगे-पीछे नई ध्वनि (परसर्ग आदि) लगाकर या उनका रूप बदलकर वाक्यमें प्रयोग करनेकी पद्धति है जैसे 'इन दि हाउस' (घरमें)। इनमें कभी-कभी ऐसे शब्द भी आते हैं जिनका रूप नहीं बदलना पड़ता। अँगरेजीमें इस प्रकारके कुछ प्रयोग चलते हैं, जैसे—आइ डू (मैं करता हूँ), आई से (मैं कहता हूँ)। यहाँ शब्दोंके रूपोंमें कोई परिवर्तन किए बिना ही अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

३. शब्द-योग : कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो किसी शब्दके साथ अलग लगकर अलग-अलग रहते हुए भी दो शब्दोंका सम्बन्ध स्पष्ट करते हैं। कुछ विद्वानोंने 'का, की, को, के' आदि परसर्गों या विभक्ति-चिह्नोंको भी अलग शब्द मान लिया है पर आगे यह समझाया जायगा कि ये शब्द नहीं हैं वरन् सम्बन्ध बतानेवाले ध्वनि-चिह्न मात्र हैं। किन्तु बहुतसे शब्द ऐसे अवश्य

होते हैं जो अलग प्रयुक्त होकर और वाक्यमें पहुँचकर दो शब्दोंका पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट करते हैं जैसे—'सूली-ऊपर सेज पियाकी'। इस वाक्यमें 'ऊपर' शब्द अलग आकर 'सूली' और 'सेज' का सम्बन्ध प्रकट करता है।

इस सम्पूर्ण विवेचनका अर्थ यह हुआ कि सम्बन्धक योग दो ही प्रकारके होते हैं—या तो विभक्ति जोड़कर या शब्द जोड़कर। संस्कृतके समान कुछ भाषाओंमें विभक्ति और शब्द दोनों लगते हैं जैसे 'गृहे' और 'गृहमध्ये'। अँगरेज़ोके समान कुछ भाषाओंमें ये सम्बन्ध स्पष्ट करनेवाले शब्द अलग हो रहते हैं जैसे 'इन दि हाउस' (घरमें)। इस प्रयोगमें 'इन' और 'हाउस' अलग-अलग शब्द हैं। हिन्दीमें भी इस प्रकारके प्रयोग कभी-कभी चलते हैं, जैसे—'जाओ देखो, रसोई-भीतर होंगे।'

४. अपश्रुति : कुछ लोगोंने अपश्रुतिको भी सम्बन्धक योग माना है किन्तु यह भ्रांति है। अपश्रुति तो किसी शब्दके केवल स्वरोंमें परिवर्तन करके उसका अर्थ बदल देती है। वह न तो दो शब्दोंका सम्बन्ध प्रकट करती है न उनका अर्थ स्पष्ट करती है।

५. कभी-कभी स्वरोंको चढ़ा-उतारकर बोलनेसे भी शब्दके सम्बन्धमें परिवर्तन हो जाता है, जैसे–'मैं उठाऊँगा' वाक्यमें 'उठाऊँगा' शब्दपर बल देकर कहा जाय तो उसका अर्थ होगा कि 'मैं उठा ही ले जाऊँगा' किन्तु यदि 'मैं' को खींचकर प्रश्नके काकुके साथ कहा जाय हो उसका अर्थ होगा कि 'भला मैं कभी इसे उठा सकता हूँ? नहीं उठाऊँगा।' कभी-कभी इस प्रकार स्वरका खिचाव नहीं भी होता है, जैसे संस्कृतकी क्रियाओंमें प्रायः शब्दोंके आरोह-अवरोहका कोई महत्त्व नहीं होता किन्तु नाटकीय प्रयोगमें वाचिक अभिनयके लिये इस प्रकारका आरोह-अवरोह आवश्यक हो जाता है।

सम्बन्धक योग और अर्थंकर योगका सम्बन्ध

§ १३९. सम्बन्धक योग और अर्थंकर योगमें चार प्रकारका सम्बन्ध माना गया है।

विद्वानोंका कथन है कि सम्बन्धक योग और अर्थंकर योगमें चार प्रकारका सम्बन्ध होता है—

१. कुछ भाषाओंमें अर्थंकर योग और संबंधक योग दोनों ऐसे घुल-मिल जाते हैं कि उन्हें अलग-अलग नहीं पहचाना जा सकता, जैसे—अरबी भाषामें 'तलब' शब्दसे 'तालिब' और 'तुलबा' शब्द बन जाते हैं।

२. कभी-कभी अर्थकर योग और सम्बन्धक योग दोनों एक शब्दमें मिलकर भी अलग-अलग स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं, जैसे—अँगरेज़ी भाषाकी क्रियाओंमें भूतकाल बतानेवाला 'ड', 'लुक्' (देखना) शब्दके साथ मिलकर 'लुक्ड' बन जाता है और इसके अर्थकर योग और सम्बन्धक योग दोनों स्पष्ट प्रतीत हो जाते हैं। इसी प्रकार तेलुगुमें वच्चुट (आना) क्रियाका प्रयोग करते हुए यदि कहा जाय कि 'आता हूँ' तो 'वच्चु' शब्दमें 'चुन्नानु' जोड़ देते हैं। ये 'वच्चु' और 'चुन्नानु' दोनोंके मिलनेपर भी शब्दमें दोनों अलग-अलग स्पष्ट प्रतीत होते हैं।

३. कुछ भाषाओंमें अर्थकर योग और सम्बन्धक योग दोनों एक दूसरेसे अलग रहते हैं। चीनी भाषामें दो प्रकारके शब्द होते हैं—कुछ पूरे (पूर्ण) और कुछ रीते (रिक्त)। ये रिक्त शब्द सदा प्रयोगमें नहीं आते क्योंकि चीनी भाषामें शब्दोंको इधर-उधर रखनेसे ही अर्थमें परिवर्तन कर लिया जाता है, जैसे—'यह मनुष्य इस बच्चेको देखता है' के लिये चीनीमें कहा जायगा—'चे .जेन् क अन् चि एन् हुए त्ज़' (यह मनुष्य, आँख गड़ाना, देखना, बच्चा, यह) और 'यह बच्चा इस मनुष्यको देखता है,' के लिये कहेंगे—'चे हुए त्ज़ क अन् चिएन् .जेन्।' (यह बच्चा, यह आँख, गड़ाना, देखना, मनुष्य)।

कुछ भाषाएँ ऐसी भी हैं जिनमें अर्थकर योग और सम्बन्धक योग दोनों अलग-अलग रहते हुए भी मिलाए नहीं जाते। इनमें सम्बन्धक योगके प्रयोगकी पद्धति यह है कि पहले सम्बन्धक योग बतानेवाले शब्द आते हैं और तब अर्थकर योग बतानेवाले शब्द। अमरीकाकी चिमूक भाषामें यदि कहना हो कि 'उस पुरुषने स्त्रीको लाठीसे पीटा' तो कहेंगे —'वह-उसने-वह-से-मारना-मनुष्य-स्त्री-लाठी।'

४. कुछ भाषाएँ ऐसी भी हैं जिनमें ये संबन्ध स्पष्ट करनेवाले सम्बन्धक योग इतने अधिक प्रयोगमें आते हैं कि एकके बदले अनेक सम्बन्धक योग एक साथ मिल जाते हैं। बन्तू परिवारकी स्वाहिली भाषामें क्रियाके साथ भी व्यक्तिवाचक सर्वनाम लगा दिया जाता है चाहे उसमें कर्त्ताके रूपमें कोई संज्ञा विद्यमान ही क्यों न हो, जैसे—'वे लड़कियाँ जा रही हैं' के बदले कहेंगे 'ब-क-(जाना) ब-एन्दा (वे लड़कियाँ वे जाती हैं)'। यदि उन्हें यह कहना हो कि 'शेरोंने मनुष्योंको खा लिया' तो कहेंगे 'ब-लबू-ब-बलुमा-ब-उन्टू' (वे शेर, वे खा लिया, वे मनुष्य)।

कोई काम होना या किया जाना, किसीका गुण अथवा किसी कामके होने या करनेका काल या किसीकी गिनती या लिंग आदि तो

शब्दसे ही बताए जाते हैं और शब्दोंमें सम्बन्धक योग जोड़कर ही व्यक्त किए जाते हैं। कभी-कभी सम्बन्धक योगसे यह भी ज्ञात किया जाता है कि कोई व्यक्ति जो बात कह रहा है वह प्रश्नके रूपमें है, अस्वीकृतिके रूपमें है या प्रेरणाके रूपमें है। तात्पर्य यह है कि वाक्यमें जितने प्रकारके भी शब्द आते हैं उन सबका पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट करनेके लिये उन शब्दोंके पीछे जो ध्वनि-संकेत जोड़े जाते हैं वे सब संबंधक योग कहलाते हैं। अव्ययोंको छोड़कर शेष सब प्रकारके शब्दोंमें सम्बन्धक योगका प्रयोग किया ही जाता है और यदि व्यापक दृष्टिसे विचार करें तो अव्यय भी सम्बन्धक योगके ही एक रूप हैं।

§ १४०. अभिनव-भरतको यह सिद्धान्त मान्य नहीं है।

किन्तु संम्बन्धक योगका यह विवेचन अभिनव-भरतकी दृष्टिमें समीचीन नहीं है। संम्बन्धक-योगका काम तो इतना ही होना चाहिए कि वे अर्थं बतानेवाले शब्दों (वाक्यके शब्दों) का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट कर दें। भली भाँति परीक्षण करनेपर स्पष्ट हो जाता है कि सम्बन्धक योग (मौर्फ़ीम) और अर्थंकर योग (सीमेन्टीन) दोनों एक दूसरेसे सम्पृक्त होते हैं। यह बताया जा चुका है कि शब्द और अर्थं दोनों एक एक दूसरेमें ऐसे घुले-मिले रहते हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। विद्वान् लोग जिसे सम्बन्धक योग (मौर्फ़ीम) कहते हैं उसका वास्तवमें कोई अस्तित्व नहीं है क्योंकि विभक्ति (सुप् और तिङ) लगनेपर ही शब्द बनता है और वह विभक्ति लगा हुआ शब्द ही अर्थमय हो जाता है अर्थात् जिसे वे लोग सम्बन्धक योग कहते हैं वह कुछ भी नहीं है। शब्द स्वयं अपने अर्थकी अभिव्यक्तिके लिये अपने भीतर या अपने साथ कोई विकृति कर लेता या ध्वनि जोड़ लेता है। इसके अतिरिक्त यह भी बताया जा चुका है (§ १३७) कि बहुत सी भाषाओंमें सम्बन्धक-योगका प्रयोग नहीं होता। अत:, सम्बन्धक योगका अस्तित्व मानना पूर्णत: भ्रामक है। सम्बन्धक योगको अर्थकर शब्दके विकारका अंश ही मानना चाहिए, उसे अर्थंकर योग या शब्दसे भिन्न कोई तत्त्व नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त कभी-कभी तथाकथित सम्बन्धक योग ऐसे छिपे हुए रहते हैं कि प्रयोग न होने पर भी उनका अध्याहार कर लिया जाता है। जब हम कहते हैं—'आपने इसे बहुत सिर चढ़ा लिया है' तब इस वाक्यमें 'सिर' का अर्थं है 'सिरपर' किन्तु यहाँ विभक्ति छिपी हुई है। इसी प्रकार जहाँ

समास होते हैं वहाँ भी सम्बन्धक योगका प्रश्न नहीं उठता। अतः, ये सम्बन्ध बतानेवाली ध्वनियाँ शब्दोंमें लगे या न लगें, शब्दोंका सम्बन्ध वाक्यमें विभिन्न भाषाओंकी प्रकृतिके अनुसार स्पष्ट होता ही रहता है।

शब्द

यह बताया जा चुका है (§ १३१) कि वर्णोंके सार्थक समूहको शब्द कहते हैं। ये शब्द कभी तो अकेले ही अर्थ व्यक्त करते हैं और कभी कई शब्दोंके समूहमें आनेसे। इन सब शब्दोंके यद्यपि निश्चित या कोश-गत अर्थ होते हैं तथापि कभी-कभी वक्ताके विचार और प्रवृत्तिके अनुसार तथा श्रोताकी बुद्धिके अनुसार बदल भी जाते हैं। आगे यह बताया जायगा कि वाक्यमें ये शब्द कितने प्रकारसे काममें आते हैं और उन शब्दोंमें किस प्रकार परिवर्तन होता है।

शब्द-निर्माण

§ १४१. वाक्यमें प्रयुक्त होनेपर ही शब्द या पदके अर्थका समुचित परिज्ञान होता है।

यह बताया जा चुका है (§ १३१) कि जब कोई शब्द किसी वाक्यमें प्रयुक्त होता है और प्रत्यय, उपसर्ग आदि लगाकर अथवा धातु-रूपके अनुसार अपनेको ढालकर वाक्यमें प्रयुक्त होता है तब वह पद कहा जाता है अर्थात् शब्दका वास्तविक रूप वाक्यमें प्रयुक्त होनेपर ही जाना जा सकता है। संस्कृतके पण्डित प्रायः कहा करते हैं—

बहुत त्वञ्चाहञ्च न करो।

इस वाक्यमें आए हुए 'त्वञ्चाहञ्च' शब्दमें 'त्वं + च + अहं + च' चार शब्द हैं जिनमेंसे 'त्वं' और 'अहं' तो सर्वनाम है किन्तु 'च' अव्यय है जिसका दो बार प्रयोग हुआ है। इतना होनेपर भी ये चारों शब्द मिलकर वाक्यमें एक विशेष अर्थमें प्रयुक्त होनेके कारण संज्ञा शब्द बन गए हैं जिसका अर्थ है 'झगड़ा' या 'टंटा'। इसीका रूपान्तर हिन्दीमें 'तू तू-मैं-मैं करना' है।

कभी-कभी लोग कहा करते हैं—'उन्होंने हमारा खेत हथिया लिया है। यहाँ 'हाथ' शब्द संज्ञा होते हुए भी 'हथियाना' क्रियाके रूपमें ढलकर 'हथिया लिया है' के रूपमें पहुँच गया। इसी प्रकार जब हम किसी रोगीसे कहते हैं—

'बहुत आह-ऊह न करो,' तब यहाँ 'आह-ऊह' शब्द भी स्वयं-स्फुट या अव्यय न होकर 'कराह' का पर्याय बन गया है।

अतः, यह कभी नहीं समझना चाहिए कि कोई शब्द जिस प्रकार कोशमें प्रातिपदिकके रूपमें लिखा हुआ मिलता है और वहाँ उसका जो व्याकृत रूप, (संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि) निर्धारित किया हुआ है वही उसका वास्तविक रूप है। वास्तवमें कोई भी शब्द वाक्यमें प्रयुक्त होनेपर ही अपना स्वरूप स्थिर कर पाता है और तभी उसके अर्थ और रूपकी ठीक पहचान भी होती है।

धातुमूलक और प्रत्ययमूलक शब्द

§ १४२. शब्द दो प्रकारके होते हैं—धातुमूलक और प्रत्ययमूलक।

विश्वकी अधिकांश भाषाओंमें विशेषतः सेमिटिक और हिन्द-योरोपीय भाषाओंमें शब्दोंका निर्माण धातुओं और प्रत्ययोंसे होता है। चीनी आदि बहुत-सी ऐसी भी भाषाएँ हैं जिनमें धातुओं और प्रत्ययोंका प्रयोग नहीं होता। संस्कृत आदि भाषाओंमें प्रत्यय और उपसर्ग लगाकर शब्द बनाए जाते हैं किन्तु अँगरेज़ी आदि भाषाओंमें उपसर्ग तो लगते हैं किन्तु प्रत्ययोंका प्रयोग अलग और शब्दसे पूर्व होता है। अतः, उन भाषाओंको छोड़कर हिन्द-योरोपीय परिवारकी संस्कृत आदि भाषाओंमें जितने शब्द हैं इनमेंसे अव्ययोंको छोड़कर शेष जितने भी शब्द हैं वे या तो धातुमूलक हैं या प्रत्ययमूलक। वे प्रत्ययमूलक शब्द इतने अधिक हैं कि न उनकी गणना की जा सकती और न उनका विवरण दिया जा सकता।

संस्कृत भाषामें कृत् और तद्धित प्रत्यय

§ १४३. संस्कृत भाषामें दो प्रकारके प्रत्ययोंका प्रयोग होता है—कृत् प्रत्यय और तद्धित प्रत्यय।

संस्कृत आदि कुछ भाषाओंके शब्दोंमें जिन दो प्रकारके प्रत्ययोंसे शब्दोंका निर्माण होता है उनमेंसे एक है कृत्-प्रत्यय और दूसरा है तद्धित-प्रत्यय। इनके अतिरिक्त उपसर्गोंके प्रयोगसे भी शब्दोंका निर्माण होता है जो मूल-धातुओंमें लगकर उनका अर्थ ही बदल देते हैं—

उपसर्गेण धात्वर्थः बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराहारसंहार - विहार - परिहारवत्॥

[उपसर्गके प्रयोगसे किसी भी धातुका अर्थ बलपूर्वक दूसरा अर्थ देने लगता है, जैसे—हृ धातुमें प्र, आङ्, सं, वि, परि उपसर्ग लगानेसे प्रहार, आहार, संहार, विहार, परिहार शब्द भिन्न-भिन्न अर्थवाले बन जाते हैं।] इस प्रकारके कृत्, उणादि, तद्धित, सुप् और तिङ् आदि बहुतसे प्रत्ययों या 'प्र, परा, अप, सम, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नी, अधि, अपि, सु' आदि उपसर्ग लगाकर संस्कृत आदि भाषाओंमें शब्दोंका निर्माण किया जाता है। कभी-कभी कई शब्दोंका समास करके भी शब्द बनाए जाते हैं।

शब्द बनानेके और भी बहुतसे प्रकार हैं—

१. बड़े शब्दको छोटा करके, जैसे—परशुराम या बलरामका राम।

२. उत्पत्ति-स्थानके आधारपर, जैसे—जलज, सागरसुता, शुक्तिज (मोती), कश्मीरज (केशर), घटयोनि।

३. स्थानसे सम्बन्ध होनेके कारण, जैसे—सैन्धव, बनारसी।

४. पिताके नामपर. जैसे—दाशरथि, पांडव।

५. माताके नामपर, जैसे—कौन्तेय, गांगेय, सौमित्रेय।

६. देशके नामपर, जैसे—महाराष्ट्री, पंजाबी, भोजपुरिया, मैथिली।

७. नकारात्मक शब्द लगाकर, जैसे—अनल्प, निस्सार, अशक्त।

८. यदृच्छा शब्द, जैसे—प्यारमें रक्खे हुए नाम लल्लू, पप्पू आदि।

९. समास करके, जैसे—खटपट, घुड़सवार।

१०. कभी-कभी एक ही भाषा-भाषी लोग एक ही वस्तुके लिये विभिन्न शब्द चला या अपना लेते हैं। अमरीका और इँगलैण्डमें एक अँगरेजी भाषाका ही प्रयोग होता है किन्तु एक ही पदार्थके लिये वे भिन्न शब्दोंका प्रयोग करते हैं। जैसे—

इँगलैंड	अमरीका
गार्ड (गाड़ीका रक्षक)	कण्डक्टर
ट्राम (बिजली-गाड़ी)	स्ट्रीट-कार
लौरी (भारवाहिनी)	ट्रक
सैलरी या वेज (वेतन)	स्क्र्यू
बैग्स (झोले)	स्लैक्स
वायरलेस सेट (रेडियो)	रेडियो
डेस्सर्ट (मिठाई)	.फ्रूट
स्वीट्स (फल)	डेस्सर्ट

इसी प्रकार आस्ट्रेलियामें भी बाहरसे आकर बसे हुए लगभग सभी अँगरेज़ ही हैं किन्तु उन्होंने भी कुछ अपने अलग शब्द चला लिए हैं। जैसे—

अमरीका	आस्ट्रेलिया
.फ्रन्टियर (सीमान्त)	आउट बैक
फूड (भोजन)	टकर
शीप (भेड़)	जम्बक
वाइन (मदिरा)	प्लोंक
एग (अंडा)	गूग
मनी (रुपया-पैसा)	ओस्कर
हौर्स (घोड़ा)	मोक, ब्रम्बी, गी-गी

११. कभी-कभी विदेशोंमें जाकर बसे हुए लोग अपनी भाषाका शब्द छोड़कर वहाँकी भाषाका शब्द अपना लेते हैं, जैसे—बम्बईमें जाकर उत्तर-प्रदेशके लोग कोठरीको खोली, चिट्ठीको टपाल, पोथीको चौपड़ी, पक्का करनेको नक्की करना, वेतनको पगार और भीड़को गर्दी कहने लग गए। इसी प्रकार न्यूज़ीलैंडमें जाकर बसे हुए अँगरेज़ लोग फूड (भोजन) के लिये 'काई', मनी (रुपये-पैसे) के लिये 'डूड', सौभाग्य (गुडलक) के लिये 'किया-ओरा' और लड़कीके लिये 'टार्ट' का प्रयोग करते हैं।

कभी-कभी किसी भाषामें दूसरी भाषाके शब्द ज्योंके त्यों ले लिए जाते हैं। इन शब्दोंका निर्माण नहीं होता, ग्रहण होता है। दक्षिण अफ्रीकाके अँगरेज़ोंने अपनी भाषामें बहुतसे बन्तू भाषाके शब्द ले लिए जैसे—'सेना' (आर्मी) के लिये 'इम्पी' और 'धन्यवाद' (थैंक्स) के लिये 'इकोसी'। तात्पर्य यह है कि जब विभिन्न भाषा-भाषी किसी कारणवश परस्पर एक साथ रहने लगते हैं तब उन क्षेत्रोंमें विभिन्न भाषाओंके शब्दोंका आदान-प्रदान स्वभावतः चलता रहता है।

कभी-कभी शासकोंकी भाषा भी शासितोंको अपनानी पड़ती है। भारतवर्षमें भी तुर्कों, मुसलमानों, अँगरेजों, पुर्तगालियों, हुलाशों (डच) आदिके शासनके कारण उनकी भाषाओंके सहस्रों शब्द हमने कुछ तो ज्योंके त्यों ले लिए,—'जैसे चश्मा, अखबार' आदि और कुछको हमने अपनी भाषा की प्रकृतिके अनुसार ढालकर बना लिया, जैसे—लालटेन (लेण्टर्न)

§ १४४. शब्दोंके रूपोंमें भी परिवर्तन हो जाता है।

जिस प्रकार ध्वनियोंमें परिवर्तन हो जाता है उसी प्रकार शब्दोंमें भी परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन निम्नांकित प्रकारोंमेंसे किसी एक प्रकारसे होता है—शब्दागम, शब्दविपर्यय, शब्दलोप, शब्दपरिवर्तन शब्दविकार।

१. शब्दागम

जब किसी शब्दके साथ कोई नया शब्द प्रयुक्त होने लगता है तब शब्दागम होता है। ये नये आए हुए शब्द तीन प्रकारके होते हैं—

क. निरर्थकावृत्त शब्द : जब कोई शब्द किसी शब्दके पहले अक्षरको बदलकर दुहरा दिए जाते हैं वे निरर्थक ही होते हैं किन्तु उनका प्रयोग आधे मनसे या अनिश्चिति और विकल्पकी दशामें किया जाता है, जैसे—पानी-वानी। मराठीमें पानी-येनी, पंजाबीमें पाणी-शाणी, बँगलामें खाबा-डाबा का प्रयोग होता है। इनमें वानी, येनी, शाणी और डाबा शब्द निरर्थक हैं।

ख. दूसरे प्रकारके नये आए हुए शब्द वे होते हैं जो या तो उसी भाषाके पर्याय होते हैं या उस शब्दके अन्य भाषाके पर्याय होते हैं, जैसे—काम-काज, शादी-ब्याह, ब्याह-बरात।

ग. कभी-कभी एक शब्दपर बल देनेके लिये उसी शब्दको दुहरा देते हैं। वीप्सालंकारमें भी एक ही शब्दकी साथ आवृत्ति होती है, जैसे—बार-बार, कभी-कभी, कहीं-कहीं। ये प्रयोग अनिश्चितताकी दशामें ही होते हैं।

२. शब्द-विपर्यय

कभी-कभी समस्त पदोंमें आए हुए शब्दोंका भी विपर्यय हो जाता है, जैसे—'दिन-रात'का 'रात-दिन', 'प्रातः-सायं'का 'सायं-प्रातः'।

३. शब्द-लोप

जब दो शब्दोंसे मिले हुए किसी समस्त पदका एक पद लुप्त हो जाता है वहाँ शब्दलोप हो जाता है, जैसे–'घुड़सवार'के लिये 'सवार', 'रामचरितमानस'के लिये मानस, मोटरकारके लिये कार।

४. शब्द-परिवर्तन

कभी-कभी भाव-संस्कारके कारण अथवा उसी प्रकारको प्रसिद्ध वस्तुके कारण उस वस्तुका नाम पूर्वप्रसिद्ध वस्तुके नामपर चल पड़ता है, जैसे—

'रामचरितमानस'को लोग 'रामायण' कहते हैं क्योंकि वाल्मीकिका 'रामायण' बहुत पहलेसे प्रसिद्ध रहा है। इसी प्रकार 'भरत-शत्रुघ्न'के बदले उत्तर प्रदेशके पश्चिमी भागमें 'भरत'के तुकपर 'भरत-शत्रुघ्न'को 'भरत-चरत' कहते हैं।

५. शब्द-विकार

कभी-कभी कोई शब्द वक्ताओंकी अनभिज्ञताके कारण अथवा श्रोता-द्वारा भली-प्रकार न सुने जा सकनेके कारण अथवा प्रकृतितः विकार (अपभ्रष्ट या दुरुच्चरित) हो जानेके कारण शब्द विकृत हो जाता है, जैसे—संस्कृतके 'कृषाण' शब्दका विकृत रूप 'किसान' या 'व्रात'का विकृत रूप 'बरात' (बारात) चल पड़ा किन्तु 'कृषाण' और 'व्रात'को कोई नहीं जानता। कभी-कभी कोई शब्द शुद्ध रूपमें उच्चरित करना कठिन होता है इसलिये उसका विकृत रूप ही चल पड़ता है जैसे--'रत्न' नामवाले व्यक्तिको 'रतन' कहकर पुकारनेमें ही सुविधा होती है।

शब्दोंकी गति

§ १४५. शब्दोंकी गति उनके व्यवहार करनेवालोंके कारण बड़े विचित्र ढंगसे बदलती चलती है।

कभी-कभी कोई शब्द अपना रूप बदल लेता है, जैसे-'हिंस' का 'सिंह' हो गया, कभी लिंग बदल लेता है, जैसे-'आत्मा' और 'साँस' शब्द हिन्दीमें स्त्रीलिङ्गमें प्रयुक्त होने लगे। कुछ शब्द पुंप्रत्यान्त ही चलते हैं, जैसे—औचित्य। इसका स्त्रीप्रत्ययान्त 'उचितता' नहीं चलता। कुछके दोनों प्रत्ययान्त चलते हैं, जैसे--माधुर्य और मधुरता। कुछके स्त्रीप्रत्ययान्त ही चलते हैं, जैसे--दृढता। कुछ शब्दोंके तद्भव रूप ही चलते हैं, जैसे—'सिर, साँस, कोस' आदि। कभी-कभी कुछ शब्द तत्सममें एक लिङ्गमें और तद्भवमें दूसरे लिङ्गमें चलते हैं, जैसे—'श्वास' पुंलिङ्गमें और 'साँस' स्त्रीलिङ्गमें चलता है। 'देवता' और 'व्यक्ति' शब्द संस्कृतमें स्त्रीलिङ्ग है किन्तु हिन्दीमें पुंलिङ्ग हो चलते हैं। कुछ शब्द पुंलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनोंमें चलते हैं, जैसे—'दही'। कुछ पुंलिङ्ग शब्द स्त्रीलिङ्गमें ही चलते हैं, जैसे—'आत्मा'। बहुतसे शब्दोंका प्रयोग ही पूर्णतः लुप्त हो गया है और वे केवल कोशमें ही रह गए हैं यहाँतक कि उनका प्रयोग अशुद्ध समझा जाता है, जैसे—'नूत्न'। अब केवल 'नूतन' ही चलता है। बहुतसे नये शब्द बनाकर चला दिए गए हैं जिनका प्राचीन

कोश और व्याकरणके अनुसार अर्थ ही नहीं लगाया जा सकता, जैसे—'आयोग' (कमीशन), 'आयुक्त' (कमिश्नर), 'संविदा' (ठेका)।

कभी-कभी शब्दोंके प्रयोगमें बहुतसे परिवर्त्तन अज्ञानके कारण होते हैं जहाँ उचित शब्दको न जानकर किसी वस्तु या भावको समझानेके लिये उस वस्तुके आकार-प्रकार आदिके आधारपर कोई नाम दे दिया जाता है; जैसे—'मोरपङ्खी'के लिये 'झाऊ' शब्दका प्रयोग।

कभी-कभी भाव-दारिद्र्यके कारण उचित शब्द न जाननेसे 'एथी, ए, क्या नाम है कि' आदि शब्दोंका प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी किसी शब्दको न जानते हुए उसे समझानेके लिये व्याख्यात्मक शब्दोंका योग करना पड़ता है—जैसे 'टमाटर' समझानेके लिये 'लाल-लाल, गोल-गोल, पुलपुला' कहना। बहुतसे स्थानोंपर लोगोंने अपनी सुविधाके लिये कुछ वस्तुओंके नाम गढ़ लिए हैं, जो उस भाषाके रूढ शब्दसे भिन्न होते हैं, जैसे—कैंटन (चीन) के लोग अपनी पिडगिन अँगरेज़ीमें 'मच्छर' के लिये 'मौस्किटो' न कहकर 'इम-लांगा-डार्क-.फेला' (वह लम्बा काला जीव) और 'रेलवे ट्रेन' को 'बिग-.फैला-फ़ायर-स्नेक' (बड़ा भारी आगका साँप) कहते हैं।

कभी-कभी कवि लोग कोई शब्द सीधे न कहकर उसे बहुत घुमा-फिराकर कहते हैं, जैसे—'बादल'को 'तर्वर्यरि-प्रद' (तरु + अरि + अरि + प्रद) कहा गया है अर्थात् 'तरुका अरि अग्नि, अग्निका अरि जल और जलका प्रद (देनेवाला) बादल।' इसका तात्पर्य यह है कि शब्द-निर्माणके दो-चार ही नहीं, अगणित प्रकार हैं।

ऊपर शब्दोंमें परिवर्तन होनेके जो विभिन्न प्रकार बताए गए हैं उनमेंसे शब्दागम; शब्द-परिवर्तन और शब्द-विकारको छोड़कर शब्द-विपर्यय और शब्दलोप वहीं होता है जहाँ समस्त पद होते हैं।

§ १४६. कुछ भाषाओंमें शब्द-परिवर्तन नहीं होते।

चीनी आदि कुछ ऐसी भी भाषाएँ हैं जिनमें शब्दोंके रूपोंमें कोई परिवर्तन नहीं होता, केवल वाक्यमें उनका स्थान-परिवर्तन कर देनेसे ही अर्थ-भेद हो जाता है।

इस प्रकार संसार भरकी भाषाओंका परीक्षण करनेपर ज्ञात होता है कि मनुष्य अपनी भाषाओंमें जितने शब्दोंका प्रयोग करता है वे केवल तीन प्रकारके होते हैं (§ १३५)—नाम, अव्यय और स्वयंस्फुट।

वाक्य

§ १४७. सार्थक शब्दों (पदों) के समूहको वाक्य कहते हैं।

वाक्यमें जितने पद आते हैं वे सब एक दूसरेसे अपना सम्बन्ध स्पष्ट करते चलते हैं और साथ मिलकर ही कोई अर्थ व्यक्त करते हैं।

§ १४८. सम्पूर्ण वाग्व्यापार वाक्यमें ही होता है।

संसारमें जितने भी व्यक्ति हैं वे सभी, बालकसे वृद्धतक, निरक्षरसे साक्षरतक, असंस्कृतसे सुसंस्कृत-तक और ग्रामीणसे नागरतक सभी वाक्यमें ही परस्पर वार्तालाप करते हैं। जब कोई नट किसी लम्बे बाँसपर चढ़कर उसपर अपने पेटका आधार देकर नाचता और घूमता है तब सहसा दर्शकके मुख़से निकल पड़ता है—'वाह'। इस 'वाह' शब्दमें उस नटके समस्त कौशलका वर्णन तो निहित रहता ही है, साथ ही उसकी प्रशंसा भी इस शब्दके द्वारा प्रकट हो जाती है। यद्यपि इस अवस्थामें कोई वाक्य नहीं कहा गया, किन्तु यह 'वाह' शब्द उन सम्पूर्ण वाक्योंका प्रतिनिधि है जो उस नटकी नटविद्यासे प्रभावित होनेपर उसके कौशल और उसकी प्रशंसामें कहे जा सकते हैं। यह सामान्य मानव-स्वभाव है कि प्रत्येक व्यक्ति जो कुछ कहना चाहता है उसे कमसे कम शब्दोंमें कहता है किन्तु उसका तात्पर्य पूर्णतः वाक्यात्मक होता है। कभी-कभी समयके अभावमें अथवा उचित शब्द-भाण्डारके अभावमें भी मनुष्य कमसे कम शब्दोंका प्रयोग करनेके लिये विवश हो जाता है।

किन्तु शब्दोंके अभावमें भी उसके सम्पूर्ण कथनका अभिप्राय वाक्य मूलक ही होता है अर्थात् वक्ता सदा वाक्यमें ही कहना चाहता है भले ही वह कम शब्दोंका प्रयोग करे। जो व्यक्ति जितना ही अधिक व्युत्पन्न, शब्दार्थका ज्ञाता, भाषावित, बहुश्रुत, बहुपठ, सामाजिक, सत्संगशील, बहुजन-सम्पर्कशील और उक्ति कुशल होता है वह अपने मनके भाव भली भाँति, विस्तारसे, उचित शब्दोंमें, उचित काकुके साथ, उचित अवसरपर, उस प्रसंगमें आनेवाले सब पक्षोंका समुचित विचार करके इस कौशलके साथ व्यक्त करता है कि श्रोता या सम्बोध्य निश्चित रूपसे उसकी बात माननेको विवश हो जाता है। यह कौशल वाक्य-विन्यासका ज्ञान होनेसे ही प्राप्त होता है। जो व्यक्ति अशिक्षित, अल्पशिक्षित, ग्राम्य, असामाजिक, और जन-सम्पर्कसे दूर रहते हैं उनके सम्पूर्ण वाग्व्यापारमें शब्दोंकी भी कमी होती है और उनके कहनेकी शैली भी ऐसी अनगढ़ होती है कि उनका भाव तो समझ लिया जा सकता है किन्तु उनका प्रभाव कुछ नहीं होता। इसीलिये कहा गया है—

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वलाः
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमैरालंकृता मूर्धजाः।
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते,
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्॥

[पुरुषकी शोभा न केयूरसे, न चन्द्रके समान उजले हारसे, न स्नानसे, न आलेपनसे और न बालोंको सजानेसे बढ़ती है। केवल वाणीका अलंकार ही मनुष्यका सबसे बड़ा भूषण है। अन्य सब आभूषण तो नष्ट हो जाते हैं किन्तु वाणीका भूषण ही ऐसा भूषण है जो निरन्तर बना रहता है।]

किसी प्राचीन सूक्तिकारने इसीलिये कहा है—

तास्तु वाचः सभायोग्याः या चित्ताकर्षणक्षमाः।
स्वेषां परेषां सर्वेषां विदुषामविदुषामपि॥

[वही भाषा सभाके योग्य होती है जो अपने, पराए, विद्वान् और अविद्वान् सबका चित्त आकृष्ट कर ले।]

इसीलिये कहा गया है कि जिसने व्याकरण नहीं पढ़ा वह अंधा है, जिसे शब्दकोषका ज्ञान नहीं है वह बहरा है, जिसे साहित्यका ज्ञान नहीं है वह लँगड़ा है और जो तर्कके साथ बात नहीं कर सकता वह गूँगा है।

अवैयाकरणस्त्वन्धो बधिरः कोशवर्जितः।
साहित्यरहितः पंगुमूकस्तर्क-विवर्जितः।

इसका तात्पर्य यही है कि समस्त श्रेष्ठ, शिष्ट, सराहनीय और चित्तकर्षक वार्तालाप वाक्यमें ही होता है। वार्तालाप और भाषणमें स्वभावतः शब्द-कृपणता की जाती है। ऊपर (§ १४८) बताया गया है कि सभी लोग वार्तालापमें या शब्दोंके प्रयोगमें कृपणता करते हैं और जहाँतक संभव होता है वे एक दो शब्दोंसे ही काम चला लेनेका प्रयत्न करते हैं। ऐसी स्थितिमें वे जिन एक-दो शब्दोंका प्रयोग करते हैं वे वाक्यके ही प्रतिनिधि होते हैं।

दो व्यक्तियोंका यह वार्तालाप सुनिए—

एक : चलिएगा ?

दूसरा : कहाँ ?

एक : सभामें।

दूसरा : हो आइए।

उपर्युक्त वार्तालापका वास्तविक भाव वाक्योंमें इस प्रकार होगा—

एक : क्या आप मेरे साथ वहाँ चलिएगा जहाँ मैं जा रहा हूँ।

दूसरा : आप ऐसे किस स्थानपर जा रहे हैं जहाँ आप मुझे भी ले जाना चाहते हैं ?

एक : यहाँ काशीके बेनिया-बागमें चुनावके सम्बन्धमें कांग्रेसकी ओरसे जो सभा आयोजित होनेवाली है, उसीमें तुम्हें चलनेको कह रहा हूँ।

दूसरा : अब आप अकेले ही चले जाइए क्योंकि मेरे पास न तो समय ही है, न तो इन असत्य-प्रचारक नये काँग्रेसियोंमें मेरी श्रद्धा ही है।

इस विवरणसे स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार एक ही शब्द एक वाक्यका बोधक होता है। किन्तु यह तभी सम्भव होता है जब उन शब्दोंका पूर्वापर-सम्बन्ध भी बना हुआ हो। किसी पथिकसे आप कहें, 'उठाओ' तो वह आपकी बात सुनकर यही समझेगा कि आपके मस्तिष्कमें कुछ विकार आ गया है। पर यदि आप हाटसे कुछ सामग्री लेकर और उसे टोकरीमें रखकर अपने सेवकसे कहें—'उठाओ' तो वह तत्काल समझ जायगा कि मुझे सामग्रीसे भरी हुई टोकरी उठाकर चलनेका आदेश दिया गया है। तात्पर्य यह है कि जहाँ पूर्वापर-सम्बन्ध निश्चित हो वहाँ केवल एक-दो शब्दोंके प्रयोगसे ही

वाक्यका काम चल जाता है किन्तु जहाँ इस प्रकारका पूर्वापर-सम्बन्ध नहीं होता वहाँ पूरा वाक्य कहना ही पड़ता है। यदि किसी औषधिके निर्माणका निर्देश देना हो तो वहाँ एक-दो शब्दोंसे काम नहीं चलेगा। उसे विस्तारसे इस प्रकार समझाना पड़ेगा—

सोंठ, मिरच, पीपल, अजमोदा, सेंधा नमक, काला और उजला जीरा, सबको बराबर-बराबर लेकर, उन्हें कूटकर, कपड़-छान कर लेना चाहिए और फिर उसमें उसके आठवें भागके बराबर भुनी हुई हींग पीसकर मिला देनी चाहिए। ऐसे हिंग्वाष्टक चूर्ण बनाया जाता है।

इतना ही नहीं, जब हम किसीको कुछ काम करनेके लिये भेजते हैं तो समझाते हैं—

"देखो, चौक पहुँचकर सीधे ज्ञानवापी चले जाना। वहाँ पूरबकी ओरवाली गलीमें चढ़कर बाएँ हाथ घूम जाना। वहीं काशी-करवट है। उसीके सामने पंडित शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' को पूछना और उन्हें सहेजकर कह देना कि 'बहती गंगा' नामक अपने उपन्यासकी तीन प्रतियाँ झोलेमें रखकर साँझको बेढबजीके यहाँ पहुँचा दें।

यह बात एक-दो-चार शब्दोंमें नहीं कही जा सकती। इसके लिये पूरे-पूरे वाक्य ही कहने और समझाने पड़ते हैं।

भाषाओंकी प्रकृति

§ १४९. भाषाओंकी प्रकृति चार प्रकारकी होती है—अयोगात्मक या अलगंत (अइसोलेटिव), सप्रत्ययोपसर्ग या जुटन्त (ऐग्ल्यूटिनेटिव), धातुरूपात्मक या मिलन्त (इन्फ़्लैक्शनल) और सम्पृक्त या घुलन्त (इन्कौर्पोरेटिव)।

१. अयोगात्मक भाषा

संसारकी कुछ भाषाओंके वाक्योंमें सभी शब्द अलग-अलग होते हैं और यह निश्चय रहता है कि वाक्यमें कौन शब्द किस क्रमसे आनेपर किस अर्थका बोधक होगा। ऐसी विकीर्ण अयोगात्मक भाषाओंके शब्दोंमें न तो उपसर्ग, विभक्ति, प्रत्यय आदिका प्रयोग होता है और न शब्दोंके रूपोंमें ही कोई परिवर्तन होता है। यह विकीर्ण अयोगात्मक प्रकृति उन भाषाओंकी

होती है जिनमें एक शब्दके लिये एक अक्षरका प्रयोग होता है, जैसे—चीनी भाषा आदि एकाक्षरी परिवारकी भाषाएँ हैं।

हिन्द-योरोपीय भाषाओंसे विकृत होकर विकसित होनेवाली भाषाओंके वाक्योंमें भी शब्द अलग-अलग बिखरते जा रहे हैं। संस्कृत भाषाके व्याकरणके अनुसार 'राम' शब्दमें ही 'टा' प्रत्यय जोड़नेसे 'रामेण' बनता था, पर हिन्दीमें इस 'टा' प्रत्ययका 'सु' प्रत्यय (कर्ताकारक एक वचन) में 'रामने' बन गया। इस प्रकार विकसित होनेवाली सभी भाषाओंके वाक्य-विन्यासमें शब्दोंकी प्रकृति (कर्ता, कर्म, विशेषण, क्रिया) आदि सबका क्रम निश्चित हो गया है। हिन्दीमें कहा जाता है—

'सीता और लक्ष्मणको साथ लेकर रामचन्द्रजी वनको गए।'

किन्तु संस्कृतमें इसी वाक्यको निम्नांकित कई प्रकारसे कह सकते हैं—

सीतया लक्ष्मणेन सह रामः वनं गतः।
रामः वनं लक्ष्मणेन सीतया च सह गतः।
गतः रामः वनं सह सीतया लक्ष्मणेन च।
वनं रामः सह सीतया लक्ष्मणेन च गतः।

चीनी भाषाकी एक कविताका हम ज्योंका त्यों उल्था देते हैं, जिससे यह समझनेमें असुविधा नहीं होगी कि कैसे उन्होंने बिना क्रियाके ही अपना काम चला लिया है और अर्थ समझनेमें कोई झंझट नहीं होती—

सरिताके दोनों कूलोंपर वैवाहिक भोज।
समय आगमन। नौका लोप।
हृदय प्रफुल्लित। आशा मौन।
इच्छाओंका परम अदर्शन।

प्रसादजीने अपनी 'कामायनी'में ऐसे ही बिखरे शब्द रखकर छन्द लिखा है—

अवयवकी दृढ मांस-पेशियाँ, ऊर्जस्वित था वीर्य अपार।
स्फीत शिराएँ स्वस्थ रक्तका, होता था जिनमें संचार॥

हिन्दीकी प्रकृतिके अनुसार यह इस प्रकार होना चाहिए था—

मांस-पेशियोंमें उस नरकी, ऊर्जस्वित था वीर्य अपार।
उसकी स्फीत शिराओंमें था स्वस्थ रक्तका सुख-संचार॥

हिन्दीमें तार देनेके लिये भी इसी प्रकार लिखा जाता है—

वसन्तोत्सव । उपस्थिति अनिवार्य । चमा । रुपया आवश्यक ।

फिर भी हिन्दीमें हम यह नहीं कह सकते—

'गए लक्ष्मण सीताके राम साथ वनको ।'

हिन्दीके वाक्यकी बनावटमें इसका अर्थ ठीक नहीं समझा जायगा ।

कभी-कभी किसी एक शब्दपर बल देनेके लिये या उसमेंसे कोई नया अर्थ निकालनेके लिये वाक्यके शब्दोंमें अदल-बदलकर लेते हैं, जैसे—

'रामने आम खाया है' और 'आम रामने खाया है ।'

इनमेंसे दूसरेमें यह बताया गया है कि जिस आमको आप खोज रहे हैं, वह रामने खाया है। पर हम यह नहीं सकते—"खाया आम रामने ।" हाँ, कवितामें इस ढंगकी छूट हो जाती है और कह सकते हैं—

गए राम वनमें लक्ष्मणको सीताको ले साथ ।

पर इसको भी यों नहीं कह सकते—

राम साथ सीताको लक्ष्मणको ले वनमें गए ।

इससे यह समझनेमें अठिनाई न होगी कि जिस भाषामें वाक्योंके शब्द जितने-जितने बिखरते जाते हैं, उतना ही उन शब्दोंका स्थान वाक्यमें निश्चित होता जाता है ।

२. सप्रत्ययोपसर्ग भाषाएँ

संसारकी बहुत-सी भाषाओंके वाक्योंमें आनेवाले शब्द अपना पारस्परिक सम्बन्ध प्रकट करनेके लिये अपने साथ प्रत्यय, उपसर्ग और मध्य सम्बन्धक योग लगाकर अपना रूप ऐसा बनाए रखते हैं कि उनके रूपोंमें कोई विकार नहीं आता और उन्हें अलग पहचाना जा सकता है। ऐसे प्रत्यय-उपसर्ग न तो उन शब्दोंके रूपमें विकार आने देते हैं और न अपने ही रूपमें विकार आने देते। शब्दोंके साथ लगे रहनेपर भी वे अलग पहचाने जा सकते हैं। ऐसे शब्दोंसे बने वाक्योंको लोग पारदर्शी (ट्रान्सपेरेण्ट) वाक्य कहते हैं जैसे—

परिस्थितितः अतिआहारत्व भी अज्ञानता ही है ।

उपर्यङ्कित वाक्यके 'स्थिति, हार, ज्ञान' में शब्द जुटे हुए 'परि, तः, अति, आ, त्व, अ, ता, सब स्पष्ट रूपसे अलग पहचाने जाते हैं ।

३. धातुरूपात्मक भाषाएँ

संसारकी बहुत-सी भाषाओंमें वाक्योंके शब्दोंका पारस्परिक सम्बन्ध बतानेवाली विभक्ति, या प्रत्यय आदि इस प्रकार शब्दोंमें मिल जाते हैं कि वे शब्दका रूप भी बदल देते हैं और अपनेको भी उसीमें समाहित कर लेते हैं। संस्कृतमें अकारान्त पुलिङ्ग शब्दके सम्प्रदान कारक (चतुर्थी) के एक वचन-का 'ङे' प्रत्यय (आय) का प्रयोग जब 'कृष्ण' शब्दके साथ होता है तब 'कृष्ण'का 'कृष्णाय' बन जाता है। कभी-कभी यह प्रत्यय विचित्र प्रकारसे लगता है, जैसे—'पितृ' शब्दमें 'सु' (प्रथमा एक वचन) लगानेसे 'पिता' बन जाता है। ऐसी भाषाएँ धातुरूपात्मक कहलाती हैं।

४. सम्पृक्त भाषाएँ

कुछ भाषाएँ ऐसी भी हैं जिनके वाक्योंमें प्रयुक्त होनेवाले शब्द कुछ घिस-मिटकर एकमें एक घुलकर बड़ेसे शब्दके रूपमें ढल जाते हैं। वे इस प्रकार परस्पर घुल जाते हैं कि उन शब्दोंको अलग करके उनका ठीक सम्बन्ध निश्चय करना कठिन हो जाता है। ऐसी भाषाओंको सम्पृक्त भाषा कहते हैं, जैसे—मैक्सिकोकी भाषामें 'मेवत्ल' (मैं), 'नाकत्ल' (मांस), 'का' (खाना) तीनों शब्द मिलकर 'मेनाका' (मैं माँस खाता हूँ) हो जाता है। इस वाक्यमें 'मेवत्ल' शब्दका 'वत्ल' और 'नाकत्ल' शब्दका 'कत्ल' पूर्णतः लुप्त हो गया और तीनों शब्द घुलमिलकर इस रूपमें ढल गए कि उनका मूल रूप पूर्णतः लुप्त हो गया। 'भारत' और 'योरोपीय' शब्दोंके इसी प्रकारके असंगतमें मेलसे 'भारोपीय' शब्द गढ़ लिया गया जिसकी व्युत्पत्ति किसी भी व्याकरणसे नहीं की जा सकती।

वाक्य-रचना

§ १५०. प्रत्येक वाक्यके दो भाग होते हैं—उद्देश्य और विधेय।

विभिन्न भाषाओंके वाक्योंकी रचना देखनेसे स्पष्ट होगा कि वाक्य दो प्रकारके होते हैं—एक तो वे जिनमें कोई बात सीधे-सीधे कही जाती है, जैसे—'मैं काशी जा रहा हूँ।'

इस वाक्यमें 'मैं' कर्ता या काम करनेवाला है। इसे उद्देश्य कहते हैं। आगे पूरा काम कहा गया है जिसे विधेय कहते हैं। पर यह वाक्य-रचनाका क्रम भी हिन्द योरोपीय और सेमेटिक भाषाओंमें ही है, सबमें नहीं।

इन सीधे वाक्योंके अतिरिक्त कुछ ऐसे मिले-जुले वाक्य भी होते हैं जिनका एक दूसरेसे सम्बन्ध होता है, जैसे—

'मैं गाँव चला गया था इसलिये आपसे नहीं मिल सका।'

इस वाक्यमें दो वाक्य है जिनमेंसे एकका अर्थ समझनेके लिये दूसरा वाक्य अपेक्षित है। पारस्परिक वार्तालापमें परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट करनेवाले वाक्य मिलाकर रखने ही पड़ते हैं। किन्तु यह प्रक्रिया भी सब भाषाओंमें नहीं मिलती।

वाक्यके तीन तत्त्व

§ १५१. वाक्यमें तीन तत्त्व होते हैं—वक्ता, सम्बोध्य और भाव।

संसार भरकी सब भाषाओंका परीक्षण करनेपर स्पष्ट हो जाता है कि जितने भी वाक्य बोले जाते हैं उनका कोई वक्ता होता है, कोई श्रोता या सम्बोध्य होता है और उसमें कोई बात कही जाती है अर्थात् उसका कोई भावतत्त्व होता है।

वक्ता-तत्त्व यह स्पष्ट करता है कि कौन व्यक्ति किससे क्या कह रहा है और श्रोतासे उसका क्या सम्बन्ध है।

सम्बोध्य या श्रोता-तत्त्वके द्वारा यह निश्चय होता है कि श्रोताकी योग्यता, अवस्था और प्रकृति कैसी है और उससे किन शब्दोंमें किस शैलीसे कहना उचित होगा कि जिससे उसपर समुचित प्रभाव पड़े।

भाव-तत्त्वके अन्तर्गत उस सम्पूर्ण विषय, भाव या परिस्थितिका समावेश होता है जो वक्ता उस सम्बोध्यको बताना चाहता है। इन तीन तत्त्वोंके संयोगसे ही वाग्व्यापारकी प्रयोग-पद्धति अर्थात् वाक्य-रचना निश्चित होती है।

§ १५२. संकेतसे भी अर्थकी प्रतीति होती है।

यद्यपि हाथ, पैर, भौंह या आँखें मटका-चलाकर भी लोग एक दूसरेको अपने मनके भाव बता दिया करते हैं। प्रायः मूक या गूँगे लोग तो संकेतसे ही अपने मनकी बात कहते और दूसरेके मनकी बात समझते हैं। वे ही नहीं, भली प्रकार बोल सकनेवाला मनुष्य भी जब ऐसे प्रदेशमें पहुँच जाता है जहाँ उसकी भाषा कोई न समझ सकता हो और वह भी वहाँकी भाषा न समझ सकता हो तो वहाँ संकेतसे ही काम चलाया जाता है। इस सांकेतिक भाषाका कोई विचार वाग्विज्ञानमें नहीं होता। किन्तु मानव-समाजके सम्पूर्ण पारस्परिक

प्रत्यक्ष व्यवहारमें भाषाके प्रयोगके साथ-साथ कुछ औपचारिक शारीरिक चेष्टाएँ भी करनी पड़ती हैं जिसे सामाजिक उपचारके अन्तर्गत भाषात्मक उपचार (लिंग्विस्टिक एटीकेट) कहते हैं। जब किसीके यहाँ कोई अतिथि आता है तब केवल नमस्कार, प्रणाम, नमस्ते, सलाम या वरणक्कम् शब्द मात्र ही नहीं कहा जाता वरन् उसके साथ मुखपर मुस्कराहट लाकर, प्रसन्नता व्यक्त करके, सिर झुकाकर हाथ जोड़कर या माथेपर हाथ ले जाकर आंगिक चेष्टा भी करनी पड़ती है। तभी सामाजिक शीलके अनुसार वन्दनके शब्दकी सार्थकता सिद्ध होती है।

प्रत्येक देशके सामाजिक शीलके अनुसार ये आंगिक चेष्टाएँ पहलेसे निश्चित होती हैं और समाजके प्रत्येक व्यक्तिको उनका पालन करना आवश्यक और अपेक्षित होता है। भाषा-शास्त्रियोंने इस पक्षकी उपेक्षा की है, किन्तु जैसे किसी शब्दके उच्चारणके लिये उसका स्थान और प्रयत्न निर्धारित है उसी प्रकार सामाजिक शीलके लिये प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंके साथ समुचित आंगिक चेष्टाओंका व्यवहार भी आवश्यक है।

यूनान और रोमके भाषण-शास्त्रियोंने इस सम्बन्धमें विस्तारसे विचार किया। उन्होंने सम्पूर्ण भाषण-क्रिया या वाग्व्यापारमें चार अपरिहार्य तत्त्व माने हैं—डिक्शन (भाषाशैली), डिलिवरी (भाषणशैली), जेश्चर (मुख-मुद्रा) तथा पौश्चर (खड़े होने या शारीरिक क्रिया करनेकी गति और ढंग)। अरब और फ़ारस देशोंमें तो शिष्टाचारकी भाषाके साथ ही आंगिक चेष्टाका संयोजन अत्यन्त प्रौढ रूपसे विकसित हुआ। भारतके अलंकार-शास्त्रियों तथा वैयाकरणोंने वाचनकी प्रक्रियाके प्रसंगमें कुछ लक्षणोंका विवेचन अवश्य किया है किन्तु उनकी कोई रूढि या परम्परा भाषाचारके रूपमें व्यवहृत नहीं हो पाई।

पाणिनीय और याज्ञवल्क्य-शिक्षामें शब्दोच्चारणकी प्रक्रियाके साथ-साथ यह तो स्पष्टतः बताया गया है कि शुद्ध उच्चारण किस प्रकार करना चाहिए किन्तु भाषाके प्रयोगके साथ किस अवस्थामें या अवसरपर किस प्रकारकी आंगिक चेष्टा की जाय इसका कोई निश्चित विधान नहीं किया गया। दोनों शिक्षाओंमें शब्दोच्चारणकी प्रक्रियाका विधान करते हुए कहा गया है—

व्याघ्री यथा हरेत्पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान्प्रयोजयेत्॥

मधुरं च न चाव्यक्तं व्यक्तं चापि न पीडितम् ।
सनाथैकस्य देशस्य न वर्णाः संकरं गताः ॥
यथा सुमत्त-नागेन्द्रः पदात्पदं निधापयेत् ।
एवं पदं पदाद्यंतं दर्शनीयं पृथक्-पृथक् ॥

[याज्ञवल्क्य-शिक्षा, १०२-१०४]

शङ्कितं भीतमुद्घुष्टमव्यक्तमनुनासिकम् ।
काकस्वरं शिरसिगं तथा स्थान-विवर्जितम् ॥
उपांशुदष्टं त्वरितं निरस्तं विलंबितं गद्गदितं प्रगीतम् ।
निष्पीडितं ग्रस्तपदाक्षरञ्च वदेन्न दीनं न तु सानुनास्यम् ॥

[पाणिनीय शिक्षा, ३४-३५]

गद्गदो बद्धजिह्वश्च न वर्णान् वक्तुमर्हति ।
प्रकृतिर्यस्य कल्याणी दंतोष्ठौ यस्य शोभनौ ॥
प्रगल्भश्च विनीतश्च स वर्णान् वक्तुमर्हति ।
शङ्कितं भीतमुद्घुष्टमव्यक्तमनुनासिकम् ॥
काकस्वरं मूर्ध्निगतं तथा स्थान-विवर्जितम् ।
विरसं विस्वरं चैव विश्लिष्टं विषमाहतम् ।
व्याकुलं तालहीनं च पाठदोषाश्चतुर्दश ॥

[याज्ञवल्क्य-शिक्षा]

[जिस प्रकार बाघिन अपने बच्चोंको मुँहमें लेकर चलती है कि न तो बच्चोंको दाँत ही चुभते हैं और न वे मुँहसे ही गिर पाते हैं, ठीक उसी प्रकार शब्दोच्चारण भी करनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि न तो अक्षर चबा-चबाकर बोले जायँ कि मुँहमें ही रह जायँ और न ऐसा हो कि वे मुँहसे गिर-गिर पड़ें और स्पष्ट एक दूसरेसे अलग टूटे हुए सुनाई दें।

वर्ण मधुर हो, पर स्पष्ट हो, दूसरे वर्णोंसे दबा हुआ न हो। सब वर्ण पूरे उच्चरित किए जायँ, एक दूसरेमें मिल न जायँ। जैसे मतवाला हाथी एक पैरके पश्चात् दूसरा पैर रखता हुआ चलता है, उसी प्रकार एक-एक पद और पदान्तको अलग-अलग स्पष्ट करके बोलना चाहिए।

शङ्कित होकर, डरकर, चिल्ला-चिल्लाकर, अस्पष्टताके साथ, नाकसे, कौवेके स्वरमें, मूर्धास्थानसे उच्चारण करके उचित स्थानोंसे उच्चारण न करके, मुँहमें ही वर्णोंको काटकर, फेंकते हुएसे, रुक-रुककर, गद्गद स्वरमें, गा-गाकर,

वर्णोंको चबा-चबाकर, पदों और अक्षरोंका पूर्ण रूपसे उच्चारण न करके अपूर्ण उच्चारण करके, दीनतायुक्त स्वरमें और सभीको अनुनासिक बनाकर बोलना उचित नहीं है।]

याज्ञवल्क्य-शिक्षामें भी ये ही बातें दुहराई गई हैं—

[बोलनेमें कण्ठका गद्गद होना और जीभका बँध जाना उचित नहीं है। इस प्रकार बोला नहीं जा सकता। जिसका रूप सुन्दर है, जिसके दाँत और ओठ अच्छे हैं, जो उच्चारणमें प्रगल्भ एवं विनीत है, वही वर्णोंका उचित उच्चारण कर सकता है। शंकित, भयभीत, चिल्ला-चिल्लाकर, अस्पष्ट, नकिया-नकियाकर, कौवेके स्वरमें, मूर्धासे ही सभीका उच्चारण करके, उचित स्थानसे उच्चारण न करके, नीरस ध्वनिमें, सुस्वरता-रहित, अलग-अलग, बेढंगे रूपसे बलाघात करके, व्याकुलतापूर्वक एवं ताल-हीन पढ़ना, ये पढ़नेवालेके चौदह दोष हैं।]

पाठकके गुण-दोष

उसी शिक्षामें आगे चलकर भले-बुरे ढंगसे पढ़नेवालोंके गुण-दोष भी बतलाए गए हैं—

माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः॥
गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाऽधमाः॥

[मिठास, अक्षरोंकी स्पष्टता, पदोंका पृथक्-पृथक् उच्चारण, स्वरोंका उचित उतार-चढ़ाव, धीरता और लयके अनुसार पढ़ना, ये पाठकर्त्ताके छह गुण हैं। इसके विपरीत—गाकर, हड़बड़ी करके, सिर हिलाते हुए, चुपचाप या जैसा लिखा है वैसा पढ़ते हुए, अर्थ समझे बिना या दबे स्वरसे पढ़नेवाला पाठक अधम होता है।]

उपर्यङ्क्ति विवरणमें यह तो संकेत किया गया है कि वाचन या पाठ करते समय कैसी मुख-मुद्रा होनी चाहिए कैसी नहीं, कैसे स्वर निकालना चाहिए कैसे नहीं, किन्तु जिस प्रकार योरोपीय भाषण-शास्त्रियोंने वाणीके प्रयोगके साथ आंगिक चेष्टाओंका भी विवरण दिया है उस प्रकारका कोई विवरण भारतीय भाषा-शास्त्रियोंने नहीं दिया। अरब और फ़ारसमें भी सामाजिक शीलकी

कोई परिभाषा तो नहीं दी गई किन्तु सामाजिक शीलकी भाषाके साथ प्रयुक्त की जानेवाली समस्त आंगिक चेष्टाएँ वहाँ इतनी रूढ हो गई हैं कि उनके लिखित विधानकी कोई आवश्यकता नहीं रह गई।

प्रायः सभी समुन्नत मानव-समाजोंमें भाषाके प्रयोगके साथ आंगिक चेष्टा का सारा विधान रूढ हो गया है इसलिये लिखित विधान की आवश्यकता नहीं रही, किन्तु योरोपमें कई शताब्दियों-तक भाषण-कला भी सात उदार-कलाओंके अन्तर्गत कलाके रूपमें सिखाई जाती रही इसलिये वहाँ उसका विस्तृत विधान हुआ किन्तु जैसे नाट्य-शास्त्रमें वाचिक अभिनयके साथ आंगिक और सात्त्विक अभिनयका विधान है उसी प्रकार शब्द-प्रयोग या वाक्य-प्रयोगके साथ आंगिक और सात्त्विक क्रियाका भी उपदेश होना चाहिए।

वाक्यमें शब्दोंका प्रयोजन

§ १५३. वाक्यमें पहुँचनेपर शब्दका कार्य है अभिज्ञान करना, सम्बन्ध स्पष्ट करना, संकेत करना, आंगिक संकेतको आश्रय देना और भावपर बल देना।

वाक्यमें पहुँचकर शब्द पाँच कार्य करता है—

१. वस्तुओं, व्यक्तियों, स्थानों और भावोंके नामों, उन सबके गुणों और क्रियाओंका परिचय देता है।

२. वस्तुओं, व्यक्तियों, स्थानों, भावों, और गुणों और क्रियाओंका पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट करता है कि कौन सा शब्द किसके लिये किसके सम्बन्धमें, उसकी किस विशेषताके लिये या उसके द्वारा या उसके प्रति किए हुए या किए जानेवाले कौन-से कार्यके लिये प्रयुक्त हुआ है कि वह कार्य कैसा, कब और कैसे हुआ या होनेवाला है या हो रहा है।

३. किसी व्यक्ति, वस्तु, स्थान या भावका नाम ठीक-ठीक न जाननेपर अथवा नाम जाननेपर भी उसे स्पष्ट पहचान पानेके लिये संकेतका काम करता है, जैसे—

यह है। यही राम है। ये हनुमान हैं। उस बालकने यह काम किया है। वह ऐसा ही है आदि।

४. वाक्यमें पहुँचकर शब्द या पद कभी-कभी आंगिक संकेतको आश्रय देने या उसे स्पष्ट करनेके लिये भी काममें आता है, जैसे—

(दोनों हाथ चौड़ाकर) वह इतना मोटा है। (सिर हिलाकर) वह ऐसे-ऐसे करता है।

५. वाक्यमें पहुँचकर कुछ शब्द वाक्यके भावको बल देते हैं—

यहीं पुस्तक चाहिए। तुम भी आना। केवल तकिया ला दो।

कभी-कभी यह बल देनेका कार्य काकु या स्वरके आरोहावरोहसे भी किया जाता है।

इन पाँचों प्रकारोंके कार्य करनेके लिये प्रत्येक भाषामें उन कार्योंके निमित्त प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंका स्थान निश्चित होता है, जिसे वाक्य-विन्यास (सिन्टेक्स ऑर्डर) कहते हैं। इतना होनेपर भी कभी-कभी विशेष बल देनेके लिये या विशेष परिस्थितिमें यह क्रम उलट जाता है, जैसे—

आ गए आप ? कहाँ है तुम्हारी पुस्तक ? भुस बना दूँगा मारते-मारते ! आया है बड़ा नवाब बनने !

इन वाक्योंमें भावपर बल देनेके लिये वाक्य-विन्यासका स्वाभाविक क्रम बदल गया है। हिन्दीके वाक्य-विन्यासके क्रमके अनुसार ये वाक्य इस प्रकार होने चाहिएँ—

१. क्या आप आ गए ?

२. तुम्हारी पुस्तक कहाँ है ?

३. मैं तुम्हें मारते-मारते भुस बना दूँगा।

४. तू बड़ा नवाब बनने चला है।

किन्तु इस प्रकार कहनेसे वह प्रभाव नहीं उत्पन्न होता जो पूर्व-कथित वाक्योंसे होता है।

वाक्यमें शब्दक्रम-परिवर्त्तनके कारण

§ १५४. भाषाओं और जातियोंके पारस्परिक सम्पर्क, विभक्ति-लोप, इच्छित अर्थके संक्रमणकी प्रवृत्ति, नई शैलीसे कहनेके ढंग, श्रोताकी बुद्धि और वक्ताके पाण्डित्यके अनुसार वाक्योंके रूपमें परिवर्तन होता रहता है।

अभी ऊपर (§ १५३) बताया गया है कि किसी विशेष भावपर बल देनेके कारण अथवा अपने वक्तव्यको प्रभावशाली बनानेके कारण किसी भाषाके वाक्यमें प्रयुक्त होनेवाले शब्द-क्रममें परिवर्तन कर लिया जाता है किन्तु इसके अतिरिक्त और भी बहुतसे कारण हैं जिनसे वाक्यका शब्दक्रम परिवर्तित हो जाता है। वे कारण निम्नांकित हैं—

१. दो भाषाओंके पारस्परिक सम्पर्कसे।

२. दो भिन्न आचार-विचारवाली मानव-जातियोंके पारस्परिक सम्पर्कसे।

३. विभक्तियोंका लोप हो जानेसे या विकास-क्रममें उनके घिस जानेसे।
४. कोई नवीन, विचित्र या इच्छित अर्थ निकालनेसे।
५. वक्ताकी अपनी विशेष शैलीके कारण।
६. श्रोता या सम्बोध्यकी बुद्धि और योग्यताके कारण।
७. वक्ताके पाण्डित्यके आधारपर।

भाषाओंका सम्पर्क

इतिहासके अध्ययनसे स्पष्ट हो जाता है कि जब कभी किसी एक मानव-समुदाय, वीर, नेता या राजाने किसी दूसरे मानव-समुदाय या देशपर आक्रमण करके उसे जीता तो वह दो कार्य करता है—

१. अपनी भाषा या भाषाके शब्द स्वेच्छापूर्वक तथा बल-पूर्वक विजित देशके निवासियोंपर इस प्रकार लाद देते हैं कि उन्हें विवश होकर उनका प्रयोग करना ही पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि बिजित जाति दो-तीन पीढ़ीके भीतर अपने शब्द तो भूल ही जाती है, साथ ही अपनी भाषाका वाक्य-विन्यास भी विजयी स्वामीकी भाषाके आधारपर ढाल लेती है। हम हिन्दीमें कहते हैं—

'उसने कहा था कि मैं सन्ध्याको लौट आऊँगा।'

इसीको अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोग अँगरेज़ोंकी वाक्य-निर्माण-शैलीके ढंगपर हिन्दीमें यों कहते हैं—

'उसने कहा था कि वह सन्ध्याको लौट आवेगा' (ही सेड दैट ही वुड रिटर्न इन दि ईवनिंग)।

हिन्दीमें हम कहते हैं—

तात्पर्य यह है कि मनुष्य, मनुष्यताके कारण मनुष्य है।

किन्तु उर्दूवाले कहेंगे—

'ग़र्ज़ यह कि बसबब इन्सानियत आदम इन्सान है।

फ़ारसीमें कहेंगे—

'ग़र्ज़ ईं कि आदम बसबब इन्सानियत इन्साँ अस्त'।

इसीको गुजराती सज्जन हिन्दीमें कहेंगे—

मनुष्यता है तो मनुष्य मनुष्य है, ऐसा मेरा तात्पर्य है।

ऊपर दिए हुए वाक्योंको पढ़नेसे स्पष्ट हो जाता है कि जब विभिन्न भाषाओंका सम्पर्क होता है तब वाक्यके निर्माणमें तीन प्रकारसे परिवर्तन होता है—

क : वाक्योंमें शब्दोंका क्रम बदल जाता है।

ख : अपनी भाषाके शब्दोंके साथ या उनके बदले दूसरी भाषाके शब्दोंका भी प्रयोग चल निकलता है।

ग : वाक्यका निर्माण ही दूसरी भाषाकी वाक्य-निर्माण-शैलीके अनुसार होने लगता है जिससे कभी-कभी किसी मिश्र वाक्यके दो या अधिक वाक्य आगे-पीछे हो जाते हैं।

यदि हम उर्दू भाषाकी प्रकृतिका अध्ययन करें तो प्रतीत होगा कि उसका स्वरूप और उसकी वाक्य-निर्माण-शैली शुद्ध नागरी है। अन्तर इतना ही है कि उर्दूका निर्माण करनेवाले लोगों या उर्दूके लेखकोंने हिन्दीके तत्सम या तद्भव शब्दोंका बहिष्कार करके उनके बदले बलपूर्वक और कभी-कभी अत्यन्त सुदृढ रूपसे अरबी और फ़ारसीके शब्द ला धरे जिसमें क्रियापद और कारकके चिह्न तो नागरी भाषाके होते हैं किन्तु संज्ञाओं और विशेषणोंमें फ़ारसी तथा अरबी शब्दोंकी भरमार रहती है।

हम नागरीमें कहते हैं—

मैं अत्यन्त विनयके साथ निवेदन करता हूँ कि आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करके मुझे इस संकटसे छुड़ा लें।

इसी को उर्दूमें कहेंगे—

मैं निहायत आजिज़ीके साथ गुज़ारिश करता हूँ कि हुज़ूर मेरी इस्तद्वा मंज़ूर फर्माकर मुझे इस मुसीबतसे नजात दिलाएँ।

इस वाक्यमें 'अत्यन्त, विनय, निवेदन, आप, प्रार्थना, स्वीकार, संकट, छुड़ाना' शब्दोंके बदले 'निहायत, आजिज़ी, गुज़ारिश, हुज़ूर, इस्तद्वा, मंज़ूर, मुसीबत, नजात' शब्द रख दिए गए हैं। यदि हम अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोगोंका यही वक्तव्य सुनें तो वे कहते सुने जायँगे—

मैं बहुत ह्यूमिलिटीके साथ रिक्वेस्ट करता हूँ कि आप मेरी प्रेयर एक्सेप्ट करके मुझे कैटेस्ट्रोफ़ीसे सेव कर लें।

यह वाक्य भी हिन्दीका है है, केवल शैलीका भेद है।

अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोग अपनी भाषामें अँगरेज़ीका पुट देकर उसे कितना विकृत कर डालते हैं यह तो ऊपरके उदाहरणसे स्पष्ट हो जाता है किन्तु जब हिन्दीके लेखक अँगरेज़ीकी पुस्तकोंका अनुवाद करते हैं तो वे हिन्दीकी वाक्य-निर्माण-शैलीको ऐसे अभद्र ढंगसे प्रस्तुत करते हैं कि वह पूर्णतः कृत्रिम और अस्वाभाविक प्रतीत होने लगती है। अँगरेज़ीका एक वाक्य लीजिए—

पण्डित मदन मोहन मालवीय, दि ब्रैह्मन ऑफ़ हाइ इन्टेलेक्चुअल गिफ़्ट, क्रिएटेड दि ग्रेट बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी।

इसका उलथा एक भलेमानुसने इस प्रकार किया है—

पण्डित मदन मोहन मालवीय, जो अत्यन्त उच्च बौद्धिक शक्ति-समन्वित ब्राह्मण थे, ने बनारस हिन्दू युनिवर्सिटीकी रचना की।

वाक्यकी यह बनावट चिल्ला-चिल्लाकर कह रही है कि मैं हिन्दीका नहीं हूँ। हिन्दीमें इसे लिखना होता तो यही वाक्य यों लिखा जाता—

अत्यन्त बुद्धि-वैभवशाली ब्राह्मण पण्डित मदन मोहन मालवीयजीने काशी-हिन्दू विश्वविद्यालयका निर्माण किया।

तात्पर्य यह है कि जब दो भाषाओंका पारस्परिक सम्पर्क होता है उस समय जिसका प्रभाव अधिक होता है उसकी वाक्य-निर्माणशैली भी दूसरी भाषा ग्रहण कर लेती है। इससे उसकी वाक्य-निर्माण-शैलीमें परिवर्त्तन हो जाता है।

मानव-जातियोंका पारस्परिक सम्पर्क

जब विभिन्न आचार-विचार और जलवायुमें पली हुई जातियाँ परस्पर मिलती हैं तब भी इसी प्रकारसे वाक्योंके निर्माणमें अन्तर हो जाता है और वे परस्पर एक दूसरीसे बहुत कुछ लेती-देती रहती हैं। ऊपर (§ १४५) पिडगिन अँगरेज़ीके कुछ शब्द दिए जा चुके हैं। पोलीनेशिया (समवा, तहिती आदि) में चन्दनी अँगरेज़ी (बेचे ला मेयर या सेंडल-वुड इङ्गलिश) नामकी एक बोली बोली जाती है जहाँ अँगरेज़ीकी क्रियाओंमें अम् लगा दिया जाता है, जैसे—'ईट' (खाना) का 'ईटम्', 'कौल' (बुलाना का 'कौलम्' 'कैच' (पकड़ना) का 'कैचम्' बन जाता है। यदि वहाँ कहना हो कि 'मेरे पेटमें पीडा है', तो कहेंगे—

'बैली बिलौंगम् मी वौकम् अबाउट टू मच ।'

'पेट मेरा टहलता है इधर-उधर बहुत अधिक।'

इस प्रकार विभिन्न भाषा और संस्कारवाली दो जातियोंके परस्पर मिलनेपर वाक्योंके निर्माणमें इन्हीं तीन प्रकारोंसे परिवर्त्तन होता है।

विभक्ति-लोप

वाक्यमें आए हुए शब्दोंमें पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट करनेके लिये जो सम्बन्धक-योग अर्थात् विभक्ति, प्रत्यय आदि जोड़े जाते हैं वे जब धीरे-धीरे घिस जाते या लुप्त हो जाते हैं उस समय वाक्यके शब्दोंका पारस्परिक सम्बन्ध ठीक-ठीक समझनेमें बड़ी उलझन उत्पन्न हो जाती है। उसे स्पष्ट करनेके लिये कुछ ऐसे नये शब्द जोड़ने पड़ते हैं जिनसे उनका पारस्परिक सम्बन्ध भली भाँति स्पष्ट हो सके। इस प्रकार परस्पर सम्बन्ध समझानेवाले शब्दोंके जोड़नेसे भाषाएँ विकीर्ण हो जाती हैं अर्थात् बिखर जाती हैं और वाक्यके सब शब्द अलग-अलग हो जाते हैं। संस्कृतमें जब हम कहते हैं—

अयं मोहनप्रासादः ।

इसे हिन्दीमें कहेंगे—

यह मोहनका प्रासाद है।

यदि इसे संस्कृतमें तोड़कर रखना होगा तो कहेंगे—

अयं मोहनस्य प्रासादः वर्तते ।

संस्कृतमें तो 'वर्तते, अस्ति' या 'विद्यते' के बिना भी काम चल सकता है किन्तु हिन्दीमें 'है' के बिना वाक्य पूरा नहीं समझा जाता। संस्कृतके सम्बन्ध-कारक एक वचनका 'ङस्' विभक्ति-प्रत्यय (स्य) जो न जाने कब तद्भव-की प्रकृतिमेंसे किस प्रकार घिसकर निकल गया यह ज्ञात नहीं है पर वह सिन्धी भाषाके 'मोहनजो दड़ो' शब्दके 'जो' अक्षरमें अब भी विकृत होकर जुड़ा हुआ मिलता है किन्तु अन्य भाषाओंमें उसका पूर्ण लोप हो जानेके कारण मोहन और भवनका सम्बन्ध समझानेके लिये हिन्दीमें 'का', पञ्जाबीमें 'दा', राजस्थानीमें 'रा', गुजरातीमें 'नो', मराठीमें 'चा', बँगलामें 'एर' लगाना पड़ा। अतः, जब मूल भाषाकी विभक्ति घिस जाती है तब वाक्यमें आए हुए शब्दोंका पारस्परिक अर्थ स्पष्ट करनेके लिये नये विभक्ति-प्रत्यय अलग जोड़ लेने पड़ते हैं और उनके इस अलगपनको बनाए रखनेके लिये भ्रमवश

बहुतसे लोग इन विभक्ति-प्रत्ययोंको शब्दोंसे अलग लिखने लगते हैं, जो पूर्णतः अशुद्ध प्रवृत्ति है, जैसे—

राम के घोड़े ने अस्तबल से निकलते ही दीवार परसे छलाँग मारी।

इस वाक्यको विभक्ति मिलाकर इस प्रकार लिखना चाहिए—

रामके घोड़ेने अस्तबलसे निकलते ही दीवारपर छलाँगसे मारी।

बलाघात

इच्छित अर्थके अनुसार कुछ शब्दोंपर बल देकर जब कोई वक्ता अपने श्रोतापर विशेष प्रभाव डालना चाहता है तब भी वह वाक्यमें आए हुए शब्दोंका क्रम बदल देता है। नीचे दिए हुए वाक्योंको पढ़नेसे स्पष्ट हो जायगा कि वक्ताने उद्देश्य और विधेय या कर्ता, कर्म और क्रियाका जो क्रम बदला है उसका क्या अभिप्राय है और इन वाक्योंके साथ जो इनके वास्तविक क्रम दिए हुए हैं उनसे निर्दिष्ट प्रभाव क्यों नहीं उत्पन्न होता।

१. आप ले जायँगे पुस्तक ?
   क्या आप पुस्तक ले जायँगे ?

२. पत्नीके प्राणोंके साथ ही उड़ गया उसका भाग्य।
   पत्नीके प्राणोंके साथ ही उसका भाग्य उड़ गया।
   उसका भाग्य पत्नीके प्राणोंके साथ ही उड़ गया।

३. नौकर हूँ तेरे बापका ?
   क्या तेरे बापका नौकर हूँ ?

४. औषधि बनेगी कैसे ?
   औषधि कैसे बनेगी ?

५. पटक दूँगा उठाकर तुझे।
   मैं तुझे उठाकर पटक दूँगा।

६. यह है मेरा घोड़ा।
   मेरा घोड़ा यह है।
   यह मेरा घोड़ा है।
   मेरा यह घोड़ा है

७. देखा मैंने वह चित्र, जिसकी रेखाओंमें झलक रहा था प्यारा रूप मेरे तब प्रियका।

व्यक्तिगत शैली

कुछ विशिष्ट लेखक और वक्ता अपनी-अपनी शैलीके अनुसार वाक्य-निर्माण करते हैं। कोई तो वाक्यमें सुन्दर, ललित, श्रुतिमधुर शब्द जोड़कर लिखते या बोलते हैं, कोई वक्ता या लेखक कोई बात सीधे लिखने या कहनेके बदले उसे बहुत घुमा-फिराकर लिखते-कहते हैं। कोई लेखक या वक्ता अपने कथनको अन्य लेखकों या कवियोंकी उक्तियोंसे पुष्ट करते हुए लिखते-बोलते हैं। कोई-कोई अन्योक्ति या व्यञ्जनाके सहारे लिखते-बोलते हैं। कोई हास्य, व्यंग्य, विनोदका पुट देते हुए वाक्य-निर्माण करते हैं। कोई इतने संक्षेपमें कोई ऐसी गम्भीर बात लिखता या कह देता है कि उसमेंसे कोई बहुत बड़ा अर्थ निकल आता है। कोई ऐसे संगत तथा उत्तर-प्रत्युत्तरके साथ वाक्य लिखता या बोलता है कि सुननेवाला उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। कोई इस प्रकार लिखता-बोलता है जैसे श्रोताओं या छात्रोंको कोई बात तर्कके साथ समझा रहा हो। लिखने-बोलनेके ये बहुतसे प्रकार या तो बहुत पढ़े-लिखे शिष्ट लोगोंमें मिलते हैं अथवा लेखककी प्रकृति ही ऐसी हो जाती है कि वह सदा उसी प्रकारकी शैलीमें लिखने और बोलने लगता है। बहुत कम लेखकों या वक्ताओंको भाषा-शैलीपर ऐसा निर्बाध और अखंड अधिकार होता है कि वे अनेक प्रकारकी शैलियोंमें अवसरके अनुकूल लिख और बोल सकें। जो लेखक या वक्ता किसी विशेष शैलीको अपना-लेते हैं उनकी भाषा-शैलीको पढ़कर ही ज्ञात हो जाता है कि इसका लेखक कौन है।

श्रोताकी बुद्धिके अनुसार भाषा

श्रोताकी बुद्धि, विवेक, अवस्था और अवसरके अनुसार वक्ताकी भाषा स्वतः अपना रूप ग्रहण करती चलती है। यदि श्रोता व्युत्पन्न और विद्वान् हुआ तो वक्ताके वाक्य स्वयं सुसंस्कृत और उदात्त हो जायँगे। जब किसी सज्जनके मित्र उन्हें कोई इच्छित वस्तु समयपर लाकर दे देते हैं तो वे कहते हैं—

धन्यवाद है; आपने बड़ा कष्ट किया।

किन्तु यदि उनका कोई छात्र या सेवक वही वस्तु लाकर दे तो वे कहेंगे—

अच्छा ले आए ? रख दो।

ये दोनों वाक्य एक ही कार्यके लिये प्रयुक्त हुए हैं किन्तु श्रोता या सम्बोध्यमें भेद हो जानेके कारण वाक्यकी निर्माण-शैलीमें अन्तर आ गया है।

पाण्डित्य छाँटनेके कारण

कुछ ऐसे व्युत्पन्न विद्वान् भी होते हैं जो जान-बूझकर किसी वाक्य या कथनको अत्यन्त जटिल, दुरूह, गूढ और कष्टबोध्य बना देते हैं।

'चलिए भोजन कर लीजिए,' वाक्य अत्यन्त सरल रूपसे व्यापक प्रयोगमें आता है किन्तु इसके बदले कोई निम्नांकित रूपसे वाक्य कहे तो कितना हास्यास्पद होगा—

कुशल पाचकके सम्पूर्ण पाक-शास्त्र-कौशलका उत्कृष्टतम प्रसाद अगणित व्यंजन-समन्वित होकर श्रीमान्के मुखारविन्दके अन्तर्गत प्रतिष्ठित रसनाके भोगका विषय बनने तथा श्रीमान्के आमाशयका मंगलमय सान्निध्य प्राप्त करके श्रीमान्के अन्नमय कोषकी पुष्टिके लिये समुत्सुक है।

कभी-कभी भाषापर पूर्ण अधिकार न होनेके कारण भी वाक्यके निर्माणमें विकृति आती है, जैसे—एक कथा-व्यास रावणका वर्णन करते हुए कह रहे थे—

विश्रवा और केशिनीका पुत्र रावण, जो है सो, सहस्रों वर्षों तक ब्रह्मासे वर प्राप्त करनेके निमित्त, जो है सो, तपस्या-निरत हो प्रयत्नवान् होता भया।

कभी-कभी पाण्डित्य न होते हुए भी पाण्डित्य छाँटनेका उपक्रम करनेवाले लोग वाक्योंका रूप विकृत कर देते हैं। जैसे—

चात्रों (छात्रों) का समूह गुरू (गुरु) जीकी अतिकृष्ट (उत्कृष्ट) वाणी श्रवणकर गद्गदायमान होता भया।

उपर्यंकित विवरणसे स्पष्ट है कि किसी भाषाके व्याकरणके नियमसे वाक्यका निर्माण न करके लोग अनेक प्रकारसे और अनेक कारणोंसे वाक्यके रूपमें परिवर्तन कर देते हैं। संसारमें इतनी भाषाएँ और उनकी रचना-प्रकृति भी इतने प्रकारकी है कि उन सबके विकारों, परिवर्तन-प्रकारों और शैलियोंका परीक्षण और विवेचन करना यहाँ सम्भव नहीं है।

स्थिर और अस्थिर वाक्य

§ १५५. वाक्य दो प्रकारके होते हैं—स्थिर और अस्थिर।

संसार-भरकी भाषाओंका परीक्षण करनेपर ज्ञात होता है कि सभी भाषाओंमें दो प्रकारके वाक्य मिलते हैं—एक स्थिर और दूसरे अस्थिर।

स्थिर वाक्य वे होते हैं जो निरन्तर प्रयोगमें आते-आते अपना रूप अर्थात् अपने भीतर प्रयुक्त होनेवाले कर्ता, कर्म, क्रिया आदिका क्रम निश्चित कर लेते हैं और उसी रूपमें चल निकलते हैं। रूढोक्तियाँ (मुहावरे) और लोकोक्तियाँ (कहावतें) इसी श्रेणीमें आती है। रूढोक्तियाँ और लोकोक्तियाँ भी दो प्रकारकी होती हैं—शब्दरूढ और भावरूढ।

शब्द-रूढमें तो शब्द इस क्रमसे बँधे रहते हैं कि उनमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता जैसे—

'उसकी छातीपर साँप लोटने लगे'के बदले हम यह नहीं कह सकते कि—'उसके वक्षःस्थलपर सर्प लुण्ठित होने लगे।' इसी प्रकार 'आँख मारना' के बदले हम 'अक्षिताडन'का प्रयोग नहीं कर सकते क्योंकि ये सब मुहावरे ठेठ शब्दोंमें बँधे हुए हैं जिनमें हम किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं कर सकते।

भाव-रूढ वाक्य ऐसे सधे हुए वाक्य होते हैं कि उनकी रचना तो नहीं बदली जा सकती किन्तु उनमें आए हुए शब्दोंका रूप अवश्य बदला जा सकता है, जैसे—'ज़मीन-आसमानका फ़र्क़ है'के बदले हम कह सकते हैं—'आकाश-पातालका अन्तर है।'

अस्थिर वाक्य प्रायः भाव-गतिक होते हैं जो वक्ता, श्रोता या सम्बोध्य और अवसरके अनुसार अनेक रूपोंमें ढल जाते हैं। ये अस्थिर वाक्य वक्ताकी इच्छा, योग्यता, प्रकृति और शैलीके अनुसार अथवा श्रोताकी प्रकृति, योग्यता एवं पदके अनुसार बदल जाते हैं। यह परिवर्तन शब्दोंके चयनमें भी होता है और रचना-प्रकृतिमें भी। कभी-कभी बोलचालकी भाषाका प्रभाव भी वहाँके शिष्टजनकी भाषा-प्रकृतिपर पड़कर विकार उत्पन्न कर देता है, जैसे उत्तर प्रदेशके पूर्वी अंचलमें—'रामने दशरथसे कहा' न कहकर 'राम दशरथसे कहे' ही बोलते हैं। इस प्रकार अस्थिर वाक्योंमें अनेक कारणोंसे अनेक परिवर्तन होते रहते हैं।

वाक्य-रूप या वाक्य-विन्यास

किसी भी भाषाके वाक्य-निर्माणमें चाहे जितने भी परिवर्तन क्यों न होते रहते हों, उनमें प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंका पारस्परिक सम्बन्ध व्यक्त करनेवाली विभक्ति, प्रत्यय या नवीन शब्द लगते हों या न लगते हों अथवा वे एकाक्षरी भाषाएँ ही क्यों न हों, सबमें शब्दोंके रूपों (कर्ता, कर्म, क्रिया आदि) का क्रम निश्चित होता है और यह क्रमयुक्त सजा हुआ शब्दसमूह ही वाक्य-रूप या वाक्य विन्यास (सिन्टेक्स ऑर्डर) कहलाता है, जिसमें कभी-कभी विशेष भाव या अवसरके अनुसार वक्ता कुछ परिवर्तन कर लिया करता है।

कर्तृ-कर्म-भाववाच्य

§ १५६. कथनकी शैलीके अनुसार वाक्य तीन प्रकारके होते हैं—कर्तृ-वाच्य, कर्मवाच्य तथा भाववाच्य। जहाँ कर्ताको प्रधान मानकर सीधे उसके द्वारा किया हुआ कार्य व्यक्त किया जाता है उसे कर्तृवाच्य कहते हैं, जैसे—

रामने रावणको मारा।

जहाँ कर्मको प्रधान बनाकर वाक्य बनाया जाता है उसे कर्मवाच्य कहते हैं। जैसे—

रामके द्वारा रावण मारा गया।

जहाँ केवल भाव ही प्रधान होता है, कर्ता या कर्म नहीं, वहाँ भाव-वाच्य होता है। जैसे—

बेचारा रावण व्यर्थ मारा जा रहा है।

मिश्र और अमिश्र वाक्य

§ १५७. संघटनाकी दृष्टिसे वाक्य दो प्रकारके होते हैं—मिश्र और अमिश्र। सभी भाषाओंकी वाक्य-रचना-पद्धतिका परीक्षण करनेपर ज्ञात होगा कि संघटनाकी दृष्टिसे वाक्य दो प्रकारके होते हैं—अमिश्र और मिश्र।

जिस वाक्यमें एक ही क्रिया होती है उसे सरल, एकाकी या अमिश्र कहते हैं। जैसे—

मैं पाठशाला जा रहा हूँ।

मिश्र वाक्य वह होता है जिसमें कई वाक्य मिले रहते हैं, जैसे—

मैं पाठशाला जा तो रहा हूँ, पर वहाँसे शीघ्र ही लौट आऊँगा क्योंकि मेरे घर आज मेरे छोटे भाईका अन्न-प्राशन संस्कार होनेवाला है जिसमें बाहरसे बहुतसे ऐसे लोग आनेवाले हैं जिनके स्वागत-सत्कारके लिये मेरा घरपर रहना आवश्यक है।

स्वीकृति, अस्वीकृति और प्रश्न-भावित वाक्य

§ १५८. किसी भी भाषामें जितने वाक्योंका प्रयोग होता है उनमें या तो कोई बात स्वीकार करके कही जाती है या उसे अस्वीकार किया जाता है या किसी बातके लिये जिज्ञासा की जाती है।

१. स्वीकृति-भावित वाक्य

स्वीकृति-भावित वाक्य निम्नांकित प्रकारके होते हैं—

१. यह अच्छा बालक है।

२. मेरी यही सम्मति है।

३. आप यही कीजिए।

४. पुस्तकमें ऐसा लिखा है।

५. उनका यह कथन है।

६. मेरा यह मत है।

२. अस्वीकृति-भावित वाक्य

अस्वीकृत-भावित वाक्यमें किसी भी विषय, भाव या कथनको अमान्य कर दिया जाता है और उसके लिये 'न, नहीं, मत' आदि अस्वीकृति-सूचक शब्दोंका प्रयोग किया जाता है, जैसे—

१. यह अच्छा बालक नहीं है।

२. मैं नहीं जानता।

३. मैं नहीं मानता।

४. न आप जाइए न मैं जाऊँ।

५. फूलोंको मत छेड़ना।

६. गाड़ी नहीं आवेगी।

कभी-कभी ये अस्वीकृत-सूचक वाक्य प्रश्न-भावित होकर भी आते हैं जो वास्तवमें अस्वीकृति-भावित न होकर जिज्ञासा-भावित होते हैं। जैसे—

तुम पढ़ने क्यों नहीं गए?

३. जिज्ञासाभावित वाक्य

जिज्ञासाभावित वाक्योंमें जिज्ञासा की जाती है, जैसे—

१. क्या यह अच्छा बालक है?

२. यह कैसा बालक है?

३. क्या यह बालक अच्छा नहीं है?

४. तुम आओगे कैसे ?

५. वह क्यों नहीं आया ?

६. वह आवेगा कब ?

७. किसने बुलाया था ?

८. किससे बात कर रहे हो ?

ऐसे प्रश्नभावित वाक्योंके प्रारम्भ बीच या अन्तमें 'क्या, क्यों, कैसे, कब, किसने, किससे' आदि प्रश्नबोधक शब्दोंका प्रयोग होता है। ये वाक्य नकार-युक्त और नकारहीन दोनों प्रकारके होते हैं। जैसे—

१. क्या आप सभामें नहीं जा रहे हैं ?

२. क्या आप सभामें जा रहे हैं ?

ये प्रश्नभावित वाक्य चार प्रकारके होते हैं—

१. जिसमें किसीसे यह पूछा जाता है कि वह कोई कार्य कर सकेगा या नहीं, जैसे—

क्या तुम काशी चल सकते हो ?

तुम मेरे साथ काशी चलोगे ?

तुम काशी चलोगे या नहीं ?

२. ऐसे वाक्य जिनमें कोई नई बात जाननेकी जिज्ञासा की जाती है। जैसे—

क. ईश्वर किसे कहते हैं ?

ख. वृक्ष कैसे उगते हैं ?

३. जिनमें प्रश्नके रूपमें प्रार्थना की जाती है। जैसे—

क्या आप कृपा करके बता सकेंगे कि उनका घर कहाँ है।

४. ऐसे वाक्य जिनमें प्रश्नके रूपमें आज्ञा दी जाती है, जैसे—

बताओ मेरी घड़ी कहाँ है ?

ऊपर जिन तीन प्रकारके वाक्योंका विवरण दिया गया है वे भी अनेक प्रकारके होते हैं—

१. संतुलित—वे पढ़ते भी हैं सोते भी हैं।

२. विकल्पात्मक—यदि वे आवेंगे तो मैं भी आऊँगा।

३. कार्यकारणात्मक—वह इतना दुर्बल है कि चल-फिर नहीं सकता।

४. तुलनात्मक—वह इतना चतुर नहीं है जितना तुम्हारा पुत्र।

५. विवेचनात्मक—जो अच्छे फल होते हैं वही मीठे होते हैं।

६. अनुबन्धात्मक—रामके यहाँ आते ही मैं चला जाऊँगा।
यदि वह इस कामको निपटा सके तो ठहर सकता है।
जबतक मैं न आऊँ तबतक यहाँसे मत जाना।

७. बलान्वित—वह धूर्त ही नहीं, नीच भी है।

८. विरोधाभासात्मक—यद्यपि वह धनी नहीं है फिर भी सुखी है।

९. आदेशात्मक—लोटा उठा लाओ।
सन्ध्यातक यह काम हो जाना चाहिए।

१०. निवेदनात्मक—कृपया जल दे दीजिए।

११. संशयात्मक—कहीं ऐसा न हो कि वह मार्ग भूल जाय (या भूल गया हो।)

१२. कामनात्मक—भगवान करे वह फले-फूले या उसका भला हो।

१३. आशीर्वादात्मक—तुम्हारा कल्याण हो।

१४. हर्षादेशात्मक—वर माँगो।

१५. निवेदनात्मक—मुझपर कृपा कीजिए, आप ही माई-बाप हैं।

१६. तर्जनात्मक—सामने आओ तो दाँत तोड़ दूँगा।

१७. वर्णनात्मक—ऐसे वाक्य वर्णनात्मक होते हैं जिनमें किसी व्यक्ति, वस्तु या स्थानका वर्णन किया गया हो। सब प्रकारकी कथाएँ, कहानियाँ, और वर्णन इसी प्रकारके वाक्योंमें लिखे जाते हैं किन्तु बीच-बीचमें अवसर या भावके अनुसार उपर्युक्त विभिन्न प्रकारके वाक्योंका भी प्रयोग होता चलता है।

१८. विवशतात्मक—न आप पढ़ते हैं न मुझे पढ़ने देते हैं।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक प्रकारके भावाश्रित वाक्य हो सकते हैं।

प्रश्नाभास

§ १५६. कुछ वाक्य प्रश्नभावित प्रतीत होते हुए भी वास्तवमें वैसे होते नहीं। कभी-कभी अच्छे प्रभावशाली वक्ता अथवा लेखक इस प्रकारके प्रश्न-भावित वाक्योंका प्रयोग करते हैं जो पढ़ने और सुननेमें तो प्रश्न-जैसे जान पड़ते हैं किन्तु वास्तवमें वे प्रश्न नहीं होते। ऐसे प्रश्नोंको भाषण-प्रश्न (रहटौरिकल क्वेश्चन्स) या प्रश्नाभास कहते हैं, जैसे—

क्या आपने गोस्वामीजीका रामचरितमानस पढ़ा है? क्या आपने राम और भरतके त्यागकी कथाएँ सुनी हैं? क्या आपने सुमित्राके तेज और सीताके पातिव्रत्य-का वर्णन सुना है? यदि नहीं, तो आप किस मुँहसे कहते हैं कि आप भारतवासी हैं?

शब्दवाक्य

कभी-कभी एक शब्द ही पूरे वाक्यके बदले प्रयुक्त होने लगता है। किसी भोजमें बैठा हुआ कोई व्यक्ति जब केवल 'पानी' पुकारता है तो उसका अर्थ होता है कि 'मुझे पानी चाहिए। आप मुझे पानी दीजिए।' बातचीतके प्रसंगमें प्रायः एक-शब्दात्मक वाक्योंका ही अधिक प्रयोग होता है।

महावाक्य

§ १६०. अनेक सरल (अमिश्र) तथा मिश्र वाक्योंके समूहको महावाक्य कहते हैं।

यद्यपि वार्तालापमें सामान्यतः लोग सरल या अमिश्र वाक्यका या एक-शब्दीय वाक्यका ही प्रयोग करते हैं और कभी-कभी सरल या मिश्र वाक्योंके समूहका अथवा केवल मिश्र वाक्योंके समूहका भी प्रयोग करते हैं किन्तु ग्रन्थ-लेखक और सार्वजनिक वक्तागण तो सरल और मिश्र वाक्योंके समूहोंका प्रयोग करके कथा, कहानी, उपन्यास, नाटक, काव्य, निबंध आदि बहुविध भाषा-रचनाओंकी सृष्टि करते हैं। इस प्रकार मनुष्यकी सम्पूर्ण मौखिक और लिखित अभिव्यक्तिका कूटस्थ रूप वाक्य ही है। भट्टोजि दीक्षित, कौण्ड भट्ट, नागेश, श्रीकृष्ण, मण्डन मिश्र, शंकराचार्य और भरत मिश्र आदि वैयाकरणोंने वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट, अखण्ड पदस्फोट, अखण्ड वाक्यस्फोट, वर्ण-जातिस्फोट, पदजातिस्फोट और वाक्य-जातिस्फोटमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण और मुख्य वाक्यस्फोटको ही माना है।

वाक्य ही भाषा

§ १६१. वाक्योंमें भावोंकी अभिव्यक्ति ही भाषा है।

संस्कृतके वैयाकरणोंका मत है कि पद या शब्दसे अर्थ नहीं निकलता, वाक्यसे ही अर्थ निकलता है। इसलिये वाक्य ही सत्य और कूटस्थ है। इन वाक्योंका अर्थ छह कारणोंसे व्यक्त होता है—प्रतिभा, संसर्ग, विशेषार्थक किन्तु निराकांक्ष पदार्थ, संश्लिष्ट अर्थ, क्रिया तथा प्रयोजन। तात्पर्य यह है कि मनुष्यका सम्पूर्ण वाग्व्यापार वाक्यमें ही होता है, पढ़े, सुने या लिखे हुए वाक्यसे ही अर्थ समझा जाता है इसलिये केवल वाक्यसे ही अर्थ निकलता है और वाक्यका प्रयोग या वाक्योंमें वाग्व्यापारको ही भाषा कहते हैं।

भाषा

पीछे (§ ५३) बताया जा चुका है कि सामाजिक सम्पर्कसे ही भाषा आती है। वह न तो शरीरके साथ रिक्थके रूपमें मिलती है और न स्वयं एकान्तमें प्रस्फुटित और विकसित होती है। जो बालक जहाँ, जैसी भाषा बोलनेवालोंके बीच रहेगा वहाँ वह उनकी उस भाषाको अपनालेगा। जो बालक द्विभाषी या बहुभाषी समाजमें रहते हैं वे नैसर्गिक रूपसे स्वयं बिना सिखाए विभिन्न भाषाएँ बोलने लगते हैं, भले ही उन्हें पढ़ या लिख न पाते हों। जिन बच्चोंके माता-पिता विभिन्न भाषाभाषी होते हैं उनके भी बच्चे विभिन्न भाषाएँ बोलने लगते हैं। अतः, यह नहीं समझना चाहिए कि कोई भाषा किसीको बपौती या मतौतीमें मिलती है। प्रथम और द्वितीय युद्धके पश्चात् बहुतसे दूध-पीते बच्चे अपने माता-पितासे बिछुड़कर विभिन्न देशोंमें पलनेके लिये बाध्य हुए। उनकी भाषा न मातृभाषा रह गई, न पितृ-भाषा और न स्वदेश-भाषा। वे जिस देशमें जाकर रहे वहींकी भाषा उनकी भाषा बन गई।

सम्पर्कसे भाषाका ज्ञान

§ १६२. भाषाका ज्ञान सम्पर्कसे होता है।

केवल बालक ही नहीं, प्रौढ मनुष्य भी जिस प्रदेशमें रहता, जीविका चलाता, व्यवसाय करता और अपने सम्पर्कमें आनेवाले लोगोंकी भाषा सुनता चलता है वह वहाँको भाषा बिना सिखाए सीखता चलता है। बम्बई-जैसे बहुभाषा-

भाषी नगरमें अधिकांश नागरिक हिन्दी, मराठी और गुजराती भली प्रकार समझते और बोलते हैं। अतः, किसी विशेष भाषाके बोलनेवालोंका संसर्ग प्राप्त करके कोई भी भाषा सीखी जा सकती है। मनुष्य तो माता-पितासे देह और आकार प्रकार ही पाता है किन्तु भाषा तो सामाजिक वातावरणसे ही प्राप्त होती है। चीनमें जन्म लेनेवाला बालक पुर्तगालियोंके साथ रहकर पुर्तगाली सीखता और बोलता है। दक्षिण भारतके अनेक छात्र उत्तर भारतमें आकर बहुत सुन्दर हिन्दी लिखने और बोलने लगते हैं। इसका एक परिणाम यह भी होता है कि जो जिसके सम्पर्कमें आते हैं उसको भाषाकी योग्यता जैसी और जितनी होती है वैसी और उतनी ही भाषा आ पाती है। यदि कोई व्यक्ति अत्यन्त व्युत्पन्न संस्कृतके पंडितोंका सम्पर्क प्राप्त करता रहे तो वह अपने वाग्व्यापारमें संस्कृतके तत्सम शब्दोंका व्यवहार अधिक करेगा। यदि कोई व्यक्ति किसी मौलानासे सम्पर्क रक्खेगा तो उसकी भाषामें स्वभावतः अरबी, फ़ारसीके शब्दोंका बाहुल्य रहेगा और यदि कोई अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोगोंसे अधिक सत्संग करेगा तो उसकी भाषामें अँगरेज़ी शब्दोंकी अधिकता रहेगी।

§ १६३. श्रोता या संबोध्यके भाषा-संस्कारके अनुरूप ही वक्ताकी भाषा अपना रूप ग्रहण करती है।

कोई भी पढ़ा-लिखा व्यक्ति जिस भाषा-संस्कारवाले व्यक्तिसे बात-चीत करता है उसकी भाषा उसी भाषा-संस्कारमें ढल जाती है। जब कोई पढ़ा-लिखा व्यक्ति किसी संस्कृतज्ञ पंडितसे बात-चीत करता है तब उसकी भाषा संस्कृत-निष्ठ होती है, जब किसी मौलवीसे बात-चीत करने लगता है तब अरबी-फ़ारसीनिष्ठ हो जाती है और अँगरेज़ी पढ़े-लिखेके साथ बात करते हुए अँगरेज़ी-निष्ठ हो जाती है। किन्तु जब वह अनपढ़ सेवकसे बात करता है तब संस्कृत, अरबी, फ़ारसी, अँगरेज़ी सबको निष्ठता छोड़कर वह सीधी-सादी चलती लोक-भाषामें या उसकी बोलीमें बात-चीत चलाता है। अतः, भाषा सदा श्रोता या सम्बोध्यकी भाषाके अनुरूप अपना रूप ग्रहण करती है।

अनुकरणसे भाषा-ज्ञान

§ १६४. भाषा अनुकरणसे आती है।

अपने घरमें लोग अपने बड़े-बूढ़ोंको जैसे चलते, फिरते, बोलते, हँसते देखते हैं, वैसे ही वे चलने, बोलने और हँसने लगते हैं।

मनुष्यकी अधिकांश शिक्षाका आधार अनुकरण ही है। भाषा भी इसी प्रकार अनुकरणसे सीखी जाती है। किसी समाजमें जिस प्रकार उस समाजके वरिष्ठ लोग विभिन्न अवसरोंपर या परस्पर सम्पर्कमें आनेपर जिस प्रकार-की भाषाका प्रयोग करते हैं उसी प्रकारकी भाषाका प्रयोग उस समाजके अन्य प्राणी भी करने लगते हैं।

लेखबद्ध और वाग्बद्ध भाषा

§ १६५. भाषा दो प्रकारकी होती है—१. लेखबद्ध और २. वाग्बद्ध।

यद्यपि 'भाषा' शब्दका अर्थ ही वह व्यापार या क्रिया है जो मुखसे की जाती है अर्थात् भाषाका प्रयोग मुखसे ही होता है तथापि किसी भाषाका वास्तविक, व्यवस्थित और शुद्ध रूप जानना हो तो वह उसके लिखे हुए स्वरूपको देखकर ही स्पष्ट होता है। बोल-चाल या वार्तालापमें तो अनेक प्रकारकी भाषा सम्बन्धी अशुद्धियाँ हो सकती हैं किन्तु लिखित भाषामें यह प्रमाद यथासम्भव कम होता है। एक ही भाषा बोलनेवाले लोगोंकी भाषा भी अपनी-अपनी स्थानीय भाषाके प्रभावके कारण और श्रोता या सम्बोध्यकी प्रकृतिके कारण इतनी अधिक परिवर्तनशील हो जाती है कि एक ही वक्ता विभिन्न श्रेणियोंके व्यक्तियोंसे विभिन्न प्रकारकी भाषाका प्रयोग करता है। किन्तु लिखित भाषा तो व्यापक रूपसे उस भाषाके सिद्ध या परिनिष्ठित रूपमें ही व्यवहृत होती है। इसलिये इसके स्वरूपमें शैलियोंका भेद भले ही हो किन्तु भाषाका रूप व्यवस्थित होता है।

स्थिर और अस्थिर भाषा

§ १६६. भाषा स्थिर भी होती है अस्थिर भी।

भा ा अनेक कारणोंसे अनेक परिस्थतियोंमें निरन्तर बदलती रहती है किन्तु कभी-कभी किसी भाषाका व्याकरण इतना प्रौढ और व्यवस्थित हो जाता है कि उस भाषाका प्रयोग करनेवाले लोग उस भाषा-व्याकरणके नियमोंका उल्लंघन करके उसकी सीमासे बाहर नहीं जा सकते। ऐसी भाषाएँ स्थिर हो जाती हैं और उनमें किसी प्रकारका परिवर्तन करना सम्भव नहीं होता। आजसे तीन सहस्र वर्ष पहले जैसी संस्कृत बोली और लिखी जाती थी वैसी ही संस्कृत आज भी लिखी या बोली जाती है क्योंकि संस्कृत वैयाकरणोंने उसका स्वरूप ऐसा स्थिर कर दिया है कि उसमें किसी प्रकारका

भी परिवर्तन सम्भव नहीं है। यही दशा 'ऐस्पेरेण्टो'की भी है। फ्रान्समें जिस 'ऐस्पेरेण्टो'का प्रयोग होता है वही चीनमें भी होता है। दोनोंमें किसी प्रकारका कोई भेद नहीं है। हाँ, इतना अन्तर अवश्य होता रहता है कि नवीन अवसरों, वस्तुओं और प्रयोगोंके लिये नये नाम अवश्य गढ़ लिए जाते हैं, जैसे—रेलगाड़ीके लिये 'बाष्पयान' शब्द। तात्पर्य यह है कि व्याकरणमें बहुत जकड़ जानेसे भाषाका रूप स्थिर हो जाता है।

जो भाषाएँ संसरण-शील बनी रहती हैं और जिनका व्याकरण बहुत जटिल और कठोर नहीं होता उनका रूप निरन्तर बदलता और निखरता रहता है और उनमें परिवर्तन होता रहता है। ऐसी भाषाएँ अस्थिर रूपवाली होती हैं। जहाँके लोग अन्य भाषा-भाषियोंके निरन्तर सम्पर्कमें आते रहते हैं उनकी भाषामें इस प्रकारके परिवर्तन निरन्तर होते रहते हैं, किन्तु जो आदिम जातियाँ किसी विशिष्ट भौगोलिक सीमामें बँधी पड़ी रहती हैं या पड़ी हुई हैं उनकी भाषा स्थिर ही होती है; अर्थात्, व्याकरणके कठोर नियमोंमें बँधकर चलनेवाली भाषाएँ या किसी भौगोलिक सीमामें ही व्यवहृत भाषाएँ या जंगलों-पहाड़ोंके संकुचित घेरोंमें रहनेवाली जातियोंकी भाषाएँ स्थिर हो जाती हैं किन्तु विभिन्न भाषाओंके सम्पर्कमें आनेवाली जातियोंकी भाषाएँ अस्थिर रहती हैं और उनमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्त्तन उस दशामें भी होता है जब उस भाषाका प्रयोग करनेवालोंपर अंकुश नहीं रहता और उन्हें किसी भी प्रकार बोलनेमें कोई रोक-टोक नहीं होती।

अस्थिर भाषाओंमें सरलता

§ १६७. अस्थिर भाषाओंमें सरलता लानेका प्रयत्न होता रहता है।

जो भाषाएँ व्याकरणके कठोर बन्धनसे मुक्त होती हैं और जिनमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है उनमें वक्ता या तो अज्ञानसे या शीघ्रतासे बोलनेके लिये सुविधा ढूँढता चलता है। देश-भेदसे अनेक तद्भव भाषाओंके विकासका यही मुख्य कारण है। ऋग्वेदके आदिसूक्तमें कहा गया है—

'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।

इस ऋचामें आए हुए 'अग्नि, पुरोहित, यज्ञ, रत्न' शब्द संस्कृतमें तो ज्योंके त्यों प्रयुक्त, व्यवहृत और उच्चरित होते हैं किन्तु हिन्दीमें आकर वे आग, आगि, अगिया, पन्होत, पुन्होत, प्रोहत, यग्य, जग्य, जग्यँ, याग और

जाग बन गए और रत्न भी रतन बन गया। एक 'कृष्ण' शब्द हिन्दी और उसकी सहयोगिनी भाषाओंमें 'कन्ह, कान्हा, कान्हरो, काँधा, कन्हैया, किशन, कनैया, किसन, किश्न, किस्न, कृस्न और कृशन' आदि न जाने कितने रूपोंमें व्यवहृत होता है। इसीलिये, अस्थिर भाषाओंकी एक यह भी विशेषता होती है कि वे धीरे-धीरे अपनी कठोरता, जटिलता और दुरुच्चरितताका त्याग करके सरल होती चलती हैं। किन्तु यह भी ध्यान देने-योग्य बात है कि जहाँ एक ओर जन-सामान्य किसी भाषाकी कठोरता और जटिलता छोड़कर उसे सरल बनानेका प्रयत्न करते हैं वहीं शिष्ट समाज अपने सम्पूर्ण वाग्व्यापारमें तत्सम शब्दोंका ही प्रयोग करनेमें प्रवृत्त होता है। जहाँ सामान्य व्यक्ति कहता है—

तड़का हो गया है। पूरबमें लाली छा गई है। चिड़िएँ चहचहाने लगी हैं।

—वहाँ हिन्दीके विद्वान् इसीको निम्नांकित प्रकारसे लिखें और बोलेंगे—

प्रातःकालका समय हो गया है। पूर्वमें अरुणकी लालिमा व्याप्त हो गई है। पक्षिगण कलरव करने लगे हैं।

किन्तु इस प्रकारकी भाषा स्वाभाविक नहीं कहलाई जा सकती। इसे तो केवल शिष्ट पण्डित-समाजकी विशिष्ट भाषा ही समझना चाहिए।

भाषाकी परिभाषा

§ १६८. मुखसे बोली जानेवाली उस निरुक्ता वाणी (सर्वमान्य नियमके अनुसार बने हुए वाक्योंके प्रयोग) को भाषा कहते हैं जिसे वक्ताके मुखसे सुनकर श्रोता उसका ठीक अर्थ समझ जाय।

सामान्यतः लोग यह मानते हैं कि जो कुछ मुखसे कहा जाय उसीको भाषा कहते हैं। किन्तु यह परिभाषा ठीक नहीं है। मनुष्य जब कभी भाषाका प्रयोग करता है तब वह निश्चित रूपसे दूसरेके लिये करता है। कभी-कभी लोग स्वतः पड़े-पड़े बर्राते हैं किन्तु वह भाषा नहीं होती। भाषाके लिये श्रोता, वक्ता और भाव—तीन पक्ष नितान्त अपेक्षित होते हैं। यदि वक्ताकी कही हुई बात निर्दिष्ट श्रोताकी समझमें न आवे तो उस सम्पूर्ण वाग्व्यापारको भाषाकी संज्ञा नहीं दी जा सकती। यदि कोई काशीके किसी पण्डितको जर्मन भाषामें 'फ़ीलेन् डांके', जापानीमें 'आरिगातो' चीनोमें 'हि्ज़ए-हि्ज़ए' कहे तो वे समझेंगे कि आप परिहास कर रहे हैं या मूर्ख बना रहे हैं क्योंकि उपर्यंकित शब्द क्रमशः जर्मन, जापानी और चीनी भाषाओंमें भले ही

सार्थक हों 'धन्यवाद' शब्दके पर्याय हों किन्तु यदि वे श्रोताकी समझमें नहीं आते व्यर्थ हैं और श्रोताके लिये वह भाषा नहीं है। अतः, किसीके मुँहसे जानेवाले केवल उसी वाक्य-समूहको भाषा कह सकते हैं जिसका अर्थ भाँति श्रोता समझ ले।

कभी-कभी तो किसी व्यवहारसे रोकनेके लिये 'हंः' या 'हुंः'-जैसे शब्दोंका प्रयोग क्षा या जाता है और श्रोता उसका अर्थ समझकर तदनुसार व्यवहार गया करता है। गाय बैल, घोड़ा, हाथी हाँकते हुए हुर्र-हुर्र, .क्ले-.क्लें सा गत् आदि जो ध्वनियाँ मुँहसे निकाली जाती हैं उसे वे जीव समझकर उ ौर आचरण भी करते हैं। किन्तु ये सब ध्वनियाँ अनिरुक्त होनेके तारए भाषा नहीं कहलाई जा सकतीं। अतः, मुखसे बोली जानेवाली उस का णीको ही भाषा कहते हैं जिसके भावको श्रोता समझ जाय।

भाषाके साथ अंग ष्टा

§ १६६. भाषाके साथ क-कभी आंगिक संकेतका भी प्रयोग आवश्यक होता है।

कुछ लोगोंका ह है कि भाषाके अविष्कारसे पूर्व मनुष्य आंगिक चेष्टाओंसे ही दूसरेको अपने मकी बात समझा दिया करता था। किन्तु यह सब अनि त कल्पना मात्र है। यह अवश्य माना जा सकता है कि भाषाके साथ-साथ लोग हाथ, पैर सिर भी चलाते-डुलाते रहे होंगे, जैसे आज भी किसीपर रुष्ट होते समय ग पैर पटकते, भौंहें तानते, नथने फुलाते और दाँत पीसते हैं, या 'नहीं' कहनेके साथ दाएँ-बाएँ सिर डुलाते और 'हाँ' कहनेके साथ नीचे ऊपर सिर हिलाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक मानसिक अभिव्यक्तिके साथ आंगिक या शारीरिक अभिव्यक्ति भी होती चलती है। कभी-कभी यह संकेत अनिवार्य होता है, यदि किसीको ध्रुव-तारा दिखाना हो तो उसके लिये हाथ उठाकर उँगलीसे संकेत करके ही बताया जा सकता है—'वह देखो, वह ध्रुव-तारा है।' यहाँ केवल भाषासे काम नहीं चलता, संकेतकी भी आवश्यकता पड़ती है।

इस संकेत-क्रिया या आंगिक चेष्टासे एक यह भी बड़ा लाभ हुआ कि इसीके सहारे लोगोंने दूसरोंकी भाषाएँ भी सीख लीं। भाषाके शिक्षक, विदेशी

भाषा सिखानेके लिये जिस सहज प्रणाली (डाइरेक्ट) का प्रयोग करते हैं उसमें इसी प्रकार दूसरी भाषाके शब्दों (संज्ञा, ण, क्रिया) के प्रयोग सिखाए जाते हैं।

भाषाके सात साधन

§ १७०. भाषाकी पूर्णताके लिये सात साधन अपे हैं।

भाषाके सम्बन्धमें जो ऊपर विवरण दिया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि भाषाकी पूर्णताके लिये निम्नांकित सात धन आवश्यक हैं—

१. वक्ता : बोलनेवाला मनुष्य।

२. वक्ताके मनका भाव : जो वह दूसरोंको , समझाना या व्यक्त करना चाहता हो।

३. मुख : जिसमेंसे कही जानेवाली बातकी ध्वनियाँ, शब्द और वाक्य ठीक-ठीक उच्चरित हो सकें।

४. शारीरिक अंग : आँख, सिर, हाथपैर आदि शरीरके वे अंग जिनके सहारे वक्ता अपनी वाणीके अर्थंको स्पकरता चल सके।

५. श्रोता : जिसे वक्ता अपने मनकी बा बताना चाहता हो।

६. श्रोताके कान : जिनसे वह ठीक-ठी सुन सके।

७. समझनेकी योग्यता या बुद्धि : जिसे श्रोता उस कही हुई बातका ठीक अर्थ समझ सके।

इस सम्पूर्ण वाग्व्यापारके लिये यह नतान्त आवश्यक है कि वक्ता और श्रोता दोनोंकी भाषा एक ही हो।

अस्थिर भाषामें परिवर्त्तन अनिवार्य

§ १७१. अस्थिर भाषाओंमें पविर्तन होता रहता है।

जैसे सेमका बीज बोनेपर उसमें अंकुर फूटता, कोंपलें निकलतीं, पत्तिएँ खिलतीं और लम्बी-लम्बी फुनगिय छोड़ती हुई सैकड़ों शाखाएँ फैल जातीं, गाँठ-गाँठपर फूलोंके गुच्छे झूलने लगते और फलियाँ लटकने लगती हैं, उसी प्रकार धीरे-धीरे भली प्रकार सींचे जाने, उसमें नवीनता उत्पन्न करते रहने, दूसरी भाषाओंके सम्पर्कसे उसमें परिवर्तन होने, नवीन भाषाओं और शैलियोंका आदान-प्रदान होने तथा कुशल लेखकों-द्वारा नवीन प्रवाह उत्पन्न करनेके कारण अस्थिर भाषाओंमें विकास होता चलता है। यह

विकास ही परिवर्तन-कहलाता है। इस परिवर्तनको कुछ लोग विकास और कुछ लोग विकार कहते हैं।

भाषामें परिवर्त्तनके कारण

§ १७२. अधिक व्यवहार, प्रयोग, बल, भावातिरेक, यत्नलाघव, मानसिक वृत्ति, अपूर्ण श्रवण, जलवायु, रहन-सहन, संस्था, महापुरुष, जातिसम्पर्क और उच्चारण-भेदके कारण भाषामें परिवर्तन होता रहता है।

बहुतसे विद्वानोंने अनेक प्रकारसे अनुमान लगाकर यह बतानेका प्रयत्न किया है कि भाषाओंमें परिवर्तन क्यों होते हैं। उनका कथन है कि ये परिवर्तन दो प्रकारके होते हैं—आभ्यन्तर और बाह्य।

आभ्यन्तर विकास या परिवर्तन

§ १७३. आभ्यन्तर-विकास छह कारणोंसे होता है—१. प्रयत्नलाघव, सौकर्य या मुख-सुख, २. प्रयोगातिशय, ३. बल या स्वराघात, ४. मानसिक संस्कार, ५. भावातिरेक तथा ६. अनुकरण या श्रवणकी अपूर्णता।

१. प्रयत्नलाघव, मुख-सुख या सौकर्य : आभ्यन्तर विकासका प्रथम कारण प्रयत्नलाघव माना जाता है। विद्वानोंका कथन है प्रत्येक मनुष्य यह चाहता है कि उसे कोई भी बात कहनेमें कमसे कम प्रयत्न करना पड़े और मनकी बात श्रोता समझ भी जाय। भारतीय वैयाकरणोंने तो डिंडिम घोष करके कहा है—

एकमात्रालाघवेऽपि पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः।

[एक मात्रा कम करके कोई बात कही जा सकनेपर वैयाकरणोंको ऐसी प्रसन्नता होती है, मानो उनके यहाँ पुत्र-जन्म हुआ हो।] रेखागणितमें एक 'गधेका प्रमेय' माना गया है जिसके अनुसार यह सिद्ध होता है कि 'किसी त्रिभुजकी दो भुजाएँ मिलकर निश्चित रूपसे तीसरी भुजासे बड़ी होती हैं'। इसे 'गधेका प्रमेय' इसलिये कहते हैं कि गधा (परम मूर्ख) भी यह बात भली भाँति जानता है कि चक्करदार बटियाको छोड़कर सीधी और छोटी बटिया ग्रहण करनी चाहिए। यही बात भाषामें भी होती है।

किन्तु यह कारण अनर्गल है। यदि ऐसा होता तो तमिळ, तेलुगु, जर्मन आदि भाषाओंमें अबतक कबका परिवर्तन हो गया होता और उनकी बहुत-सी

कर्कश और अतिप्रयत्नसाध्य उच्चरित होनेवाले वर्णोंका समूह निकल जाता। वास्तवमें प्रयत्नलाघव, मुख-सुख या सौकर्यसे केवल उन्हीं भाषाओंमें परिवर्तन सम्भव है जिनमें प्रत्येक व्यक्तिको उस भाषाका स्वेच्छापूर्वक प्रयोग करनेकी छूट मिली हो और जहाँ अधिकांश लोग अशिक्षित हों क्योंकि शिक्षित व्यक्ति मुख-सुखकी कभी चिन्ता नहीं करता, वह सदा शुद्ध उच्चारणका ध्यान रखता है। इसी प्रकार जिन भाषाओंके प्रयोक्ताओंको प्रारम्भसे ही शुद्ध उच्चारणकी शिक्षा मिली रहती है और जहाँ पढ़े-लिखे व्यक्तियोंकी संख्या अधिक होती है वहाँ मुख-सुखका प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति सुशिक्षित और सुपठित होता है। अतः, भाषाके परिवर्तनमें यह कारण वहीं प्रस्तुत होता है जहाँ अधिकांश लोग अशिक्षित हों।

२. प्रयोगातिशय : कुछ लोगोंका मत है कि जब किसी विशेष शब्द या शब्दसमूहका बहुत अधिक प्रयोग होने लगता है तब वह शब्द अतिशय प्रयोगके कारण परिवर्तित हो जाता है क्योंकि अत्यधिक प्रयोगके कारण और अनेक प्रकारके व्यक्तियों-द्वारा प्रयुक्त होनेके कारण उसके स्वरूपमें परिवर्तन होता रहता है। नीचे इस प्रकारके कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं जिनके अत्यधिक प्रयोगके कारण ही उनके रूपमें परिवर्तन हो गया है, जैसे--

मनुष्य	—	मानुस
दंडवत्	—	डंडौत
पाँवलागूँ	—	पालागन
सौगन्ध	—	सौंह, सौं, सूँ
परिक्रमा	—	परकरमा, परखंभा
यज्ञ	—	जग्य, याग, जाग
अग्नि	—	आगि, आग, अगिया
मास्टर साहब	—	मास्साब, माट्साब
प्रणाम	—	परणाम, पन्नाम
प्रतिपदा	—	पड़िवा, पड़वा
पूर्णिमा	—	पूनो, पुन्नो, पूनम
पहचान	—	पिछान

किन्तु ऐसे परिवर्तन भी वहीं होते हैं जहाँ प्रारम्भमें शुद्ध उच्चारणकी शिक्षा न दी जाती हो और जहाँ अशुद्ध बोलनेवालेको टोका न जाता हो।

३. स्वराघात : विद्वानोंका कथन है कि जब किसी शब्दका कोई अक्षर (विशेषतः दीर्घ) अधिक लम्बा करके या खींचकर बोला जाता है तो वह अपने आस-पासकी ह्रस्व ध्वनियोंको समाप्त कर देता है, जैसे—उत्तर-प्रदेशके पश्चिमी भागमें 'उतावला'का 'तावला' और 'उठा लाओ'का 'ठा लाओ' हो गया। इसी प्रकार 'मोहिउद्दीनपुर' का 'मोहद्दीपुर' बन गया। कभी-कभी शब्दके अन्तिम ह्रस्व अक्षरपर बल देकर उसे दीर्घ करके बोलते हैं, जैसे—'गुरु'को 'गुरू', 'कवि' को 'कवी' और 'जीजी' को 'जिज्जी' कहते हैं। किन्तु यह तर्क भी अमान्य है क्योंकि इस प्रकारके प्रयोग न तो शिष्ट-जन करते हैं, न करने देते हैं। केवल वे ही लोग इस प्रकारसे शब्दको दुरुच्चरित करते हैं जिनमें भाषाका संस्कार नहीं होता।

४. मानसिक संस्कार : कभी-कभी पढ़े-लिखे लोग और जातियाँ अपने मानसिक संस्कार तथा ज्ञान-संस्कारके कारण एक ही बातको अनेक प्रकारसे कहते हैं, जिससे भाषामें नवीनता, सुन्दरता, मधुरता, कोमलता और सुघरता आ जाती है। इससे भी भाषामें परिवर्तन हो जाता है। किन्तु यह परिवर्तन प्रायः व्यापक नहीं होता और न उससे व्यापक रूपसे भाषा प्रभावित होती है।

५. भावातिरेक : स्नेह, वात्सल्य, क्रोध, खीझ और आवेगमें भी कभी-कभी शब्दमें विकार आ जाता है, जैसे—बच्चोंको 'बचवा, लालन, लल्ला' आदि कहना, क्रोधमें 'राम' को 'रमुवा' कहना आदि। किन्तु ये परिवर्तन भी शिष्ट जनोंकी भाषामें नहीं होता। वे भावावेगकी दशामें भी अपना भाषा-संस्कार बनाए रखते हैं। कहीं-कहीं किसी भाषाकी प्रकृतिके कारण ऐसे परिवर्तन अवश्य हो जाते हैं, जैसे—बनारसी भाषामें 'कोट' का 'कोटवा', 'लोटा' का लोटवा' और 'लड़का' का 'लड़िकौना' हो जाता है। इसी प्रकार उत्तर-प्रदेशके पश्चिमी भागमें और हरियाणा प्रदेशमें 'हाँ' को 'हंबै' और 'है' को 'हैगा' कहते हैं।

६. अनुकरण या श्रवणकी अपूर्णता : कभी-कभी उचित भाषा-संस्कार न होने या शब्दज्ञान न होने अथवा ठीक-ठीक सुनकर भी समझ न सकनेपर उसका अशुद्ध उच्चारण करनेके कारण भाषामें परिवर्तन हो जाता है, जैसे—'क्लटरबकगंज' को लोग 'कलट्टरगंज', 'इजलास' को 'गिलास' और 'ऑनरेरी कचहरी' को 'अँधेरी कचहरी' कहते हैं।

प्रयत्न-लाघवके रूप

§ १७४. भाषामें प्रयत्न-लाघवकी प्रवृत्तियाँ दो प्रकारकी होती हैं—एक तो विद्वानों या शिष्टजनोंके द्वारा शब्दोंको संक्षिप्त करना और दूसरा जन-सामान्य-द्वारा शब्दको छोटा करना।

विद्वानों और मनीषियोंने बहुतसे शब्दोंका समास करके उन्हें स्वयं छोटा बनाकर स्वीकार कर लिया है, जैसे—'घोड़ा-सवार' को घुड़सवार', 'पानीकी बिजली' को 'पनबिजली', 'जगत्-प्रकाश' को 'प्रकाश', 'सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल' को 'हिन्दू स्कूल', 'पानीका घाट' को 'पनघट' और 'मोटरकार' को केवल 'कार' कहने लगे।

§ १७४. प्रयत्नलाघवके कारण छह प्रकारके परिवर्तन हुए हैं—१. परस्पर विनिमय; २. ध्वनिलोप; ३. समीकरण; ४. विषमीकरण; ५. स्वरभक्ति; ६. अग्रागम।

१. परस्पर विनिमय (मैटाथीसिस) : जिन शब्दोंमें 'स, र, ल' की आवृत्ति होती है उनमें इस प्रकारका परिवर्तन बहुत होता है, जैसे—'लखनऊ' का 'नखलऊ', 'हिंस' का 'सिंह', 'गदला' का 'दगला', 'पहुँचाना' का 'चहुँपाना', 'चाकू' का 'काचू', 'गजब' का 'गबज' और 'नहाना' का 'हनाना'।

कभी-कभी जब एक-सी ध्वनियाँ पास-पास आ जाती हैं तब भी इस प्रकारका परिवर्तन हो जाता है, जैसे—

'पक्की कुप्पी पके कूपपर पकी'

को पढ़ेंगे—

'पक्की पुक्की पके पूकपर पकी'।

२. ध्वनिलोप (सिनकोप) या अक्षर-लोप (हैप्लोलोजी : जब कभी दो समान ध्वनियाँ पास-पास आ जाती हैं तब भाषाके झटकेमें कोई ध्वनि या अक्षर स्वयं छूट जाता है, जैसे—बनारसी भाषामें 'सुन्दर' का 'सुन्नर'।

३. समीकरण (एसिमिलेशन) : जब दो अलग-अलग ध्वनियाँ एक साथ मिलकर आती हैं तब बोलते समय उनमेंसे एक रह जाती है। उनमेंसे कभी तो पहलेवाली ध्वनि रह जाती है (पुरोगामी होती है), जैसे—'पद्म'का (बँगलामें) 'पद्दो', 'चक्र'का 'चक्का', 'पक्व'का 'पक्का', 'सूत्र'का 'सूत',

'धन्य'का 'धन्न', 'पुण्य'का 'पुन्न'; और कभी केवल पीछेवाली ध्वनि रह जाती है (पश्चगामी होती है), जैसे—'कलक्टर' का 'कलट्टर', 'गल्प' का 'गप्प', 'सक्तु' का 'सत्तू'।

४. विषमीकरण (डिस्सिमिलेशन) : कभी-कभी किसी शब्दमें पास-पास समान दो ध्वनियोंको एक साथ बोलनेमें बाधा होती है तो उनमें कुछ परिवर्तन करके अनमिल अक्षर अलग कर लिए जाते हैं, जैसे—'प्रयोजन' का 'परोजन', 'मुकुट' का 'मउड' या 'मौर'।

५. स्वर-भक्ति (ऐनेप्टैक्सिस) : जब दो ध्वनियोंसे मिले हुए किसी अक्षरके उच्चारणमें बाधा पड़ती है तब उन दोनों मिली हुई ध्वनियोंके बीचमें एक स्वर डालकर उसकी बाधा दूर कर दी जाती है, जैसे—'रत्न' का 'रतन', 'कर्म' का 'करम', 'वर्ष' का 'बरस', 'पंक्ति' का 'पंगत'।

कभी-कभी ऐसी मिली हुई ध्वनियोंके बीच 'ह, न, र' व्यञ्जन भी आ जाते हैं, जैसे—'पौसरा' का 'पहोसरा', 'बड़ोदा' का 'बड़ोदरा', 'सच्चे' या 'सत्य' का 'साँच'।

६. अग्रागम (प्रोथीसिस) : जब दो ध्वनियोंसे मिला हुआ कोई अक्षर शब्दके प्रारम्भमें आ जाता है और उसे उच्चरित करनेमें असुविधा होती है तब शब्दसे पूर्व कोई स्वर लगा लिया जाता है, जैसे—'स्नान' का 'अस्नान', 'स्थान' का 'अस्थान', 'स्त्री' का 'इस्त्री', 'स्तुति' का 'अस्तुति', 'स्थिति' का 'इस्थिति' हो जाता है।

यों भी जहाँ बोलनेमें बाधा जान पड़ती है वहाँ स्वभावत: अनजाने ही लोग उसे अपनी भाषाके उच्चारणके अनुसार ढालते चलते हैं, जैसे—'लेन्टर्न'का 'लालटेन', 'बौक्स' का 'बकस', 'हौस्पिटल' का 'अस्पताल' बना लिया गया।

बाह्य विकास

§ १७६. बाह्य विकासके अन्तर्गत शरीर-भेद, देश-भेद, आचार-भेद, भूमि-जलवायुका प्रभाव, संस्थाका प्रभाव, किसी विद्वान् या महापुरुषका प्रभाव, जातियोंसे सम्पर्क और उच्चारण-विभिन्नताका समावेश किया जाता है।

१. शरीर-भेद : कुछ लोगोंका मत है कि प्रत्येक मनुष्यकी रचना भिन्न होनेसे उसके मुखकी रचना भी अलग-अलग होती है। इस भिन्नताके कारण भाषाएँ बदल जाती हैं। किन्तु यह मत भी मान्य नहीं है क्योंकि भाषाका अर्थ मुँहसे निकलनेवाली ध्वनिके भारीपन, पतलेपन और घरघरेपनसे नहीं

होता। भाषा तो ध्वनियोंके उस मेलको कहते हैं जिसके शब्द और वाक्यका क्रम उस भाषाके वैयाकरणों या प्रयोजकोंने स्थिर कर दिया हो और जिसका अर्थ उस भाषाका प्रयोग करनेवाले लोग भली-भाँति समझते हों। 'मैं जा रहा हूँ' वाक्यको चाहे कोई रोगी धीरे कहे या कोई पहलवान ऊँचे स्वरसे कहे, उसका अर्थ एक ही समझा जायगा। ऊँचे-नीचे बोलनेसे उसके अर्थमें कोई भेद नहीं पड़ता।

२. देश-भेद या भूमि-जलवायुका भेद : विभिन्न देशोंके जलवायुके प्रभावसे भी भाषाएँ बदलती हैं। किन्तु यह मत भी अमान्य है। कनाडा (अमरीका) में पाँच पीढ़ीसे रहनेवाले सिक्ख लोग अभीतक ठेठ पंजाबी बोलते हैं और वहाँके हब्शी ठाठसे अँगरेज़ी बोल रहे हैं। फ़िजी, मौरीशस, डच गायना और ब्रिटिश गायनामें रहनेवाले पूर्वी उत्तर-प्रदेश और बिहारसे जाकर बसे हुए लोग आज भी भली प्रकार भोजपुरी बोलते हैं। अतः, भूमि-प्रकृति तथा जलवायुसे भाषाका कोई सम्बन्ध नहीं है। किसी भी देशमें और किसी भी जलवायुमें कोई भी भाषा पनप सकती है।

यदि स्विट्सरलैंडमें हिन्दीकी पाठशाला खोल दी जाय और बचपनसे ही वहाँके बच्चोंको उसी प्रकार हिन्दी पढ़ाई जाय जैसे यहाँ सिखाई जाती है तो वहाँके बालक भी हमारे देशके बालकोंके समान ही हिन्दी बोल, लिख और पढ़ सकते हैं। जब इँगलिस्तानमें फ्रांसीसीका बोलबाला था, उस समय वहाँके लोग 'त, थ, द, ध' का उच्चारण करते थे पर अब 'ट, ट, ड, ढ' बोलने लगे हैं। इसी प्रकार लाल हिन्दियों (रेड इंडियनों) के देशमें योरपके लोग अँगरेज़ी, स्पेनी और पुर्तगाली बोल रहे हैं।

बहुतसे विद्वान मानते हैं कि उपजाऊ भूमिपर निवास करनेवालोंको अपनी भाषाका संस्कार और विकास करनेका जितना अवसर मिलता है उतना विषम भूमिके निवासियोंको नहीं मिल पाता। इसलिये उनकी भाषा भली प्रकार विकसित नहीं हो पाती। कुछ विद्वानोंका मत है कि जो जातियाँ अधिक समुन्नत हो गई हैं और सभ्यता तथा विद्यामें बहुत उन्नति कर चुकी हैं वे पिछड़ी हुई जातियोंपर अपना प्रभाव डालकर उनकी भाषाको प्रभावित कर डालती हैं, और यदि दो समुन्नत जातियोंका पारस्परिक सम्पर्क बढ़ता है तो उनमें परस्पर भाषा-सम्बन्धी आदान-प्रदान भी होने लगता है। किन्तु यह मत भी मान्य नहीं हैं। दो जातियोंके

पारस्परिक सम्बन्धसे शब्दोंका आदान-प्रदान तो होता है किन्तु भाषाके स्वरूपपर प्रभाव नहीं पड़ता। कभी कभी विजेता जातियोंका भाषा-संस्कार विजित जातियोंके भाषा-संस्कारपर अवश्य प्रभाव डालता है जैसे यवन-शासन-कालमें समस्त यवन-शासित प्रदेशमें सब लोग फ़ारसी पढ़ना और अपनी भाषामें फ़ारसी शब्दोंका प्रयोग करना आवश्यक समझते थे किन्तु सामान्य स्थितिमें दो जातियोंके सम्पर्कसे भाषापर कोई प्रभाव नहीं पड़ता जैसे भारतकी उत्तरी और दक्षिणी भाषाओंका एक दूसरेपर प्रभाव नहीं पड़ा।

३. विद्वानों-द्वारा नवीन भाषा : कभी-कभी किसी व्यक्तिने कोई नई भाषा गढ़नेके उद्देश्यसे भी भाषा चला दी, जैसे—ज़मेनाफ़ने 'एस्पेरेण्टो,' जर्मनीके श्लेयरने 'वोलाप्यूक', इतालियाके 'केयनो' ने 'इन्तरलिगुआ (लातिनो सिने.फ्लेक्सिओने), जेस्पर्सनने 'नोवियाल' और हौग्बेनने 'इन्तेरग्लौसा' भाषा चला दी। किन्तु इनमेंसे कोई भी भाषा व्यापक रूपसे ग्राह्य या मान्य नहीं हुई। कभी-कभी यह अवश्य हुआ कि कुछ लोगोंने कोई भाषा बिगाड़कर चला ली जैसे, कैन्टनमें पिडगिन अँगरेज़ी (चीनी अँगरेजी)। किन्तु यह भी कुछ थोड़ेसे लोगों-तक ही परिमित रही।

४. महापुरुषों-द्वारा भाषा-संस्कार : कभी-कभी कुछ महापुरुष नई भाषा चला देते हैं और उनके अनुयायी आँख मूँदकर उसे स्वीकार भी कर लेते हैं, जैसे—गौतम बुद्धने संस्कृत और मागधीको मिलाकर 'पालि' भाषा चला दी। भारतमें भी गाँधीजीने हिन्दी, उर्दू, फारसीको मिलाकर 'हिन्दुस्तानी' भाषा चलानेका उपक्रम किया था किन्तु न तो 'पालि' ही चल पाई और न तो 'हिन्दुस्तानी' ही क्योंकि किसी प्रकारके कृत्रिम प्रयाससे भाषाका संस्कार नहीं होता।

५. जातीय मानसिक भेद : जो जातियाँ अधिक ज्ञान-संस्कारसे समृद्ध होती हैं उनकी भाषामें नवीनता, सुन्दरता, श्रुति-मधुरता, प्रवाह और उक्ति-कौशल अधिक होता है। ज्ञान-संस्कारसे हीन जातियोंकी भाषामें प्राचीनता, उक्ति-दारिद्रय, श्रुतिकटुता, जटिलता, असुन्दरता और फूहड़पन होता है। किन्तु यह मत भी सर्वथा मान्य नहीं है। ज्ञान-संस्कारसे शब्द-भांडार बढ़ सकता है और शैलीमें नवीनता आ सकती है किन्तु भाषा नहीं बदली जा सकती। इससे भाषाका संस्कार होता है, उसमें चटक आती है पर वह बदलती नहीं।

अपरिवर्तनीय भाषाएँ

§ १७७. एकान्तवासी और सजग जातियोंकी भाषाएँ नहीं बदलतीं।

ऊपर (§ १७६/२) कहा गया है कि भाषाओंमें विकार, विस्तार, और परिवर्तन अन्य भाषा-भाषी जातियोंके सम्पर्कमें आनेपर ही होता है। टुण्ड्रामें रहनेवाले एस्कीमो या आस्ट्रेलियाकी वन्य जातियों अथवा बिहारके संथाल परगनेमें रहनेवाले संथालियोंके समान जो जातियाँ एक विशेष सीमामें परिबद्ध रहती हैं और जिनकी भाषाकी कोई अपनी या अन्य स्वीकृत लिपि नहीं होती, जिनमें लिखित रचना या साहित्य नहीं होता अथवा जो अन्य भाषा-भाषियोंके सम्पर्कमें नहीं आतीं उनकी भाषा ऐसी स्थिर हो जाती है कि वह आगे नहीं बढ़ पाती। इसी प्रकार जिस भाषाका प्रयोग करनेवाले लोग व्याकरण या शिक्षाके कठोर नियमोंमें बँधकर ही भाषाका प्रयोग करते हैं और तनिक-सी अशुद्धि होनेपर टोक दिए जाते हों वहाँ भी भाषामें परिवर्तन नहीं होता। ऐसी भाषाएँ न तो वन्य बनी रहतीं और न परिमित सीमामें बँधी रहनेके कारण अभद्र हो पाती हैं बरन् वे भली-प्रकार विकसित होती और उक्ति-वैचित्र्य तथा भावाभिव्यक्तिकी नई-नई शैलियोंसे परिपुष्ट होकर अपना अलङ्करण करती और शक्ति बढ़ाती चलती हैं किन्तु उनके रूपमें परिवर्तन नहीं होता।

भाषाका विकास

§ १७८. तत्सम, तद्भव, देशी, विदेशी तथा नये गढ़े हुए शब्दोंसे भाषाका बिकास होता है।

ऊपर बताया जा चुका है कि किसी भी भाषाके विकासको परिवर्तन नहीं कहते; अर्थात् यदि किसी भाषामें तत्सम, तद्भव, अपभ्रष्ट, देशी, विदेशी या नवीन शब्द अपनाए जायँ या गढ़कर मिलाए जायँ तो भाषाका विकास होता है, परिवर्तन नहीं। इसका तात्पर्य यह है किसी भी भाषाका विकास तब होता है जब उसमें निम्नांकित प्रकारसे शब्द-भाण्डार समृद्ध किया जाय—

क. अन्य भाषाके शब्दको ज्योंका त्यों तत्सम रूपमें ग्रहण कर लेना, जैसे—संस्कृतसे 'कृष्ण', अरबीसे 'तोता', फ़ारसीसे 'चश्मा', अँगरेज़ीसे 'राशन' शब्द हिन्दीमें ले लिए गए।

ख. तद्भव रूपमें शब्द ग्रहण करना, जैसे—'अँगूठा, घोड़ा, पीढ़ा।'

ग. किसी अपभ्रष्ट शब्दका प्रयोग करना, जैसे—'कन्हैया, खिड़की।'

घ. किसी अपभ्रष्ट नामको सुधारकर चलाना, जैसे—'सेगाँव' का 'सेवाग्राम'।

ङ. देशी शब्द ग्रहण करना, जैसे—'छाछ, मट्ठा, डेढ़ा।'

च. विदेशी शब्द अपनाना, जैसे—'कोट, टिकट, बटन।'

छ. नये शब्द गढ़ लेना, जैसे—'संविधान, आयोग, अधिशासी, अभियन्ता।'

शब्दशक्तिका प्रयोग

§ १७९. शब्द-शक्तिके संयोजनसे भी भाषा पुष्ट होती है।

शब्दशक्तिके संयोजनसे भाषामें नवीनता, सरसता और विचित्रता आनेसे भाषा पुष्ट होती है और उसका लालित्य तथा ओज भी बढ़ता है। यद्यपि शब्द-भाण्डारकी वृद्धिसे भी भाषामें वृद्धि होती है और उसका विकास भी होता है तथापि किसी भाषाका वास्तविक संवर्धन तभी होता है जब उस भाषाके रस-सिद्ध कवि अपनी वाणी, उक्ति और शैलीमें नया कौशल भरकर उसमें नया आकर्षण उत्पन्न कर देते हैं और शब्दोंके विचित्र प्रयोग और संयोगसे अर्थमें नवीन चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं अथवा एक ही बातको कहनेके अनेक ढंग निकाल लेते हैं। एक सरल वाक्य है—

बयार चल रही है।

इस एक वाक्यको निम्नांकित प्रकारोंसे अभिव्यक्त किया जा सकता है—

१. वृक्षोंकी शाखाओंपर पवन झूल रहा है।

२. पवन चारों ओर फूलोंकी सुगन्ध बाँटता फिर रहा है।

३. मलयका दूत सबको आनन्दका संदेश दे रहा है।

इस प्रकार एक ही वाक्य विभिन्न प्रकारसे लिखा या बोला जा सकता है और यही भाषाका सम्वर्द्धन है।

भाषा-परिवर्तनके कारण

§ १८०. विकास, विलास, ह्रास, नाश, विराम, विकार, मेल और संस्कारसे भाषामें परिवर्तन होता है।

१. विकास : संसार-भरकी भाषाओंका अध्ययन करनेपर प्रतीत होता है कि कुछ भाषाएँ ऐसी हैं जिनमें निरन्तर केलेके गाछके समान एकके पश्चात् दूसरा पत्ता निकलता चलता, पुराने पत्ते सूखते-मुरझाते चलते और नये पत्ते पहलेसे भी अधिक लम्बे और चौड़े निकलते चलते हैं। प्राकृत भाषाओंका विकास इसी प्रकार हुआ। व्याकरणबद्ध न होनेके कारण उनके विकासमें कोई बाधा नहीं पहुँची और इसीलिये देश-भेदसे उनके अनेक रूप हो चले।

२. विलास : संस्कृत-जैसी बहुत-सी भाषाएँ ऐसी भी हैं जो अपना रूप तो नहीं बदलतीं किन्तु अपना संस्कार, अलङ्करण और पोषण करके उसी प्रकार अपनेको पुष्ट, विस्तृत, विशाल और नित्य नवीन बनाए रहती हैं जैसे वट-वृक्ष अपनी नई-नई जटाएँ फैलाकर अपने नये रूपमें नित्य नवीनता, सरसता और विशालता बनाए रहता है।

३. ह्रास : जैसे हिमालयकी पथरीली चट्टानें टूटकर गंगाजीके प्रवाहमें पड़कर घिसती, रगड़ खाती, लुढकती-पुढ़कती गोल और चिकनी हो जाती हैं वैसे ही बहुत-सी भाषाएँ प्राकृत एवं अपभ्रंशोंके प्रवाहमें रगड़ खाकर अपना सरल रूप बना लेती हैं, जैसे, वर्तमान नागरी (हिन्दी) है जिसमें संस्कृतका 'कर्म' शब्द प्राकृतमें 'कम्म' होकर हिन्दीमें 'काम' या 'करम' हो गया अथवा संस्कृत शब्दोंके तीन वचनोंके बदले उसमें केवल दो ही वचन रह गए।

४. नाश : कुछ भाषाएँ जाड़ेके विलायती फूलोंके समान विकसित तो बड़े प्रभावके साथ होतीं हैं किन्तु अपने भाषियोंके साथ ऐसी समाप्त हो जाती हैं कि उनकी खोज करना भी कठिन हो जाता है, जैसे मिस्रकी प्राचीन भाषा।

५. विराम : कभी-कभी कोई भाषा किसी प्रसिद्ध महापुरुषके द्वारा चला तो दी जाती है किन्तु उसके पश्चात् वह भाषा ज्योंकी त्यों एक सीमामें बँधी पड़ी रहती है। यद्यपि उनके अनुयायी भी उस भाषाको चलाए रखनेका बड़ा प्रयास करते हैं फिर भी मरुभूमिमें खड़े हुए एकाकी खजूरके वृक्षके समान उसका कोई प्रयोजन नहीं होता। 'पालि' जैसी भाषाओंकी यही दशा हुई।

६. विकार : कभी-कभी अशिक्षित, अर्धशिक्षित अथवा ऐसे प्राकृत जनोंके हाथ पड़कर भी भाषामें विकार हो जाता है जो उसके व्याकरण और प्रयोगसे अनभिज्ञ होते हैं या उस भाषाके प्रयोगमें असावधान रहते हैं अथवा उसमें

अपनी व्यवहार-भाषाका पुट देते चलते हैं जैसे, कैन्टनवालोंकी पिडगिन अँगरेज़ी या जैसे पूर्वी उत्तर-प्रदेशके लोग हिन्दी बोलते हुए भी कहते हैं—

'तनी लोटवा उठा दीजिए।' (तनिक लोटा उठा दीजिए।)

'बिल्डिंगिया अभी नहीं बनी।' (बिल्डिंग अभी नहीं बनी है।)

हम उन्हें देखे रहे। (हमने उन्हें देखा था।)

हाथी जा रही है। (हाथी जा रहा है या हथिनी जा रही है।)

या बैसवाड़ी भाषा बोलनेवाले कहते हैं—

क्वाट लइ आओ। (कोट ले आओ)

ल्वाटा लइ आओ। (लोटा ले आओ)

७. मेल : कभी-कभी कई भाषाओंका मेल हो जानेसे अथवा विभिन्न भाषा-भाषियोंके सम्पर्कमें आनेसे भी भाषा अपना रूप बदल लेती है, जैसे उत्तर-प्रदेशका रहनेवाला व्यक्ति भी बम्बईमें जाकर इस प्रकार बोलने लगता है—

एकवी कूँ पगार मिलनेका है। (पहलीको वेतन मिलनेवाला है।)

खोलीका बाजूमें तुमेरा ओरत पड़ेला है। (कोठरीके पास तुम्हारी स्त्री पड़ी है।)

८. संस्कार : कभी-कभी पढ़े-लिखे विद्वान् लोग किसी असंस्कृत, अपभ्रष्ट या विकृत शब्दका संस्कार करके उसे शिष्ट-जनकी भाषाके आधारपर परिष्कृत कर देते हैं, जैसे 'डोमराँव' नामक गाँवके रहनेवाले एक कविने अपने गाँवका नाम 'द्रुमग्राम' रख लिया या 'सेगाँव' का नाम बदलकर उसका नाम 'सेवाग्राम' रख दिया गया।

कभी-कभी ये विद्वान् वाक्यमें प्रयुक्त उन शब्दोंको भी बदल देते हैं जो अप्रिय या असंस्कृत होते हैं और उनके बदले प्रिय नाम रख लेते हैं, जैसे—'विलसनगंज' को बदलकर 'मालवीयगंज' बना लिया गया, 'चिरकुटराम' का नाम 'चिरञ्जीवलाल' रख दिया गया या 'लखनऊ' को 'लक्ष्मणपुर' कहने लगे।

ध्वनि, शब्द, वाक्य और अर्थमें

§ १८१. ध्वनि, शब्द, वाक्य और अर्थ सभीमें परिवर्तन हो जाता है।

ऊपरके विवरणसे स्पष्ट हो जाता है कि भाषाओंकी ध्वनियों, उनके शब्दों, वाक्योंकी निर्माण-पद्धतियों और अर्थोंमें भी परिवर्तन हो जाता है। यह विचित्र बात है कि एक ही देशमें एक ही संस्कार, आचार-विचार

और रीति-नीतिवाले लोग भी अनेक प्रकारकी भाषाएँ बोलते हैं। उत्तर-भारतमें ही पंजाबी, राजस्थानी, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मगही, मैथिली, बँगला, असमिया और पहाड़ी बोलियाँ अनेक प्रकारके स्वर-लयोंके साथ बोली जाती हैं। दक्षिण-भारत में भी तमिळ, तेलगु, कन्नड़, तुलु, मलयाळम्, मराठी, कोंकणी, गुजराती और कच्छी भाषाएँ बोली जाती हैं। योरपमें भी एक कैस्पियन सागरके चारों ओर ही 'उक्रानी (रूसी), काकेशी, आर्मीनी, तुर्की, बलगीरी और रूमानिया' भाषाएँ बोली जाती हैं। स्पेनके पूर्वी समुद्र-तटपर 'कतलान', पश्चिमी समुद्रतटपर 'पुर्तगाली' और 'गलिकन' तथा पूर्वोत्तर कोणपर फ्रान्स और स्पेनके संधि-स्थलपर 'बास्क' भाषा बोली जाती है। जिब्राल्टरके जल-डमरूमध्यके उत्तरमें 'स्पेनी' और दक्षिणमें 'अरबी' और 'बेरबेर' भाषाएँ बोली जाती हैं। इस प्रकार एक ही देशमें एक प्रकारके जलवायुमें पास-पास रहनेवाली जातियाँ भी विभिन्न भाषाएँ बोलती हैं। उधर अफ्रीकाके धुर दक्षिणी प्रदेशमें 'बन्तू' भाषाका प्रयोग होता है, पश्चिमसे पूर्वतक 'सुदानी' और 'गिनियाई' भाषाएँ तथा उत्तरमें 'सैमिटिक-हैमिटिक' भाषाएँ बोली जाती हैं। अतः, यह विचारणीय बात है कि इतने बड़े अफ्रीका महाद्वीपमें गिनी-चुनी पाँच ही भाषाएँ क्यों बोली जाती हैं और योरप या भारतमें इतनी अधिक भाषाएँ क्यों बोली जाती हैं। कारण यही है कि अफ्रीका महाद्वीप अभीतक अन्ध महाद्वीप कहलाता रहा। घने जंगलों, भयानक हिंस्र पशुओं, दुर्लंघ्य पर्वतों, नदियों और घाटियोंके कारण अन्य देशोंसे उसका सम्पर्क नहीं हो पाया। किन्तु भारत और योरपमें अनेक मानव-समूह और जातियाँ निरन्तर आ-आकर बसती रहीं और उनकी भाषा अन्य भाषाओंका संस्कार पाकर अपना विकास करती रहीं। किन्तु इस भेदका एक और भी विशिष्ट भौगोलिक कारण है।

भाषाओंमें विभेदके कारण

§ १८२. नदी समुद्र, पर्वत और मरुभूमि बीचमें पड़नेसे विभिन्न भाषाओंके अलग-अलग समूह बन गए।

संसारके विभिन्न देशोंमें अभी सौ-दो सौ वर्ष पूर्वसे ही पारस्परिक सम्पर्क और यातायातका सम्बन्ध बढ़ा है। इससे पूर्व संसारके तीन मुख्य भू-भागोंमें पारस्परिक संघर्ष होता रहा। ये तीन मुख्य भू-भाग थे—१. योरप, मिस्र और पश्चिमी एशिया; २. भारत तथा पूर्वी द्वीप-समूह-तकका भाग, जिसके अन्तर्गत

ब्रह्मदेश, श्याम, कम्बोडिया आदि प्रदेश भी आ जाते हैं। इसका विवरण प्रारम्भमें (§ २२) दिया जा चुका है कि किस प्रकार इन तीन भू-भागोंमें अलग-अलग सभ्यता, संस्कृति और भाषाका प्रचार हुआ। जहाँ एक ओर राजनीतिक शक्ति-लोलुप लोग एक दूसरेको पराजित करनेका प्रयास कर रहे थे और उस प्रयासमें जनाकीर्ण नगर और धनधान्य-संकुल प्रदेशोंको भूमिसात् करते जा रहे थे वहीं दूसरी ओर साहसी व्यापारी अपने प्राण हथेलीपर लेकर ऊँटों, घोड़ों, खच्चरों, रथों, गाड़ियों या नावोंसे जल और स्थल-मार्गके द्वारा समुद्री दस्युओं और बटमारोंसे लड़ते-भिड़ते चीन, भारत, अरब, मिस्र, रोम सबको एक किए हुए थे और एक देशका माल दूसरे देशमें लाते-पहुँचाते थे। किन्तु भारत-जैसे आध्यात्मिक देशने अन्य देशोंमें व्यापारके अतिरिक्त धर्म, आचार, दर्शन और चरित्रका ही प्रसार किया। यही कारण है कि भारतमें उत्पन्न होनेवाला बौद्ध धर्म सम्पूर्ण एशियामें व्याप्त हो गया, आयुर्वेद और ज्योतिषका ज्ञान अरब और योरपमें फैल गया। इसीलिये मनुने मनुस्मृतिके प्रारम्भमें कहा भी है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

[इस देशमें जन्म लेनेवाले ब्राह्मणोंने ही पृथ्वीकी सब मनुष्य-जातियोंको अपने चरित्रकी शिक्षा दी।] यों भी सामान्यतः मैदानोंकी घुमन्तू जातियों-को छोड़कर अन्य कोई मानव-जाति समुद्र, पहाड़, नदी और मरुभूमिको नहीं लाँघते थे। वे सब अपनी-अपनी सीमामें ही सन्तुष्ट रहते थे। अपने उसी परिमित क्षेत्रमें ही वे अपने भोजन-वस्त्र, आचार-विचार, विवाह आदिकी व्यवस्था सब कर लेते थे और कूप-मण्डूक बने हुए उसी सीमामें घिरे पड़े रहते थे। यही कारण है कि दूरतक फैले हुए मैदानोंवाले अफ्रीका-जैसे महाद्वीपमें एक भाषा है। किन्तु योरप और भारत-जैसे देशोंमें जहाँ बीच-बीचमें नद, नदी, समुद्र, पहाड़ आ जाते हैं वहाँ भाषाएँ भी बहुत हैं। वहाँ एक-एक विशेष मण्डल या भू-परिधिकी अपनी-अपनी अलग भाषा है चाहे वह परिधि छोटी हो या बड़ी।

भाषाओंकी भिन्न प्रकृति

§ १८३. सब भाषाओंकी प्रकृति भिन्न होती है।

भाषाओंका अध्ययन करनेवाले भाषाशास्त्री मानते हैं कि भाषाओंके कुछ गिने-चुने परिवार हैं, जैसे—हिन्द-योरोपीय, हैमिटी-सैमिटी, ऊराल-अल्ताई, चीन-

तिब्बती, द्राविड़ी, मलायवी-पौलीनेशियाई, सूदानी-गिनियाई, बन्तू, होतेनतोत-बुशमैनो, आस्ट्रेलियाई और पापुआ, अमरीकी-हिन्दियाई और एस्कीमो, मुण्डा-मोन्ख्मेर, बास्क, हाइपरबोरी, काकेशियाई और एनो।

यदि उपर्यङ्कित भाषाओंमेंसे केवल हिन्द-योरोपीय भाषापर ही विचार किया जाय तो बड़ी विचित्र बातें देखनेको मिलती है। इन हिन्द-योरोपीय भाषाओं-में 'माता, पिता, भ्राता' और 'गौ'-जैसे कुछ शब्द विकृत और अपभ्रष्ट रूपमें व्यापक मिल जाते हैं। इसी आधारपर भाषा-शास्त्रियोंने यह कल्पना कर ली कि ये सब भाषाएँ एक ही भाषा-परिवारकी हैं। वास्तवमें विभिन्न देशों और प्रदेशों अर्थात् भू-भागोंमें विभिन्न भाषाएँ या बोलियाँ स्वयं उस प्रदेश या भू-भागमें निवास करनेवाली मानव-जातिकी अपनी सृष्टि है जिनपर सांस्कृतिक अथवा राजनीतिक कारणसे किसी विशिष्ट सांस्कृतिक और अत्यधिक समुन्नत जातिका संस्कार पड़ा है। ज्योतिष, गणित और आयुर्वेद-जैसी भारतीय विद्याओंका अरब और योरपमें प्रचार पाना ही इस बातका सबसे अधिक पुष्ट प्रमाण है कि भारतने ही अपनी विद्या, संस्कृति और दर्शनसे समस्त पश्चिमी देशोंको प्रभावित किया था। बौद्ध धर्म और दर्शनका प्रचार समस्त एशियामें हुआ। इस प्रकार भारतने जो अपने चरित्र, दर्शन, ज्ञान और विज्ञानका प्रचार अन्य देशोंमें किया उसके कारण ही सम्पूर्ण योरपपर भारतका संस्कृतिक प्रभाव ऐसा पड़ा कि उन्होंने भारतीय संस्कृतिको आत्मसात् न करके भी अपनी-अपनी भाषाकी उच्चारण-प्रकृतिके अनुसार संस्कृतके अनेक शब्दोंको अपनालिया। जहाँ-जहाँ भारतके ऋषि-मुनि, साधक और प्रचारक गए वहाँ-वहाँ उन्होंने अपना चरित्र, आचार विचार सब कुछ सिखाने-का प्रयत्न किया और उस प्रयत्नमें वे अनेक पारिवारिक, व्यावसायिक और सामाजिक शब्द उन्हें दे आए। इसलिये यह मत अत्यन्त भ्रामक है कि आर्य लोग ही जहाँ-जहाँ जिस-जिस देशमें गए वहाँ-वहाँके जलवायुके अनुसार उनकी भाषाओंने रूप ग्रहण कर लिया और एक ही भाषासे मिलती-जुलती बहुत-सी भाषाएँ बन गई वरन् वास्तविक बात यह है कि नदी, पर्वत मरुभूमि अथवा समुद्रसे घिरे होनेके कारण एक भू-प्रदेशकी अपनी भाषा उत्पन्न हुई किन्तु उसे बलपूर्वक जीतनेवाले या उन्हें शिक्षा देनेवाले महापुरुषोंने शिक्षा देकर वहाँ ऐसा संस्कार प्रदान किया कि वहाँके लोगोंकी भाषामें भी सुधार हुआ, उनका शब्द-भाण्डार भी बढ़ा और कहीं-कहीं तो पूरी जातिकी भाषा ही उसी प्रकार बदल गई जैसे योरपवालोंने अमरीकाके हब्शियोंकी भाषा बदल

दी। अतः, विभिन्न भाषाओंमें जो बहुतसे परस्पर मिलते-जुलते शब्द सुनाई पड़ते हैं उन भाषाओंको एक भाषा-परिवारका माननेकी भूल न करके उन्हें किसी अन्य भाषा-द्वारा प्रभावित मात्र मानना चाहिए।

अभीतक भाषा-शास्त्री यह मानते हैं कि पामीरके पठार या मध्य-एशिया या मध्य योरपसे आर्य लोग बढ़कर इधर-उधर फैल गए और अपने साथ अपनी भाषा भी लेते गए। किन्तु यह मत नितान्त भ्रामक है। अभी ऊपर (§ १८१) बताया गया है कि कैस्पियन सागरके चारों ओर समान जलवायु होनेपर भी वहाँ कई भाषाएँ बोली जाती हैं क्योंकि उन भाषा-भाषियोंके क्षेत्रोंके बीच पहाड़ों और नदियोंने अन्तर डाल दिया है। उत्तर भारतमें ही अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। इनकी प्रकृतिको देखनेसे ज्ञात होगा कि ये सब भाषाएँ प्रकृतितः भिन्न हैं किन्तु संस्कृतके प्रभावके कारण समान-जातीय प्रतीत होती हैं। एक उदाहरण देकर उसे समझा जा सकता है। हिन्दीमें हम कहते हैं, 'रामका घोड़ा'। इसे उत्तर-भारतके विभिन्न प्रदेशोंमें इस प्रकार बोला जाता है—

सिन्ध	—	रामजो घोरो
पंजाब	—	रामदा घोड़ा
राजस्थान	—	रामरो घोरो
गुजरात	—	रामनो घोड़ो
ब्रज	—	रामकौ घोरौ
बैसवाडी	—	रामकै ध्वारा
भोजपुरी	—	रामकै (रामकऽ घोड़ा)
बँगला	—	रामेर अश्व
मराठी	—	रामचा घोड़ा

इसमें 'राम' और 'घोड़ा' शब्द तो व्यक्तिगत और जातिगत संज्ञाएँ हैं किन्तु इनका पारस्परिक सम्बन्ध बतलानेवाले सम्बन्धक योगों (विभक्तियों) मेंसे सिन्धीके 'जो' को छोड़कर शेष (दा, रो, नो, कौ, कै, एर, चा) सभी स्वतंत्र विभक्ति-प्रत्यय हैं जो विभिन्न प्रादेशिक भाषाओंको अपनी मूल प्रकृतिसे सम्बद्ध हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि सब भाषाएँ अपनी-अपनी भाषा-सीमामें अपनी प्रकृतिके अनुसार बोली जाती रहीं किन्तु संस्कृतके प्रभावसे उनमें अनेक शब्द संस्कृतके तत्सम या तद्भव रूपमें आ गए। कुछ भाषाओंने इन शब्दोंको अपनी प्रकृतिके अनुसार ही ढाल लिया, जैसे मराठीमें 'कुर्सी'का 'खुर्ची' और गुजरातमें 'घड़ी'के लिये 'घड़ियाल' शब्दका प्रयोग।

योरपकी कुछ बोलियोंमें 'विदा' के लिये शब्द देखिए—

स्वेडनी	—	आदजौ
हुलाँश (डच)	—	डाग्
अँगरेज़ी	—	गुडबाइ
जर्मन	—	वीडेर.जेह्न
फ्रान्सीसी	—	एद्यू
स्पेनी	—	होस्तो ला विस्ता
पुर्त्तगाली	—	एदेउ
इतालवी	—	अर्रिवेदेर्ची या चियाओ
बलगेरी	—	सुवोम् (शुभम्से मिलता जुलता है)

इससे स्पष्ट हो जाता है कि योरपकी जो भाषाएँ एक परिवारकी मानी जाती हैं उनमें भी अपने सगे-सम्बन्धियोंको विदा देनेके लिये अलग-अलग शब्दोंका प्रयोग होता है। ऊपर बताया जा चुका है कि उत्तर-प्रदेशके जो निवासी कई पीढ़ियोंसे फ़िजी, मौरीशस, डच गायना, ब्रिटिश गायना और नैपालमें जाकर बसे हैं वे आज अपनी भाषाका भी प्रयोग करते हैं और साथ ही वहाँकी भाषा भी बोलते हैं।

इस विवेचनसे यह निष्कर्ष निकला कि जलवायु और भू-प्रकृतिसे भाषा नहीं बदलती वरन् जब कोई विजेता जाति किसी दूसरी जातिको जीत लेती है तब उसपर अपनी भाषा लाद देती है अथवा अधिक सभ्य, सुसंस्कृत और समुन्नत जातियाँ अन्य जातियोंको प्रभावित करके उनकी भाषाका संस्कार कर देती हैं। कभी-कभी कुछ महापुरुष या विद्वान् भी कोई नई भाषा गढ़ लेते हैं किन्तु ऐसी नई भाषाएँ बहुत दिन नहीं टिकतीं। इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि थोड़े-बहुत शब्दोंकी समानताके कारण भाषाएँ एक परिवारकी नहीं मानी जा सकतीं। इतना तो विभिन्न जायियोंके सम्पर्क अथवा पारस्परिक भाषात्मक आदान-प्रदानसे हो जाता है।

भाषाके रूप

§ १८४. प्रत्येक व्यक्ति कई रूपोंवाली भाषा बोलता है।

ध्यानसे देखा जाय तो प्रत्येक व्यक्ति दिन-भरमें अगणित रूपोंवाली भाषाका व्यवहार करता है। कोई व्यक्ति काशीमें किसी विद्वान्से मिलता है तो कहता है—

१. आपने अत्यन्त कृपा की, मैं क्या सेवा करूँ।

इतनेमें वह अपने सेवकको पुकारेगा—

२. अरे भगेलुआ! तनी जा तऽ चार बीड़ा मघई लगवौले आवऽ। तनी लपकके जायऽ।

इसी बीच उसके कोई अँगरेज़ी पढ़े-लिखे मित्र आते हैं जिन्होंने उसे कुछ काम सौंपा था, तो वह कहेगा—

३. ट्यूसडेको बैंक-हौलीडे था इसलिये वैन्सडे को मैंने सब पेपर्स निकलवाकर ऐग्ज़ामिन करा लिए। उनपर मैंने एक नोट ड्राफ़्ट कराया है, उसपर आप सिग्नेचर कर दीजिएगा।

उनसे वह निपट भी न पाया था कि उसके मुंशीजी आ पहुँचे और वह उनसे कहने लगा—

४. जितने इज़ाफ़ा लगान हुए हैं उनका तमस्सुख-पट्टा कराकर फ़ौरन बन्दोबस्त कर दीजिए और जाकर वकील साहबसे भी सलाह-मशविरा कर लीजिए।

इतनेमें उसके बंगाली वैद्यजी आ पहुँचे और बोले—

५. हाम बोला था जे आप ओ दावाको फीन-फीन ओइ जाइगा लागाइए तो फुरती आरम होने शकेगा।

और उसने भी उन्हें समझाया—

आप जिस माफ़िक बोला ओइ माफ़िक हम बहुत बार लगाया पर वह अच्छा नहीं होने माँगता।

उन लोगोंके चले जानेपर उसकी धर्म-पत्नीजीने आकर समाचार दिया कि बालक भोजन नहीं कर रहा है और मुँह-फुलाए बैठा है, चलकर मना लीजिए। इसपर वे अपने पुत्र जीवनरामको पुकारकर कहते हैं—

६. करे जिवनवाँ! तैं भकोसबे कि नाहीं जायके। ढेर मुँह फुलइबे तऽ देब अइसन दू हाँथ कि मुहै घूम जाई।

इसी बीच उनका एक पुराना सेवक आ जाता है जो कलकत्ते जा रहा है और जो किसी-किसी प्रकार अटपट नागरी (खड़ी बोली) बोलनेका उपक्रम कर रहा है। उसे कलकत्तेके सम्बन्धमें वह इस प्रकार समझाने लगा—

७. कलकत्तामें टराम गाड़ी चलती है जो थोरे पैसामें सब स्टीट घुमा देई। जायके परतच्छ देख आओ।

इसी बीच किसीने आकर समाचार दिया कि आपके युवक पड़ोसीने कुछ झगड़ा किया है। इसपर वह रुष्ट होकर बोल उठता है—

८. जाकर उस गधेको समझा देना कि बहुत चीं-चपड़ न करे नहीं तो बड़े घरकी हवा खानी पड़ जायगी और चार दिनमें नानी याद आने लगेगी।

उपर्यङ्कित उदाहरणोंसे सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति संबोध्य या श्रोताकी प्रकृतिके अनुसार अपनी भाषाका रूप बदल देता है, प्रकृति नहीं।

भाषा, विभाषा और बोली

§ १८५. भाषाके तीन रूप माने गए हैं—भाषा, विभाषा और बोली।

जिन आचार्योंने भाषाओंकी प्रकृतिपर पुस्तकें लिखी हैं उनमेंसे कुछका मत है कि प्रत्येक भाषाके तीन रूप प्राप्त होते हैं—भाषा, विभाषा और बोली। यह वर्गीकरण बड़ा विचित्र है। क्योंकि 'बोली' तो 'भाषा' शब्दका अनुवाद है। यह कहना तो उसी प्रकार असंगत है जैसे यह कहना कि 'बादल' तीन प्रकारके होते हैं—'मेघ', 'जलधर' और 'बादल'। किन्तु तीनोंमें कोई अन्तर नहीं। अतः, यह कहना नितान्त असंगत है कि—१. पढ़े-लिखे लोगोंके वाग्व्यापारको भाषा; २. एक विशिष्ट प्रदेशमें ही बोली जानेवाली भाषाको विभाषा और ३. घरेलू बोलीको बोली कहते हैं।

इन लोगोंके मतानुसार एक-एक भाषा-परिवारमें कुछ अपने भाषाओंके क्षेत्र होते हैं। प्रत्येक भाषाकी परिधिमें बोली जानेवाली परस्पर मिलती-जुलती सजातीय बोलनेकी पद्धतिको 'विभाषा' कहते हैं। इन विभिन्न विभाषाओंको भी कुछ जनपदीय विभिन्नताएँ होती हैं, जिन्हें 'बोली' कहते हैं।

बोली

बोली उस बोल-चालकी पद्धतिको कहते हैं जो प्रत्येक व्यक्ति अपने घरमें बिना मिलावट, बनावट या सजावटके बोलता अथवा बिना किसी ढोंग या मिथ्या-प्रदर्शनके अपने साथियों, सम्बन्धियों, सेवकों या मेल-जोलके लोगोंसे बोलता है। इसे फ़्रान्सीसी भाषामें 'पतवा' (पेटवा नहीं) कहते हैं।[१]

---

१. 'पतवा' (Patois) शब्द फूहड़ (ग्राम्य तथा अश्लील) या किसी एक छोटेसे घेरे (प्रदेश) में बोली जानेवाली बोलीको कहते हैं। अँग्रेजी कोषमें इसका अर्थ 'वलगर ऐण्ड प्रोविंश्यल डायलेक्ट' दिया है, जैसे—'चलकर भोजन कर लीजिए' को मेरठकी ग्राम्य भाषामें कहेंगे 'चलकऽ हूर क्यूँ नी लेत्ता'। यही पतवा है। यह शब्द मूल फ़्रान्सीकी शब्द 'पात्रवा' (Patrois), लातिन (पात्रिऐंसिस) या पात्रिया (Patria) अर्थात् 'अपना देश' से बना है जिसका अर्थ है प्रादेशिक बोल-चालकी भाषा, जिसके सम्बन्धमें कहा गया है—आठ कोसमें बानी बदले।

विभाषा

'विभाषा'की परिधि 'बोली'की परिधिसे बड़ी मानी गई है। किसी देशके एक प्रदेशके अनेक अंचलोंकी जो पारस्परिक व्यवहारकी भाषा होती है उसे 'विभाषा' (डायलेक्ट) कहते हैं। हिन्दीके कुछ लेखकोंने इस विभाषाको 'उपभाषा, बोली, या प्रान्तीय भाषा' कहा है, जैसे—ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मगही, राजस्थानी विभाषाएँ हैं।

भाषा

विभिन्न भाषा-परिधियोंमें अपनी-अपनी विभाषाओंका प्रयोग करनेवाले लोग परस्पर लिखा-पढ़ी, पत्राचार अथवा राजकीय व्यवहारके लिये जिस भाषाका प्रयोग करते हैं वही 'भाषा' कहलाने लगती है जिसे आगे चलकर राष्ट्रीय भाषा, परिनिष्ठित भाषा, टकसाली भाषा (लैंग्वेज़ या कोइने) कहते हैं। यह भाषा विशिष्ट विद्वानों या लेखकोंके हाथमें पड़कर इस प्रकार परिष्कृत हो जाती है कि वह विभाषाओंको प्रभावित करने लगती है और कभी-कभी तो किसी विभाषाको पूर्णतः आत्मसात् कर लेती है। विभाषाएँ भी निरन्तर परिनिष्ठित भाषाका भाण्डार भरती रहती हैं। यदि कभी किसी विप्लव या उपप्लवके कारण भाषाकी शृंखलाएँ विशृंखल होने लगती हैं तब विभाषाएँ पुनः अपनी-अपनी सीमामें अपना महत्त्व प्रतिष्ठापित कर लेती हैं। विभाषाका अपनी परिधिमें पूरा व्यवहार होता है किन्तु 'भाषा' या तो दूसरोंके बनानेपर बनती और सम्मान पाती है अथवा विभाषाओंमेंसे ही कोई एक स्वीकार कर लिए जानेपर महत्ता प्राप्त कर लेती है अथवा कोई राष्ट्र किसी भाषाको अपने राज-कार्यके लिये स्वीकार कर लेता है अथवा कोई धर्म-प्रवर्तक ही किसी विभाषाको अपने धर्म-प्रचारका माध्यम बना लेता है और तब वह 'भाषा' कहलाने लगती है।

भाषा, विभाषा और बोलीका अन्तर

उपर्यङ्कित विवेचनका सारांश यह है कि किसी एक अत्यन्त संकुचित क्षेत्रमें घरेलू और पारस्परिक व्यवहारमें काम आनेवाली भाषाको 'बोली,' किसी बड़ी परिधिमें पारस्परिक व्यवहारकी भाषाको 'विभाषा' और राज-कार्य, समाचार-पत्र तथा शिष्टजनके बीच व्यवहृत होनेवाली तथा लिखने-पढ़नेके वाग्व्यापारको 'भाषा' कहा जा सकता है। इस सिद्धान्तके अनुसार

हिन्दी तो भाषा है, ब्रज, अवधी, भोजपुरी और राजस्थानी आदि विभाषाएँ हैं और बनारसी, बैसवाड़ी आदि बोलियाँ हैं।

चार प्रकारकी भाषा

§ १८६. कुछ विद्वानोंने भाषाके चार रूप माने हैं—भाषा, बोली, विशिष्टा और विकृता।

कुछ विद्वानोंका मत है कि बहुतसे ग्रामोंका समूह जिस एक प्रकारकी भाषाका प्रयोग करता है उसे 'बोली' कहते हैं, और अलग-अलग प्रकारकी बोली बोलनेवाले लोग पारस्परिक पत्र-व्यवहार और लिखा-पढ़ीमें जिस भाषाका प्रयोग करते हैं उसे 'भाषा' कहते हैं। यदि कोई व्यक्ति यह कहना चाहे कि 'मुझे कहीं बाहर जाना है' तो वह 'भाषा'में इस प्रकार कहेगा—

मैं आज ही जा रहा हूँ।

इसी वाक्यको विभिन्न बोलियोंमें इस प्रकार कहा जायगा—

१. मैं आजी जान्यो ऊँ। (राजस्थानी)
२. मैं आजुई जाय रह्यौ हूँ। (ब्रज)
३. मैं आजी जाइ्रा। (मेरठी)
४. हम आजै जाइ रहा हइँ। (अवधी)
५. हम आजै जात हइ। (बनारसी)
६. हम अजुवै जात बानी। (भोजपुरी)

इन विद्वानोंका मत है कि जब एक दूसरीसे मिलती-जुलती बोलियोंमेंसे कोई बोली इतनी प्रचलित, लोक-प्रिय और बहुजन-व्यवहृत हो जाती है कि राजकार्य, शिष्टजनके पत्र-व्यवहार, ग्रन्थ-निर्माण और समस्त देश या प्रदेशके लोगोंके पारस्परिक सामाजिक व्यवहारमें आने लगती है तब वह 'बोली' भी 'भाषा' बन जाती है। बीसवीं शताब्दीके प्रारम्भ-तक उत्तर भारत-भरमें गुजरातसे लेकर असम-तक ब्रज-भाषाका ही प्रचलन था। कथा-वाचक व्यास लोग ब्रजभाषामें ही कथा कहते थे, उसीमें ग्रन्थ-रचना होती थी, शिष्ट और सभ्य-समाजमें उसीका व्यवहार होता था। अतः, वह 'भाषा'के पदपर आसीन हो गई। मेरठ-मुज़फ़्फ़रनगरमें और उसके आस-पास बोली जानेवाली नागरी भाषा जब दिल्लीके दरबारमें चला दी गई तब वही नागरी भाषा आगे चलकर 'भाखा, रेख़्ता, हिन्दुई और हिन्दवी' नामसे चल

पड़ी, जिसमें फ़ारसी और अरबीके शब्द ठूँसकर मुसलमान सिपाहियोंने अपनी छावनीमें एक बनावटी उर्दू गढ़ ली। दूसरी ओर उसके ठेठ देशी रूपमें पंडितोंने संस्कृतके शब्द डालकर उसका एक नया रूप खड़ा कर लिया। किन्तु उसका ठेठ देशी रूप वही है जिसमें सीताराम चतुर्वेदीने 'गंगाराम' और इंशा अल्ला खाँने 'रानी केतकीकी कहानी' लिखी जिसकी भाषाके सम्बन्धमें लेखकने कहा भी है—'हिन्दवी छुट फ़ारसीका पुट न आने पावे' अर्थात् जिस भाषाको हम आज हिन्दी कहते हैं वह मूल रूपसे तद्भवात्मिका है। यह उदाहरण लीजिए—

आइए। मैं जा रहा हूँ। आप कहाँ जा रहे हैं? आप कहाँसे आ रहे हैं?

मौसीजीने सुना तो उन्हें काठ मार गया। वे सन्न रह गईं। पर उन्होंने तो ओखलीमें सिर दे दिया था, अब मूसलोंसे क्या डरना था। उन्होंने सोचा कि मेरा घर तो यों ही अँधेरा है। कौन जाने गंगाराम ही इस घ का उजाला बन जाय। मेरा क्या है? मैं तो जमराजका न्यौता पाए बैठी हूँ। न जाने किस दिन आँखें मूँद लूँ। यह रहेगा तो दो अंजली भर पानीका भरोसा तो रहेगा।

['गंगाराम' से]

ये विद्वान् मानते हैं कि कोई भी 'बोली' उस समय 'भाषा' बन जाती है जब—

१. वह राजसभाकी, राजधानीकी और राजकार्यकी भाषा बन जाय; क्योंकि राजा जिस भाषाका समर्थन करता है उसी भाषाको प्रजा भी कभी भयसे, कभी चाटुकारीवश, कभी अपना उद्देश्य सिद्ध करनेके लिये और कभी दूसरोंपर अपना प्रभाव डालनेके लिये बोलने लगती है।

२. उस बोलीमें ग्रन्थ-निर्माण होने लगे।

३. उस बोलीके बोलनेवाले लोग अपनी संस्कार-शक्ति या अभिव्यञ्जना-शक्तिके कारण दूसरी भाषाओंपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर दें, जैसे—ब्रजभाषाका व्यवहार करनेवाले भक्त-सन्तोंने समस्त उत्तर-भारतमें ब्रजभाषाको काव्य-भाषा, पारस्परिक-व्यवहार-भाषा और कथाकी भाषा बनाकर भाषाका रूप दे दिया।

४. पुरोहित या धार्मिक नेताओं-द्वारा कोई बोली चला दी गई हो, जैसे—बुद्धने पालि चलाई, महावीर स्वामीने मागधी और रोमके पादरियोंने इतालवी भाषा।

भाषा और बोलीमें भेद

इन विद्वानोंने भाषा और बोलीमें चार भेद बताए हैं—

१. बोलीका घेरा छोटा होता है, भाषाका बड़ा।

२. एक भाषाके घेरेमें बहुत-सी बोलियाँ आ सकती हैं पर एक बोलीके घेरेमें भाषा नहीं आती।

३. एक भाषाकी दो बोलियाँ बोलनेवाले आपसमें एक दूसरेको समझ लेते हैं पर एक 'भाषा' जाननेवाला दूसरी 'भाषा'को कठिनाईसे समझ पाता है।

४. कोई बोली बहुत बढ़-चढ़कर भाषा बन जाती है जैसे ब्रज भाषा कभी रही, पर 'भाषा' बढ़कर 'भाषा' ही रह जाती है, वह घटकर 'बोली' नहीं बन सकती।

मानक (स्टैण्डर्ड) भाषा

जब कई बोलियोंका व्यवहार करनेवाले लोग मिलकर पारस्परिक लिखा-पढ़ी, कथा-कीर्तन आदिके लिये किसी भाषाका प्रयोग करते हैं तब वह मानक या प्रामाणिक भाषा बन जाती है। इस मानक या प्रामाणिक भाषाके निर्माणमें ग्रन्थकारोंका अधिक योग होता है। ये ग्रन्थकार वाणीका जो रूप स्थिर करते चलते हैं वह जनताके मुखमें पहुँचकर एक कानसे दूसरे कानमें जा-जाकर अपना रूप स्थिर करती चलती है।

भाषा

जब शासक-गण अपने राज्योंको कुछ प्रान्तोंमें विभक्त कर देते हैं और उस प्रान्तके राजकार्यके लिये किसी भाषाको स्वीकार कर लेते हैं तब उस प्रदेशके लिये वही स्वीकृत 'भाषा' ही 'भाषा' बन जाती है। ये भाषाएँ निश्चित परिधिमें बँधी रहती हैं और जैसे-जैसे ये परिधियाँ घटती-बढ़ती रहती हैं, वैसे-वैसे उस भाषाके क्षेत्रकी परिधि भी घटती-बढ़ती रहती है।

कभी-कभी किसी भाषाका व्यवहार करनेवाले लोग जब किसी विप्लव, उपप्लव, युद्ध, भूकम्प, मारकाट या बाढ़ आदि घटनाओंके कारण अपना देश छोड़कर दूसरे देश या प्रदेशमें जा बसनेको विवश होते हैं तब उनकी भाषा भी बिखर जाती है, जैसे—पाकिस्तान बननेपर सिन्धी भाषा बिखर गई। जो सिन्धी जिस भाषा-क्षेत्रमें जा पहुँचा वहाँकी भाषा उसने लोक-व्यवहारके लिये स्वीकार कर ली, भले ही घरमें वह सिन्धी भाषाका ही प्रयोग क्यों न करता हो।

जब कोई भाषा जन-भाषा बन जाती है तब वह अपने क्षेत्रकी सब बोलियोंको अपनेमें आत्म-सात् कर लेती है क्योंकि शिष्ट कहलानेके लोभमें पड़कर विभिन्न बोलियोंका प्रयोग करनेवाले लोग भी शिष्टभाषाका ही प्रयोग करने लगते हैं। इतना अन्तर अवश्य हो जाता है कि शिष्ट-जनभाषाका प्रयोग करनेवाले ये नये लोग कभी-कभी अपनी बोलीके ढंगपर शिष्ट-जनभाषाका प्रयोग करने लगते हैं, जैसे मेरठका निवासी 'पानी गिरा दो' को कहेगा 'पानी गेर दो'। भाषा (शिष्ट-भाषा) बहुत अधिक प्रयोगमें आनेसे अपना प्राचीन रूप बनाए रहती है और जितने ही विस्तृत क्षेत्रमें उसका व्यवहार होता है उतना ही उसका पुरानापन बना रहता है। नागरी भाषाके मूल क्षेत्र (मुजफ़्फ़रनगर, मेरठ) में उस भाषाके बोलनेवाले कहेंगे—

ले उठ जा। घणा दिन चढ़ियाया।

इसीको शुद्ध हिन्दी बोलनेवाले लोग कहेंगे—

उठ जा। बहुत दिन चढ़ आया है।

इसीको ग्रन्थकार लिखेंगे—

शय्याका परित्याग कीजिए। भगवान् आदित्यका रथ आधे आकाशतक आरोहण कर चुका है।

इस प्रकार सामान्य व्यवहारमें आनेवाले तद्भवात्मक और देशी शब्दोंके बदले ज्योंके त्यों संस्कृतके शब्द डालनेकी प्रवृत्ति लेखकोंमें बढ़ती चली जा रही है।

जब कोई भाषा लेखकोंके हाथमें पड़कर और परिष्कृत होकर अपना रूप स्थिर कर लेती है तब उसमें बहुत परिवर्तन नहीं होता और वह अपना निश्चित रूप स्थिर किए रहती है। इतना अन्तर अवश्य होता रहता है कि कभी-कभी लेखक और वक्तागण उसकी शैलीमें कुछ विशेषता या शब्दोंका कोई विशेष रूप प्रयुक्त करने लगते हैं, जैसे—'जावैगा, जाएगा और जाएगा'के बदले अब 'जायगा' शब्द चलने लगा। किसी-किसी भाषाका व्यवहार करनेवाले लोग इतने सावधान या सजग रहते हैं कि वे अपनी भाषाका स्वरूप बनाए रखनेके लिये इस प्रकारकी शिक्षाकी व्यवस्था किए रहते हैं कि उनकी भाषा एक गलेसे दूसरे गलेमें पहुँचकर इतनी सध जाती है कि उसमें कभी कोई विकार नहीं रहता, जैसे—वैदिक संस्कृत।

§ १८७. बोल-चालकी और लिखित भाषामें बड़ा अन्तर हो जाता है।

बाणभट्टने जिस संस्कृतमें कादम्बरीकी रचना की है वह बोल-चालकी संस्कृत नहीं थी। बोल-चालकी संस्कृतका रूप केवल महाभाष्यमें ही देखनेको मिलता है।

ग्रन्थोंकी भाषा प्रायः इसलिये जटिल हो जाती है कि ग्रन्थकारके सम्मुख पाठक नहीं रहते। अतः, ग्रन्थकार सामान्यतः स्वतंत्र होकर अपना सम्पूर्ण पाण्डित्य उसमें स्थापित करनेका प्रयत्न करता है किन्तु बोल-चालकी भाषामें तो श्रोता या सम्बोध्य सामने रहता है और वक्ताका यह प्रयत्न रहता है कि श्रोता मेरी बात भली प्रकार समझ ले। इसलिये उसकी भाषामें सरलता रहती है।

ग्रन्थकी भाषा दुरूह और जटिल होकर एक स्तरपर आकर रुक जाती है। किन्तु बोल-चालकी भाषा निरन्तर बढ़ती रहती है, यहाँतक कि वह एक दिन इतनी बढ़ जाती है कि ग्रन्थकी भाषाको धकेलकर उसके आसनपर स्वयं जा बिराजती है। बीसवीं शताब्दीके प्रारम्भ-तक ब्रजभाषा-भाषी या उसका व्यवहार करनेवाले मुजफ़्फ़रनगर-मेरठकी नागरीको खड़ी बोली या जट्टबोली कहकर उसका उपहास किया करते थे। किन्तु आज ब्रजभाषाके सिंहासनपर वही नागरी सर्व-लोकप्रिय होकर आ बिराजी है।

विशिष्ट भाषा

§ १८८. विभिन्न व्यवसायोंकी भाषा विशिष्ट कहलाती है।

शिष्टजनकी भाषासे भिन्न किन्तु उसकी प्रकृतिमें विभिन्न व्यवसायवालोंकी भाषा भी अपना रूप ग्रहण करने लगती है, जैसे—पंडितोंकी, वकीलोंकी, व्यापारियोंकी या रेलवालोंकी भाषा। इन भाषाओंका निर्माण तो किसी एक भाषाकी प्रकृतिके अनुसार होता है पर उनमें उन-उन व्यवसायोंके अधिकांश शब्द आ प्रविष्ट होते हैं, जैसे—

(अ) यज्ञोपवीत संस्कारके लिये संस्कार-पद्धतिकी पोथी, पञ्चपल्लव, धूप, दीप-नैवेद्य, कलश, रोरी, नारा, दक्षिणा, ऋतुफल, पंचगव्य, पलाश-दंड, मृगछाला आदिका प्रबन्ध कर लेना। [पंडितोंकी भाषा]

(आ) मुहर्रिरसे अर्ज़ीदावा लिखवाकर उसपर स्टाम्प लगवा लीजिए और अपने पैरोकारसे कह दीजिए कि गवाहानको तलब करानेके लिये सम्मन निकलवाए क्योंकि फ़रीक़ अव्वलने जो जुर्म लगाए हैं उनकी सफ़ाईके लिये पुख्ता बयान होना चाहिए। [कचहरीवालों या वकीलोंकी भाषा]

(इ) माफी ठिला है, हत्थूका डौल है। (यजमान फँसा है। पाँच रुपयेकी आशा है।) [पंडोंकी भाषा]

(ई) पाँचपर सौदा हो गया है। अधन्नी बट्टेपर माल निकाल दिया। बाड़ीका चालान आनेपर दुअन्नी रुपयेकी बचत है, उसमें जो मिल जाय। कच्ची बही, रोकड़ बही और खाता मुनीमजीसे मिलवा लो, जो दो-चार पाई न मिले उसे बट्टे खाते डाल दो। [व्यापारियोंकी भाषा]

(उ) टू डाउनका लैन क्लीअर हो गया है। गोला तैयार है। पैटसैनसे कहो सिंगल दे दे। ब्रेकके चारो अदद अलग करो। [रेलवालोंकी भाषा]

इन सब वाक्योंकी प्रकृति तो नागरी (हिन्दी) भाषाकी है किन्तु विभिन्न प्रकारका व्यवसाय करनेवाले लोगोंके द्वारा प्रयुक्त होनेपर इसमें शब्दोंका प्रयोग अलग-अलग प्रकारका हुआ है। अँगरेज़ी पढ़े हुए लोग अपने अँगरेज़ी पढ़े-लिखे मित्रोंसे कहते हैं—

सन्डेके एअर-मेलसे जो मैंने अपने फौरेन फ्रेन्ड्ससे लैटर्स रिसीव किए हैं उनके कन्टेन्ट्सको केअरफुली स्टडी करके मैंने यह कन्क्लयूज़न ड्रॉ किया है कि कश्मीर-प्रौब्लम अब इन्टरनैशनल लैविलपर ही सैटिल हो सकेगा।

इस वाक्यमें 'की, से, जो, मैंने, अपने, किए हैं, उनके, को, करके, यह, किया है, कि, अब, पर ही, हो सकेगा' को छोड़कर नागरी (हिन्दी) की प्रकृतिका कोई लक्षण नहीं है किन्तु शब्दोंका पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट करने-वाले और क्रिया-सूचक शब्द इसका नागरी (हिन्दी) रूप बनाए रखते हैं। जैसे कोई भारतीय पुरुष हैट, कोट, टाई, पैन्ट और बूट पहननेपर भी भारतीय ही बना रहता है वैसे ही कुछ संज्ञाओं, क्रियाओं या विशेषणोंके लिये विदेशी शब्दोंका प्रयोग करनेसे भाषाकी प्रकृति नहीं बदलती। वह तो उस भाषाके शब्दों और वाक्योंका सम्बन्ध स्पष्ट करनेवाले प्रत्ययों तथा शब्दों और क्रियाके रूपसे ही जानी जाती है। विभिन्न व्यवसायोंमें प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंके प्रवेशसे उसमें विशेषता भले ही आ जाती हो किन्तु भाषाके रूप और उसकी प्रकृतिमें कोई अन्तर नहीं आता।

विकृत भाषा

§ १८९. हास-परिहासकी भाषा विकृत हो जाती है।

कुछ लोग जान-बूझकर हास-परिहासमें शब्दोंको विकृत करके और कुछके बदले विनोदात्मक शब्दोंका प्रयोग करके भाषा बिगाड़ देते हैं, जैसे—

'बड़ी पगड़ी'को 'पग्गड़', 'बड़ी पोथी'को 'पोथा', 'पैरों'को 'चरनदासकी जोड़ी', 'प्रसन्न होने'को 'गद्‌गदायमान होना' और 'मूर्खता'को 'घौंघ्य' आदि कहना।

भेदार्थक भाषा

§ १६०. कहीं-कहीं विभिन्न वर्गोंकी भाषा भिन्न होती है।

कहीं-कहीं बड़ोंके प्रति आदर दिखानेके लिये या अपनी महत्ता या लघुताका स्पष्ट अन्तर बनाए रखनेके लिये अथवा पुरुष और स्त्रीके बीच अन्तर स्पष्ट करनेके लिये भी भाषा-भेद हो जाता है। संस्कृतके नाटककारोंने प्रधान पुरुष पात्रोंसे संस्कृत और स्त्रियों तथा अधम पात्रोंसे प्राकृतोंका प्रयोग कराया है। जावाके शिष्ट और कुलीन परिवारके लोग 'क्रोको' भाषा बोलते हैं और निम्न समाजके लोग 'क्रोमो'। दक्षिण अमरीकाकी 'कराया इंडियन' नामक जातिमें पुरुषों और स्त्रियोंकी भाषा इतनी भिन्न होती है कि वे बड़ी कठिनाईसे एक दूसरेकी भाषा समझ पाते हैं फिर भी उनका गार्हस्थ्य-जीवन बड़ा सुखी रहता है।

§ १६१. मूल-भाषा, बोली, राष्ट्रभाषा, आदर्श भाषा, विशिष्ट भाषा और कृत्रिम भाषा आदि भाषाके बहुतसे रूप गिनाए गए हैं।

मूलभाषा : कुछ विद्वानोंके मतसे हिन्द-योरोपीय भाषाओंकी कोई एक मूल भाषा या आदिभाषा रही। उस भाषाका व्यवहार करनेवाले लोग जब संख्यामें बहुत बढ़ चले तब भोजन-वस्त्रकी खोजमें वे विभिन्न देशोंमें जाकर बस गए और जहाँ-जहाँ वे पहुँचे वहाँकी जलवायुने उनकी भाषाओंमें अन्तर कर दिया किन्तु पीछे (§ १२३) बताया जा चुका है कि यह मत नितान्त भ्रामक है। जिन विद्वानोंने हिन्द-योरोपीय परिवारकी भाषाओंकी एक आदि भाषा मानी है उसका उन्होंने अभीतक कोई स्पष्ट प्रमाणिक रूप सिद्ध नहीं किया। यदि हिन्द-योरोपीय भाषा-परिवारको कोई आदि भाषा रही तो अन्य भाषा-परिवारोंकी भी कोई आदि भाषा रही होगी किन्तु उनका कोई परिचय अभीतक किसी भाषा-शास्त्रने नहीं दिया।

बोली (डायलेक्ट) : ये विद्वान् उस परिमित क्षेत्रकी व्यवहार-भाषाको बोली या उप-भाषा मानते हैं जहाँके निवासियोंके बोलनेकी प्रकृति और शैली एक ही हो और जिसमें शब्दों और वाक्योंका रूप, शब्द-भाण्डार और शब्दोंके अर्थ सब लोग प्रयुक्त करते हों।

राष्ट्रभाषा : जब कोई भाषा समुन्नत होकर राजकार्यमें भी व्यवहृत होने लगती है और फैलकर शिष्टजनके व्यवहारकी भाषा बन जाती है तब वह राष्ट्रभाषा बन जाती है, जैसे—हिन्दी।

आदर्श भाषा : विभिन्न भाषा-भाषी लोग पारस्परिक लिखा-पढ़ी, पत्र-व्यवहार, ग्रन्थलेखन और समाचार-पत्र आदिके लिये जो भाषा स्वीकार कर लेते हैं वह आदर्श-भाषा हो जाती है, जैसे—स्वतंत्रता प्राप्त होनेसे पूर्व उत्तर भारतमें राजस्थानी, पंजाबी, ब्रज, अवधी, मगही और भोजपुरी भाषा-भाषियोंने नागरी (हिन्दी)- को ही आदर्श भाषा मान लिया।

विशिष्ट भाषा : ऊपर (§ १८८)बताया जा चुका है कि विभिन्न व्यवसाय-वालोंकी अपनी अलग भाषा बन जाती है जिसे विशिष्ट भाषा कहते हैं, जैसे—कचहरीवालोंकी, व्यापारियोंकी, पण्डितोंकी।

कृत्रिम भाषा : कृत्रिम भाषा दो प्रकारकी होती है—एक तो वह कूट भाषा या गुप्त भाषा होती है जो चोर, डाकू, सैनिक या गुप्तचर-विभागके लोग अथवा राजनीतिज्ञ लोग अपनी भाषा किसी दूसरेकी समझमें न आनेके लिये प्रयोगमें लाते हैं, जैसे—काशीके पंडोंकी कूट भाषा—

रवा बरीकऽ बरँगा बिलौले आवऽ ?

[एक अधेलेका पान लगवाते आओ]

कृत्रिम भाषाका दूसरा रूप वह होता है जिसे कोई विशिष्ट विद्वान् संसार-भरके लिये या अपने मत, सम्प्रदाय, धर्म आदिके लिये गढ़कर चला देते हैं, जैसे—डा० ज़मेनाफ़ ने 'ऐस्पेरेन्टो' चला दी या श्लेयरने 'वोलाप्यूक।'

§ १९२. ये सब भेद असंगत हैं।

जिन विद्वानोंने भाषाके इतने रूप स्थिर किए उन्होंने केवल अनुमानसे काम लिया है अन्यथा भाषाके रूपोंकी गिनती कराते हुए न तो भाषा, विभाषा और बोली नामक उनके भेद बताते और न आदर्श भाषा, कृत्रिम भाषा-जैसे भाषाके वर्ग बताते। विचित्र बात यह है कि ये विद्वान् भाषाके ही तो भेद बताने चले हैं और उसका पहला भेद बताते हैं 'भाषा' और दूसरा बताते हैं 'विभाषा' और तीसरा बताते हैं 'बोली'। यह तो ऐसा ही है, जैसे 'दाडिम'के भेद पूछनेपर

कोई कहे, 'दाडिम, रक्तबीज और अनार'। वास्तवमें दाडिम'के भेद बताते हुए उसे कहना चाहिए 'एक बेदाना, दूसरा कन्दहारी, तीसरा देशी'। किसी शब्दका पर्याय या अनुवाद उसका भेद नहीं हो सकता।

भाषाके चार रूप

§ १९३. भरतने नाट्यशास्त्रमें भाषाके चार रूप माने हैं—अतिभाषा, आर्यभाषा, जातिभाषा और जात्यन्तरी भाषा।

भरत मुनिने अपने नाट्यशास्त्रके अट्ठारहवें अध्यायमें भाषाके चार रूप बताए हैं—

१. अतिभाषा : देवताओंकी भाषा।

२. आर्यभाषा : पढ़े लिखे लोगों तथा राजाओंकी वह भाषा जो पत्र-व्यवहार और राज-कार्यमें प्रयुक्त होती हो और वह परिष्कृत तथा रूढोक्ति-सिद्ध हो।

३. जातिभाषा : वह भाषा जो एक जाति, एक प्रदेश या क्षेत्र या एक-सा व्यवसाय करनेवाले लोग परस्पर काममें लाते हों।

इस जाति-भाषाके भी दो रूप होते हैं—

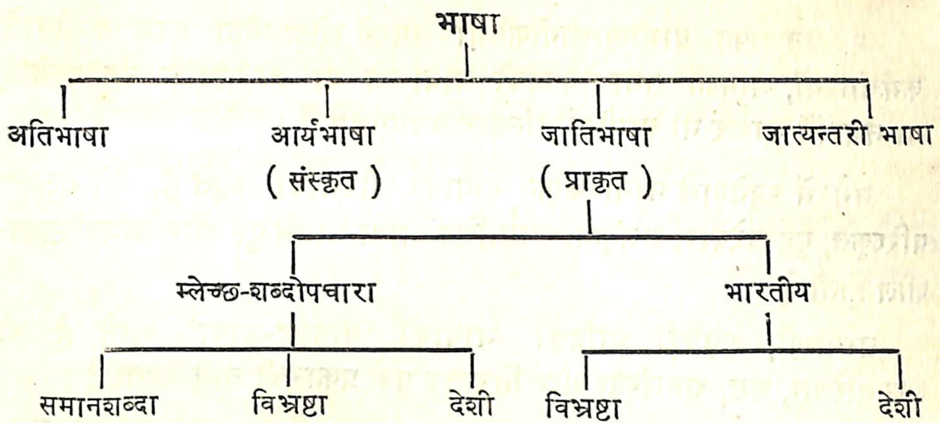
(क) म्लेच्छ-शब्दोपचारी : वह बोल-चालकी भाषा जिसमें भारतसे बाहरकी म्लेच्छ जातियोंके शब्दोंका भी प्रयोग होता है।

(ख) भारतीय : भारतके भीतर अलग-अलग प्रदेशों या क्षेत्रोंमें बोली जानेवाली वे भाषाएँ जिनमें भारतसे बाहरकी बोलियोंके शब्दोंका मेल न हो।

यह विवरण देकर भरतने आदेश दिया है कि नाटकके नायक, ब्राह्मण, संन्यासी, मुनि, राजवेश्या और रानीसे तो संस्कृतमें बुलवाया जाय तथा अन्य सबसे प्राकृतमें। इस प्राकृतके उन्होंने तीन रूप बताए—

१. समानशब्द [तत्सम, जिसमें संस्कृतसे ज्योंके त्यों शब्द लिए गए हों जैसे-'कमला, अमल, रेणु, सुरंग, लोल, सलिल'], २. विभ्रष्ट [जो ठीक न बोले जानेसे बिगड़ गए हों जैसे-गिम्हो, (ग्रीष्म : 'गर्मी') कण्हो (कृष्ण) और पल्लंक (पर्यङ्कः, पल्यङ्कः, पलँग)] और ३. देशी [ठेठ देशी शब्दोंवाली, जैसे-'रोटी खा-लीजिए' के लिये 'टिक्कड़ भान ले']।

इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—



इसी प्रसंगमें उन्होंने अलग-अलग क्षेत्रों (प्रदेशों) में सात बोलियोंका नाम गिनाकर उन्हें भाषा कहा है—मागधी, अवन्तिका, प्राच्या, शूरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका और दाक्षिणात्या—

मागध्यवन्तिजा प्राच्या शूरसेन्यर्धमागधी ।
वाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषाः प्रकीर्तिताः ॥

निरे जंगलियोंकी भाषाको उन्होंने विभाषा (बिगड़ी हुई या पराई बोली) बताया है—

हीनां वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृता ।

इस विवरणसे स्पष्ट हो जाता है कि भाषाशास्त्री लोग जिसे 'भाषा' कहते हैं उन्हें भरतने 'आर्यभाषा' कहा है; जिन्हें उन्होंने विभाषा, उपभाषा, या बोली (डायलेक्ट) कहा है उन्हें भरतने 'भाषा' कहा है। भरतने केवल जंगली भाषाओंको 'विभाषा' कहा है और 'बोली'के नामसे जो बोलियाँ विद्वानोंने गिनाई हैं उन्हें भरतने 'आर्यभाषा'से भिन्न 'जाति-भाषाएँ' कहा है।

पौर और जानपदभाषा

§ १६४. भाषाके दो ही रूप होते हैं—पौरभाषा और जानपदभाषा।

ऊपर भाषाके जो अनेक भेद और रूप बतलाए गए हैं वे सब भ्रामक हैं। संसारके सभी देशोंकी भाषाओंका अध्ययन करनेपर ज्ञात होगा कि किसी भी भाषाके किसी एक क्षेत्रमें दो ही प्रकारकी भाषाएँ मिलेंगी—

१. उन शिष्ट नागरिकोंकी भाषा जो बड़े नगरोंमें रहते हैं और जिनके अन्तर्गत अध्यापक, वकील, डाक्टर, राजकर्मचारी, लेखक, कवि, सम्पादक और बड़े व्यवसायी लोग आते हैं।

२. उन अपढ़ ग्रामीण लोगोंकी या नगरमें छोटा-मोटा काम करनेवाले कर्मचारियों, श्रमिकों तथा सेवकोंकी भाषा जो या तो गाँवोंके रहनेवाले हैं या नगरोंमें आकर भी ग्रामीण संस्कार बनाए हुए हैं।

नगरमें रहनेवाले नागरिकोंकी भाषाको 'पौरभाषा' कहते हैं, जो अत्यन्त परिष्कृत, मुहावरेदार, अलंकृत, सामाजिक भाषा-शीलसे पुष्ट और अभिव्यञ्जना-शील होती है।

ग्रामीणों, अनपढ़ों आदिकी भाषाको 'जानपद-भाषा' कहते हैं जो अव्यवस्थित, रूढ, अनलंकृत और निरन्तर एक प्रकारकी बनी रहती है।

इस प्रकार संसारकी किसी भी भाषाके दो ही रूप प्राप्त होते हैं--

१. शिष्टभाषा या पौरभाषा, जो कभी तो किसी पूरे देशकी (जैसे हिन्दी), कभी किसी महाद्वीपकी (जैसे फ्रान्सीसी या बन्तू) और कभी संसारके अनेक देशोंकी (जैसे अँगरेज़ी) भाषा बन जाती है। किन्तु राष्ट्रभाषा या देशभाषा, महाद्वीप-भाषा या विश्वभाषा बन जानेसे उसके रूप या उसकी प्रकृतिमें कोई अन्तर नहीं आता। यही भाषा जब लेख और ग्रन्थकी भाषा बनकर इतनी परिष्कृत और पुष्ट हो जाती है कि किसी देशके शासक या वहाँके निवासी उसे अपनालेते हैं तब वही भाषा टकसाली या मानस्थ कहलाने लगती है। उस भाषामें विभिन्न प्रकारका व्यवसाय करनेवाले लोग भले ही उसमें अपने-अपने व्यवसायोंके पारिभाषिक शब्द लाकर भर दें फिर भी उसका रूप और उसकी प्रकृति वैसी ही बनी रहती है। भिन्न प्रकारके पारिभाषिक शब्द आ जानेसे उसकी प्रकृतिमें कोई अन्तर नहीं होता।

२. दूसरे प्रकारकी भाषा ग्रामीणों और अशिक्षितोंकी भाषा होती है, जिसे 'जानपद-भाषा' कहते हैं।

§ १९५. पौरभाषाके भी दो रूप होते हैं—लेखभाषा और वार्ताभाषा।

शिष्ट-जनभाषा या पौर-भाषाके दो रूप होते हैं—लिखित और भाषित। लेख-भाषा कुछ अधिक औपचारिक और कृत्रिम हो जाती है और लेखक सदा अपनी शैलीमें दूसरोंपर प्रभाव जमाने और पाण्डित्य-प्रदर्शनके लिये प्रयत्नशील रहता है। ग्रन्थकार भी सदा अपनी भाषा-शैलीको अलङ्कृत करने और विभिन्न प्रकारकी शैलियोंमें लिखनेका प्रयत्न करते हैं। नीचे एक ही वाक्य विभिन्न शैलियोंमें दिया जा रहा है—

१. मेरी पोथियाँ दीमकोंने खा डाली हैं। (ठेठ हिन्दी)

२. मेरी पोथियाँ दीमक चाट गए हैं। (मुहावरेदार हिन्दी)

३. कीटोंने मेरे सब ग्रन्थ नष्ट कर डाले हैं। (संस्कृतनिष्ठ हिन्दी)

कभी-कभी एक चौथे प्रकारकी भाषा भी सुननेको मिल जाती है किन्तु ऐसी भाषा वे ही लोग बोलते हैं जिन्हें अपनी भाषाका ज्ञान नहीं होता। प्रायः लेखोंमें यह निम्नाङ्कित प्रकारकी भाषा नहीं प्राप्त होती—

४. मेरी किताबें दीमकोंने डेस्ट्राय कर दी हैं। (संकर हिन्दी)

उपर्यङ्कित प्रकारकी भाषाका प्रयोग अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोग बोल-चालमें अवश्य करते हैं किन्तु यह भाषा-प्रकृति भी ग्राह्य और प्रशंसनीय नहीं समझी जाती।

वाक्य-निर्माण-शैली

§ १९६. बहुतसे लेखकोंकी वाक्य-निर्माण-शैली कुछ विशिष्ट प्रकारकी होती है जिससे उनकी प्रकृति और उनके व्यक्तित्वका ज्ञान होता है।

वाक्योंकी निर्माण-शैली दो प्रकारकी होती है जैसा पीछे (§ १५७) स्पष्ट कर दिया जा चुका है। एक प्रकारके वाक्योंमें एक क्रियावाले अमिश्र या सरल वाक्य होते हैं, जैसे—

मैं गंगाजी गया था। वहाँ बहुतसे लोग नहा रहे थे। वहाँ कुछ लोग तैर रहे थे। कुछ लोग वहाँ कूद रहे थे। कुछ लोग वहाँ डुबकियाँ ले रहे थे। इस प्रकार वे सभी स्नानका आनन्द ले रहे थे।

दूसरे प्रकारके वाक्य ऐसे मिश्र वाक्य होते हैं जो कई वाक्य मिलाकर बनाए जाते हैं, जैसे—

मैं गंगाजी गया था जहाँ मैंने बहुतसे ऐसे लोगोंको नहाते देखा जो तैरते, कूदते और डुबकियाँ लेते हुए स्नानका आनन्द ले रहे थे।

अलङ्करण

भाषामें वाक्योंका अलङ्करण भी चार प्रकारसे किया जाता है—

१. अलङ्कारोंका अधिक समावेश करके जिसे अलंकृत शैली कहते हैं।

२. शैलीमें लाक्षणिकता भरकर जिसे लाक्षणिक शैली कहते हैं।

३. अपने कथनको अन्य लोगोंके वक्तव्योंसे समर्थित कराते चलकर जिसे समर्थनात्मक शैली कहते हैं।

४. प्रतीकोंके द्वारा अन्योक्तिमें बात ढालकर जिसे प्रतीकात्मक-शैली कहते हैं।

नीचे इन विभिन्न अलङ्करण-शैलियोंके उदाहरण देकर उनका रूप स्पष्ट किया जाता है।

१. अलङ्करण-शैली : अलङ्करण - शैलीमें पद-पदपर सुन्दर, शोभन शब्दावलीसे भरे अलङ्कार सजे होते हैं—जैसे—

१. महाकवि अपनी वाणीमें इस प्रकार शब्दोंको सजाता है जैसे रेशमकी सतरङ्गी चादरपर गंगाजमुनी तारोंसे बेल-बूटे काढ़ दिए गए हों। महाकवियोंकी वाणी वह भाव-गङ्गा है जो अपने साथ न जाने कितनी भाव-धाराओंके विचार-जलको अपने अंकमें समेटकर अपनी भाव-धारा अविच्छिन्न बनाती हुई उद्देश्य-सिन्धुतक पहुँच जाती है, वह ऐसी अलौकिक भल्लिका है जो बिना फलके श्रोताको घायल कर देती है, वह मधुबाला है जो बिना मधु पिलाए उन्मत्त बना देती है, वह सुधाधर है जिसे कानसे पीकर मनुष्य अमरत्वको तुच्छ समझने लगे। उसकी वाणी द्राक्षाके समान मधुर, हिम-शिखरकी भाँति समुन्नत, सिन्धुतलके समान गम्भीर, द्वितीयाके चन्द्रमाके समान निष्कलंक और माताके समान पवित्र होती है। महाकविकी वाणी वह चन्द्र है जिसे राहुकी छाया भी स्पर्श नहीं कर सकती। उसकी वाणीमें अवगाहन करनेकी योग्यता जो प्राप्त कर लेता है वह नन्दन-काननके झूलोंपर पेंगें मारता है, अप्सराओंके हाथकी गुँथी मालासे पुलकित होता है और सारा संसार उसकी पूजा करता है।

२. लाक्षणिक शैली : लाक्षणिक शैलीका बल पाकर भाषा सरस, पुष्ट और समृद्ध होती है जैसे—

सरस वाणी जब वक्ताकी जिह्वापर चढ़कर लास्य करने लगती है तब उसकी भावमयी मुद्राओंकी गतिपर कभी तो श्रोताओंके नेत्र झरने बन उठते हैं, कभी हृदयकी कली खिलकर गुदगुदी उत्पन्न करने लगती है, कभी दन्तावलीकी चन्द्रिका

ओठके कपाट खोलकर चाँदनी बिखेर देती है, कभी माथेकी नसें तनकर भौंहोंका धनुष चढ़ा देती हैं और कभी आँखें ऊपर चढ़कर अद्भुत रसका स्थायी भाव मूर्तिमान् कर देती हैं।

३. समर्थनात्मक शैली : समर्थन-प्रधान शैलीमें लेखक अपनी प्रत्येक बातका समर्थन अन्य महापुरुषोंकी वाणीसे कराता चलता है, जैसे—

संसारमें वही कार्य करना चाहिए जिसका समर्थन लोकवाणी और साधुवाणी-द्वारा हो। तुलसीदासजीने भरतसे कहलाया है—

'करब साधुमत लोकमत, नृपनय-निगम निचोरि'।

साधुमत और लोकमतका तो सदा सम्मान होता ही है। अँगरेज़ीमें कहावत है—'दूसरेके प्रति वही करो जो अपने लिये चाहो।' अतः, अपने मनकी बात कहनेके लिये सोच-समझकर मुँह खोलना चाहिए क्योंकि अरबकी लोकोक्ति है—'अपनी जीभ बाँधकर रक्खो, कहीं वह सिर न कटवा ले।' यही बात कबीरने भी दूसरे ढंगसे कही है—

जिभ्या मेरी बावरी, कहिगी सरग-पतार।
आपु तो कहि भीतर गई, जूती खात कपार॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि सब जिस बातको ठीक समझें, वही बात ठीक है क्योंकि पंचोंकी वाणीमें परमेश्वरकी वाणी होती है। भगवान् श्रीकृष्णने भी भगवद्गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

[श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा करते और कहते हैं वैसा ही दूसरे भी कहने-करने लगते हैं।] यही बात नीचे लिखे शैरमें भी मिलती है—

अवाज़े खल्कको नक्कारए .खुदा समझो।

[जनताकी वाणीको परमेश्वरका डंका समझो।] अर्थ यह है कि संसार जिस बातका समर्थन करे वही सबको कहना और करना चाहिए।

४. प्रतीकात्मक शैली : प्रतीकात्मक शैलीमें किसी जीव या वस्तुको प्रतीक मानकर उसे संबोधित करके कहा जाता है। यहाँ कविको हंस मानकर कहा गया है—

'हे सरस्वतीके हंस ! नीचेसे ऊपर-तक धवलतासे स्नात होकर अपने दोनों दुग्ध-धवल पंख फैलाकर तुम सरस्वतीको असूर्यम्पश्य लोकोंमें भी घुमा लाते हो किन्तु तुम्हारी श्वेतता और गौरतामें कहीं भी कालिमा छू नहीं पाती। न जाने कितन बार तुम्हारे आगे पानी मिलाकर दूध रख दिया गया किन्तु न जाने तुममें क्या शक्ति है कि तुम दूधका दूध और पानीका पानी कर देते हो।

मनोवैज्ञानिक शैलियाँ

कभी-कभी लेखक ऐसी शैलीमें लिखते हैं जिससे तत्काल ज्ञात हो जाता है कि लेखककी प्रवृत्ति विनोदी, चिन्तनशील या उच्छृङ्खल है। इस प्रकारकी मनोवैज्ञानिक शैलीमें लिखनेवाले लेखकोंकी शैलियोंके बहुतसे प्रकार हैं किन्तु उनमेंसे केवल पाँचका ही यहाँ परिचय दिया जा रहा है—

१. विनोदात्मक शैली : विनोदात्मक शैलीकी भाषा और विषय दोनोंमें विनोद होता है, जैसे--

श्री भुलेटनदासजीका जन्म ठीक फागके दिन उस समय हुआ जब लोग पिचकारी लेकर अररररर कबीर कहते हुए टोलियाँ बाँध-बाँधकर गुलाल उड़ाते और रंग बरसाते घूम रहे थे। इसीलिये भुलेटनदासजीकी लेखनी ऐसे कौशलसे गुद-गुदाती है कि अच्छे-अच्छे मुहर्रमी भी खिल-खिलाकर बतीसी निकालकर हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते हैं। जब वे सही-साँझ मुँह बाकर सोनेवाले अपने साथीकी घर्राती हुई नाकमें क़ाग़ज़की बत्ती बनाकर डाल देते हैं तब उसके उचककर उठ खड़े होनेपर आनन्द लेते हुए उसका ऐसा चटपटा रसीला वर्णन करते हैं कि उसमें यदि चमगीदड़वाले लटकौवलका आनन्द आपको भी न आ जाय तो मैं मूँछें मुड़वा दूँ और कलम घिसनेसे संन्यास लेलूँ। इतना ही नहीं, कभी आप उनकी दो बातें सुन-भर लीजिए तो आपके दोनों गालोंमें दबी हुई पानकी गिलौरियोंकी पीकसे आपका कुरता रँग जाय, आप हँसीसे ऐसे लोट-पोट हो जायँ कि आपके पेटमें बल पड़-पड़ जायँ और आपके खोड़े मुँहमें फँसे हुए नकली दाँत निकलकर दिल्ली दरवाज़ा खोल दें।

२. व्यंग्यात्मक शैली : व्यंग्यात्मक शैलीमें किसीकी सीधी आलोचना न करके किसी अन्य प्रतीकको लक्ष्य करके उसपर छींटे कसे जाते हैं। कवि घंटाजीके सम्बन्धमें यह व्यंग्यात्मक विवरण देखिए—

रात जो कवि-सम्मेलन हुआ उसमें एक घंटा बड़ा टनटनाया, बड़ा गूँजा, बड़ा घहराया पर श्रोताओंको केवल टनटनाहट ही हाथ लगी। लोगोंके ताली पीटने और सीटी बजानेपर भी घंटाजी घंटों घनघनाते और टनटनाते रहे। भाई घंटाजी! आपको तो विश्वनाथजीके मन्दिरमें या सारनाथके मूलगन्धकुटीर-विहारमें जाकर लटक जाना चाहिए कि जहाँ किसीने छेड़ा बस आप टनटना दिए। भैया घंटा जी! कवि-सम्मेनलमें आप न बजा कीजिए क्योंकि आपमें न तो घड़ीके घंटेका संयम है, न विद्यालयके घंटेकी अवधि और न लंदनकी बिगबेनके घंटेकी मधुरता। इसलिये आप कृपा करके अपनी घन्‌घन्‌ टन्‌-टन्‌ अपने घरतक ही बन्द रखिए, क्योंकि आपकी घनघनाहट सहन करनेके लिये ब्रह्माने आपको बनाते समय भूलसे आपके श्रोताओंके कानमें गैंडेकी खालके परदे नहीं लगाए।

३. दार्शनिक या चिन्तनशील-शैली : दार्शनिक या चिन्तनशीलतापूर्ण शैलीमें गम्भीरता और सूत्रोंकी-सी संक्षिप्त अभिव्यञ्जना होती है, जैसे—

जीवकी मीमांसा करते हुए विशुद्धाद्वैतवादियोंने कहा है कि जीव चित्कण (ज्ञानका कण), अत्यन्त सूक्ष्म, परिच्छिन्न, चित्प्रधान और आनन्दस्वरूप है। यह जीव स्वयं आनन्दस्वरूप होकर भी मायाके प्रभावसे सांसारिक दुःखका अनुभव करता रहता है जिससे इसमें दीनता, दुःख और अहंकार आदि उत्पन्न होते रहते हैं। यह जीव नित्य एवं अणु है। यह कर्ता भी है, भोक्ता भी है।

४. तर्कप्रधान-शैली : तर्कप्रधान शैलीमें किसी भी तत्त्व, पदार्थ या विषयका परीक्षण तर्कों और उदाहरणोंके आधारपर किया जाता है। मुक्तिके सम्बन्धमें यह तर्क-प्रधान विवरण लीजिए—

मुक्तिके स्वरूपका प्रश्न शाश्वत है। आजसे सैकड़ों वर्ष पूर्व इसी प्रश्नका उत्तर देते हुए किसी ऋषिने कहा था—'भाई! मोक्षका न कोई घर है, न गाँव। जिस दिन भी हृदयमें लगी हुई अज्ञानकी गाँठ खुल जाय उसी दिन मोक्ष तुम्हारी मुट्ठीमें आ जायगा।' जैसे स्वप्नमें अनुभव किया हुआ कोई कष्ट या दुःख तबतक दूर नहीं होता जबतक मनुष्य जाग न जाय वैसे ही ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त किए बिना मुक्ति नहीं होती। जब मनुष्य यह समझ ले कि—'सबै नचावत राम गोसाइँ', अर्थात् हम ईश्वरके हाथकी कठपुतली मात्र हैं, तो हमारा अहंकार दूर होनेसे अविद्या दूर होने लगती है, अविद्या दूर होनेसे सांसारिक वस्तुओंसे विराग होने लगता है, विराग हो जानेसे मोहकी ग्रन्थि खुल जाती है और मोहकी ग्रन्थि खुलनेपर मनुष्य

सबको अपने-जैसा जानकर सबका कल्याण करनेमें लग जाता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है।

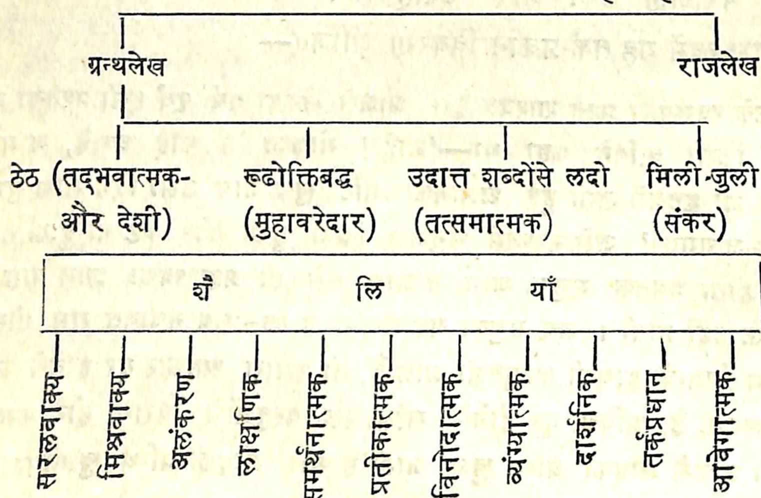
५. आवेगात्मक-शैली : आवेगात्मक शैलीमें परम्परित वाक्योंसे श्रोताको शीघ्र प्रभावित कर देनेकी वृत्ति रहती है। प्रायः राजनीतिक भाषणोंमें इसी शैलीका प्रयोग होता है। यह उदाहरण लीजिए—

यदि आपने अपने देशके साहित्यका अध्ययन नहीं किया, यदि आपने तुलसी, मीरा, सूर और रसखानकी भक्तिकाव्य-सरितामें अवगाहन करके तल्लीनतापूर्वक उनका रस नहीं लिया, यदि आपने शब्द और अर्थके वास्तविक सम्बन्धको भली प्रकार समझकर काव्य-रसका रसास्वादन नहीं किया, यदि आपने कवियोंकी जीवन्त, शाश्वत और चिरनवीन वाणीमें जीवनके प्रेरक-तत्त्व नहीं प्राप्त किए तो समझना चाहिए कि आपने सामान्य जीवोंके समान मनुष्य-शरीर धारण करनेपर भी उसे व्यर्थ कर डाला। आपकी इस असावधानता और अज्ञतापर आकाश आठ-आठ आँसू बरसावेगा, समुद्र अपनी गर्जनोर्मिसे तर्जन करेगा और क्षमा-शील पृथ्वी भी अधीरता सेएक बार विकम्पित हो उठेगी।

राजकार्यकी भाषा

लेख-भाषाकी एक वह भी शैली होती है जो राजकार्यमें काम आती है। इसके वाक्योंका सधा-सधाया रूप होता है जिसमें विधान और राजनियम बनाए जाते हैं।

इस प्रकार लेख-भाषाके निम्नांकित रूप दृष्टिगोचर होते हैं—



इनमेंसे तत्सम और तद्भवका भेद सब शैलियोंमें नहीं होता। यह तो लेखककी अपनी वृत्तिपर निर्भर है कि वह अपने लेखोंमें सबकी समझमें आनेवाले सरल और चलते शब्दोंका प्रयोग करता है या शास्त्रीय, लाक्षणिक और अप्रचलित दुरूह शब्दोंका। प्रायः जो जितना बड़ा पण्डित होता है वह उतनी ही दुरूह भाषाका प्रयोग करना अपना गौरव समझता है।

लेखभाषाका एक रूढ सामाजिक रूप भी होता है जो पत्रों, निमन्त्रणपत्रों, विदा और अभिनन्दनपत्रों तथा अनेक प्रकारके आवेदनपत्रोंके रूपोंमें रूढ हो गया है। उदात्त भाषणोंकी भाषा भी लेखभाषाके समान ही मानस्थ होती है।

वार्ताभाषा

§ १६७. वार्त्ता-भाषा दो प्रकारकी होती है—औपचारिक और आत्मीय।

वार्ताभाषा भी दो प्रकार की होती है—एक तो सामाजिक शिष्टाचारकी औपचारिक भाषा और दूसरी आत्मीयतापूर्ण घरेलू भाषा।

इनमेंसे पहलीको सामाजिक भाषा और दूसरी को व्यक्तिगत भाषा कह सकते हैं।

सामाजिक भाषाकी तीन शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—

१. हट्ट-भाषा—जो हाटों या बाजारोंमें बोली जाती है।

२. शिष्टाचार-भाषा—जो प्रत्येक समाजमें विभिन्न अवसरोंपर प्रयुक्त होनेके लिये रूढ हो जाती है और जिसका प्रयोग पारस्परिक शिष्टाचार, सभाचार आदिमें सामान्य रूपसे होता है।

३. वह भाषा जो सम्बोध्य या श्रोताकी योग्यताके अनुसार अपना रूप ग्रहण करती है और जिसका विवरण ऊपर दिया जा चुका है।

हट्ट-भाषा

हट्ट-भाषा या हाटकी बोली भी तीन प्रकारकी होती है—रूढ, मिश्रित और कूट।

रूढ हट्टभाषा वह है जिसका प्रयोग सामान्यतः सब प्रकारके व्यवसायी लोगोंसे निरन्तर सुननेको मिलता है, जैसे—

दाम चढ़ गया है। गुड़ मंदा है। देसावरसे चालान नहीं आया।

२. मिश्रित हट्ट-भाषा वह है जो ग्राहकको देखकर बोली जाती है। प्रायः व्यापारी जैसा ग्राहक देखते हैं उसीकी भाषामें उससे बातचीत चलाते हैं, जैसे—

मार्केट डल है (अँगरेज़ी पढ़े-लिखे ग्राहकसे)।

यो मिञ्झा क्या भाव गेरा है (मेरठके हाटकी भाषा)।

३. हाटकी कूट भाषा वह होती है जिसे केवल व्यापारी ही परस्पर समझ पाते हैं, जैसे—

मंगल रहे।

इस वाक्यका अर्थ बनारसके दलालोंकी भाषामें यह है कि गाहकको जो माल दिया जा रहा है इसमें दो आने रुपया दलाली हमारी रहेगी।

औपचारिकी या सामाजिक शीलकी भाषा

पारस्परिक सामाजिक व्यवहार और आदर-सत्कारमें जिस रूढ भाषाका प्रयोग होता है उसे औपचारिकी कहते हैं, जैसे—

आपका शुभ नाम क्या है ?

आपने कैसे कष्ट किया ?

मेरी कुटिया पवित्र कीजिए।

आपका दर्शन कब करूँ ?

आपको बड़ा कष्ट हुआ।

कष्टके लिये क्षमा कीजिएगा।

आपने पधारकर मुझे धन्य कर दिया।

आपको अनेकानेक धन्यवाद है।

आपकी कृतज्ञताके भारसे दबा जा रहा हूँ।

श्रोताकी योग्यता और पदके अनुसार जिस भाषाका प्रयोग किया जाता है उसका विवरण (§ २६३) दिया जा चुका है।

आत्मीय या व्यक्तिगत भाषा

व्यक्तिगत भाषा ऐसी स्वतंत्र होती है कि उसका प्रयोग प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक करता है। इनमेंसे एक तो वह सामान्य भाषा है जिसका प्रयोग श्रोताकी योग्यता, अवस्था और पदके अनुसार होता है किन्तु दूसरा वह रूप होता है जिसमें अनेक ग्राम्य, फूहड़, अश्लील और अशिष्ट शब्दोंका प्रयोग भी कभी आत्मीयताके कारण, कभी प्यारमें और कभी क्रोधमें लोग काममें लाते हैं, जैसे—

मैं मुँह थूर दूँगा।

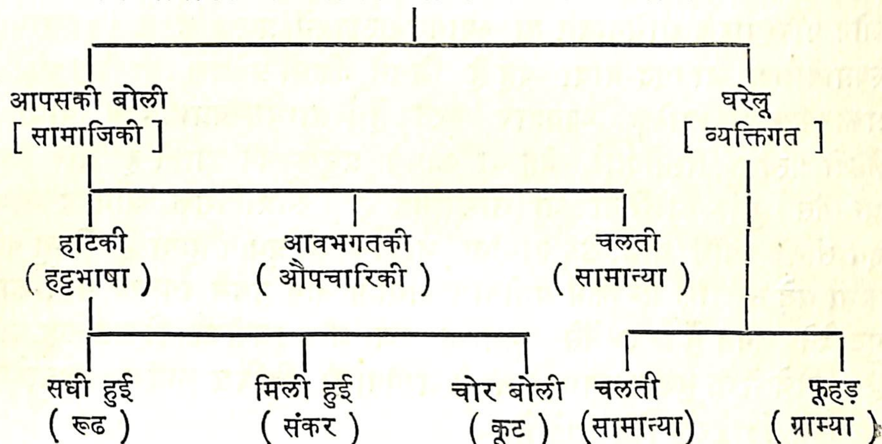
अभी बिस्तर गोल कर रहा हूँ।

मारते-मारते काँच निकाल दूँगा।

अपने खसमसे जाके क्यों नहीं कहती ।

आजा मेरी कट्टो ।

ये सब घरेलू और फूहड़ (ग्राम्य) ढंगसे बोलनेवाले लोग अपने वाक्योंमें 'साला-ससुरा' जैसे गालीके शब्द भी काममें लाते हैं। इसे इस प्रकार समझाया जा सकता है—



§ १९८. वन्य भाषाओंमें ये भेद नहीं होते।

उपर्यङ्क्ति भेद केवल समुन्नत जातियोंकी भाषाओंमें ही प्राप्त होते हैं। वन्य भाषाओंमें भाषाका केवल एक ही रूप होता है। वन्य भाषाओंमेंसे केवल एक-दो भाषामें ही एकसे अधिक रूप पाए जाते हैं, जैसे दक्षिण अमरीकाकी 'करीब' नामक वन्य भाषाओंमें पुरुष तो 'करीब' भाषा बोलते हैं और स्त्रियाँ 'अरोबक' भाषा। इसी प्रकार जावामें शिक्षित और कुलीन लोग 'ङ्गोको' भाषाका प्रयोग करते हैं और अशिक्षित लोग 'क्रोमो' भाषाका।

§१९९. लोक-भाषा भी दो प्रकारकी होती है—स्वप्रादेशिक और पर-प्रादेशिक।

लोक-भाषा या जानपद-भाषा किसी एक भू-भागके अनपढ़, ग्रामीण जनोंकी स्वाभाविक भाषा होती है जो नगरकी शिष्टजन-भाषासे भिन्न होती है। इस भाषाके दो रूप होते हैं—स्वप्रादेशिक और परप्रादेशिक।

स्वप्रादेशिक जनपद-भाषा

स्वप्रादेशिक जानपद-भाषा वह होती है जो किसी एक जनपदके जाति-समूह या प्रदेशके लोग पारस्परिक वार्तालाप और व्यवहारमें काम लाते हैं। इस स्वप्रादेशिक जानपद-भाषाके तीन रूप होते हैं—औपचारिकी, सामान्या और ग्राम्या।

औपचारिकी स्वप्रादेशिक जानपद-भाषा वह है जो किसी प्रदेशके ग्रामीण लोग पारस्परिक अभिनन्दन या स्वागत-सत्कारमें प्रयुक्त करते हैं। सामान्या स्वप्रादेशिक जानपद-भाषा वह है जिसमें किसी प्रदेशके ग्रामीण लोग सब प्रकारका पारस्परिक व्यवहार करते हैं। ग्राम्या-स्वप्रादेशिक भाषा वह है जो अत्यन्त आत्मीयता, स्नेह या क्रोधमें प्रयुक्त की जाती है और जिसके अन्तर्गत फूहड़ गालियाँ भी सम्मिलित हैं। स्वप्रादेशिक जानपद भाषाके इन तीनों रूपोंमें प्रायः ठेठ ग्रामीण भाषाका ही प्रयोग होता है किन्तु कभी-कभी बड़े नगरोंके सम्पर्कमें आनेवाले ग्रामीण लोग उसमें नगरकी भाषाका भी पुट देने लगते हैं। इनमेंसे पहलीको देशी और दूसरीको विभ्रष्ट कह सकते हैं। नीचे मेरठ-मुज़फ्फ़रनगरमें बोली जानेवाली विभिन्न रूपोंकी स्वप्रादेशिक भाषाके उदाहरण दिए जाते हैं—

१. आओजी तसरीप धरो। [आइए, तशरीफ़ रखिए] (विभ्रष्ट औपचारिकी)

२. आओजी बट्ठो। [आइए, बैठिए।] (देशी औपचारिकी)

१. ढेर कलेस ना करा करै। [बहुत झंझट मत किया कर।] (विभ्रष्ट सामान्या)

२. ढेर राड़ ना मारा करै। [बहुत हठ न किया कर।] (देशी सामान्या)

१. कौल्ली भरकऽ बोल्या—सौहरेकू डुक दूँगा डुक। [दोनों हाथोंमें कसकर बोला कि ससुरेको मुक्का मारूँगा मुक्का।] (ग्राम्या)

परप्रादेशिक जानपद-भाषा

जब कोई जानपद-भाषा किसी दूसरे प्रदेशमें व्यवहृत होने लगती है और वह नियमित रूपसे वहाँ नहीं सिखाई जाती तब वह विचित्र विभ्रष्ट रूप ग्रहण कर लेती है, जैसे—बम्बईमें 'बम्बइया हिन्दी' या कैण्टनमें 'पिडगिन अँगरेज़ी'। इसी पर-प्रादेशिक भाषाको भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें म्लेच्छ-शब्दोपचारा कहा है। भाषाका यह रूप भी दो प्रकारका हो जाता है—एक तो तब जब उस भाषाके बोलनेवाले दूसरी भाषा बोलनेवालोंसे मिलनेपर

प्रयोग करने लगते हैं, जैसे—किसी बङ्गाली मित्रसे मिलनेपर उत्तर-प्रदेशका निवासी कहता है—

१. क्यों माशाए ! तुम किदर जाता है। [क्यों महाशय ! किधर जाते हो ?]

दूसरा रूप वह है जब दूसरी भाषा बोलनेवाला व्यक्ति उस भाषामें बोलनेका उपक्रम करता है जिससे वह बात करता है, जैसे—उत्तर-प्रदेशके निवासीके प्रश्नके उत्तरमें उसका बङ्गाली मित्र कहता है—

हाम लौक्खीकुण्ड जाता है। [मैं लक्ष्मीकुण्ड जा रहा हूँ।]

इनमेंसे पहले वाक्यको स्वदेशमुखी पर-प्रादेशिक और दूसरेको परदेश-मुखी पर-प्रादेशिक कह सकते हैं। ये दोनों प्रकारके भाषारूप भी तीन रूपोंमें प्राप्त होते हैं—

१. संकर, अर्थात् दूसरी भाषाके शब्दोंसे मिली हुई।

२. विकृत, अर्थात् वाक्य बिगाड़कर बोली हुई।

३. दुरुच्चरित, अर्थात् भद्दे ढङ्गसे शब्दोंको तोड़-मरोड़कर बोली हुई।

इन दोनों प्रकारकी भाषाओंके विभिन्न रूपोंके उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

स्वदेशमुखी परप्रादेशिक

१. संकर स्वदेशमुखी—

(क) टिकट कटाकर बम्बई इस्प्रेससे चले जाओ।

(ख) टिरेनसे भिड़कर एक बैलगाड़ी खलास (समाप्त) हो गई।

(ग) खोलीका बाजूमें जो बाई पड़ेली है उससे पगार लेनेका है। (घरके पास जो देवी लेटी हैं उनसे वेतन लेना है।)

(घ) तपास करो और बूम पाड़ो तो टपाल मिलेगा। (ढूँढ़ो और पुकारो तो पत्र मिलेगा।)

(ङ) .खूबसूरत भवनमें .कद्देआदम चित्र टँगा है।

२. विकृत स्वदेशमुखी—

(क) कहो बाबू ! किदर जाने माँगता है।

(ख) तसरीप धरिए।

(ग) हम उनसे बोला था।

३. दुरुच्चरित स्वदेशमुखी—

(क) टेसन (स्टेशन) के लेटफारम (प्लेटफौर्म) पर जाय बइठो।

(ख) गाड़िया कंडम (त्याज्य) भै गई।

(ग) अँधेरी कचहरी (ऑनरेरी कोर्ट) माँ जंट साहब (ज्वाइंट मजिस्ट्रेट) अबहीं नहीं आवा।

(घ) यह बरदास (बर्दास्त) से बहिरे है।

परदेशमुखी परप्रादेशिक

इसी ढंगसे परदेश-मुखी परप्रादेशिक बोली भी तीन ढंगकी होती है—

१. संकर परदेश-मुखी—

(क) सूरदासकी कविता फार चाँगली (बहुत अच्छी) है।

(ख) इंडियाका लोग बहुत फ़िलासफ़रका माफ़िक होता है।

(ग) घड़ियाल (घड़ी) में कितना बागा है।

२. विकृत परदेश-मुखी—

(क) हम घोड़ेका मेम साहब माँगता है। (मुझे घोड़ी चाहिए।)

(ख) तुम जाने शकता। (तुम जा सकते हो।)

(ग) तुमकू कबी जानेका है। (तुम्हें कब जाना है।)

३. दुरुच्चरित परदेशमुखी—

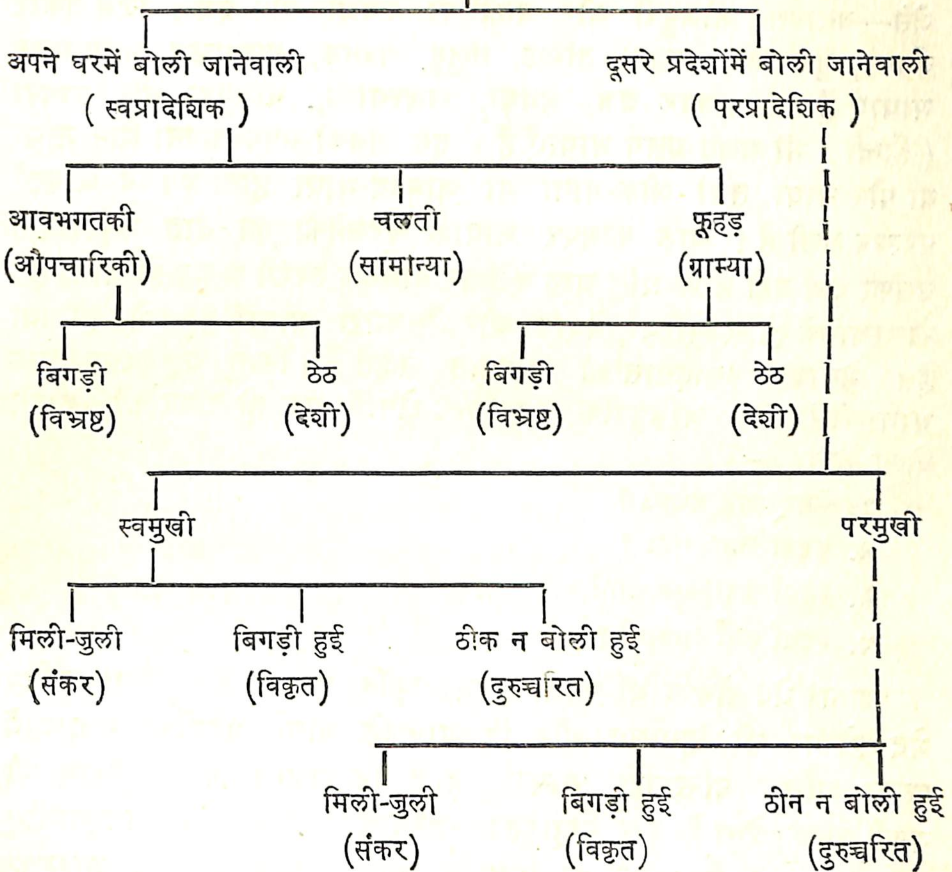
(क) जीस जाइगा हाम बाइटा है ऊसका मालिक हामको बोला जे माकानको काब्जामें करो। (जिस जगह मैं बैठा हूँ उसके मालिकने कह दिया है कि मकानपर क़ब्ज़ा कर लो।)

(ख) संसकीरत (संस्कृत) भाशा बहोत मुस्किल है।

(ग) हमारा डाँट डर्ड करने माँगटा है। (मेरा दाँत दर्द कर रहा है।)

जानपद-भाषा इतने अधिक प्रकारसे बोली जाती है कि उसकी न तो कोई सीमा है और न उसके प्रकारोंकी कोई गणना की जा सकती है क्योंकि शिक्षाका अधिक प्रचार हो चलने, अधिक प्रकारके लोगोंके सम्पर्कमें आने, विविध प्रकारके सम्बोध्य या श्रोताके अनुसार अथवा अनेक प्रकारके व्यवसायोंसे सम्बध्द होनेपर प्रत्येक व्यक्तिकी भाषा स्वभावतः अनेक विकृत रूप ग्रहण करती है और अनेक नये-नये शब्द भी ग्रहण करती चलती है, जैसे अँगरेज़ीके 'सिलिंडर' शब्दके बदले 'गिलास', 'पौज़िटिव-निगेटिव' बिजलीके तारको 'गरम-ठंडा तार' और 'मीटर'का 'घड़ी' कहते हैं। अतः, स्वदेशमुखी और परदेशमुखी परप्रादेशिकके असंख्य रूप और वर्ग हो सकते हैं।

लोक-भाषा या जानपद-भाषाका उपर्यङ्कित विवरण निम्नांकित सरणीके द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—



§ २००. पास-पासकी भाषाएँ कभी अपरिचित होती हैं, कभी सखी होती हैं और कभी बहन।

विश्व-भरकी भाषाओंका अध्ययन और मनन करनेपर ज्ञात होता है कि कुछ भाषाएँ पास-पास होनेपर भी अपरिचित होती हैं, अर्थात् उनकी प्रकृति एक दूसरीसे नहीं मिलती जैसे योरपमें जर्मन और फ्रान्सीसी अथवा भारतमें दक्षिणकी भाषाएँ (तमिळ, तेलुगु, कन्नड़, मलयाळम्) जिन्हें विभिन्न भाषा-भाषी परस्पर नहीं समझते। कुछ भाषाएँ परस्पर सखी होती हैं अर्थात् उनके भाषा-भाषी परस्पर एक दूसरेको बात समझ लेते हैं। यद्यपि इनकी

रचना-प्रकृति भिन्न होती है तथापि वे एक दूसरे भाषा-भाषीके लिये सरलता-पूर्वक बोधगम्य होती हैं। कुछ भाषाएँ परस्पर बहन होती हैं, अर्थात् उनकी रचना-प्रकृति लगभग एक-सी होती है, केवल रूपमें थोड़ा-सा भेद होता है। जैसे—बनारसी, भोजपुरी और मगही या अवधी और ब्रज। जिस प्रकार बँगला, गुजराती, मराठी तमिळ, तेलुगु, कन्नड़, मलयाळम् अलग-अलग भाषाएँ हैं उसी प्रकार ब्रज, अवधी, राजस्थानी, भोजपुरी और नागरी (हिन्दी) भी अलग-अलग भाषाएँ हैं। इन सबकी अपनी-अपनी शिष्ट भाषा या पौर भाषा तथा लोक-भाषा या जानपद-भाषा होती है। ये भाषाएँ परस्पर सखी हैं। आठ कोसपर भाषाके बदलनेकी जो बात कही गई है उसका अर्थ यही है कि प्रति आठ कोसपर बोलनेके स्वरमें अन्तर हो जाता है। राजस्थानमें ही जयपुरिया, मेवाड़ी और जैसलमेरी भाषामें बहुत भेद हो गया है। मेवाड़ीमें 'साढ़ेसात'को 'हाड़ेहात' कहते हैं। किन्तु यह लक्षण अन्य भाषाओंमें नहीं। भोजपुरीके ही विभिन्न क्षेत्रोंमें एक ही वाक्य कई प्रकारसे बोला जाता है—

१. केहर् जात हउवऽ ?
२. कहवाँ जात बाटऽ ?
३. रउवाँ कहाँ जात बानी ?
४. रउवाँ कहाँ जातानी ?

इतना भेद होनेपर भी उनकी रचना-प्रकृति एक ही है। भाषा-प्रकृतिमें भेद होनेपर भी हिमालय और विन्ध्याचलके बीचके प्रदेशोंकी भाषाओंमें इतना अधिक पारस्परिक सम्पर्क रहा है कि राजस्थानका रहनेवाला भी मगही समझ लेता है और बिहारका रहनेवाला पंजाबी और राजस्थानी। यही कारण है कि इतने बड़े प्रदेशकी स्वीकृत शिष्टभाषा ही भारतकी राजभाषा हिन्दी बन गई।

अर्थ

प्रसिद्ध वैयाकरण इन्द्रने लिखा है 'अर्थवान् पदम्' [जिसका अर्थ हो उसे पद कहते हैं।] सम्पूर्ण वाग्व्यापार किसी न किसी अर्थके संक्रमणके लिये होता है अर्थात् वक्ता (या लेखक) जब कुछ कहता है तब उसका अभिप्राय यह होता है कि श्रोता या सम्बोध्य अथवा पाठक मेरी कही हुई बातका अर्थ समझ ले (§ ३,९)। इतना ही नहीं, वह यह भी चाहता है कि मेरी बातका, कथनका, लेखका या वाणीका समुचित प्रभाव भी पड़े और श्रोता, सम्बोध्य या पाठक मेरे विचारोंसे पूर्णतः सहमत हो, तदनुसार आचरण करे अथवा तदनुसार अपनी धारणा बनावे। ऐसी स्थितिमें अर्थका ही वाग्व्यापारमें सबसे अधिक महत्त्व है। इसीलिये वैयाकरणोंने शब्द और अर्थका नित्य सम्बन्ध माना है। महाकवि कालिदासने रघुवंशके प्रारम्भमें पार्वती और परमेश्वरकी वन्दना करते हुए उन्हें वाणी और अर्थके समान सम्पृक्त माना है (वागर्थाविव सम्पृक्तौ)। इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजीने सीता और रामको सम्पृक्त मानते हुए कहा है—

> गिरा-अरथ जल-बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
> बन्दौं सीताराम पद, जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥

ज्योंही कोई शब्द किसीके मुँहसे निकलता है त्योंही उसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है। यह सम्भव है कि वक्ताकी बात ठीक न समझनेके कारण, अभ्यासके कारण अथवा अज्ञानके कारण श्रोता या सम्बोध्य उसका उद्दिष्ट

अर्थ न समझ पावे किन्तु वक्ताके मनमें शब्दके साथ ही या कभी-कभी कहनेसे पूर्व ही अर्थकी भावना या अर्थका रूप मस्तिष्कमें स्पष्ट बन जाता है। इसी कारण कहा गया है कि वक्ता अपने श्रोताको दृष्टिमें रखकर अपनी भाषाका स्वरूप प्रस्तुत करता है। इतना ही नहीं, यह क्रिया स्वतः बिना प्रयासके होती है। कुछ वक्ता या लेखक किसी विशिष्ट वर्ग या समाजके लिये बोलते या लिखते हैं। उनकी भाषाका अर्थ वह विशिष्ट समाज ही समझ पाता है। अतः, भाषाका अर्थ कभी तो व्यापक रूपसे किसी एक समुदायके सब लोगोंके समझने-योग्य होता है और कभी किसी विशेष वर्गके योग्य। इसका तात्पर्य यह है कि किसी शब्द या वाक्यका अर्थ सब दशाओंमें सर्वबोध्य नहीं होता।

§ २०१. वाणी भी एक प्रकारका संकेत है। कुछ कहनेपर उससे जो कुछ समझा जाय उसे अर्थ कहते हैं।

पीछे (§ ४६; १५२) बताया जा चुका है कि भाषा भी एक प्रकारका संकेत है और उससे भी उसी प्रकार अर्थकी प्रतीति होती है जैसे किसी अन्य प्रकारके संकेतको देख या सुनकर। सी० के० ऑग्डेन और आई० ए० रिचार्ड्सने 'अर्थ' का अर्थ समझाते हुए कहा है कि 'जिन बहुत-सी परिस्थितियोंमें किसी उक्ति या क्रियाका प्रयोग करनेपर सदा समान लक्षण प्रकट हो और जिन परिस्थितियोंमें उस क्रिया या उक्तिका प्रयोग न हो उसमें वे लक्षण न दिखाई पड़ें तब उन लक्षणोंका योग ही अर्थ कहलाता है।'

यहाँ क्रिया या उक्ति का अर्थ केवल बोलना ही नहीं, कुछ होना समझना चाहिए अर्थात् यदि कुछ दिखाई पड़ जाय, सुनाई पड़ जाय, पढ़नेमें आ जाय, मनमें कोई बात उठ खड़ी हो या छूनेसे, सूँघनेसे किसी बातका ज्ञान या अनुभव हो जाय या किसी शब्द या वाक्यको सुनकर उससे कुछ समझ लिया जाय या पूरा पुस्तक पढ़कर या किसीकी विस्तृत बात सुनकर कोई भावना, विचार या धारणा मनमें बैठ जाय तो उस समझी हुई बातको ही अर्थ कहते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संकेत (देखे, सुने, पढ़े, सूँघे या कहे हुए) से ही हम कुछ समझते, ज्ञान प्राप्त करते अर्थात् अर्थ निकालते हैं। 'अर्थो भाव-प्रत्ययः'। [भावका ज्ञान ही अर्थ है।]

यह संकेत क्या और कैसा होता है और उससे कैसे कोई अर्थ निकलता है यह भली भाँति जान लेना चाहिए।

संकेत (साइन)

'संकेतोंका सिद्धान्त' वह व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत सब प्रकारके संकेतोंसे व्यक्त होनेवाले अर्थोंका परिज्ञान, परीक्षण और विश्लेषण किया जाता है और जिसके अन्तर्गत भाषात्मक संकेत, भाषाके बाहरके संकेत, मनुष्य या पशुसे या स्वतः अपने आप प्रकट होनेवाले अथवा पहलेसे परम्परागत चले आते हुए सब प्रकारके संकेतोंसे प्रकट होनेवाले सब प्रकारके अर्थोंका अध्ययन होता है। इस संकेत-विज्ञानको 'सीमेशियोलौजी, सेमियोटिक, सीमेन्टिक्स, सिग्निफ़िक्स, सीमेटोलौजी और थियरी ऑफ़ साइन्स' भी कहते हैं। यहाँ संकेत-विज्ञानको 'सेमियोटिक' ही कहेंगे क्योंकि 'सीमेन्टिक्स' या 'भाषाके अर्थका परीक्षण' तो 'सेमियोटिकका' ही छोटा-सा अङ्ग है।

संकेत-विज्ञान या सेमियोटिक

'सेमियोटिक' शब्द यूनानी भिषग्ज्ञोंके यहाँ रोगोंके परिज्ञानके लिये और 'स्टोईय' (समतावादी) दर्शनमें तर्क और भाषा-शास्त्रके सिद्धान्तके अर्थमें प्रयुक्त होता था। किन्तु चार्ल्स पीयर्सने इस 'सेमियोटिक' शब्दको संकेत पढ़ने और जाननेके सम्बन्धकी समस्त क्रियाके अर्थमें ग्रहण किया। योरपमें 'स्टोइसिज्म' (उदासीनतावाद या सुख-दुःखकी चिन्ता न करनेवालोंका मत), 'ईपिक्यूरियनिज्म' (सुखवाद) और 'स्केप्टिसिज्म' (सन्देहवाद अर्थात् सत्य और ईश्वरके अस्तित्वमें सन्देह करनेवाले) नामके जो बहुतसे पन्थ चले वे बहुत दिनोंतक इसी विषयपर दार्शनिक वाद-विवाद करते रहे कि संकेतोंके अर्थ कितने और कहाँतक हैं। इस विज्ञानकी परिधि यहाँतक बढ़ गई कि तर्क, व्याकरण और भाषण-शास्त्र-जैसे विषय भी संकेतार्थ-परीक्षण (साइन्सिया सर्मोचीनालिस या सेमियोटिक डिसिप्लिन) के अन्तर्गत ही समाविष्ट हो गए। भारतीय भाषा-शास्त्रियोंने इसपर बहुत गम्भीरताके साथ विचार किया और लिखा है। अब तो इस विज्ञानकी परिधि इतनी अधिक विस्तृत हो गई है कि पशुओंके जीवन और मानसकी परीक्षा करनेवाले लोग, मानस-चिकित्सक, भाषाशास्त्री, समाजशास्त्री, नरशास्त्री, तार्किक और प्रयोजनवादी सभी लोग संकेतोंके परीक्षणमें जुट गए हैं। सी० के० ऑग्डेन और आई० ए० रिचार्ड्सने इस दिशामें सबसे अधिक श्लाघ्य कार्य किया। आजकल वैज्ञानिक आन्दोलनोंके एकीकरण (यूनिटी ऑफ़ साइन्स

मूवमेन्ट्स) की जो धूम मची है उसका सारा ढाँचा संकेतोंके परीक्षणपर ही आश्रित है।

संकेतका उद्देश्य

जब कोई यह कहता है कि संकेत अमुक कार्य करता है अथवा संकेतका अमुक उद्देश्य है तब समझना चाहिए कि वह संकेत कोई ऐसी क्रिया करता है जिससे कोई 'क' नामकी वस्तु किसी दूसरी 'ख' नामकी वस्तुके सम्बन्धमें यह समझती है कि वह ('ख' नामकी वस्तु) 'क' नामकी वस्तुसे उसपर प्रभाव डालकर 'ग' नामकी किसी तीसरी वस्तुका विवरण प्राप्त कर सकती है।

इसे एक उदाहरणके द्वारा इस प्रकार समझाया जा सकता है। कोई व्यक्ति ऐसा पत्र पढ़ रहा है जिसमें भारतका विवरण दिया हुआ है। इस क्रियामें संकेत जिस प्रकार कार्य करता है उसे समझाना हो तो कह सकते हैं कि पत्र 'क' है, अर्थ लगानेवाला 'ख' है और भारतवर्षका विवरण 'ग' है जिसे वह व्यक्ति पढ़ रहा है और जिसमें लिखे हुए संकेतों (अक्षरों) से वह अर्थ निकालता है। इस प्रक्रियामें 'ख' तो अर्थ लगानेवाला (इंटर-प्रेटर) कहलाता है, 'क' या पत्र ही संकेत (साइन) है और 'ग' या भारतका विवरण ही संकेतका विषय (सिग्नीफ़िकाटा) कहलाता है। इस प्रक्रियामें संकेतक (पत्र) ही संकेत-विषयका परिचय देता है। जब यह संकेतित विषय सत्य होता है अर्थात् उसके लिये संकेत करने या बतानेकी आवश्यकता नहीं होती तब उसे संकेतका 'संकेत-विषय' (डिनोटेटम) कहते हैं क्योंकि ऐसा कोई भी संकेत बिना निर्देशके ही अपना अर्थ बता देता है, जैसे—कैन्तोर या किन्नर (आधा मनुष्य आधा घोड़ा) शब्द।

संकेतके रूप

जिन संकेतोंसे अर्थोंकी प्रतीति होती है उनके जो बहुतसे रूप खोज निकाले गए हैं वे हैं—

१. निर्देशक (डेज़िग्नेटर या डेज़िग्नेटरी साइन) : जो अर्थ लगानेवालेको किन्हीं वस्तुओं और उनके गुणोंका संकेत करता है, प्रयोजन या महत्त्वका नहीं।

२. अभिव्यंजक (ऐक्स्प्रेसर या ऐक्स्प्रेसिव साइन) : जो अर्थ लगानेवालेको उस वस्तुका महत्त्व बतलाता है जो उसे पहलेसे निर्देशक-संकेत-द्वारा ज्ञात है।

३. प्रेरक (मोटिवेटर या मोटिवेशनल साइन) : जो अर्थ लगानेवालेको ऐसा कार्य करनेके लिये संकेत करता है जिसका महत्त्व अभिव्यक्त हो चुका है

और यह प्रेरणा देता है कि अर्थ बतानेवाला उसपर या उसके सम्बन्धमें कोई क्रिया करे।

४. रूप-संकेत (फ़ौर्मोर या .फौर्मेटिव साइन) : जो अर्थ लगानेवालेको यह आश्रय देता है कि वह अन्य संकेतोंके द्वारा स्पष्ट किए हुए संकेत-विषयोंके बीचका सम्बन्ध ठीक कर दे।

इन उपर्यङ्कित चारों प्रकारके संकेतोंको एक-एक उदाहरणके द्वारा इस प्रकार समझाया जा सकता है। 'हरा' शब्द निर्देशक है जो किसी वस्तुके गुणोंका संकेत करता है। 'वाह !' शब्द अभिव्यञ्जक (ऐक्सप्रेसर) है क्योंकि वह किसीके गुणोंकी प्रशंसाको अभिव्यक्त करता है। 'डटे रहो' शब्द प्रेरक (मोटिवेटर) हैं क्योंकि ये शब्द कुछ काम करते रहनेके लिये प्रेरणा देते हैं। 'क का अर्थ है (प या क)' वाक्यमें कोष्ठबद्ध शब्द रूप-संकेत हैं। इन चारों प्रकारोंके संकेतोंमेंसे प्रत्येकमें उससे पहलेवाला संकेत तो समाविष्ट होता है किन्तु पीछेका नहीं, जैसे—अभिव्यञ्जक संकेतके बिना तो निर्देशक संकेत हो सकते हैं किन्तु निर्देशक संकेतके बिना अभिव्यञ्जक संकेत नहीं हो सकते क्योंकि 'हरा' वृक्ष देखकर ही 'वाह' कह सकते हैं, हरे वृक्षको देखे बिना नहीं कह सकते।

ऊपर जो चार प्रकारके संकेत बताए गए हैं इनके और भी विभेद किए जा सकते हैं, जैसे—निर्देशकके अन्तर्गत हैं–१. अभिज्ञापक (आइडेन्टिफ़ायर) जैसे—वह, ये, यह, रामचन्द्र, सीता आदि; २. विशेषता-सूचक, जैसे–मनुष्य, घोड़ा, बृहत्तम, दौड़ता है आदि; ३. कथन-सूचक (स्टेटर्स) जैसे—'अर्जुनसे युधिष्ठिर बड़े थे'।

विभिन्न प्रकारके विषयोंके लिये भिन्न संकेत

जिन अनेक विषयोंपर मनुष्य सोचता है अथवा जिनके सम्बन्धमें परस्पर विचार-विमर्श या वार्तालाप करता है, उन सबके कुछ विशिष्ट और भिन्न संकेत-रूप होते हैं, जैसे–विज्ञानपर विचार करनेके संकेत अलग हैं, सुन्दरता-पर विचार करनेके अलग और धर्मपर विचार करनेके अलग। इन सभी विषयोंपर विचार-विमर्श करते समय प्रत्येक व्यक्तिको कुछ कहना-सुनना पड़ता है। उस सम्पूर्ण कथनमें केवल उन्हीं प्रकारके संकेतोंका प्रयोग किया जाता है जो उन्हें स्पष्ट करनेमें उचित रूपसे सहायक हो सकें, जैसे—विज्ञानपर बात-चीत करनेके लिये निर्देशक संकेत सबसे प्रमुख होते हैं, रूप-संकेत उन्हें

सहयोग देते हैं और वे दोनों प्रकारके संकेत अभिव्यंजक और प्रेरक-संकेतोंको उचित पंथपर चलनेके लिये मार्ग-प्रदर्शन करते हैं। किन्तु यह आवश्यक है कि इन निर्देशक संकेतोंके कथन-सूचक (स्टेटसं) संकेत सत्य हों।

संकेतोंका उद्देश्य

ये सभी संकेत व्यक्ति या समाजके अनेक कार्यों और व्यापारोंमें सहायक होते हैं, जैसे—प्रेरक संकेत किसी व्यक्तिसे कोई निश्चित कार्य करानेके लिये प्रयुक्त किया जा सकता है। ऐसे ही अनेक वैज्ञानिक वार्ताएँ भी यों तो ज्ञान देनेके लिये ही हो सकती हैं किन्तु यशोवर्धनके लिये भी वैज्ञानिक वार्ताका प्रयोग किया जा सकता है।

अर्थ-विज्ञान, प्रयोजन-शास्त्र और वाक्यार्थ-विज्ञान

संकेत-विज्ञान (सेमियोटिक) के प्रथम अंग 'सीमेन्टिक्स' (अर्थ-विज्ञान) में यह परीक्षण होता है कि संकेतका क्या कार्य है, उसका प्रयोग क्यों और किस प्रकार होता है। संकेत-विज्ञानके अंगभूत 'प्रैग्मेटिक्स' (प्रयोजन-शास्त्र) से केवल यह ज्ञात होता है कि एक प्रकारसे व्यवस्थित संकेतोंका परस्पर क्या सम्बन्ध है। इस शास्त्रमें यह विचार नहीं किया जाता कि इन संकेतोंका क्या प्रयोजन और महत्त्व है। संकेत-विज्ञानके तीसरे अंग 'सिन्टेटिक्स' (वाक्यार्थ-विज्ञान) में किसी व्यवस्थाके अन्तर्गत आए हुए संकेतोंके पारस्परिक सम्बन्धका ही केवल अध्ययन किया जाता है, उनके महत्त्व और प्रयोजनोंका नहीं। इन तीनों (सीमेन्टिक्स, प्रैग्मेटिक्स और सिन्टेटिक्स) के समन्वयको ही संकेत-विज्ञान (सेमियोटिक) कहते हैं।

संकेत-विज्ञानकी परिधि

अभी संकेत-विज्ञानकी विद्या विशेष समुन्नत नहीं हो पाई है। जब उसका रूप पूर्णतः समुन्नत और व्यवस्थित हो जायगा तब उसके अन्तर्गत तर्कशास्त्र, मनोवैज्ञानिक चिकित्सा, विज्ञानोंका समन्वय, प्रचारके प्रकारोंका परीक्षण, दर्शन, विधि, राजनीतिक और धार्मिक संकेतोंका समाधान तथा उनका पूरा विवरण दिया जा सकेगा।

संकेत-विज्ञानका प्रयोग चार विभिन्न क्षेत्रोंमें इस प्रकार हो सकता है—

१. संकेत-विज्ञानके अन्तर्गत वैज्ञानिक भाषाशास्त्रका अध्ययन उस समय किया जा सकता है जब शब्द, वाक्य, पदरूप (पार्ट्स ऑफ़ स्पीच) या संज्ञा

आदि शब्दोंकी परिभाषा स्थिर करनी हो और यह परिभाषा भी संकेत-विज्ञानकी स्वनिर्धारित शब्दावलीमें ही प्रस्तुत हो। इसका दूसरा कार्य यह होगा कि वह भाषा-संकेतोंको भी अन्य संकेतोंका सहयोगी वर्ग समझ ले।

२. कलाका क्षेत्र भी संकेत-विज्ञानकी परिधिमें उस समय आ जाता है जब किसी कलाकृति (चित्र) को भी संकेत मान लिया जाय और उसकी सुन्दरता बतानेवाले संकेतका कोई अलग भेद बताकर उसका नामकरण कर दिया जाय, जैसे—अभिव्यंजक (ऐक्स्प्रेसर)। ऐसी स्थितिमें सौन्दर्य-विज्ञान (ऐस्थेटिक्स) ही संकेत-विज्ञानका ऐसा अंग बन जायगा जिसमें सौन्दर्य-बोधक संकेतोंका परीक्षण हो सकेगा। जहाँतक भाषाके आश्रयसे अभिव्यक्तिके रूपों (कविता, नाटक आदि) का विचार होता है, वहाँताक तो वे संकेतके साधारण सिद्धान्तकी ही परिधिमें आ जाते हैं।

आई० ए० रिचार्ड्सने इस उलझनको सुलझाते हुए संकेतोंके दो रूप बताए हैं—१. भावात्मक (इमोटिव) और २. सूचनात्मक (रेफ़रेन्शल)। एक विचारकका मत है कि सौन्दर्यात्मक-संकेत स्वतः अर्थ होता है। यदि किसी चित्रका वर्ण्य विषय कोई जिज्ञासु किसी अन्य माध्यमके द्वारा पहलेसे जान चुका हो या वह उसे बताया जा चुका हो तो यह सौन्दर्यात्मक संकेत जिज्ञासुको तत्काल उसके अर्थकी प्रतीति करा देता है। किन्तु विज्ञानका विषय दूसरे ही प्रकारसे समझाया जा सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि सौन्दर्य-विज्ञान भी एक प्रकारका संकेत-ज्ञान है। इसलिये वह भी संकेत-विज्ञानका ही अंग है।

३. यह संकेत-विज्ञान ही आगे चलकर सौन्दर्यका परीक्षण करनेवाले ऐसे व्यवस्थित विधानका भी निर्माण कर देगा जिसमें सौन्दर्य-परीक्षणका रूप तो स्पष्ट हो ही जायगा किन्तु साथ ही आलोचकको भी यह स्पष्ट कर देनेके लिये बाध्य करेगा कि वह किस पद्धतिसे (वैज्ञानिक पद्धतिसे, सौन्दर्यात्मक पद्धतिसे या प्रेरणात्मक पद्धतिसे) और किस उद्देश्यसे आलोचना या व्याख्या कर रहा है।

४. संकेत-विज्ञानका प्रयोग अब शिक्षाके क्षेत्रमें भी किया जा सकता है। किन्तु यहाँपर संकेत-विज्ञानको वैज्ञानिक भाषा-शास्त्रके लिये ही ग्रहण किया जा रहा है और संकेत-विज्ञानको केवल उस शाखाका विवेचन किया जा रहा है जिसे 'भाषाके अर्थका परीक्षण' (सीमेन्टिक्स या तात्पर्य-परीक्षा, शब्दार्थ-

विज्ञान या भाषार्थ-विज्ञान) कह सकते हैं और जिसे भ्रमवश कुछ विद्वानों-ने अर्थ-विज्ञान या अर्थ-परिचय-जैसी संज्ञा देकर जटिल कर दिया है।

अर्थका परीक्षण या तात्पर्य-परीक्षा

§ २०२. अर्थके परीक्षणको तात्पर्य-परीक्षा ही कहना चाहिए।

शब्दकी व्याख्या करते हुए पीछे (§ १३१) बताया जा चुका है कि 'पद वह है जो वाक्यमें पहुँचकर अपना रूप बिना बदले या रूप बदलकर उस वाक्यमें प्रयुक्त होनेवाले अन्य पदोंके साथ अपना सम्बन्ध स्पष्ट करता हुआ अपना अर्थ भी बताता चले।' वाक्यके प्रसङ्गमें (§ १४८) यह स्पष्ट बताया जा चुका है कि वाक्यका ही अर्थ होता है, वाक्यके अन्तर्गत आए हुए शब्दोंका नहीं। सामान्य रूपसे प्रातिपदिक शब्दोंके अनेक अर्थ होते हैं। उपसर्ग लगनेसे धातुओंके भी बहुतसे अर्थ हो जाते हैं तथा बहुतसे शब्दोंके अर्थ समय-समयपर परिवर्तित भी होते रहते हैं और बनते-बिगड़ते, घिसते-मिटते और नया अर्थ भी ग्रहण करते चलते हैं। इसलिये अर्थोंका परीक्षण भी उसी प्रकार करना चाहिए जिस प्रकार ध्वनियों और शब्दोंका होता है। इस प्रकारके परीक्षणको विद्वानोंने अर्थ-विचार या शब्दार्थ-ज्ञान (सीमेन्टिक्स) कहा है और किसी-किसीने तो उसके लिये 'अर्थातिशय'-जैसे बड़े बेढंगे शब्दका प्रयोग किया है जो नितान्त भ्रामक है। वास्तवमें इस परीक्षणको 'तात्पर्य-परीक्षा' ही कहना चाहिए। प्रोफ़ेसर पोस्टगेटने इसका नाम रक्खा है 'हेमाटोलौजी' (उक्ति-विज्ञान) और ब्रेअलने रक्खा है 'सेमान्तीक'। किन्तु ये सभी नाम भ्रामक और अशुद्ध हैं। इसे कहना चाहिए 'सेन्स-स्टडी,' 'सेन्सोलौजी' या 'तात्पर्य-परीक्षा' क्योंकि 'सीमेन्टिक्स' (अर्थ-विज्ञान) का अर्थ है 'शब्दसे समझे जानेवाले अर्थको जाननेका विज्ञान।' उसका परीक्षण इसके अन्तर्गत नहीं आता। यद्यपि यूनानी शब्द 'सीमाशिया' से निर्मित 'सीमेशियोलौजी' शब्द अधिक उपयुक्त है जिसका अर्थ है 'शब्दोंके अर्थका विस्तार और सम्वर्धन जाननेका विज्ञान' फिर भी यह शब्द बहुत सटीक नहीं है क्योंकि इसके अन्तर्गत अर्थका विस्तार जाननेका ही विषय आता है। किन्तु तात्पर्य-परीक्षा या अर्थ-परीक्षणके अन्तर्गत तो अर्थके विस्तार, परिवर्तन, संवर्धन, ह्रास आदि सभी पक्षोंपर विचार हो सकता है इसीलिये अर्थ-परीक्षाके लिये 'तात्पर्य-परीक्षा' शब्द ही सबसे अधिक उपयुक्त है। अर्थ-शास्त्रके कारण 'अर्थ' शब्द 'धन' या 'द्रव्य'के अर्थमें बहुत रूढ हो चला है

इसलिये भी शब्द या वाक्यके अर्थकी परीक्षाके लिये 'तात्पर्य-परीक्षा' शब्द ही अधिक उपयुक्त और सटीक होगा।

तात्पर्य-परीक्षा (सीमेन्टिक्स)

एस० आई० हायाकावाने तात्पर्य-परीक्षाका लक्ष्य स्पष्ट करते हुए कहा है कि तात्पर्य-परीक्षाके अन्तर्गत दो क्रियाओंका निर्देश किया जाता है—

१. ऐतिहासिक दृष्टिसे किसी भाषाका परीक्षण करनेकी वह क्रिया, जो कोशगत या प्रातिपदिक शब्दोंके अर्थोंमें होनेवाले परिवर्तनका परीक्षण करती है और जिसे 'कोशार्थ-परीक्षण-विज्ञान' (सीमेशियोलौजी) कहते हैं।

२. वह क्रिया, जिसमें यह परीक्षण किया जाता है कि किसी भाषाको या अन्य संकेतोंको देखने या सुननेसे मनुष्यपर क्या प्रभाव पड़ता है और उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है। इस क्रियाको 'भाव-प्रतिक्रिया' (सिग्निफ़िक्स) कहते हैं।

माइकेल ब्रेअलने तात्पर्य-परीक्षाके अर्थके अन्तर्गत शब्दोंके अर्थोंमें होनेवाले परिवर्तनका ऐतिहासिक परीक्षण भी सम्मिलित कर लिया जिसमें यह देखा जाता है कि शब्दोंके अर्थोंमें यह परिवर्तन कब, क्यों और कैसे हुआ। अब तो तात्पर्य-परीक्षा (सीमेन्टिक्स) का प्रयोग उस प्रकारके परीक्षणके लिये भी प्रयुक्त होने लगा है जिसे लेडी वायला वैल्बीने 'संकेत-विज्ञान' या 'भावार्थ-परीक्षा' (सिग्निफ़िक्स) के नामसे चलाया था।

संकेत-विज्ञान (सिग्निफ़िक्स)

लेडी वैल्बीका कथन है—'अर्थका परीक्षण या तात्पर्यका अध्ययन ही 'संकेत-विज्ञान' (सिग्निफ़िक्स) कहलाता है किन्तु उसे व्यापक बनानेके लिये मनकी ऐसी प्रणाली मान लेनी भी आवश्यक है जो मनकी सम्पूर्ण क्रियाओंमें, यहाँतक कि तर्कशास्त्रमें भी काम आ सके। उनके कथनानुसार तात्पर्य या अर्थका परीक्षण शब्दोंके परीक्षणसे कहीं आगेका विषय है। इसके अन्तर्गत लोगोंके सभी कार्यों और उन कार्योंकी सब परिस्थितियोंका परीक्षण भी समाविष्ट हो जाता है क्योंकि 'तात्पर्य' शब्द स्वयं 'अर्थ' या 'उद्देश्य'के अन्वेषणसे कहीं अधिक आगेकी बात है। तात्पर्य-परीक्षामें यह भी विचार किया जाता है कि वक्ताने किस उद्देश्यसे, क्या कहा और जिस उद्देश्यसे उसने जब, जो कुछ भी कहा तब उसके मनमें श्रोताके प्रति अनुराग, घृणा, क्रोध, प्रशंसा आदिमेंसे

क्या भाव थे अर्थात् इसके अन्तर्गत नैतिक निर्णय भी सम्मिलित हैं। लेडी वैल्बी यहाँ भी चाहती थीं कि अर्थके परीक्षणमें वक्ताके मुखसे निकले हुए शब्दोंका ही नहीं, वरन् शब्दोंके साथ श्रोता-द्वारा किए जानेवाले सम्पूर्ण कार्यों और उसके मनपर पड़े हुए प्रभावोंका भी परीक्षण किया जाय कि संकेतों और संकेतोंकी परिस्थितियोंसे श्रोताके मनपर क्या प्रभाव पड़ता है और वह संकेत-ग्रहीता उस प्रभावके कारण क्या व्यवहार करता है—हँसता है, रोता है, गाली देता है, मार बैठता है या मुँह फेर लेता है। लेडी वैल्बीका कथन है कि जब इस प्रकारसे अर्थका परीक्षण किया जायगा तभी कोई सटीक अर्थं जानने या किसी बातको ठीक-ठीक समझनेका ऐसा नियम निकाला जा सकेगा जिसका प्रयोग हम संसारमें कहीं भी, किसी भी संकेतका अर्थ निकालनेके लिये कर सकते हैं। यद्यपि मस्तिष्कको यह प्रणाली उन सब विषयोंके लिये प्रयुक्त होनी चाहिए जिनमें बुद्धिसे चिन्तन करना पड़ता हो किन्तु शिक्षाके क्षेत्रमें तो उस धाराको अपना ही लेना चाहिए जिससे कहीं भी कुछ जानने या सीखनेमें किसी प्रकारका भ्रम या बाधा न हो और जो रिक्थमें मिली हुई भाषाओंकी अव्यवस्थाके कारण किसी प्रकारकी जटिलता न उत्पन्न होने दे और जो साथ ही हमारे अर्थ करनेके अभ्यासके कारण उठ खड़ी हुई बाधाओंका भी निराकरण कर सके क्योंकि संसारमें जितनी भी प्रसिद्ध सभ्यताएँ हैं वे अपने प्राचीन युगकी उस वाग्व्यापार-पद्धतिको चलाए रखना चाहती हैं जो अतीत युगमें भले ही उपयुक्त रही हों, किन्तु जो अब हमारे किसी प्रयोजनकी नहीं है। इसलिये लेडी वेल्बीने कहा है कि इन दोनों प्रकारकी अव्यवस्थाओंको किसी न किसी उचित पद्धतिसे दूर करना ही चाहिए।

संकेत-विज्ञानने सबसे बड़ा निदर्शन यह किया है कि 'जिन जटिलताओंने व्यवहार-शील मनुष्यों और दार्शनिकोंको विक्षुब्ध और त्रस्त कर रक्खा है वे सब भाषाकी ही जटिलताएँ हैं। ये जटिलताएँ इसलिये बनी हुई हैं कि लोग उन भाषाओंके उन्हीं अर्थोंको ठीक समझे बैठे हैं जो पहलेसे माने चले आते रहे हैं।' लेडी वैल्बीका यह सिद्धान्त कोई नया नहीं है। फ्रान्सिस बेकनसे लेकर जैरेमी बेन्थम-तक अनेक वैज्ञानिक पहले भी यह बात कह चुके थे। अब तो धीरे-धीरे सभी विज्ञानोंमें किसी न किसी रूपमें तात्पर्य-विज्ञानका प्रयोग होने लगा है। लेडी वैल्बीने जिन जटिलताओंको नया मानकर प्रस्तुत किया था उनपर सी० के० ऑग्डेन और आई० ए० रिचार्ड्सने बहुत विस्तारसे प्रयोग करके बताया कि 'हमें भाषा-परीक्षणके कार्यमें सिद्धान्त स्थापित करके

ही नहीं छोड़ देना चाहिए, वरन् भाषाकी समस्त परिस्थितियों, संकटों और बाधाओंका सीधा परीक्षण करके ऐसा मार्ग भी निकाल लेना चाहिए कि आज हम जिस प्रकार दूसरोंसे कहते या दूसरोंके लिये लिखते हैं उसकी दृष्टिसे कहने या बोलनेकी शैलीका स्तर कुछ ऊँचा उठ जाय।' उनका मत है कि 'भाषाका अध्ययन केवल भाषाकी विश्लेषणात्मक पद्धतिके लिये ही नहीं वरन् सामाजिक शान्ति और शीलकी प्रतिष्ठाकी दृष्टिसे भी करना चाहिए।

दो प्रकारके शब्द

§ २०३. तात्पर्यार्थ-शास्त्रियोंने दो प्रकारके शब्द माने हैं—१. प्रतीकात्मक और २. भावात्मक।

सी० के० ऑग्डेन और आइ० ए० रिचार्ड्सने तत्पर्यार्थ-परीक्षणके प्रसंगमें भाषाओंकी जटिलताओंके विवेचनमें यह भी स्पष्ट कर दिया कि सामान्य बोल-चालके शब्दोंके रूपोंके सम्बन्धमें न जाने कितने अन्धविश्वासोंने भी हमारी भाषाओंको कसकर जकड़ रक्खा है। इसी प्रसंगमें उन्होंने बताया कि शब्द-प्रयोगमें कुछ ऐसा विचित्र चमत्कार होता है जो प्रत्यक्ष तो ज्ञात नहीं हो पाता किन्तु परोक्षमें वैसा ही कार्य करता रहता है जैसा वह सौन्दर्य-विज्ञान या दर्शनमें करता है। इस परीक्षणसे उन्होंने यह परिणाम निकाला कि शब्द दो ही प्रकारके हो सकते हैं—

१. प्रतीकात्मक (सिम्बोलिक या रेफ़रेन्शल)।

२. भावात्मक (इमोटिव)

रिचार्ड्स तो आजकल यही परीक्षण कर रहे हैं कि किसी कवितासे कितने प्रकारके अर्थ निकलते हैं और उन विभिन्न प्रकारके अर्थोंसे पाठकोंको क्या कठिनाइयाँ होती हैं क्योंकि रिचार्ड्सके मतानुसार यह सारी अव्यवस्था शब्दोंके कारण ही फैली हुई है।

तात्पर्यार्थ-परीक्षणशास्त्र (सीमेन्टिक्स) तथा अन्य शास्त्र

नर-विज्ञानके सम्बन्धमें जो अनुसन्धान-कार्य हुआ है उससे तात्पर्यार्थ-परीक्षणको बड़ा लाभ हुआ। आदिम भाषाओंका अध्ययन करनेपर ब्रौनिस मालिनोवस्कीने यह निष्कर्ष निकाला कि जो लोग भाषाको केवल अपने मनकी बात दूसरेको समझाने और दूसरेके मनकी बात स्वयं समझने भरका आधार मानते हैं, वे भाषाके विशाल, विस्तृत और विचित्र प्रयोजनका केवल छोटा-सा कोना-भर देखते हैं। वास्तवमें भाषा हमारे सम्पूर्ण व्यवहारकी एक पद्धति है। इसलिये किसी भाषाका परीक्षण केवल इसी आधारपर नहीं कर लेना

चाहिए कि कोश लिखनेवालेने उसका क्या अर्थ निर्दिष्ट किया है वरन् उसे इस दृष्टिसे परखना चाहिए कि समाजमें एक ही बात कहनेके लिये विभिन्न अवसरोंपर, विभिन्न व्यक्तियोंके प्रति, विभिन्न भाषा-शैलियाँ, विभिन्न रूपसे क्यों प्रयुक्त की जाती हैं, लोगोंके पारस्परिक वार्तालाप, लेन-देन, लिखा-पढ़ी, हास-विनोद आदि विभिन्न सामाजिक और मानसिक परिस्थितियोंमें विभिन्न प्रकारकी भाषाओंका प्रयोग क्यों किया जाता है और विभिन्न अवसरोंपर भाषा अलंकृत, अनलंकृत, सीधे या घुमाकर प्रयोगमें क्यों लाई जाती है। तात्पर्य यह है कि भाषाका सब अलंकरण, शृङ्गार, सौन्दर्य, गुण या दोष केवल उन प्रसंगों या परिस्थितियोंकी ही भूमिकामें समझाया जा सकता है जिनमें वह भाषा प्रयुक्त हुई हो।

मालिनोवस्कीने इस कथनके साथ इतना और भी संकेत कर दिया था कि वाणीके प्रयोगकी परिस्थिति या प्रसंगके आधारपर भाषाओंका परीक्षण करते समय केवल शिष्टजनकी भाषाएँ ही ग्रहण करनी चाहिएँ, ग्रामीणों या फूहड़ोंकी नहीं। थर्मन डब्लू० आरनोल्डने भी मालिनोवस्कीकी शैलीपर अत्यन्त गम्भीर कार्य किया है। नर-विज्ञानपर अनुसन्धान करनेवाले भाषा-शास्त्री बी० एल० ह्वौर्फ़ने भी हिन्द-योरोपीय परिवारके बाहरकी भाषाओंका परीक्षण करके तात्पर्यार्थ-विज्ञानको बड़ा बल दिया। उन्होंने यह भी बताया कि भाषाओंके निर्माणके बड़े-बड़े विचित्र प्रकार होते हैं। अपने इस कथनकी व्याख्या करते हुए उन्होंने समझाया कि संसारमें 'विचारके नियम' (लौज औफ़ थौट्स) उतने समान नहीं हैं जितने पहले समझे जाते थे।

भाषणसे पूर्व मनकी प्रक्रिया

उच्चारणकी प्रक्रियाके प्रसंगमें पहले (§ ८४) बताया जा चुका है कि भारतीय भाषा-शास्त्रियोंने विशेषतः पाणिनिने अपनी 'शिक्षा' में स्पष्ट कर दिया है कि मुखसे किसी प्रकारकी भी ध्वनि निकाले जानेसे पूर्व अनेक आन्तरिक क्रियाएँ हो चुकी रहती हैं—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः॥
वर्णान् जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः।
स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः॥

[आत्मा जब बुद्धिके साथ मिलकर उससे कोई अर्थ ग्रहण कर लेता है तब वह मनको बोलनेके लिये नियुक्त करता है। तब मन भी शरीरकी अग्निपर आघात करता है और वह अग्नि फिर शरीरके वायुको प्रेरित करती है। तब वह वायु उर:स्थलमें पहुँचकर मन्द-मन्द निर्घोष करके स्वर उत्पन्न करता है। फिर वही वायु ऊपर उठकर मूर्धाकी ओर चलकर मुँहमें पहुँचकर वर्णोंकी सृष्टि करता है जिनके स्वर, काल, स्थान, प्रयत्न और अनुप्रदानके अनुसार पाँच विभाग किए जाते हैं]।

इस प्रकार भारतीय भाषाशास्त्रियोंके अनुसार भाषा-प्रक्रियाका सम्बन्ध केवल मनसे ही नहीं वरन् मन, बुद्धि और आत्मा तीनोंसे जोड़ा गया है। लियोनार्ड ब्लूमफ़ील्डने मानसिकतावादी मनोवैज्ञानिकों (मैन्टेलिस्टिक साइकोलौजिस्ट्का मत उद्धृत करते हुए कहा है कि 'वक्ताको वाणी निकलनेसे पहले वक्ताके मनमें देहसे भिन्न भीतर मस्तिष्कमें एक आन्दोलन होता है जिसे चिन्तन, विचार, भावना, बिम्ब, अनुभव, संकल्पित कार्य या कुछ ऐसा ही कह सकते हैं।' इन मनोवैज्ञानिकोंके मतानुसार भाषाका काम यही है कि वह हमारे मनकी इच्छाओं, विचारों और दृढ निश्चयोंको अभिव्यक्त भर कर दे। उनका यह मत विश्वविख्यात वैज्ञानिक, दार्शनिक और साहित्यशास्त्री भी मानते हैं। वास्तवमें लोगोंका यह मान लेना ही तात्पर्यार्थ-विज्ञान (सीमेन्टिक्स) का ठीक-ठीक प्रयोजन समझनेमें सबसे बड़ी बाधा है।

मानसिकतावादियोंका मत है कि यदि सब लोगोंके चिन्तनकी पद्धति ठीक कर दी जाय या चिन्तन-पद्धतिको ऐसा सिद्ध कर दिया जाय कि चिन्तन-पद्धतियोंमें किसी प्रकारकी कोई अव्यवस्था, जटिलता या बाधा न रहे तो भाषा स्वयं अपना स्वरूप ठीक कर लेगी। ये मानसिकतावादी लोग विचारोंको ठीक करनेके कार्यमें ही संलग्न हैं इसलिये ये लोग शब्दों, कथनीय विषयों, उनके अलंकरणों और वाणीकी लयोंपर विशेष ध्यान देते हैं। ये विद्वान् भाषाके प्रसंगकी उन सम्पूर्ण परिस्थितियों, दशाओं और उनके परिणामोंको अत्यन्त असंगत समझते हैं जिन्हें तात्पर्यार्थ-वालोंने अधिक महत्त्व देकर कहा है कि 'भाषासे जो विचित्र अर्थ निकलता है वह इन्हीं परिस्थितियोंके कारण निकलता है।'

मानसिकतावादी विद्वानोंका मत है कि वास्तवमें अर्थ समझनेकी कोई जटिलता है ही नहीं। कभी-कभी जो बाधा इधर-उधर दिखाई भी दे जाती है उसे दूर करनेके लिये शब्दोंमें थोड़ा-सा सुधार और परिवर्तन कर देने

मात्रसे यह बाधा दूर हो सकती है। किन्तु तात्पर्यार्थ-विज्ञान-शास्त्रियोंका मत है कि 'भाषापर बराबर ध्यान देते रहने, अपने व्यवहारमें आनेवाले संकेतोंको समझते रहने, रिक्थमें प्राप्त भाषाओंकी रचनाके प्रभावको देखते रहने, भाषणकी परिस्थितियों और प्रसंगोंको तथा वाणीसे प्रकट होनेवाले परिणामोंको समझते रहनेका यदि भली भाँति परीक्षण कर लिया जाय तो वाग्व्यापारकी बहुतसी अव्यवस्था दूर हो जाय।

व्यापक तात्पर्यार्थ-विज्ञान

भाषाके अर्थोंके जिस परीक्षणको ऊपर तात्पर्यार्थ-विज्ञान कहा गया है उसे व्यापक बनानेके लिये पोलैंडके (अब अमेरिकाके) प्रसिद्ध गणितज्ञ और शिल्पी ऐल्फ्रेड कोर्ज़ीबस्कीने एक विचित्र नवीन पद्धति सुझाई है। 'साइन्स ऐण्ड सैनिटी' (१९३३) नामकी अपनी पुस्तकमें उन्होंने 'सर्वप्रयोज्य तात्पर्यार्थ-विज्ञान' (जनरल सीमेन्टिक्स) की एक नवीन पद्धति प्रस्तावित की है। इस पद्धतिमें उन्होंने भाषाका अर्थ निकालनेका कोई भी सिद्धान्त नहीं माना क्योंकि वे परीक्षणकी उन सब पद्धतियोंको निरर्थक बालकी खाल खींचना मानते हैं। उनका कथन है कि भाषाके शब्दोंका 'मूल्य' होता है 'अर्थ' नहीं। उनका मत है कि 'मनुष्य जितने प्रकारके संकेत करता, बोलता, मुख-मुद्राएँ करता या हाथ-पैर चलाता है उन संकेतोंका निरीक्षण और परीक्षण तथा जिन परिस्थितियों और दशाओंमें वे संकेत किए जाते हैं और उन संकेतोंसे जो क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ होती है उन सबका निरीक्षण और परीक्षण करना हमारा उद्दिष्ट होना चाहिए।' इन मूल्यांकनों या अर्थ-सम्बन्धी प्रतिक्रियाओंकी व्याख्या करते हुए कोर्ज़ीबस्कीने कहा है कि इनके अन्तर्गत हमारे सम्पूर्ण ज्ञान और भाषाकी वे सब धाराएँ आ जाती हैं जो हमारे संस्कार और हमारी नसोंमें भरी हुई हैं। ये धाराएँ बाल्यावस्था, आदिम अवस्था और अव्यवस्थाके कारण प्रस्तुत होकर हमारी भाषामें जटिलता और बाधा उत्पन्न कर देती हैं। इतना ही नहीं, ये हमारे रात-दिनके व्यवहारमें भी ऐसी उलझनें उत्पन्न कर देती हैं कि न तो हम किसी भी बातका ठीक-ठीक मूल्यांकन कर पाते न उसे ठीक-ठीक समझ पाते। जब इनमें किसी प्रकारका प्रमाद या कोई अव्यवस्था हो जाती है और हम किसी बातको ठीक न समझकर अन्यथा समझ बैठते हैं तब ऐसे-ऐसे मानसिक रोग उठ खड़े होते हैं कि उनके लिये मनोवैज्ञानिक

चिकित्साका प्रबन्ध करना पड़ जाता है। विचित्र बात यह है कि ये प्रमाद-पूर्ण रूप मनमें ऐसे दृढ होकर बैठ जाते हैं कि लोग उन्हें ही ठीक माने रहते हैं। यही कारण है कि इस प्रमादपूर्ण रूपके आश्रयपर दी जानेवाली शिक्षाको या समाज-सुधारक संस्थाओंको वह रूप ही मिटा डालता है।' कौर्ज़ीबस्कीने इसी प्रमादपूर्ण रूपके स्वीकरणको ही वर्त्तमान नैतिक पतनका कारण बताया है।

§ २०४. वाणीका कोई अर्थ नहीं, वरन् प्रभाव होता है।

आचार्य चतुर्वेदीका मत है कि 'शब्दका न तो कोई अर्थ होता है और न उसका कोई मूल्य ही। 'शब्द' या 'वाक्य'के रूपमें कही हुई अथवा वाक्य-समूहोंके रूपमें कही हुई वाणीका एक 'प्रभाव' होता है। यह वाणी जितने ही अधिक शब्दों और वाक्योंमें व्यक्त की जाती है उतने ही अधिक शब्दों और वाक्योंका अस्तित्व लुप्त होता जाता है और उस समस्त कही हुई बात (वाक्समूह) का एक सम्मिलित प्रभाव मनपर पड़ता है। यह प्रभाव कभी तो स्थायी होकर चरित्र या वृत्तिमें संस्कार या परिवर्तन करता है अथवा अस्थायी होकर एक कानसे सुने जाकर दूसरेसे निकाल दिया जाता है, जिसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।' पहले (§ १३१) बताया जाचुका है कि वक्ता अपने सम्बोध्यको (श्रोता हो या पाठक) जो कुछ कहता है उसके द्वारा वह उसपर कोई विशेष प्रभाव डालना चाहता है जिसे सुन या पढ़कर श्रोता या पाठक या तो एक विशेष प्रकारसे चिन्तन करना प्रारम्भ करे या कोई शारीरिक क्रिया करे या बौद्धिक वितर्क करे या अनायास, अज्ञात रूपसे उसके चरित्र या उसकी वृत्तिका संस्कार हो जाय या किसी वस्तु, विषय या व्यक्तिके सम्बन्धमें उसकी कोई निश्चित धारणा बन जाय या बदल जाय।

शुद्ध अर्थका लेखा (इण्डैक्सिग)

'अपने वन्य पूर्व पुरुषोंसे हमने वाणीका प्रयोग करने और वाणी सुनकर उसकी प्रतिक्रियाके सधे-सधाए रूपोंसे संसारको समझनेकी जो मिथ्या कसौटियाँ बना ली हैं उनसे बचाए रखनेके निमित्त स्नायु-संस्थानको ऐसा व्यवस्थित करने कि वह वाणीके प्रत्येक घुमावको समझता चले तथा किसी प्राचीन युगके उस विश्वास और अभ्यासको रोकता चले जो किसी दूसरे युगकी परिवर्तित दशामें लोगोंको आगे बढ़नेमें बाधा देता हो', कौर्ज़ीबस्कीने भाषाके शुद्ध अर्थके विज्ञानकी

प्रक्रियाओंका ऐसा लेखा बना डाला कि किसी भी बातको ठीक-ठीक न समझने-का जो पुराना अभ्यास लोगोंमें पड़ गया है उसे दूर किया जा सके। यह लेखा लेडी वैल्बीके उन दोनों उद्देश्योंकी भी पूर्ति कर देता है कि हमारी भाषाका और भाषाकी प्रतिक्रियाकी प्रणालीका एक साथ सुधार हो जाय। इन लेखाओंमें से एक है सूचीकरण (इंडेक्सिंग) जिसे समझनेसे पूर्व अरस्तूका नियम जान लेना चाहिए। अरस्तूने अपना पहला 'विचार-नियम' (लौ ऑफ़-थौट्स) यह बताया था कि 'क' सदा 'क' ही है। इसे मानकर यदि चला जाय तो हमारा पूर्वभ्यास हमें प्रेरणा देता है कि जहाँ दो समान विषय, वस्तुएँ या कार्य हों वहाँ उन दोनोंके लिये एक सी प्रतिक्रिया करनी चाहिए, उनमें भेद नहीं करना चाहिए। इसपर कोर्ज़ीबस्कीने कहा कि 'अर्थ समझना तो हमारे स्नायु-संस्थानका निश्चित प्रभाव या कार्य है। इसलिये जहाँ भी 'क' आता है या समान स्थिति आती है वहाँ उसके उत्तरमें सदा समान प्रतिक्रिया होती ही है अर्थात् सब अवस्थाओंमें 'क' को सब लोग 'क' ही समझते रहेंगे और यह कभी नहीं समझेंगे कि शब्द 'क' और वस्तु 'क' (कलम शब्द और कलम वस्तु) दो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। 'इसी प्रकार 'क¹' और क²', 'क १९६८ और क १९६९' तथा 'एक स्थानपर क' और 'दूसरे स्थानपर क' सब भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार परीक्षण करनेपर स्पष्ट हो जाता है कि 'क¹' वही नहीं है जो 'क²' है। इतना स्पष्ट होनेपर ही यह ज्ञात हो पाता है कि किस दशामें कोई वस्तु या क्रिया समान है और किस दशामें वे दोनों भिन्न हैं और तभी हमें यह ध्यान रखना पड़ता है कि कौन सा 'क' कहाँपर किस प्रसंगमें आया है। इस प्रकार अर्थोंका परीक्षण करनेपर भिन्न परिस्थितिमें आनेवाले शब्दके अर्थ और उसे सुनकर होनेवाली प्रतिक्रियाका स्वयं ज्ञान हो जाता है।

पीछे (§ ८४, पृ० १३१) उदाहरण देकर बताया जा चुका है कि वास्तवमें शब्दका कोई महत्त्व नहीं। महत्त्व तो शब्दके साथ संबद्ध उस संस्कारका है जो सदा विशेष प्रभाव डालता है। एक सज्जन अपने पाँच सेवकोंको प्रातःकाल 'ले आओ' कहते थे किन्तु पाँच सेवक उसके भिन्न अर्थ समझते थे और भिन्न प्रतिक्रिया करते थे। ऐसी परिस्थितिमें शब्दका नहीं वरन् शब्दके साथ अभ्यस्त भाव-संस्कारका अधिक महत्त्व होता है जिसका कोई सामञ्जस्य 'सूचीकरण' या 'विचार-नियम'से नहीं है। कोर्ज़ीबस्कीने अपने इस सूचीकरणसे अरस्तू और उससे पूर्वके विचार-नियमोंके आश्रयपर विचार करनेके सब रूपोंको

हटाकर नई पद्धति चलाते हुए कहा है कि मनुष्यके समुन्नयनमें अज्ञानसे उतनी बाधा नहीं पड़ती जितनी कि पूर्व-संचित ज्ञानको व्यवहारमें लानेकी बुद्धि न होनेसे पड़ती है। यद्यपि कौर्ज़ीबस्कीकी इस 'सूचीकरण-शैली' का प्रयोग अनेक विद्वान् कर रहे हैं और इस पद्धतिसे संसारका कल्याण करनेकी घोषणा भी कर रहे हैं तथापि इस प्रकारके प्रयास सदा इसीलिये असफल होते चले आए हैं कि स्वतंत्र प्रकृतिवाला मनुष्य कभी किसी प्रकारके बन्धनमें नहीं रहना चाहता। फिर भी कौर्ज़ीबस्कीके अनुयायी जेम्स हार्वी रौबिन्सनने कहा है कि 'हमारे मनमें जिन बातोंकी गहरी जड़ पहलेसे जमी हुई है और जो हमें अभ्यास पड़े हुए हैं उनपर विजय प्राप्त करके हम मनको ऐसा साध सकेंगे कि वह नवीन परिस्थितियोंमें समुचित निर्वाह कर सके और जो कुछ हम नया ज्ञान प्राप्त करते चलें उसका समुचित प्रयोग कर सकें।'

उदात्तवादियोंका विरोध

जहाँ एक ओर अगणित विद्वान् कौर्ज़ीबस्कीका अनुसरण कर रहे हैं वहीं दूसरी ओर कुछ प्राचीनतावादी लोग अब भी परम्परागत पथपर चलना ही श्रेयस्कर समझते हैं। इसलिये वे इस 'व्यापक तात्पर्यार्थ-विज्ञान' को निरर्थक समझते हैं।

संकेतसे अर्थ

§ २०५. ज्ञानेन्द्रियोंके माध्यमसे जिन भाव-प्रकाशक साधनोंके कारण अनुभव या ज्ञान (प्रभाव) प्राप्त हो उन्हें संकेत कहते हैं।

नाटकका एक दृश्य लीजिए—

[रामदीन बैठा हुआ पुस्तक पढ़ रहा है। बीच-बीचमें वह 'वाह'! और 'आह'! करता रहता है। अचानक धम्मसे धमक सुनाई पड़ती है। रामदीन उठकर बाहर जाता है और शोभारामको सहारा देकर लाता है।]

रामदीन : (शोभारामसे) क्या बहुत चोट आ गई है ?

शोभाराम : (कराहते हुए) माँ री !

रामदीन : कहाँ ?

शोभाराम : (घुटनेपर हाथ रखकर) आह !

[बैठ जाता है।]

रामदीन : ठहरो ! मैं ठीक करता हूँ।

[चलता है।]

शोभाराम : बुद्धूको..............

रामदीन : अभी लो ! (पुकारकर) बुद्धू ! अरे बुद्धू ! (शोभारामसे) है नहीं ।

शोभाराम : खेतपर गया होगा ।

रामदीन : ठहरो ! बुलवा देता हूँ ।

[भीतर जाकर तेल लेकर आता है और शोभारामके पैरमें मलता है । इतनेमें बुद्धूका प्रवेश । वह बैठकर देखता है ।]

बुद्धू : क्या हुआ बप्पा ?

[शोभाराम चुप रहता है]

रामदीन : हुआ क्या ?..............

[शोभाराम आँखसे संकेत करता है । रामदीन चुप हो जाता है ।]

बुद्धू : (चोट देखकर) अरे..............

शोभाराम : नहीं, यों ही लग गई है ।

रामदीन : (शोभारामसे) यहाँ बड़ी ठंढ है । चलो, मैं उठाकर तुम्हें भीतर ले चलता हूँ ।

शोभाराम : आप ? राम-राम !

[बुद्धूके सहारे चला जाता है [

ऊपर जो संवाद दिया गया है उसे पढ़नेसे कई विचित्र बातें जान पड़ेंगी और ये प्रश्न स्वयं उठ खड़े होंगे कि पुस्तक पढ़ते हुए रामदीन 'आह,' और 'वाह' क्यों करता है ? धम्मसे धमक सुनकर रामदीन बाहर क्यों जाता है ? शोभारामके 'माँ री' कहनेपर रामदीन क्या समझता है और 'कहाँ' क्यों पूछता है ? शोभारामके 'आह' कहकर घुटनेपर हाथ रखनेसे रामदीनने क्या समझा ? शोभारामके केवल 'बुद्धूको' कहनेसे रामदीनने यह क्यों कहा—'अभी लो' ? रामदीनने बुद्धूको पुकार चुकनेपर यह कैसे कह दिया कि 'है नहीं' ? शोभारामके आँखके संकेतसे रामदीन क्या समझा ? बुद्धूके पर शोभारामने 'नहीं, यों ही लग गई है' क्यों कहा ? रामदीनने यह कैसे समझा कि यहाँ ठंढ है ? रामदीनके 'चलो, मैं उठाकर तुम्हें भीतर ले चलता हूँ' कहनेपर शोभारामने 'आप ? राम-राम !' क्यों कहा ?

यदि इन सब समस्याओंपर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि पुस्तकमें किसी आश्चर्यजनक या सुखप्रद बात पढ़कर रामदीनने 'वाह' कहा और दुःखकी बात पढ़कर 'आह' की । धम्मसे धमकका अर्थ रामदीनने

समझा कि कोई गिर गया है। शोभारामके 'मारी !' कहनेपर रामदीन यह समझा कि उसे बहुत चोट आई है। रामदीनने जब 'मैं ठीक करता हूँ' कहा तो शोभाराम समझा कि रामदीन औषधि ला रहा है। शोभारामके 'बुद्धूको' कहते ही रामदीनने 'अभी लो' कहकर यह जताया कि 'तुम बहुत बोलो मत, मैं बुद्धूको पुकारे देता हूँ।' शोभारामके पुकारनेपर भी जब बुद्धू नहीं बोला तो वह समझ गया कि बुद्धू नहीं है। शोभारामकी आँखके संकेतसे रामदीनने समझा कि 'बुद्धू अभी लड़का है, इसे न बताओ। यह घबरा जायगा।' रामदीनने अपनी देहसे लगनेवाली ठंढी बयारसे समझ लिया कि ठंढ पड़ रही है। शोभारामने 'आप ? राम-राम !' कहकर यह प्रकट किया कि 'आप इतने बड़े आदमी हैं, भला मैं कभी आपको इतना कष्ट दूँगा कि आप मुझे उठाकर ले चलें।'

अर्थके द्योतक संकेत

§ २०६. संकेतसे भी अर्थकी प्रतीति होती है।

पीछे (§ ४६) बताया जा चुका है और ऊपर दिए हुए विवरणसे भी स्पष्ट हो जाता है कि केवल बोले हुए शब्दसे ही नहीं वरन् किसी भी प्रकारके संकेतसे अर्थ प्रकट हो जाता है, चाहे वह संकेत कानसे सुनाई दे, आँखसे दिखाई दे, नाकसे सूँघनेपर जाना जाय, जीभसे स्वाद लेकर समझा जाय, देहसे छू जानेपर जाना जाय अथवा बुद्धि या मनके संयोगसे समझा जाय। तात्पर्य यह है किसी भी प्रकारके संकेतसे जो परिज्ञान होता है उसे अर्थ कहते हैं।

संकेत (साइन) से अर्थकी प्रतीति:

§ २०७. शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और चिन्तन (विचार) से भी अर्थकी प्रतीति होती है।

ऊपर दिए हुए विवरणसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जिन अनेक प्रकारके संकेतोंसे किसी बातका परिज्ञान होता है उन्हें निम्नांकित श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है—

१. शब्द, २. गन्ध, ३. स्पर्श, ४. रस, ५. रूप, ६. विचार।

सूखे हुए घासके मैदानको देखकर कोई भी समझ जाता है कि यहाँ वर्षा नहीं हुई। मंदिरके घंटेकी ध्वनि सुनकर सब समझ जाते हैं कि आरती हो रही है। मेन्धी (हिना या मेंहदी) का फुलेल लगाए हुए किसी व्यक्तिके

आनेपर तत्काल यह ज्ञान हो जाता है कि ये हिनाका इत्र लगाकर आए हैं। किसी वस्तुसे स्पर्श हो जानेपर यह प्रतीत हो जाता है कि यह उष्ण, शीतल, चिकनी, खुरदरी, कठोर, कोमल, गुलगुली, पनियल, कुरकुरी या पुलपुली है। जिह्वापर किसी पदार्थका स्पर्श हो जानेसे तत्काल यह ज्ञान हो जाता है कि वह पदार्थ मधुर, तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल, नमकीन या चरपरा है। किसीके 'हाँ' कहनेपर यह समझ लिया जाता है कि उस व्यक्तिने बात समझ ली है या वह निर्दिष्ट कार्य करनेके लिये सन्नद्ध है। किसीके 'हुँः' करनेपर समझ लिया जाता है कि अमुक कार्य नहीं करना चाहिए। भारत, योरप या अमरीकामें किसीको नीचे-ऊपर सिर हिलाते हुए देखकर समझ लिया जाता है कि वह अपनी सहमति प्रकट कर रहा है और दाएँ-बाएँ सिर घुमाते देखकर समझ लिया जाता है कि वह असहमति प्रकट कर रहा है। किन्तु अफ्रीकामें असहमति प्रकट करनेके लिये दाएँ-बाएँ सिर घुमानेके बदले नीचे-ऊपर सिर चलाया जाता है। अतः, वहाँके लोग उसे ही सहमतिका संकेत समझते हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञानेन्द्रियोंसे परिज्ञात होनेवाले अर्थ तो विश्व-भरमें समान हैं किन्तु कर्मेंद्रियोंसे प्रकट होनेवाले संकेतोंके अर्थ विभिन्न देशोंके आचार-व्यवहारके अनुसार भिन्न हो जाते हैं।

उपर्युक्त विवरणसे स्पष्ट हो जाता है कि संकेतोंसे जो अर्थोंका परिज्ञान होता है वह दो प्रकारका होता है—

१. इन्द्रिय-गत : जिसमें (क) या तो किसी वस्तुको देखकर ही अर्थका परिज्ञान होता है; या (ख) किसीका कुछ कार्य, गति या चेष्टा देखकर परिज्ञान होता है; या (ग) कुछ लिखित देखकर परिज्ञान होता है। लिखित संकेत भी तीन प्रकारके होते हैं—१. रेखांकित, जैसे बाणकी रेखा →देखकर यह परिज्ञान हो जाता है कि बाणके फलके द्वारा क्या संकेत किया गया है कि इधरसे जाना है या इधर कोई विशेष बात है, २. चित्रांकित, जैसे चित्रको देखकर उसके विषयका ज्ञान हो जाता है। नावपर चढ़े हुए राम, सीता, लक्ष्मण और केवटका चित्र देखकर कथाका संस्कार होनेके कारण यह परिज्ञान हो जाता है कि राम, सीता और लक्ष्मण इस नावपर चढ़कर गंगाजीके पार जा रहे हैं जहाँसे वे वनको चले जायँगे क्योंकि रामके पिता दशरथने कैकेयीके कहनेसे रामको चौदह वर्षका वनवास दे दिया और सीता तथा लक्ष्मण भी उनके साथ चले आए हैं; ३. लिपि : किसी लिपिमें लिखे हुए

शब्द या वाक्यका अर्थ तभी परिज्ञात होता है जब पाठकका उस लिपिसे परिचय हो।

२. विचारगत : संकेतोंसे प्राप्त होनेवाला दूसरे प्रकारका अर्थ वह होता है जो मनमें विचार करनेसे प्रकट होता है। यह विचारात्मक अर्थ सात प्रकारका होता है—

क. किसी दृश्यको देखकर उसके परिणामका विचार करना।

ख. स्वयं कल्पना करना या दिवास्वप्न देखना।

ग. अपनी, अपने सम्बन्धियोंकी अथवा अपनी वस्तु या सम्पत्तिकी रक्षाके लिये, या उनकी वृद्धिके लिये या कष्ट देनेवालेसे बदला लेनेके लिये चिन्ता करना।

घ. कर्तव्य स्थिर करना जिसे तर्क भी कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत कर्तव्य और अकर्तव्य, ग्राह्य और अग्राह्य, न्याय्य और अन्याय्यके दोनों पक्षोंपर विचार किया जाता है।

ङ. इच्छा।

च. मनन।

छ. स्मृति या स्मरण।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी अर्थके परिज्ञानमें दो प्रकारका कार्य होता है—१. इन्द्रिय-गत ज्ञान और दूसरा विचार-गत ज्ञान। इसीलिये अभिनवभरतका मत है जिन आचार्योंने वर्ण, पद और वाक्य-स्फोट माना है उन्हें उन स्फोटोंके साथ संकेत-स्फोट, रस-स्फोट, गन्ध-स्फोट, स्पर्श-स्फोट, रूप-स्फोट और चिन्तन-स्फोट भी मानना चाहिए था क्योंकि शब्द, गन्ध, स्पर्श, रस, रूप, और चिन्तनके कारण भी संकेतार्थकी प्रतीति होती है। किन्तु वैयाकरणोंको तो भाषित और व्याकृत शब्दोंका ही व्यवहार करना था। इसलिये उन्होंनें वर्ण, पद और वाक्यस्फोटकी ही चर्चा की और उस फेरमें उन्होंने प्रकृति, जीव और ईश्वरको भी ला घसीटा। शब्दको उन्होंने इसीलिये सृष्टिका रचयिता ब्रह्म माना कि वास्तवमें शब्दसे ही इस नाम-रूपात्मक जगत्का परिज्ञान हो पाया। संसारमें जो कुछ दिखाई या सुनाई देता है या जिसकी हमें गन्ध मिलती है उसका यदि नाम न हो तो एक वस्तु या कार्यको दूसरेसे भिन्न समझना कठिन हो जाय। इसीलिये माना गया है कि शब्द-ब्रह्मसे ही संसारकी उत्पत्ति होती है।

§ २०८. अर्थ-ज्ञानके निमित्त सभी संकेत विचारणीय हैं।

यह विचित्र घटना है कि भाषा-शास्त्रियोंने तात्पर्य-परीक्षणके प्रसंगमें केवल शब्दके अर्थका ही परीक्षण करना एक मात्र उद्दिष्ट माना किन्तु उन्होंने यह समझनेका कष्ट नहीं किया कि श्रव्य काव्य (अभिनीत नाटक) के नटों-द्वारा किया हुआ सम्पूर्ण वाग्व्यापार और देह-व्यापार सार्थक और रसोद्बोधक होता है। अतः, अभिनवभरतका मत है कि भाषाके प्रसंगमें और भी जितने प्रकारके संकेतोंसे अर्थकी प्रतीति होती है उन सबका समावेश भाषाके ही तात्पर्यार्थ-विज्ञानमें होना चाहिए। जब कोई कहता है कि 'वह इतना बड़ा है' तब हाथ फैलाकर आंगिक संकेतसे ही वह उस वस्तु या व्यक्तिकी लम्बाई और ऊँचाई बतलाता है। यहाँ न तो शब्दका ही स्फोट होता (अर्थ प्रकट होता) न वाक्यका ही। यहाँ तो हाथके संकेतसे ही अर्थ निकलता है। अतः, केवल वाक्यस्फोटको ही कूटस्थ मानना पर्याप्त नहीं होगा। उसके साथ-साथ आंगिक संकेतको भी अर्थ-बोधक मानना पड़ेगा।

कुछ नाटकोंमें पक्षियोंकी बोलीको भी सार्थक भाषाके रूपमें प्रयुक्त किया गया है, जैसे रत्नावलीमें सारिका। बहुतसी प्राचीन पुस्तकोंमें भी पक्षियोंकी भाषा समझने और उसका अर्थ निकालनेका भी विवरण आया है। इस आधारपर पशु-पक्षियोंकी भाषाको भी निरुक्ता मान लेनेकी बात कही गई है। जहाँतक रत्नावलीकी सारिकाकी बात है, वह तो मानव-भाषाका ही अनुकरण करती है। अतः, उस अनुकृत भाषाको सारिका-भाषा नहीं माना जा सकता। शेष पशु-पक्षियोंकी जिस भाषाका विवरण अनेक ग्रन्थोंमें प्राप्त होता है उसका कोई प्रामाणिक आधार नहीं प्राप्त होता। अतः, वह सब इस विचार-सीमासे बाहर रह जाता है।

कोश, शास्त्र और आप्त-वचन

§ २०९. कोश, शास्त्र और आप्त-वचनसे भी अर्थ-प्रतीति होती है।

इन्द्रियों या बुद्धिके द्वारा जिस अर्थकी प्रतीति होती है उसके अतिरिक्त, शब्दकोश, शास्त्र, घरके बड़े-बूढ़ों तथा प्राचीन ऋषियोंके वचनोंसे भी अनेक शब्दों और वाक्योंके अर्थका परिज्ञान होता है। केवल कोश देखकर ही यह ज्ञान होता है कि 'पारारुक' शब्दका अर्थ 'चट्टान है', 'भैरव' रागका लक्षण केवल संगीत-शास्त्रसे ज्ञात होता है, 'पुनर्नवा' के गुण किसी वैद्यसे ही जाने जा सकते हैं।

सत्य, असत्य और सन्देहपूर्ण अर्थ

§ २१०. अर्थोंका परिज्ञान तीन प्रकारका होता है—सत्य, असत्य और संदेहपूर्ण।

इन्द्रियोंके द्वारा जो अर्थोंका परिज्ञान होता है वह सदा सत्य नहीं होता। वह कभी सत्य, कभी असत्य और कभी संदेहास्पद होता है। सर्पको देखकर सर्प समझना सत्य अर्थका परिज्ञान है। रज्जुको देखकर उसे सर्प समझ लेना मिथ्या अर्थका परिज्ञान है। किसीकी विकृत मुखमुद्रा देखकर यह अनुमान लगाना संदेहास्पद है कि यह किसीसे रुष्ट है क्योंकि पीडाके कारण भी वह विकार हो सकता है, स्वभावत: भी हो सकता है और अकारण मुँह बनानेके कारण भी हो सकता है। किसी लम्बी, टेढ़ी, बाँकी पड़ी हुई वस्तुको देखकर यह तर्क भी संदेहास्पद स्थितिमें ही होता है कि यह सर्प है या रज्जु है या पेटी पड़ी हुई है या काली रेखा है।

अर्थ-परिज्ञानमें बुद्धिका योग

§ २११. बुद्धि और ध्यानका योग होनेसे ही अर्थकी प्रतीति होती है।

केवल देखने, सुनने, सूँघने, छूने, चखने, सोचने, कोश देखने अथवा किसीसे पूछने मात्रसे ही अर्थका परिज्ञान नहीं होता। अर्थके परिज्ञानके लिये एकाग्रता, अवधान या चेतनापूर्वक ध्यान भी आवश्यक है। कभी-कभी लोग अपनी धुनमें मगन चले जाते हैं, और मार्गमें होनेवाली अनेक घटनाओं या दिखाई देनेवाली वस्तुओंकी ओरसे पूर्णतः अनभिज्ञ रह जाते हैं। उसका कारण यही होता है कि किसी प्रकारके परिज्ञानके लिये एकाग्रता या उस ओर ध्यान परम आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि सब प्रकारके परिज्ञान-का निश्चय करनेवाली शक्ति हमारी बुद्धि है, वही अर्थका निश्चय करती है भले ही वह अर्थ मिथ्या या संदेहपूर्ण क्यों न हो। बुद्धि-द्वारा अर्थकी प्रतीतिमें निम्नाङ्कित ग्यारह साधनोंसे मुख्य रूपसे सहयोग मिलता है—

१. परम्परा : किसीके सिरपर मौर बँधा देखकर समझ लिया जाता है कि यही वर है, जिसका विवाह होनेवाला है।

२. प्रतिभा : किसीका उदास मुँह देखकर यह परिज्ञान हो जाता है कि यह विपद्ग्रस्त, चिन्तित, असफल, दुखी या पीडित है।

३. जन-संसर्ग : दलालोंके साथ उठने-बैठनेसे ही यह ज्ञान हो सकेगा कि 'भज्जी' कहनेका अर्थ यह है कि वह रुपयेमें टका दलाली चाहता है।

४. भ्रान्ति : कहीं खटपट सुनकर चोरको भ्रान्ति होती है किन्तु द्वार खोलनेपर बिल्ली निकलती है।

५. लोप : जो वस्तु जहाँ होनी चाहिए वहाँ न मिलनेपर समझ लिया जाता है कि उसे कोई उठा ले गया।

६. अनुमान : धूमको देखकर यह अनुमान लगा लिया जाता है कि वहाँ अग्नि होगी।

७. उपमान : समान वस्तु दिखाने या बतानेसे भी अर्थकी प्रतीति होती है, जैसे यह कहनेपर कि 'शुतुर्मुर्ग़ पक्षी ऊँटके समान होता है' इस अर्थकी प्रतीति होती है कि 'शुतुर्मुर्ग़' भी ऊँटके समान ऊँचे और लम्बे गलेवाला पक्षी होगा।

८. परिस्थिति या अवसर : जैसे 'तेल तो लाओ' कहनेसे तेलके प्रकारकी प्रतीति उस अवसर या परिस्थितिको देखकर होती है जिस परिस्थितिमें तेल माँगा गया हो, जैसे, नहानेके समय माँगनेपर उसका अर्थ होगा 'सुगन्धित तेल', करैला छौंकनेके समय अर्थ होगा 'सरसोंका कड़वा तेल', लालटेन जलानेके समय अर्थ होगा 'मिट्टीका तेल', मोटर-गाड़ी चलाते समय अर्थ होगा 'पेट्रोल' और गठियाके लिये अर्थ होगा 'महानारायण तैल।'

९. स्वतःप्रतीत ज्ञान : कभी-कभी कोई बात संस्कारतः स्वयं प्रतीत हो जाती है, जैसे—स्वतः अकारण यह प्रतीत होना कि आज मेरा अमुक मित्र आवेगा या कोई विपत्ति आनेवाली है।

१०. अर्थापत्ति : जब किसी एक बातको जान लेनेपर उससे दूसरी बातका परिज्ञान होता है उसे अर्थापत्ति कहते हैं, जैसे—यह जानकर कि 'यह मोटा देवदत्त दिनमें भोजन नहीं करता' तो समझ लिया जाता है कि जब यह दिनमें न खानेपर भी मोटा है तब यह निश्चय ही रातको खाता होगा। इसे कुछ विद्वानोंने 'अनुमान' भी कहा है किन्तु यह अनुमान नहीं 'परिणाम' है।

११. अभ्यास : अर्थकी प्रतीति अभ्याससे भी होती है, जैसे पीछे (पृ० १३१) बताए हुए सज्जनके पाँच सेवकोंको अभ्यासके कारण' ले आओ' सुनकर अपने-अपने कार्यके अर्थकी प्रतीति हो जाती है।

इसके अतिरिक्त और भी बहुतसे साधन यथाप्रसंग और यथावसर अर्थकी प्रतीतिमें सहायक हो सकते हैं।

§ २१२. कभी-कभी निर्दिष्ट श्रोताके बदले अन्य व्यक्ति अर्थ समझ लेते हैं।

कभी-कभी कोई वक्ता या लेखक जिस निर्दिष्ट श्रोता या पाठक अथवा जिन निर्दिष्ट श्रोताओं या पाठकोंके लिये कुछ कहता या लिखता है उसे कभी-कभी वह या वे निर्दिष्ट श्रोता या पाठक तो नहीं समझ पाते किन्तु अन्य जिन लोगोंको निर्दिष्ट करके वह बात नहीं कही गई वे समझ जाते हैं। प्राय: जब किसीको मूर्ख बनाया जाता है तब यही होता है किसी कवि-सम्मेलनमें एक कवि महोदय अपनी सारहीन कविता बेसुरे गलेसे अलापे जा रहे थे। दर्शकोमेंसे किसी अधीर व्यक्तिने तत्काल व्यंग्यात्मक पुकार लगाई —'वाह। क्या कहने ? आपने तो तुलसीको भी पछाड़ दिया।' यद्यपि उस दर्शकने व्यंग्यमें कहा था कि 'आपकी कविता निस्सार है' और यह बात सभापति तथा अन्य लोगोंने भली-भाँति समझ भी ली तथापि कविजी यही समझे कि मेरी प्रशंसा की जा रही है और मेरी कविता सबको अच्छी लग रही है।

सामाजिक व्यवहारमें बहुत बार ऐसा होता है कि जिसे जो बात सम्बोधन करके कही जाती है वह तो उसे अज्ञान, जडता और अनुभवहीनताके कारण नहीं समझ पाता किन्तु अन्य लोग समझ जाते हैं। नाटकों और उपन्यासोंमें भी इस प्रकारकी बहुतसी बातें पात्रोंसे कहलाई जाती हैं जो सामान्यत: पाठकको बोधगम्य नहीं होती। इसलिये अच्छे वक्ता और लेखक सदा यह ध्यान रखते हैं कि जो बात कहनी या लिखनी हो उसे ऐसी सरल भाषामें कहा या लिखा जाय कि सम्बोध्य अर्थात श्रोता या पाठक उसे समझ ले। इसी लिये वे बालकों युवकों, अशिक्षितों और पंडितों सबके लिये एक ही बात अलग-अलग भाषा-शैलीमें कहते हैं। अपने मनकी बात दूसरेको समझानेके लिये लोग कभी-कभी दो क्रियाएँ भी करते हैं। किसीको मूर्ख बनानेके लिये उससे जब यह कहा जाता है—'तुम अभीतक दशाश्वमेध घाट नहीं गए, वहाँ एक योगी खड़ाऊँ पहनकर गंगाजीपर चलनेवाले हैं', उसी समय वहाँ खड़े हुए दूसरे सज्जनकी ओर आँख मारकर समझा भी दिया जाता है कि 'इसे बताना मत, बनने दो इसे मूर्ख' क्योंकि वह दूसरा व्यक्ति यह रहस्य जानता है कि केवल मूर्ख बनानेके लिये ही उसे दशाश्वमेध भेजा जा रहा है। यहाँ मुँहसे भी कहा गया और आँखोंसे भी संकेत किया गया।

लिखकर भी दूसरेको अपना भाव समझाया जाता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि जिसे लिखकर सम्बोधित करना है वह उसे समझ भी जाय।

बहुतसे लोग अक्षर-ज्ञान न होनेसे अपने पत्र भी दूसरोंसे पढ़वाते हैं और अर्थ भी दूसरोंसे पूछते है। अतः, यह आवश्यक नहीं है कि जिसे सम्बोधित करके कोई बात कही या लिखी जाय वह उसे समझ ही ले। समझनेवाला तीसरा व्यक्ति भी हो सकता है।

§ २१३. भारतीय वैयाकरणोंने स्फोटको हो अर्थका स्रोत माना है।

कुछ लोग अर्थको स्फोट मानते हैं—'स्फुटति अर्थः अस्मात्' (इससे जो अर्थ प्रकट हो) उसे स्फोट कहते हैं। कुछ लोग उस वर्णको स्फोट कहते हैं जिसमेंसे अर्थ निकले। 'स्फुटति अर्थः यस्मात्' इस आधारपर वे लोग वर्णस्फोट मानते हैं और कहते हैं कि एक-एक वर्ण या अक्षरसे ही अर्थ निकलता है और इन भिन्न अर्थवाले वर्णोंसे ही शब्द (पद) बनता है। अभिहितान्वयवादके प्रवर्त्तक कुमारिल भट्टका मत है कि अभिधाके द्वारा शब्दके मुख्य अर्थका बोध तो हो जाता है, किन्तु वाक्यमें आए हुए पदोंके पारस्परिक सम्बन्धका ज्ञान हुए बिना वाक्यके अर्थका बोध होना सम्भव नहीं है। अतः, वाक्यके पदोंका परस्पर सम्बन्ध ज्ञात करके उनके अर्थोंका अन्वय करनेवाली एक तात्पर्या शक्ति होती है जिससे वाक्यका अर्थ प्रतीत होता है।[1]

प्रभाकर भट्ट आदि अन्वयाभिधानवादी विद्वान् मानते हैं कि वर्णसे नहीं वरन् शब्द या पदसे ही अर्थ निकलता है। इनका मत है कि वाक्यमें आए हुए शब्दों या पदोंके अर्थमें ही वाक्यका अर्थ निहित होता है। ये विद्वान् 'अन्विताभिधानवादी' कहलाते हैं।

बहुतसे वैयाकरण इन दोनों सिद्धान्तोंको नहीं मानते। वे शब्दोंके संग्रह मात्रको वाक्य मान कर कहते हैं कि वाक्य तो शब्दोंके अर्थोंसे भिन्न अपना अलग अर्थ देता है और शब्दका अपना कोई अर्थ नहीं होता क्योंकि संसारके सभी लोग वाग्व्यहारमें वाक्यका ही प्रयोग करते हैं, शब्दका नहीं।

महाभाष्यकार पतञ्जलिने स्फोटको शब्द और ध्वनिको शब्दका गुण माना है। इस ध्वनिको भी वे दो प्रकारका मानते हैं—एक प्राकृत या मौलिक और दूसरी वैकृत या कृत्रिम। इनमेंसे प्राकृत ध्वनि तो स्वाभाविक और नित्य

---

१. समयापेक्षयार्थावगमनशक्तिर्ह्यभिधा। समयश्च तावत्येन न विशेषांशे। ततो विशेषरूपे वाक्यार्थे-तात्पर्याशक्तिः परस्परान्विते-सामान्यान्यन्यथासिद्धेर्विशेषं गमयन्ति हि।

—ध्वन्यालोक-लोचन पृष्ठ ५९

होती है और वैकृत या कृत्रिम अनित्य होती है। पीछे (§ १४८) बताया जा चुका है कि शब्दका कोई महत्त्व नहीं है। जिस जीवको हिन्दीमें 'घोड़ा' कहते हैं उसे तमिळमें 'कुदरइ' कहते हैं। तमिळनाडुमें 'घोड़ा' कहनेसे कोई चार पैरोंवाला वह जीव नहीं समझेगा जो 'घोड़ा' शब्दसे समझना अपेक्षित है। इसलिये 'घोड़ा' शब्द वहाँ इच्छित स्फोट (अर्थ देनेवाला) नहीं हुआ। तात्पर्य यह है कि किसी भी शब्दका अर्थ उसके श्रोताकी ज्ञान-शक्तिपर अवलम्बित है। कभी-कभी तो विभिन्न श्रोताओंको एक ही कथनसे भिन्न-भिन्न अर्थोंकी प्रतीति होती है। पीछे (पृ० १३१) जो कवि-सम्मेलनमें सारहीन कविताको बेसुरे ढंगसे पढ़नेवालेका उदाहरण दिया गया है उसमें 'भाई वाह! क्या कहने' का कविने एक अर्थ लगाया है और अन्य लोगोंने दूसरा। यहाँ स्फोट (शब्द) से तो कविकी स्तुति प्रकट होती है किन्तु उसका तात्पर्य निन्दा करना है। यदि किसी अरब-निवासीको कोई संस्कृतमें अपशब्द कहे और अपनी मुखमुद्रा ऐसी बनाए रक्खे मानो उसकी प्रशंसा कर रहा हो, ऐसी दशामें स्फोट (शब्द) और ध्वनि दोनों निरर्थक हो जाती हैं और मुखमुद्रा ही प्रधान हो जाती है। कभी-कभी जब कोई व्यक्ति अत्यन्त व्यस्त होनेके कारण अपने यहाँ आए हुए अतिथियोंका अधिक स्वागत-सत्कार न करके केवल यह कह देता है—'थोड़ा बैठिएगा' तब वह अतिथि तो रुष्ट हो जाता है किन्तु वक्ताका उद्देश्य उस अतिथिका अनादर न करके अपनी व्यस्तताके पश्चात् उनका पूर्णतः आदर करना ही होता है।

पीछे (पृ० १३१) बताया जा चुका है कि 'एक सज्जन अपने पाँच सेवकोंको प्रातःकाल केवल 'ले जाओ' कहते थे और वे सब अपने-अपने अभ्यास और पूर्व-प्राप्त निर्देशके अनुसार अलग-अलग वस्तुएँ लाकर प्रस्तुत कर देते थे। कभी-कभी सड़कपर चलते हुए कोई 'पंडितजी' पुकार देता है तो पंडित शालग्राम चट उधर घूमकर देखने लगते हैं मानो संसारमें वे ही एक पंडित हों। यही स्थिति समान नाम होनेपर भी होती है। यहाँ भी न तो स्फोटका अर्थ ही काम आता है न उसकी ध्वनिका। पुलिसके डरसे भागा हुआ चोर किसी पथिकके मुँहसे भी 'यही है' सुनकर समझ बैठता है कि यह मेरे ही प्रति कहा गया है। यहाँ भी अपराधीके मनमें पहलेसे बैठा हुआ भय ही उसके मनमें इस अर्थकी प्रतीति कराता है, स्फोट और ध्वनि नहीं। कभी-कभी दो व्यक्ति किसी दूसरेके सम्बन्धमें बात-चीत चलाते रहते हैं और तीसरे ही सज्जन व्यर्थमें उसे अपनेसे सम्बद्ध बात समझकर उसकी चिन्तामें घुलने लगते हैं।

अतः, कभी-कभी जडता या अज्ञान भी किसी असंगत अर्थकी प्रतीति करा देता है। असंभाव्य बातोंको ठीक मानकर जो मूर्ख बनते हैं वे सब इसी असंगत अर्थकी प्रतीतिके कारण ही बनते हैं। हिन्दीके प्रसिद्ध हास्य-लेखक बेढबजीने काशीके एक डाक्टरसे कहा कि अमरीकावालोंने ऐसा मंजन तैयार किया है जिसे बनावटी दाँतपर लगा देनेसे वे दाँत मसूड़ेमें वज्र बनकर जम जाते हैं। डाक्टर साहब तत्काल उस मंजनका नाम और ठिकाना पूछने लगे क्योंकि उनके मनमें विज्ञानकी अपरिमित शक्तिका ऐसा प्रभाव जमा हुआ था कि उन्होंने इसे भी सत्य समझ लिया।

इन अनेक प्रकारके अर्थोंको देखकर यह स्पष्ट होता है कि नीचे दिए हुए कारणोंमेंसे ही किसी एक या अनेकसे किसी संकेत, शब्द या वाक्यके अर्थकी प्रतीति होती है—

१. श्रोताका ज्ञान-संस्कार।
२. अभ्यास।
३. अवसर या परिस्थिति।
४. भय।
५. समानता।
६. अज्ञान या जडता।
७. प्रभाव या निष्ठा।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि अर्थोंकी प्रतीतिके केवल इतने ही कारण हैं। कभी-कभी जो शब्द जिस अर्थके लिये रूढ हो गए हैं वे सदा उन्हीं अर्थोंकी प्रतीति कराते हैं। कभी-कभी किसी एक ही शब्दसे बहुतसे अर्थोंकी व्याप्ति करा दी जाती है, जैसे—'बम्बइया हिन्दी' में 'टूटने, फूटने, सड़ने, गलने, बिगड़ने, मिटने, चुक जाने, फटने' के लिये 'खलास होना' शब्दका व्यापक प्रयोग होता है अर्थात् अनस्तित्व, लोप, विकार, नाश आदिके लिये जितने शब्द सम्भव हैं उन सबका काम 'खलास' शब्दसे निकाल लिया जाता है। यह सब तो प्रयोगपर निर्भर है। अच्छेसे अच्छा शब्द भी प्रयोग न होनेपर मिट जाता है और अभद्र शब्द भी लोक-जिह्वापर चढ़े रहनेके कारण बना रह जाता है।

स्फोट और ध्वनि

भारतीय दार्शनिकोंने शब्दको भी प्रमाण मानते हुए कहा है कि या तो शब्द प्रमाण होते हैं या शब्दोंसे निर्मित वे वाक्य प्रमाण होते हैं जिनके

शब्द परस्पर मिलकर अर्थकी प्रतीति कराते हैं। कुछ विद्वानोंका मत है कि शब्दोंके सब अर्थ निश्चित, शाश्वत और ईश्वर-निर्मित हैं। कुछ विद्वान शब्दको नित्य या शाश्वत मानकर मनुष्यकी सृष्टि मानते हैं और कहते हैं कि मनुष्यने ही उनके अर्थ निश्चित किए हैं। इसीलिये यह माना जाता है कि किसी शब्दका अर्थ शिष्टजन-द्वारा मान्य होनेपर ही निश्चित होता है। किन्तु कुछ विद्वानोंका कथन है कि सबसे महान् तो ईश्वर है, वेद ही उस ईश्वरके शब्द हैं (यस्य निःश्वसितं वेदाः यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्) इसलिये वेद ही सबसे बड़े प्रमाण हैं—

श्रुतिःस्मृतिःसदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षात् धर्मस्य लक्षणम् ॥

[धर्मके साक्षात् लक्षण या प्रमाण चार हैं—श्रुति, स्मृति, सदाचार और अपनेको प्रिय लगनेवाली बात।]

इतना ही नहीं, जब कभी श्रुति और स्मृतिमें भिन्न मत दिखाई पड़े तब श्रुतिको ही प्रमाण माना जाता है—

श्रुतिद्वैधे स्मृतिद्वैधे श्रुतिरेव गरीयसी ।

किन्तु मीमांसक लोग यह नहीं मानते। वे शब्दको नित्य मानते हैं और उनका मत है कि शब्दकी समस्त ध्वनियाँ भी नित्य हैं।

स्फोट और ध्वनिका सम्बन्ध

पीछे (पृ० १३०) विस्तारसे स्फोट और ध्वनिके संबंधमें समझाया गया है कि पतञ्जलिने स्फोटको नित्य शब्द, नित्य अर्थ और नित्य सम्बन्ध माना है और कहा है कि 'यह स्फोट ही वह प्रतिभा या शक्ति है जो शब्दके अर्थको प्रकाशित करती चलती है। अर्थको प्रकाशित करनेकी यह शक्ति ही ध्वनि कहलाती है।' भारतीय वैयाकरणोंका मत है कि 'शब्द स्वयं स्फोट और ध्वनिका सम्मिश्रण है। न स्फोटके बिना ध्वनि रह सकती, न ध्वनिके बिना स्फोट रह सकता है। स्फोट ही शब्द है और ध्वनि उसका गुण है, स्फोट ही आकाश है और ध्वनि उसका गुण है, इसलिये स्फोटको शब्द और ध्वनिको अर्थ समझना चाहिए।' इसे और भी अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि 'स्फोट ही प्रकृति (वास्तविक रूप) है और ध्वनि ही उसका प्रत्यय (पहचान) है; स्फोट ही ब्रह्म है और ध्वनि उसकी माया है; स्फोट ही आत्मा है और ध्वनि ही शरीर है; स्फोट है प्रतिभा और ध्वनि है ज्ञान, स्फोट है परोक्ष या अप्रत्यक्ष और ध्वनि है प्रत्यक्ष, स्फोट है परमाणु और ध्वनि है

अणु, स्फोट है अक्षर और ध्वनि है क्षर, स्फोट है नित्य और ध्वनि है अनित्य। इसलिये पतञ्जलिने स्फोट और ध्वनि दोनोंको 'शब्द' मानते हुए कहा है कि ये शब्द 'नित्य, कूटस्थ और अविकारी' हैं।

स्फोट और ध्वनिमें अन्तर

स्फोट और ध्वनिमें अन्तर बताते हुए वैयाकरणोंने कहा है कि स्फोट कारण है और ध्वनि कार्य है। कानसे जो कुछ सुना जाय वह ध्वनि कहलाती है, जैसे 'घोड़ा' शब्द किसीके मुँहसे निकलनेपर जो दो वर्ण सुनाई पड़ें वही ध्वनि है। इन दो वर्णोंका शब्द सुनकर श्रोता अपने पूर्वज्ञान या बुद्धिके आधारपर वेगसे चलनेवाले चार पैरोंवाले जीवकी प्रतीति कर लेता है। यह प्रतीत होनेवाला अर्थ ही 'स्फोट' है। पतञ्जलिका मत है कि अर्थज्ञानके लिये 'स्फोट' और 'ध्वनि' दोनों आवश्यक हैं। जब कोई वक्ता मुँहसे 'घोड़ा' शब्द निकालता है उस समय उसकी बुद्धिमें निश्चित घोड़ेका रूप ही उससे 'घोड़ा' शब्द कहलाता है। वह 'घोड़ा' शब्द ही (जो बोला नहीं गया) स्फोट है और वह स्फोट ही मुँहसे बोली जानेवाली 'घोड़ा' ध्वनिका कारण है। जब श्रोता उस वक्ताके मुँहसे 'घोड़ा' ध्वनि सुनता है तब वह ध्वनि श्रोताकी बुद्धिमें स्थित घोड़ेके स्फोटको (घोड़ा शब्दके अर्थको) प्रकट कर देता है। इस प्रकट किए हुए स्फोटसे ही अर्थका ज्ञान होता है। भारतीय वैयाकरण यह भी मानते हैं कि वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थके सूचक वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक शब्द अथवा उनकी जातिको ही स्फोट कहते हैं अर्थात् वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक शब्द ही स्फोट हैं। बहुत तर्क और विचार करनेपर अधिकांश भारतीय वैयाकरणोंका यही मत स्थिर हुआ कि 'वाक्यस्फोट' ही प्रधान और कूटस्थ है।

जिन (अभिहितान्वयवादी) वैयाकरणोंने वाक्यसे ही अर्थकी प्रतीति मानी है वे छह प्रकारसे वाक्यका अर्थ मानते हैं, जैसा पहले (§) बताया जा चुका है—प्रतिभा, संसर्ग, विशेषार्थक किन्तु निराकांक्ष पदार्थ, संश्लिष्ट अर्थ, क्रिया और प्रयोजन।

शब्द और अर्थका सम्बन्ध

मीमांसाकारोंका कथन है कि जिस बातको कोई नहीं जानता वह बात उसे जना देने या समझा देनेका काम शब्द करता है इसलिये वह स्थायी

प्रमाण है, स्वतःसिद्ध है तथा अव्यतिरेक और अव्यभिचारी सत्य है। जैमिनिने शब्द और अर्थका नित्य सम्बन्ध माना है। जहाँ शब्द होगा वहाँ अर्थ होगा और जहाँ अर्थ होगा वहाँ शब्द भी होगा। जब इन दोनोंका सम्बन्ध नित्य है तो इनका बोध्य-बोधक सम्बन्ध भी नित्य है। जैमिनिने स्वयं इस प्रश्नपर छह आपत्तियाँ खड़ी कीं और फिर उनका स्वयं समाधान किया। वे आपत्तियाँ ये हैं—

१. गौतम और कणादका कथन है कि शब्द तो एक क्षणिक बोलनेकी क्रिया-मात्र है जो एक विशेष प्रकारसे मुख और जीभ चलाने और डुलानेसे पूर्ण होती है। इसलिये उस क्रियमाण शब्दके बोले जानेसे पहले वह शब्द नहीं रहता, बोलनेके पश्चात् ही प्रकट होता है। उसके लिये कुछ करना नहीं पड़ता। इसलिये क्रियमाण और अनित्यका परस्पर क्या सम्बन्ध हो सकता है।

२. शब्द अस्थिर होता है क्योंकि वह प्रथम क्षणमें उत्पन्न होता है, दूसरेमें विद्यमान रहता है और तीसरे क्षणमें नष्ट हो जाता है।

३. प्रायः लोग कहते हैं कि 'शब्द मत करो'। इसका अर्थ यह है कि मनुष्यने शब्दकी रचना की है। ऐसी स्थितिमें वह नित्य कैसे हो सकता है।

४. अनेक स्थानोंपर अनेक व्यक्ति एक ही शब्द बोलते और सुनते हैं। यदि शब्द एक और नित्य होता तो एक साथ बहुतसे स्थानोंपर कैसे बोला और सुना जा सकता।

५. व्याकरणों और भाषाओंका अध्ययन करनेसे प्रतीत होता है कि वाक्यमें पहुँचनेपर (प्रत्यय, उपसर्ग आदि लगनेपर) शब्द विकृत होकर प्रयुक्त होते हैं। यदि शब्द भी नित्य होता तो उसमें विकार कैसे आता।

६. शब्द ऊँचा और नीचा सुनाई पड़ता है। यदि बोलनेवाले अधिक हों तो शब्द ऊँचा हो जाता है, कम हों तो नीचा हो जाता है। जिस पदार्थमें इस प्रकार घटना-बढ़ना होता हो वह नित्य कैसे हो सकता है।

इन समस्याओंका उत्तर देते हुए जैमिनिने स्वयं कहा है—

१. नित्य और निराकार शब्दको भी बोले जानेसे पहले कोई नहीं जानता इसलिये वह नित्य ही है।

२. कोई शब्द नष्ट नहीं होता। वह सदा ज्योंका त्यों रहता है, केवल सुननेमें नहीं आता। इसलिये वह नित्य ही है।

३. 'शब्द करो' या 'शब्द न करो' ऐसा केवल ध्यान दिलानेके लिये कहा जाता है, शब्दके लिये नहीं।

४. जैसे एक सूर्य अनेक स्थलोंपर दिखाई पड़ता है वैसे ही नित्य वर्तमान शब्द भी एक साथ बहुत स्थानोंपर बोला और सुना जा सकता है।

५. व्याकरणके अनुसार वाक्यमें प्रयुक्त होनेपर प्रत्यय आदि लगनेसे शब्दमें विकार नहीं आता क्योंकि शब्द और प्रत्यय दोनों अलग-अलग बने रहते हैं।

६. ऊँचा या नीचा बोलनेसे शब्द नहीं, वरन् स्वर ही घटता-बढ़ता है।

इसका तात्पर्य यह है कि जैमिनिके अनुसार शब्द और अर्थ भी नित्य हैं और उनका सम्बन्ध भी नित्य है।

अर्थ-परीक्षणके तीन आधार

अर्टेलका कथन है कि अर्थके परीक्षणमें तीन ही बातोंका विचार करना चाहिए—

१. किसी भाषामें उस भाषाके बोलनेवाले अपने मनके भाव और विचार किन साधनोंसे दूसरोंको समझाते हैं ?

२. शब्दके एक रूपके कितने अर्थ हो सकते हैं ?

३. एक ही अर्थ कितने विभिन्न रूपोंमें प्रकट होता है ?

§ २१४. मन, बुद्धि, समाज और प्रसंग या परिस्थितिका अध्ययन भी अर्थ-परीक्षणके लिये आवश्यक है।

अभिनवभरतका मत है कि अर्थ-परीक्षणके लिये केवल उपर्यङ्कित तीन पक्ष ही पर्याप्त नहीं है। उसके साथ मनुष्यकी बौद्धिक योग्यता, परिवेश तथा प्रसंगका भी परीक्षण करना चाहिए। भारतीय वैयाकरणों और मीमांसकोंने जितनी सूक्ष्मता और विस्तारके साथ अर्थका जितना परीक्षण किया है उतना अभी योरपमें नहीं हो पाया।

निरुक्त और व्याकरणोंमें भी संस्कृत भाषाशास्त्रियोंने अर्थका परीक्षण किया है किन्तु उनकी पद्धति भिन्न है। निरुक्तमें तो यह विवरण दिया गया है कि वेदमें प्रयुक्त शब्द किस प्रकार बने और कहाँ किस अर्थमें उनका प्रयोग हुआ ? व्याकरणमें यह बताया गया है कि शब्द कैसे बनते हैं और किस क्रम, रूप या प्रकारसे वाक्योंमें उनका प्रयोग होता है। इस प्रकार निरुक्त और व्याकरण दोनोंमें अर्थका परीक्षण नहीं किया जाता। यह कार्य तो तात्पर्य-परीक्षाविज्ञान (साइन्स ऑफ़ मीनिंग) के अन्तर्गत ही होता है।

अर्थका परिज्ञान

भर्तृहरिने 'वाक्यपदीय' नामक अपनी पुस्तकमें अर्थ-परिज्ञानके सम्बन्धमें पूर्वाचार्योंके बारह मत गिनाए हैं—

१. अर्थका आकार नहीं होता।
२. अर्थका आकार होता है।
३. अर्थ अवयवी है जो बहुतसे अवयवों या आकारोंसे मिलकर बनता है।
४. अर्थ असत्य और अनित्य होता है और वह वस्तुओंकी जाति, गुण या क्रियाके संसर्गसे रूप ग्रहण करता है।
५. अर्थ तो असत्याभास सत्य है।
६. अर्थ अध्यास रूप (धोखा) होता है।
७. अर्थमें सब शक्ति नहीं होती।
८. अर्थ परिवर्तनशील है।
९. अर्थमें सब शक्ति होती है।
१०. अर्थ तो बौद्ध (बुद्धिसे समझा जानेवाला) होता है।
११. अर्थ बुद्धिसे भी समझा जाता है और बाह्य साधनोंसे भी।
१२. अर्थ निश्चित नहीं होता।

इन बारह मतोंकी गणना कराकर भर्तृहरिने बताया है कि 'वक्ता जब कुछ कहना चाहता है तब वह उसका जो अर्थ ठीक समझता है उसी अर्थमें बोलता है किन्तु श्रोतागण अपनी-अपनी बौद्धिक योग्यताके अनुसार उसका अलग-अलग अर्थ समझते हैं। ये श्रोता लोग भिन्न ज्ञान और भिन्न वासनाके कारण एक ही वस्तुको भिन्न समझते हैं। इतना ही नहीं, भिन्न काल और भिन्न व्यवस्थाके कारण भी एक ही व्यक्ति एक ही वस्तुको भिन्न रूपोंमें देखने लगता है।' इससे भर्तृहरिने यह परिणाम निकाला कि मनुष्य सर्वज्ञ नहीं होता, उसका ज्ञान अधूरा और अव्यवस्थित होता है। इसलिये वह जो कुछ बोलता है वह सब अव्यवस्थित, प्रमादपूर्ण और अपूर्ण होता है।

भर्तृहरि और पुण्यराजने अर्थके परिज्ञानके सम्बन्धमें कुछ और भी नये तथ्य प्रस्तुत किए। वे कहते हैं कि 'अर्थका कोई निश्चित रूप नहीं होता। वक्ता अपने शब्दोंका जैसा अर्थ समझता है वही उसका अर्थ होता है; यहाँतक कि एक शब्दको एक प्रकारसे व्यवहृत करके एक वक्ता एक वाक्य कहता है, दूसरा वक्ता उसी शब्दका दूसरे रूपमें प्रयोग करके दूसरे अर्थकी प्रतीति करा देता है। कोई भी शब्द कभी अपने अर्थका परित्याग नहीं करता। वह दूर-दूरसे अर्थका संकेत भर कर देता है।'

भर्तृहरि और हेलाराजने यह भी कहा है कि 'शब्दसे ही अर्थका प्रसार और उसके अर्थका ज्ञान होता है, यहाँतक कि अक्षिनिकोचन (आँख मारने) से

भी जो अर्थ बताया जाता है वह भी शब्दके आश्रयसे ही बताया जाता है।' किन्तु आचार्य चतुर्वेदी इस मतसे सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि 'यद्यपि व्यवहारसे संकेतोंके अर्थ तो निश्चित हो गए हैं किन्तु इनमेंसे कोई भी संकेत शब्दोंके आश्रयपर नहीं बना। संकेतके बहुत पीछे भाषा आई।' भर्तृहरिने यह भी कहा है कि 'अर्थ तो काल्पनिक होते हैं इसलिये वे सत्य नहीं होते और इसीलिये शब्दका अर्थ असत्य होता है।'

भर्तृहरिने यह भी कहा है कि 'अर्थ बदलता रहता है। वक्ता उसे जिस उद्देश्यसे चला दे वही उसका अर्थ हो जाता है।'

§ २१५. सीरदेवने तीन प्रकारके अर्थ माने हैं।

सीरदेवने 'परिभाषावृत्ति' में अर्थ को तीन प्रकारका माना :—

१. लौकिक अर्थः यह अर्थ कभी शब्दमें नहीं रहता, अर्थात् कोई वाक्य सुननेसे किसी कार्यमें जो प्रवृत्ति या निवृत्ति होता है उसीको अर्थवान् कहते हैं। यह प्रवृत्ति या निवृत्ति वाक्यमें ही होती है, इसलिये कोई वाक्य सुननेपर उसका जो तात्पर्य समझमें आवे उसे ही लौकिक अर्थ कहते हैं।

२. अन्वय-व्यतिरेक-समधिगम्य अर्थ : किसी वाक्यके शब्दोंको अलग-अलग तोड़कर और उनका पारस्परिक सम्बन्ध जोड़नेपर जो अर्थ निकले उसे अन्वयव्यतिरेक-समधिगम्य अर्थ कहते हैं। इस पद्धतिसे यह ज्ञात किया जाता है कि जो बात कही गई है उसके अर्थमें कितने शब्दोंका अपना अर्थ है और कितना अर्थ उनमें जुड़े हुए प्रत्ययोंका है।

३. प्रतिज्ञा-ज्ञापित अर्थ : यह अर्थ न तो लोक-प्रचलित होता है और न शब्दोंको तोड़कर ही निकाला जा सकता है। प्रसिद्ध आचार्योंने जिस विशेष अर्थमें उसे समझा या पढ़ा है वह प्रतिज्ञा-ज्ञापित अर्थ कहलाता है।

अट्ठारह प्रकारके अर्थ

§ २१६. पुण्यराजने अट्ठारह प्रकारके अर्थ माने हैं।

भर्तृहरिने अर्थके सम्बन्धमें जो विस्तृत विचार किया है उसकी व्याख्या करते हुए पुण्यराजने अट्ठारह प्रकारके अर्थ बताए हैं—

१. वस्तुमात्र या बाह्य रूप : जब हम किसी वस्तुको शब्दोंके द्वारा समझाना न चाहते हों और उसका रूप-भर दिखा देते हों वह वस्तुमात्र होता है, जैसे—किसीको 'रेडियो' दिखाकर कहना 'यह उठा लाओ' तो वह 'वस्तुमात्र' अर्थ जानेगा, उसका नाम या काम कुछ नहीं जान सकेगा।

२. अभिधेय : जब बाह्य अर्थ समझाना पड़ जाय तब वह 'अभिधेय' (बोध्य या वाच्य) कहलाता है, जैसे—'काला घोड़ा ले आओ।'

३. शास्त्रीय : वह अर्थ जो शास्त्रोंसे समझाया जाय, जैसे—'प्रातिपदिक' शब्दका अर्थ।

४. लौकिक : जो लोगोंकी सामान्य बोल-चालमें समझा जाता हो, जैसे—'उठाईगीर' शब्द।

५. विशिष्टावग्रह-सम्प्रत्यय-हेतु : जो अर्थ किसी कृत्रिम रूपमें सामने दिखाया जाय अर्थात् असत्यको भी सत्यके समान प्रकट किया जाय, जैसे—नाटकमें कंसको मारते समय यह कहना कि 'कृष्ण अब कंसको मार रहे हैं।' यहाँ नाटकके कृत्रिम या असत्य रूपमें एक प्राचीन सत्य घटना लाकर दिखाई गई है इसलिये 'कंसको अब मार रहे हैं' अर्थ 'विशिष्टावग्रहसम्प्रत्ययहेतु' कहलाता है।

६. वास्तविक : जैसे—'श्वेत गाय', जो ज्योंकी त्यों सचमुच हमारे सामने ही है।

७. मुख्य : अभिधा शक्तिसे जो अर्थ समझमें आवे उसे 'मुख्य अर्थ' कहते हैं।

८. परिकल्पित-रूप-विपर्यास : जिसमें कोई नया अर्थ निकालनेके लिये किसी शब्दका सत्य या प्रचलित अर्थ जान-बूझकर बदल दिया जाय, जैसे—'वह बैल है।' 'बैल'का अर्थ तो हल चलानेवाला, गौका वत्स, सींग पूँछवाला चौपाया होता है पर यहाँ बोलनेवालेने 'मूर्ख'के अर्थमें इसे प्रयुक्त किया है। लक्षणा और व्यञ्जनासे जो अर्थ निकाले जाते हैं वे सब 'परिकल्पित-रूप-विपर्यास' (अपने मनसे किए हुए अर्थके उलट-फेरवाले) कहलाते हैं।

९. व्यपदेश्य : जिसका विवरण दिया जा सके, जैसे—संसारके सभी प्रत्यक्ष पदार्थ।

१०. अव्यपदेश्य : अपनी इन्द्रियोंसे जो न जाना जा सके उस अर्थको अव्यपदेश्य कहते हैं, जैसे—ब्रह्म।

११. सत्त्वभावापन्न : जो वस्तुएँ विद्यमान (सत्) हों उनकी जानकारी जिससे हो सके उस अर्थको 'सत्त्व-भावनापन्न' कहते हैं।

१२. असत्त्वभूत : जो वस्तुएँ विद्यमान नहीं हैं उनकी जानकारी जिस अर्थसे होती हो वह 'असत्त्वभूत' कहलाता है।

१३. स्थिरलक्षण : जो अर्थ सदा एक-सा रहे और उसमें कभी परिवर्त्तन न हो।

१४. विवक्षा-प्रापित-सन्निधान : जब बोलनेवालेकी इच्छा जाननेपर कोई अर्थ समझमें आवे वह 'विवक्षा-प्रापित-सन्निधान' कहलाता है। यह अर्थ बदलता रहता है, अनिश्चित होता है और कभी स्थिर नहीं होता।

१५. अभिधीयमान : जो अर्थ सामने कहकर और संकेत करके बताया जाय, जैसे—'रामका घोड़ा'। यह 'अभिधीयमान' अर्थ है।

१६. प्रतीयमान : व्यञ्जना या ध्वनिसे जो अर्थ समझा जाय उसे 'प्रतीयमान' कहते हैं।

१७. अभिसंहित : जब किसी शब्दसे किसी जाति या व्यक्तिका सीधा-सीधा परिचय प्राप्त होता है तब वह अर्थ 'अभिसंहित' होता है, जैसे—'कमल'।

१८. नान्तरीयक : वह अर्थ जो अपने आप किसीके परिचयके साथ सम्बद्ध रहता है उसे 'नान्तरीयक' अर्थ कहते हैं, जैसे—'मेरी गौ' कहनेसे उसके श्वेत, काले, पीले, या लाल रंगकी भी जानकारी हो जाती है।

चार प्रकारके अर्थ

§ २१७. पतञ्जलिने चार प्रकारके अर्थ माने हैं—

पतञ्जलिने शब्द और अर्थको संपृक्त मानकर उसके दो अंग बताए हैं—१. शब्दका रूप और २. उसका अर्थ। उदाहरणके लिये, किसीने कहा—'चाल' शब्द 'चलने'से बना है' यहाँ 'चाल' शब्द केवल शब्दके रूपमें आया है, चलनेकी विधिके लिये नहीं। किन्तु यदि यह कहा जाता—'घोड़ेकी 'चाल' अच्छी है' तब 'चाल' शब्दका अर्थ 'चलनेका ढंग' होता है। पतञ्जलिका कथन है कि कोई शब्द सुनते ही पहले उस शब्दके रूपका ज्ञान होता है और उसके पश्चात् अर्थका। यदि शब्द ठीक प्रकारसे श्रवण न हो पावे तो अर्थकी प्रतीति भी नहीं होती। उन्होंने चार प्रकारके शब्द माने हैं—जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य।

१. जाति, जैसे—'गौ' कहनेसे गो-जातिका जीव समझा जाता है।

२. गुण, जैसे—'काली' कहनेसे गायका गुण समझा जाता है।

३. क्रिया, जैसे—'चलना' कहनेसे चलनेकी क्रियाका ज्ञान होता है।

४. द्रव्य, जैसे—'कलम' और 'राम' कहनेसे द्रव्य या व्यक्ति समझा जाता है।

चार प्रकारके शब्द

चरकने अपने ग्रन्थके विमान-स्थानमें शब्दको चार प्रकारका माना है--

१. दृष्टार्थ : जिसका अर्थ स्पष्ट दिखाई पड़े, जैसे--अग्निको देखते ही यह अर्थ प्रतीत हो जाता है कि अग्नि जलाती है।

२. अदृष्टार्थ : जिसका अर्थ प्रत्यक्ष न दिखाई पड़े, जैसे—'मुक्ति'। क्योंकि 'मुक्त होना' दिखाई नहीं पड़ता।

३. सत्य : वह अर्थ जिसे सब मान लें, जैसे-'सूर्यका उदय पूर्वमें होता है।'

४. अनृत : वह अर्थ जो पूर्णतः अविश्वसनीय और मिथ्या हो, जैसे—'सूर्यका उदय पश्चिममें होता है।'

चार प्रकारके अर्थ

§ २१८. रिचाड्सके अनुसार अर्थ चार प्रकारके होते हैं—भाव, संवेदन, काकु और उद्देश्य।

आई० ए० रिचार्ड्सने अर्थके प्रकारोंकी व्याख्या करते हुए कहा है—

'किसीकी बात सुनकर उसका अर्थ चार रूपोंमें समझा जा सकता है—

१. भाव (सेन्स) : अर्थात् वह क्या कहना चाहता है।

२. संवेदन (फ़ीलिंग) : अर्थात् वह किस भावनाके साथ कहना चाहता है।

३. काकु (टोन) : अर्थात् वह किस स्वर (प्रश्न, संदेह, आश्चर्य, क्रोध आदि) में कह रहा है।

४. उद्देश्य (इन्टेन्शन) : अर्थात् वह क्यों कुछ कह रहा है।

१. भाव : भावका अर्थ वह आशय है जिसपर श्रोताका ध्यान आकृष्ट करनेके लिये वक्ता कुछ ऐसी बात कहना चाहता है जिसपर श्रोता विचार करे, शंका प्रस्तुत करे या उसके मनमें उस बातको सुनकर हलचल हो।

२. संवेदन : वक्ता जब दूसरेको कुछ कहना चाहता है तब उसके मनमें पहलेसे कुछ निश्चित विचार रहते हैं। उस विचारके प्रति वक्ताकी रुचि होती है जिसे प्रकट करनेके लिये ही भाषाका प्रयोग किया जाता है।

३. काकु : वक्ता सदा श्रोतासे यह सम्बन्ध जोड़ लेता है कि कौन-सी बात किस प्रकारसे कहनेपर श्रोता स्वीकार कर लेगा। वह श्रोताकी योग्यताके अनुसार शब्दोंका प्रयोग करता है और श्रोताके अनुसार ही अपनी वाणीके उतार-चढ़ावसे अपने विचार व्यक्त करता है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वक्ता और श्रोताका क्या सम्बन्ध है।

४. उद्देश्य : वक्ताके भाव, उसके संवेदन और श्रोताके अनुसार वक्ताके स्वर या काकुके साथ-साथ वक्ताका कुछ उद्देश्य भी होता है। इस उद्देश्यको समझना ही वक्ताके अर्थको जानना है। जबतक यह ज्ञात न हो जाय कि वह क्या कहना चाहता है तबतक यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि वह क्या कह रहा है और वह जो कुछ कह रहा है वह ठीक है भी या नहीं, वह जो कुछ कहना चाहता है उसे केवल कह भर ही देना चाहता है, उसकी व्याख्या नहीं करना चाहता। यह भी सम्भव है कि वह अपने मनका भाव पूरा न कहकर केवल संवेदन मात्र ही 'छिः' या 'वाह' कहकर प्रकट कर दे अथवा श्रोतासे जो उसका सम्बन्ध है (स्नेह, रोष, घृणा आदिका), उसके कारण (स्नेहमें) केवल 'लल्ला, मुन्ना' या (क्रोधमें) 'सूअर, गधा' आदि एक-दो शब्द कह दे। अतः, उद्देश्यके अन्तर्गत यह देखा जाता है कि वक्ता अपने उद्देश्यको स्पष्ट करनेके लिये अपने कथनमें किन-किन बातोंपर बल देता है, किस शैलीमें कहता है, क्या तर्क प्रस्तुत करता है? अतः, उद्देश्य ही वास्तवमें पूरे भाव या विचारके कथनकी शैलीको प्रभावित किए रहता है।

'इसे दूसरे प्रकारसे समझाया जा सकता है। एक विद्वान् विज्ञानपर कोई लेख लिख रहा है, दूसरा व्यक्ति चुनावके सम्बन्धमें व्याख्यान तैयार कर रहा है। इनमेंसे विज्ञानपर लेख लिखनेवाला तो पहले ही अपना भाव स्पष्ट कर देगा, किन्तु चुनावके चक्करमें पड़ा हुआ लेखक अपना मूल भाव न कहकर उद्देश्यको ही बार-बार प्रस्तुत करनेका प्रयत्न करेगा। वह दूसरे प्रत्याशियोंके दोष दिखावेगा, अपने खड़े होनेका कारण समझावेगा और इस प्रकार अपना उद्देश्य ही व्यक्त करता रह जायगा। किन्तु वैज्ञानिक सरल ढंगसे निर्धारित शब्दोंमें अपना भाव व्यक्त कर देगा। इससे स्पष्ट है कि वक्ताकी वाणीमें यह देखना चाहिए कि वह क्या बात कह रहा है? श्रोताके प्रति उसकी क्या भावना है? किस स्वरमें वह बात कह रहा है? और अन्तमें यह देखना चाहिए कि उसके कहनेका उद्देश्य क्या है। अर्थ जाननेके ये ही चार पक्ष हैं।'

अभिनव-भरतका मत

§ २१९. अर्थ सदा बुद्धिगम्य, सत्य, मिथ्या, संदेहपूर्ण या परिवर्तनशील होता है तथा वक्ता, श्रोता और विद्वानोंकी प्रतिभाके अनुसार रूप ग्रहण करता चलता है।

अर्थके सम्बन्धमें ऊपर जितना शास्त्रार्थ और विचार किया गया है उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि संकेतसे ही अर्थ निकलता है वह संकेत चाहे जिस प्रकारका हो। 'बुद्धिसे जो प्रतीत हो वही अर्थ होता है क्योंकि अर्थका ज्ञान बुद्धिसे ही होता है। बुद्धिके द्वारा समझे जानेवाले अर्थ सत्य, असत्य या संदेहपूर्ण हो सकते हैं और अन्तिम बात यह है कि अर्थ बदलते रहते हैं। इतना ही नहीं, वक्ता एक भाव मनमें लेकर कुछ कहता है और श्रोता या पाठक अपनी बुद्धिके अनुसार या तो उसे ठीक समझते हैं या कुछ अन्य समझते हैं। कुछ ऐसे पंडित भी होते हैं जो अपनी विशिष्ट प्रतिभाके कारण ऐसे विचित्र अर्थ निकाल लेते हैं जो वक्ताका उद्दिष्ट नहीं होता।' अतः, आचार्य चतुर्वेदीका मत है कि वक्ता, श्रोता और विद्वानोंकी प्रतिभाके अनुसार अर्थका रूप बदलता चलता है।

अर्थ-परिवर्तन

§ २२०. विशेष पांडित्यसे भी नवीन अर्थोंकी उत्पत्ति होती है।

ऊपर (§ २१४) बताया गया है कि वक्ता किसी एक तात्पर्यसे कोई बात कहता है किन्तु श्रोता अपनी बुद्धि और योग्यताके अनुसार अथवा संस्कार-हीनतावश उसका दूसरा अर्थ समझ लेता है। उसी प्रसंगमें यह भी बताया गया है कि कुछ ऐसे विशिष्ट ज्ञानसम्पन्न पंडित भी होते हैं जो अपनी प्रतिभाके बलपर किसी उक्तिके एक या अनेक चमत्कारपूर्ण अर्थ निकालते चलते हैं जो वक्ता या लेखकके उद्दिष्ट अर्थसे पूर्णतः भिन्न होते हैं। इस विशिष्ट अर्थ निकालनेकी अलोक-सामान्य वृत्तिको विशेषार्थ-वृत्ति कहते हैं।

इन सब कारणोंसे स्पष्ट है कि अर्थमें निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं।

परिवर्तनके कारण

§ २२१. व्यक्तिगत और सामाजिक कारणोंसे अर्थ-परिवर्त्तन होते हैं।

पीछे (§ २१६) बताया जा चुका है कि बुद्धिका आश्रय लिए बिना अर्थकी प्रतीति नहीं होती। किसी वस्तुको देखकर यदि उसकी पहचान न हो पावे या कोई शब्द सुनकर तत्काल उसका अर्थ ज्ञात न हो पावे तो वह वस्तु और शब्द व्यर्थ होते हैं। वन्य पशु भी सिंहकी दहाड़ सुनकर समझ जाते हैं कि इधर हमारा शत्रु सिंह विद्यमान है। वे सूँघकर गन्धसे ही सिंहकी उपस्थिति जानकर समझ जाते हैं कि उधर नहीं जाना चाहिए। इसी प्रकार सूँघकर ही वे खाद्य और अखाद्यका विवेक कर लेते हैं। मनुष्य

भी गन्ध पाकर कह उठता है कि 'कहीं कपड़ा जल रहा है।' इस प्रकारके संकेतार्थ स्थिर होते हैं जिनका अर्थ समझनेमें कभी कोई भ्रान्ति नहीं होती क्योंकि इन संकेतोंके अर्थ अपरिवर्तनीय होते हैं। किन्तु भाषा चाहे बोली हुई हो या लिखी हुई, उसमें यह आवश्यक नहीं है कि वक्ताके उद्दिष्ट अर्थको श्रोता निश्चय ही समझ ले। वर्तमान कवियोंकी ही बहुत-सी रचनाएँ ऐसी हैं जिनके अर्थ विभिन्न विद्वानोंने भिन्न प्रकारसे किए हैं। अतः, यह आवश्यक नहीं है कि सभी परिस्थितियोंमें सदा वक्ता और लेखककी उक्तिका अर्थ श्रोता या पाठक ठीक-ठीक समझ ही ले। इसका अर्थ यह है कि मनुष्यकी बहुत सी वाचिक और लेख-क्रियाका अर्थ इतना अनिश्चित होता है कि विभिन्न ज्ञान-संस्कारके व्यक्ति निश्चय ही उसका भिन्न अर्थ समझें।

इनके अतिरिक्त प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् जो अनेक प्रकारके अर्थ लगाते हैं उनकी तो कोई गणना ही नहीं।

कभी-कभी अज्ञान, भ्रम, प्रथा, परिपाटी आदिके कारण भी किसी शब्दका कुछ भिन्न अर्थ चल निकलता है और वह भ्रम बना रहनेके कारण वह भ्रान्त अर्थ ही रूढ होकर चल निकलता है, जैसे—दक्षिण भारतके एक भागमें 'उत्कृष्ट' शब्दका अर्थ 'निकृष्ट'के अर्थमें ही प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार 'कल्याण'का अर्थ वहाँ 'विवाह' है। इन अनेक कारणोंसे अर्थोंमें निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं।

पीछे (पृ. १३१) यह भी बताया जा चुका है कि परिस्थिति या प्रसंगके कारण ही किसी उक्तिका ठीक अर्थ स्पष्ट होता है। कभी-कभी तो बिना कुछ कहे केवल संकेतसे ही बात कह दी जाती है (§ २०६)। कवितामें भी कभी-कभी इस प्रकारके संकेतसे बात करनेका उल्लेख किया जाता है, जैसे—गोस्वामी तुलसीदासजीने बरवै रामायणमें शूर्पणखाके कर्ण-नासिका-छेदनके प्रसंगमें कहा है—

वेद नाम कहि अँगुरिनि खंडि अकास।
भेज्यो सूपनखाहि लखनके पास॥

[रामने वेद (श्रुति = कान) कहकर और उँगलियोंसे आकाश (स्वर्ग = नाक) काटते हुए शूर्पणखाके नाक-कान काटनेका संकेत देकर उसे लक्ष्मणके पास भेज दिया]।

किन्तु यहाँ अन्य प्रकारके संकेतोंके विवेचनका प्रसंग नहीं है इसलिये भाषा (शब्द तथा वाक्य) के अर्थोंमें परिवर्तनों और उनके कारणोंका परीक्षण किया जायगा ।

किसी भी भाषामें जितने शब्दोंका प्रयोग होता है उनमेंसे बहुतसे शब्द ऐसे विचित्र हैं कि उनके मूल अर्थ और आधुनिक अर्थमें बहुत अन्तर हो गया है। हिन्दीके 'वर' और 'दुलहा' शब्दोंका क्रमशः अर्थ है 'अच्छा' और 'दुर्लभ' किन्तु अब ये दोनों शब्द 'पति' के अर्थमें रूढ हो गए हैं। इसीलिये निम्नांकित प्रकारके प्रयोग सुनने या पढ़नेमें नहीं आते—

आज सबके लिये भोजन दुलहा (दुर्लभ) है ।

अथवा—

यह भवन वर (अच्छा) है ।

किसी समय शत्रुओं-द्वारा गौओंका हरण होनेपर की जानेवाली पुकारको ही 'गोहार' कहते थे किन्तु अब किसी कामके लिये सेवकको पुकारनेपर या किसी प्रकारकी दैवी विपत्ति आने (आग लगने, बाढ़ आने) पर भी गोहार लगाई जाती है। यद्यपि 'थन' शब्द भी 'स्तन'का ही अपभ्रंश है किन्तु 'थन' शब्दका प्रयोग केवल पशुओंके थनके लिये ही होता है, स्त्रीके स्तनके लिये नहीं। 'तृष्णा' शब्दका अर्थ 'प्यास' था किन्तु पीछे चलकर उसका अर्थ 'लोभ' अथवा किसी वस्तुको प्राप्त करनेकी 'तीव्र वासना' हो गया। यद्यपि 'वत्स' शब्दसे ही 'बच्चा' और 'बच्छा' दोनों शब्द निकले किन्तु दोनोंके अर्थोंमें यह भेद हो गया कि 'बच्चा' शब्द तो मनुष्यके बच्चेको और 'बच्छा' शब्द गायके बछड़ेको कहने लगे। 'पीना' शब्दका अर्थ कुछ भी पनियल पदार्थ मुँहमें डालकर घोट जाना है किन्तु 'वे पीकर आए हैं' कहनेका अर्थ यह है कि 'वे ताड़ी, मदिरा आदि पीकर आए हैं।' इसी प्रकार 'मोदक' शब्दका अर्थ है 'सुख देनेवाला' किन्तु प्रत्येक सुख देनेवाले पदार्थको 'मोदक' नहीं कहते। यद्यपि जलमें शैवाल, घोंघे तथा अन्य न जाने कितने जन्तु और घास-फूस जन्म लेते हैं किन्तु 'जलज' केवल 'कमल'को ही कहते हैं। प्रारम्भमें 'तिल'-से निकाले जानेवाले चिकने रसको ही 'तैल' कहते थे किन्तु अब तो 'नारियल, सरसों, मछली और मिट्टीसे निकाले जानेवाले रस'को भी 'तैल' कहते हैं। 'मृग' शब्दका प्रयोग पहले सब पशुओंके लिये किया जाता था किन्तु अब 'मृग' शब्दसे 'हरिण'का ही बोध होता है भले ही 'सिंह'को अब भी 'मृगेन्द्र' ही क्यों न कहा जाता हो। संस्कृत-कोशके अनुसार 'साहसिक'

शब्दका अर्थ है 'डाकू' या 'भयंकर कार्य करनेवाला,' किन्तु अब 'वीर पुरुष'को ही 'साहसी' या 'साहसिक' कहने लगे हैं।

उपर्यङ्कित विवरणसे स्पष्ट है कि बहुतसे शब्दोंका मूल अर्थ व्यापक हो गया, कुछका व्यापक अर्थ संकुचित हो गया, कुछ अच्छे भावके लिये प्रयुक्त होनेवाले शब्द बुरे भावके लिये प्रयुक्त होने लगे और बुरे भावके लिये प्रयुक्त होनेवाले शब्द अच्छे भावके लिये प्रयुक्त होने लगे; यहाँतक कि बहुतसे अच्छे शब्द भी आजकी बोलचालमें गन्दे अर्थवाले होनेके कारण पूर्णतः छूट गए। अतः, अर्थमें परिवर्त्तन व्यक्ति या समाजके कारण होता है।

ध्वनि-नियम और बुद्धि-नियम

§ २२२. ध्वनि-नियम और बुद्धि-नियम भ्रामक हैं।

पीछे (§ ८६, ९०) ध्वनियोंके परिवर्तनके प्रसंगमें समझाया जा चुका है कि ध्वनि-नियमका यह सिद्धान्त भ्रामक है कि देश और कालसे भाषाकी ध्वनियोंमें परिर्वतन हो जाते हैं? उससे स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनिके नियम देश और कालकी परिधिमें बँधकर नहीं चलते। मनुष्यकी बुद्धि ही किसी देश या कालकी परिधिमें नहीं बँधी होती और अर्थका ज्ञान बुद्धिके ही आश्रयसे होता है। इसलिये अर्थ-नियम या बुद्धि-नियमके लिये कोई बन्धन नहीं होता। बुद्धि तो संसारकी किसी भी भाषामें किसी भी समय यथेच्छ प्रकारसे परिवर्तन करती रहती है। किन्तु ये बुद्धि-नियम देश और कालकी परिधिसे दूर रहते हुए भी विचित्र प्रकारसे संसारकी चाहे जितनी भाषाओं या कालोंपर आरोपित किए जा सकते हैं। इसलिये इन्हें भी नियम मान लिया गया।

किन्तु आचार्य चतुर्वेदी इससे सहमत नहीं हैं। ऐसे कोई नियम इसलिये निर्धारित नहीं किए जा सकते कि अर्थोंके अधिकांश परिवर्तन तो लोगोंके अज्ञान, कायरता (दूसरोंकी भाषाके शब्दोंको डरकर अपनाने) या आलस्यसे हुए हैं और ये परिवर्तन भी अत्यन्त सभ्य जातियोंकी भाषामें हुए हैं, वन्य और एकान्तवासी जातियोंकी भाषामें नहीं। इस प्रकारके परिवर्त्तन सभी भाषाओंमें बहुत कम हुए हैं यहाँ तक कि किसी-किसी भाषामें तो किसी परिवर्तनके बड़ी कठिनाईसे एक-दो उदाहरण मिल पाते हैं।

वाक्यमें आए हुए शब्दोंके दो सम्बन्ध

§ २२३. वाक्यके शब्दोंका एक सम्बन्ध वाक्यार्थसे और दूसरा अपने मूल अर्थसे होता है।

यह बताया जा चुका है (§ १४८) कि वाक्यसे ही अर्थ निकलता है। वाक्यमें प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंका एक सम्बन्ध तो उस वाक्यसे होता है जिसमें उनका प्रयोग किया जाता है और दूसरा सम्बन्ध उन शब्दोंके अपने-अपने अर्थसे होता है। उदाहरणके लिये एक वाक्य लिया जाय—

मैंने उसके दाँत खट्टे कर दिए।

उपर्युङ्कित वाक्यमें 'दाँत' शब्दका अर्थ है 'मुँहके जबड़ेमें जड़े हुए वे छोटे-छोटे हड्डीके टुकड़े जिनसे भोजन चबाया जाता है' पर इस वाक्यमें 'दाँत' शब्दका सम्बन्ध जब 'खट्टे करना' क्रियाके साथ होता है तब उसका अर्थ हो जाता है 'परास्त करना, हराना, नीचा दिखाना'। इस प्रकार वाक्यमें आए हुए शब्दोंका अर्थ दो प्रकारके सम्बन्धोंसे स्पष्ट होता है।

पीछे (§ १३७) बताया जा चुका है कि वाक्यमें जितने शब्द आते हैं उन शब्दोंके रूपोंमें दो तत्त्व होते हैं—

१. शब्द या अर्थकर योग

२. सम्बन्धक योग अर्थात् वाक्यके शब्दोंका पारस्परिक सम्बन्ध प्रकट करनेवाले विभक्ति-प्रत्यय आदि। शब्दोंके पारस्परिक सम्बन्धको प्रकट करनेवाले सम्बन्धक योगोंको 'रूपमात्र' भी कहते हैं और जिन शब्दोंका अपना प्रातिपदिक अर्थ होता है वे अर्थमात्र कहलाते हैं। एक वाक्य उदाहरणके लिये लिया जाय—

अर्जुनने शरगंगासे भीष्मको जल पिलाया।

इस वाक्यमें 'अर्जुन' शब्दके साथ लगा हुआ 'ने' सम्बन्धक योग 'अर्जुन' शब्दका सम्बन्ध 'शरगंगा, भीष्म, जल' और 'पिलाया' के साथ स्पष्ट कर देता है कि अर्जुनने ही 'जल पिलाया, शरगंगासे पिलाया' और 'भीष्मको पिलाया'। इसी प्रकार 'शरगंगा' शब्दके साथ लगा हुआ 'से' सम्बन्धक योग उस वाक्यमें आए हुए 'अर्जुन, भीष्म, जल' और 'पिलाया'का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट करता है। 'भीष्म' के साथ लगा हुआ 'को' सम्बन्धक योग 'भीष्म' शब्दका सम्बन्ध 'अर्जुन, शरगंगा, जल' और 'पिलाया'के साथ स्पष्ट करता है। यद्यपि 'जल' शब्दके साथ कोई सम्बन्धक योग नहीं लगा है तथापि वाक्यके शब्दोंमें उसका क्रम ही उसका अर्थ स्पष्ट कर देता है कि 'अर्जुनने भीष्मको जल पिलाया।' इसी प्रकार 'पिलाना' क्रियाके भूतकालमें बने हुए 'पिलाया' शब्दका सम्बन्ध 'अर्जुन, शरगंगा, भीष्म' और 'जल'के साथ स्पष्ट हो जाता है कि यह 'पिलाने' की क्रिया किसने, किस प्रकार, किसको, क्या

मिलाकर, कब पूरी की। इन सम्बन्धक योगोंके अतिरिक्त 'अर्जुन, भीष्म, शरगंगा' और 'पिलाना' शब्दोंके भी अलग-अलग कुछ अर्थ हैं कि—'अर्जुन भी कुन्ती और पाण्डुका तृतीय पुत्र था। उसने बाण मारकर पृथ्वीसे जो जलधारा निकाली थी वही शरगंगा थी। कौरव-पाण्डवोंके पितामह भीष्म जब महाभारतके युद्धमें घायल होकर शरशय्या पड़े हुए जल माँग रहे थे उस समय अर्जुनने ही पृथ्वीमें बाण मारकर उन्हें शरगंगाका जल दिया था।'

यहाँ रूपमात्र या सम्बन्धक योगपर विचार न करके शब्द या अर्थकर योगके अर्थका परीक्षण किया जायगा।

दो प्रकारसे अर्थका परीक्षण

§ २२४. अर्थ या तात्पर्यका परीक्षण करनेवाले विद्वान् अर्थोंमें होनेवाले परिवर्तनोंका परीक्षण दो प्रकारसे करते हैं—कारणतः और उद्देश्यतः।

कारण-विचार : कारण-विचारके अनुसार यह परीक्षण किया जाता है कि अर्थोंमें किस प्रकारके और क्यों विकार आए। अर्थ-परिवर्तनके इस कारण-विचारको तात्पर्य परीक्षा (अर्थ-विचार या अर्थ-परीक्षा) कहते हैं।

उद्देश्य-विचार : अर्थोंके परीक्षणमें जब यह देखा जाता है कि कोई विकार, क्यों, किस उद्देश्यसे और कौनसा नया अर्थ निकालनेके लिये किया गया उसे उद्देश्य-विचार कहते हैं। यह परिवर्तन या विकार जान-बूझकर या बुद्धिके आश्रयसे किया जाता है इसीलिये इस प्रकारके परिवर्तनके परीक्षणके नियमको विद्वान् लोग बौद्धिक नियम कहते हैं।

बौद्धिक नियम

§ २२५. बौद्धिक नियमके अन्तर्गत विशेषीकरण, भेदीकरण, उद्योतन, विभक्ति-शेष, भ्रम, उपमान, नवीन लाभ और लोभ नामक कारणोंपर विचार होता है।

१. विशेषीकरणका नियम (लौ औफ़ स्पेशलाइजेशन) : जब किसी एक भाव या विचारको समझानेके लिये कई शब्दोंका प्रयोग होता है किन्तु किसी कारणवश उन शब्दोंमेंसे कुछ कम हो जाते हैं तब इस विकारको विशेषीकरण कहते हैं; जैसे—संस्कृतमें पहले 'उससे अच्छा' और 'सबसे अच्छा' या 'उससे बुरा' या 'सबसे बुरा' के लिये 'तर' और 'तम' अथवा 'ईयस्' और 'इष्ठ' दो प्रकारके प्रत्यय लगाते थे किन्तु आगे चलकर 'तर' और 'तम' का प्रयोग कम हो गया, 'ईयस्' और 'इष्ठ'का प्रयोग बढ़ गया जिससे 'गरिष्ठ, महिष्ठ, वरिष्ठ,

श्रेष्ठ' शब्द बन गए। देशी भाषाओंमें इस प्रकार तारतम्य दिखानेवाले शब्दोंका ऐसा लोप हुआ कि अब 'श्रेष्ठ' शब्दमें भी 'तर' और 'तम' लगाकर 'श्रेष्ठतर' 'श्रेष्ठतम' शब्द बनाने लगे। इस प्रकारके तुलनात्मक अर्थके लिये 'उसकी अपेक्षा' या 'उससे अधिक' शब्दोंका भी प्रयोग होने लगा। संस्कृतकी विभक्तियोंके बदले कुछ भाषाओंमें परसर्ग (प्रीपोज़ीशन) का भी प्रयोग होने लगा जैसे संस्कृतके 'वृक्षे' (वृक्ष शब्दका सप्तमी एक वचन) शब्दके बदले हिन्दी में 'वृक्षपर' और अँगरेज़ीमें 'औन दि ट्री' कहने लगे। इसे 'विशेषीकरण-का नियम' कहते हैं।

२. भेदीकरणका नियम : किसी धातुसे बनने अथवा किसी अन्य कारणसे जो शब्द कभी एक शब्दके बदले प्रयुक्त होते हैं या दूसरे शब्दके पर्याय जान पड़ते हैं वे शब्द जिस नियमके अनुसार विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त होने लगते हैं उस नियमको 'भेदीकरणका नियम' कहते हैं, जैसे—'गर्भिणी' और 'गाभिन' दोनों शब्दोंका अर्थ है—'वह, जिसके पेटमें बच्चा हो' किन्तु 'गर्भिणी' शब्दका प्रयोग मानवीय स्त्रियोंके लिये होता है और 'गाभिन' का प्रयोग पशुओंके लिये। 'मौलवी' और 'पंडित' दोनोंका अर्थ है 'बहुत विद्वान्' किन्तु 'मौलवी' शब्दसे 'मुसलमान-विद्वान्' या 'अरबी-फ़ारसीके विद्वान्' का बोध होता है और 'पंडित' शब्दसे 'ब्राह्मण विद्वान्' या 'संस्कृतके विद्वान्'का बोध होता है। इसी प्रकार 'पाठशाला, मदरसा, स्कूल'में, 'वैद्य, डाक्टर, हकीम'में, 'लम्प, हंडे (गैस) और दीवे'में, 'आसन, पीढ़े, कुर्सी, मोढ़े'में समान अर्थ होते हुए भी उनमें जो भेद प्रकट होता है वह भेदीकरणके नियमके अनुसार ही होता है। एक 'हृ' धातुमें ही 'वी, आ, सम्' आदि उपसर्ग लगाकर जब 'विहार, आहार, संहार' आदि शब्द बना लिए जाते हैं तब उनके अलग-अलग अर्थ हो जाते हैं। सामान्य घरेलू व्यवहारमें भी प्रत्येक व्यक्तिकी मर्यादाके अनुसार किसीको 'बैठो' और किसीको 'आसन ग्रहण कीजिए' कहा जाता है। किसीसे पूछते हैं—'तुम्हारा नाम क्या है' और किसीसे—'आपका शुभ नाम क्या है'। तमिळ नाडुमें 'पानी' को सामान्यतया 'जलम्' कहते हैं किन्तु वैष्णव लोग उसीको 'तीर्थम्' कहते हैं। इसी प्रकार 'नमक'को वैष्णव लोग 'रामरस' कहते हैं। 'भोग लगाना, खाना, पाना' तथा 'देखना, दर्शन करना' जैसे बहुतसे पर्यायवाची शब्द हैं जिनका अर्थ एक ही है किन्तु जिनका प्रयोग विभिन्न भावोंके लिये होता है। कुछ विद्वानोंका मत है कि भेदीकरण-के नियमके निर्वाहके लिये अग्र-निर्दिष्ट तीन आधार आवश्यक हैं—

(क) जिन शब्दोंमें इस प्रकार अर्थका भेद होता हो वे सभी शब्द उस भाषामें पहलेसे विद्यमान हों, ऐसा न हो कि कोई नया शब्द बाहरसे लाकर डाल दिया गया हो।

यह आधार आचार्य चतुर्वेदीको मान्य नहीं है। चाहे कोई शब्द पहलेसे रहा हो या पीछे आया हो, यदि पर्यायोंके अर्थोंमें भेद होगा तो वह निश्चय ही भेदीकरणके नियमके अन्तर्गत आ जाता है जैसे 'वैद्य, डाक्टर, हकीम' शब्दोंमें 'डाक्टर' और 'हकीम' शब्द बाहरसे आए हैं।

(ख) पहले तो विभिन्न शब्दोंके अर्थोंमें भेद दिखाई पड़ता रहा हो किन्तु पीछे चलकर भेद मिट जाते हों और इस कारण विभिन्न अर्थवाले पर्यायोंमेंसे कोई एक शब्द ही चल निकले, जैसे—'खाद्, भक्ष्; अद् और अश्' शब्द विभिन्न प्रकारसे भोजन करनेके लिये प्रयुक्त होते रहे किन्तु अब केवल 'खाद्' धातुसे 'खाना' शब्द ही काममें आता है—'भक्ष्' धातुसे बना हुआ 'भखना' शब्द ग्राम्य प्रयोग हो गया।

(ग) जो समाज जितना ही अधिक सभ्य और समुन्नत होता जाता है उसकी भाषामें एक ही शब्दके विभिन्न पर्यायोंके अर्थोंमें उतना ही अधिक भावात्मक भेद होता चला जाता है, जैसे—हिन्दीमें ही विभिन्न प्रकारसे 'धोने'की क्रियाके अनुसार 'धोना' शब्दके लिये 'कचारना, फींचना, सबुनियाना, पछाड़ना, साफ़ापानी देना' आदि अनेक शब्दोंका प्रयोग होने लगा।

३. उद्योतनका नियम : जब किसी शब्दमें कोई नया शब्द या प्रत्यय लगनेसे किसी अच्छे अर्थमें प्रयुक्त होनेवाला शब्द बुरे अर्थमें और बुरे अर्थमें आनेवाला शब्द अच्छे अर्थमें या व्यंग्य करनेके अर्थमें प्रयुक्त होने लगे तब उस क्रियाको 'उद्योतनकी क्रिया' कहते हैं और जिस नियमके अनुसार वह क्रिया होती हो उसे 'उद्योतनका नियम' कहते हैं, जैसे—निम्नांकित वाक्योंमें 'शिकारपुरी, गवर्नरी, साहबी, नवाबी' शब्द—

१. वे पूरे शिकारपुरी है।

२. उनका ठाठ गवर्नरी है।

३. वे बड़ी साहबी दिखाते हैं।

४. वे बड़ी नवाबी छाँटते हैं।

इन उदाहरणोंमें 'शिकारपुरी, गवर्नरी, साहबी और नवाबी' शब्दोंके अन्तमें 'ई, प्रत्यय लगाना ही उद्योतनकी क्रिया है। कुछ विद्वानोंने

'अमीरी' और 'मुनीमी' शब्दोंको भी इसी श्रेणीमें ला धरा है। किन्तु 'अमीर' और 'मुनीम' शब्दोंमें 'ई' लगनेसे उद्योतन नहीं होता वरन् सीधी-सादी भाववाचक संज्ञा बन जाती है। उद्योतनमें तो प्रत्यय लग जानेसे अर्थमें कोई विशेषता (अच्छेपन या बुरेपनका अर्थ) आना ही चाहिए। यदि यह कहा जाय कि 'सब राज्योंमें स्वतन्त्र हो जानेपर गवर्नरी शासन हो गया' या 'नवाबी शासन-कालमें लोग बड़े सुखी थे' तो यहाँ 'गवर्नरी' और 'नवाबी' शब्दोंमें उद्योतन नहीं है। किन्तु 'पण्डिताऊ, पढ़ाकू, सिक्खड़ा, बनियौटी, कट्टरपंथी' और 'बलियाटिक' शब्दोंमें लगा हुआ 'आऊ, आकू, ड़ा, औटी, पंथी' और 'टिक' प्रत्यय बुरेपनके अर्थका और 'पुष्टई' शब्दमें लगी हुई 'ई' अच्छेपनका उद्योतन करती है। अतः, कोई भी प्रत्यय लगाने मात्रको उद्योतन नहीं कहते जैसा कि कुछ विद्वानोंने लिखा है।

४. विभक्ति-शेषका नियम : जिन भाषाओंमें पहले विभक्तियाँ रही हों किन्तु उनसे विकसित या उत्पन्न होनेवाली भाषाओंमें उनके लुप्त हो जानेपर भी लोगोंके मनमें उनका संस्कार बना रहे तब भी कुछ प्राचीन अप्रयुक्त विभक्तियाँ नवीन विकसित भाषाओंमें ज्योंकी त्यों आकर मिल जाती हैं। विभक्तियोंको इस प्रकार जीवित रखनेवाले तीन कारण होते हैं—

(क) स्वभावागमन : भाषा-प्रवाहमें आ जाना, जैसे—हिन्दीमें 'अर्थात्, दैवात्, हठात्, न जाने, कृपया, पदेन' आदि शब्द आ गए हैं जो संस्कृतकी विभक्तियोंसे युक्त हैं।

(ख) अवशेष : किसी वाक्य या वाक्यांशमें किसी शब्दका पड़कर बना रह जाना, जैसे—बीते हुए समयके लिये 'गया समय', धोए हुए कपड़ेके लिये 'धोया कपड़ा।'

(ग) नव-सर्जन : प्राचीन भाषाके शब्दोंकी प्रकृतिसे मिलते-जुलते नये शब्द गढ़ लेना, जैसे—संस्कृतके 'सन्तः, कियन्तः' की ध्वनिपर हिन्दीमें 'मनगढ़न्त, पढ़न्त, जीवन्त, लड़न्त' शब्द भी बना लिए गए।

५. भ्रमका नियम : कभी-कभी भ्रमसे भी किसी एक शब्दमें विशेष अर्थके लिये लगे हुए अंशको लोग प्रत्यय मान बैठते हैं और फिर वह प्रत्यय दूसरे शब्दोंमें लगा बैठते हैं, जैसे—संस्कृतके 'उक्षन्' (बैल) शब्दका अँगरेज़ीमें 'औक्स' हो गया और फिर जैसे 'चिल्ड्रेन'में

बहुवचन सूचक 'एन्' लगा है, वैसे ही 'औक्स'में भी 'एन्' लगाकर बहुवचन बना लिया गया। इसी प्रकार 'दरअसलमें, गुलरोग़नका तेल, गुलमेंहदीका फूल, हिमाचल पर्वत, अभी भी, अभी ही' शब्दोंमें 'में, का तेल, का फूल, 'पर्वत, भी' और ही' शब्दों और प्रत्ययोंके सूचक 'दर = में, रोग़न = तेल, गुल = फूल, अचल = पर्वत, भी और ही' पहलेसे ही विद्यमान हैं फिर भी अज्ञानवश ये प्रत्यय या शब्द जोड़ लिए गए। इसी धोखेमें कभी-कभी किसी पुंलिग शब्दको स्त्रीलिंगवाची समझ लिया जाता है और जब वह शब्द स्त्रीलिंगमें चल निकलता है तब उसके लिये नया पुंलिग शब्द गढ़ निकाला जाता है, जैसे—उत्तर-प्रदेशके पूर्वी अंचलवाले लोग जब 'हाथी' शब्दका प्रयोग स्त्रीलिंगमें करने लगे तब उन्होंने पुंलिगके लिये 'हाथा' शब्द गढ़ लिया। इसी प्रकारका भ्रम वहाँ भी होता है जहाँ किसी भाषामें अन्य किसी चलती भाषाका शब्द तो छोड़ दिया जाता है पर उसका लिंग ज्योंका त्यों स्वीकृत कर लिया जाता है, जैसे—'आत्मा' शब्द पुंलिग है किन्तु उर्दू या फ़ारसीके 'रूह' शब्दकी लिंग-पद्धतिपर हिन्दीमें भी स्त्रीलिंग बन गया, जिससे इतनी प्रचण्ड अव्यवस्था उत्पन्न हो गई कि 'आत्मा' शब्दके स्त्रीलिंग-वाची होनेपर भी 'परमात्मा' और 'महात्मा' शब्द पुंलिग बने रह गए जिन्हें व्याकरणके अन्यपदप्रधानके नियमके अनुसार स्त्रीलिंगवाची ही बन जाना चाहिए।

६. उपमानका नियम : कभी-कभी किसी प्रचलित शब्दके उपमान या आधारपर भी कोई नवीन शब्द भाषामें आ पहुँचता है। उपमान-द्वारा शब्द बनानेकी यह पद्धति चार प्रकारके कार्यों या व्यवहारोंके लिये प्रयुक्त होती है—

(क) अपने मनके भाव व्यक्त करनेमें उत्पन्न होनेवाली कठिनाई दूर करनेके लिये।

(ख) किसी विषयको स्पष्ट समझानेके लिये।

(ग) किसी अननुकूल या विपरीत बातपर बल देनेके लिये।

(घ) किसी प्राचीन या नवीन नियमके साथ समन्वय बैठानेके लिये, जैसे—विद्वानोंने विभक्ति-रहित शब्दोंको अधिक सुविधाजनक और अनुकूल समझकर अपना लिया जिससे अपभ्रंशमें और वर्तमान देशी भाषाओंमें विभक्ति-रहित शब्द लिखनेकी पद्धति चल पड़ी, जैसे—'राम गाड़ी लेकर प्रयाग गया और पुस्तक-बिस्तर सब ले आया।'

७. नवीन उपलब्धि : कभी-कभी कुछ भाषाओंमें कुछ नई प्रवृत्तियाँ भी बढ़ चलती हैं जिन्हें नवीन उपलब्धि कहते हैं। ब्रेअलका मत है कि अव्यय (यथा), कृदन्त या 'इन्फ़िनिटव' (खाना, पीना, जाना), कर्मवाच्य या 'पैसिव वौएस' (रामसे रावण मारा गया) और क्रियाविशेषण या ऐडवर्ब (वह धीरे चलता है) आदि सब हिन्दीमें नवीन उपलब्धियाँ हैं। किन्तु ब्रेअलका यह मत भ्रामक है क्योंकि ये कोई नवीन उपलब्धियाँ नहीं है। वास्तवमें नवीन उपलब्धियाँ तो अनेक नवीन शब्द और वाक्य-विन्यासके रूप हैं (§ १५४)।

८. अप्रयुक्त रूपोंके लोपका नियम : कभी-कभी कुछ कारणवश जब एक ही अर्थ व्यक्त करनेवाले कई शब्द काममें आने लगते हैं तब लोग उनमेंसे कुछ रूपोंको प्रिय समझकर चला देते हैं जिससे उस अर्थको प्रकट करनेवाले अन्य शब्द लुप्त हो जाते हैं जैसे 'पश्, दृश् और ईक्ष्' धातुओंका एक ही अर्थ था 'देखना', किन्तु उनमेंसे पंजाबमें 'ईक्ष्' ग्रहण किया गया जिससे वहाँ 'वेक्खणा' (देखना) शब्द चला और शेष उत्तर-भारतमें दृश् (देखना) स्वीकार हुआ और पश् धातु लुप्त हो गई। इसी प्रकार 'दूध' के लिये 'दुग्ध, क्षीर, पय' शब्दोंमेंसे 'पय' शब्द पूर्णतः लुप्त हो गया, शेष दो शब्दोंमेंसे भी सिन्धमें 'खीर' (क्षीर = दूध) शब्द ग्रहण किया गया और शेष उत्तर भारतमें दूध = दुग्ध। इतना ही नहीं, कभी-कभी किसी शब्दका तत्सम रूप पूर्णतः लुप्त हो जाता है और केवल तद्भव रूप चल निकला है, जैसे—'कृषाण' शब्द लुप्त हो गया और 'किसान' प्रचलित रह गया। इसी प्रकार 'कृषाण, कृषक, कर्षक, कृषीबल' शब्दोंमेंसे केवल 'कृषक' शब्द ही व्यापक रूपसे ग्रहण किया गया, शेष शब्द लुप्त या अव्यवहृत हो गए।

ऊपर दिए हुए विवरणको देखनेसे प्रतीत होगा कि लोगोंने अपने मनका भाव दूसरोंको समझानेके उद्देश्यसे अथवा अपनी त्रुटि पूरी करनेके उद्देश्यसे अपनी बुद्धिके आधारपर बहुतसे शब्द चला दिए। इसलिये ऐसे शब्दोंके निर्माणके लिये बने हुए नियमोंको 'बौद्धिक नियम' कहते हैं।

पाँच प्रकारके अर्थ

§ २२६. अर्थ पाँच प्रकारके होते हैं—१. वक्तृ-भावस्थ; २. व्यंग्य; ३. श्रोतृगृहीत; ४. संदिग्ध; ५. आरोपित।

अर्थके सम्बन्धमें जितना परीक्षण किया जा चुका है उसे ध्यानमें रखते हुए यह जानना अत्यन्त सरल हो गया है कि अर्थ पाँच प्रकारके होते हैं—

१. वक्तृ-भावस्थ : वक्ता या लेखकके मनमें किसी कथन या लेखके विषयके सम्बन्धमें जो भाव होता है और जिसे वह अनलंकृत, स्पष्ट और अगूढ रूपसे बोलता या लिखता है वही सच्चा अर्थ होता है और वही वक्ताका इष्टार्थ कहलाता है। इसीका एक दूसरा रूप होता है जिसे प्रत्यक्षार्थ कहते हैं जिसमें कहनेवाला अपने मनमें कुछ रखकर सामने कुछ कहता है और इस सामने कहे हुएका अर्थ इष्टार्थसे भिन्न होता है। इसीका तीसरा रूप परोक्षार्थ होता है जब कोई व्यक्ति प्रत्यक्ष निन्दा करता हो किन्तु उसका अर्थ स्तुतिपरक हो (व्याजस्तुति), अथवा स्तुति करता हो जिसका अर्थ निन्दापरक हो (व्याज-निन्दा)।

२. व्यंग्य : जब वक्ता या लेखक इस प्रकार वाणीका प्रयोग करता है कि उसमें कुछ ऐसा दूसरा अर्थ छिपा रहे जिसे कुछ विशेष समझनेवाले ही समझ पावें वह व्यंग्य कहलाता है। अन्योक्ति, समासोक्ति आदि अलंकारोंसे इसी अर्थकी प्रतीति होती है। विपरीत लक्षणामें भी यही व्यंग्यार्थ प्रधान होता है।

कभी-कभी कहने या लिखनेवालेके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष होनेसे भी अर्थकी भावनामें अन्तर पड़ जाता है जैसे किसी अधीन कर्मचारीको कोई प्रलेख फिरसे लिखकर लानेको तीव्र स्वरमें कहा जाय तो वह मनमें यही समझेगा कि मुझे निकम्मा समझा गया। यदि यही बात चपरासीके द्वारा कहलाई जाय तब तीव्र स्वरके अभावके कारण वह यही समझेगा कि मुझे फिरसे लिखना है। इस प्रकार प्रत्यक्ष श्रवण और परोक्ष श्रवणसे भी अर्थमें परिवर्त्तन हो जाता है।

३. श्रोतृ-गृहीत : वक्ता या लेखकके कुछ कहने या लिखनेपर यह आवश्यक नहीं है कि श्रोता उसका उद्दिष्ट अर्थ ठीक समझ ही ले। श्रोता जो अर्थ ग्रहण करता है वे तीन प्रकारके होते हैं—शुद्धार्थ, अशुद्धार्थ, विशिष्टार्थ।

क. शुद्धार्थ : वह अर्थ जो वक्ता या लेखकका वास्तविक उद्दिष्ट अर्थ हो और जिसे शुद्धार्थ कहते हैं। ये शुद्धार्थ तीन प्रकारके होते हैं—योग्यतार्थ, प्रसंगार्थ, आप्तोपदिष्टार्थ।

(अ) योग्यतार्थ : वह अर्थ जिसे श्रोता अपनी बुद्धि और योग्यताके अनुसार समझ पावे। इस अर्थके ज्ञानमें यह भी सम्भव होता है कि श्रोता पूरी बात न समझकर अधूरी ही समझे।

(आ) प्रसंगार्थ : वह अर्थ, जो प्रसंग या परिस्थितिसे समझा जाय, जैसे—'लाओ' शब्द कहनेसे श्रोता प्रसंगवश समझ जाय कि मुझे क्या लाना चाहिए।

(इ) आप्तोपदिष्टार्थ : वह अर्थ, जो श्रोता स्वयं तो न समझ पावे किन्तु दूसरे प्रामाणिक व्यक्तिसे (जो भ्रामक अर्थ न बतावे) पूछकर या दूसरोंके समझानेपर समझ सके। ये सब अर्थ शुद्ध होते हैं।

ख. अशुद्धार्थ : दूसरा है श्रोता-द्वारा समझा हुआ अशुद्ध या उलटा अर्थ। अशुद्धार्थ भी चार प्रकारके होते हैं—अयोग्यतार्थ, भ्रान्तार्थ, दुःश्रवणार्थ मुग्धार्थ।

(अ) अयोग्यतार्थ : वे अर्थ, जिन्हें श्रोता उचित बुद्धि या योग्यता न होनेसे ठीक नहीं समझ पाता।

(आ) भ्रान्तार्थ : वे अर्थ, जो प्रसंग या परिस्थिति न जाननेके कारण अशुद्ध लगा लिए जाते हैं।

(इ) दुःश्रवणार्थ : वे अर्थ, जो ठीक-ठीक न सुननेसे उलटे समझ लिए जाते हैं।

(ई) मुग्धार्थ : वे अर्थ, जिन्हें लोग भ्रमके कारण शुद्ध मान बैठते हैं। जैसे—बहुतसे लोग 'छात्र'के बदले 'क्षात्र'की ही शुद्ध मानते हैं और 'क्षात्र' (क्षत्रियका धर्म) का अर्थ ही 'विद्यार्थी' समझते हैं।

ग. विशिष्टार्थ : तीसरे विशिष्टार्थ वे होते हैं जो वक्ता या लेखकके इष्टार्थसे भिन्न श्रोता जान बूझकर दूसरे अर्थमें ग्रहण करे। वक्ताको मूर्ख बनाने या तंग करनेके लिये ऐसा किया जाता है। काकु-वक्रोक्ति और श्लेष-वक्रोक्तिमें यही होता है। यह उदाहरण लीजिए—

कस्त्वं शूली मृगय भिषजं नीलकण्ठः प्रियेऽहं
केकामेकां कुरु पशुपतिर्नैव दृश्ये विषाणे।
स्थाणुर्मुग्धे न वदति तरुर्जीवितेशः शिवायाः
गच्छाटव्यामिति हतवचाः पातु वश्चन्द्रचूडः॥

[द्वार खटखटानेवाले शङ्करजीसे पार्वतीजीने भीतरसे पूछा—आप कौन हैं? शङ्करजीने कहा—मैं हूँ शूली (त्रिशूलवाला या पीडावाला)। पार्वतीजीने कहा—तो जाकर औषधि ढूँढ़ो। शङ्करजी—प्यारी! मैं नीलकण्ठ (नीले कण्ठवाला या मोर) हूँ। पार्वतीजी—मोर हो तो एक कूक सुनाओ। शङ्करजी—मैं पशुपति (प्राणियोंका या पशुओंका स्वामी) हूँ। पार्वतीजी—पर आपके सींग तो दिखाई

नहीं देते। शङ्करजी—मैं स्थाणु (सदा स्थित या ठूँठ) हूँ। पार्वतीजी—पर ठूँठ तो कभी बोलता नहीं ! शङ्करजी—मैं शिवा (पार्वती या सियारी) का पति हूँ। पार्वतीजी—तो जंगलोंमें जाकर घूमो। पार्वतीजीके इस प्रकार कहनेपर कोई उत्तर न दे सकनेवाले शङ्करजी सबकी रक्षा करें।]

ये विशिष्ट अर्थ भी दो प्रकारके होते हैं—सत्य और असत्य। कभी-कभी वक्ता तो व्यंग्यमें प्रशंसा करता है किन्तु श्रोता उसे सत्य समझ बैठता है, जैसे—'वाह कविजी ! क्या कहने'का सत्य अर्थ यह है कि आप मूर्ख हैं, कविता बन्द कीजिए; किन्तु कविजी उसका असत्य अर्थ यह समझ बैठते हैं कि 'हमारी प्रशंसा हो रही है।'

४. संदिग्ध : चौथे प्रकारका अर्थ वह होता है जो स्पष्ट नहीं होता और जिसकी निश्चयता संदिग्ध रहती है, जैसे—किसीको चार काम बताए गए हों और उसके लौटकर आनेपर पूछा गया हो—'कहिए कर लाए,' तो उसके मनमें यह द्विविधा खड़ी हो जाती है कि यह उन चारोंमेंसे किसके सम्बन्धमें पूछ रहे हैं। यही संशयपूर्ण या संदिग्ध अर्थ होता है।

५. आरोपित : जब विद्वान् लोग अपने पांडित्यके बलपर कोई विशेष चमत्कारपूर्ण अर्थ निकाल लेते हैं उसे आरोपित कहते हैं, जैसे—रामचरित-मानस व्यास या कथाकार ऐसे अर्थोंकी उद्भावना करते हैं जो गोस्वामी तुलसीदासजीकी कल्पनामें भी नहीं थे।

ऊपर दिए हुए विवरणसे स्पष्ट हो जाता है कि अर्थ पाँच प्रकारके होते हैं—१. वक्तृ-भावस्थ, २. व्यंग्यार्थ, ३. श्रोतृगृहीत, ४. संदिग्ध और ५. आरोपित।

अर्थपरिवर्तनके प्रकार

यद्यपि अर्थ तो वाक्योंसे ही प्रकट होता है किन्तु वाक्यमें आए हुए पदोंका भी अपना विशिष्ट अर्थ होता है। इसलिये पद और वाक्य दोनोंके अर्थोंमें होनेवाले परिवर्तनोंपर विचार किया जा रहा है।

§ २२७. अर्थपरिवर्तनके अग्राङ्कित प्रकार माने गए हैं—अर्थापकर्ष, अर्थोत्कर्ष, अर्थविस्तार, अर्थसंकोच, अर्थान्तरण या अर्थादेश, अर्थ-विनिमय, अर्थ-विसर्पण और अर्थारोप।

आचार्य चतुर्वेदीके अनुसार अर्थोंमें निम्नाङ्कित प्रकारके परिवर्तन होते हैं—

> अपकर्षश्चोत्कर्षौ विस्तारादेशभावसंकोचाः।
> विनिमयविसर्पणौ चेदर्थारोपो हि परिवृतिश्चार्थे ॥

[अर्थमें निम्नाङ्कित प्रकारके परिवर्तन होते हैं—अपकर्ष, अर्थात् अच्छे अर्थका बुरा हो जाना; उत्कर्ष अर्थात् बुरे अर्थका अच्छा हो जाना; विस्तार अर्थात् संकुचित अर्थका विस्तृत हो जाना; संकोच अर्थात् विस्तृत अर्थका संकुचित हो जाना; विनिमय अर्थात् अर्थका अदल-बदल जाना; अर्थ-विसर्पण अर्थात् अर्थकी मात्रामें वृद्धि हो जाना; और अर्थारोप अर्थात् कोई नया अर्थ आरोपित कर देना।

अर्थापकर्ष (डीजैनेरेशन या डिटोरियोरेशन ऑफ़ मीनिंग)

कोई शब्द जो पहले अच्छे अर्थोंमें प्रयुक्त होता था वह यदि पीछे चलकर बुरे अर्थोंमें प्रयुक्त होने लगे अथवा एक स्थानपर जो शब्द अच्छे अर्थमें आता हो वह दूसरे स्थानपर बुरे अर्थका द्योतक हो जाय वहाँ अर्थापकर्ष होता है, जैसे—'भइया' शब्द उत्तर-प्रदेश और बिहारमें स्नेही बन्धु-बान्धवके अर्थमें प्रयुक्त होता है किन्तु सिन्ध, गुजरात और बम्बईमें 'सेवक' या 'छोटा काम करनेवाले'का अर्थ देता है। पहले 'बौद्ध' शब्द 'बुद्धके अनुयायियों'के लिये आदरार्थ प्रयुक्त होता था किन्तु उसका अपभ्रष्ट शब्द 'बुद्ध' अब 'मूर्ख'के अर्थमें प्रयुक्त होता है। पहले 'नग्न' और 'लुञ्चित' शब्द जैन साधुओंके लिये आदरार्थ प्रयुक्त होते थे किन्तु उसका अपभ्रष्ट रूप 'नंगा-लुच्चा' अब बुरे अर्थमें ही आता है। कुछ विद्वानोंने 'विराट्' (विराट् सभा), 'चालाक' और 'महाराज' शब्दको भी अर्थापकर्षमें गिनवा दिया है किन्तु उन्होंने यह ध्यान नहीं दिया कि ये शब्द रूढार्थक और अपकर्षार्थक दोनों होते हैं और जब अपकर्षार्थमें आते हैं तों व्यंग्य या विनोदमें आते हैं। अपकर्ष और रूढ दोनों अर्थोंमें चलनेवाले शब्दोंको केवल अपकर्षके भीतर रखना उचित नहीं हैं, जैसे—

ये मेरे गुरु हैं। (रूढार्थक)।

क्यों गुरु ! हमसे यह चोरी ? (अपकर्षार्थक)।

दरभंगाके महाराजने पूज्य मालवीयजीको बड़ा सहयोग दिया था। (रूढार्थक)।

हमारा महाराज आजकल अस्वस्थ है इसलिये रसोई हमें ही बनानी पड़ती है। (अपकर्षार्थक)।

ऊपर दिए हुए वाक्योंमें 'गुरु, और 'महाराज' दोनों शब्द दोनों अर्थोंमें आए हैं इसलिये उन्हें केवल अर्थापकर्षके अन्तर्गत नहीं मानना चाहिए।

पहले अँगरेज़ीके 'सिली' शब्दका अर्थ था 'सौभाग्यशाली' या पर अब है 'मूर्ख'—यही अर्थापकर्ष कहलाता है। कुछ विद्वानोंने 'महाजन' शब्दको भी अर्थापकर्षका उदाहरण माना है किन्तु वह तो अर्थसंकोचका उदाहरण है। पहले 'महाजन' शब्द 'महापुरुषों' या 'समाजके नेताओं'के लिये प्रयुक्त होता था (महाजनो येन गतः स पन्था) किन्तु अब तो यह शब्द संकुचित होकर 'रुपया उधार देनेवालों'के अर्थका बोधक रह गया है।

२. अर्थोत्कर्ष

कुछ ऐसे भी शब्द हैं जिनका पहले तो अच्छे अर्थमें प्रयोग होता था किन्तु पीछे चलकर बुरे अर्थमें प्रयोग होने लगा, जैसे—'साहसी' शब्दका अर्थ पहले 'डाकू, हत्यारा, चोर, जार और दुष्कर्मी' था किन्तु अब इसका अर्थ हो गया है 'वीरतापूर्ण और संकटपूर्ण कार्य करनेवाला'।

३. अर्थ-विस्तार

कुछ शब्द पहले किसी एक निश्चित पदार्थ या अर्थके लिये ही प्रयुक्त होते थे किन्तु आगे चलकर उस जातिके अन्य सब पदार्थोंके लिये उसका प्रयोग होने लगा, जैसे—'तैल' शब्दका अर्थ 'तिल पेरकर निकाली हुई तरल चिकनाई' था किन्तु अब 'सरसों, ऐरण्ड, मिट्टीका तेल' आदि सबके लिये 'तैल' शब्दका प्रयोग होने लगा। 'गोहार' शब्द पहले 'गौओंके हरण किए जानेपर मचाई हुई पुकार'के लिये प्रयुक्त होता था किन्तु अब सब प्रकारकी पुकारोंके लिये उसका प्रयोग होने लगा। पहले उसी व्यक्तिको 'कुशल' कहते कहते थे जो 'बिना हाथमें काँटा चुभाए कुशा उपाड़ लाता था' किन्तु अब तो जो भी व्यक्ति सुचारु और व्यवस्थित रूपसे अपना काम करता है उसे ही 'कुशल' कहते हैं। एक विभीषणने अपने भाई रावणको धोखा देकर मरवा डाला था, एक नारदजीने किन्हीं दो देवताओं या राजाओंमें कलह करा दिया था, एक जयचन्दने अपने सम्बन्धीको नष्ट करनेके लिये विदेशियोंकी सहायता लेकर देशद्रोह किया था किन्तु अब प्रत्येक घर-भेदीको 'विभीषण', प्रत्येक झगड़ा करानेवालेको 'नारद' और प्रत्येक देश-द्रोहीको 'जयचन्द' कहते हैं। पहले 'गवेषणा'का अर्थ था 'खोई हुई गौको ढूँढना' किन्तु अब सब प्रकारकी 'खोज'को गवेषणा कहने लगे हैं। यही अर्थ-विस्तार कहलाता है।

४. अर्थ-संकोच

बहुतसे शब्द पहले किसी एक जातिके समस्त पदार्थोंके लिये प्रयुक्त होते थे किन्तु अब वे शब्द उस जातिके पदार्थोंमेंसे किसी एकके लिये रूढ हो गए, जैसे 'महाजन' शब्द पहले सब प्रकारके महापुरुषोंके लिये प्रयुक्त होता था किन्तु अब केवल 'रुपयेका लेन-देन करनेवाले'के लिये होता है। 'मृग' शब्द पहले सब पशुओंके लिये प्रयुक्त होता था किन्तु अब केवल 'हरिण'के लिये ही रूढ रह गया है। इसी प्रकार 'वर' और 'दुर्लभ' शब्द पहले 'श्रेष्ठ' और 'कठिनाईसे प्राप्त होनेवाले'के लिये प्रयुक्त होते थे किन्तु अब इन शब्दोंका प्रयोग उस व्यक्ति (वर या दूल्हे) के लिये होता है जिसका विवाह होनेवाला हो या हो रहा हो। पहले अँगरेज़ीके 'हाउंड' शब्दका प्रयोग सब कुत्तोंके लिये होता था किन्तु अब केवल 'शिकारी कुत्ते'के लिये प्रयुक्त होता है। 'घृणा' शब्दका अर्थ पहले 'दया' और 'घिन' दोनों था किन्तु अब 'घिन' ही रह गया है।

५. अर्थान्तरण या अर्थादेश

कभी-कभी एक साथ प्रयुक्त होनेवाले दो विभिन्न अर्थोंवाले शब्दोंमेंसे किसी एक शब्दके निकल जानेपर उसका अर्थ दूसरे शब्दका अर्थ बन जाता है, जैसे 'गृह-वाटिका' शब्द एक साथ 'घर-बार' अर्थमें चलते थे किन्तु 'गृह' निकल जानेसे बाड़ी (वाटिका) शब्दका अर्थ बँगला भाषामें 'घर' हो गया। इसी प्रकार कभी-कभी एक अर्थमें प्रयुक्त होनेवाला शब्द पीछे चलकर दूसरे अर्थमें काम आने लगता है, जैसे वेदमें 'सह्' का अर्थ था 'जीतना' किन्तु काव्य-संस्कृतमें उसका अर्थ हो गया 'सहना'।

६. अर्थ-विनिमय

कभी-कभी लगभग समान गुणवाली किन्तु दो भिन्न वस्तुओंके लिये काममें आनेवाले शब्दोंके अर्थोंमें परस्पर अदला-बदली भी हो जाती है, जैसे संस्कृतमें नीमका स्वाद 'तिक्त' और मिर्चका 'कटु' है किन्तु हिन्दीमें नीमको 'कड़वा' (कटु) और मिर्चको 'तीता' (तिक्त) कहने लगे।

७. अर्थ-विसर्पण

कभी-कभी किसी शब्दका निश्चित सामान्य अर्थ भी असामान्य या बहुत बढ़ा-चढ़ा अर्थ देनेवाला हो जाता है, जैसे—'उसे आज ताप हो गया है,'

कहनेसे यह समझा जाता है कि 'उसे बहुत ताप (तीव्रज्वर) हो गया है।' इसी प्रकार 'उसे मिजाज़ हो गया है,' का अर्थ होगा 'उसे बड़ा मिजाज़ (अभिमान) हो गया है।'

८. अर्थारोप और उसके प्रकार

कभी-कभी लोग जान-बूझकर, भ्रमवश या अज्ञानवश किसी एक अर्थमें आनेवाले शब्दको किसी दूसरे ऐसे अर्थमें चला देते हैं जो अपने मूल अर्थसे भिन्न होता है। इसी प्रकार कभी-कभी कोई लेखक किसी बातको विचित्र, नवीन, अद्भुत या अप्रतिम शैलीमें कहनेके लिये भी शब्दोंके अर्थोंमें नये अर्थोंका आरोप करके अपनी बात इस प्रकार और इस शैलीमें कहता है कि वह दूसरोंको नवीन प्रतीत हो। अर्थारोप छह प्रकारसे होता है—

(क) अभिधा-शक्तिसे।

(ख) लक्षणा-शक्तिसे।

(ग) व्यञ्जना-शक्ति, तात्पर्याख्या वृत्ति या ध्वनिसे।

(घ) उक्ति-संस्कारसे।

(ङ) अर्थभ्रान्तिसे

(च) शब्द-दारिद्र्यसे।

शब्द-शक्ति

अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, तात्पर्याख्या वृत्ति और ध्वनिका अर्थ समझनेके लिये शब्द-शक्तिका रहस्य समझना आवश्यक है। मम्मटने अपने काव्य-प्रकाशमें तीन प्रकारके काव्य माने हैं—उत्तम, मध्यम, अधम।

(१) उत्तम : जिसमें वाच्यार्थकी अपेक्षा व्यंग्यार्थमें अधिक चमत्कार हो—
इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।
इसीको ध्वनि-काव्य कहते हैं।

(२) मध्यम : जहाँ व्यंग्यार्थमें वाच्यार्थसे कम या गौण चमत्कार हो वह गुणीभूतव्यंग्य होता है।

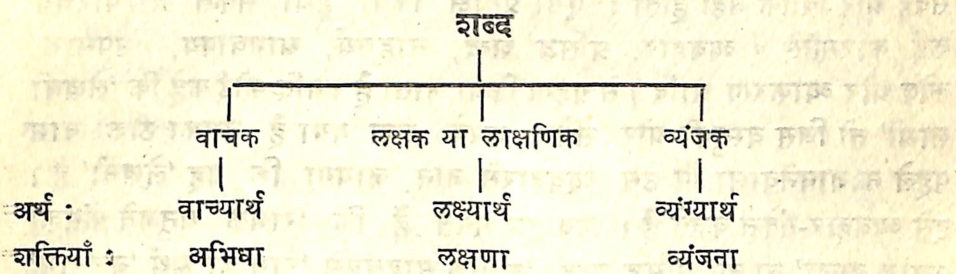
(३) अधम : जहाँ केवल वाच्यार्थमें ही चमत्कार हो, व्यंग्यार्थ कुछ भी न हो वह चित्र काव्य कहलाता है।

काव्य तो शब्द और अर्थके ही आश्रित होते हैं, अतएव सबसे प्रथम शब्द और अर्थको ही स्पष्ट किया जाता है। काव्यमें शब्द तीन प्रकारके होते हैं—वाचक, लक्षक, व्यंजक।

(१) वाचक शब्दके सहारे जाने हुए अर्थको 'वाच्यार्थ' कहते हैं और जिस शक्तिसे यह अर्थ जाना जाता है उसे 'अभिधा शक्ति' कहते हैं।

(२) लक्षक या लाक्षणिक शब्दके सहारे जाने हुए अर्थको 'लक्ष्यार्थ' कहते हैं और जिस शक्तिसे यह लक्ष्यार्थ प्रतीत होता है उसे 'लक्षणा' कहते हैं।

(३) व्यंजक शब्दके सहारे जाने हुए अर्थको 'व्यंग्यार्थ' कहते हैं और जिस शक्तिसे यह व्यंग्यार्थ जाना जाता है उसे 'व्यंजना' कहते हैं।



वाचक शब्द : साक्षात् संकेत किए हुए अर्थको बतलानेवाले शब्दको वाचक कहते हैं। यह संकेत भी व्यवहार, प्रसिद्धता, आप्त-वाक्य, उपमान, व्याकरण, कोष और साहचर्यके कारण अर्थ देता है।

संकेत-ग्रहण

व्यवहारसे, प्रसिद्ध शब्दसे, आप्त-वाक्यसे, उपमानसे, व्याकरणसे, कोषसे, साहचर्यसे

प्रत्येक वस्तुके धर्म या उसकी विशेषता (उपाधि) में ही ऐसे प्रत्यक्ष संकेत रहते हैं जिनसे अर्थ प्रकट होते हैं। इन धर्मों या विशेषताओंके अनुसार वाचक शब्द चार प्रकारके होते हैं—(१) जातिवाचक, जैसे वृक्ष, पशु, गौ आदि। (२) गुणवाचक, जैसे 'हरा वृक्ष' में 'हरा' शब्द, (३) क्रियावाचक, जैसे 'राम दौड़ता है' वाक्यमें रामकी क्रिया 'दौड़ता है', और (४) यदृच्छावाचक शब्द, जैसे—अपनी इच्छाके अनुसार किसीको मोहन, लक्ष्मण, भरत आदि नामसे

सम्बोधित करना। कभी-कभी लोग गौ, कुत्ते या बिल्लीके भी कुछ नाम रख लेते हैं। ये सब नाम भी यदृच्छावाचक शब्द होते हैं।

क : अभिधा शक्ति

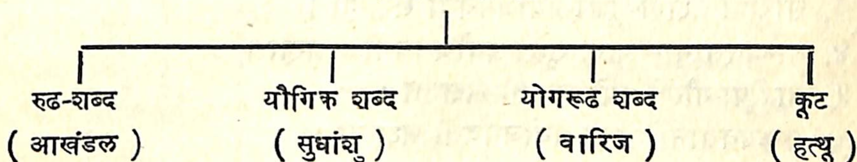
§ २२८. अभिधा शक्ति : साक्षात् संकेतित अर्थका बोध करानेवाली मुख्य क्रियाको अभिधा कहते हैं।

अभिनवभरतका सूत्र है 'प्रत्यक्षेङ्गितार्थसूचको शब्दः वाचकः' अर्थात् प्रत्यक्ष इंगित अर्थंका सूचक शब्द वाचक कहलाता है। बहुतसे शब्दोंको सुनते ही उनका एक ऐसा स्पष्ट अर्थ ज्ञात हो जाता है जिसके सम्बन्धमें किसी प्रकारका संदेह और वितर्क नहीं होता। ऐसा प्रत्यक्ष किया हुआ संकेत या परिचय कई कारणोंसे (व्यवहार, प्रसिद्ध शब्द, साहचर्य, आप्तवाक्य, उपमान, कोष और व्याकरण आदि) से ग्रहण किया जाता है। यदि कोई कहे कि 'लेखनी लाओ' तो जिस वस्तुकी ओर संकेत करके कहा गया है उसका ठीक नाम पहले न जाननेवाला भी उस व्यवहारसे जान जायगा कि यह 'लेखनी' है। इसे व्यवहार-संकेत कहते हैं। जब हम सुनते हैं कि 'रामके अनुजने कंसको पछाड़ डाला' तो हम प्रसिद्ध शब्द 'कंस'के साहचर्यसे 'राम'का अर्थं 'बलराम' और 'अनुज'का अर्थ 'कृष्ण' ही लगावेंगे, 'लक्ष्मण' नहीं। कभी-कभी हम किसी यन्त्रको नहीं जानते हैं किन्तु जब संगीत विद्या जाननेवाला आचार्यं कहता है—'यह वीणा है, यह सितार है, यह तानपूरा है' तब हम आप्तवाक्यसे उन तीनों तारके यन्त्रोंके अलग-अलग नाम जान और मान लेते हैं। हमने बनमानुसका यही विवरण पढ़ा है कि उसके पूँछ नहीं होती और वह मनुष्यके समान होता है पर बन्दरोंके समान पेड़ोंपर कूदता और झूलता है। जन्तुशालामें पहुँचकर हम तत्काल मनुष्यके आकारवाले उस जीवको देखकर उपमानके द्वारा पहचान जाते हैं कि यही 'बनमानुस' है। इसी प्रकार कुछ शब्द व्याकरण और कोषसे सिद्ध होते हैं, जैसे—'भीष्म'का 'गांगेय' (गङ्गाका पुत्र) नाम व्याकरणसे और 'पुलोमही'का अर्थं 'अफ़ीम' केवल कोषसे ही जाना जा सकता है।

'वाचक' शब्दका जो अर्थं होता है वही 'वाच्यार्थ' कहलाता है। इसीको मुख्यार्थं और अभिधेयार्थं भी कहते हैं क्योंकि अभिधा शक्तिसे यह अर्थ व्यक्त होता है। 'निश्चितार्थविधायिनी शक्तिरभिधा' [शब्दोंके निश्चित अर्थोंके

अनुसार जो अर्थ प्रकट होता है उस निश्चित अथवा मुख्य अर्थको प्रकट करनेवाली शक्तिको अभिधा शक्ति कहते हैं]

'फुलवारीमें केलेका एक वृक्ष है' इस वाक्यका अर्थ इतना स्पष्ट है कि किसी भी प्रकार इसका कोई अन्य अर्थ नहीं लगाया जा सकता क्योंकि इस वाक्यके सब शब्द अपने निश्चित या मुख्य अर्थ ही प्रकट कर रहे हैं। यहाँ शब्दोंकी अभिधा शक्तिसे ही ये मुख्य अर्थ प्रकट हुए हैं। इस अभिधा शक्तिसे चार प्रकारके शब्दोंके अर्थ प्रकट होते हैं—(१) रूढ, (२) यौगिक, (३) योगरूढ और (४) कूट।



ख : लक्षणा

§ २२९. जो शब्द लक्षणा-शक्तिसे अर्थको लक्ष्य कराता है, उसे लाक्षणिक शब्द कहते हैं और लक्षणा-शक्ति द्वारा लक्षित होनेवाले लाक्षणिक शब्दके अर्थको लक्ष्यार्थ कहते हैं। लक्षणाके ज्ञानके कारण है—(१) मुख्यार्थका बाध, (२) मुख्यार्थका लक्ष्यार्थके साथ योग, (३) रूढि अथवा प्रयोजन।

'मुख्यार्थभिन्नाभिन्नार्थसूचको लक्ष्यार्थः' [मुख्य अर्थसे भिन्न किन्तु उससे कुछ सम्बद्ध अर्थको लक्ष्यार्थ कहते हैं।] अर्थात् जब किसी शब्दका मुख्य अर्थ छोड़ दिया जाता है और किसी विशेष अर्थमें प्रयुक्त होनेसे या किसी विशेष प्रयोजनसे कोई दूसरा अर्थ लगा लिया जाता है जो उसके मुख्य अर्थसे भिन्न होनेपर भी उससे कुछ सम्बन्ध रखता हो, वहाँ जिस शक्तिसे यह दूसरा अर्थ लगाया जाता है उसे लक्षणा शक्ति कहते हैं। यदि हम कहें—'सारा देश व्याकुल है' तो इसमें यद्यपि देश कभी व्याकुल नहीं होता किन्तु देश-वासियों'के लिये 'देश' कहनेकी रूढि हो गई है। यहाँ 'देश व्याकुल है' का अर्थ हुआ 'सारे देशवासी व्याकुल है'। अतः, यहाँ रूढा लक्षणा हुई।

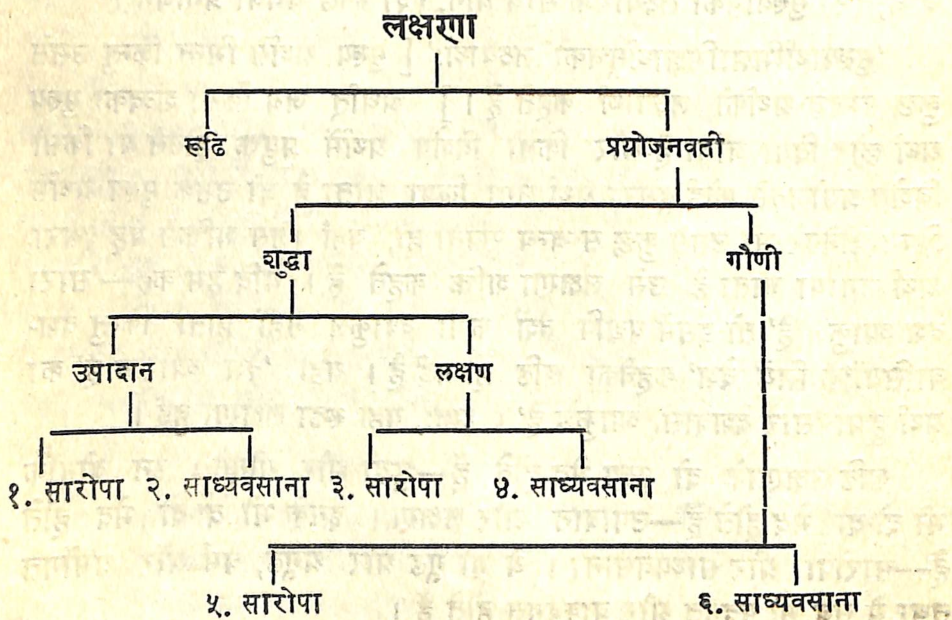
रूढि-लक्षणाके दो मुख्य भेद होते हैं—शुद्धा और गौणी। इन दोनोंके भी दो-दो भेद होते हैं—उपादान और लक्षण। इनके भी दो-दो भेद होते हैं—सारोपा और साध्यवसाना। ये भी गूढ और अगूढ, धर्म और धर्मीगत तथा ये सब भी पदगत और वाक्यगत होते हैं।

जहाँ किसी प्रयोजनसे शब्दका मुख्य अर्थ छोड़कर उसका दूसरा अर्थ लगा लिया जाता है वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है। इसके मुख्य दो भेद हैं—(१) शुद्धा और (२) गौणी। शुद्धाके दो भेद हैं—उपादान और लक्षण। इन दोनोंके भी दो-दो भेद हैं—सारोपा और साध्यवसाना। इस प्रकार कुल मिलाकर शुद्धाके चार और गौणीके दो भेद सारोपा और साध्यवसाना मिलाकर प्रयोजनवती लक्षणाके छह भेद हुए—

१. सारोपा-उपादान-शुद्धा-प्रयोजनवती लक्षणा।
२. साध्यवसाना-उपादान-शुद्धा-प्रयोजनवती लक्षणा।
३. सारोपा-लक्षण-शुद्धा-प्रयोजनवती लक्षणा।
४. साध्यवसाना-लक्षण-शुद्धा-प्रयोजनवती लक्षणा।
५. सारोपा-गौणी-प्रयोजनवती लक्षणा।
६. साध्यवसाना-गौणी-प्रयोजनवती लक्षणा।

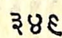
प्रयोजनवती लक्षणामें जिसे प्रयोजन कहा जाता है वही व्यंग्यार्थ होता है। यह व्यंग्यार्थ दो प्रकारका होता है—१. गूढ २. अगूढ।

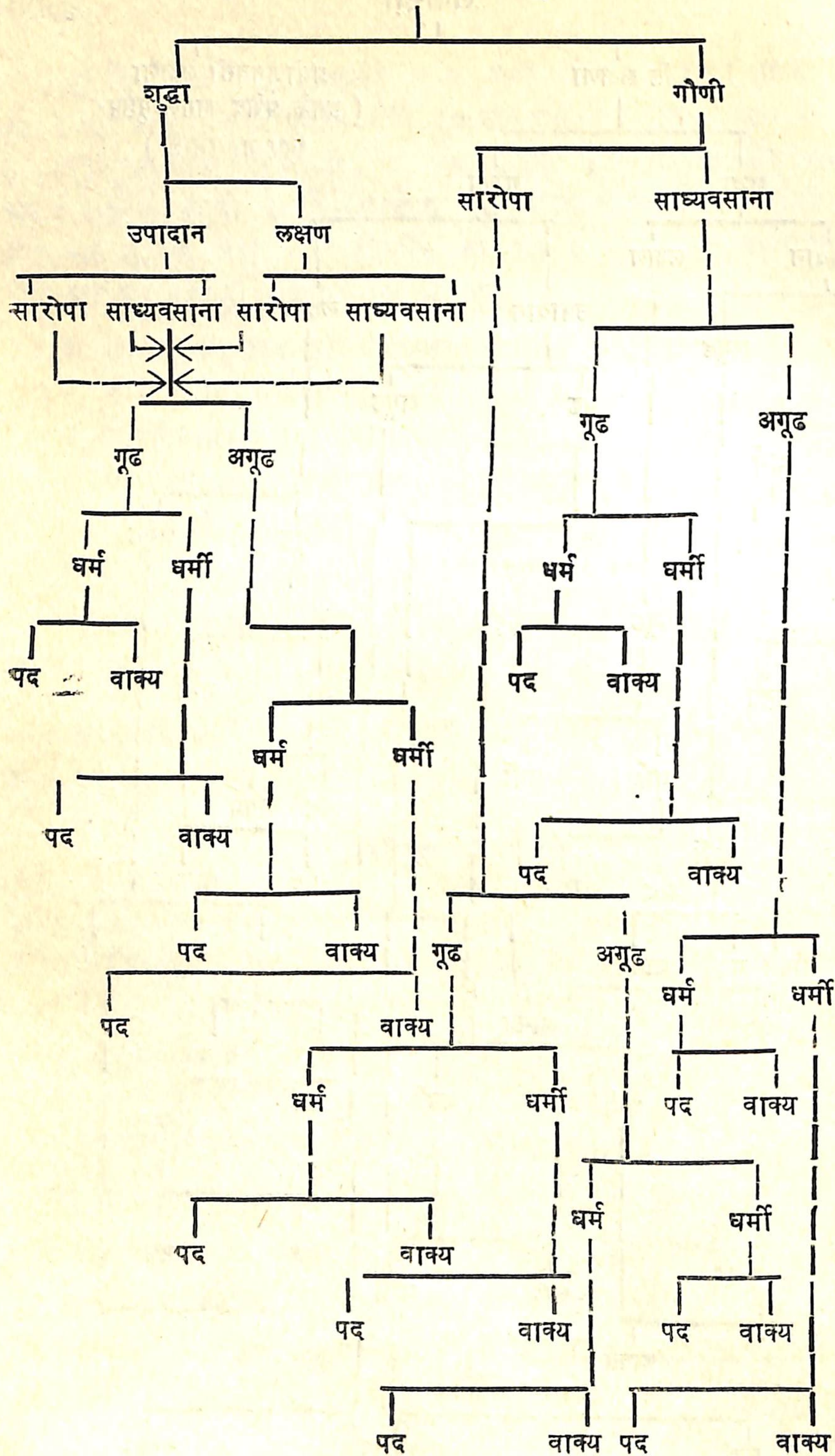
अतः पूर्वोक्त छहों प्रकारकी लक्षणाके भी प्रत्येकके गूढ-व्यंग्या और अगूढ व्यंग्या दो-दो भेद होते हैं।



लक्षणा

- रूढि लक्षणा
  - शुद्धा
    - उपादान
      - गूढ
        - धर्मी
          - पद
          - वाक्य
        - धर्म
          - पद
          - वाक्य
      - अगूढ
        - धर्म
          - पद
          - वाक्य
        - धर्मी
          - पद
          - वाक्य
    - लक्षण
      - गूढ
        - धर्म
          - पद
          - वाक्य
        - धर्मी
          - पद
          - वाक्य
      - अगूढ
        - धर्म
          - पद
          - वाक्य
        - धर्मी
          - पद
          - वाक्य
  - गौणी
    - उपादान
      - गूढ
        - धर्म
          - पद
          - वाक्य
        - धर्मी
          - पद
          - वाक्य
      - अगूढ
        - धर्म
          - पद
          - वाक्य
        - धर्मी
          - पद
          - वाक्य
    - लक्षण
      - गूढ
        - धर्म
          - पद
          - वाक्य
        - धर्मी
          - पद
          - वाक्य
      - अगूढ
        - धर्म
          - पद
          - वाक्य
        - धर्मी
          - पद
          - वाक्य
- प्रयोजनवती लक्षणा (इसके प्रभेद अगले पृष्ठपर दिए जा रहे हैं)




प्रयोजनवती लक्षणा
शुद्धा
गौणी
उपादान
लक्षण
सारोपा
साध्यवसाना
सारोपा
साध्यवसाना
सारोपा
साध्यवसाना
गूढ
अगूढ
धर्म
धर्मी
पद
वाक्य
धर्म
धर्मी
पद
वाक्य
पद
वाक्य
पद
वाक्य
गूढ
अगूढ
धर्म
धर्मी
पद
वाक्य
पद
वाक्य
गूढ
अगूढ
धर्म
धर्मी
पद
वाक्य
धर्म
धर्मी
पद
वाक्य
पद
वाक्य
धर्म
धर्मी
पद
वाक्य
पद
वाक्य
पद
वाक्य
पद
वाक्य

प्रयोजनवती लक्षणा

१. उपादान-शुद्धा-प्रयोजनवती लक्षणा वहाँ होती है जहाँ मुख्य अर्थके साथ कोई दूसरा अर्थ भी लक्षित हो और दूसरेका गुण भी ग्रहण किया गया हो, जैसे—'वहाँ गोली चल रही थी' वाक्यमें गोलीमें चलनेका गुण नहीं है। अतः, यह दोष मिटानेके लिये 'मनुष्यने बन्दूकसे जो गोली छोड़ी है उस शक्तिसे गोली दूरतक आगे-आगे चलती है' इतने अर्थकी कल्पना करनी पड़ती है। साथ ही गोलीके चलनेकी जो क्रिया होती है यह मुख्य अर्थ भी साथ बँधा है।

२. लक्षण-शुद्धा-प्रयोजनवती लक्षणा वहाँ होती है जहाँ मुख्य अर्थ पूरा छोड़ दिया जाता है, जैसे—सः गंगायाम् वसति (वह गंगामें रहता है)। यहाँ वाक्यका अर्थ यह है कि 'वह गंगाजीके पास रहता है, गंगाजीके भीतर नहीं'। यहाँ मुख्य अर्थ पूरा छोड़ दिया गया है, प्रयोजन इतना ही है कि 'स्थान गंगाजीके निकट है।'

३. सारोपा-शुद्धा-प्रयोजनवती-लक्षणा वहाँ होती है जहाँ केवल कुछ थोड़ी-सी समानताके कारण मुख्य अर्थ छोड़कर दूसरा अर्थ ले लिया जाता है, जैसे—'तेरे ये नेत्र क्या हैं, पैने बाण हैं।' यहाँ 'ये' शब्द नेत्रोंके लिये न आकर 'कटाक्ष'के लिये आया है। इसी सारोपा-लक्षणासे रूपक अलंकारकी उत्पत्ति होती है।

४. साध्यावसाना-शुद्धा-प्रयोजनवती-लक्षण वहाँ होती है जहाँ एक शब्दकी लक्षणा शक्ति और दूसरे शब्दकी अभिधा शक्तिसे निकले हुए अर्थोंमें समानता होनेपर भी दोनोंमेंसे एक अर्थात् विषय या उपमेय न दिया गया हो। कोई प्रेमी अपनी प्रेयसीसे मिलनेपर उससे कहता है—'त्वयाऽहं सुधा प्रदत्ता' (तुमने मुझे अमृत पिला दिया)। यहाँ 'सुधा' वाचक शब्द है जिसका लक्ष्यार्थ है 'प्रेयसीसे मिलना' किन्तु यहाँ 'सुधा' और 'प्रेयसीसे मिलना' एक हो गया है।

शुद्धा लक्षणा

जहाँ किसी समान सम्बन्धके बिना किसी दूसरे ही सम्बन्धसे दूसरा अर्थ ले लिया जाय वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है। 'ज्ञानवाप्यां मे आवासः' का अर्थ है—'ज्ञानवापी कुएँके पास मेरा घर है।' यहाँ सामीप्य सम्बन्धसे लक्ष्यार्थ ले लिया गया है। 'अहं विष्णोः पूजनं करोमि'का अर्थ है—'मैं विष्णुकी मूर्तिकी पूजा कर रहा हूँ।' यहाँ तादार्थ्य-सम्बन्ध है क्योंकि विष्णुकी मूर्ति ही विष्णुका

स्थापनापन्न मानी जाती है। 'मया स्वहस्तेनैव पुस्तकं लिखितम्'का अर्थ है 'मैंने अपनी उँगलियोंसे पुस्तक लिखी' क्योंकि उँगलियोंका और हाथका अङ्गाङ्गि-सम्बन्ध है इसलिये यहाँ 'हस्त' का 'उँगली' अर्थ अङ्गाङ्गि-भावसे लक्ष्यार्थ रूपमें ग्रहण किया गया है। यदि ब्राह्मण न होनेपर भी कोई व्यक्ति पौरोहित्यका काम करता है तो लोग उसे 'पंडितजी' और 'पुरोहित' कहकर सम्बोधित करते हैं। यहाँ 'पंडितजी' और 'पुरोहितजी'का अर्थ है 'पुरोहित या ब्राह्मणका कार्य करनेवाला व्यक्ति।' यह लक्ष्यार्थ तात्कर्म्य-सम्बन्धसे लिया गया है।

गौणी लक्षणा

जहाँ समानताके कारण लक्ष्यार्थ लिया जाता है वहाँ गौणी लक्षणा होती है। गौणीका अर्थ है गुणसे सम्बन्ध रखनेवाली, जैसे 'भुजदंडः' शब्दमें 'भुज' और 'दंड' दोनों शब्दोंमें शत्रुको पीडित करनेकी शक्ति व्यक्त है। अतः, इस गुणके कारण 'भुजा दंडके समान है' यह लक्ष्यार्थ ग्रहण कर लिया गया है।

उपादान लक्षणा

शुद्धा लक्षणा दो प्रकारकी होती है—उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा।

जब अपना निर्दिष्ट अर्थ सिद्ध करनेके लिये दूसरा अर्थ ग्रहण कर लिया जाय अर्थात् जहाँ मुख्य अर्थ न छोड़ते हुए दूसरा अर्थ खींचकर लाया जाय वहाँ उपादान लक्षणा होती हैं। इसलिये इसे अजहत्स्वार्था भी कहते हैं। जैसे—'वहाँ लाठियाँ चल रही थीं' कहनेका अर्थ यह है कि 'कुछ लोग लाठियाँ ले-लेकर मारनेकी क्रियामें लाठियाँ चला रहे थे।' यहाँ मुख्य अर्थ 'लाठी' भी लिया गया है और साथ-साथ 'लाठी धारण करनेवाले पुरुष' यह लक्ष्यार्थ भी ग्रहण किया गया है।

लक्षण (जहत्स्वार्था) लक्षणा

जहाँ वाक्यका अर्थ सिद्ध करनेके लिये मुख्य अर्थको छोड़कर दूसरा लक्ष्यार्थ ले लिया जाता है वहाँ लक्षण-लक्षणा या जहत्स्वार्था लक्षणा होती है। 'ज्ञानवाप्यां मे आवासः' वाक्यमें 'ज्ञानवाप्यां'का मुख्य अर्थ पूर्णतः छोड़ दिया गया है और 'ज्ञानवापीके निकट' लक्ष्यार्थ ग्रहण कर लिया गया।

सारोपा लक्षणा

जहाँ किसी एक वस्तुमें किसी दूसरी वस्तुका आरोप किया जाय अर्थात् अभेद सिद्ध कर दिया जाय और दोनोंका स्पष्ट निर्देश कर दिया जाय वहाँ

सारोपा लक्षणा होती है, जैसे—किसी चाटुकारको देखकर यह कहना कि 'श्वानोऽयम्' (यह कुत्ता है।) यहाँ निर्दिष्ट व्यक्तिमें श्वानका आरोप इस गुणके कारण किया गया है कि जैसे कुत्ता अपने स्वामीको देखकर या किसीके हाथमें भोज्य पदार्थ देखकर पूँछ हिलाने लगता है वैसे ही वह व्यक्ति भी जिससे स्वार्थ निकालना चाहता है उसकी चाटुकारी करता है। इसलिये यहाँ सारोपा-गौणी-लक्षणा है।

सारोपा-शुद्धा-उपादान-लक्षणा वहाँ होती है जहाँ धार्य-धारक सम्बन्ध होता है, जैसे—'वह लाल पगड़ी चली आ रही है।' इसका अर्थ है 'लाल पगड़ी पहने हुए आनेवाला सिपाही। यहाँ 'वह'का अर्थ 'पगड़ी धारण करनेवाला पुरुष है'। इस लक्ष्यार्थके साथ मुख्य अर्थ 'पगड़ी' भी लगी हुई है और धार्य-धारक सम्बन्ध भी है।

सारोपा-शुद्धा-लक्षण-लक्षणा

सारोपा-शुद्धा-लक्षण-लक्षणामें मुख्य अर्थ छोड़ दिया जाता है किन्तु एक वस्तुका दूसरेपर आरोप होता है, जैसे—'महामना मालवीयाः भारतीय संस्कृतेः प्राणाँश्चासन्' यहाँ 'मालवीयजी' आरोप्य विषय हैं और 'प्राण' आरोप्यमाण है। यहाँ 'मालवीयजी' व्यक्तिका अर्थ पूर्णतः छोड़ दिया गया है और यह सिद्ध किया गया है कि अन्य सब व्यक्तियोंकी अपेक्षा मालवीयजीने भारतीय संस्कृतिका सबसे अधिक कल्याण किया।

साध्यवसाना लक्षणा

जहाँ केवल आरोप्यमाण अर्थात् जिस वस्तुका आरोप किया जाय उसीका वर्णन हो और जिसमें आरोप किया गया हो उसका वर्णन न हो वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है जैसे किसीके यह पूछनेपर कि 'आप अमुक-को जानते हैं', वह उत्तर दे—'कुत्तोंकी बात मुझसे न करो'। यहाँ साध्यवसाना गौणी लक्षणा है क्योंकि यहाँ आरोप्यमाणका कथन है जिसका अर्थ है कि 'वह कुत्तेके समान अपने स्वार्थके लिये दूसरोंकी चाटुकारी करता है, ऐसे चाटुकारोंकी बात मुझसे न करो।' यहाँ आरोप्यमाण 'कुत्तों'का तो कथन है किन्तु आरोपके विषयका अर्थात् उस व्यक्तिका कथन नहीं है जिसके सम्बन्धमें बात कही जानेवाली थी। अतः, यहाँ साध्यवसाना गौणी लक्षणा

है। इसी प्रकार यदि 'रक्तोष्णीषो आयाति' कहनेमें 'सः' शब्दका प्रयोग न हो और केवल आरोप्यमाण 'उष्णीष'का ही कथन हो तो साध्यवसाना लक्षणा होगी।

इसी प्रकार यदि मालवीयजीके चित्रको देखकर कोई कहे—'भो भारतीय संस्कृतेः प्राण! जयोस्तु।' तो इसमें मालवीयजीका कहीं नाम नहीं आया है किन्तु आरोप्यमाण वस्तुका कथन है। अतः, यहाँ साध्यवसाना-शुद्धा-लक्षण-लक्षणा होगी।

ऊपर प्रयोजनवती लक्षणाके छहो भेदोंके जो लक्षण दिए गए हैं उनमें जो प्रयोजन बताया गया है वह व्यंग्यार्थसे सिद्ध होता है, वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थसे नहीं। व्यंग्यार्थ दो प्रकारका होता है—गूढ और अगूढ। अतः, ऊपर बताई हुई प्रयोजनवती लक्षणाके छहों भेदोंमें गूढव्यंग्या और अगूढ व्यंग्या दोनों प्रकारकी लक्षणाएँ होती हैं।

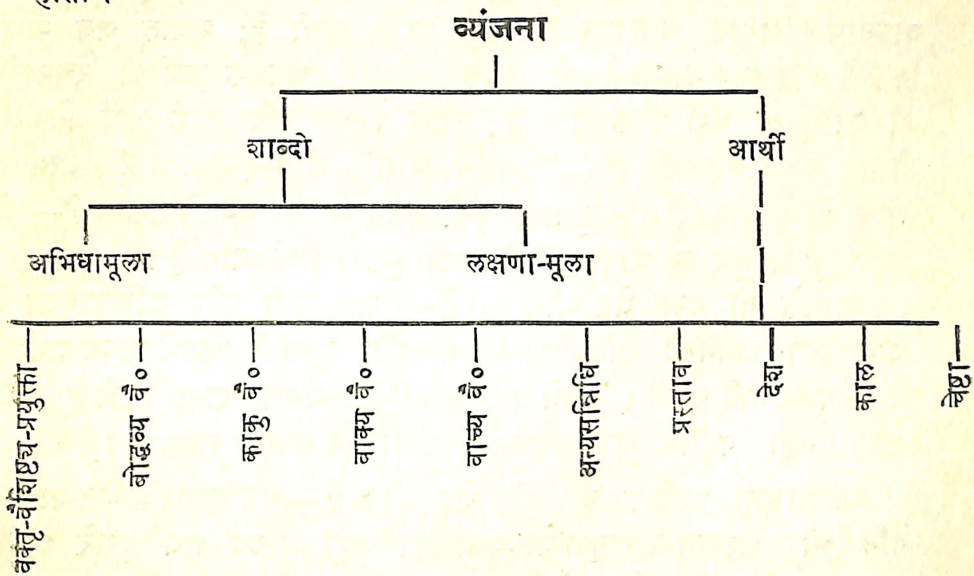
ग. व्यंजना

§ २३०. व्यंजना : अपने-अपने अर्थका बोध करा चुकनेपर अभिधा और लक्षणाके शान्त हो जानेपर जिस शक्तिके द्वारा व्यंग्यार्थका बोध होता है, उसे व्यंजना कहते हैं।

जहाँ अभिधा और लक्षणा शक्तियोंसे अर्थ न निकले तथा उनके अतिरिक्त किसी तीसरी शक्तिसे अर्थका बोध हो उस शक्तिको व्यंजना कहते हैं। व्यंजनाके द्वारा निकले हुए अर्थको 'व्यंग्यार्थ' और जिस शब्दसे वह व्यंग्य अर्थ निकलता हो उसे 'व्यंजक शब्द' कहते हैं। इस व्यंग्य अर्थको ध्वन्यर्थ, सूच्यर्थ, आक्षेपार्थ तथा प्रतीयमान अर्थ भी कहते हैं। व्यंजना दो प्रकारकी मानी गई है—शाब्दी और आर्थी। शाब्दी व्यंजना दो प्रकार-की होती है—अभिधामूला और लक्षणामूला। संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वरके अनुसार यह शाब्दी व्यंजना १४ प्रकारकी होती है अर्थात् अनेक अर्थवाले शब्द उपर्युक्त १४ कारणोंसे प्रभावित होकर जिस शक्तिके द्वारा व्यंग्य अर्थ ध्वनित करते हैं उसे अभिधामूला व्यंजना कहते हैं।

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना वहाँ होती है जहाँ किसी प्रयोजनके लिये लाक्षणिक शब्दका प्रयोग किए जानेपर उस प्रयोजनकी प्रतीति हो। काव्य-प्रकाशके अनुसार इसके १२ भेद और साहित्यदर्पणके अनुसार इसके ६४ भेद होते हैं।

वक्तृ, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य-सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल और चेष्टाकी विशेषताके अनुसार आर्थी व्यंजनाके १० भेद होते हैं। ये भी वाच्य-सम्भवा, लक्षणा-सम्भवा और व्यंग्य सम्भवाके भेदसे तीन प्रकारके होते हैं। किन्तु व्यंजनाका काम वास्तवमें यही है कि वह वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थसे भिन्न कोई तीसरा अर्थ ध्वनित करे। यदि कोई कहे कि 'तुमने आकाश क्यों सिरपर उठा रक्खा है, तो वह यही पूछना चाहता है कि 'तुम कोलाहल क्यों मचा रहे हो,' किन्तु 'आकाशको सिरपर उठाना इस इष्ट अर्थकी प्रतीति शब्दके वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थसे नहीं होती।



तात्पर्याख्या वृत्ति

कुछ आचार्योंका मत है कि वाक्यके भिन्न-भिन्न पदोंके अर्थोंका परस्पर सम्बन्ध समझानेवाली शक्तिको तात्पर्याख्या वृत्ति कहते हैं। यद्यपि यह वृत्ति सर्वमान्य नहीं है तथापि मम्मट आदि आचार्योंने अभिधा, लक्षणा और व्यंजनाके साथ इस तात्पर्याख्या वृत्तिको भी माना है। इनका मत है

कि योग्यता, आकांक्षा और आसत्तिके होनेपर ही 'वाक्य' बनता है। तात्पर्याख्या-वृत्तिवाले मानते हैं शब्दसे अर्थ नहीं निकलता, वाक्यसे निकलता है। अभिधा तो केवल वाक्यके अन्तर्गत पृथक्-पृथक् शब्दोंका अर्थात् सम्बन्ध-रहित शब्दोंका अर्थ बताती है किन्तु उन शब्दोंके जोड़नेसे जो वाक्य बनता है उसका अर्थ तात्पर्याख्या वृत्तिसे ही जाना जा सकता है। इस वृत्तिसे जो अर्थ निकलता है उसे तात्पर्यार्थ कहते हैं और यह तात्पर्यार्थ निकलता है वाक्यमेंसे ही। इस विचारका प्रतिपादन करनेवाले मीमांसक अभिहितान्वयवादी कहलाते हैं (पृ० १३०)।

ध्वनि

§ २३१. जहाँ व्यंग्यार्थमें वाच्यार्थसे अधिक चमत्कार हो वहाँ ध्वनि होती है।

आनन्दवर्धनाचार्य आदि कुछ आचार्य तो ध्वनिको ही काव्यका आत्मा मानते हैं—'काव्यस्यात्मा ध्वनिः।' उनका कहना है कि जहाँ व्यंग्यार्थमें वाच्यार्थसे अधिक चमत्कार हो वहाँ ध्वनि होती है; अर्थात् जब कोई किसीसे कोई बात कहता है तो उसके कहे हुए वाक्यके शब्दोंकी रचनासे जो साधारण अर्थ निकलता है उससे भिन्न यदि कोई अर्थ निकले तो वह ध्वनि कहलाती है। 'जानामि त्वाम्' (मैं तुम्हें जानता हूँ) अत्यन्त सीधा-साधा वाक्य है। किन्तु प्रसंग-वश इसका यह भी अर्थ हो सकता है—'मैं जानता हूँ कि तुम बड़े भारी धूर्त हो।' यही दूसरा अर्थ ध्वनि है।

ध्वनिके दो मुख्य भेद माने गए हैं—लक्षणामूला और अभिधामूला। लक्षणामूला ध्वनिको अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि कहते हैं जिसमें वाच्य अर्थकी आवश्यकता नहीं पड़ती। इसमें प्रयोजनवती-गूढ-व्यंग्या-लक्षणा होती है, रूढि लक्षणा नहीं, क्योंकि रूढि-लक्षणामें व्यंग्यार्थका अभाव रहता है।

लक्षणामूला ध्वनिके भी दो भेद होते हैं—अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि और अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्यध्वनि। जहाँ वाच्य अर्थ दूसरे अर्थमें बदल जाता है वहाँ अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य-ध्वनि होती है।

अभिधामूला ध्वनिमें वाच्य अर्थकी भी आवश्यकता रहती है। इसलिये इसे विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि कहते हैं अर्थात् इसमें वाच्य ध्वनिकी आवश्यकता तो रहती है किन्तु वह अन्यपरक या व्यंग्य-सिद्ध होती है। इस ध्वनिमें पहले वाच्य अर्थका बोध होता है फिर व्यंग्य अर्थका, किन्तु कहीं तो इनका क्रम स्पष्ट होता है और कहीं अस्पष्ट। जहाँ वाच्य अर्थ और व्यंग्य

अर्थके प्रकट होनेका क्रम स्पष्ट होता है वहाँ असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि होती है और जहाँ यह क्रम अर्थात् वाच्य अर्थ प्रकट होनेक पश्चात् व्यंग्य अर्थ ध्वनित होता है वहाँ संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि होती है।

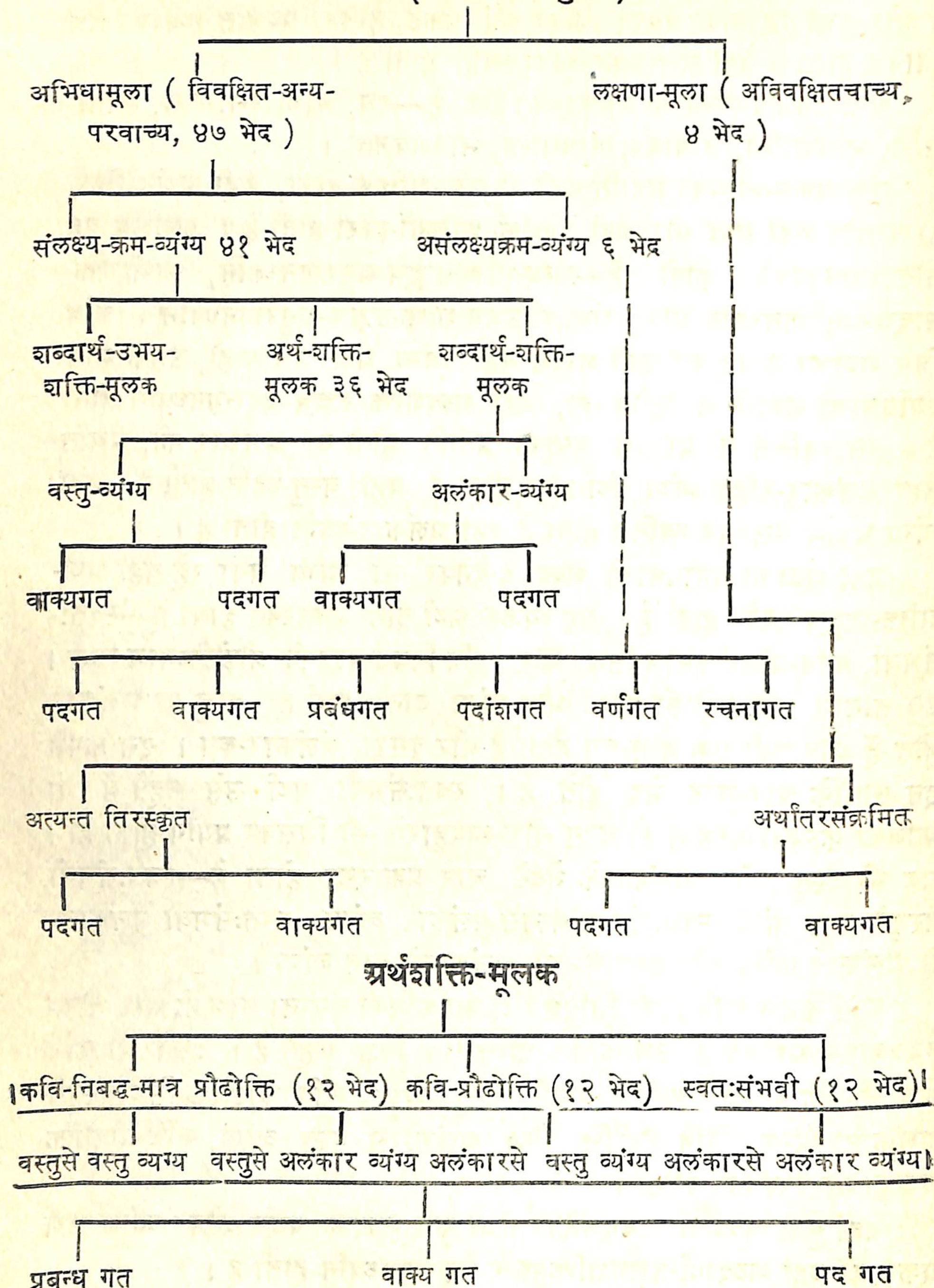
असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य आठ प्रकारका होता है—रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता।

संलक्ष्यक्रम-व्यंग्यकी प्रतीति कहीं तो शब्द-शक्तिके द्वारा, कहीं अर्थ-शक्तिके द्वारा और कहीं शब्द और अर्थ दोनोंकी शक्तियों-द्वारा होती है। इसलिये यह तीन प्रकारकी होती है—शब्द-शक्ति-उद्भव-अनुरणनध्वनि, अर्थशक्ति-उद्भव-अनुरणनध्वनि और शब्दार्थ-उभय-शक्ति-उद्भव-अनुरणनध्वनि। कवि जिस शब्दका प्रयोग करे उसी शब्दसे जहाँ व्यंग्य अर्थ प्रतीत हो, उसके अन्य पर्यायवाची शब्दोंसे न प्रतीत हो, वहाँ शब्दशक्ति-उद्भव-अनुरणनध्वनि होती है। इस ध्वनिसे भी या तो वस्तुकी प्रतीति होगी या अलंकार की; अर्थात् जहाँ अलंकार-रहित व्यंग्य अर्थ प्रकट होता है वहाँ वस्तु-ध्वनि होती है, जहाँ व्यंग्य अर्थमें अलंकार ध्वनित होता है वहाँ अलंकार-ध्वनि होती है।

जहाँ शब्दका पर्यायवाची शब्द दे-देनेपर भी व्यंग्य बना रहे वहाँ अर्थ-शक्ति-उद्भव-ध्वनि होती है। यह व्यंजक अर्थ तीन प्रकारका होता है—स्वतः-संभवी, कवि-प्रौढोक्तिमात्र-सिद्ध और कवि-निबद्ध-पात्रकी प्रौढोक्तिमात्र-सिद्ध। इन तीनोंमें कहीं-कहीं तो वाच्य और व्यंग्य दोनों अर्थ ही वस्तु या अलंकार होते हैं और कहीं एक वस्तु-रूप होता है और दूसरा अलंकार-रूप। इस क्रमसे इन तीनोंके चार-चार भेद होते हैं। स्वतःसंभवी अर्थ उसे कहते हैं जो कविकी कल्पना-मात्र न हो वरन् लोक-व्यवहारमें भी जिसका प्रयोग होता हो। यह भी वस्तु और अलंकारके भेदसे चार प्रकारका होता है—स्वतःसंभवी वस्तुसे वस्तु व्यंग्य, स्वतःसंभवी वस्तुसे अलंकार व्यंग्य, स्वतःसंभवी अलंकार-से अलंकार व्यंग्य और स्वतःसंभवी अलंकारसे वस्तु व्यंग्य।

जहाँ केवल कवि-द्वारा निर्दिष्ट अर्थ उस कविकी कल्पना-मात्र हो और लोक-व्यवहारमें असंभव हो उसे कवि-प्रौढोक्तिमात्र सिद्ध कहते हैं। इसके भी चार भेद हैं—कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध वस्तुसे वस्तु व्यंग्य, कवि प्रौढोक्ति-सिद्ध वस्तुसे अलंकार व्यंग्य, कवि-प्रौढोक्ति सिद्ध अलंकारसे वस्तु व्यंग्य, कवि प्रौढोक्ति अलंकारसे अलंकार व्यंग्य।

जहाँ कुछ शब्दोंके न बदलनेपर तथा कुछ शब्दोंके बदल देनेपर व्यंग्य अर्थ प्रकट हो वहाँ शब्दार्थ-उभयशक्तिमूलक-अनुरणनध्वनि होती है।


ध्वनि (५१ भेद शुद्ध)
अभिधामूला (विवक्षित-अन्य-परवाच्य, ४७ भेद)
लक्षणा-मूला (अविवक्षितवाच्य, ४ भेद)
संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य ४१ भेद
असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ६ भेद
शब्दार्थ-उभय-शक्ति-मूलक
अर्थ-शक्ति-मूलक ३६ भेद
शब्दार्थ-शक्ति-मूलक
वस्तु-व्यंग्य
अलंकार-व्यंग्य
वाक्यगत
पदगत
वाक्यगत
पदगत
पदगत
वाक्यगत
प्रबंधगत
पदांशगत
वर्णगत
रचनागत
अत्यन्त तिरस्कृत
अर्थान्तरसंक्रमित
पदगत
वाक्यगत
पदगत
वाक्यगत

अर्थशक्ति-मूलक

कवि-निबद्ध-मात्र प्रौढोक्ति (१२ भेद)
कवि-प्रौढोक्ति (१२ भेद)
स्वत:संभवी (१२ भेद)
वस्तुसे वस्तु व्यंग्य
वस्तुसे अलंकार व्यंग्य
अलंकारसे वस्तु व्यंग्य
अलंकारसे अलंकार व्यंग्य
प्रबन्ध गत
वाक्य गत
पद गत

इन १८ प्रकारकी ध्वनियोंके पदगत, वाक्यगत, प्रबन्धगत, पदांशगत, वर्णगत और रचनागत कुल ५१ भेद होते हैं जैसा पिछले पृष्ठपर दी हुई सारणीमें स्पष्ट कर दिया गया है।

घ. उक्ति-संस्कार

जो वाग्व्यवहार समाजमें लज्जाजनक, अमंगल, ग्राम्य और शिष्टाचार-विरुद्ध माने जाते हैं उनके लिये शिष्ट-समाजने अपनी औपचारिक शब्दावली निश्चित कर ली है और उन समस्त अभद्र प्रयोगोंको शिष्ट शब्दोंमें व्यक्त करनेकी पद्धति निकाल ली है—

१. 'मैं हगने जाऊँगा', कहना लज्जाजनक माना जाता है। इसके लिये 'निवृत्त होने, शौच होने, मैदान होने, डोल-डाल करने, टट्टी होने या निपटने' शब्दका प्रयोग होता है।

२. 'मर जाना' कहना अमंगल-सूचक है इसलिये उसके बदले 'स्वर्गवास, वैकुण्ठवास, गंगालाभ, काशी-लाभ, निधन होना, भगवानका प्यारा होना, उतर जाना' आदि कहते हैं।

इसी प्रकार 'अमुक सज्जन अस्वस्थ हैं' कहनेके लिये उर्दूमें कहा जाता है—'उनके दुश्मनोंकी तबीअत नासाज़ है।'

इसी प्रकार 'दूकान बन्द करना' अमंगल माना जाता है इसलिये उसके बदले 'दूकान बढ़ाना,' 'फूल तोड़ने'को 'फूल उतारना,' 'दीपक बुझाने' को, 'दीया बढ़ाना,' 'आग या दीपक जलाने'के लिये 'आग या दीपक जगाना,' 'होली जलाने'-को 'होली मँगलाना या मँगराना,' 'किवाड़ बन्द करने'को 'किवाड देना,' 'मृतकको जली हुई हड्डी एकत्र करने'को 'फूल चुनना' कहते हैं। इसीको न जाननेके कारण कुछ लोगोंने कबीरका शव अचानक लुप्त हो जानेपर उसके बचे हुए फूल (जली हुई हड्डी) को 'फूल' (पुष्प) समझ लिया।

३. भकोसना (खाना), धग्गड़ (पति), कट्टो (प्रेयसी) जैसे शब्द ग्राम्य हैं। इनके बदले 'भोजन करना, पतिदेव, प्राणप्यारा' आदि शब्दोंका प्रयोग किया जाता है।

इस प्रकारके उक्ति-संस्कारको अँगरेजीमें 'यूफेमिजम' कहते हैं जिसका अर्थ है 'फूहड़, अशोभन, अमंगल और अश्लील बातोंको सुघर रूपसे कहना।' कुछ विद्वानोंने इसे 'अर्थापदेश' कहकर इसे बड़ा भ्रामक नाम दे दिया है।

४. किसीसे यह पूछना कि 'आप कौन हैं ?' अशिष्टता है। पूछना चाहिए--'आपका शुभ नाम क्या है ?' भले ही उसका नाम 'खचेड़ू, दुक्खी, घसीटा, कतवारू' ही क्यों न हो। उर्दूके भाषा-शिष्टाचारके अनुसार जब किसीसे उसका ठिकाना पूछते हैं तो कहते हैं--'आपका दौलतखाना कहाँ है' चाहे वह व्यक्ति निर्धन ही क्यों न हो। इसके उत्तरमें वह व्यक्ति भी विनीत भावसे कहता है--'मेरा ग़रीबख़ाना बनारसमें है'। हिन्दीमें भी ऐसे प्रसंगोंपर कहा जाता है--'मेरी झोंपड़ी या कुटिया बनारसमें है'। इस प्रकार आदर-सत्कारके लिये प्रयुक्त होनेवाले वाक्योंमें नवीन अर्थका आरोप करके शिष्ट बना दिया गया है।

ङ. अर्थ-भ्रान्ति

कभी-कभी अज्ञान, भ्रम, प्रमादसे भी किसी शब्दकी ध्वनिसे मिलता-जुलता ध्वनिवाला शब्द चला दिया जाता है जैसे अँगरेज़ीमें 'कम्पार्टमेंट'के बदले 'डिपार्टमेन्ट', तथा हिन्दीमें 'अन्तर्धान'के बदले 'अन्तर्ध्यान'को ही ठीक मानकर चला दिया जाता है। इस प्रकारके प्रयोगको अज्ञानार्थ (मैलाप्रौपिज्म) कहते हैं। इसी अज्ञानके अन्तर्गत कभी-कभी यह स्थिति भी आती है कि एक ही अर्थवाले कई शब्दोंमेंसे एकको ही ठीक मानकर उसे अपना लिया जाता है और अन्य शब्द छोड़ दिए जाते हैं, जैसे, 'नूत्न' और 'नूतन'में, 'मानुष' और 'मनुष्य'में, 'कलस' और 'कलश'में 'कोसल' और 'कोशल'में 'वसिष्ठ' और 'वशिष्ठ'में 'भ्रुकुटि, भ्रुकुटी, भ्रूकुटि, भ्रूकुटी, भ्रकुटि, भ्रकुटी, भृकुटि और भृकुटी'मेंसे केवल 'नूतन, मनुष्य, कलश, वशिष्ठ, भृकुटी' शब्द ही स्वीकार कर लिए गए हैं और शेष शब्द केवल छोड़ ही नहीं दिए गए वरन् उन्हें अशुद्ध भी मान लिया गया। कभी-कभी ध्यान न देनेसे भी इस प्रकारकी अर्थ-भ्रान्ति उत्पन्न कर दी जाती है, जैसे केवल 'विन्ध्याचल'के बदले 'विन्ध्याचल पर्वत' कहा जाता है। यहाँ 'पर्वत' शब्दका प्रयोग इस अर्थभ्रान्तिके कारण है कि पर्वतका नाम ही विन्ध्याचल मान लिया गया है, किन्तु वास्तवमें नाम तो विन्ध्य है और 'अचल' शब्द 'पर्वत'का पर्याय है।

च. शब्द-दारिद्र्य

उचित शब्दका अभाव होने या ज्ञान न होनेसे भी लोग एक ही शब्दसे अनेक अर्थ निकाल लेते हैं, जैसे बम्बईमें 'मरना, कटना, जलना, सड़ना,

गलना, फटना, टूटना, चुक जाना, बिगड़ना, मिटना, नौकरीसे हटा दिया जाना' सबके लिये 'खलास' शब्दका प्रयोग होता है। इसी प्रकार दक्षिण अमरीकाकी इंजे-इंजे जातिमें केवल एक 'इंजे' शब्दसे ही सरा वाग्व्यापार चला लिया जाता है।

बाह्य-परीक्षण

§ २३२. नामकरणके असंख्य प्रकार होते हैं।

भाषाके बाह्य परीक्षणमें जिन अनेक पक्षोंका समावेश होता है उनमें नामकरण भी है। संसारमें जितने भी पदार्थ हैं चाहे वे निर्जीव हों या सजीव, स्थावर हों या जंगम, उन सबके विभिन्न भाषाओंमें अपने-अपने अलग नाम हैं। इतना ही नहीं, 'सत्य, सौन्दर्य' आदि भावात्मक तत्त्वोंके भी उनके लक्षणके अनुसार अलग-अलग नाम हैं। ये नाम क्यों रक्खे गए या रक्खे जाते हैं इस प्रश्नका समाधान अर्थोंके बाह्य-परीक्षणका एक अंग है। अनेक प्रकारके नामोंका परीक्षण करनेपर बताया गया है कि नाममें एक गुण तो यह होता है कि वह सूक्ष्म या संक्षिप्त होता है; दूसरा यह कि नाममें प्रायः उस पदार्थके गुणका संकेत भी होता है। निम्नाङ्कित नाम इसके उदाहरण हैं—

खग = ख + ग (आकाशमें चलनेवाला)।

विमान = वि + मान (आकाशको नापनेवाला)

पर्वत = पर्व या पोरोंवाला।

शंखपुष्पी = शंख + पुष्पी (शंखके रंगके समान रंगके फूलोंवाली)

अश्वगंधा = अश्व + गन्धा (घोड़ेके गन्धके समान गन्धवाली)।

किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि नामके अनुसार गुण भी अवश्य हों क्योंकि 'अन्धे'का नाम 'नैनसुख' और 'निर्धन'का नाम 'कुबेर' भी रख दिया जाता है। इसी प्रकार 'इन्स्पेक्टर सिंह, जर्मन पाण्डेय, शेर सिंह या रामबख्श आदि नाम भी दो भाषाओंके सार्थक या अर्थहीन शब्दोंसे मिलकर बना लिए जाते हैं। इतना ही नहीं, पुरुषोंके नाम स्त्रीवाची मिलते हैं जैसे 'कमला राय' और स्त्रियोंके नाम पुरुषवाची होने लगे हैं, जैसे—'कुसुम, विनोद, शैल' आदि।

नामके साथ जुड़े हुए 'शर्मा, वर्मा, सिंह, शुक्ल' आदि अल्लोंसे यह ज्ञात हो जाता है कि ये किस वर्णके हैं। इसी प्रकार नामके साथ जुड़े हुए 'सर्राफ़, जागीरदार, मुन्शी, जौहरी, दूधवाला' शब्दोंसे ज्ञात हो जाता है कि इनके पूर्व पुरुष क्या वृत्ति या व्यवसाय करते थे। जवाहरलाल नेहरूके पूर्वज

कश्मीरमें नहरके किनारे रहते थे यह तथ्य उनके नामसे ही ज्ञात होता है। नामके साथ लगे हुए 'मझगाँवकर' और 'टीबरेवाला' अल्लोंसे ज्ञात होता है कि इन नामोंवाले महाशय 'मझगाँव' और 'टीबरा' नामक गाँवोंके रहनेवाले हैं। दक्षिण भारतके कुछ भागोंमें नामके पहले या पीछे अपने गाँव या नगरका नाम जोड़नेकी प्रथा है, जैसे सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के नाममें सर्वपल्ली और पी. शेषाद्रिके नामके साथ शेषाद्रि (पर्वत का नाम)। कभी-कभी भौगोलिक सीमाके आधारपर भी स्थानका नामकरण होता है जैसे 'वरणा' (वरुणा नहीं) और 'असि' (असि या तलवारके रूपमें अर्द्धगोलाकार बहती हुई गंगाजी) के बीच बसे हुए नगरका नाम 'वाराणसी' पड़ गया। इसी प्रकार किन्हीं प्रतापी या शक्तिशाली व्यक्तियोंके नामपर या उनके द्वारा स्थापित नगरों और ग्रामोंके नाम भी उनके नामके साथ पुर, गंज, गढ़ या आबाद लगाकर बसा दिए जाते हैं, जैसे—रामपुर, रामगंज और रामगढ़। कभी-कभी किसी जाति-विशेषकी प्रधानताके कारण भी स्थानका नामकरण होता है, जैसे--'बामनौली' या बह्मनौली (ब्राह्मणावली)।

वास्तवमें नामके सम्बन्धमें कोई नियम नहीं है। अधिकांश नाम यदृच्छा शब्द हैं। भारतीय गृह्यसूत्रोंके अनुसार 'बालक (पुरुष) का नाम दो अक्षरों या चार अक्षरोंका होना चाहिए जिनका पहला अक्षर घोषवर्ण (ग घ ङ, ज झ ञ, ड ढ ण, द ध न, ब भ म, ह) हो, 'य र ल व' वर्णोंका प्रयोग नामके बीचमें किया जाय, तथा अन्तमें दीर्घ वर्ण हो। बालिकाओंका नाम ऐसा रक्खा जाय कि उसमें तीन या पाँच अक्षर हों और अन्तमें 'आ' हो। उसमें भी यह नियम था कि ब्राह्मणके नाममें सुखवाची शब्द हों, क्षत्रियके नाममें शौर्यवाची, वैश्यके नाममें धनवाची। किन्तु कभी-कभी ऐसे-ऐसे विचित्र और लंबे नाम भी सुननेको मिल जाते हैं-- 'अचला-कामाख्येश्वरी-प्रताप-प्रसाद नारायण सिंह।' जिनके पुत्र जीवित नहीं रहते वे अपने पुत्रोंके अमंगलवाची नाम रख देते हैं, जैसे--'दुक्खी, झगड़ू, घसीटा, बिपत'। कुछ बालकोंका नाम उनके जन्मके स्थानपर रक्खा जाता है, जैसे 'हरिद्वारराम'। जिन बालकोंका जन्म किसी देवताकी मनौतीके कारण होता है उनका नाम उस देवताके नामके साथ 'प्रसाद, बख्श, दीन' आदि जोड़कर रक्खा जाता है, जैसे--'हनुमान-प्रसाद, माताबख्श, मसुरियादीन'। बहुतसे ऐसे गाँव और नगर भी हैं जिनके नामको कोई

व्युत्पत्ति नहीं की जा सकती जैसे 'मैरीटार, अकरा, टल्ली, ड्रोटर, पब्ली, नागल', आदि ।

कभी-कभी कुछ विद्वान् कुछ अव्युत्पन्न नामोंका संस्कार भी कर लेते हैं, जैसे--'सेगाँव' का 'सेवाग्राम' और 'डुमराँव'का 'द्रुमग्राम' बना लिया गया ।

सामान्यीकरण और विशेषीकरण

§ २३३. अर्थ-विकारके दो कारण बताए गए हैं--सामान्यीकरण या विशेषीकरण ।

प्रोफ़ेसर ह्विटनीका कथन है कि अर्थोंमें जो परिवर्तन होता है उन्हें दो वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है--सामान्यीकरण (जनरलाइज़ेशन) और विशेषीकरण (स्पेशलाइज़ेशन) । किन्तु इन दोनों अवस्थाओंमें 'आरोप' या 'उपचार' (इलिप्सिस या मैटाफ़र) ही अधिक काम करता है जिसके अन्तर्गत सभी प्रकारके परिवर्तन आ जाते हैं । इनका मत है कि सब प्रकारके अर्थ-परिवर्तन 'उपचार' और 'संसर्ग'के अन्तर्गत ही आ जाते हैं । कुछ विद्वानोंने रूपक (जैसे, वह 'उल्लू' कहाँ गया), अनेकार्थता या एक शब्दका अपने मूल अर्थके अतिरिक्त अन्य अर्थोंमें भी प्रयुक्त होना (जैसे--'धातु' शब्द व्याकरण, वैद्यक, शरीर-शास्त्र सबमें अलग-अलग अर्थोंमें आता है), एकोच्चरित वर्णसमूह (जैसे--'ओनामासीधम्' अर्थात् 'ओम् नमः सिद्धम्' तथा बहुत-सी कहावतें), समास, मूर्तीकरण (जैसे 'जनता' और 'देवता' शब्द पहले ताप्रत्ययान्त भाववाचक शब्द थे किन्तु पीछे मूर्त बन गए), और अमूर्तीकरण (जैसे 'छाती' शब्द का प्रयोग 'बड़ी छाती' शब्दमें आकर 'साहस' या 'उदारता'का बोधक हो गया) भी अर्थोंमें परिवर्तन होनेके प्रकार हैं । किन्तु ये रूपक, अनेकार्थता, एकोच्चरित वर्णसमूह, समास, मूर्तीकरण सब अर्थारोपके अन्तर्गत ही आ जाते हैं ।

सूक्ष्मार्थवृत्ति

§ २३४. शब्दोंके अर्थोंमें सूक्ष्म भेद करनेकी वृत्तिसे भी अर्थमें परिवर्तन होता है ।

जैसे-जैसे कोई मानव-समाज प्रबुद्ध और समुन्नत होता चलता है वैसे-वैसे एक अर्थमें विभिन्न भावोंको अलग-अलग व्यक्त करके उनके सूक्ष्म भेद स्पष्ट

करनेके लिये उनके अलग-अलग सूक्ष्म अर्थोंकी कल्पना कर ली जाती है, जैसे—'लालसा, कामना, वासना, अभिलाषा, आकांक्षा' शब्द सब 'इच्छा'के ही विभिन्न पर्याय हैं किन्तु 'इच्छा'के रूप, परिणाम, और प्रकृतिके अनुसार उनके अर्थ भिन्न हो गए हैं। कुछ प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छाको 'लालसा', भविष्यमें अपने या दूसरेके लिये कुछ प्राप्त होनेकी इच्छाको 'कामना', कोई विशेष कार्य करने या विशेष शक्ति प्राप्त करनेकी भावनाको 'आकांक्षा', निरन्तर बनी रहनेवाली इच्छाको 'वासना' और प्रिय कार्यकी इच्छाको 'अभिलाषा' कहते हैं। इसी प्रकार जब किसी कार्य या भावको उसकी भिन्न प्रकृतियों, परिमाणों और रूपोंमें प्रकट करना होता है तब उनके लिये अलग-अलग शब्दोंका प्रयोग किया जाता है, जैसे 'धोने'की क्रियाके भिन्न प्रकारोंके लिये 'फींचना, कचारना, पछाड़ना, सबुनियाना, चमचमाना, साफ़ा लगाना' आदि शब्दोंका प्रयोग होता है।

अर्थपरिवर्तनमें व्यक्ति और समाजका योग

§ २३५. किसी व्यक्ति, साहित्यकार या समाजके मन, हृदय और बुद्धिसे अर्थमें परिवर्तन हो चलते हैं।

अर्थोंमें परिवर्तन होनेके जितने कारण और प्रकार हैं उन्हें देखनेसे जान पड़ेगा कि कभी कोई व्यक्ति ही अपने मनकी तरंग, प्रतिभा, अज्ञान या प्रमादसे कोई नया अर्थ निकालकर उस नवीन अर्थमें कोई शब्द चला देता है अथवा कोई साहित्यकार ही शब्दमें नई शक्ति और नया अर्थ भरकर शब्द या वाक्य चला देता है अथवा कोई समाज ही किसी शब्द या वाक्यका नया अर्थ चलाकर अर्थमें परिवर्तन कर देता है। इस प्रकार अर्थमें परिवर्तन करनेवाले तीन कारण हैं—व्यक्ति, साहित्यकार और समाज।

व्यक्तियोंके कारण जो परिवर्तन होता है वह कई प्रकारका होता है। कभी-कभी प्रमाद या अज्ञानसे कोई शब्द चल निकलता है, जैसे 'उपेक्षा' के बदले 'अपेक्षा', 'छात्र' के बदले 'क्षात्र'। यह अज्ञान या प्रमाद मन, बुद्धि या हृदयसे प्रेरित होता है। मनुष्य प्रायः नया शब्द गढ़नेमें आलस्य किया करता है इसलिये वह एक ही शब्दसे अनेक अर्थ निकालनेके फेरमें पड़ा रहता है। इसी आलस्यके कारण लोग रेशमको ही 'सिल्क' नहीं कहते वरन् रेशमसे बने हुए कपड़ेको भी 'सिल्क' कहने लगे। इसी मानसिक आलस्यके कारण लोग 'रामचरित-मानसको 'मानस', 'बाइसिकिल'को

'साइकिल', 'मोटरकार'को 'कार' और 'भारतीय विद्या भवन'को 'भवन' कहने लगे। इसी आलस्यके कारण अँगरेज़ीमें 'ईख' को 'शक्करका डण्डा' (शुगरकेन) और 'मोर'को 'मटरकुक्कुट' (पीकौक) बना दिया। यद्यपि 'लौकी, आलू, सूरन' शाक नहीं है फिर भी उन्हें 'शाक' में ही गिना जाता है। बँगला भाषामें इस प्रकारका शब्द-दारिद्रय बहुत अधिक है। वहाँ 'पीने' का अर्थ व्यक्त करनेके लिये कोई शब्द नहीं है। इसलिये वहाँ 'जल' भी 'खाया जाया है', 'दूध' भी 'खाया जाता है' और 'सिगरेट' भी 'खाई जाती है।' वहाँ सब प्रकारकी बातके लिये 'कथा 'शब्दका प्रयोग होता है। 'मिलने, भेंट करने, दर्शन करने, साक्षात्कार करने,' आदि सबके लिये 'देखा करना' शब्दका प्रयोग होता है। इसी मानसिक आलस्यके कारण ही 'घोड़ेका सवार' कहने के बदले 'घुड़सवार' शब्दका प्रयोग होने लगा और वाग्व्यवहारमें समस्त पदोंका प्रयोग इसी कारण चला।

मानसिक भय या आशंकाके कारण ही अमंगलय शब्दोंके बदले मंगलवाची शब्दों और वाक्योंका प्रयोग होने लगा, जिसके कारण 'मरना बुझना, फूटना और जलाना' शब्दोंके बदले 'वैकुण्ठवास, (दीया) बढ़ाना, (चूड़ी) मौलना और (आग) जगाना' शब्दोंका प्रयोग होने लगा। इसी मानसिक प्रेरणाके कारण ही जब किसीको किसीसे काम निकालना होता है तब वह अत्यन्त कृपण, मूर्ख और कुटिल व्यक्तिको भी चाटुकारीके साथ 'दानवीर, विद्वान् और लोकोपकारी' आदि उपाधियोंसे अलंकृत कर डालता है। मनोविनोदके लिये किसीको मूर्ख बनाते समय उसे साक्षात् 'वृहस्पति' बना देना तो साधारण-सी बात है। कभी-कभी भयके कारण अपनी जीविका छीननेवालेको भी लोग 'अन्नदाता' और 'माई-बाप' कह डालते हैं। वास्तवमें भाषाका अधिक सम्बन्ध मनुष्यके मनसे ही है और अधिकांश शब्दोंके अर्थोंमें परिवर्तन इसी मनोवैज्ञानिक आधारपर हुए हैं।

अर्थके परिवर्तनका सम्बन्ध मनुष्यके हृदयसे भी है। माता अपने काने पुत्रको भी सुन्दर समझती और उसे 'सुगना' (शुक), 'आँखोंका तारा' आदि नामोंसे सम्बोधित करती है। मारवाड़में बच्चोंको हार्दिक प्रेमके कारण ही 'राँडका' या 'राँडकी' कह देते हैं। विवाहके समयकी गालियोंमें हृदय ही अधिक महत्त्वपूर्ण होता है जो उस गालीके अर्थमें परिवर्तन करके उसे 'सोहाली' बना देता है। अतः, अर्थके परिवर्तनमें हृदय भी महत्त्वपूर्ण प्रेरक कारण होता है।

केवल मन और हृदयसे ही नहीं, कभी-कभी मनुष्य अपनी बुद्धिके योगसे भी एक शब्दको अनेक अर्थोंमें या किसी विशेष अर्थमें चला देता है या शब्द-शक्तिके योगसे अर्थमें चमत्कार उत्पन्न कर देता है या किसी अप्रिय शब्दके बदले उस अर्थमें कोई नया शब्द चला देता है, जैसे गाँधीजीने अस्पृश्य जातियोंके लिये 'हरिजन' शब्द चला दिया। शब्दोंके अर्थोंमें इस प्रकारका परिवर्तन करनेका अधिक कार्य साहित्यकारोंने किया।

सामाजिक कारण

अर्थोंमें परिवर्तनके कुछ सामाजिक कारण भी होते हैं। जिन शब्दोंको समाजने ग्राम्य या व्रीडा-जनक मान लिया है उसके बदले समाज-द्वारा शिष्ट शब्दों और वाक्योंका प्रयोग चला दिया जाता है। इसी कारण पुरुष या स्त्रीकी जननेन्द्रियोंके लिये लौकिक देशी शब्दोंका प्रयोग न करके उनके बदले संस्कृतके शब्दोंका प्रयोग किया जाता है। इसी सामाजिक कारणसे 'आम' के संस्कृत पर्याय 'चूत' और 'पैर' के पर्याय 'पाद' शब्दका प्रयोग हिन्दी साहित्यमें नहीं हुआ। कभी-कभी कोई समाज किसी विशेष शब्दको सामाजिक शीलका अंग बनाकर अनेक अर्थोंमें व्यवहृत करने लगता है, जैसे मेवाड़में किसी बातको स्वीकारने, मानने, समर्थन करने अथवा हामी-भरनेके लिए 'हुकुम' शब्दका प्रयोग होता है, और रीवाँमें सब बातोंमें 'जी मरजी'का। बहुतसे ग्राम्य शब्द सामाजिक शीलके कारण ही प्रयोगमें नहीं आते, जैसे 'अबे, कट्टो, भकोसना, हुरपेटना' आदि।

कभी-कभी समाजका कोई विशेष वर्ग कोई कूट अर्थ निकालनेके लिये शब्दोंमें नया अर्थ भर देते हैं जैसे—पण्डों, दलालों और व्यापारियोंको भाषाके शब्द।

इस प्रकार अर्थ-परिवर्तनके तीन मुख्य आधार हुए—व्यक्ति, साहित्यकार और समाज।

परिवर्तनके रूप

§ २३६. अर्थ परिवर्तनके अनेक रूप होते हैं।

ऊपर अर्थ-परिवर्तनके जो कारण-तत्त्व बताए गए हैं उनके द्वारा जो अर्थ-परिवर्तन किया जाता है उसका परीक्षण करनेसे ज्ञात होता है कि उनमें होनेवाले परिवर्तनोंके कुछ निश्चित रूप या प्रकार हैं जिनमेंसे कुछ नीचे दिए जाते हैं—

१. एक शब्दका अनेक अर्थोंमें प्रयोग : प्राय: कवियों, साहित्यकारों और भाषण-शास्त्रियोंने एक ही शब्दको अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त किया है। यह कार्य शब्दमें नई शक्ति भरकर किया जाता है जिससे एक ही शब्द अनेक क्रियाओं या शब्दोंके साथ मिलकर नये-नये अर्थोंकी उद्‌भावना करता है, जैसे 'कान ऐंठना, कान उठाकर सुनना, कान कतरना, कान करना, कानका कच्चा होना, कानका परदा फटना, कान खड़े करना, कान खाना, कान गरम करना, कान दबाना, कान न हिलना, कान पकड़ना, कानपर जूँ न रेंगना, कानपर हाथ धरना, कान-पूँछ फटकारना, कान फड़फड़ाना, कान फूँकना, कान भरना, कानमें डालना, कानमें तेल डाल बैठना, कान रखना, कान लगाना, कानसे निकल जाना और कानाफूसी करना' में एक 'कान' शब्दको ही अनेक क्रियाओंके साथ जोड़कर न जाने कितने अर्थोंमें उसका प्रयोग कर लिया गया है।

२. आरोप : कभी-कभी यह भी होता है कि एक शब्द जब किसी एक अर्थके लिये काममें आने लगता है तब उस अर्थमें काम आनेवाली दूसरी वस्तुके लिये भी वही शब्द प्रयुक्त होने लगता है जैसे—'पर्ण' शब्दका अर्थ था 'पत्ता'। पत्तेपर लिखा भी जाता था इसलिये लिखे हुए या लिखनेके काममें आनेवाले काग़ज़को भी 'पन्ना' कहने लगे। 'अक्षवाटका' अर्थ था वह स्थान जहाँ 'जुआ' खेलनेके लिये लोग जुटते थे। किन्तु जहाँ भी लोग जुटने लगे उसे ही लोग 'अखाड़ा' कहने लगे। 'अटा' या 'अड्डा' शब्द ऊँचे स्थानके लिये काम आता था। आगे चलकर पक्षियोंके बैठनेके लिये जो बाँस टाँगा जाने लगा या छतरी बाँधी जाने लगी उसे भी 'अड्डा' कहने लगे। अब तो मोटरों, ताँगों और जुआड़ियोंके भी अड्डे बन गए और 'अड्डा'का अर्थ हो गया 'वह स्थान जहाँ बहुतसे लोग जुटते हों'। इस प्रकारके अर्थ लक्षणासे प्रसिद्ध होते हैं।

३. पर-भाषा-शब्द-ग्रहण : कभी-कभी किसी दूसरी भाषासे कोई शब्द लेकर उनके अपने अर्थ बदल दिए जाते हैं—जैसे गुजरातीमें 'घडियाल' शब्द का प्रयोग 'घड़ीके' लिये होने लगा। हिन्दीमें भी अँगरेजीसे बहुत शब्द ले लिए गए हैं जिन्हें कभी-कभी विचित्र-विचित्र अर्थोंमें प्रयुक्त किया जाता है जैसे—'कंडम, सिगल डाउन होना'।

४. शब्द-विकिरण : जब एक भाषा-भाषी लोग तितिर-बितर हो जाते हैं तो उनकी भाषाके एक साथ चलनेवाले शब्दोंके बदले उनमेंका एक ही शब्द

अलग अर्थ देने लगता है जैसे—संस्कृतके 'गृह-वाटिका' शब्दमेंसे 'गृह' निकल गया और बँगलामें 'बाड़ी' (वाटिका) का अर्थ ही 'घर' बन गया।

५. वातावरण-परिवर्त्तन : कभी-कभी अपने देश, समाज या रहन-सहन, रीति-नीति या परिस्थिति बदलनेसे भी शब्दके अर्थ बदल जाते हैं जैसे—इँगलिस्तानके लोग 'मिठाई' को 'डेस्सर्ट' कहते हैं और अमरीकावाले 'फल'को। यह भौगोलिक वातावरण बदलनेसे हुआ। 'ठाकुर' शब्द मंदिरमें 'भगवानकी मूर्ति'के लिये, क्षत्रियोंमें 'क्षत्रिय'के लिये और नाइयोंमें 'नाई' के लिये चलने लगा। यह क्षेत्र बदलनेके कारण हुआ। ऐसे ही 'वर' शब्द 'दूल्हे' के लिये ही बँध गया केवल प्रचलनसे।

६. पूर्व-संज्ञा-ग्रहण : जब नई-नई वस्तुएँ बनती और आविष्कृत होती हैं, तब उनका नाम रखनेके लिये शब्द न गढ़कर पहलेसे चले आते हुए किसी शब्दको ही अपना लिया जाता है जैसे—'सिल्क'का अर्थ है 'रेशम,' इसलिये उससे बननेवाले दुपट्टेको भी लोग 'सिल्क' कहने लगे।

७. शिष्टाचार-भाषा : कभी-कभी स्वागत-सत्कारके लिये भी बहुतसे शब्द एक विशिष्ट अर्थमें चल पड़ते हैं जैसे—'दौलतख़ाना, ग़रीबख़ाना।' (आपका दौलतख़ाना कहाँ है। मेरा गरीबख़ाना काशीमें है।) उदयपुरमें सब प्रकारके विनयपूर्ण शिष्टाचारमें 'हुकुम' शब्दका ही प्रयोग होता है। इस प्रकारके आदरके लिये लोग अपने इष्टदेवसे सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुओंके साथ भी अपने इष्टदेवका नाम लगा कर उसका पवित्र नाम रख देते हैं, जैसे—रामानुज सम्प्रदायवाले 'नमक' को 'रामरस' कहते हैं और दक्षिणके वैष्णव लोग 'पानी'को 'तीर्थम्'।

८. अमंगल्य-परिहार : गंदी, बुरी, भयानक, आतंकपूर्ण तथा अमंगलमय बातको लोग दूसरे प्रकार घुमाकर कहते हैं, जैसे—अस्वस्थके लिये कहते हैं—'उनके दुश्मनोंकी तबीअत नासाज़ है।' इसी आधारपर 'फूल तोड़ने'को 'फूल उतारना,' 'दिया बुझाने'को 'दिया बढ़ाना,' 'दूकान या किवाड़ बन्द करने'को 'दूकान बढ़ाना' और 'किवाड़ देना' तथा 'होली जलाने'को 'होली मँगलाना' कहते हैं क्योंकि लोग कोई अमंगल, डरावनी या बुरी बात कहना नहीं चाहते। इसी प्रकार शौच जानेके लिये 'टट्टी जाना, निपट आना, डोलडाल, नम्बर दो, पाकिस्तान, इँगलैंड' आदि कहते हैं। जब किसीको कोई साँप काट लेता है तो कहते हैं 'कीड़ेने सूँघ लिया' या 'जानवरने

पकड़ लिया।' कभी-कभी लोग अपने बड़ों या प्यारोंका नाम नहीं लेते, जैसे—'पति, गुरु, स्त्री और पुत्रका नाम'। इसी प्रकार छोटा काम करनेवाले 'चमार'को आदरार्थ 'रैदास' और किसी 'दोषी' या 'अंगहीन'को, जैसे—अंधेको, 'सूरदास' कहते हैं।

९. समास : कई शब्दोंवाले लम्बे शब्दके बदले प्रायः उसीका संक्षिप्त आंशिक शब्द काममें लाया जाता है, जैसे—'बाइसिकिल'के लिये 'साइकिल', 'सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल' के लिये 'हिन्दू स्कूल', 'मोटरकार' के लिये 'कार' आदि।

१०. समानता : समान व्यवहारके अर्थकी व्याप्ति देखकर भी एक शब्द अनेक अर्थोंमें चला दिया जाता है जैसे—'मास्टर' शब्दका अर्थ है 'स्वामी', इसलिये बम्बईमें सब विभागोंके सब कार्यकर्त्ताओं और अधिकारियोंको मास्तर (मास्टर) कहने लगे, यहाँतक कि ट्रामका टिकटवाला, रेलका टिकट बाबू सब 'मास्तर' बन गए।

११. भ्रान्ति : कभी-कभी लोग भूलसे या जान-बूझकर भी कोई शब्द किसी दूसरे अर्थमें चला देते हैं जैसे–गुजरातीमें 'जरूरत'के लिये 'जरूर' शब्द। लेखक-गण अर्थमें चमत्कार लानेके लिये लक्षणा और व्यञ्जनाके प्रयोगसे तो किसी विशेष अर्थमें कोई नया शब्द चला ही देते हैं पर यह कार्य कभी-कभी भूलसे भी हो जाता है, जैसे—हिन्दीमें लोगोंने 'आश्रय' (सहारा) के अर्थमें 'प्रश्रय' शब्द चला दिया जिसका वास्तवमें अर्थ है 'प्यार या आदर', विकास (खिलना या धीरे-धीरे बढ़ना) के लिये 'विकाश' शब्द चला दिया जिसका अर्थ है 'विशेष चमक'।

१२. अज्ञान : कभी-कभी लोगोंके अज्ञानसे कई पर्याय शब्द एक साथ एक ही अर्थमें चला दिए जाते हैं, जैसे--'हिमाचल पर्वत', 'जगन्नाथपुरी नगरी' या 'दरअसलमें'। इनमें 'अचल' शब्द 'पर्वत' का, 'पुरी' शब्द 'नगरी' का और 'में' विभक्ति-बोधक 'दर' पर्याय विद्यमान ही थे।

१३. सह-प्रयोग : कभी-कभी एक ही शब्दके दो पर्याय एक साथ चलते हैं, जैसे—'काम-काज, ब्याह-शादी'। कुछ लोगोंने भ्रमवश 'स्तन' और 'थन', 'गर्भिणी' और 'गाभिन'को भी इसीके अन्तर्गत भेदीकरण (लौ ऑफ़ डिफ़रेन्सिएशन) के उदाहरणके रूपमें मान लिया है किन्तु वह अशुद्ध है।

१४. अविवेक : कभी लोग किसी अशुद्ध शब्दको शुद्ध समझकर उसका प्रयोग कर बैठते हैं, जैसे—'मैं द्वितीय श्रेणीके 'डिपार्टमेन्ट'में लखनऊ गया

था।' यहाँ 'कम्पार्टमेन्ट'के बदले 'डिपार्टमेन्ट' का प्रयोग किया गया है। इसे 'मैलाप्रौपिज्म' कहते हैं। ऐसे ही लोग 'मेरा अपमान किया'के बदले 'मेरा अभिमान किया' कहते हैं।

१५. अनादरार्थ : किसी राष्ट्र, जाति या धर्ममें आस्था न होने तथा उनका अनादर करनेकी वृत्तिसे भी अर्थ बदल जाता है, जैसे—आर्यसमाजी लोग 'पोप' शब्द का प्रयोग 'पाखंडी'के लिये काममें लाने लगे, 'बौद्ध' शब्द 'बुद्धू' बन गया और जैनियोंके आदरके शब्द 'नग्न और लुञ्चित' भी 'नंगे-लुच्चे' बनकर बुरे अर्थमें आ गए। आजकल भी भी लोग ऊबकर किसी बुरे कामके लिये कहते हैं कि 'कांग्रेसी काम हो रहा है।'

१६. व्याप्ति : कभी-कभी कोई एक ही शब्द बहुत अर्थोंमें चल निकलता है, जैसे—बम्बईमें 'खलास' शब्द 'मरने, कटने, सड़ने, जलने, चुकने, मिटने, हटने, गिरने, टूटने, फूटने' सबके लिये आता है।

१७. विशिष्टार्थ : कभी-कभी कोई विशिष्ट व्यक्ति किसी एक शब्दको किसी विशेष अर्थमें चला देता है, जैसे गाँधीजीने 'हरिजन' शब्द अछूतोंके लिये चला दिया। (इस प्रयोगसे अर्थका उत्कर्ष हुआ या अपकर्ष यह बताना भाषा-विज्ञानवालोंके लिये भी टेढ़ी खीर है।)

१८. बलारोप : कभी-कभी किसी शब्दके एक अंशपर दिया जानेवाला ध्वनि-बल दूसरे अंशपर लगा दिया जाता है (शिफ़्ट ऑफ़ एम्फेसिस) जिससे अर्थमें हेरफेर हो जाता है, जैसे—'गवेषणा'का अर्थ था 'गौको खोजना' किन्तु 'गौ' अंशपरसे बल हटाकर 'एषणा'पर लगाकर उसका अर्थ हो गया 'खोज करना'।

१९. धात्वारोप : कभी किसी एक धातुके एक शब्दका मूल अर्थ उस शब्दमें बदल जाता है फिर भी आगे चलकर उससे बननेवाले शब्द वैसे ही बन चलन [illegible] जैसे—'दुहिता'का अर्थ है 'दुहनेवाली' किन्तु 'दौहित्र' शब्द 'दुहिता'से बना तो लिया किन्तु 'दूध दूहने से' उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

२०. स्वतःसंभूत : कभी-कभी अनजाने नया अर्थ निकल आता है, जैसे 'सिन्धु'से 'हिन्दू जाति' और 'हिन्द देश' दोनों अर्थ निकल आए।

२१. लक्षण-व्याप्ति : किसी शब्द, वर्ग या वस्तुके किसी विशेष लक्षणके आधारपर पूरी वस्तुका अर्थ व्याप्त हो जाता है, जैसे—'लाल पगड़ी दिखाई दे रही था।' वाक्यमें लक्षणा-व्यापारसे 'लाल पगड़ी' का अर्थ 'लाल पगड़ीवाले सिपाही' हो गया।

२२. विपरीत लक्षणा : कभी-कभी लोग आपसमें एक दूसरेपर छींटे कसते हुए, किसी असत्यवादीको संबोधित करके कह बैठते हैं—'वाह रे हरिश्चन्द्र !' यहाँ विपरीत लक्षणासे 'हरिश्चन्द्र'का अर्थ है 'झूठा'।

२३. आवेगार्थ : कभी-कभी लोग स्नेह, क्रोध आदिके आवेगमें कुछ ऐसे शब्द कह बैठते हैं जिनका अर्थ दुलार भी हो जाता है और खीझ भी, जैसे—'आना बच्चू ! वाह बेटा ! मोर सुगना' आदि।

२४. भावग्रहण-सामर्थ्य : सुननेवालेको अपनी बुद्धि, मन, अवसर या योग्यताके अनुसार भी नवीन, विचित्र या विपरीत अर्थकी प्रतीति होती है, जैसे—'लाओ' कहनेपर एक राजाके पाँच नौकर अलग-अलग वस्तुएँ ले आए। राधेश्यामके उपासक-गण शुककी बोलीको 'राधेश्याम' और रामके उपासक 'राम-राम' समझते हैं।

२५. अनिश्चय : कभी-कभी किसी शब्दका ठीक अर्थ निश्चय न होनेपर भी उसके अर्थ बदल जाते हैं, जैसे—'धर्म'।

२६. व्यक्ति : एक प्रकारकी एक वस्तुका नाम उस प्रकारसे संबद्ध अन्य वस्तुओंको भी दे दिया जाता है, जैसे—'शाक' तो हरे पत्तोंको कहते हैं किन्तु अब तो 'आलू, टमाटर' भी 'शाक' ही कहलाने लगे।

२७. संक्षेपण : कभी-कभी लोग अपने भाव स्पष्ट करनेके लिये कमसे कम शब्दोंमें अधिकसे अधिक बात कहना चाहते हैं। ऐसा करनेके लिये वे अलंकारोंसे काम लेते हैं। इसका विवरण पीछे (§ २२८, २२९, २३०) शब्द-शक्तिके प्रसंगमें दिया जा चुका है कि लक्षणा और व्यञ्जनाके द्वारा अर्थ बदलनेमें कुछ देर नहीं लगती। अन्य सब प्रकारके अर्थ-परिवर्त्तन तो देरसे होते हैं पर ये अर्थ-परिवर्त्तन तत्काल हो जाते हैं।

§ २३७. अर्थमें परिवर्त्तनके असंख्य प्रकार हैं।

यह नहीं समझना चाहिए कि अर्थ-परिवर्त्तनके उपर्यङ्कित कुल २७ ही प्रकार हैं। समयानुसार ऐसे परिवर्त्तन और भी बहुत प्रकारसे हो सकते हैं—

१. कभी-कभी कोई शब्द नया अर्थ धारण करके भी पुरानेको नहीं छोड़ता और वह नये-नये अर्थ बदलता रहता है, जैसे—ऊपर (§ २३६) 'कान'का उदाहरण दिया गया है।

२. कभी-कभी एक स्रोतसे निकले हुए या एक ही शब्दके दो अलग-अलग रूपोंके अर्थ अलग-अलग हो जाते हैं, जैसे—'स्तन' और 'थन'।

३. कभी-कभी कुछ ऐसे भी शब्द होते हैं जो सुननेमें तो एकसे प्रतीत होते हैं किन्तु वे अलग-अलग स्रोतोंसे आते हैं और उनके अर्थ भी अलग होते हैं, जैसे—हिन्दीमें 'आम' एक फलको कहते हैं और अरबीमें 'साधारण' को, हिन्दीमें 'जाड़ा' का अर्थ 'ठंढक' या 'शीत ऋतु' है किन्तु गुजरातीमें इसका अर्थ है 'मोटा', हिन्दीमें 'कल्याण' का अर्थ है 'लोकहित' किन्तु दक्षिणमें 'कल्याण' का अर्थ है 'विवाह'। इसे 'होमोनीम' या 'होमोफ़ोन' कहते हैं।

§ २३८. अर्थमें परिवर्त्तन कुछ निश्चित प्रकारसे होता है।

कुछ योरोपीय विद्वानोंका मत है कि अर्थमें निम्नांकित निश्चित प्रकारोंसे परिवर्त्तन होता है—

(क) किसी शब्दके चाहे जितने अपने अलग-अलग अर्थ हों पर अक्षरोंका वही मेल कभी-कभी ऐसे विचित्र अर्थ देने लगता है कि उनपर अचानक हमारा ध्यान नहीं जाता या कम ध्यान जाता है। इस प्रकारके परिवर्त्तन प्राय: दो प्रकारके होते हैं—

१. पूर्ण-खंड-परिवर्त्तन (पार्ट-होल शिफ़्ट) जो अपना व्यापक अर्थ छोड़कर किसी एक संकुचित अर्थमें प्रयुक्त होने लगते हैं, जैसे—निम्नांकित वाक्योंमें 'तर्क' शब्द—

तर्क प्राय: निष्फल होता है। (व्यापक अर्थ)

तुम्हारा तर्क निरर्थक है। संकुचित अर्थ)

२. पूर्ण परिवर्त्तन (कन्टेन्ट चेंज) जैसे—

यह (लेनदेनकी बात) अत्यन्त सबल तर्क है।

इन दो बातोंके साथ-साथ यह भी समझ लेना चाहिए कि शब्दका अर्थ प्रसंगसे जाना जाता है, जैसे--अँगरेज़ीमें 'शुक्रवार'के पीछे और 'कुर्सी' के पहले '१३ वाँ' शब्द आ जाय तो उसका बड़ा भद्दा अर्थ हो जाता है।

यह बताया जा चुका है (§ २०१) कि सभी संकेत (चिह्न) किसी न किसी अर्थ या भावके प्रतीक या सूचक होते हैं; किन्तु तभी होते हैं जब उनसे किसीको किसी भावका संकेत या अर्थ मिले। यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि वह शब्द या चिह्न (प्रतीक) स्वयं वह वस्तु नहीं होता जो वह बताना चाहता है, जैसे लिखा हुआ 'घोड़ा शब्द' या 'घोड़ेका चित्र' सचमुच घोड़ा नहीं होता।

कुछ ऐसे अनेक स्थानीय शब्द होते हैं जो विभिन्न स्थानोंपर विभिन्न अर्थ देते हैं, जैसे—'कल्याण' शब्द।

कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं जो किसी विशेष प्रसंग या शास्त्रमें तो सार्थक होते हैं किन्तु दूसरे प्रसंग या शास्त्रमें उनका कोई अर्थ नहीं होता। 'किन्नर' शब्दका अर्थ कथा-काव्य आदिमें सार्थक हो सकता है पर 'प्राणिशास्त्र'में वह निरर्थक है।

(ख) भाषाके इतिहासमें शब्दोंमें परिवर्त्तन इतने प्रकारोंसे होता है—

१. 'स्थानापत्ति' (सब्स्टीट्यूशन) : जैसे-जैसे रहन-सहन, रीति-नीति बदलती जाय वैसे-वैसे अर्थ-भाव भी बदलते जायँ, जैसे--जहाजोंकी बनावट बदल जानेपर भी 'जहाज' शब्द सत्रहवीं सदीके जहाजोंके लिये भी प्रयुक्त होता था और आजकलके जहाजोंके लिये भी काममें आता है।

२. समानता (एनेलौजी) : जैसे 'क्विक' शब्द फुर्तीके लिये काममें आता है पर 'क्विक ऐन्ड दी डेड' में उसका अर्थ हो जाता है 'ठंढा'।

३. समास (शौर्टनिंग) : जैसे--'प्रिंसिपल टीचर' का हो गया 'प्रिंसिपल' 'मोटर कार'का हो गया 'कार', 'रामचरितमानस'का हो गया 'मानस'।

४. नामकरण (नौमिनेशन) : जैसे—अँगरेज़ीके 'काउज़लिप' का 'काउस्लिप' हो गया।

५. अन्तरण (ट्रान्स्फ़र) : जैसे—'पेड़'का 'पर्ण' (पत्ता) दूसरे स्थानपर पहुँचकर 'पुस्तकका पन्ना' हो गया।

६. परार्थ-ग्रहण (परम्यूटेशन) : जैसे--अँगरेज़ीमें 'बीड्स' का अर्थ तो है 'प्रार्थना' पर आगे चलकर प्रार्थना करनेकी मालाके दानेको ही 'बीड्स' कहने लगे।

७. समरूपण (एडोकेशन) : जैसे—सींगसे बनाए जानेवाला बाजा भी आगे चलकर 'सिंगा' बाजा ही कहा जाने लगा।

आचार्य चतुर्वेदीका मत है कि अर्थ दो कारणों से ही बदलता है--एक तो किसीसे जान, अनजान या भूलसे चलाए जानेपर और दूसरा समाज (जिनमें साहित्यकार भी सम्मिलित है) की प्रेरणासे। ऊपर अर्थमें परिवर्त्तनका जितना विवरण दिया गया है उससे स्पष्ट है कि किसी शब्दका कोई अर्थ चाहे पहलेसे मान्य चला आया हो या नया जोड़ा गया हो, सबमें यही तत्त्व व्याप्त है कि या तो प्रमाद और अज्ञानसे किसी शब्दका नया अर्थ निकाल लिया गया है या कवियोंने जानबूझकर अर्थमें चमत्कार लानेके लिये परिवर्त्तन किया है या समाजने ही नये अर्थको व्यापक रूपसे ग्रहण कर लिया।

भाषाओंका रूपात्मक वर्गीकरण

§ २३९. रूपकी दृष्टिसे संसार-भरकी भाषाओंके दो भेद हैं—विकीर्ण और संयुक्त।

पीछे (§ १४६) वाक्योंके रूपोंका और वाक्योंमें परिवर्तन होनेके प्रकारोंका विवेचन करते हुए बताया जा चुका है कि भाषाओंमें विभिन्न प्रकारके शब्दोंसे बने हुए वाक्योंकी दृष्टिसे विचार करनेपर-संसार भरकी भाषाओंको दो मुख्य भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—विकीर्ण या अलगन्त (अयोगात्मक) और संयुक्त (योगात्मक)। संयुक्त भाषाओंमें भी कुछ सप्रत्ययोपसर्ग या जुटन्त (ऐग्ल्यूटिनेटिव) होती हैं, जिनके शब्दोंमें उनके पहले, अन्तमें या बीचमें उपसर्ग, प्रत्यय या मध्यग जुटे रहते हैं। इसका दूसरा रूप धातुरूपात्मक या मिलन्त होता है जिनके शब्दोंमें तद्धित या कृदन्त प्रत्यय लगे रहते हैं और जो धातुरूपात्मक (इन्फ़्लेक्शनल) कहलाती हैं। तीसरे प्रकारकी भाषाएँ ऐसी सम्पृक्त या घुलन्त (इनकौर्पोरेटिंग) होती हैं जिनके वाक्योंके सब शब्द परस्पर घुलकर एक हो जाते हैं।

विकीर्ण या अयोगात्मक भाषाएँ

§ २४०. विकीर्ण भाषाओंके वाक्योंमें आए हुए शब्द अलग-अलग रहते हैं और उनमें कोई विकार नहीं होता है।

विकीर्ण भाषाओंके वाक्योंमें आनेवाले पदोंमें किसी प्रकारके उपसर्ग या प्रत्यय नहीं लगाए जाते। नीचे दिए हुए वाक्यमें 'कृपा' से 'कृपया',

'वे'से 'उन्हें', 'समझना'से 'समझाइए' शब्द विकृत बनाकर प्रयुक्त किए गए हैं—

'कृपया उन्हें समझाइए।'

किन्तु विकीर्ण भाषाओंके पदों (वाक्यके शब्दों) में इस प्रकारका कोई परिवर्तन नहीं होता। यद्यपि बहुत-सी संयुक्त भाषाओंमें भी कुछ ऐसे वाक्य मिल जाते हैं जहाँ इस प्रकारका वाक्य-विन्यास प्राप्त हो जाता है तथापि मूलतः संयुक्त भाषाओंके शब्दोंमें प्रत्यय, विभक्ति आदिका मेल होता ही है। नीचे दिए हुए वाक्यमें सब शब्द अपने प्रातिपदिक रूपमें आए हैं।

'आज सुन्दर शुभ घड़ी है।'

किन्तु संयुक्त भाषाओंमें ऐसे उदाहरण गिने-चुने ही प्राप्त होते हैं।

विकीर्ण भाषाओंमें विशेषतः चीनी भाषाकी गणना की जाती है। चीनी भाषाके वाक्योंमें जिन शब्दोंका प्रयोग होता है उनमें कभी किसी प्रकारका कोई विकार नहीं आता, केवल शब्दोंके स्थानान्तरण मात्रसे उनके संबंधार्थोंमें परिवर्तन हो जाता है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

वो काङ् नी—मैं तुम्हें देखता हूँ।

नी काङ् वो—तुम मुझे देखते हो।

वो कङ् ज्याङ् ता—मैं उसे देखता हूँ।

ता काङ् ज्याङ् वो—वह मुझे देखता है।

उपर्यङ्कित वाक्योंमें किसी भी शब्दके मूल रूपमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ, किन्तु वाक्यमें उन शब्दोंका स्थानान्तरण करनेसे वाक्यके अर्थमें अवश्य परिवर्तन हो गया। इसीलिये इस प्रकारकी भाषाके लिये व्याकरण-शास्त्रकी कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती क्योंकि एक ही शब्द वाक्यके शब्दोंके क्रममें आकर अपना स्वरूप निश्चित कर लेता है और यथावसर संज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि बन जाता है। इन भाषाओंमें इसीलिये संबंधक योगका प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु दो महत्त्वपूर्ण तत्त्व इस प्रकारकी भाषाओंमें सदा विद्यमान रहते हैं—

१. वाक्यमें शब्दका क्रम, और २. शब्दोच्चारणमें स्वरारोहावरोहता। इन भाषाओंके कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो केवल स्वरके आरोहसे अवरोह या अवरोहसे आरोहके अनुसार उच्चरित होनेपर अर्थ बदल देते हैं।

अफ्रीकाकी सूदानी, मलयेशियाकी मलायी भाषा, अनामकी अनामी, ब्रह्मदेशकी ब्रह्मी, थाइलैण्डकी स्यामी और तिब्बतकी तिब्बती भाषा भी प्रायः इसी श्रेणीकी हैं।

संयुक्त (योगात्मक) भाषाएँ

§ २४१. संयुक्त भाषाओंके वाक्योंमें आए हुए पदोंमें संबंधक योग लगनेपर ही वाक्यका अर्थ स्पष्ट होता है।

संयुक्त भाषाओंकी यह विशेषता होती है कि उनके वाक्योंमें आए हुए पदोंमें ऐसे सम्बन्धक योग लगे रहते हैं जिनके कारण वाक्यमें आए हुए शब्दोंका पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट होनेसे ही वाक्यका अर्थ जाना जाता है। यह संयोग अर्थात् शब्दके साथ उपसर्ग, प्रत्यय और मध्यगका योग इस प्रकार होता है कि कभी तो सम्बन्धक योग स्पष्ट अलग प्रतीत होते हैं, कभी विभक्तियोंके रूपमें शब्दोंमें मिल जाते हैं और कभी वाक्यके सब शब्दोंके साथ पूर्णतः घुलकर समस्त पदके रूपमें ढल जाते हैं। इस दृष्टिसे संयुक्त भाषाओंके तीन रूप प्राप्त होते हैं—

१. सप्रत्ययोपसर्ग या जुटन्त (ऐग्ल्यूटिनेटिव)

२. धातुरूपात्मक या मिलन्त (इन्फ़्लेक्शनल)

३. सम्पृक्त या घुलन्त (इन्कौर्पोरेटिंग)

सप्रत्ययोपसर्ग भाषाएँ

§ २४२. सप्रत्ययोपसर्ग भाषाओंमें उपसर्ग और प्रत्यय आदि सम्बन्धक योग इस प्रकार जुटे होते हैं कि मिल जानेपर भी अलग-अलग दिखाई देते हैं।

ऐस्पेरेन्टो-भाषा इसी प्रकार की है। यदि इस भाषाके एक वाक्यका उदाहरण दिया जाय तो उसका रूप स्पष्ट हो सकता है, जैसे—

ला इन्तेलीजेन्ता स्तूदेन्तो लेगास बोनाटन लीब्रोटन।

[मेधावी छात्र पढ़ता है अच्छी पुस्तकें।] इस वाक्यमें 'ला' तो अँगरेजीके 'दि' का पर्याय है। प्रत्येक विशेषणके अन्तमें 'आ' प्रत्यय लगता है इसलिये 'इन्तेलीजेन्त' का 'इन्तेलीजेन्ता' बन गया, संज्ञाके अन्तमें 'ओ' प्रत्यय लगता है इसलिये 'स्तूदेन्त' का स्तूदेन्तो' बना। 'लेग' क्रियामें वर्त्तमान-काल-बोधक प्रत्यय 'आस' लग गया, 'बोना' (अच्छा) और लिब्रो (पुस्तक) में बहुवचन-सूचक 'टन' लग गया।

इस प्रकारकी सप्रत्ययोपसर्ग भाषाओंके भी अनेक रूप मिलते हैं—

(क) उपसर्ग-प्रधान : वे भाषाएँ, जिनमें केवल वाक्योंमें आए हुए शब्दोंके पूर्व उपसर्गका प्रयोग होता है और उन उपसर्गोंसे ही वाक्यके विभिन्न शब्दोंका स्वरूप स्पष्ट होता है जैसे—अफ्रीकाकी बन्तू भाषा और उसकी उपभाषाएँ (ज़ुलू; काफ़िर आदि)।

(ख) मध्यग-प्रधान : इस प्रकारकी भाषामें प्रत्यय या सम्बन्धक योग वाक्योंमें आए हुए शब्दोंके बीचमें लगकर वाक्यके शब्दोंका सम्बन्ध स्पष्ट करते हैं। काशिका (बनारसी) भाषामें भी कभी-कभी इस प्रकारके प्रयोग दिखाई पड़ जाते हैं जैसे—

रामौनगरकऽ लोग उहाँ आयल रहलन्। (रामनगरके लोग भी वहाँ आए थे।)

उपर्यङ्कित वाक्यमें 'राम' और 'नगर'के बीचमें 'भी' सम्बन्धक योगका प्रतोक 'औ' लग गया है। किन्तु वास्तवमें मध्यग-प्रधानता हिन्द-महासागर और अफ्रीकी द्वीपोंकी भाषाओंमें तथा भारतकी मुण्डा परिवारकी भाषाओंमें अधिक मिलती है जिनमें अधिकांश शब्द दो ही वर्णोंके होते हैं और ये मध्यग सम्बन्धक-योग उन दोनों वर्णोंके बीचमें जोड़ दिए जाते हैं। यद्यपि बन्तू और तुर्की भाषाओंमें भी इस प्रकारके मध्यग सम्बन्धक योग प्राप्त होते हैं किन्तु वे वैसे ही हैं जैसे ऊपर काशिकाके उदाहरणमें दिए गए हैं। वे वास्तवमें मध्यग भाषाके उदाहरण नहीं हैं।

(ग) उभय-प्रधान भाषाएँ : कुछ भाषाएँ ऐसी हैं जिनमें सम्बन्धक योग वाक्यके शब्दोंके आगे और पीछे अर्थात् उपसर्ग और प्रत्ययके रूपमें दोनों साथ लगते हैं, जैसे—न्यूगिनीकी 'मकोर' भाषामें।

(घ) प्रत्यय-प्रधान : प्रत्यय-प्रधान भाषाओंमें सम्बन्धक योग या प्रत्यय, शब्दके अन्तमें जोड़ा जाता है। ऊराल-अल्ताई तथा दक्षिण भारतकी तमिळ, तेलुगु, कन्नड़ और मलयाळम्‌की प्रकृति इसी प्रकारकी है।

(ङ) अल्प-संयुक्त भाषाएँ : कुछ भाषाएँ ऐसी भी हैं जिनके वाक्योंके कुछ शब्दोंमें सम्बन्धक योग लगता है और कुछमें नहीं लगता। इसीलिये इन्हें अल्प संयुक्तात्मक कहा गया है। न्यूजीलैण्ड तथा हवाई द्वीपकी भाषाएँ, जापानी तथा 'बास्क' भाषा इसी प्रकारकी हैं।

(च) कुछ भाषाएँ सर्वाङ्ग-संयुक्त होती हैं जिनके वाक्योंके शब्दोंके आदि, मध्य और अन्त सर्वत्र सम्बन्धक योग (उपसर्ग, मध्यग और प्रत्यय) लगाए जाते हैं। मलयेशियाकी 'मलायी' भाषा इसी प्रकारकी है।

२. धातुरूपात्मक भाषाएँ

§ २४३. धातुरूपात्मक भाषाओंके सम्बन्धक स्पष्ट अलग प्रतीत होते हैं।

धातुरूपात्मक भाषाओंको श्लिष्ट-योगात्मक, विभक्ति-प्रधान और विकारी भी कहते हैं। इन भाषाओंकी यह विशेषता होती है कि सम्बन्धक योग

अर्थात् विभक्ति या प्रत्यय जोड़ देनेपर वाक्यमें आए हुए शब्दका रूप बदल जाता है और वह 'पद' कहलाने लगता है (§ १३१)। यह रूप-परिवर्तन होनेपर भी शब्दमें जुटे हुए सम्बन्धक योगकी प्रतीति स्पष्टतः अलग होती है। सामी (सेमिटिक), हामी (हैमिटिक) और हिन्द-योरोपीय परिवारकी भाषाएँ इसी वर्गके अन्तर्गत आती हैं। ये सभी भाषाएँ विश्वकी सर्वाधिक समुन्नत भाषाओंमें गिनी जाती हैं। अरबीमें 'क्त्ब्' धातुसे 'किताब, कुतुब, कातिब' आदि शब्द बना दिए जाते हैं। इसी प्रकार संस्कृतमें 'नै' और 'पौ' दोनोंमें विकार आ गया और वे 'अक' लग जानेसे 'नायक' और 'पावक' बन गए।

§ २४४. धातुरूपात्मक भाषाओंके दो भेद माने जाते हैं—अन्तर्भावित और बहिर्भावित।

(क) अन्तर्भावित धातुरूपात्मक भाषामें प्रतिपादिक शब्द[1] या धातुके बीचमें सम्बन्धक योग आकर ऐसे घुल जाते हैं कि वे शब्दके अंग बन जाते हैं। सामी (सैमिटिक) और हामी (हैमिटिक) भाषाएँ इसी वर्गकी हैं। अरबी भाषाका ऊपर (§ २४३) दिया हुआ उदाहरण इसका प्रमाण है। इस अन्तर्भावित धातुमूलक भाषाके दो रूप हैं—संश्लेषात्मक और विश्लेषात्मक। संश्लेषात्मक भाषाएँ वे सामी (सैमिटिक) परिवारकी (अरबी आदि) भाषाएँ हैं जिनका प्राचीन रूप संश्लेषात्मक था क्योंकि उनमें किसी प्रकारका कोई सम्बन्धक योग जोड़नेकी अपेक्षा नहीं थी। विश्लेषात्मक भाषाएँ मूलतः तो संश्लेषात्मक ही होती हैं किन्तु वाक्य-विन्यासकी प्रकृतिमें वे विश्लेषात्मक हो गई हैं क्योंकि उनके वाक्योंमें शब्दोंका सम्बन्ध स्पष्ट करनेके लिये सम्बन्धक योगों या शब्दोंका योग होने लगता है। पीछेकी हिब्रू भाषामें यह विशेषता विशेष रूपसे लक्षित होती है।

(ख) बहिर्भावित धातुमूलक भाषामें सम्बन्धक योग शब्दोंके पीछे लगते हैं, जैसे संस्कृतमें 'पठ्' धातुके साथ 'अ + ति' लगकर 'पठति' बन जाता है। हिन्द-योरोपीय परिवारकी भाषाएँ इसी वर्गके अन्तर्गत आती हैं।

---

१. अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्

—अष्टाध्यायी, १।२।३५

[धातु और प्रत्ययके बिना ही अर्थ देनेवाला शब्द प्रातिपदिक कहलाता है।]

इस बहिर्भावित धातुमूलक भाषा-भेदके भी दो रूप मिलते हैं—संश्लेषात्मक और विश्लेष-संश्लेषात्मक। बहिर्भावित संश्लेषात्मक धातुरूपात्मक भाषाओंके अन्तर्गत वे सब हिन्द-योरोपीय परिवारकी प्राचीन भाषाएँ (यूनानी, लातिन, संस्कृत, अवेस्ता आदि) आती हैं जिनमें न तो सहायक क्रियाका प्रयोग होता था न परसर्ग आदिका वरन् वाक्यमें आए हुए पदके अन्तर्गत ही सम्बन्धक योग ऐसा मिला रहता था कि उसीसे पूरे वाक्यकी तात्पर्य-क्रिया स्पष्ट हो जाती थी, जैसे 'लिखति'का अर्थ ही था 'सः लिखति' अर्थात् 'ति' विभक्ति-प्रत्यय ही कर्ताका भी बोधक हो जाता था। 'लिथुआनी' भाषा भौगोलिक दृष्टिसे सबसे अलग रह जानेके कारण आज भी संश्लेषात्मक ही बनी हुई है।

बहिर्भावित विश्लेषात्मक धातुमूलक भाषाओंके अन्तर्गत हिन्द-योरोपीय परिवारकी वे सब वर्तमान कालकी भाषाएँ आ जाती हैं जिनकी विभक्तियाँ काल-प्रवाहमें लुप्त हो गईं और जिनमें परसर्ग तथा सहायक क्रिया लगानेकी आवश्यकता पड़ने लगी, जैसे—'काकः वृक्षे तिष्ठति'। इसका हिन्दी रूपान्तर अब होगा 'कौवा पेड़के ऊपर बैठा है।' इस वाक्यमें संस्कृतके 'वृक्षे'के बदले 'वृक्ष' शब्दके साथ परसर्ग 'के ऊपर' और एक शब्द 'तिष्ठति' के बदले 'है' सहायक क्रिया लगाकर 'बैठा है' शब्द बनाना पड़ा। उत्तर भारतकी सभी देशी भाषाएँ इसी प्रकृतिकी हैं। कुछ विद्वान् समझते हैं कि ये विश्लेषात्मक भाषाएँ पुनः संश्लेषात्मक हो जायँगी। किन्तु यह असम्भाव्य कल्पना है। यदि वर्तमान भाषाओंका लिखित साहित्य इतना अधिक व्यापक, पुष्ट और प्रचुर न हो गया होता और भाषा केवल भाषा-मात्र रहती तब तो इस प्रकारकी कल्पना सम्भव थी किन्तु अब तो इनका रूप इतना स्थिर हो गया है कि संश्लिष्ट रूपमें इनका परिवर्त्तन संभव नहीं है।

सम्पृक्त भाषा

§ २४५. सम्पृक्त भाषाओंमें सम्बन्धक योग (विभक्ति-प्रत्यय) तथा अर्थंकर योग (प्रातिपदिक शब्द) अर्थात् वाक्यमें आए हुए शब्द और उनके प्रत्यय, उपसर्ग इतने अधिक परस्पर घुल-मिल जाते हैं कि न तो वे अलग किए जा सकते हैं और न उनकी ठीक पहचान ही हो सकती है।

इसे एक उदाहरणसे स्पष्ट कर सकते हैं। संस्कृतमें 'दृढ' शब्दसे 'दार्ढ्य', ऋषिसे 'आर्ष', 'कृत्स्न'से 'कार्त्स्न्यं' आदि इसी रूपमें बने। किन्तु संस्कृत सम्पृक्त

भाषा नहीं है। इस प्रकारकी सम्पृक्त भाषाओंके दो भेद माने गए हैं—पूर्णतः सम्पृक्त और अंशतः सम्पृक्त।

पूर्णतः सम्पृक्त भाषाओंमें सम्बन्धक योग और अर्थकर योग अर्थात् वाक्यके शब्द, प्रत्यय और उपसर्ग पूर्णतः ऐसे घुलमिल जाते हैं कि वाक्यमें पूरे-पूरे शब्द ही नहीं आ पाते, वरन् अधूरे शब्दोंके संयोगसे ही एक पूरा समस्त शब्द-वाक्य बन जाता है। ग्रीनलैण्ड और दक्षिण अमरीकाकी 'चेरोकी' भाषा इसी श्रेणीमें आती हैं।

अंशतः सम्पृक्त भाषाओंमें केवल सर्वनाम और क्रियाएँ ही ऐसी घुलमिल जाती हैं कि क्रियाका अस्तित्व लुप्त हो जाता है और वह सर्वनामका ही अंश बनकर एक वाक्यके रूपमें गुँथ जाती है। इनमें पूर्णतः सम्पृक्त भाषाओंके समान संज्ञा, विशेषण, क्रिया और अव्यय आदि सबका सम्मिश्रण नहीं होता, केवल सर्वनाम और क्रियाओंका होता है, जैसे—उत्तर प्रदेशके मेरठ-मुजफ़्फ़रनगर जनपदोंमें 'मैंने कहा'के बदले 'मका' और 'उसने कहा'के बदले 'उन्नेका'का प्रयोग होता है। कन्नड़की बोल-चालकी भाषामें भी इस प्रकारकी समास-वृत्ति बहुत दिखाई पड़ती है। 'डच' भाषामें भी इसी प्रकार 'गोएडेन मौर्गेन' (नमस्कार) को 'गोइमोर्गेन' कहते हैं।

ऊपर भाषाओंके रूपात्मक (आकृतिमूलक[1]) वर्गीकरणके जो अनेक प्रकार विस्तारसे गिनाए गए हैं वे वास्तवमें बौद्धिक व्यायामके ही फल हैं। जो भाषाएँ किसी विशेष भौगोलिक परिधिमें ही अन्य बाह्य भाषाओंसे पूर्णतः असम्पृक्त होकर रही हैं केवल उन्हींका रूपात्मक वर्गीकरण करना सम्भव और उचित है, अन्यथा जिन देशों और प्रदेशोंकी भाषाओंमें बहुत अधिक आदान-प्रदान हुआ और हो रहा है और जिनकी मूल भाषा-प्रकृति पूर्णतः परिवर्तित हो गई है उनकी परीक्षा अब रूपकी दृष्टिसे करना वाञ्छनीय, व्यावहारिक, सम्भव और उचित नहीं है। अतः, यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि संसारकी कोई भी भाषा पूर्णतः सप्रत्ययोपसर्ग, धातुमूलात्मक या सम्पृक्त नहीं रह गई है।

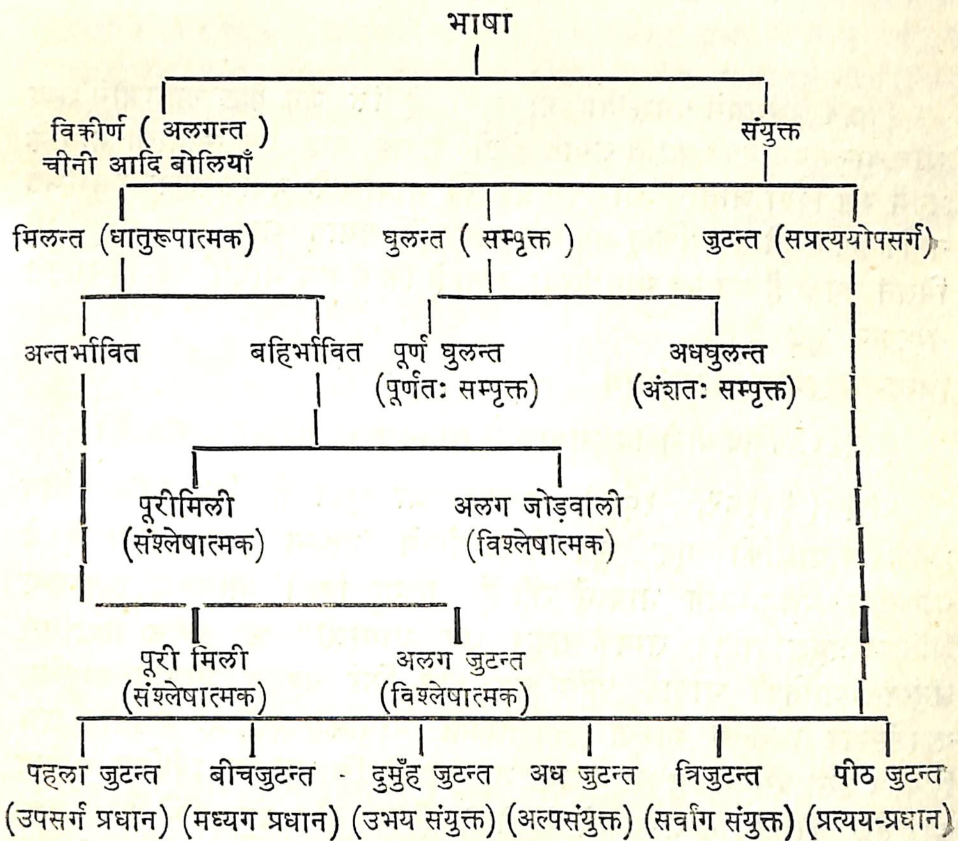
बाबू श्यामसुन्दरदासने अपने भाषा-विज्ञानमें भाषाके रूप-विन्यासके चार आधार-वर्ग माने हैं—व्यास-प्रधान, समास-प्रधान, प्रत्यय-प्रधान और

---

१. भाषाके साथ 'आकृति' शब्दका प्रयोग अत्यन्त अनुचित है क्योंकि आकृति केवल प्रत्यक्ष पदार्थकी होती है, भाषाकी नहीं।

विभक्ति-प्रधान। इनमेंसे व्यास-प्रधान तो विकीर्ण (अयोगात्मक)के अन्तर्गत आ जाती हैं और शेष सब संयुक्त (योगात्मक)के अन्तर्गत। इसी प्रकार डाक्टर मंगलदेवने भी रूप-विन्यासकी दृष्टिसे भाषाओंके तीन वर्ग माने हैं— योगात्मक, अयोगात्मक और विभक्ति-युक्त। किन्तु ये भेद भी इसलिये उपयुक्त नहीं हैं कि इस दृष्टिसे भाषाओंका वर्गीकरण करनेसे भाषा-विज्ञानके क्षेत्रमें भीषण भ्रान्ति उत्पन्न हो जायगी।

[रूपाश्रित वर्गीकरण]



इस प्रकार भाषाका रूपात्मक वर्गीकरण करना और वर्गीकरण करके अध्ययन करना पूर्णतः निष्फल और निरर्थक कार्य है।

गोत्राश्रित वर्गीकरण

पिछले अध्यायमें समझाया जा चुका है कि जब कुछ भाषाओंमें शब्द और वाक्य बनानेकी पद्धति समान होती है तब उन्हें एक रूपवाली भाषाके वर्गमें रख दिया जाता है और इस प्रकारके भाषाओंके वर्गीकरणको रूपाश्रित वर्गीकरण कहते हैं। किन्तु जब कई भाषाओंमें समान शब्द और धातुएँ भी मिलने लगती हैं तब यह मान लिया जाता है कि ये सब भाषाएँ एक ही स्रोतसे समुत्पन्न हुई हैं।

हिन्द-योरोपीय भाषा-गोत्र

§ २४६. हिन्द-योरोपीय भाषाओंमें समानताका आधार संस्कृत है।

पीछे (§ १८२, १८३) बताया जा चुका है कि आज जिन अनेक भाषाओंको एक मूल भाषा-स्रोतसे उत्पन्न माना गया है वे वास्तवमें अलग-अलग भाषाएँ रही हैं किन्तु किसी विशिष्ट-ज्ञान-सम्पन्न अतिशय प्रबुद्ध जातिका सम्पर्क पाकर उन भाषाओंमें भी अनेक शब्द उस समुन्नत जातिकी भाषाके पहुँच गए और फिर ग्रहीता भाषाने समुचित वाक्संस्कार न होनेके कारण उन्हें अपनी भाषाकी ध्वनिके अनुसार ढाल लिया। उसी प्रसंगमें यह भी बताया जा चुका है कि भारतसे ज्योतिष, गणित और वैद्यककी विद्याएँ अरब प्रदेशसे होकर यूनान और योरपमें फैलीं। अतः, स्वाभाविक रूपसे विद्याओंके साथ-साथ संस्कृत भाषा भी उन प्रदेशोंमें पहुँच गई। इतना ही नहीं, पञ्चतन्त्रकी कहानियाँ और 'वड्डकहा' (बृहत्-कथा) की कथाएँ कथा-सरित्-सागरके अनुवादके रूपमें भारतसे ही विभिन्न देशोंमें पहुँची। इसलिये—

१. जिस मूल हिन्द योरोपीय भाषाकी कल्पना भाषाशास्त्रियोंने की है वह पूर्णतः भ्रामक है। देववाणी संस्कृत ही सबका आधार है जो प्रसिद्ध वैयाकरणोंकी प्रशंसनीय परम्पराके कारण पूर्णतः विकसित हो चुकी थी और जिसके बोलनेवालोंके सम्पर्कमें आनेसे ही विभिन्न देशोंमें संस्कृत भाषाके शब्द पहुँच गए।

२. संस्कृतज्ञ और विभिन्न-विद्या-पारंगत आर्योंने ही विभिन्न योरोपीय देशोंमें अपने प्रभावसे अपनी विद्याओंका और साथ-साथ अपनी भाषा और उसके शब्दोंका प्रचार किया क्योंकि काशी, कश्मीर, तक्षशिला, धार और नालन्दा-जैसे विशाल विद्या-केन्द्रोंमें दूर-दूर देशोंसे अनेक ज्ञान-पिपासु विद्या ग्रहण करने आते थे। उस समय न ईसाका जन्म हुआ था न मूसाका, न जरस्थुसका न मुहम्मदका। इसलिये पीछे चलकर मानव-समाजमें जो विभिन्न धार्मिक मतोंके कारण अनेक विभेद हो गए, वे उस समय विद्यमान नहीं थे।

३. भारतके धर्म-शास्त्रियों, सार्थवाहों और व्यापारियोंने पश्चिममें सुदूर रोमतक पहुँचकर भारतीय शिल्प और कला-कौशलका ही प्रचार नहीं किया, वरन् अपनी भाषा और संस्कृति भी उन्हें दी।

अतः, आर्योंके प्रभावसे ही सप्तसिन्धुकी संस्कृति और विद्याएँ संस्कृतके माध्यमसे योरपमें पहुँच गईं जिसका परिणाम यह हुआ कि संस्कृतके अनेक शब्द व्यापक रूपसे योरपमें फैल गए जो देश-विशेषके उच्चारण-भेदके कारण वैसे ही अपभ्रष्ट हो गए जैसे हमारे देशकी प्राकृतोंमें, किन्तु जिनकी प्रकृति समान प्रतीत होती है। इसीसे वर्तमान भाषा-शास्त्रियोंने यह भ्रामक परिणाम निकाल लिया कि सब आर्य भाषाओंका स्रोत कोई मूल भाषा है जिससे संस्कृत, लातिन, यूनानी आदि भाषाएँ निकलीं। वास्तवमें विभिन्न भाषाओंकी समानता तब मान्य होनी चाहिए जब उसके विभक्ति-प्रत्यय समान हों, संज्ञा और विशेषण नहीं। निम्नांकित वाक्य अँगरेज़ीके संज्ञा शब्दोंसे युक्त होनेपर भी हिन्दीका है—

'मेरे कोटमें प्लास्टिकके बटन लगा दो।'

§ २४७. भाषा-शास्त्रियोंके अनुसार किसी मूल भाषासे संस्कृत, लातिन, यूनानी आदि हिन्द-योरोपीय परिवारकी भाषाएँ निकलीं।

भारत और योरपकी भाषाओंका तुलनात्मक अध्ययन करनेवाले विद्वानोंने संस्कृतके 'पितृ' या 'पितर' शब्दका फ़ारसीमें 'पिदर', लातिन और

यूनानीमें 'पेतर', जर्मनमें 'फ़ौटेर' और अँगरेज़ीमें 'फ़ादर' देखकर यह परिणाम निकाला कि ये सब भाषाएँ किसी मूल भाषासे निकली हैं। इस मूल भाषाको संस्कृत माननेमें उन्हें सम्भवतः यह आपत्ति हुई होगी कि भारतवर्षको सब योरोपीय भाषाओंका स्रोत बननेका श्रेय क्यों दिया जाय। किन्तु उन्होंने यह विचार नहीं किया कि तथाकथित हिन्द-योरोपीय परिवारकी भाषाओंमें संस्कृत ही ऐसी एक मात्र भाषा है जिसके सब शब्दोंकी व्युत्पत्ति की जा सकती है, जैसे—'पा' धातुमें 'तृच्' प्रत्यय लगाकर 'पितृ' शब्द बनाया गया जिसका अर्थ है—'पातिरक्षति अपत्यं यः स पिता' (जो अपने सन्तानकी रक्षा करे उसे पिता कहते हैं); किन्तु फ़ारसीमें 'पिदर', लातिन और यूनानीमें 'पेतर', जर्मनमें 'फ़ौटेर' और अँगरेजीमें 'फ़ादर' शब्द कैसे बने और कैसे पिताके अर्थमें प्रयुक्त हुए इसका कोई निर्वचन नहीं किया जा सकता। पीछे (§ १७७) बतलाया गया है कि योरपमें 'लिथुआनी' और भारतमें 'संथाली' भाषाएँ चारों ओर अत्यन्त समृद्ध भाषाओंसे घिरे रहनेपर भी अपनी भौगोलिक एकान्तताके कारण किसी दूसरी भाषाका संस्कार नहीं ले पाईं किन्तु योरपकी जिन जातियोंका सम्पर्क भारतवर्षसे रहा उनपर भारतके भाषा-संस्कारका इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने उसी प्रकार संस्कृत भाषाके सैकड़ों शब्द ग्रहण कर लिए जैसे भारतीय भाषाओंने यवन और योरोपीय शासन-कालमें सहस्रों शब्द तत्सम और तद्भव रूपमें अपनी भाषामें मिला लिए। यदि इस प्रकार भाषाओंके परिवार मानने लगें तो तीन चार सौ वर्ष पश्चात् लोग कहेंगे कि भारतकी देशी भाषाएँ सब अरबी (सेमिटिक परिवारकी भाषा) हैं और उनका मूल स्रोत अरबमें है क्योंकि असंख्य अरबी शब्द तत्सम या तद्भव रूपमें उनमें आ गए हैं अथवा कहेंगे कि हिन्दी तो 'अँगरेज़ी'के गोत्रकी भाषा है क्योंकि उसमें सहस्रों शब्द अँगरेजीके तत्सम या तद्भव रूपमें आ गए हैं। अतः, भाषा-शास्त्रके क्षेत्रमें जो यह भीषण भ्रान्ति व्याप्त है उसे तत्काल दूर करना चाहिए। वास्तवमें भाषाओंके गोत्रका निर्धारण इसी दृष्टिसे करना चाहिए कि किन भाषाओंमें विभक्ति-प्रत्यय-उपसर्ग समान हैं क्योंकि संज्ञा-विशेषण शब्दोंका आदान-प्रदान तो होता ही रहता है (§ २४६)।

हमारे देशमें भी जिन विद्वानोंने भारतके विभिन्न प्रदेशोंकी भाषाओं, उनकी प्रकृति, उनके संस्कारों और उनके सम्बन्धोंपर विचार किया है उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि अनेक भाषाओंकी प्रकृतियोंका विवेचन करते

हुए बताया है कि उन भाषाओंमें संस्कृतके शब्दोंका ध्वनि-परिवर्त्तन किस प्रकार हुआ, उनकी अपनी मूल प्रकृति क्या है, उनमें विभक्ति-प्रत्यय कैसे लगते हैं और शब्दोंका निर्माण किस प्रकार होता है। उन्होंने यह भी बताया है कि उनका कितना अंश संस्कृतसे तद्भव रूपमें लिया हुआ है और कितना देशी है। अतः, भारत और योरपके बहुतसे प्रदेशोंके शब्दोंमें जो बहुत साम्य दिखाई पड़ता है उसका कारण यही है कि भारतवर्षके अत्यन्त समुन्नत और प्रबुद्ध आर्योंने उन अनेक जातियों और समाजोंपर अपने विद्या-संस्कारके साथ अपने भाषा-संस्कारकी भी गहरी छाप दी।

भाषाओंके गोत्र

§ २४८. भाषा-शास्त्रियोंने भाषाओंके बारह गोत्र माने हैं।

जिन भाषा-शास्त्रियोंने विभिन्न भाषाओंमें इस प्रकारकी समानता ढूँढी है उन्होंने संसार भरकी भाषाओंको बारह गोत्रोंमें विभक्त कर दिया है—

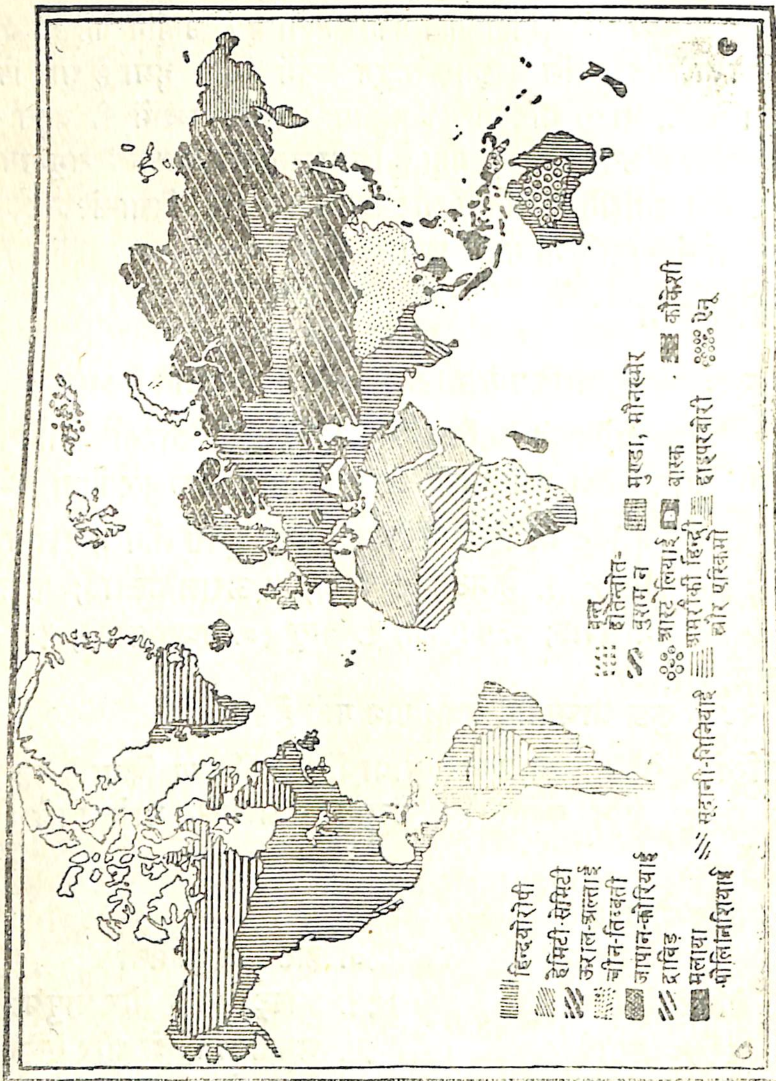
१. संस्कृत-भावित या हिन्द-योरोपीय (जिसे भूलसे लोग भारोपीय लिखने लगे हैं)। २. सेमिटी; ३. हेमिटी; ४. चीनी; ५ ऊराल-अलताई; ६. द्राविड; ७. मलायो-पौलीनेशियाई; ८. काकेशी; ९. बन्तू १०. मध्यअफ्रीकी; ११. आस्ट्रो-प्रशान्तीय; १२. शेष।

§ २४९. कुछ आचार्योंने सत्रह गोत्र माने हैं।

मारियो ए पेईने जिस प्रकार भाषाओंका वर्गीकरण किया है वह औरोंसे अधिक अच्छा जान पड़ता है। उन्होंने भाषाओंके नीचे लिखे १७ गोत्र गिनाए हैं—

१. हिन्द-योरोपीय (इंडो-योरोपियन)
२. सैमिटो-हैमिटी
३. ऊराल-अलताई
४. चीनी-तिब्बती
५. जापान-कोरियाई
६. द्राविड़ी
७. मलायो-पौलिनेशियाई
८. सूदानी-गिनी
९. बन्तू
१०. होतेन्तोत-बुशमैनी
११. आस्ट्रेलियाई और पापुआ
१२. अमरीकी हिन्दी और एस्किमो
१३. मुण्डा-मोनख्मेर
१४. बास्क
१५. हाइपरबोरी
१६. काकेशी
१७. ऐनू

नीचे दिए हुए मानचित्रमें ये सब भाषाएँ स्पष्ट दिखाई पड़ जायँगी और उनका विवरण समझमें आ जायगा।



१. संस्कृत-भावित (हिन्द-योरोपीय) भाषाएँ

संस्कृत - भावित (हिन्द-योरोपीय) भाषाएँ समस्त योरप, दक्खिन-पश्चिमी एशियामें उत्तर-पूर्वी भारततक और ऊपरसे लादी हुई भाषाओंके रूपमें पूरे पश्चिमी गोलार्ध, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, तस्मानिया, दक्षिण अफ्रीका, दक्खिन-

पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागरके टापुओंमें बोली जाती हैं। ये लादी हुई भाषाएँ अँगरेज़ी, फ्रान्सीसी, हुलाँश (डच), पुर्तगाली, इतालवी और स्पेनी हैं जो इन देशोंके निवासियोंने उपनिवेशके रूपमें प्रदेशोंको अधीनस्थ करके उनपर अपना भाषा-संस्कार डाल दिया। पहले भारतके भी कुछ वर्गोंमें अँगरेज़ीका बोलबाला था पर अब यहाँ हिन्दी अपना ली गई है। इस हिन्द-योरोपीय भाषाके बोलनेवाले लगभग एक अरब हैं। इन भाषाओंकी बनावट पहले तो धातुमूलक (इन्फ़्लैक्शनल) और संयुक्त या मिलन्त (संश्लेषात्मक) रही, पर अब धीरे-धीरे इनमें धातुके पीछे लगनेवाले विभक्ति-प्रत्यय हट रहे हैं, शब्द अलग-अलग हो रहे हैं और वाक्योंमें शब्दोंका पारस्परिक सम्बन्ध समझानेके लिये वाक्य-विन्यास बँधता जा रहा है। इस भाषा-गोत्रको जर्मन लोग इंडो-जर्मन कहते हैं, कुछ लोग इंडो-केल्टिक, कुछ संस्कृत, कुछ कौकेशीय, कुछ जफ़ेटिक, कुछ भ्रमवश भारोपीय (अशुद्ध गढ़ा हुआ शब्द) और अब इसे हिन्दी-हित्ती कहने लगे हैं किन्तु इसे संस्कृत-भावित भाषा-परिवार ही मानना चाहिए। इसकी मुख्य शाखाओंमें निम्नांकित भाषाएँ आती हैं—

(क) जर्मन भाषाएँ : जिनमें उत्तरी या स्कैण्डीनेवियन खण्डकी आइसलैंडी, डैनो-नौर्वेजी और स्वीडिश भाषाएँ आती हैं और पश्चिमी जर्मन भाषाओंमें अँगरेज़ी, ऊँची जर्मन, नीची जर्मन (यिद्दिश) और डच-फ़्लैमिश भाषाएँ आती हैं।

(ख) रोमांस या इतालवी भाषाएँ : जिसकी स्पेनी शाखामें स्पेनी, पुर्तगाली और कतलान (जुदाइयो-स्पेनी या सेफार्डी) भाषाएँ आती हैं और फ़्रान्सीसी शाखामें फ़्रान्सीसी और प्रौवेंसल। इसकी तीसरी शाखा है इतालवी और चौथी है रोमानियन।

(ग) कैल्टिक।

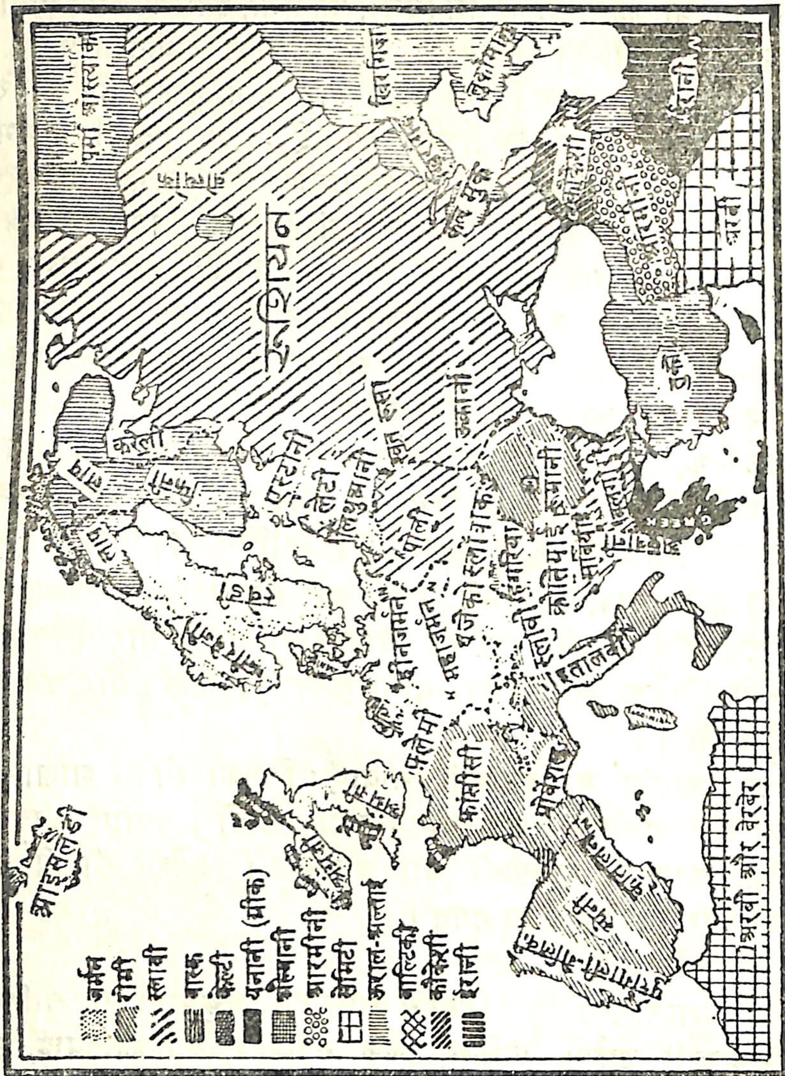
(घ) बाल्टो-स्लाविक : जिनमेंसे बाल्टिकमें लिथुआनी और लातिन तथा स्लाविकमें रूसी, उक्रैनी, पोलिश, ज़ेक, स्लोवाक, सर्बो-क्रोतियाई, स्लोवीन और बलगेरी भाषाएँ आती हैं।

(ङ) यूनानी।

(च) अलबानी।

(छ) आरमीनी।

(ज) ईरानी : जिसमें फ़ारसी, कुर्दिश, बलूची और अफ़गानी या पश्तो भाषाएँ आती हैं।



(झ) हिन्दी भाषाएँ : जिनमें हिन्दी, बँगला, पंजाबी, राजस्थानी, मराठी, गुजराती, सिंहली और घुमन्तू जातियोंकी भाषाएँ आती हैं।

२. सैमिटो-हैमिटी

सैमिटो-हैमिटी गोत्रकी भाषाएँ अरब; ईराक़, फ़िलिस्तीन, सीरिया, उत्तरी अफ्रीका (मिस्र, लीबिया, अल्जीरिया, तूनीशिया, मोरोको, सहाराकी मरु-

भूमि), इथियोपिया, एरित्रिया, सुमालीलैंड, जंज़ीबार, मडागास्कर और माल्टा टापूमें बोली जाती हैं। इसके बोलनेवाले साढ़े सात करोड़ हैं। इन भाषाओंकी रचनामें यही सबसे विचित्र बात है कि इनके शब्दोंके रूपोंमें तीन व्यञ्जन होते हैं जिनके बीच-बीचमें स्वर लगाकर उनके अलग-अलग अर्थ बना लिए जाते हैं जैसे अरबीमें 'कतब' = 'लिखना,' 'कताबा' = 'उसने लिखा है,' 'कुतिबा' = 'यह लिखा गया है,' 'यक्तुबू' = 'वह लिखेगा', 'युक्ताबू' = 'यह लिखा जायगा', 'अक्ताबा' = 'उसने लिखवाया है', 'किताब' = 'लेख या पुस्तक', 'कातिब' = 'लिखनेवाला' और 'कातबन' = 'लिखनेका काम'। इस भाषा-गोत्रकी मुख्य शाखाएँ ये हैं—

(क) सैमिटी : जिसके उत्तरी रूपमें हिब्रू और दक्खिनीमें अरबी और इथियोपी (तिग्री, अम्हारी) आदि हैं।

(ख) हैमिटी : जिसमें लिबिको-बर्बर, (कबायली, शिल्ह, तुवारेग आदि), कुशीती (सोमाली, गाला आदि) और कौप्तीय भाषाएँ आती हैं।

इन सब भाषाओंमें अरबीका बड़ा मान है और मुसलमान लोग इसे अपनी धर्म-भाषा मानते हैं।

३. ऊराल-अल्ताई

ऊराल-अल्ताई गोत्रकी भाषाएँ फिनलैंड, करेलिया, एस्तोनिया, उत्तरी नौर्वे और स्वीडन, पूर्वी योरोपीय रूस, तुर्की, सोवियत एशिया, मंगोलिया, चीनी तुर्किस्तान और मंचुकुओमें बोली जाती है। इसके बोलनेवाले लगभग छह करोड़ हैं। इन भाषाओंकी प्रकृति सप्रत्ययोपसर्गात्मक या जुटन्त (एग्ल्यूटिनेटिव) हैं। इनमें शब्दोंके पीछे जो प्रत्यय जोड़ा जाता है वह अलग दिखाई पड़ता है, जैसे-तुर्की भाषामें 'अत' का अर्थ है घोड़ा, पर 'अतइम् = मेरा घोड़ा, अतलारइम = मेरे घोड़े' बन जाता है। इन भाषाओंकी दूसरी विशेषता यह है कि यदि किसी शब्दमें अग्र-स्वर (ए, ई, ऐ, औ) होगा तो उनमें जितने भी नये शब्द जुटेंगे उन सबमें अग्रस्वर जुट जायगा पर यदि उनमें पश्चस्वर (आ, ओ, उ और तुर्की इ) हो तो साथ जुटे हुए सब शब्दोंमें पश्चस्वर जुटेगा, जैसे हंगरीके 'केज़' (हाथ) शब्दमें अग्रस्वर 'ए' है इसलिये 'हाथमें' कहना होगा तो कहेंगे 'केज़बेन' पर 'हाज़' (घर)में पश्चस्वर 'आ' है इसलिये अगर 'घरमें' कहना होगा तो वह 'हाज़बान' हो जायगा। इस गोत्रकी एक और विचित्र विशेषता यह है कि इसमें लिङ्ग नहीं होते। इसकी बड़ी-बड़ी दो शाखाएँ हैं—ऊराली और अल्ताई।

(क) ऊराली या फ़िनो-उग्री : जिसमें फ़िनी (करेली और एस्तोनीके साथ), लाप (उत्तर-पूर्वी योरोपी रूसकी बोलियाँ जैसे मोर्दवीनी, शेरेमिस, और वोत्याक), हंगेरियन (मग्यार, ओस्त्याक, समोयेद) भाषाएँ आती हैं।

(ख) अल्ताई : जिसमें तुर्की (जिससे मिलती-जुलती तातारी, तुर्कमानी और खिरगिज़ भी हैं), मंगोली और तुङ्गस (मंचू) भाषाएँ आती हैं। ये भाषाएँ उत्तर और बीचके योरपसे लेकर सारे उत्तरी एशियामें महासागरके छोरतक फैली हुई हैं, पर इनके बोलनेवाले बहुत कम हैं। इस गोत्रकी एशियाई भाषाएँ सब सोविएतकी धरतीपर हैं इसलिये भय यह है कि कहीं उसमें रूसी भाषा न आ घुसे और मंचुकुओकी 'मंचू' भाषाके बदले कहीं चीनी और जापानी भाषाएँ न आ बैठें।

४. जापानी-कोरियाई

जापानी-कोरियाई गोत्रकी भाषाएँ बस जापान और कोरियामें ही चलती हैं। यह जापानी भाषा फ़ारमोसा, मंचुकुओ, करोलीन, मार्शल द्वीप-समूह और जहाँ-जहाँ जापानियोंका प्रभुत्व है वहाँ-वहाँ बोली जाती हैं। इसके बोलनेवाले दस करोड़ हैं। इसकी रूप-प्रकृति है तो जुटन्त या सप्रत्ययोपसर्ग (एग्ल्यूटिनेटिव) पर उतनी नहीं है जितनी ऊराल-अल्ताई भाषाकी है। इसमें लिंग और वचन नहीं होते। इन भाषाओंमें एक ऐसी उदास (इम्पर्सनल) क्रिया होती है जिसे लगाकर आदर, नम्रता आदिकी अभिव्यक्तिके लिये अलग-अलग शब्द बना लिए जाते हैं। रूपमें इतना साम्य होते हुए भी बहुतसे विद्वान् जापानी और कोरियाईमें कोई सम्बन्ध नहीं मानते। इसकी दो ही शाखाएँ हैं—(क) जापानी; (ख) कोरियाई।

५. चीन-तिब्बती

चीन-तिब्बती गोत्रकी सब भाषाएँ चीन, तिब्बत, ब्रह्मदेश, थाइलैंड या स्याम, उत्तरी हिन्द-चीन, मंचुकुओ और सोक्यांगमें बोली जाती हैं। इसके बोलनेवाले लगभग पचास करोड़ हैं। इसकी रूप-प्रकृति एकाक्षरी या एक-लयान्वितिक (मोनो-सिलेबिक) है। इसमें सब शब्द एक-एक लयान्विति (सिलेबिल) के होते हैं जिनके आगे-पीछे कोई प्रत्यय नहीं जुटता। वाक्यमें आए हुए शब्दोंका सम्बन्ध उस वाक्यमें उनके क्रमको देखकर ज्ञात होता है। इसके साथ-साथ सबसे बड़ी विचित्रता यह है कि इनके बहुतसे शब्द ऐसे हैं जिनकी ध्वनि तो एक-सी है किन्तु उन्हें स्वर चढ़ाकर या स्वर उतार-

कर बोलनेसे अलग-अलग अर्थ हो जाता है। चीन का 'फु' शब्द ऊँचे स्वरमें बोला जायगा तो अर्थ होगा 'मनुष्य', कुछ झटकेसे स्वर चढ़ाकर कहा जायगा तो अर्थ होगा 'भाग्य,' कुछ स्वर उतारकर और फिर चढ़ाते हुए कहा जायगा तो अर्थ होगा 'पूर्णता' या 'पूरापन' और झटकेसे स्वर उतारकर बोला जायगा तो अर्थ होगा 'धनी'। इसकी बड़ी-बड़ी तीन शाखाएँ हैं—

(क) चीनी; (ख) तिब्बती-बर्मी; (ग) स्यामी या थाई।

एक तो चीनी भाषा-क्षेत्रमें यों ही अनेक ऐसी देशी भाषाएँ हैं जो परस्पर नहीं समझी जातीं, दूसरे, इसमें स्वरके उतार-चढ़ावकी बड़ी झंझट है; तीसरे, इसकी लिपि इतनी कठिन है कि उसमें लगभग तीन सहस्र ऐसे अक्षर हैं जो ध्वनियोंके लिये नहीं वरन् अलग-अलग शब्दोंके लिये मिलाए जाते हैं। चीनियोंने अब इस लिपिमें सुधार कर लिया है।

६. द्राविडी

द्राविडी भाषाएँ भारतमें गोदावरी नदीके दक्षिण और लंकाके उत्तरमें बोली जाती हैं। इसके बोलनेवाले लगभग दस करोड़ हैं। इन भाषाओंकी बनावट सप्रत्ययोपसर्ग (जुटन्त)-सी है जिसकी संज्ञामें बहुवचनका चिह्न लगाकर ऐसा कारकका चिह्न लगा देते हैं जो एकवचन और बहुवचन दोनोंके लिये काम आता है। इनमें स्त्री-लिङ्ग या पुंलिङ्गके अनुसार लिङ्ग न मानकर जातिसे या बड़े-छोटेके भेदसे लिङ्ग माने जाते हैं, जैसे—स्त्रियाँ (यहाँतक कि देवियाँ भी) छोटी समझी जाती हैं और बिना जीववाली वस्तुओंमें गिनी जाती हैं। इसकी बड़ी-बड़ी शाखाओंमें—(क) तमिळ, (ख) तेलुगु, (ग) ब्राहुई, (घ) कन्नड़, (ङ) गोंड, (च) भीली और (छ) मलयाळम् हैं। इनमेंसे तमिळ भाषा प्राचीनतम है किन्तु उसमें अन्य भारतीय भाषाओंके समान सब वर्ण नहीं हैं। वर्गोंके केवल प्रथम और पंचम वर्ण मात्र (क ङ, च ञ, ट ण, त न, प म) इस भाषामें हैं। द्राविडी भाषाएँ परस्पर इतनी भिन्न हैं कि एक भाषाभाषी दूसरी भाषा नहीं समझ पाता।

७. मलायो-पोलिनेशियाई

मलायोपोलिनेशियाई भाषा मलाया प्रायद्वीप, पूर्वी हिन्द-द्वीप - समूह (जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, सेलेबेस और बालि आदि), फ़िलिपाइन्स, मडागास्कर, न्यूज़ीलैण्ड (मावरी), समोआ, हवाई, ताहिती और प्रशान्त महासागरके द्वीपोंमें बोली जाती है। इसके बोलनेवाले लगभग नौ करोड़ हैं। इनकी रूप-प्रकृतिमें दो लयान्वितियों (सिलेबिलों) की धातुएँ होती हैं और

संज्ञाओंके साथ कोई प्रत्यय नहीं जोड़ा जाता। इनमें वचन और लिङ्गका भी भेद नहीं होता। इनकी बड़ी-बड़ी शाखाएँ ये हैं—

(क) हिन्देशियाई : जिसमें डच पूर्वी-हिन्द-द्वीप-समूह, मलाया, मडागास्कर और फ़िलिपाइन्सकी तागालोग, बिसाया आदि भाषाएँ आती हैं।



(ख) मेलानेशियाई : जिसमें न्यू हैब्रिडीज़, फ़िजी और सोलोमन आदि द्वीपोंकी भाषाएँ आती हैं।

(ग) मिक्रोनीशियाई : जिसमें गिलबर्ट, मार्शल, करोलीन द्वीप आदिकी भाषाएँ आती हैं।

(घ) पोलीनेशियाई : जिसमें समोआ, न्यूज़ीलैण्ड, ताहिती और हवाई आदि द्वीपोंकी भाषाएँ आती हैं। सच पूछिए तो भाषाओंके इस वर्गमें इतने प्रकारकी इतनी अगणित भाषाएँ आती हैं कि उन्हें ठीक-ठीक समझनेके लिये उनका वर्ग बनाना कठिन है। पर इनमें जावा, मलाया और हवाई-द्वीपोंकी भाषाएँ ही व्यवस्थित क्रममें रक्खी जा सकती हैं।

८. अफ्रीकी-हब्शी भाषाएँ

अफ्रीकी भाषाएँ सहारा मरुस्थलके दक्षिणमें और इथियोपिया (एबीसीनिया) के पश्चिममें बोली जाती है। इसके बोलनेवाले लगभग दस करोड़ हैं। इनमें इतने प्रकारकी भाषाएँ हैं कि उनका ठीक-ठीक विवरण नहीं दिया जा सकता। फिर भी इनमेंसे कुछ भाषाओंमें संज्ञाएँ अलग-अलग वर्गोंमें बँटी हैं, जैसे—मनुष्य, वृक्ष, जल आदि और इन सबके साथ अलग-अलग शब्दोंसे पहले उपसर्ग लग जाता है। वही उपसर्ग उनके विशेषणोंमें भी लगता है। पर जब बहुवचन कहना होता है तब उपसर्ग बदल जाता है, जैसे—स्वाहिलीमें 'म्थु म्जूरी = सुन्दर मनुष्य' पर 'वाथु वाजूरी = बहुतसे सुन्दर मनुष्य।' ऐसे ही क्रिया-विशेषण तथा उन क्रियाओं-में उपसर्ग लगते हैं जिनकी वे विशेषता बताते हैं, जैसे—'कुफा कुजूरी = सुन्दरतासे प्राण देना।' इसकी बड़ी-बड़ी शाखाएँ ये हैं (मानचित्र पृ० ३९४)

(क) सूदानी-गिनी : जिसके अन्तर्गत नूबियाई, मसाई, हाउसा, योरूबा, मन्दिङ्गो आती हैं। बहुतसे भाषा-शास्त्री सूदानी-गिनीको एक वर्गमें रखना स्वीकार नहीं करते।

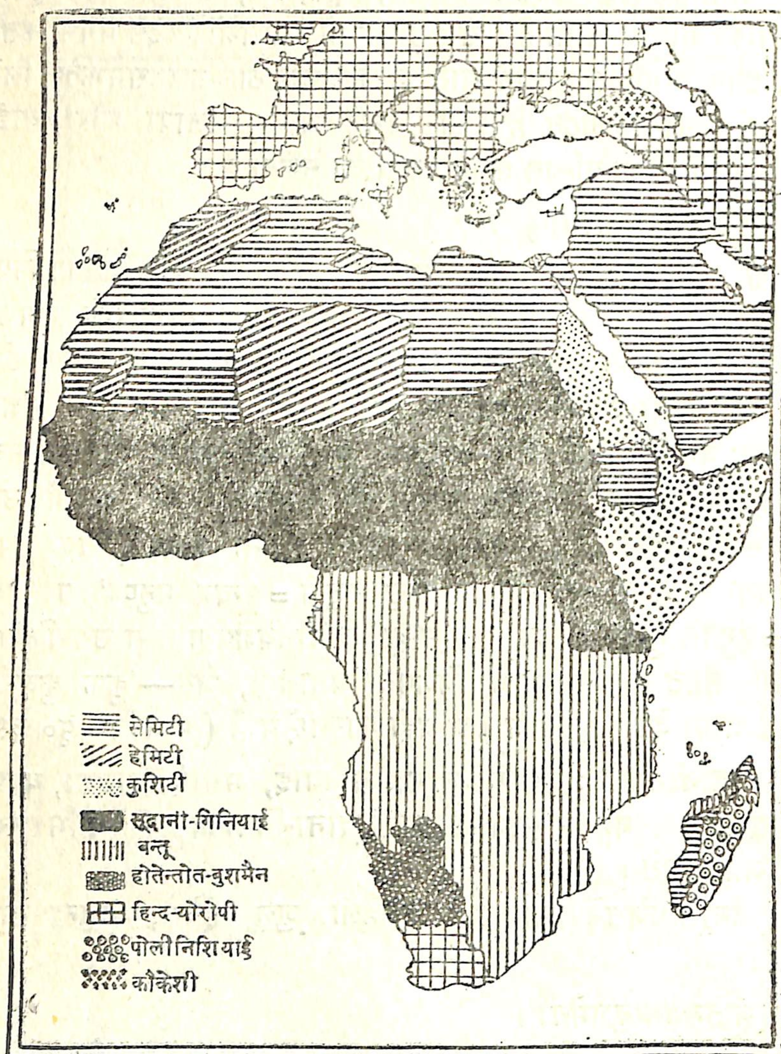
(ख) बन्तू : जिसमें रुआन्दा, स्वाहिली, ज़ुलू, हेरेरो, उम्बुन्दू भाषाएँ आती हैं।

(ग) होतेन्तौत बुशमैनी।

९. अमरीकी हिन्दी

अमरीकी हिन्दी भाषाएँ पश्चिमी गोलार्द्धमें बोली जाती हैं। इनके बोलनेवाले एक करोड़से अधिक न होंगे और उनमें भी बहुतोंने अँगरेज़ी, स्पेनी, पुर्तगाली भाषाएँ अपना ली हैं। इन भाषाओंके भी अगणित भेद हैं, पर अधिकांशतः ये भाषाएँ बहुसंश्लिष्ट (पोलीसिन्थैटिक) हैं या यों

कहिए कि इनके शब्दोंका कोई अपना अलग नियम नहीं है। ये जब वाक्यमें आते हैं तभी उनका अर्थ होता है या यह कह सकते हैं पूरा वाक्य ही एक



शब्द बन जाता है जिसके अलग-अलग खण्डोंका कोई अर्थ नहीं होता, जैसे—ओनीदा भाषामें 'ग्-नग्ला-स्ल-इ-ज़क्-स' का अर्थ हुआ 'मैं एक गाँव ढूँढ़ रहा हूँ।' इस वाक्य-शब्द या शब्द-वाक्यमें 'ग् = मैं, नग्ला = रहना', 'स्ल' है 'नग्ला'का संज्ञा-बोधक प्रत्यय, 'इ' है क्रियाका उपसर्ग, 'ज़क् = ढूँढना' और 'स' क्रियाके होते रहनेका बोधक। पर अलग-अलग इनमेंसे किसी शब्दका कोई अर्थ

नहीं है। इन भाषाओंके जो बहुत बड़े-बड़े वर्ग परीक्षित किए गए हैं उन्हें निम्नांकित भाषा-जातियोंमें विभक्त किया जा सकता है—

(क) उत्तरी अमरीकामें एस्किमो, अलगोंकियनी (ब्लैकफुट, चेयेनी, अरापाहो, क्री, ओजिब्वा, देलावरे आदि), इरोकोइस (हूरोन, व्यान्दोत, चेरोकी भाषाएँ) और उतो-अज़तेक।



(ख) मध्य अमरीकामें बहुत-सी भाषाओंके साथ मायाई, मिक्स्टेक और ज़पोटेक भाषाएँ भी चलती हैं।

(ग) दक्षिण अमरीकामें अरावक, अरौकनी, करीब, छिबछा, क्वेचुवा और तुपी-गुअरानी भाषाएँ बोली जाती हैं किन्तु अब इन सबपर योरपकी भाषाओंका रंग चढ़ता जा रहा है जो पृष्ठ ३९५ और ३९६ पर दिए हुए मानचित्रोंमें देखा जा सकता है—



१०. अन्य भाषा-गोत्र

अन्य भाषा-गोत्रोंमें ये निम्नांकित भाषाएँ आती हैं—

क. ऐनू : इसे उत्तरी जापानमें लगभग बीस हज़ार व्यक्ति बोलते हैं।

ख. हाइपरबोरी : इसके बोलनेवाले उत्तर-पूर्वी साइबेरियामें हैं।

ग. बास्क : यह उत्तर-पूर्वी स्पेन और दक्षिण-पश्चिमी फ्रान्समें बोली जाती हैं। इसके बोलनेवाले लगभग दस लाख हैं।

घ. कौकेशी : इसके बोलनेवाले सोवियत यूनियनके कौकेशस प्रदेशमें बीस लाखके लगभग हैं। इसमें जार्जी, लेसघी, अवर, सिरकसिया भाषाएँ आती हैं।

ङ. मोनख्मेर, अनामी और मुंडा : इनमेंसे बहुत-सी तो पूर्वी भारत और फ्रान्सीसी हिन्द चीनमें बोली जाती हैं। इसके बोलनेवाले दक्षिण-पूर्वी एशियामें दो या तीन करोड़ हैं।

च. पापुआ भाषाएँ : इनके बोलनेवाले आस्ट्रेलिया और न्यूगिनीमें कुछ लाख हैं और इनके अलग-अलग भाषा-समूह हैं।

इन उपर्यंकित भाषाओंमेंसे कुछ बड़ी विचित्र हैं। ऐनू भाषामें 'अस्सी' के लिये 'चार कोड़ी' या 'चार बीसी' का प्रयोग होता है। 'बास्क' भाषाकी प्रकृति अमरीकी हिन्दी भाषाओंके समान बहुसंश्लिष्ट है, जैसे—'टोपीवालेके साथ' कहना हो तो कहेंगे 'पोनेत-एकिला-को-आरे-किन', जिसका अलग-अलग अर्थ होगा 'टोपी-साथ-वह-का-साथ।' कौकेशी भाषाओंमें व्याकरणके लिङ्ग और व्यञ्जनकी ध्वनियाँ बहुत ही विचित्र और अगणित हैं। उनकी रूप-प्रकृति भी कुछ विचित्र ही है, जैसे—'मैं अपने पिताको प्रसन्न करता हूँ' का अनुवाद करना पड़ेगा—'मेरे द्वारा, सन्तुष्ट करता है, अपना, पिता।' आस्ट्रेलियाकी कुछ भाषाओंमें कुल तीनतक संख्याकी गणना होती है। इसलिये उन्हें 'सात' कहना होता है तो कहते हैं 'जोड़ा जोड़ा जोड़ा एक' और पन्द्रह कहना हो तो कहेंगे—'हाथ इधरका-उधरका और पैर आधा।' भाषाओंके परीक्षणके लिये इन भाषाओंमें बड़ी रुचिकर सामग्री भरी पड़ी है।

छ. इंजे और कराया : दक्षिण अमरीकाके पेरू प्रदेशमें एक 'इंजे' नामक जाति है जिसकी पूरी भाषामें केवल दो अक्षरोंका एक शब्द है—'इंजे'। बस इसी एक शब्दको ही वे अनेक प्रकारकी स्वर-भङ्गिमा और भाव-भङ्गिमाके साथ प्रयोग करते हुए अपने मनकी सारी बातें कह डालते हैं और अपना सारा वाग्व्यापार चलाते हैं।

दक्षिण अमरीकाके ही अमेजन प्रदेशके 'कराया इण्डियन' जातिवाले लोगोंकी भाषामें ओष्ठ्य वर्ण नहीं है। वे अपनी भाषाके कंठ्य, तालव्य और दन्त्य वर्णोंका उच्चारण भी नाकसे करते हैं, मुखसे नहीं।

संसारकी मुख्य भाषाओंका वितरण ऊपर दिए हुए मानचित्रसे स्पष्ट हो जाता है।

वर्गीकरण भ्रामक

§ २५०. यह वर्गीकरण भ्रामक है।

आचार्य चतुर्वेदीका मत है कि भाषाओंका जो वर्गीकरण किया गया है वह अधूरा और अव्यवस्थित है, यहाँतक कि जिन भाषाओंका व्याकरण मिलता भी है उन्हें भी उचित वर्गमें नहीं रक्खा गया। भाषाओंकी रूप-प्रकृतिके अनुसार वर्गीकरण न करके इस आधारपर वर्ग बनाना चाहिए कि किन भाषाओंमें कौन सी ध्वनियाँ परस्पर मिलती हैं, कौन सी नहीं मिलती, जैसे—.फ्रान्सीसी, यूनानी, रूसी और लातिनमें ट, ठ, ड, ढ नहीं है। इन्हें एक वर्गमें रक्खा जा सकता है। जिस प्रकार संस्कृत-भावित हिन्द-योरोपीय भाषाओंके 'कैण्टुम्' और 'सतम्' वर्ग बना लिए गए हैं उसी प्रकार संसार-भरकी सब भाषाओंकी पहले ध्वनियाँ एकत्र कर ली जायँ और तब समान ध्वनिवाली भाषाओंको अलग-अलग वर्गोंमें बाँध लिया जाय।

आज प्रायः सभी देश स्वतन्त्र हो गए हैं और सभी पिछड़े देशोंमें विकासकी चेतना वेगसे बढ़ रही है। ऐसी स्थितिमें यह सम्भव है कि जो भाषाएँ आज वन्य मानी जाती हैं वे कल पारस्परिक व्यवहार और राजकार्यकी समुन्नत भाषाएँ बन जायँ और तब भाषाओंका गोत्राश्रित वर्गीकरण भी दूसरे प्रकारसे करना पड़े।

संस्कृत-भावित परिवारकी भाषाएँ

बहुतसे विद्वानोंका यह भ्रामक मत है कि संस्कृत-भावित (हिन्द योरोपीय) भाषाएँ किसी ऐसी मूल या आदिम हिन्द-योरोपीय भाषासे निकली हैं जिसके सबसे अधिक लक्षण तो संस्कृतमें मिलते हैं और उसके पश्चात् यूनानी और लातिनमें। यह पहले बताया जा चुका है कि (§ ४४६/१) तथा-कथित 'आदिम हिन्द-योरोपीय' भाषाका कहीं कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है फिर भी विद्वानोंने कल्पनाके बलपर 'आदिम' भाषाके स्वरूपकी कल्पित रूप-रेखा बना डाली है। यह आश्चर्यकी बात है कि भाषाके शास्त्रीय अध्ययनको 'भाषा-विज्ञान' नाम देकर भी उसके लिये कोरी कल्पनापर आश्रित अवैज्ञानिक पद्धतिका अवलम्ब लिया जा रहा है।

आदिम हिन्द-योरोपीय भाषा

§ २५१. विद्वानोंके अनुसार आदिम हिन्द-योरोपीय भाषामें प्रत्यय जोड़कर शब्द बनते थे, उपसर्ग आदि नहीं थे, तीन वचन और तीन लिंग थे, क्रियामें काल नहीं होता था और विभक्तियाँ पदोंमें मिली रहती थीं।

पहले (§ १८२) बताया जा चुका है कि अलग-अलग नदियों, पहाड़ों और समुद्रोंसे घिरे हुए प्रदेशोंमें छोटे-छोटे मानव-समुदाय उस परिमित भू-भागमें अपनी भाषा बोलते और उसीमें अपना सम्पूर्ण व्यवहार और कार्य चलाते थे। किन्तु इन विभिन्न भू-भागोंके मानव-समुदायोंमेंसे जिन

समुदायोंने भारतीय आर्योंका सम्पर्क प्राप्त करके आर्योंके संस्कार, उनकी रीति-नीति और उनको विभिन्न विद्याओंका ज्ञान प्राप्त किया तब उनको भाषाओंमें स्वभावतः भारतीय आर्योंकी संस्कृत भाषाके अनेक शब्द पहुँच गए जिसके कारण इन सब भाषाओंको हिन्द-योरोपीय परिवारका बता दिया गया। वास्तवमें योरपकी ये सब भाषाएँ एक परिवारकी न होकर आर्य-भाषा संस्कृतसे प्रभावित मात्र थीं और इन सबको भावित करनेवाली भाषा देववाणी संस्कृत ही थी।

आदिम हिन्द योरोपीय भाषाके लक्षण

जिन विद्वानोंने एक 'आदिम हिन्द-योरोपीय' भाषाकी कल्पना की है उन्होंने उस आदिम हिन्द-योरोपीय भाषाके निम्नांकित लक्षण माने हैं—

स्वर

१. अंतःस्थ स्वर : इ, ऋ, लृ, उ, न्, म्।

२. मूल स्वर : अ, आ, ए, ए, ओ, ओ, औ।

३. संयुक्त स्वर : अइ, आइ, अऋ, आऋ, अलृ, आलृ, अउ, आउ, अन्, आन्, अम्, आम्, एइ, एइ, एऋ, एऋ, एउ, एउ, एन्, एन, एम्, एम, ओइ, ओइ, ओऋ, ओऋ, ओलृ, ओलृ, ओउ, ओउ, ओन्, ओन, ओम्, ओम्। (जिन स्वरोंके नीचे ‿ चिह्न लगा है वे ह्रस्व हैं।)

४. उदासीन स्वर : 'अ' ऐसा हलका स्वर था जो ह्रस्व स्वरका भी आधा बोला जाता था इसलिये ठीक-ठीक सुनाई नहीं पड़ता था।

व्यंजन

१. अन्तःस्थ व्यंजन : य् र् ल् व् न् म्।

२. शुद्ध व्यंजन—

क वर्ग : १. 'क् ख् ग् घ्'का उच्चारण क्या था यह स्पष्ट नहीं है पर कुछ 'क्य, ख्य, ग्य, घ्य'-जैसा रहा होगा जैसा रूसी और पहाड़ी भाषाओंमें अब भी प्राप्त है—'नामग्याल'

२. 'क़् ख़् ग़् घ़्' का उच्चारण कंठमूल होता था।

३. 'क् ख् ग् घ्' ओठ चलाकर बोले जाते थे। इसलिये कुछ 'व' को ध्वनि भी आती रही होगी और वह 'क्व् ख्व् ग्व् घ्व्' सा सुनाई पड़ता होगा।

तवर्ग—त् थ् द् ध्

पवर्ग—प् फ् ब् भ्

ऊष्म—स्। यह दो स्वरोंके बीचमें आनेपर 'ज' बोला जाता था। अन्त:स्थ व्यंजन 'न्' और 'म्' ही सब वर्णोंके साथ अनुनासिक व्यंजन बन जाते थे। इसलिये ये कभी-कभी 'ञ' और 'ङ' भी बोले जाते थे और अलग 'न' और 'म' भी।

इस भाषामें कई शुद्ध व्यंजन तो एक साथ आ सकते थे पर मूल स्वर एक साथ एक ही आ सकता था। इन स्वरोंमें अनुनासिकता नहीं थी।

आदिम भाषाकी विशेषता

इस भाषाकी कई विचित्र विशेषताएँ थीं—

१. धातुमें प्रत्यय जोड़कर शब्द बना लिए जाते थे।

२. उसमें उपसर्ग और मध्यग नहीं लगते थे। संज्ञा, क्रिया और अव्यय अलग-अलग होते थे, यहाँतक कि विशेषण और सर्वनाम भी संज्ञा ही माने जाते थे और अव्ययमें भी विकार हो जाता था।

३. तीन वचन (एक, दो और बहु), तीन लिङ्ग (पुं, स्त्री और नपुंसक), क्रियामें तीन पुरुष उत्तम (मैं), मध्यम (तुम) और अन्य पुरुष (वह) होते थे।

४. क्रियामें कार्यका होना और उसका फल बताया जाता था, काल नहीं होता था।

५. संज्ञाओंमें आठ विभक्तियाँ लगती थीं।

६. समास-रचनामें प्रत्यय छोड़ दिए जाते थे।

७. शब्द-रचनामें स्वरके आरोह-अवरोहका बहुत ध्यान रक्खा जाता था। सम्बन्धक योग (प्रत्यय-उपसर्ग आदि) और अर्थंकर योग (शब्द) ऐसे मिल जाते थे कि अलग नहीं हो सकते थे।

८. यह भाषा धातुरूपात्मक या मिलन्त (श्लिष्ट योगात्मक) थी।

संस्कृत-भावित भाषा-परिवार

§ २५१. हिन्द-योरोपीय भाषा-परिवारको संस्कृत-भावित गोत्र ही कहना चाहिए।

मध्य योरप या मध्य एशियासे आर्योंके विस्तारके सिद्धान्तका पहले ही खण्डन करके बताया जा चुका है (§ २२) कि तीन विभिन्न भू-खंडोमें तीन विभिन्न प्रकारकी संस्कृतियोंका अलग-अलग विकास हुआ जिनमें आजतक भी परस्पर पूर्ण समन्वय स्थापित नहीं हो सका। यह सामान्य बुद्धिकी बात है कि मानव जाति चाहे जिस युगमें भी रही हो, सदा जल, भोजन, यातायात

और सुरक्षाकी दृष्टिसे नदियोंके तटपर ही बसती रहीं। यह सुविधा जितनी सप्तसिन्धुकी समतल भूमिमें सम्भव थी उतनी अन्य किसी प्रदेशमें सम्भव नहीं थी। मनुष्यको सर्वप्रथम जल चाहिए, हरा-भरा भू-भाग चाहिए जहाँके फल, फूल या अन्नसे वह अपना पोषण कर सके। भारतकी सम्पूर्ण उत्तर सीमा हिन्दुकुश और हिमालयकी अत्युच्च पर्वत-मालाओंसे घिरी हुई थी। यह देश स्वयं अपनेमें इतना अधिक सर्व-साधन-सम्पन्न था कि यहाँके मूल निवासी आर्योंको जब इधर-उधर बढ़नेकी आवश्यकता भी हुई तो वे पश्चिमकी ओर न बढ़कर पूर्वकी ओर ही बढ़े और उन्होंने पूर्वमें काशी, कोशल और विदेह नामके तीन धर्मराज्य स्थापित किए जिनका परस्पर अत्यन्त घनिष्ठ आध्यात्मिक सम्बन्ध था और जो तत्कालीन भारतीय अध्यात्म-दर्शनके विख्यात केन्द्र थे। इतिहासमें ऐसे सैकड़ों प्रमाण भी पड़े हैं कि अनेक जिज्ञासु, व्यवसायी और आक्रमणकारी भारतमें तो आए किन्तु भारतसे पंजाबके हरिसिंहको छोड़कर और किसीने देश जीतनेके लिये भारतसे बाहर पदार्पण नहीं किया और वह भी केवल अठारहवीं शताब्दीमें अफगानिस्तान-तक ही गया था।

अतः, यह निर्विवाद सत्य है कि वेदके मन्त्रोंका दर्शन करनेवाले, शास्त्रों, उपवेदों और वेदाङ्गोंकी सृष्टि करनेवाले, सर्व मानवीय विद्याओंमें पारमिता प्राप्त करनेवाले वर्णाश्रम-धर्म-संस्थापक आर्योंका मूल निवास-स्थान त्रिसप्त-सिन्धु ही था और वे यदि बढ़े भी तो पूर्वकी ओर बढ़े और उन्होंने सुदूर जावा, सुमात्रा, बालि द्वीपों-तक अपने धर्म, संस्कृति कला, विज्ञान और शौर्यका इतना व्यापक प्रभाव डाला कि उनके लक्षण, प्रमाण और साक्ष्य आजतक उन देशोंके मंदिरों, मूर्तियों, चित्रों और ग्रन्थोंमें प्रचुरताके साथ प्राप्त हैं। अतः, यह निश्चित है कि हिन्द-योरोपीय परिवारकी कहलानेवाली भाषाओंपर प्रभाव डालनेवाली भाषा संस्कृत ही है।

संस्कृत-भावित (हिन्द योरोपीय) भाषा-परिवार

संस्कृत-भावित (हिन्द-योरोपीय) परिवारकी भाषाओंके अनेक नाम प्रचलित हैं। संस्कृत-भावित भाषा-परिवारका क्षेत्र आर्यावर्तसे लेकर पश्चिममें फ़ारस, कौकेशिया, एशिया माइनर, रूस, यूनान, इतालिया, जर्मनी, फ्रांस, इँगलैंड तथा ब्रिटिश द्वीप-समूह-तक व्याप्त है। केवल ऊराल-अल्ताई और बास्क भाषाओंको छोड़कर शेष योरपकी सब भाषाएँ इसके अन्तर्गत समाविष्ट हो जाती हैं। कुछ लोगोंने इसका नाम हिन्द-जर्मन (इण्डो-जर्मानिश), कुछने इण्डो-कैल्टिक, कुछने आर्य-परिवार, कुछने संस्कृत या संस्कृत-परिवार,

कुछने कौकेशीय परिवार, कुछने जफ़ेटिक परिवार और कुछने भ्रमसे भारोपीय परिवार नाम दे दिया है।

जबसे हित्ती भाषाको इस परिवारकी शाखा न मानकर अर्थात् संस्कृत-परिवारकी पुत्री न मानकर उसकी अनुजा मानने लगे हैं तबसे इस भाषा-परिवारको एक नया नाम दिया गया 'भारत-हित्ती' या 'हिन्दो-हित्ती'।

हित्ती भाषा

§ २५२. हित्ती भाषा भी संस्कृत-भावित भाषा थी।

हित्ती भाषाको संस्कृत-परिवारका मानने या संस्कृतकी अनुजाका पद देनेसे पूर्व इसका थोड़ा इतिहास जानना अत्यन्त आवश्यक है। ईसासे लगभग दो सहस्र वर्ष पहले हित्ती जातिने सुरिया (सीरिया) में अपना प्रभाव जमा रक्खा था जिन्हें प्राचीन मिस्रके लोग 'खेत' और असुरी लोग 'खेता' कहते थे। एशिया माइनर प्रदेशमें बोघ़ज़केउई नामक स्थानपर १४०० ई० पू० के लेखसे ज्ञात होता है कि उसके पूर्वसे ही हित्ती लोग एशिया माइनरमें शासन करते थे। मित्तानी या उत्तरी मैसापोतामियाके शासकोंके साथ इन हित्तियोंका सदा युद्ध हुआ करता था। अन्तमें मित्तानियों और हित्तियोंने परस्पर संधि कर ली। उपर्यंकित प्राचीन लेखमें दोनों जातियोंके राजवंशोंकी उपास्य देव-देवियोंका परिचय भी प्राप्त होता है। इस लेखसे यह भी ज्ञात होता है कि हित्तियोंके प्रतिपक्षी मित्तानी लोग मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्य-युगल (अश्विनीकुमार) आदि वैदिक देवताओंके उपासक थे। हित्ती लोग निश्चय ही क्षत्रिय थे। इसीसे इनका नाम बिगाड़कर मिस्री लोग 'खेत' और असुरियावाले 'खेता' कहते थे। हमारे यहाँ ही पालि और प्राकृतोंमें 'क्षत्रिय' लोग 'खत्तिय' कहलाते थे। ये उस क्षेत्रके ही प्राचीन निवासी थे। इसी प्रकार मित्तानी लोग भी आर्य संस्कार-भावित क्षत्रिय थे जो मित्रा-वरुणकी उपासनाके कारण वैसे ही मित्रावरुणीय (मित्तानी) थे जैसे विष्णुकी उपासना करनेवाले वैष्णव और शिवकी उपासना करनेवाले शैव कहलाते हैं।

सन् १३४० ई० पू० में हित्ती लोगोंको मिस्रके द्वितीय रामसेने पराजित कर दिया और उनकी राजधानी क्देश या कदमको नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। कुछ पुरातत्त्व-विदोंका अनुमान है कि ओरंती नदीके वाएँ तटपर वर्तमान तेल-नबिमहन्दी नामका जो विस्तीर्ण ध्वंसावशिष्ट क्षेत्र है वहीं किसी समय इन हित्तियोंकी राजधानी थी। पर्वतके ऊपर स्थित ओरन्तीके बाँध तथा प्राचीन

परिखाको देखनेसे ही प्रतीत होता है कि यह राजधानी कितने प्रचण्ड और दुर्भेद्य दुर्गमें समवस्थित थी।

हित्तियोंके अभ्युदय-कालमें उनकी कीलाक्षर-लिपि ही एशियाके पश्चिमी भाग और योरपके पूर्वीय भूभागमें प्रचलित थी। वास्तवम १८३५ ई० पू० में शालमनेसरने सभी हित्ती राजाओंको परास्त कर दिया था। तभीसे इस जातिका पतन प्रारम्भ हुआ। असुर राजा सारगोनके समय ७१७ ई० पू० में हित्ती राजा पिसरीके पतनके साथ हित्ती राज्य भी विलुप्त हो गया, उनकी लिपि भी समाप्त हो गई और उसके स्थानपर असुरियाकी नोकदार लिपि चल पड़ी। एशिया माइनर और साइप्रसके अनेक स्थानोंमें हित्तियोंके प्राचीन गौरवके ध्वंसावशेष आज भी दिखाई देते हैं।

बाइबिलके अनुसार सुरिया ही हित्तियोंका वास्तविक क्षेत्र था। ये हित्ती लोग एशिया माइनर और सुरियाके अधिक भागपर ईसासे पूर्व २००० से १२०० ई० पू०तक शासन करते रहे और उन्होंने उस सम्पूर्ण प्रदेशपर अपनी विशिष्ट सभ्यताकी छाप डाल दी थी।

१५०० ई० पू० से ११९० ई० पू० तक 'खेता' (हित्ती) जातिके लोग सुरियापर अधिकार करके मिस्रसे निरन्तर लड़ते रहते थे। मिस्रके राजा फराओ थुतमोसिस तृतीय (१५०१ से १४४७) ने ऊपरी फ़रात नदीतक सुरियाको जीत लिया और उसे 'खेता' राजा उपहार भी देने लगे थे। हित्तियोंके अट्ठारहवें राजवंशके शासकोंने सुरियापर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया था। मिस्रके राजाओंके साथ उनका युद्ध चलता रहता था विशेषत: उन्नीसवें फ़राओ राजा सेती प्रथम (१३१३ से १२५२ ई० पू०) और रामसे द्वितीय (१२५२ से १२२५ ई० पू०) के साथ। १२८८ ई० पू० के लगभग मिस्रियों और हित्तियोंमें ओरन्ती नदीके तटपर कदेश नगरके पास घोर युद्ध हुआ जिसमें १२७२ ई० पू०में मिस्रके रामसे द्वितीयने हित्ती राजा खत्तूशिलिश (क्षात्रशील) तृतीयके साथ संधि करके १२५९ ई० पू० में उसकी एक कन्याके साथ विवाह कर लिया। इस अवसरपर हित्ती राजा स्वयं मिस्र भी गए थे। ११९० ई० पू० के लगभग हित्ती राज्य समुद्री जातियोंके आक्रमणसे ध्वस्त हो गया।

कीलाक्षरी शिलालेखोंमें खत्ती (हित्ती) जातिके उन राजाओंका विवरण मिलता है जिन्होंने अपने शौर्यसे बाबुल-वासियों, असुरियों और मिस्रियोंको द्वितीय और प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० में त्रस्त कर रक्खा था। बाबुल-

वासियोंके इतिहासके अनुसार १७५८ ई० पू० के लगभग अक्काद-बाबुलोनके राजा म्ससुदितानको परास्त करके इन हित्तियोंने खम्मूरवी राजवंशको समाप्त कर दिया। अमर्नाके शिलालेखोंसे स्पष्ट है कि १४०० ई० पू० के लगभग सुरियामें खत्ती शासक ही प्रतापी थे। १२ वीं शताब्दी ई० पू० में 'हित्ती साम्राज्य' शब्दका प्रयोग असुरी राजाओंके शिलालेखोंके अनुसार केवल ऊपरी फ़रात नदीके कारशेमिश राज्यके लिये ही प्रयुक्त होता था किन्तु सम्पूर्ण सुरियाके लिये भी उसका प्रयोग होता रहा। यह सत्य है कि सारगोन द्वितीयने ७१७ ई० पू० में कारशेमिशके खत्ती राज्यको समाप्त कर दिया था फिर भी नवीन बाबुलोनके राजा नबूखदनज़र द्वितीय (६०४ से ५६२ ई० पू०) ने सुरियाको 'खत्ती' ही कहा है।

'खत्ती' और 'हित्ती' शब्द निश्चित रूपसे 'क्षत्रिय' का अपभ्रंश है। यह जाति भारतीय न होनेपर भी अपने शौर्यके कारण भारतीय प्रतापी क्षत्रियोंके नामपर अपना नाम क्षत्रिय रक्खे हुए थी। वह स्वतन्त्र तथा वरिष्ठ मानव-जाति भारतीय आर्योंसे उनकी नैतिकता, वीरता, सभ्यता, संस्कृति और कलाकी पराकाष्ठा प्राप्त कर लेनेपर भी उस प्रदेशकी अन्य संघर्ष-शील जातियोंके साथ युद्धमें पड़कर मिस्र, बाबुल, सुरिया, असुरिया, यूनान और रोमके समान नष्ट-भ्रष्ट होकर समाप्त हो गई। उनकी भाषा भी लातिन तथा यूनानीके समान संस्कृत-भावित भाषा ही थी।

उपर्युक्त विवरणसे स्पष्ट है कि हित्ती लोग एशिया माइनर और उसके पड़ोसी प्रदेशोंमें रहते थे। उन्नीसवीं शताब्दीमें जब असाधारण शैलीके स्मारक और अज्ञात चित्र-लिपिमें लिखे हुए शिलालेख सुरिया और कमाज़िनमें ओरन्ती नदीके तटपर हामामें, अलेपोमें, फ़रात नदीके तटपर पेराब्लसमें, मरास और मतालियामें वैसे ही मिलने लगे जैसे बोघ़ज़केउई और एडयुकमें, तौरस पहाड़ोंमें, बोर, इवरिज़ और बुलगारमादिनमें तथा पश्चिमी एशिया-कोचकमें तथा मगनिशियाके पास सिपुलोसमें मिलने लगे तब स्वभावतः यह मान लिया गया कि इनका सम्बन्ध हित्तियोंसे है। स्थानीय स्मारकों और मिस्रमें पाए जानेवाले हित्तियोंके उभरे हुए चित्रोंसे हित्ती जातिके शारीरिक वैभवका भी भली प्रकार ज्ञान हो जाता है कि उनकी गोलाकार नाक और पीछेको ढलता हुआ माथा इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि ये हित्ती लोग न तो सामी जातिके थे और न हिन्द-योरोपीय जातिके। हित्तियोंकी चित्र-लिपि भी मिस्रियोंकी चित्र-लिपिसे भिन्न ऐसी चित्रात्मक लिपि

थी जिसके अनेक अक्षरों या प्रतीकोंके अर्थ अभीतक अज्ञात हैं। काल-क्रमानुसार बहुतसे प्रतीक विकृत भी हो गए।

उनके लिखनेकी पद्धति विचित्र थी। वे दाहिनेसे बाएँ (या बाएँसे दाएँ) एक पंक्ति लिखनेके पश्चात् दूसरी पंक्ति उधरसे ही प्रारम्भ करते थे जहाँ पहली पंक्ति समाप्त होती थी अर्थात् बाएँसे दाएँ (या दाएँसे बाएँ) और उस पंक्तिमें जो चित्र या सिर बनाए जाते थे उसका मुँह उधर ही होता था जिधरसे पंक्ति प्रारम्भ होती थी। अभीतक इस लिपिके दो सौ अक्षरोंका परिचय मिल पाया है। बोघ्ज़केउईमें राजा शुकपिलुलिउमस (१३८५ ई० पू०) की मुद्राके लेखसे (जो कीलाक्षर और चित्रलिपि दोनोंमें लिखा हुआ है) यह सिद्ध होता है कि यह चित्रलिपि चौदहवीं शताब्दी ई० पू० में भी प्रयुक्त होती थी। निश्चय ही यह लिपि बहुत प्राचीन थी क्योंकि हित्तियोंके प्रधान नगर खत्तुशास-बोघ्ज़केउईके समीप हित्ती राज-पत्रागार यासिलीकायामें इसका प्रयोग हुआ है। अतः, इस लिपिका आविष्कार द्वितीय सहस्राब्दोके प्रथम अर्द्धांशमें माना जा सकता है। हित्तियोंने इस लिपिका प्रयोग अपने शिला और, प्रस्तर-स्मारकोंपर भी किया था विशेषतः पत्थर और धातुकी मुद्राओंपर। यह उनकी स्मारक लिपि है जिसका वे अपने नित्यके व्यवहारके लिये पुस्तकालयोंके लिये तथा राजकीय पत्राचारके लिये प्रयोग करते थे जैसा कि बोघ्ज़केउइके राजकोय पत्रागारसे स्पष्ट है जिसमें मट्टीके खपड़ोंपर कीलाक्षर लिपिमें लेख मिलते हैं। हित्ती चित्रलिपिके अक्षरोंके परिचयके निमित्त एफ़० ई० पीसर, ए० एच० सेइस, पी० जेन्सन, ए० ग्लेयी, आर० सी० टौम्सन, ए० ई० कौले और सी० फ्रैंकने बड़ा परिश्रम किया किन्तु उनका परिणाम किसीको मान्य नहीं हुआ। वास्तवमें यह था भी बड़ा कठिन काम क्योंकि संक्षिप्तता, लोप और अस्पष्टताके कारण इससे अधिक सहायता नहीं मिल रही है।

बर्लिनके असुरिया - प्राच्य-विद्यावेत्ता ह्यूगो विंकलरने अंगोरासे १४५ कि० मी० पूर्वमें खुदाई करके बोघ्ज़केउईके ध्वंसावशेषोंमें कीलाक्षरोंमें लिखित मट्टीके खपड़े प्राप्त किए थे जिनका सम्बन्ध हित्तियोंसे था। विंकलरने १९०६–७ और १९११–१२ में खुदाई करके दस हजार खण्डित और पूर्ण ऐसे कीलाक्षरी खपड़े प्राप्त किए जिनका सम्बन्ध खत्ती राजाओंके राजलेखोंसे था। उसने यह सिद्ध किया कि हित्ती साम्राज्यकी राजधानी बोघ्ज़केउइ ही थी। इन मिट्टीके खपड़-लेखोंमेंसे बहुत कम ऐसे थे जो बाबुलोनी

भाषा और बाबुलोनी कीलाक्षरी लिपिमें लिखे हुए हों। इन खपड़-लेखोंमें खत्ती राजाओंके सन्धिपत्र और राजनीतिक पत्र भी थे। आजकल जैसे योरपकी सर्वप्रयुक्त भाषा फ्रांसीसी है उसी प्रकार द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० में बाबुलोनी भाषा ही अन्तः-प्रादेशिक भाषा थी किन्तु ये अधिकांश खपड़-लेख बाबुलोनी कीलाक्षरोंमें लिखे जानेपर भी हित्ती भाषामें लिखे हुए थे।

हित्ती : हिन्द-योरोपीय भाषा

सन् १९१३ में विकलरकी अकाल मृत्यु हो जानेपर जर्मन ओरिएण्टल सोसाइटीने यह कार्य अन्य विद्वानोंको सौंप दिया जिनमे वियना विश्वविद्यालय-के प्रोफेसर बेडरिख और ह्रोज्नी प्रमुख थे। बहुत परिश्रमके पश्चात् ह्रोज्नीने हित्ती भाषाके अधिकांश रूप खोज निकाले और उनके आधार-पर उन्होंने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि हित्ती भाषा भी हिन्द-योरोपीय गोत्रकी भाषा है। किन्तु जैसा पहले बताया जा चुका है कि हित्ती भाषा एक विशेष भौगोलिक क्षेत्रकी भाषा थी जिसपर भारतीय आर्यों और उनकी संस्कृतिका ऐसा प्रभाव पड़ा था कि उसके कारण उन्होंने अपनेको युद्धशील होनेके कारण क्षत्रिय कहना और कहलाना प्रारम्भ किया। अतः, हित्ती भाषा न तो संस्कृत गोत्रकी भाषा है, न उसकी पुत्री, न उसकी बहन वरन् लातिन और यूनानीके समान संस्कृत-भावित मात्र है।

हिन्द-हित्ती भाषाएँ

जो लोग इस संस्कृत-भावित गोत्रकी भाषाका नाम हिन्दी-हित्ती या हिन्द-योरोपीय-हित्ती मानते हैं उन्होंने इस भाषाका काल २४०० ई० पू० के पूर्व माना है। कुछ विद्वानोंने इसका अस्तित्व २९०० और २४०० के बीच माना है। उनका मत है कि २४०० ई० पू० के लगभग इससे दो शाखाएँ निकलीं—अनातोली और संस्कृत-भावित (हिन्द-योरोपीय)।

अनातोली भाषा-परिवारसे ६ मुख्य भाषाएँ पल्लवित हुईं— लुदिआइ (लिडियन), लुसियाइ (लिसियन), चित्रलिपिक हित्ती (हिअरोग्लिफ़िक हित्ती), पलेई (पलेइक), लुबिआई (लुबियन) और हित्ती (हित्ताइत)। ये छह भाषाएँ पश्चिमी एशियामें ही फलती रहीं। कुछ विद्वानोंने इन सबका सम्बन्ध कौकेशी भाषासे माना है। कुछ विद्वानोंने ऐसी अनेक लुप्त भाषाओंको मिलाकर उन्हें 'एशियानिक'की संज्ञा दी है।

कुछ विद्वानोंने हित्तीके कुछ शब्दोंको विशेषतः वैदिक देववाची शब्दोंके समान उच्चरित हित्ती शब्दोंका उल्लेख करके उसे संस्कृत-गोत्रका बताकर उससे

सम्बन्ध सिद्ध करनेके प्रयत्न किया है किन्तु जैसा पहले (§ २५१) कहा गया है कि ये भाषाएँ संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृतिसे प्रभावित थीं इसलिये इनमें कुछ शब्द संस्कृतके आ गए हैं, जैसे—सूर्यश (सूर्य), मरुत्तश (मरुत), इन्दर (इन्द्र), उर्वरण (वरुण) आदि।

हित्ती भाषाकी विशेषताएँ

हित्ती भाषाकी निम्नांकित विशेषताएँ बताई गई हैं—

१. हित्ती भाषा ध्वनि-साम्य आदिकी दृष्टिसे लातिनसे मिलती-जुलती है इसीलिये यह केन्तुम वर्गमें आती है।

२. हित्ती भाषाकी 'ह' ध्वनि अन्य संस्कृत-भावित भाषाओंमें नहीं मिलती। इसके 'म' और 'न' का प्रयोग भी विचित्र है।

३. केवल छह कारकोंका प्रयोग होता था।

४. पुंलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग दो ही लिङ्ग थे।

५. तीन वचन होते हुए भी द्विवचनका प्रयोग कम होता था और सब शब्दोंके बहुवचन भी नहीं थे।

६. केवल वर्त्तमान और भूत काल थे। अन्य कालोंका निर्देश सहायक क्रियासे किया जाता था।

७. लकार केवल दो थे—निश्चय और आज्ञा।

८. क्रिया और संज्ञा दोनोंमें शब्दावृत्ति होती थी।

९. यह सुविकसित भाषा थी क्योंकि इसमें संयुक्त और विकीर्ण दोनों प्रकारके शब्दोंका प्रयोग मिलता है।

१०. इसके साहित्यमें शालिहोत्रके समान घोड़ोंकी विद्याका एक विशेष ग्रन्थ प्राप्त है।

संस्कृत-भाषा-भाषियोंका मूल स्थान

§ २५३. संस्कृत-भाषी आर्योंका मूल स्थान भारतमें सप्तसिन्धु ही था।

संस्कृत-भाषा-भाषी आर्योंका कौन मूल स्थान था इस विषयमें निम्नांकित मत विचारणीय हैं—

१. इनका मूल स्थान भारतमें था। एल० डी० कल्लाने कश्मीरमें, डा० गङ्गानाथ झाने ब्रह्मर्षि देशमें, डी० एस० त्रिवेदीने मुल्तानमें, अविनाशचन्द्र दासने सरस्वती नदीके तटपर पञ्जाबमें हिमालयके पास और डा० सम्पूर्णानन्दने सप्त-सिन्धुमें संस्कृत-भाषी आर्योंका मूल निवास-स्थान माना है।

जो विद्वान् इसे भारतका नहीं मानते उनका कथन है कि आर्य-परिवारकी अधिकांश भाषाएँ योरप और एशियाके सीमान्त या योरपमें हैं। इसका उत्तर दिया जा चुका है कि संस्कृत विद्याओंके उधर प्रवेशके कारण ही अपभ्रष्ट रूपमें संस्कृतके शब्दोंका वहाँ प्रचार हुआ और वह पूरा क्षेत्र सङ्घर्ष-शील युद्ध-रत जातियोंका क्षेत्र था। कुछ लोगोंने यह आपत्ति उठाई है कि यदि भारतमें इनका मूल स्थान होता तो दक्षिणमें भी यह भाषा-परिवार मिलता। इसका भी उत्तर दिया जा चुका है कि दक्षिणकी विभिन्न भाषाएँ भौगोलिक परिस्थितिमें अलग-अलग पनपीं, अलग-अलग विकसित हुईं किन्तु उन सबपर संस्कृतकी संस्कृतिका ऐसा प्रभाव पड़ा कि समस्त भारतमें भाषाकी विभिन्नता होते हुए भी प्राचीन कालसे ही सांस्कृतिक अखण्डता यहाँ व्याप्त रही। जो लोग मोहनजो दड़ोका काल ऋग्वेदसे पूर्व मानते हैं वे स्वयं भ्रममें हैं। ऋग्वेद उससे बहुत पूर्वका है। वहाँकी भाषाका अभीतक कोई स्पष्टीकरण भी नहीं हो सका। वह निश्चय ही द्राविड-परिवारकी भाषा नहीं थी। यदि वह द्राविड-भाषा-परिवारकी होती तो उसकी लिपि किसी न किसी द्राविड लिपिसे अवश्य मिलती और अबतक पढ़ ली गई होती। वह भी लिथुआनी या हित्ती भाषाके समान अलग भौगोलिक परिधिमें विकसित हुई। आर्योंके आदि स्थानके सम्बन्धमें उपर्यंकित मत के अतिरिक्त जो प्राप्त हैं उनमेंसे बाल-गंगाधर तिलक और सरदेसाईके सिद्धान्तोंका व्यापक खण्डन हो चुका है।

२. माक्सम्यूलरने पामीर पठार या मध्य एशिया माना था।
३. डा० लाथमने स्कैण्डीनेविया माना था।
४. सेरगीने एशिया माइनरका पठार माना है।
५. लोकमान्य तिलकने उत्तरीय ध्रुवके आस-पास माना है।
६. सरदेसाईने बालकल झीलके पास रूसमें माना है।
७. डा० गाइल्सने हंगरीमें कारपेथियन पर्वतके पास माना है।
८. हर्टने हौलैण्डमें विश्चुला नदीके तटपर माना है।
९. कुछ विद्वानोंने जर्मनी माना है।
१०. नेहरिंगने दक्षिणी रूस माना है।
११. मुच आदि विद्वानोंने पश्चिमी बाल्टिक तट माना है।
१२. कुछ विद्वानोंने लुथिआनियाको माना है।
१३. कुछ विद्वानोंने तिब्बत (त्रिविष्टप) माना है।

१४. प्रो० श्राडेरने वौलगा नदीके मुहानेपर कैस्पियन सागरके उत्तरीय तटपर माना है।

१५. कुछने बाल्टिक सागरके दक्षिण-पूर्वी तट, मैसोपोतामिया (दजला-फ़रात नदीके तटपर) दक्षिण-पश्चिमी या उत्तरी रूस, एशिया, डैन्यूब नदीका तट तथा रूसी तुर्किस्तान माना है।

१६. ब्राण्डेस्टौइनने ऊराल पर्वतके दक्षिण-पूर्व भागका खिरगीज़ मैदान माना है।

१७. आचार्य चतुर्वेदीका मत है कि भारतका सप्तसिन्धु प्रदेश ही इन सब हिन्द-योरोपीय भाषाओंको भावित करनेवाली वैदिक संस्कृत भाषाका मूल स्थान है।

संस्कृत-भावित (हिन्द-योरोपीय) भाषा-गोत्रकी विशेषताएँ

§ २५४. संस्कृत-भावित या हिन्द-योरोपीय भाषाओंमें बाहरसे प्रत्यय लगाए जाते हैं, उनमें एकाक्षरी धातुएँ होती हैं और प्रत्ययोंकी प्रचुरता होती है।

संस्कृत भावित (हिन्द-योरोपीय) भाषा-गोत्रकी जितनी भाषाएँ बताई जाती हैं इनमें प्रायः निम्नाङ्कित लक्षण समान रूपसे प्राप्त होते हैं—

१. ये सभी भाषाएँ धातुरूपात्मक या मिलन्त (श्लिष्ट-योगात्मक या इन्फ़्लेक्शनल) हैं जिनमें बाहरसे धातु-प्रत्यय और विभक्ति-प्रत्यय जोड़े जाते हैं किन्तु उन प्रत्ययोंका अपना कोई अर्थ नहीं होता।

२. इस गोत्रकी भाषाएँ प्रारम्भमें सप्रत्ययोपसर्ग या जुटन्त (संयोगात्मक या एग्ल्यूटिनेटिव) थीं किन्तु पीछे चलकर ये सभी भाषाएँ विकीर्ण या अलगन्त (अयोगात्मक या अश्लिष्ट) होकर ऐसी बिखरती गईं कि उनमें अलग-अलग परसर्गों और क्रियाओंकी सहायतासे भाव स्पष्ट करना आवश्यक हो गया।

३. इस गोत्रकी भाषाओंके शब्द एकाक्षरी धातुओंसे बनते हैं जिनमें कृत् और तद्धित नामक दो प्रकारके प्रत्यय लगाकर शब्द और पद बनाए जाते हैं।

४. इस गोत्रकी भाषाओंके शब्दोंसे पूर्व 'वि, आ, नि' आदि जो उपसर्ग लगाए जाते हैं उनसे शब्दोंका अर्थ बदल जाता है।

५. इस गोत्रकी भाषाओंमें समस्त पदोंका प्रयोग अधिक होता है।

६. इस गोत्रकी भाषाओंकी क्रियाओंमें स्वरके परिवर्तनसे शब्दका रूप ऐसा बदल जाता है कि इससे उस शब्दके कालवाची अर्थमें परिवर्तन

हो जाता है, जैसे—'गच्छति, गच्छतु, गच्छेत्' आदि।

७. इस गोत्रको भाषाओंमें प्रत्ययोंकी प्रचुरता है।

'कैन्तुम् और सतम् वर्ग'

§ २५५. विद्वानोंने हिन्द-योरोपीय भाषाओंको दो वर्गोंमें विभक्त किया है—कैन्तुम् और सतम्।

कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि आदिम हिन्द-योरोपीय भाषा-भाषी मानव-समुदाय ज्यों-ज्यों अलग-अलग होकर विभिन्न प्रदेशोंमें जाकर रहने लगा त्यों-त्यों उसकी भाषाओंमें भी उच्चारण-सम्बन्धी बहुतसे परिवर्तन होने लगे। सन् १८७० में अस्कोली महोदयने बताया था कि इन उपर्यंकित समस्त हिन्द-योरोपीय गोत्रकी भाषाओंमेंसे कुछमें आदिम हिन्द-योरोपीय भाषाकी कण्ठ्य ध्वनियाँ (क, ख, ग, घ) तो ज्योंकी त्यों रह गईं और कुछमें वे ऊष्म (श स) बन गईं। इसी आधारपर हिन्द-योरोपीय गोत्रकी भाषाओंको दो वर्गोंमें विभक्त कर दिया गया—कैन्तुम् और सतम्। यह नाम इस कारण दिया गया कि 'शत' (सौ) शब्दके लिये हिन्द-योरोपीय गोत्रकी भाषाओंमें जितने शब्द मिलते हैं उनमें यह भेद स्पष्ट दिखाई पड़ जाता है। (सौ) शब्दके लिये आवेस्तामें (सतम्) शब्दका प्रयोग हुआ है और लातिनमें (कैन्तुम्) शब्दका। इन दोनों वर्गोंमें 'सौ'के लिये जो शब्द प्रयुक्त होते हैं उन्हें देखनेसे ये भेद अधिक स्पष्ट हो जाते हैं—

केन्तुम् वर्ग		सतम् वर्ग	
लातिन	केन्तुम्	संस्कृत	शतम्
इतालवी	कैन्तो	अवेस्ता	सतम्
फ्रेंच	केन्त	फ़ारसी	सद
ब्रीटन	कैण्ट	हिन्दी	सौ
ग्रीक	हेक्तोन	रूसी	स्तो
गैलिक	क्युड	बल्गेरियन	सुतो
तोखारी	कन्ध	लिथुआनी	स्जिम्तास

पहले तो बहुतसे विद्वान् मानते थे कि पश्चिमी प्रदेशोंकी भाषाओंको 'कैन्तुम्' और पूर्वीय प्रदेशोंकी भाषाओंको 'सतम्' वर्गका मान लेना चाहिए किन्तु १९ वीं शताब्दीके अन्तिम चरणमें पूर्वमें हित्ती और तोखारी नामक दो

ऐसी भाषाओंका परिचय प्राप्त हुआ जिनमें 'स'के बदले 'क' आता है। अतः, वह पूर्व और पश्चिमवाला भेद अमान्य कर दिया गया।

कैन्तुम् वर्ग

§ २५६. कैन्तुम् वर्गके अन्तर्गत पाँच भाषा-वर्ग आते हैं—कैल्टिक, ट्यूटोनी, लातिन, हेलेनी और तोखारी।

कैन्तुम् वर्गमें निम्नाङ्कित भाषाएँ आती हैं—

१. कैल्टिक : आयरलैण्ड, वेल्स, स्कौटलैण्ड, मान द्वीप, ब्रिटैनी और कार्नवालकी भाषाएँ जिनका लातिन भाषाओंसे बहुत सम्बन्ध है।

कैल्टिक भाषाकी तीन शाखाएँ हैं—क. गालिक, ख. ब्रिटानी या ब्रिथोनिक, ग. गोइडैलिक या गाइलिक। ब्रिटानिकमें भी तीन भाषाएँ आती हैं—क. सिमरिक या वेल्श, ख. कार्निश, ग. ब्रोटन या आर्मोरिकन। गोइडैलिकमें भी तीन भाषाएँ आती हैं—च. आयरिश, छ. स्कौच् और ज. मैंक्स।

२. ट्यूटोनी भाषा ही हिन्द-योरोपीय परिवारकी सबसे बड़ी शाखा है जिसे जर्मनिक भी कहते हैं। इसमें ठेठ जर्मनीकी भाषाको उच्च जर्मन (हाइ जर्मन) और शेष सब भाषाओंको निम्न जर्मन (लो जर्मन) कहते हैं। इस वर्गकी भाषाएँ धीरे-धीरे संयुक्त या जुटन्तसे विकीर्ण या अलगन्त होती चली जा रही हैं।

ट्यूटोनी वर्गकी दो शाखाएँ हैं—१. पश्चिमी और २. पूर्वी।

पश्चिमीमें प्राचीन सैक्सन (कौण्टिनेण्टल सैक्सन, ऐंग्लो-सैक्सन या अँगरेजी); प्राचीन (उत्तरी, पूर्वी, पश्चिमी) फ्रिज़ियन, उत्तरी नीची फ्रैंक (डच, फ्लेमिश, बारबन) और मध्य फ्रैंक तो नीची जर्मन (लो जर्मन) भाषाएँ कहलाती हैं और दक्खिनी फ्रैंक और प्राचीन उच्च जर्मन (बवेरी स्वाबी और अलबानी) भाषाएँ ऊँची जर्मन (हाइ जर्मन) कहलाती हैं।

पूर्वी शाखामें (क) उत्तरी ट्यूटोनी अर्थात् पूर्वी नौर्स (स्वीडी, डेनी), पश्चिमी नौर्स (नौर्वेजी, आइसलैण्डी) और (ख) गोथिका भाषाएँ आती हैं।

३. लातिन वर्गके दो समुदाय हैं—लातिन (इतावली) और आम्ब्रोसैम्निती या हैलेनी।

क. लातिन वर्गमें शुद्ध लातिन और प्राकृत लातिन (लिंगुवा रोमान) हैं जिनके अन्तर्गत इतालवी, रैतोरोमी, रोमानी, प्रोवोंसल, स्पेनी, पुर्तगाली, फ्रांसीसी और सेफ़ार्दी भाषाएँ आती हैं।

ख. आम्ब्रोसेम्नितीके अन्तर्गत आम्ब्री, पिसेन्ताई, सेबाई मार्सी, वोलस्की औस्की आदि भाषाएँ आती हैं।

४. हैलेनी शाखामें पाँच भाषाएँ हैं—

(क) डोरिक : जिसमें लेकानो, मैसेनी, कोरिन्थियाई, मैगारी और क्रीटी आदि आती हैं।

(ख) उत्तर-पश्चिमी : जिसमें फोक्सीय, लोक्रीसो और एलिसो आदि हैं।

(ग) एओली : जिसमें उत्तरी थैसाली, एओलिसी, बोइओदियाई आदि हैं।

(घ) आर्केदी।

(ङ) इयोनो–अत्तिक (इयोनी और अत्तिकी) है।

४. तोखारी भाषा शक या तोखरी जातिकी भाषा समझी जाती है जो द्वितीय शताब्दी ई० पू० में मध्य एशियापर शासन कर रहे थे। इसमें सन्धिके नियम संस्कृत-जैसे हैं और विभक्तियाँ भी आठ हैं। संख्याओंके नाम भी हिन्द-योरोपीय गोत्रकी भाषाओंसे मिलते हैं।

सतम् वर्ग

§ २५७. सतम् वर्गकी पाँच भाषा-शाखाएँ मानी जाती हैं—इलीरियाई, बाल्टीय, स्लोवानी, आरमीनी, आर्य।

१. इलीरियाई भाषाओंके बोलनेवाले अद्रियाटिक सागरके तटपर इटलीके दक्षिण पूर्व-तक फैले थे। अब इस भाषाका नाम-भर रह गया है। इसकी दो शाखाएँ थीं—

क. इलीरियाई : जिसमें बैनेतियाई और लिबर्नियाई थीं।

ख. एपिरात : जिसमें अल्बानी (घेघ और टोस्क) और मैसापी भाषाएँ आती हैं।

२. बाल्टीय या लैट्रिकके भीतर तीन भाषाएँ आती हैं—

क. पुरानी प्रशियाई, ख. लिथुआनी और ग. लैट्टिश।

३. स्लोवानी भाषाओंकी तीन शाखाएँ हैं—

क. पूर्वी शाखा : जिसके अन्तर्गत बृहत्, श्वेत और लघु रूसी भाषाएँ आती हैं।

ख. पश्चिमी शाखा : जिसमें जेक (बोहीमियाई और स्लोवाकियाई), सर्बियाई और लेकिश (पोलिश और पोलाविश) भाषाएँ आती हैं।

ग. दक्षिणी शाखामें बलगेरी और इलीरी (सर्बोक्रोतियाई और स्लोवानी) भाषाएँ आती हैं।

४. आरमीनी शाखामें दो भाषाएँ आती हैं—

क. फ्रीजियाई और ख. आरमीनी, जिसमें प्राचीन और वर्तमान (अरारात और स्तम्बोल) भाषाएँ आती हैं।

५. आर्य-भाषाएँ।

आर्य-भाषा (हिन्द-ईरानी या भारत-ईरानी)

§ २५८. ईरानी भी संस्कृतकी एक प्राकृत है।

आर्य-भाषा-गोत्रकी दो बड़ी शाखाएँ मानी गई हैं—क. भारतीय और ख. ईरानी। पर इन दोनोंको अलग-अलग शाखा मानना ठीक नहीं है। ईरानी भाषा तो संस्कृतकी वैसी ही प्राकृत है जैसे महाराष्ट्री, शौरसेनी आदि थीं और जो अरबी लिखावटमें लिखी जानेसे अलग मानी जाने लगीं।

§ १५८. आर्य भाषा-शाखामें ईरानी, दरद और भारतीय भाषाओंकी गणना होती है।

आर्य भाषा-शाखामें तीन भाषाएँ आती हैं--क. ईरानी, ख. दरद और ग. भारतीय।

इरानीमें दो शाखाएँ हैं—पूर्वी और पश्चिमी।

पूर्वी ईरानीमें दो भाषाएँ आती हैं—(क) मोग्दियाई या पामीरी भाषाएँ; (ख) अवेस्ता जिसमें बर्गेस्ता, पश्तो (पश्तो और पख्तो), देवारी, बलूची, ओसेती, कुर्दी और पहलवी (हुज्वारेश और पाजन्द) आती है जिससे आजकी फ़ारसी निकली है। पश्चिमीमें मीदियाई और पुरानी फ़ारसी आती है।

दरदमें तीन भाषाएँ आती हैं--क. खोवार (चित्राली आदि) ख. काफ़िरी और ग. दरद। दरदमें (क) शीना (गिलगिटी और ब्रोक्या), (ख) कश्मीरी (कश्मीरी और कष्टवारी), (ग) कोहिस्तानी (मैया, तोखारी और गावी) भाषाएँ आती हैं।

भारतीय भाषाओंका काल-विभाजन

§ २५९. भारतीय भाषाओंको चार कालोंमें विभक्त किया गया है—प्राचीन, मध्य, उत्तर और वर्त्तमान।

कुछ विद्वानोंने भारतीय भाषाओंको चार युगोंमें विभक्त किया है—

१. प्राचीन भारतीय भाषाकाल (ईसाके पूर्वसे लेकर ५०० ईसवी तक)।

२. मध्यकालीन भाषाकाल (५०० ईसवीसे लेकर १२०० तक)।

३. उत्तरकालीन भाषाकाल (१२०० ईसवीसे १७०० तक)।

४. वर्त्तमान भाषाकाल (१७०० ईसवीसे लेकर आजतक)।

प्रथम कालमें वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, सूत्र आदिकी वैदिक संस्कृत और काव्यकी संस्कृत आती है। मध्यकालके प्रथम भागमें पालि और अर्धमागधी नामक कृत्रिम भाषाएँ तथा द्वितीय कालमें पैशाची, खोतानी, कैकय, खश, मागधी, लाटी, शौरसेनी, अर्धमागधी, मागधी, महाराष्ट्री और नागर प्राकृतें आती हैं। उत्तरकालीन भाषाकालमें सब अपभ्रंश भाषाएँ आती हैं और वर्त्तमान कालमें आजकलकी सब देशी भाषाएँ आती हैं।

§ २६०. भाषाओंके वर्गीकरणका आधार वर्णसाम्य, शब्दसाम्य और वाक्य-विन्यास-साम्य होना चाहिए।

आचार्य चतुर्वेदीका मत है कि भाषाओंका यह वर्गीकरण ठीक नहीं है क्योंकि एक शब्दके अक्षरके दो रूप मिलने मात्रसे किसी भाषाको एक वर्गमें बाँध देना कोई तुककी बात नहीं है। सतम् वर्गको ही लीजिए। इसमें आवेस्ता, फ़ारसी, संस्कृत और हिन्दीका तो एक गोत्रमें रहना ठीक है किन्तु रूसी, बलगेरी और लिथुआनीकी तो प्रकृति ही पूर्णतः भिन्न है। अतः, इस प्रकार वर्गीकरण न करके शुद्ध रूपसे तीन आधारोंपर वर्गीकरण करना चाहिए—

१. वर्णसाम्य : जिन भाषाओंकी वर्ण-ध्वनियाँ एक समान हों उन्हें एक वर्गमें रक्खा जाय। इस दृष्टिसे टवर्गवाली और बिना टवर्गवाली भाषाओंके दो वर्ग बना सकते हैं।

२. शब्द-साम्य : जिन भाषाओंमें एक पदार्थ या क्रियाके लिये आनेवाले शब्द एकसे हों और जिनमें प्रत्यय, उपसर्ग तथा सम्बन्धक योग समान हों।

३. वाक्य-विन्यास-साम्य : जिनमें वाक्यके रूप किसी एक नियमसे बनते हों।

द्राविड भाषाएँ

विन्ध्य पर्वतमाला और गोदावरी नदीके दक्षिण भागमें भारतके मध्य और पश्चिमी पठारपर रामेश्वरम् और कन्याकुमारीतक द्राविडी भाषाएँ बोली जाती हैं। इन भाषाओंकी बड़ी विचित्र विशेषता यह है कि ये परस्पर एक दूसरीसे इतनी भिन्न हैं कि एक द्राविडी भाषाका जाननेवाला दूसरी द्राविडी भाषा नहीं समझता। ये भाषाएँ स्वयं अपनेमें भिन्न हैं किन्तु सभी संस्कृतसे इतनी प्रभावित हैं कि इनके अधिकांश संज्ञा, विशेषण तो शब्द संस्कृतके हैं किन्तु क्रियाएँ और प्रत्यय सब इनके अपने हैं। इनमें तमिळ और कन्नड़ बहुत पुरानी भाषाएँ हैं।

द्राविडी परिवारकी भाषाओंकी विशेषता

§ २६१. द्राविडी भाषाएँ सप्रत्ययोपसर्ग हैं जिनमें पारदर्शक प्रत्यय अलग लगते हैं, टवर्गकी प्रधानता है, दो वचन और तीन लिङ्ग होते हैं।

विन्ध्य-पर्वतमालाके दक्षिणमें विदर्भ और महाराष्ट्रको छोड़कर समस्त दक्षिणी पठार, श्रीलङ्काकी उत्तरी पट्टी, लक्षद्वीप, मध्य भारतके दक्षिण-पूर्वी भाग और उड़ीसाके दक्षिणी क्षेत्रमें द्राविडी भाषाएँ बोलनेवाले रहते हैं। कुछ विद्वानोंने भ्रमवश इन भाषाओंको तमिळ-गोत्रका बता दिया

और कुछने वाक्य-विन्यास और स्वर-प्रक्रियाकी समानताकी दृष्टिसे ये ऊराल-अल्ताई भाषाओंसे मिलता-जुलता बता दिया। इसी भ्रमके कारण श्राडेरने ऊराल-अल्ताईकी फ़िनो-उग्रिक शाखासे द्राविड भाषाओंका सम्बन्ध जोड़नेका निष्फल उपक्रम किया था। पी० डब्ल्यू० स्मिटने द्राविडी भाषाओंका सम्बन्ध आस्ट्री (आस्ट्रेलियाई) भाषासे जोड़नेका प्रयत्न किया था। उनका मत था कि मडागास्कर, आस्ट्रेलिया और भारत सभी बीचके छोटे-छोटे द्वीपोंके माध्यमसे परस्पर मिले हुए थे। जबसे मोहनजो दड़ोमें पुरातत्त्व विभागकी ओरसे खुदाई हुई तबसे कुछ विद्वानोंने उसके साथ भी इसका सम्बन्ध जोड़नेका प्रयास किया है। किन्तु प्रारम्भमें ही बताया जा चुका है कि ये सभी द्राविड परिवारकी भाषाएँ अलग-अलग भू-भागोंमें उसी प्रकार स्वतन्त्र रूपसे विकसित और पल्लवित हुई थीं जैसे बिहारके छोटा नागपुर प्रदेशके अन्तर्गत सन्थाल परगनामें सन्थाली भाषा (§ १७७)। सर्वप्रथम महामुनि अगस्त्यने दक्षिण भारतमें जाकर इस सम्पूर्ण प्रदेशको आर्य-संस्कारमें दीक्षित किया। इसी कारण द्राविड परिवारकी भाषाओंमें अपनी-अपनी अलग भिन्नता होते हुए भी वह सांस्कृतिक प्रभाव व्याप्त हो गया जिसके कारण समस्त भारतमें सांस्कृतिक अखण्डता आजतक विद्यमान है।

द्राविडी भाषा-परिवारकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं—

१. इस गोत्रकी भाषाओंमें तुर्कीके समान शब्दके पीछे अलग प्रत्यय लगते हैं।

२. इस गोत्रकी भाषाओंमें पारदर्शक प्रत्यय जोड़े जाते हैं अर्थात् वे प्रत्यय अलग दिखाई पड़ते हैं जिससे शब्दके रूपमें कोई विकार नहीं आता। इन भाषाओंमें बहुत बड़ा समास भी बिना कोई विकार किए ही बन जाता है किन्तु बोलचालकी भाषामें समास होनेपर विकार आ जाता है।

३. तेलुगुमें शब्दोंके पीछे 'उ' जोड़ दिया जाता है जैसे रामुलु।

४. शब्दोंमें जो स्वर होते हैं वैसे ही लगभग प्रत्ययोंको मिलाते समय उन प्रत्ययोंमें भी आ जाते हैं। किसी शब्दके पहले घोष व्यञ्जन नहीं मिलते पर बीचमें आनेवाले अनुनासिक व्यञ्जन और एकाकी व्यञ्जनके पीछे घोष वर्ण रहते हैं। यह बात तमिळमें तो है पर तेलुगु, कन्नड़ और मलयाळममें नहीं है।

५. इन भाषाओंमें ट, ठ, ड, ढ, ण की बहुतायत है। कुछ लोग भूलसे मानते हैं कि 'ट' वर्गकी ध्वनियाँ संस्कृतमें इन्हींसे आई हैं पर 'विराट्' और 'विष्णु' शब्द वेदोंके समयसे ही आर्य भाषाओंमें चला आ रहा है।

६. इन सब भाषाओंमें 'एक' और 'बहु' दो ही वचन होते हैं। बहुवचन बनानेके लिये प्रत्यय जोड़ा जाता है। नपुंसक शब्द सब एकवचन होते हैं। उत्तम पुरुष (मैं) सर्वनामके बहुवचनके दुहरे रूप मिलते हैं—एक कहनेवालेका एक सुननेवालेका। लिङ्ग तीनों होते हैं। संज्ञाके दो भेद होते हैं—१. उच्च या सज्ञानी और २. नीच या अज्ञानी। कुछ संज्ञाएँ क्रियाका भी काम करती हैं।

७. इन भाषाओंमें क्रियाएँ कुछ बड़ी विचित्र होती हैं जिनमें पुंलिग बतानेके लिये पुरुषवाची सर्वनाम जोड़ा जाता है और सहायक क्रिया लगाकर कर्मवाच्य बनाया जाता है।

द्राविडी भाषाओंकी परिधि

§ २६२. द्राविड भाषाओंमें द्राविड, मध्यवर्ती, तेलुगु और बाहरी भाषाएँ आती हैं।

पृष्ठ ४२० पर दी हुई सारिणीको देखकर जाना जा सकता है कि द्राविड गोत्रके अन्तर्गत चार भाषा-समूह आते हैं—

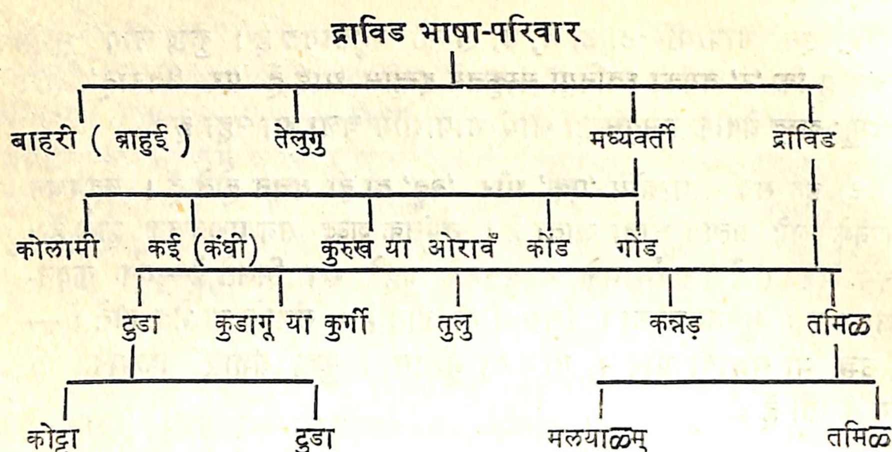
१. द्राविड, २. (मध्यवर्ती), ३. तेलुगु, और ४. बाहरी (ब्राहुई)।

१. द्राविडमें क. तमिळ, ख. कन्नड़, ग. तुलु, घ. कुडागू (कुर्गी) तथा ङ. टुडा भाषाएँ आती हैं। इनमें भी तमिळमें 'तमिळ और मलयाळम्' और टुडामें 'टुडा और कोट्टा' की गणना होती है।

२. मध्यवर्ती द्राविड भाषाओंमें— गोंड, कोंड, कुरुख या ओरावँ, कई (कंघी), और कोलामी नामकी पाँच भाषाएँ आती हैं। इनमेंसे कुरुख दो प्रकारकी होती है—कुरुख और माल्टो।

३. तेलुगुमें तेलुगु ही आती है।

४. बाहरीमें केवल ब्राहुई भाषा आती है।



§ २६३. द्राविड भाषाओंमें तमिळ, तेलुंगु, कन्नड और मलयाळम प्रधान हैं।

तमिळ

तमिळ भाषा भारतमें मद्रास नगरके उत्तरसे लेकर कन्याकुमारीतक तथा लङ्काकी उत्तर और पूर्वी पट्टीमें बोला जाती है। इस भाषाका साहित्य बहुत विशाल है। इसमें दो भाषाएँ आती हैं—क. शिक्षित शिष्टजनकी या पुस्तकोंकी भाषा जिसे 'शेन' (पूर्ण) कहते हैं, ख. ग्रामीण भाषा, जिसे 'कोडुन' कहते हैं। 'शेन'में संस्कृत शब्दोंकी प्रचुरता है। इस भाषामें केवल निम्नाङ्कित वर्ण ही होते हैं—

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, (ह्रस्व) एँ, ऐ, ओ, (ह्रस्व) ओँ, औ, क, ङ, च, ञ, ट, ण, त, न, प, म, य, र, ल, व, ळ, ऴ, ऱ, ऩ, ़ज़, ष, स, ह, क्ष।

इस भाषामें ख, छ, ठ, थ, फ, घ, झ, ढ, ध, भ नहीं होते और ग, ज, ड, द, ब,का काम क, च, ट, त, प से निकाल लिया जाता है। इसमें दो 'न' होते हैं पर उच्चारण एक ही होता है। 'र' के लिये जो दो अक्षर (र .र) होते हैं उनका उच्चारण अलग-अलग होता है। इनमें भी अरबी, फ़ारसी, उर्दूके समान नियम हैं कि लिखते समय कहाँ कौन सा 'र' या 'न' लगाया जाय।

मलयाळम्

§ २६४. मलयाळम् स्वतंत्र भाषा है।

कहा जाता है कि मलयाळम् भी तमिळकी ही एक भाषा-शाखा है जो नवीं शताब्दीके लगभग उससे अलग हो गई। किन्तु यह भ्रम है। मलयाळम् स्वतः अलग भाषा है जो बहुत दिनोंतक तमिळवालोंके संसर्गके कारण उनके रङ्गमें रँग चली थी किन्तु नवीं शताब्दोसे वह अलग हो गई। यह मलाबारकी पट्टीपर पश्चिमी घाटके मलय पर्वत और आळम् (समुद्र) के बीचकी सँकरी पट्टीमें और लक्षद्वीपमें बोली जाती है। यहाँपर शिक्षित लोग तो संस्कृतनिष्ठ भाषा बोलते हैं पर मोपले मुसलमान ठेठ मलयाळम् ही बोलते हैं। मलयाळम्की कवितामें एक 'मणि-प्रवालम्' शैली है जिसमें एक चरण मलयाळम्का और दूसरा संस्कृतका होता है। इसका साहित्य तेरहवीं शताब्दीसे मिलता है। तिरुवरांकूर (त्रावंकोर) और कोचीनमें यही भाषा बोली जाती है। इसमें उतने ही स्वर और व्यंजन हैं जितने नागरीमें, पर तमिळके सम्पर्कसे इसमें ह्रस्व 'ऐ', ह्रस्व 'औ' और ळ, ऴ, ऩ, ऱ, ट़ अक्षर आ गए हैं। इसकी वर्णमाला ही प्रत्यक्ष प्रमाण है कि यह तमिळसे भिन्न है।

कन्नड़

कुर्गके पूर्वकी कुछ पट्टी छोड़कर पूरे मैसूर, हैदराबाद तथा मद्रासके पश्चिमी भाग और बम्बईके दक्षिण-पूर्वी खण्डमें कन्नड़ बोली जाती है। इसकी भाषा तो कुछ-कुछ तमिळसे मिलती है पर लिपि तेलुगुसे। यह भी बहुत प्राचीन भाषा है। इसमें चौथी या पाँचवीं सदीसे साहित्य रचा जाने लगा था। यह भाषा बहुत अलङ्कारपूर्ण है।

तुलु, कुडागू, टुडा और कोट्टा

'तुलु' भाषा कुर्ग और बम्बईकी सीमापर छोटेसे घेरेमें बोली जाती है। इसमें कोई साहित्य नहीं है फिर भी कैल्डवेलने भ्रमवश या पक्षपातवश इसे संसारकी सबसे बड़ी भाषाओंमेंसे एक मान लिया। 'कुडागू' भी कुर्गकी ही भाषा है जिसपर 'कन्नड़' और 'तुलु' दोनोंकी छाप है इसलिये इसे दोनोंके बीचकी भाषा समझना चाहिए। 'टुडा' और 'कोट्टा' भाषाएँ नीलगिरिके आरण्यक लोग बोलते हैं परन्तु इनकी संख्या दिन-पर-दिन घटती जा रही है और इनके साथ इनकी भाषा भी क्षीण हो रही है।

मध्यवर्ती भाषाएँ

गोंड भाषा बोलनेवाले विन्ध्य प्रदेश और बुन्देलखण्डमें रहते हैं। कुछ विद्वानोंका बड़ा भ्रामक मत है कि गोंड भाषा तमिळसे मिलती है। यह भाषा पूर्ण स्वतन्त्र है। इसके बोलनेवाले सब जङ्गली हैं, इसलिये इनका कोई साहित्य नहीं है। ऐसे ही कोंड भाषा भी उड़ीसाकी पहाड़ीपर बोली जाती है। यह भी 'गोंड'-सी ही है और उसीसे मिलती-जुलती है। बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रान्तकी सीमापर लगभग पौने नौ लाख लोग 'कुरुख' या 'ओरावँ' भाषा बोलते हैं। बङ्गाल-बिहारकी सीमापर राजमहलकी पहाड़ीवाले इसी 'ओरावँ'की एक 'माल्टो' बोली बोलते हैं। इन भाषाओंको भी विद्वानोंने भ्रमवश तमिळसे मिलता-जुलता बता दिया है। उड़ीसाके जङ्गलोंमें तेलुगुसे प्रभावित 'कई' (कंधी) नामकी भाषा बोली जाती है और उसीसे मिलती-जुलती बरारके पश्चिममें 'कोलामी' बोली जाती है जिसपर मध्य प्रान्तके भीलोंकी भाषाका बहुत प्रभाव है पर यह भी अब समाप्त-प्राय होती जा रही है।

तेलुगु

आन्ध्र प्रदेशमें तेलुगु भाषा बोली जाती है। यहींके लोग तिलंगे कहलाते हैं। यों तो बारहवीं शताब्दीसे ही इसमें साहित्य-सर्जन प्रारम्भ हुआ किन्तु यहाँ तो विशाल परिमाणमें साहित्य-रचना प्राप्त है। द्राविडी परिवारकी यह सबसे अधिक मधुर भाषा है। इसके शब्दोंके पीछे स्वर या 'उ' लग जाता है।

ब्राहुई

कुछ विद्वानोंने बिलोचिस्तानमें बोली जानेवाली ब्राहुई भाषाको भी भूलसे द्राविड भाषाओंमें गिन लिया है पर यह भाषा 'ईरानी, पश्तो' और 'बलूची' की छाप लेकर बनी हुई 'मकरानी'के ढंगकी अलग भाषा है।

द्राविड गोत्रकी भाषाएँ सब अलग-अलग अपने-अपने घेरेमें फली-फूलीं और बढ़ीं। उनपर संस्कृतका बहुत प्रभाव पड़ा। इस आदान-प्रदानमें बहुतसे शब्द संस्कृतमें भी आए। इनके तीन लिङ्ग मराठीमें पहुँच गए और कहा जाता है कि सोलह छटाँकका सेर और सोलह आनेका रुपया भी इन्हींके प्रभावसे चला।

हिन्दी भाषा और उसका विस्तार

बहुतसे विद्वानोंका मत है कि आर्य लोग सर्वप्रथम मध्य एशियामें निवास करते थे और वहींसे अपनी जन-संख्या बढ़नेके कारण पश्चिम और दक्षिणकी ओर फैल गए, किन्तु पीछे (§ २५३) बताया जा चुका है कि आर्य लोग पंजाब, सिन्ध, कश्मीर और पश्चिममें अफगानिस्तान-तकके उस प्रदेशमें रहते थे जिसे उस समय त्रिसप्तसिन्धु कहा जाता था। उन आर्योंकी छन्दस् भाषाका सर्वप्राचीन प्रमाण ऋग्वेदमें प्राप्त होता है जो विक्रमसे (या ईसासे) कई सहस्र वर्ष पहले सप्तसिन्धुमें गूँज रही थी और जो उत्तर भारतमें काशी, कोशल और मिथिला-तक पूर्वमें फैलकर वैदिक ऋषियोंके दार्शनिक चिन्तनकी पराकाष्ठाका विजयोद्घोष कर रही थी।

§ २६५. वैदिक संस्कृत और काव्य-संस्कृत ही मूल भाषा थी जिसके बिगाड़कर बोले हुए रूपको प्राकृत कहते थे।

कुछ विद्वानोंका मत है कि ऋग्वेदकी भाषा वैदिक संस्कृतको ही अशिक्षित और असंस्कृत लोगोंने बिगाड़कर बोल-चालकी प्राकृत भाषा बना लिया था। कुछ विद्वानोंका मत है कि पहले प्रकृत-जनअर्थात् सामान्य मानव-समुदायकी एक व्यवहार भाषा प्राकृत रही जिसका संस्कार करके विद्वानों, पण्डितों और शास्त्रज्ञोंने संस्कृत भाषा (संस्कृता वाक्) बना ली।

किन्तु ये दोनों मत ग्राह्य नहीं हैं। जिस प्रकार आज भी सुशिक्षित जनोंकी भाषा और ग्रामीण भाषामें भेद है उसी प्रकार पहले भी संस्कृत भाषा अत्यन्त प्रौढ विद्वानों, ऋषियों, मुनियों तथा दार्शनिकोंकी भाषा थी, जिन्होंने मंत्रोंके

दर्शन किए थे और जिनकी भाषाको लोग देवभाषा, गीर्वाण-वाणी इसलिये कहते थे कि उसी भाषामें सर्वप्रथम देवताओंका आवाहन, उनकी स्तुति और उनकी महिमाका वर्णन हुआ। उस वाणीका प्रयोग करनेवाले, शुद्ध परिष्कृत उच्चारण करनेवाले आर्योंको लोग देव-तुल्य समझते थे। यह भाषा आर्य-समुदायके द्विजवर्ग (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों) की भाषा थी। आर्योंकी वर्ण-व्यवस्थाके अनुसार चौथे शूद्र वर्णपर वेद पढ़नेका भार इसलिये नहीं डाला गया कि वे लोग कुशल शिल्पी थे और तीनों वर्णोंके लिये वे यज्ञपात्रादि, अस्त्र-शस्त्रादि, नौका, यान, रथ, भवन, दुर्ग आदिके निर्माणका कार्य करते थे। अतः, उस वर्गको बौद्धिक ज्ञानार्जनके कष्टसाध्य और समय-साध्य आयाससे मुक्त करके कला-कौशलके क्षेत्रमें पारंगत बननेकी सुविधा दे दी गई। इनके अतिरिक्त राजन्य या क्षत्रिय-वर्गमें अथवा वैश्य या वणिग्वर्गमें भी ऐसे असंख्य पुरुष थे जो गुरुकुलमें निवास करके शिक्षाके नियमके अनुसार भाषाका समुचित संस्कार नहीं प्राप्त कर पाते थे। इन सबके अतिरिक्त सम्पूर्ण स्त्री-समाज भी गुरुकुलकी व्यवस्थित शिक्षा प्राप्त न कर सकनेके कारण केवल गृहस्थ-जीवनको सर्वसुविधा-सम्पन्न बनानेका प्रयत्न कर रहा था। इसलिये ये सभी वर्ग गुरुकुलके बौद्धिक वातावरणमें पल्लवित होनेवाला भाषा-संस्कार प्राप्त न कर सके। इनमेंसे युद्धमें रत क्षत्रियवर्ग, कृषि, गोरक्षा और वाणिज्यमें संलग्न वैश्य वर्ग तथा स्त्री-वर्ग सबकी भाषा प्रकृत या स्वाभाविक थी, अर्थात् वह शिक्षा और व्याकरणके नियमोंसे स्वतंत्र थी। यही सबके बोल-चालकी भाषा (प्राकृत जनानाम् वाक्) ही प्राकृत भाषा थी जो विभिन्न प्रदेशोंमें विभिन्न रूप ग्रहण करती गई। नाट्यशास्त्रमें भरतने इस तथ्यको स्पष्ट भी कर दिया है—

एतदेव विपर्यस्तं गुण-संस्कार – वर्जितम्।
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम्॥

[यह संस्कृत ही बिगड़ी हुई और गुण तथा संस्कारसे हीन प्राकृत समझनी चाहिए जो अनेक अवस्थावाली हो जाती है।]

संस्कृतके नाटकोंकी प्रकृतिका अध्ययन करनेसे यह तथ्य पूर्णतः पुष्ट हो जाता है क्योंकि उसमें राजाओं तथा ऋषियों आदिको छोड़कर स्त्रियों तथा साधारण लोगोंसे और विभिन्न देशोंके पात्रोंसे विभिन्न प्रकारकी प्राकृतोंका प्रयोग कराया गया है। इस प्राकृत भाषा अर्थात् बोल-चालकी भाषामें स्थानीय भाषा-प्रवाहकी प्रकृति ही मुख्य होती थी और यही उस भाषाका

नियम था। उसीके आधारपर कुछ वैयाकरणोंने प्राकृतके व्याकरण भी रच डाले थे। यह सामान्य जनोंकी प्राकृतिक भाषा भी शिष्ट जनोंकी संस्कृतके साथ-साथ ही चलती थी जैसे आजकल भी शिष्टजन और सामान्य जनकी भाषामें भेद दिखाई देता है। इन स्थानीय प्राकृतोंके अतिरिक्त विभिन्न देशों और प्रदेशोंसे आनेवाले यात्रियों, व्यवसायियों, अन्य आगन्तुकों और वन्य जातियों-के सम्पर्कसे बहुतसे देशी शब्द तो चल ही रहे थे, साथ-साथ संस्कृत और प्राकृतका भी आदान-प्रदान निरन्तर चल रहा था जिसके कारण संस्कृतके बहुतसे शब्द लोगोंकी बोल-चालमें पड़कर प्राकृतमें घुलते चले जा रहे थे और प्राकृतके बहुतसे शब्द परिष्कृत होकर संस्कृतमें मिलते जा रहे थे। इस प्रकार उच्च शिक्षित शिष्ट-समुदायकी भाषा तो संस्कृत थी और सामान्य जनकी भाषा प्राकृत थी।

धीरे-धीरे जब प्राकृत कवियोंकी प्रतिभा उद्‌बुद्ध होने लगी तब उसमें भी कविताएँ रची जाने लगीं किन्तु शास्त्र-रचना केवल संस्कृतमें ही होती थी। शिष्टवर्ग और सामान्य वर्गकी भाषाका भेद सभी युगोंमें सदा होता चला आया है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण तमिळ भाषा है जिसका एक रूप 'शेन' (पूर्ण) तो शिक्षित जन-समाजकी भाषा है और दूसरा रूप है 'कोडुन' (ग्रामीण भाषा) जिसे प्राकृत या जन-साधारणकी भाषा कह सकते हैं। इस प्रकारका भेद सब भाषाओंसे सदा रहा है और सदा रहेगा।

देशी और प्राकृतका मिश्रण

§ २६३. महावीर और बुद्धने देशी भाषा और संस्कृतको मिलाकर अर्द्ध-मागधी और पालि भाषाएँ बनाईं।

ईसासे लगभग ७०० वर्ष पूर्व महावीरने जैन धर्म और बुद्धने अपना बौद्ध धर्म व्यवस्थित करनेके लिये स्थानीय देशी और प्राकृत भाषा मिला-जुलाकर अपने धर्मका प्रचार करनेके लिये अर्धमागधी (मिश्रित मागधी) बनाई जिसकी दार्शनिक शब्दावली संस्कृतसे ली गई। बुद्धने भी इसी प्रकार पालि (पालीहुई) भाषा गढ़कर चलाई। प्रारम्भमें तो इन गढ़ी हुई भाषाओंमें जैन और बौद्ध धर्म-ग्रन्थोंकी ही रचना की गई किन्तु आगे चलकर अन्य देशी भाषाओं और प्राकृतोंमें और भी प्रकारके साहित्यकी रचना होने लगी। इस प्रकारकी प्राकृतें विभिन्न प्रदेशोंमें विभिन्न नामोंसे प्रसिद्ध हुईं, जैसे—पंजाबमें पैशाची प्राकृत, ब्रज और उसके आस-पासके शूरसेन प्रदेशमें शौरसेनी प्राकृत,

मगध (मध्य दक्षिणी बिहार) में मागधी प्राकृत, नर्मदाके दक्षिणमें बरार (विदर्भ) के चारों ओर महाराष्ट्रमें महाराष्ट्री प्राकृत तथा उत्तर-पश्चिमी भारत (अफ़ग़ानिस्तान तथा फ़ारस) में पारसी प्राकृत (जिसकी गणना हमारे देशके प्राकृत वैयाकरणोंने प्राकृतोंमें नहीं की) बोली जाती थी। आजकलके भाषा-शास्त्रियोंने ईरानी भाषा (पारसी प्राकृत) को भारतीय भाषाओंसे अलग शाखावाली आर्य-गोत्रकी भाषा माना है किन्तु यह भाषा संस्कृतकी ही प्राकृत थी जिसके विकृत रूप पूर्वी और पश्चिमी ईरानी भाषामें प्रचुरतासे प्राप्त होते हैं और जो भारतीय प्राकृत भाषाओंके समान वैसी ही प्राकृत भाषा है जैसे शौरसेनी या मागधी। ये प्राकृतें ईसासे लगभग ७०० वर्ष पूर्वसे लेकर १२०० ईसवीतक लेख और व्यवहारकी भाषा बनी रहीं। साथ ही सम्पूर्ण उदात्त साहित्य तथा दर्शन, पुराण, इतिहास और काव्यके ग्रन्थ काव्य-संस्कृतमें ही रचे जाते रहे। वाल्मीकिकी 'नूतनश्छन्दसामवतारः' वाली क्रौञ्च-वधकी कथाके अतिरिक्त ऐसा कोई ऐतिहासिक आधार प्राप्त नहीं है जिसके बलपर कहा जा सके कि वैदिक संस्कृत कैसे काव्य-संस्कृतमें परिवर्तित हो गई और कैसे वेदके सहस्रों शब्द काव्य-संस्कृतमें अग्राह्य हो गए। धीरे-धीरे जब प्राकृत भाषाएँ भी लेख-भाषा और काव्य-भाषा बनकर व्याकरणके नियमोंमें बँध चलीं तब उनके विकृत रूपोंने भी सिर उठाना प्रारंभ किया और इन विकृत अपभ्रष्ट भाषाओंमें भी ५०० ई० पू० से लगभग १२०० ई०तक वैसे ही साहित्य-रचना की जाती रही जैसे अब भी उदात्त साहित्य-रचनाके साथ कजरी, बिरहा आदि लोक-काव्योंकी रचना हो रही है।

भारतीय भाषाएँ

§ २६७. भारतीय भाषाओंको प्राचीन, मध्य, उत्तर और वर्त्तमान भाषा-कालमें विभक्त किया जाता है।

पीछे (§ २५९) बताया गया है कि भारतीय भाषाओंको विद्वानोंने चार कालोंमें बाँट दिया है—

१. प्राचीन भारतीय भाषाकाल (ईसवी पूर्वसे लेकर ५०० ईसवी तक)
२. मध्यकालीन भाषाकाल (५०० ईसवीसे लेकर १२०० ईसवी तक)
३. उत्तरकालीन भाषाकाल (१२०० ईसवीसे १७०० ईसवी तक)
४. वर्तमान भाषाकाल (१७०० ईसवीसे लेकर आजतक)।

प्रथम कालमें वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदिकी वैदिक संस्कृत और काव्यकी संस्कृत आती है। मध्यकालके प्रथम भागमें पालि और अर्ध-

मागधी प्रसिद्ध रहीं। मध्यकालके दूसरे भागमें पैशाची, खोतानी, केकय, 'खश, मागधी, लाटी शौरसेनी, अर्धमागधी, मागधी, महाराष्ट्री और नागर प्राकृतें आती हैं। तृतीय उत्तर कालमें सब अपभ्रंश भाषाएँ आती हैं और चतुर्थ वर्त्तमान कालमें आजकलकी सब देशी भाषाएँ आती हैं। यद्यपि प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएँ तो लुप्त हो गईं किन्तु काव्यकी संस्कृत इन सब कालोंमें होती हुई ज्योंकी त्यों काव्य और संस्कारकी भाषा बनी चली आई और आज भी एक ओर जहाँ वह हमारी देशी भाषाओंको पारिभाषिक शब्द-भाण्डार प्रदान कर रही है वहीं दूसरी ओर वह समस्त भारतके समस्त संस्कारोंकी भाषा बनी हुई है।

वैदिक संस्कृत और काव्य-संस्कृत

§ २६८. वैदिक-संस्कृत ही मूल भाषा है जिससे योरपकी भाषाएँ भी प्रभावित हुई और जिसे सरल करके काव्य-संस्कृत बना ली गई।

वैदिक संस्कृत ही वास्तवमें सबसे प्राचीन संस्कृत है और यही वह संस्कृत भावित (हिन्द-योरोपीय) आदिम गोत्रकी भाषा है जिससे बल पाकर भारतमें काव्यकी संस्कृतने पाणिनि-जैसे वैयाकरणोंके हाथमें ढलकर अपना रूप स्थिर कर लिया और योरपमें यूनानी और लातिनने प्रभावित होकर अपना शब्द-भाण्डार भरा। वैदिक संस्कृतकी कुछ अपनी विचित्र विशेषताएँ थीं जैसे 'देवः' शब्दका प्रथमा बहुवचनमें 'देवासः' और 'देवाः' दोनों होते थे किन्तु संस्कृतमें केवल 'देवाः' होता है, 'कर्ण' शब्दका तृतीया बहुवचनमें 'कर्णैः'के बदले 'कर्णेभिः' होता था, उपसर्ग भी कभी-कभी परसर्गके समान शब्दसे अलग लगते थे। संस्कृतके वैयाकरणोंने वैदिक संस्कृतको सरल करके संस्कृत भाषाको अधिक व्यवस्थित कर डाला।

संस्कृत और प्राकृत

यह कहना असंगत, भ्रामक और अस्वाभाविक है कि जिस वैदिक संस्कृतमें ऋषियोंने मंत्रोंका दर्शन किया वही जन-साधारणकी भी भाषा रही। वैदिक उच्चारण-संस्कारसे हीन सामान्य जन निश्चय ही प्राकृत बोलते थे। उनका उच्चारण शुद्ध न होनेके कारण ही उनके वेद पढ़नेपर रोक लगा दी गई थी। इसके अतिरिक्त दस्यु भी थे जिनकी भाषाका कोई विवरण नहीं मिलता। अतः, वैदिक संस्कृतके साथ-साथ उस कालमें भी एक प्रकृत जनों या सामान्य जनकी प्राकृत भाषा चलती थी जिसके कुछ शब्द 'जर्फरी-तुर्फरी'

आदिका प्रयोग वेदोंमें भी हुआ था और जिनका निर्वचन सायणने भी विदेशी मानकर नहीं किया।

वैदिक संस्कृतमें जो बातें वैयाकरणोंको खटकीं उन्हें सुधार-सँवारकर उन्होंने संस्कृतका एक परिष्कृत रूप बना लिया और उसीमें आगे चलकर पुराण, काव्य, दर्शन, नीति तथा अन्य शास्त्र लिखे जाने लगे। इसके अनन्तर प्राकृतोंमें भी साहित्य-रचना होने लगी और संस्कृतसे नये-नये शब्द लेकर प्राकृतोंका अलंकरण होने लगा। दूसरी ओर संस्कृतके कवियोंने भी प्राकृतके सुन्दर प्रयोगोंको संस्कृतके नियमके अनुसार उनका संस्कार करके अपना लिया। संस्कृतके नाटककारोंने तो संकृत और प्राकृत दोनोंका प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया कि शिष्ट लोगोंकी संस्कृत भाषा और जनसाधारणकी प्राकृत भाषाका समान व्यवहार और आदर होता है तथा दोनोंमें काव्य-रचना भी होती है।

प्राकृत

§ २६९. संस्कृतको बिगाड़कर बोलनेवाले सामान्य जनकी भाषा ही प्राकृत थी।

संस्कृत और प्राकृतके स्वरूपके साथ-साथ उनका परस्पर आदान-प्रदान भी निरन्तर चलता रहा। एक ओर संस्कृतके बहुतसे शब्द जन-साधारणकी बोल-चालमें पड़कर प्राकृतमें घुलते चले जाते थे, उधर प्राकृतके बहुतसे शब्द संस्कृतके नियमके अनुसार संस्कृतमें ग्रहण होते चले जा रहे थे। शिष्ट जनकी व्यवहार-भाषा संस्कृत थी इसलिये प्राकृतका प्रयोग करनेवाले लोग अपढ़ समझे जाते थे। पर धीरे-धीरे प्राकृतोंमें भी अत्यन्त प्रचुरताके साथ साहित्य-रचना, ग्रन्थ-रचना तथा काव्य-रचना होने लगी। ऊपर बताया जा चुका है (§ २६६) कि ईसासे लगभग ६०० वर्ष पूर्व महावीरने जैनधर्म और बुद्धने अपने बौद्ध धर्मके प्रचारके लिये देशी 'प्राकृत' भाषाओंको संस्कृतसे मिला-जुलाकर अर्ध-मागधी और पालि (पालित<पालिअ<पाली हुई) भाषाएँ गढ़कर चला दीं। पहले तो इन गढ़ी हुई भाषाओंमें धर्म-व्याख्या ही की गई पर आगे चलकर अन्य देशी भाषाओं (प्राकृतों) में अन्य प्रकारोंका साहित्य भी रचा जाने लगा। ऐसी प्राकृतें भारतके अलग-अलग प्रदेशोंमें अलग-अलग नामोंसे चलीं जैसे पंजाबमें 'पैशाची' प्राकृत, ब्रज और उसके आस-पास 'शौरसेनी,' मगध (दक्षिणी बिहार) में 'मागधी', नर्मदाके दक्षिणमें

बरार (विदर्भ) के चारों ओर 'महाराष्ट्री' और उत्तर-पश्चिमी भारत (अफ़गानिस्तान तथा फारस) में 'पारसी' प्राकृत। आज-कलके भाषा-शास्त्रियोंने ईरानीको भारतीय भाषाओंसे अलग आर्य-गोत्रकी शाखावाली अलग भाषा माना है पर वास्तवमें वह सचमुच वैदिक संस्कृतकी ही एक प्राकृत थी, जिसके विकृत रूप पूर्वी और पश्चिमी ईरानीमें प्रचुरतासे प्राप्त होते हैं और जो वैसी ही प्राकृत है जैसी शौरसेनी या मागधी। ये प्राकृतें लगभग ७०० ई० पू० से लेकर १२०० इसवी-तक व्यवहार-भाषा बनी रहीं किन्तु उदात्त साहित्य और दर्शन-पुराण-इतिहासकी पुस्तकें संस्कृतमें ही रची जाती रहीं। जैन आचार्योंने अवश्य ही अपने पुराण-आदि भी अर्ध-मागधीमें ही लिखे।

अपभ्रंश

§ २७०. प्राकृत भाषाओंके विकृत रूपको ही अपभ्रंश कहते हैं।

धीरे-धीरे जब प्राकृत भाषाएँ व्यवहार-भाषाएँ बन गईं और व्याकरणके नियममें बँध चलीं तब उनमें भी विकार आने लगा और इन विकृत भाषाओं या अपभ्रंशोंमें भी लगभग ५०० ई० से लगभग १२०० ई० तक साहित्य रचा जाता रहा। ये अपभ्रंश भाषाएँ भी तत्तद्देशीय प्राकृतोंके नामपर बन चलीं, जैसे—शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री अपभ्रंश। वैयाकरणोंने अपभ्रंशके तीन रूप माने थे—१. नागर, २. व्राचड़ और ३. उपनागर। इनमेंसे नागर अपभ्रंश तो गुजरातमें बोली जाती थी जिसे हेमचन्द्रने शौरसेनी प्राकृतसे समुद्भूत बताया है। व्राचड़ अपभ्रंश सिन्धमें बोली जाती थी और उपनागर अपभ्रंश नागर और व्राचड़के मेलसे बनी थी इसलिये यह पश्चिमी राजस्थान और पंजाबके पश्चिम-दक्षिणी भागमें बोली जाती रही। हेमचन्द्रने जिस अपभ्रंशकी बात छेड़ी है उससे राजस्थानकी डिंगल और गुजराती भाषा ही बनी है। हेमचन्द्रने जिसे शौरसेनी अपभ्रंश कहा है वह आभीरोंकी अपभ्रंश रही और राजस्थान तथा उत्तर-पूर्वी गुजरातमें बोली जाती रही। इसमें रासक (यात्रा-काव्य या प्रवास-काव्य) बहुत लिखे गए जिसमें भोजपुरी भाषाके 'बिदेसिया' नाटकोंके समान कोई व्यापारी अपनी धर्मपत्नीको छोड़कर व्यापारके लिये बाहर जाता है और वहाँसे बहुत दिनोंपर लौटता है। इस बीच उसकी पत्नी उसके वियोगमें दुखी होती है और उसके लौटनेपर सुखी होती है। प्राकृत-चन्द्रिकामें ऐसी २७ अपभ्रंश भाषाएँ गिनाई

गई हैं। इसका अर्थ यह है कि छोटे-छोटे जनपदोंमें लोगोंने प्राकृतोंको बिगाड़कर अपने-अपने जनपदकी अलग-अलग अपभ्रंश भाषा बना ली थी। इतनी अपभ्रंश भाषाएँ कैसे और क्यों बनीं इसका स्पष्ट कारण यह भी था कि शक, हूण, सीथियाई आदि जो अनेक मानव-जातियाँ बाहरसे आईं वे अपने साथ अपनी भाषाका भी संस्कार ले आईं और यहाँकी भाषासे मिलाकर एक नई भाषा बना बैठीं। गुलेरीजीने जिस अपभ्रंशको 'पुरानी हिन्दी' बताया है वह वास्तवमें 'पुरानी हिन्दी' नहीं वरन् 'पुरानी गुजराती' या 'पुरानी राजस्थानी' है जिसे कन्हैयालाल मुनशीने 'सौराष्ट्री अपभ्रंश' कहा है।

देशी

§ २७१. पारस्परिक सम्पर्क बढ़ जानेके कारण अपभ्रंशोंके परिष्कारसे देशी भाषाएँ समुन्नत हो चलीं।

ईसाकी तेरहवीं शताब्दीमें उत्तर-भारतमें छोटे-छोटे राज्य परस्पर अपनी-अपनी स्थानीय भाषाओंमें व्यवहार करने लगे थे। इसलिये अपभ्रंश भाषाओंमें एक ओर साहित्य रचा जाने लगा और दूसरी ओर वे विकृत भी हो चलीं। इसी बीच अरबों, तुर्कों, ईरानियों और मुगलोंके सम्पर्कसे इन भाषाओंमें अरबी, तुर्की, और फ़ारसीके शब्द भी प्रयोगमें आने लगे तथा विभिन्न देशोंकी प्रादेशिक भाषाओंमें वहाँके सन्त और भक्त उपदेश भी देने लगे। उन्हींकी भाषाओंने जहाँ अलग-अलग प्रादेशिक भाषाओंको पुष्ट किया वहीं उन्होंने मिलकर पारस्परिक सत्संगके लिये उत्तर-भारत-भरके व्यवहारके लिये हिन्दी, हिन्दवी, रेखता या नागरी भाषाका निर्माण कर लिया जिसमें अमीर ख़ुसरोने अपनी मुकरियाँ और पहेलियाँ लिखीं थीं। यहाँके भाषा-शास्त्रियोंने भूलसे यह मान लिया है कि आजकी सभी देशी भाषाएँ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंशोंसे ढलकर आई हैं। पर ऐसी बात नहीं है। कुछ भाषाएँ सीधे संस्कृतसे ही बनी हैं, जैसे—अन्तर्वेद (मेरठ-मुजफ्फर नगर)की नागरी। पीछे (§ २५) बताया जा चुका है कि नदियों, पहाड़ों आदिसे घिरे छोटे-छोटे घेरोंमें लोग अपनी-अपनी भाषाएँ बोलते जा रहे थे। उन देशोंपर आर्योंका सांस्कृतिक प्रभाव पड़नेके कारण वे भाषाएँ सीधे संस्कृतसे कुछ शब्द ज्योंके त्यों (तत्सम) लेकर और कुछको अपनी उच्चारण-प्रकृतिके अनुसार ढालकर (तद्भव) काममें लाने लगे। इसीसे इन देशी भाषाओंका रूप बन चला।

भारतकी आर्य-भाषाएँ

§ २७२. आर्य भाषाओंका वर्गीकरणका आधार सम्बन्ध-कारकका चिह्न होना चाहिए।

जौर्ज ग्रियर्सनने भारतकी आर्य भाषाओंको तीन शाखाओंमें विभक्त किया है—१. बहिरंग, २. मध्यवर्त्ती, और ३. अन्तरंग।

१. बहिरंग शाखा : जिसके पश्चिमोत्तरी समुदायमें लहँदा और सिन्धी, दक्षिणी समुदायमें मराठी और पूर्वी समुदायमें उड़िया, बँगला, असमी और बिहारी भाषाएँ आती हैं।

२. मध्यवर्ती शाखा : जिसमें पूर्वी हिन्दी आती है।

३. अन्तरंग उपशाखा : जिसके भीतरी समुदायमें पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, भीली, खानदेशी और राजस्थानी आती हैं और पहाड़ी समुदायमें पूर्वी पहाड़ी या नैपाली, बीचकी पहाड़ी और पश्चिमी पहाड़ी भाषाएँ आती हैं।

सुनीतिकुमार चाटुर्ज्याने भारतीय आर्य भाषाओंका वर्गीकरण इस प्रकार माना है—

(क) उत्तरी : जिसमें सिन्धी, लहँदा और पंजाबी आती हैं।

(ख) पश्चिमी : जिसमें गुजराती आती है।

(ग) मध्यवर्ती : जिसमें राजस्थानी, पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी आती है :

(घ) पूर्वी : जिसमें बँगला, उड़िया और असमी आती है।

(ङ) दक्षिणी : जिसमें केवल मराठी आती है।

आचार्य चतुर्वेदीका मत है कि न तो अन्तरंग और बहिरंग कहकर भारतकी आर्य भाषाओंको विभक्त किया जा सकता है न उत्तरी, पश्चिमी मध्यवर्ती, पूर्वी और दक्षिणी कहकर। भारतकी वर्त्तमान आर्य भाषाओंकी पहचान उनके विभक्ति-प्रत्ययके चिन्हसे ही हो पाती है। अतः, उनके वर्गीकरणका सबसे अच्छा आधार उनका सम्बन्ध कारकका चिह्न है। हमें यदि कहना हो 'रामका घोड़ा' तो ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मगही, पहाड़ी, जयपुरी, बघेलखंडी, छत्तीसगढ़ी, बुन्देलखंडीमें यह 'का' (का, कै, कौ, कऽ, को, के स्वरूपमें) बराबर मिलता है। पहाड़ी बोलियोंमें 'रामोक् घोड़ो' नेपालीमें 'रामको घोड़ो,' अवधी, बघेली और छत्तसगढ़ीमें 'रामकै घोरा,'

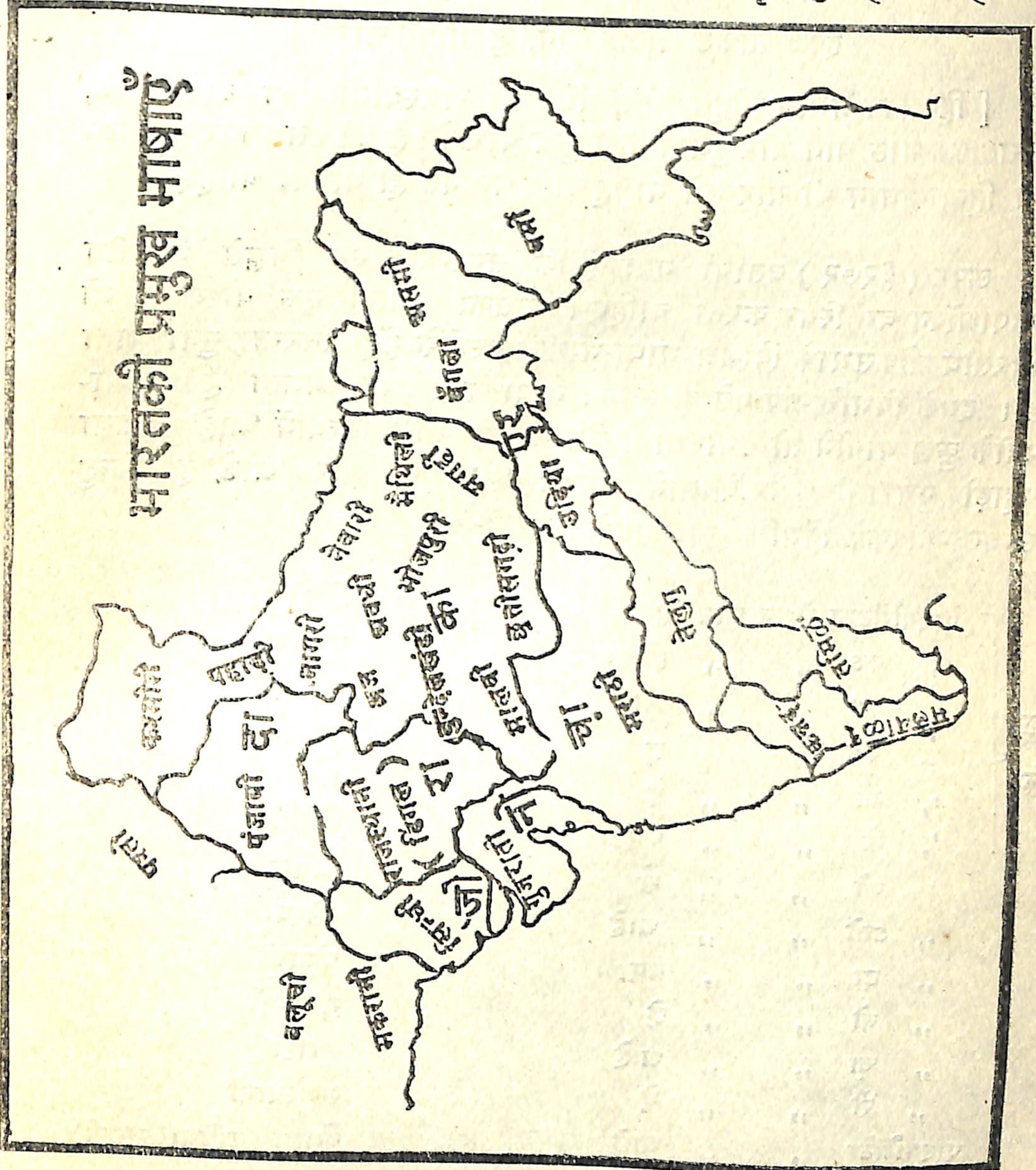
ब्रजमें 'रामकौ घोरो,' बुन्देली और जयपुरीमें 'रामको घोरो,' मगही और भोजपुरी में 'रामकऽ या रामकै घोड़ा' और नागरीमें 'रामका घोड़ा' हो जाता है। यह पूरा क्षेत्र 'का'वाली भाषाओंका क्षेत्र है! इस क्षेत्रके पश्चिम-उत्तरमें 'दा' वर्गकी पंजाबी और लहँदा भाषाएँ हैं जहाँ 'रामदा घोड़ा' कहते हैं। इसके दक्षिण-पश्चिममें सिन्धी (पाकिस्तानमें) और कच्छी भाषाओंका 'जो' क्षेत्र हैं जहाँ 'रामजो घोरो' कहते हैं। इसके पूर्वमें राजस्थानमें 'रा' वर्गका क्षेत्र है जहाँ 'रामरो' या 'रामरो घोड़ो' कहेंगे। इस क्षेत्रके दक्षिण-पश्चिममें गुजराती-का 'नो' क्षेत्र है जहाँ 'रामनो घोड़ो' कहते हैं। इस 'नो, नू, नी'-क्षेत्रके दक्षिणमें कोंकण-तक और पश्चिममें विदर्भ तथा नागपुर और उसके आगे-तक मराठी-का 'चा' क्षेत्र है जहाँ 'रामचा घोड़ा' कहते हैं। फिर बँगला, उड़िया और असमका 'एर' क्षेत्र है जहाँ 'रामेर अश्व' हो जाता है। इस प्रकार वर्त्तमान आर्य भाषाओंके सात वर्ग हो जाते हैं—'का, दा, जो, नो, चा, रा, एर। इस प्रकार आर्य भाषाओंका वर्गीकरण भली प्रकार सीधे समझमें आ सकता है। चाटुर्ज्याने उत्तरीमें सिन्धी और पंजाबीको एक वर्गमें रख दिया पर सिन्धी और पंजाबीका कोई मेल ही नहीं है। इसी प्रकार राजस्थानी और हिन्दीकी रचनामें तो डिंगल और पिंगलवालोंने ही भेद बनाकर रख दिया था, फिर उनको मध्यवर्ती भाषा-समूहमें एक साथ कैसे रक्खा जा सकता है। पृष्ठ ४३३ पर दिए हुए मानचित्रसे इसका स्पष्टीकरण हो जाता है।

नागरी (हिन्दी) भाषा

§ २७३. हिन्दी भाषाका मूल रूप तद्भवात्मक है किन्तु राष्ट्रभाषाकी दृष्टिसे उसका संस्कृत-निष्ठ रूप ही मान्य है।

हिन्दी (नागरी) की गद्य भाषा जिस रूपमें सबके बोलचाल और लेख-व्यवहारकी भाषा बनी है उसका अपना ठेठ रूप तद्भवात्मक है। उसमें कहा जाता है—'फुलवारीमें फूल खिले हुए हैं।' पर आजकलकी नागरीमें कहा जाता है—'उद्यानमें प्रसून विकसित हैं'। अतः, नागरी (हिन्दी) में अब संस्कृतके शब्द लानेकी प्रवृत्ति बढ़ चली है। पर साथ ही जिन-जिन भाषाओंसे नागरी भाषाका सम्पर्क हुआ उनके भी सैकड़ों शब्द नागरी भाषाने अपना लिए—जैसे अरबी, तुर्की, पश्तो, फ़ारसी, अँगरेज़ी, पुर्त्तगाली, डच और फ़ांसीसीके शब्द। ये सब विदेशी शब्द दो कारणोंसे आए—१. या तो इन भाषा-भाषियोंका शासन होनेके कारण या २. पारस्परिक आदान-प्रदानके

कारण। इस आदान-प्रदानमें संज्ञा और विशेषण ही अधिक लिए गए, वाक्य-विन्यास और रचना-क्रममें कम परिवर्त्तन हुआ। इस रचनाको देखते हुए तो नागरीके दो वास्तविक रूप हैं—१. ठेठ या तद्भवनिष्ठ और २. संस्कृतनिष्ठ; और दो कृत्रिम रूप हैं—१. उर्दू (अरबी-फ़ारसी-निष्ठ) और खिचड़ी (सर्व-भाषानिष्ठ)। आजकल नागरी भाषा संस्कृतोन्मुख हो चली है।



गुजराती-कच्छी भी हिन्दी की बहनें ही हैं। प्रसिद्ध गुजराती कवि प्रेमानन्द (१६९२–१७९०) ने अपने समयकी गुजराती भाषाके महत्त्वका वर्णन करते हुए कहा था—

अबे-तबे-का सोलह आने, अठे-कठेका बार।
इकडं तिकडं आठहि आने, शुंशां पैसे चार।

[हिन्दीका प्रभाव सोहल आने, डिंगल (राजस्थानी) का बारह आने, मराठीका आठ आने और गुजरातीका कुल चार पैसे है।] इस प्रकार गुजराती भी हिन्दी-प्रधान थी और उसे भी हिन्दीके अन्तर्गत ही मानना चाहिए।

ऊपर (§२७२) बताया गया है कि सम्बन्ध-कारक चिह्नसे भारतीय भाषाओंका वर्ग स्थिर करना चाहिए। उसका प्रमाण एक वाक्य है जो भारतीय लोकसभाके विभिन्न भाषा-भागी सदस्योंके मुँहसे निरन्तर सुना जाता है। इसके विभक्ति-प्रयोगसे ही उनकी भाषाका परिचय मिलता है। क्रिया-पदोंके कुछ भागोंमें तो समानता है जैसे मराठी और सिन्धीमें 'आहे' है तथा पहाड़ी गुजराती और बँगलामें क्रमशः 'छ', 'छे' और 'आछे' है, किन्तु सम्बन्ध-कारकके विभक्ति-प्रत्यय सबके भिन्न हैं—

'का' क्षेत्र	पार्ल्यामेंटका	सेशन	ऑन	है	हिन्दी
	,, कऽ	,,	,,	हौ (बाय)	बनारसी
	,, कऽ	,,	,,	बाड़ै	भोजपुरी
	,, कऽ	,,	,,	छ	पहाड़ी
	,, कौ	,,	,,	है	ब्रज
	,, कै	,,	,,	अहइ	अवधी
	,, को	,,	,,	सै	बाँगरू
	,, ऽजो	,,	,,	आहे	सिन्धी
	,, दा	,,	,,	वए	पंजाबी
	,, नो	,,	,,	छे	गुजराती
	,, चा	,,	,,	आहे	मराठी
	,, रो	,,	,,	ऐ	राजस्थानी
	पार्ल्यामेंटेर	,,	,,	आछे	बँगला (उड़िया-असमी)

उर्दू

§ २७४. उर्दू (हिन्दुस्तानी) भी हिन्दीकी ही शैलियाँ हैं।

कुछ लोग उर्दूको हिन्दीसे अलग भाषा मानते हैं। पर जैसे अरबी लिपिमें लिखी जानेसे फ़ारसीको भी लोग भारतीय भाषाओंसे अलग समझने लगे वैसे ही फ़ारसी लिपिमें लिखी जानेके कारण उर्दू भी पराई समझी जाने लगी। यदि इन सबकी लिपि नागरी होती तो यह भेद जो आज समझा जा रहा है वह न होता। बहुतसे लेखक हिन्दीकी पत्रिकाओंमें जो उर्दू-शैलीकी कहानियाँ लिखते हैं वे हिन्दी कहानीमें रूपमें ही ग्राह्य होती हैं। हाँ, कृत्रिम उर्दूको अरबी नागरी कह सकते हैं जिसमें संज्ञा और विशेषण अरबी और फ़ारसीसे अधिक लदे हुए होते हैं।

उर्दू (बाज़ारकी) भाषा नागरी या हिन्दीकी ही शैली है। दिल्लीके व्यापारियोंने मुसलिम-कालकी राजधानी दिल्लीके आसपासकी भाषामें फ़ारसी और अरबीके शब्द भर-भरकर नागरी (रेख़ता, भाखा या हिन्दवी) को ही परिवर्तित करके एक खिचड़ी भाषा बना ली थी। इस उर्दूका एक मुहावरेदार साहित्यिक रूप है जो 'फ़िसानए आज़ाद' में प्राप्त होता है और दूसरा भ्रष्ट, अशुद्ध और दरिद्र उर्दूका वह रूप है जो कचहरियोंके आह्वानपत्रों (समनों) में आजतक भी, हिन्दीका इतना विकास हो चुकनेपर भी, चल रहा है और हिन्दीके प्रतिष्ठित पत्रोंमें भी देवनागरी लिपिमें इस प्रकार छप रहा है—

समन बग़रज़ इनफ़िसाल मुकदमा

(आर्डर ५, क़ायदा १ व ५)

नम्बर मुक़दमा

ब अदालत श्री पंच बहादुर सिंह मुक़ाम व ज़िला गोरखपुर,

रामबली बनाम केवल

बनाम—१—केवल पुत्र अधारे, २—ग्राम-सभा-द्वारा प्रधान मौजा बलसड़ मुस्तक़िल, तप्पा सिकरा, परगना हवेली, तहसील फरेन्दा, गोरखपुर, ३—स्टेट उत्तर प्रदेश, द्वारा कलेक्टर गोरखपुर।

वाज़ेह हो कि वादीने आपके नाम एक नालिश बाबत २२१ बी दायर की है लिहाज़ा आपको हुक्म होता है कि आप बतारीख़ २५ जुलाई सन् १९६८ ई० बवक़्त १० बजे बमुक़ाम सदर असालतन या मारफ़त वकीलके, जो मुक़दमाके हालतसे क़रार वाक़ई वाक़िफ़ किया गया हो और जो कुल अमूर अहम मुतअल्लिक़ा

मुक़दमाका जवाब दे सके या जिसके साथ कोई और शख्स हो कि जवाब ऐसे सवालातका दे सके, हाज़िर हूजिए और जवाबदेही दावाकी कीजिए और हरगाह वही तारीख जो आपकी हाज़िरीके लिये मुक़र्रर है, वास्ते इनफ़िसाल क़तई मुक़दमाके तजवीज़ हुई है। पस आपको लाज़िम है कि उस रोज़ अपने जुमला गवाहोंको, जिनकी शहादतपर नीज़ जुमला दस्तावेज़ात, जिनपर आप बताईद अपनी जवाबदेहीके इस्तदलाल करना चाहते हों, उसी रोज़ पेश कीजिए।

और आपको इत्तिला की जाती है कि अगर बरोज़ मज़कूर आप हाज़िर न होंगे तो मुक़दमा बग़ैर हाज़िरी आपके मसमूअ और .फ़ैसल होगा।

बसब्त मेरे दस्तखत और मुहर अदालतके आज बतारीख १८ माह जुलाई, सन् १९६८ ई० जारी किया गया।

(दस्तखत हाकिम व मुहर अदालत)

हिन्दुस्तानी

जहाँतक 'हिन्दुस्तानी'की बात है वह तो अँगरेजोंका दिया हुआ इसी हिन्दीके खिचड़ी रूपका दूसरा नाम है। गाँधीजी एक 'हिन्दुस्तानी' अवश्य चलाना चाहते थे जिसमें सब बोलियोंकी, विशेषतः संस्कृत और अरबी-फारसी-की खिचड़ी हो, पर ऐसी बनावटी बोली चल नहीं सकती थी इसलिये वह जहाँकी तहाँ रह गई। प्रसिद्ध नाटककार नारायणप्रसाद बेताबने भी इस प्रकारकी मिश्रित भाषाका समर्थन करते हुए कहा था—

न खालिस हिन्दी न खालिस उर्दू, ज़बान गोया मिली-जुली हो।
अलग रहे दूधसे न मिसरी, डली-डली दूधमें घुली हो॥

अँगरेज़ों तथा अन्य योरोपीय विद्वानोंने भारतकी उस बोलचालकी भाषाको 'हन्दुस्तानी' माना जो मुसलमानी शासन-कालमें उनके राजदरबारोंमें पनपी और फूली-फली और जिसमें अरबी-फ़ारसीके तत्सम शब्दोंका धड़ल्लेके साथ प्रयोग हुआ। इसे उर्दूका ही पर्याय समझना चाहिए क्योंकि भारतमें इँगलैंडसे जो शासक भेजे जाते थे उन्हें यह 'हिन्दुस्तानी' कहलानेवाली उर्दू भाषा पढ़ाई जाती थी और इसीको वे लोग 'हिन्दुस्तानी' कहते थे। यद्यपि इसमें उर्दूवालोंका-सा यह दुराग्रह नहीं है कि हिन्दी शब्दोंको 'मतरूक' (त्याज्य) करके उनके बदले छाँट-छाँटकर बलपूर्वक फ़ारसी और अरबीके शब्द भरे ही जायँ किन्तु यह निश्चय है कि उसकी प्रवृत्ति उर्दूकी ओर ही अधिक थी। अँगरेज़ोंके जानेके साथ उसका अस्तित्व लुप्त हो गया और

वह स्वाभाविक अवसान प्राप्त कर चुकी। अँगरेज़ोंके शासनके कारण यह भाषा इतनी प्रसिद्ध हो गई थी कि उत्तर भारतमें व्यापक रूपसे समझी और बोली जाती थी, किन्तु इसका क्षेत्र शासन-कार्यतक ही परिमित था, लोक-भाषाके रूपमें नहीं, यद्यपि कचहरियोंमें इसीका बोलबाला होनेके कारण लोक-भाषा-भाषी लोग भी इसे भली प्रकार समझते थे। गाँधीजीने (अँगरेजियतके विरोधी होनेपर भी) इसी 'हिन्दुस्तानी' को चलानेका आग्रह करके मद्रासमें हिन्दुस्तानी प्रचार सभा स्थापित की थी।

नीचे इन सब शैलियोंका रूप उदाहरण देकर स्पष्ट किया जा रहा है। ठेठ नागरी भाषाका रूप संस्कृत, अरबी और फ़ारसी आदिके तत्सम शब्दोंसे रहित शुद्ध तद्भवात्मक और मुहावरेदार होता है। नीचेका उदाहरण देखिए—

'टीलेकी ऊँची रेतीली चोटीपर चढ़कर जो मैंने चारों ओर आँखें घुमाईं तो देखता क्या हूँ कि बहुत दूर धरती-अकासके मिलनकी झिलमिलीपर अटपट फैली हुई हरियालीकी झुरमुटमें, अपने लाल खपरैलोंपर पच्छिमकी गोदमें ढलते हुए सूरजकी पिछली धूप-छाँह-भरी किरनें लहराता हुआ, एक सुहावना-सा, लुभावना-सा, नन्हाँ-सा झोंपड़ा उस साँझकी ललाईमें हँसता, खिलखिलाता और बुलाता-सा चमक रहा है। मेरे साथ मेरी घरवाली चलते-चलते थककर चूर हो चली थी। उसकी साँस फूलने लगी थी और वह रह-रहकर पूछती जा रही थी—'कहिए! अभी कितना और चलना है?'

यही शैली हिन्दीकी वह वास्तविक शैली है जिसे उर्दूवाले उर्दू कहेंगे और हिन्दीवाले हिन्दी। इसीको आजके हिन्दीवाले इस प्रकार लिखेंगे—

'वप्रके समुन्नत बालुकामय शिखरपर आरुढ होकर जो मैंने चतुर्दिक् दृष्टि-निक्षेप किया तो मुझे प्रतीत हुआ कि सुदूर धरणी-आकाशके सम्मिलन-तीर्थपर अनियमित रूपसे विकीर्ण हरीतिमाकी छायामें, अपने रक्तिम खपरैलोंपर पश्चिम दिशाके क्रोडमें अंकस्थ होते हुए भास्करके अंतिम आलोककी छायापूर्ण किरण-माला अंकित करता हुआ, एक सुशोभन, मनोहर, अत्यन्त लघु कुटीर उस सान्ध्य लालिमामें मन्द स्मितिसे हँसता और निमन्त्रण देता-सा उद्भासित हो रहा है। मेरे साथ मेरी धर्मपत्नी इस सुदूर यात्रासे अत्यन्त श्रान्त और क्लान्त हो चली थी। उसका प्रश्वास-वेग बढ़ चला था और क्षण-क्षण पर वह आतुर जिज्ञासा करती जा रही थी—'कहिए, अभी कितना मार्ग शेष है?'

ऊपर दिए हुए वाक्यको उर्दूवाले यों लिखेंगे—

'खरसंगके बुलन्द पुररेग .कुलहपर सवार होकर जो मैंने इर्द-गिर्द नज़र दौड़ाई तो मअ्लूम हुआ कि कुछ फ़ासलेपर ज़मीन आसमानके इत्तेहादे-उफ़ुक़की बेनूरीमें

निहायत बे-क़रीने-दराज़ सब्ज़ो-गयाहकी पुश्तमें, मग़रिबमें .ग़ुरूब होते हुए आफ़ताबकी आख़री शुआएँ अपने सुर्ख़ खपरैलोंपर शाया कराता हुआ एक निहायत .ख़ुशनुमा, दिलकश, मुख़्तसर-सा झोंपड़ा उस शामकी शफ़क़में हँसता, मुस्कराता और दावत-सा देता आशकार है। मेरे हमराह मेरी बीवी इस दूर-दराज़के सफ़रसे निहायत ख़स्ताहाल और बेजान हो चली थी। उसकी साँसें ज़ोरोंसे चलने लगी थीं और वह लमहा-लमहा पर बेक़रार होकर सवाल किए जा रही थी— 'फ़र्माइए, अभी कितना सफ़र बाक़ी है।'

ऊपर दिए हुए अंशको तथाकथित 'हिन्दुस्तानी'में लिखा जाय तो उसका रूप कुछ-कुछ ऐसा होगा—

टीलेके ऊँचे शिखरपर चढ़कर जो मैंने चारों ओर निगाहें दौड़ाईं तो दीखता क्या है कि बहुत दूर ज़मीन आसमानके मिलनेकी जगहपर बेक़रीने फैली हुई हरियालीकी आड़में अपने लाल टाइलोंपर पच्छिममें डूबते हुए सूरजकी आख़री किरणोंसे चमकता हुआ एक .ख़ूबसूरत-सा, छोटा-सा झोंपड़ा उस शामकी लालिमामें बहुत .ख़ुशनुमा लग रहा है। मेरे साथ मेरी बीवी चलते-चलते थक गई थी। वह हाँफती हुई पूछती जा रही थी—"कहिए अभी कितना और चलना है?"

इससे प्रतीत हो जाता है कि वर्त्तमान संस्कृतनिष्ठ नागरी (हिन्दी) भी नागरीकी वास्तविक ठेठ तद्भवात्मक भाषाका रूप छोड़कर कृत्रिम रूपमें ढल रही है। उर्दूमें भी वाक्यकी बनावट तो हिन्दीकी है, केवल उसमें संज्ञा और विशेषण फ़ारसी और अरबीसे लाकर भर दिए गए हैं। उसकी बनावट यों तो नागरीके संज्ञा-विशेषणोंके बदले अरबी-फ़ारसीके संज्ञा-विशेषण भरनेसे बनी किन्तु कभी-कभी उसके वाक्योंकी बनावट फ़ारसीके ढंगपर भी होने लगी थी जैसे—'आना राजा इन्दरका'। यह वाक्य-रूप फ़ारसीके 'आमद राजा इन्दर'का अनुवाद है। कभी-कभी बहुवचनका निर्माण भी फ़ारसीके ढंगपर होने लगा जैसे—'काग़ज' का 'काग़ज़ात' आदि। तात्पर्य यह है कि 'उर्दू' कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं है। वह हिन्दीकी ही एक शैली है जिसमें हिन्दीके प्रचलित तद्भवात्मक शब्द हटाकर उनके बदले फ़ारसी और अरबीके शब्द ला भरे जाते हैं। ठीक यही बात वर्त्तमान साहित्यिक या संस्कृतनिष्ठ हिन्दीके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। उसमें भी छाँट-छाँटकर देशी और चलते शब्दोंके बदले संस्कृतके शब्द भरनेकी प्रवृत्ति आ गई है किन्तु अखिल भारतीय भाषा बननेके लिये उसका यही संस्कृतनिष्ठ रूप ग्राह्य होगा क्योंकि संस्कृत-निष्ठ होनेसे ही वह भारतमें व्यापक रूपसे समझी जा सकेगी।

ग्रियर्सनने भाषा-सर्वेक्षण (लिंग्विस्टिक सर्वे) में दिल्ली-मेरठके पास बोली जानेवाली इस भाषाको बड़ा बेढंगा और बेतुका 'वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी' नाम दिया है। कुछ लोगोंने इसका नाम 'खड़ी बोली' और 'सर-हिन्दी' रक्खा है। किन्तु ये सब नाम ठीक नहीं हैं। इसका वास्तविक नाम 'नागरी' या 'हिन्दी' ही उचित है।

§ २७५. ब्रज, अवधी आदि ग्रामीण बोलियाँ नहीं हैं।

कुछ लोगोंने खड़ी बोली, बाँगरू, ब्रजभाषा, कन्नौजी, बुन्देलखंडी, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी आदिको ग्रामीण बोलियाँ बता डाला है। किन्तु ये ग्रामीण बोलियाँ नहीं है। इनका एक साहित्यिक रूप है और दूसरा प्राकृत या जन-सामान्यकी भाषाका। इनमेंसे नागरी (खड़ी बोली या हिन्दी), ब्रजभाषा और अवधीको तो ग्रामीण कहना अत्यन्त अज्ञताकी बात है क्योंकि इनमें प्रचुर और पुष्ट साहित्य भी है। हाँ, बाँगरू, कन्नौजी, बुन्देली, बघेली और भोजपुरीको ग्रामभाषा अवश्य कहा जा सकता है। आगे चलकर यदि इनमें भी साहित्य हो गया (जैसा भोजपुरीमें अब होने भी लगा है) तो इनके भी दो रूप हो जायँगे—१. शिष्टजन भाषा और ग्रामीण भाषा।

मातृभाषा हिन्दी

§ २७६. मातृभाषा हिन्दीका व्यापक अर्थ पुस्तकों और समाचार-पत्रोंकी हिन्दी है।

मातृभाषा वही भाषा हो सकती है जो किसी प्रदेशका बालक अपनी माताके मुखसे सुनता है। सच पूछिए तो माता जिस प्रादेशिक या जानपद भाषाका प्रयोग करती है वही भाषा मातृभाषा कहला सकती है। उदाहरण-के लिये काशीवालोंकी भाषा बनारसी या काशिका है। आप किसी यदि काशी-निवासी हिन्दीके विद्वान्के घर जाइए तो आपको देखकर वे कहेंगे—'नमस्कार! आइए पधारिए। बड़ी कृपा की आपने। कहिए कैसे कष्ट किया ?' और तत्काल अपने सेवकको पुकारेंगे—'अरे भगेलुआ! तनी पान तऽ ली आवऽ।' अर्थात् वे घरमें तो अपनी प्रादेशिक मातृभाषाका व्यवहार करेंगे किन्तु सामाजिक व्यवहारमें नागरी (हिन्दी) भाषाका व्यवहार करते हैं। अतः, समाजके शिष्टजन जिस भाषामें विचार-विनिमय, कामकाज और लिखा-पढ़ी करते हों, वही भाषा, शिक्षाको दृष्टिसे मातृभाषा कहलाती

है। अतः, यहाँ मातृभाषासे तात्पर्य उस नागरी भाषासे है जिसके द्वारा पंजाब और राजस्थानसे लेकर बिहार-तकके लोग परस्पर लिख और बोलकर अपने भाव व्यक्त करते हैं, जिसमें उनके गद्य-साहित्यकी रचना हो रही है, पत्र-पत्रिकाओंका प्रकाशन होता है तथा जो विभिन्न शैलियोंमें समाजके पढ़े-लिखे शिष्टजनोंकी बोल-चाल तथा लिखा-पढ़ीकी भाषा है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी

§ २७७. भारतमें और भारतके बाहर प्रवासी भारतीयों-द्वारा व्यापक रूपसे समझी जानेवाली हिन्दी ही राष्ट्रभाषा है।

भारतकी राष्ट्रभाषा नागरी भाषा (हिन्दी) का वह व्यापक रूप है जिसे समस्त भारतमें तथा भारतसे बाहरके भी प्रवासी भारतीय बोलते या समझते हैं और जिसमें देशभेदके अनुरूप संज्ञा, विशेषण आदिके लिये तत्तत्प्रदेशीय शब्दोंका प्रयोग भी होता रहता है।

संस्कृत ही आज भी भारतकी ऐसी भाषा है जिसे समझने और बोलनेवाले कश्मीरसे लेकर लंका-तक और पंजाबसे लेकर बंगाल-तक मिलेंगे। अतः, भारतकी राष्ट्रभाषाकी पहली पहचान तो यह होगी कि उसमें अधिकांश शब्द संस्कृतके तत्सम हों अर्थात् वह संस्कृतनिष्ठ हो जिससे वह भारत-भरमें समझी जा सके। यद्यपि नागरी भाषाकी मूल प्रकृति तद्भवात्मिका है तथापि भारतके अन्य भाषा-भाषियोंके लिये नागरीके तद्भव शब्दोंकी अपेक्षा संस्कृतके तत्सम शब्द अधिक सुगम और बोधगम्य हैं।

राष्ट्रभाषा उसी प्रदेशकी भाषा हो सकती है जिसमें राज-क्षेत्र या धार्मिक क्षेत्र हों। इस दृष्टिसे समस्त उत्तर भारतके धार्मिक क्षेत्रके शिष्ट-जन-द्वारा बोली और समझी जानेवाली हिन्दी भाषा ही राष्ट्रभाषा हो सकती है। घने बसे हुए उत्तर प्रदेशके जो लोग व्यवसाय और नौकरीके लिये विभिन्न प्रदेशोंमें और भारतके बाहर मौरिशस, ट्रीनीडाड, डच-गायना, ब्रिटिश-गायना, नैटाल और दक्षिण अफ्रीका आदि देशोंमें जा बसे हैं उनकी भी व्यवहार-भाषा नागरी या उसकी उपभाषाएँ ही हैं और वे भारतसे ही नागरीकी पोथियाँ मँगाकर अपने बच्चोंको नागरी ही पढ़ाते हैं।

राष्ट्रभाषा वही भाषा होनी भी चाहिए जिसे अधिकांश लोग सरलतासे बोल या समझ सकें। अतः, व्यापक रूपसे नागरी (हिन्दी) ही ऐसी

भाषा है जिसे हिमालय और भारतीय सागरके बीच रहनेवाले नर-नारी किसी न किसी रूपमें बोलते और समझते हैं।

विदेशी शब्दोंका पाचन

§ २७८. केवल वे ही विदेशी शब्द हिन्दीमें ग्रहण किए जायँ जिनके सुबोध पर्याय हिन्दी, संस्कृत या भारतकी भाषाओंमें न हों।

कुछ विद्वानोंका कथन है कि जो विदेशी शब्द हिन्दी भाषामें अति प्रचलित (आम फ़हम) होकर आ गए हैं उन्हें चलाते रहना चाहिए। यह प्रस्ताव इस संशोधनके साथ स्वीकार किया जा सकता है कि जो विदेशी शब्द अपनी विदेशी प्रकृति छोड़कर हिन्दी भाषाकी प्रकृति ग्रहण करके जन-साधारणकी भाषामें आत्मसात् कर लिए गए हैं उनका प्रयोग चलाए रखना चाहिए। इस सम्बन्धमें भी यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि जिस वस्तु, भाव या क्रियाके लिये भारतीय भाषाओंमें शब्द न हों, केवल उन्हीं वस्तुओं, भावों या क्रियाओंका बोध करानेवाले विदेशी शब्द ही हिन्दी भाषामें इस प्रकार मिलाए जायँ कि उनका रूप-संस्कार और ध्वनि-संस्कार हिन्दीकी प्रकृतिके अनुकूल हो। विदेशी भाषाओंके शब्द लेनेके बदले भारतकी देशी भाषाओंके उन शब्दोंको भी ग्रहण कर लेना चाहिए जो किसी वस्तु, भाव या क्रिया का स्वरूप अधिक स्पष्टताके साथ व्यक्त करते हों, जैसे—'पिन' शब्दके लिये 'टाँचणी'। इसके लिये भारतीय भाषाओंको घँघोरकर और ऐसे शब्द ढूँढकर उनका प्रचलन करना होगा।

यदि अति प्रचलित विदेशी शब्द मिला लेनेकी खुली छूट दे दी जाय तो अनधिकारी लोग अरबी, फ़ारसी और अँगरेज़ीके न जाने कितने शब्दोंका व्यवहार करने लगेंगे, जिससे ऐसे नागरी, देशी तथा संस्कृत शब्दोंका व्यवहार रुक जायगा जो विदेशी शब्दोंकी अपेक्षा अधिक सरल, मधुर, स्पष्टार्थक तथा सुबोध हैं। अतः, नागरी (हिन्दी) में केवल भारतकी अन्य देशी भाषाओंके सर्वबोध्य देशी या तद्भव शब्दों तथा संस्कृतके तत्सम शब्दोंका ही प्रयोग हो और केवल वे ही विदेशी शब्द स्वीकार किए जायँ जिनका उचित, सर्वबोध्य, स्पष्ट भावार्थक पर्याय हिन्दीकी देशी भाषाओं या संस्कृतमें न हो जैसे—कोट, टिकट, बटन, मस्जिद, रेल आदि। पारिभाषिक शब्द तो केवल संस्कृतसे ही लिए जायँ।

हिन्दीकी विभिन्न सीमाएँ

§ २७९. व्यापक दृष्टिसे उत्तर भारतके भाषा-समूहका ही नाम हिन्दी है।

हिन्दी शब्द बड़ा व्यापक है। वास्तवमें 'हिन्दी' उन भाषाओंके समूहका नाम है जो आर्यावर्तमें बोली जाती हैं किन्तु आज उसका प्रयोग शिष्ट और सामाजिक व्यवहारमें आनेवाली उस 'नागरी' के लिये होता है जिसे लोग 'खड़ी बोली' के नामसे पुकारनेकी व्यापक भूल करते हैं। नागरी लिपिमें लिखी जानेके कारण उसका 'नागरी' नाम वैसे ही सार्थक है जैसे 'बँगला' लिपिमें लिखी जानेवाली 'बँगला' भाषाका। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो खड़ी, पड़ी, टेढ़ी और सीधी बोली किसी भाषाका नाम नहीं हुआ करता। भाषाका नाम या तो उस भू-भागसे सम्बद्ध होता है जहाँ वह बोली जाती है जैसे—मराठी, गुजराती, बँगला, पंजाबी आदि या उस भाषाके लक्षणके आधारपर होता है, जैसे बिगड़ी हुई भाषाको अपभ्रंश, स्वच्छ परिष्कृत की हुई भाषाको संस्कृत और नागरिकों तथा शिष्ट व्यक्तियों द्वारा बोली जानेवाली भाषाको नागरी। इस प्रकार भारतके सन्तों-द्वारा निर्मित नागरीको 'हिन्दी' कह सकते हैं क्योंकि वह हिन्दकी भाषा हो गई है।

व्यापक रूपसे देखनेपर हिन्दी उस भाषा-समूहका नाम है जिसके अन्तर्गत पंजाबी, राजस्थानी, ब्रज, अवधी, मैथिली, भोजपुरी, मगही, बुन्देलखंडी, मालवी, छत्तीसगढ़ी, उर्दू और गुजराती आदि अनेक भाषाएँ और शैलियाँ आती हैं। ऊपर बताया जा चुका है (§ २७४) कि भारतके कुछ मुसलिम परिवारोंमें व्यवहृत जिस शैलीका नाम आजकल उर्दू है वह भी पहले 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' ही कहलाती थी। दिन-दिन बढ़नेवाले साम्प्रदायिक विद्वेषने हिन्दीकी इस शैलीमें अरबी, तुर्की, फ़ारसी आदि सेमिटिक भाषाओंके शब्द धीरे-धीरे खपाकर उसे हिन्दीकी प्रतिद्वन्द्विनी भाषाका रूप दे दिया है। फिर भी उर्दूके व्याकरणकी व्यवस्था देखते हुए वह नागरी 'हिन्दी' ही जानी और मानी जायगी। इस प्रकार 'हिन्दीके नामसे प्रसिद्ध वर्तमान नागरी भाषा वह भाषा है जिसका संस्कृतसे अविच्छेद्य सम्बन्ध बना हुआ है, जिसके क्रियापदोंका अपना विशिष्ट लोकव्यवहृत रूप स्थिर होकर साहित्य और लोकव्यवहारमें प्रयुक्त होता है, जिसमें देशी उपसर्गों और प्रत्ययोंके साथ-साथ संस्कृत प्रत्ययों और उपसर्गोंका प्रयोग होता है, जिसमें संज्ञा और विशेषण विशेषतः संस्कृतके तत्सम और तद्भव होते हैं और जिसमें

उन विदेशी शब्दोंका भी नागरीकी ध्वनि और उसके रूपके अनुसार स्वीकरण हो गया है जिनके पर्याय नागरी और संस्कृतमें नहीं है और जिनके पर्याय संस्कृतके आधारपर बनानेसे उन विदेशी शब्दोंके ठीक-ठीक भावका बोध होनेमें बाधा या भ्रान्ति होनेकी सम्भावना हो सकती हो।'

नागरी भाषा

'नागरी' भाषा ही राष्ट्रीय दृष्टिसे भारतकी राष्ट्रभाषा और मातृभाषा है भले ही लोग अपने घरोंमें ब्रज, अवधी, छत्तीसगढ़ी या भोजपुरी आदि उपभाषाओं या प्रादेशिक भाषाओंका प्रयोग करते हों। अतः, राष्ट्रीय दृष्टिसे देवनागरी लिपिमें लिखी जानेवाली नागरी भाषाको ही अब व्यापक रूपसे राष्ट्रभाषा हिन्दी कहा जाने लगा है।

भारतीय आर्य भाषाएँ

हिन्दी भाषाकी व्यापकताके प्रसंगमें भारतीय भाषाओंपर संक्षेपमें विचार किया गया है किन्तु उनका विशेष परिचयात्मक विवरण देना अवश्यक है। पीछे (§ २५६,२६७) बताया गया है कि भारतीय आर्य भाषाएँ चार कालोंमें बाँटी जा सकती हैं किन्तु कुछ लोग तीन ही काल मानते हैं।

आर्य-भाषाओंका काल निरूपण

§ २८०. कुछ विद्वानोंने भारतीय आर्य-भाषाओंको तीन युगोंमें विभक्त किया है—प्राचीन, मध्य, आधुनिक।

पीछे (§ २५८) बताया जा चुका है कि आर्य भाषाओंकी तीन शाखाएं मानी गई हैं—ईरानी, दरद, और भारतीय। आर्यशाखाकी भारतीय भाषा सबसे प्रमुख रूपसे भारतमें बोली जाती है। ऊपर (§ २५६) बताया गया है कि कुछ विद्वानोंने भारतीय आर्य भाषाओंको चार कालोंमें विभक्त किया है किन्तु कुछ विद्वानोंने इसे तीन ही कालोंमें बाँटा है—

१. प्राचीन भारतीय आर्य भाषा (१५०० ई० पू० से ५०० ई० पू०)
२. मध्यकालीन आर्य भाषा (५०० ई० पू० से १००० ई० तक)
३. आधुनिक आर्य भाषा (१००० ई० से वर्तमान काल-तक)

कुछ विद्वानोंने योरोपीय लेखकोंके मतानुसार प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओंका समय १५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक माना है। यह तो सभी मानते हैं कि इस प्राचीन आर्य भाषाका प्रमाण ऋग्वेद ही है किन्तु ऋग्वेद कब रचा गया इस सम्बन्धमें बहुतसे मत प्रचलित हैं। लोकमान्य टिळकने माना है कि 'ऋग्वेदके दशम मंडलका ८६ वाँ वृषाकपि सूक्त १८००० ई० पू० में प्रकट हुआ।' यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने सबसे पहले मन्त्रोंके दर्शन कब प्रारंभ किए। इसमें कोई संदेह नहीं कि शौनक ऋषिने जो संहिताका संग्रह किया था वह अवश्य कुछ पीछेका है किन्तु उसका भी समय निश्चित नहीं है।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा

(अनिश्चित ई० पू० से लगभग ३००० ई० पू० तक)

वैदिक संस्कृत और वैदिक प्राकृत

§ २८१. प्राचीन भारतीय वैदिक भाषाएँ सहस्रों वर्ष प्राचीन हैं।

यह तो निश्चित है कि ऋग्वेदकी भाषा ही वाक्सिद्ध आर्योंकी प्रमुख भाषा थी किन्तु उसके साथ-साथ जनसाधारणकी भी एक भाषा चलती थी। यही जनसाधारणकी भाषा वैदिक प्राकृत थी। जिस समय वैदिक संस्कृत चल रही थी, उसी समय वैदिक प्राकृत भी चल रही थी जिसमें स्त्रियाँ, बालक, अशिक्षित जन तथा सेवक-वर्ग पारस्परिक व्यवहार करते थे। उस प्राकृतमें उतनी ही ध्वनियाँ थीं जितनी संस्कृतमें, क्योंकि स्वयं पाणिनिने अपनी शिक्षामें लिखा है—

त्रिषष्टिश्चतुषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।
संस्कृते प्राकृते चापि स्वयं प्रोक्ता स्वयंभुवा॥

[शिवजीके मतसे संस्कृत और प्राकृत दोनोंमें तिरसठ या चौंसठ वर्ण हैं।]

अतः, आजकल जो लोग मानते हैं कि संस्कृतके पश्चात् प्राकृत हुई और प्राकृतमें पहुँचकर संस्कृतकी कुछ ध्वनियाँ लुप्त हो गईं वे सभी भ्रममें हैं। वास्तवमें संस्कृत (वैदिक या काव्यकी) के साथ-साथ प्राकृतें भी चल रही थीं। उस समय देशी भाषाएँ तो न जाने कितनी थीं पर प्राकृत वह भाषा थी जिसे बोलनेका प्रयत्न करते हुए संस्कृतसे अनभिज्ञ लोग व्याकरणके

विरुद्ध उच्चारण बिगाड़कर बोलते थे। भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें स्पष्ट लिखा है—

एतदेव विपर्यस्तं संस्कार-गुण वर्जितम्।
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम् ॥

[यही (संस्कृत ही) कुछ उलट-पलटकर, संस्कार (व्याकरणके नियम) और गुण[1] (उच्चारणकी सुव्यवस्था) से रहित होकर अनेक अवस्थाओं (देश-भेद तथा व्यक्ति-भेद)-के अनुसार अनेक रूपोंमें बोली जानेवाली प्राकृत समझी जानी चाहिए।]

ऋग्वेदमें आर्योंके शत्रु जिन दस्युजातियोंका विवरण मिलता है वे भी निश्चय ही प्राकृत भाषा या म्लेच्छ भाषाका प्रयोग करते रहे होंगे किन्तु उनकी भाषा क्या थी यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। जिस सुव्यवस्थित व्याकरण-सिद्ध भाषाका परिचय ऋग्वेदमें मिलता है उससे स्पष्ट है कि उतनी प्रौढ, प्राञ्जल, सुव्यवस्थित तथा व्याकरणसिद्ध भाषा कई सहस्र वर्षोंकी प्रगाढ तपस्याका परिणाम था। उस प्रकारकी दार्शनिक और पारिभाषिक शब्दावली, विज्ञानके विभिन्न तत्त्वोंका सूक्ष्म तर्कपूर्ण निरूपण, ज्योतिष, संगीत, आयुर्वेद आदि अनेक शास्त्रोंका विस्तृत, सटीक तथा सूक्ष्म परिचय इस बातका प्रमाण है कि आर्योंने केवल भाषा ही सिद्ध नहीं की थी वरन् लौकिक और पारलौकिक ज्ञान (परा और अपरा विद्या) की पूर्णता सिद्ध करके उनके विवेचनकी शास्त्रीय तथा पारिभाषिक शब्दावली भी निश्चित कर ली थी। वैज्ञानिक और दार्शनिक विषयोंका इतना अधिक विस्तृत, सूक्ष्म तथा प्रौढ ज्ञान सौ-दो सौ वर्षोंमें नहीं हो सकता। अतः, वैदिक संस्कृत निश्चय ही महाभारतके युद्ध-काल (३१४६ ई० पू०) से भी कई सहस्र वर्ष पहले पनप चुकी थी।

योरपकी वर्त्तमान भाषाएँ इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि कई सौ वर्षोंके संस्कारके पश्चात् अब वे कुछ-कुछ स्थिर हो पाई हैं फिर भी उनका शब्द-भाण्डार अभीतक उतना व्यापक नहीं हो पाया जितना वैदिक संस्कृतका था। अतः, प्राचीन भारतीय आर्य भाषाके सम्बन्धमें इतना ही कहा जा

---

१. माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः ॥

सकता है कि प्राचीन भारतमें चाहे जितनी भी भाषाएँ रही हों, किन्तु त्रिसप्त-सिन्धुके शिष्ट तथा सुशिक्षित विद्याव्रत स्नातक आर्योंकी भाषा तो संस्कृत रही और शेष लोग प्राकृतों (देशी भाषाओं) का प्रयोग करते रहे। इन विद्याव्रत-निष्णात आर्योंकी वह व्यवहार-भाषा ही प्राचीन भारतीय आर्य भाषा थी, जिसका रूप पाणिनिसे पूर्व ब्राह्मण और सूत्र-ग्रन्थोंकी भाषाके तुल्य था, जो वैदिक संस्कृतसे मिलता-जुलता है और जिसमें प्रयोग तो वैदिक शब्दावलीका हुआ है किन्तु व्याख्याकी शैली तथा भाषा थोड़ी बदली हुई है। पाणिनिसे बहुत पूर्व इन्द्र और व्याडि आदि ऐसे अनेक वैयाकरणोंका भी परिचय मिलता है, जिन्होंने समय-समयपर संस्कृत भाषाको नियन्त्रित करनेका प्रयत्न किया था। यह भी इस बातका प्रमाण है कि संस्कृत इतनी प्रौढ और व्यवस्थित भाषा हो गई थी कि शिष्ट लोगोंमें उसका व्यापक प्रयोग हो चला था और उसके अगणित व्याकरण बन चुके थे।

विद्वानोंके अनुसार 'इस प्राचीन भारतीय आर्य भाषाके अन्तर्गत वैदिक साहित्य, पुराण तथा काव्योंकी संस्कृत (क्लासिक संस्कृत) आती है जिसके प्राचीनतम रूप ऋग्वेदकी ऋचाओंमें तथा ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदिमें प्राप्त होते हैं। सूत्र-कालमें पहुँचकर यह भाषा परिवर्तित हो गई क्योंकि साधारण जनता वेद समझनेमें असमर्थ होने लगी। धीरे-धीरे वैदिक संस्कृतके पश्चात् काव्य संस्कृत-भी लोगोंके मुँहमें पड़कर बिगड़ गई। उसे ठीक करनेके लिये पाणिनिने अष्टाध्यायीकी रचना की। अन्य वैयाकरणोंने भी ऐसा ही प्रयत्न किया। बुद्धके समय-तक अर्थात् ६०० ई० पू० के लगभग-तक भारतके विभिन्न प्रदेशोंमें अलग-अलग प्राकृतें बन गईं।' इन विद्वानोंने पौराणिक तथा काव्य-संस्कृतको कृत्रिम या बनी हुई भाषा माना है। किन्तु वास्तवमें यही भाषा साहित्यिक और शिष्ट लोगोंकी भाषा थी। इसके अतिरिक्त जनता या सामान्य लोगोंकी भाषा प्राकृत नामसे चल रही थी किन्तु साहित्यमें संस्कृतका ही बोलबाला था। इसका परिणाम यह हुआ कि सभी प्राकृतों तथा दक्षिणकी द्राविड़ भाषाओंने भी संस्कृतके बहुतसे शब्द स्वीकार कर लिए। संस्कृत साहित्य इतना प्रौढ तथा इतना दीर्घजीवी रहा कि ऋग्वेद कालसे लेकर आजतक उसकी धारा अक्षुण्ण बनी रही और वह हमारे संस्कारों तथा कथा, पूजा-पाठ आदिमें ज्योंकी त्यों जीवित रही। इस संस्कृत भाषाकी तुलना यदि मूल हिन्द-योरोपीय भाषासे की जाय तो प्रतीत होगा कि संस्कृतमें (जिसमें वैदिक संस्कृत भी सम्मिलित है)—

(क) स्वरोंकी संख्या कम हो गई।

(ख) 'ऌ'का प्रयोग केवल एक 'क्लृप्' शब्दमें रह गया।

(ग) चवर्ग और टवर्गकी ध्वनियाँ बढ़ गईं।

(घ) तीन कवर्ग (क, क़, क्व) के बदले एक कवर्ग रह गया।

(ङ) स्पर्श वर्णों ('क' से 'म' तक) के प्रत्येक वर्गमें एक-एक अनुनासिक ङ, ञ, ण, न, म जोड़ दिया गया।

(च) उदासीन 'अ' स्वर लुप्त हो गया और उसके बदले 'इ' का प्रयोग होने लगा।

(छ) 'श', 'ष' दो नये ऊष्म बन गए।

(ज) 'ह्' की ध्वनि भी प्रयोगमें आने लगी।

संस्कृतमें कुछ और भी विशेषताएँ थीं, जैसे—

(क) 'ऐ औ' दोनों क्रमशः 'आइ' और 'आउ' बोले जाते थे।

(ख) शब्दोंमें व्यञ्जनोंका लोप नहीं होता था जैसा पीछे होने लगा।

(ग) शब्दोंमें धातुओंका अर्थ पहले सुरक्षित था, पीछे चलकर काव्य-संस्कृतमें कुछ-कुछ अर्थ-परिवर्त्तन होने लगा।

(घ) स्वराघात यद्यपि संगीतके समान था किन्तु वह भी समाप्त हो रहा था।

(ङ) तीन लिङ्ग, तीन वचन और आठ कारक थे।

(च) रूप-रचना बहुत जटिल थी किन्तु काव्य-संस्कृतमें यह जटिलता कम हो गई।

(छ) वाक्यमें कोई भी शब्द कहीं भी रक्खा जा सकता था।

(ज) मूल शब्दमें उपसर्ग न लगाकर वाक्यमें कहीं भी रक्खे जा सकते थे।

मध्यकालीन आर्य-भाषाएँ

(५०० ई० पू० से १००० ई० तक)

आधुनिक विद्वानोंका मत है कि ५०० ई० पू० के बहुत पहलेसे ही कुछ जन-भाषाएँ भी साहित्यिक रूप धारण कर चुकी थीं। आर्य-भाषाएँ भी बोल-चालमें ढलते-ढलते बहुत सरल हो चुकी थीं और ध्वनियोंमें भी बहुत परिवर्तन हो चले थे।

मध्यकालीन आर्य भाषाओंकी वे तीन अवस्थाएँ मानते हैं जिनमें पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश आती हैं। इसलिये इस कालको लोग तीन भागोंमें बाँटते हैं—

१. प्रथम काल ५०० ई० पू० से १ ई० पू० तक । (पालि आदि)
२. द्वितीय काल १ ई० पू० से ५०० ई० तक ।
३. तृतीय काल ५०० ई० से १००० ई० तक ।

प्रथम कालकी भाषाके अन्तर्गत लोग पालि और अशोकके शिलालेखोंकी प्राकृत मानते हैं। विण्डिश, गाइगर, राइ डैविस आदि विद्वानोंने पालिको कोशलकी बोलीपर आश्रित उस समयकी राष्ट्रभाषा माना है। साधारणतः, यह अर्धमागधीकी बोली मानी जाती है किन्तु कुछ विद्वानोंने विडिश आदि विद्वानोंका मत मानकर इसे कोशलकी ही भाषाका रूप माना है।

पालि

§ २८२. कोशली, मागधी और संस्कृत मिली हुई भाषामें बुद्धने जो उपदेश दिया उसे पालि कहते हैं, भाषाको नहीं।

पालिके सम्बन्धमें बड़ा भारी भ्रम है। कोशली, मगधी और संस्कृत मिलाकर गढी हुई कृत्रिम भाषामें बुद्धने अपना जो धर्मका उपदेश दिया था वही पालि है। संस्कृतकी प्रतिद्वन्द्विनी लोक-भाषा गढकर उसके माध्यमसे जनताको प्रभावित करनेके लिये ही ऐसा किया गया था। वास्तवमें जितना कुछ बुद्धने कहा है केवल वही 'पालि' है जैसा कि सिंहलसे प्राप्त हुए लेखोंमें भी मिलता है। वहाँ कहा गया है—

'पालिमत्तं इधानीतं न तु अट्ठकथा इधा।'

[यहाँ (सिंहलमें) पालि अर्थात् बुद्ध-वचन ही लाए गए थे, उन वचनोंपर किए गए भाष्य या अर्थकथा (अट्ठकथा) नहीं।] बुद्ध-वचन और अर्थकथा दोनों एक ही भाषामें हैं पर केवल बुद्ध-वचनको ही 'पालि' कहा गया है, अट्ठकथाको नहीं। उसकी भाषा इतनी कृत्रिम थी कि न उसकी कोई परम्परा चली और न बौद्ध साहित्यके अतिरिक्त उसमें कोई साहित्य ही रचा गया। एक बार बुद्धके पट्टशिष्य आनन्दने बुद्धसे कहा भी था कि आप अपने वचनोंको संस्कृतमें अनूदित करनेकी आज्ञा दे दीजिए किन्तु ब्राह्मणोंसे चिढ़ होनेके कारण बुद्धने कहा 'कि मैं 'बह्मण-भासा' (संस्कृत) में अपने वचन नहीं सुरक्षित करना चाहता।' इससे इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि शिष्ट जन और विद्वानोंमें संस्कृतका ही प्रचार और सम्मान था।

काच्चायन (कात्यायन) ने अपने पालि-व्याकरणमें एक सूत्र भी लिखा है—

ततो बुद्धबचनम्हि।

[पालि केवल बुद्धके वचनमें ही हैं।] इसके अतिरिक्त जातककारों और अर्थकथा (अट्ठकथा)-वालोंने भी उसी कृत्रिम भाषाका अनुकरण किया। तात्पर्य यह है कि पालि किसी भाषाका नाम नहीं है। 'पालि' केवल उस साहित्यको कहते हैं जो बुद्धका वचन माना जाता है। अतः, पालिको प्रथम कालकी अलग भाषा मानना भूल है।

पालि भाषा किस प्रदेशकी भाषा थी, कब और क्यों उसका नाम पालि पड़ा, इस सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ की गई हैं। 'पालि' शब्दका सबसे पहला व्यापक प्रयोग हमें बुद्धघोषकी अट्ठकथाओंमें (चौथी या पाँचवीं शताब्दी ईसवीमें) मिलता है। बुद्धघोषने 'मूल त्रिपिटिक' या 'बुद्ध-वचन'के अर्थमें ही 'पालि' शब्द का वहाँ प्रयोग किया है जहाँ उन्होंने त्रिपिटिकके किसी अंशको प्राचीन 'अर्थकथा' (बुद्धवचनकी व्याख्या)से भिन्न दिखानेके लिये उद्धृत किया है। उन्होंने पाठान्तरका निर्देश करते हुए लिखा भी है—

'महच्चा इति पि पालि'।

[महच्चा भी मूल पाठ है।] यहाँ इसका अर्थ 'पाठ' है। आचार्य बुद्धघोषके पूर्व लंकामें जो ग्रन्थ चौथी शताब्दीमें लिखे गए उनमें भी बुद्धवचनके अर्थमें ही 'पालि' शब्दका प्रयोग किया गया है।

कुछ आधुनिक विद्वानोंने पालि शब्दकी निरुक्ति इस प्रकार की है—

१. बुद्धघोषकी अट्ठकथाओंमें 'पालि' शब्दका प्रयोग बुद्ध वचन या मूल त्रिपिटिकके अर्थमें आया है। अतः, केवल बुद्ध-वचनको ही 'पालि' कहते हैं।

२. 'पालि' शब्दका प्राचीनतम रूप 'परियाय' मिलता है जिसका प्रयोग 'त्रिपिटिक'में बहुत बार कहीं 'धर्म' शब्दके साथ और कहीं अकेले हुआ है, जैसे—

'को नाम अयं भन्ते धम्म परियायो ति'

यहाँ 'परियाय' शब्दका अर्थ 'बुद्धका उपदेश' है। पीछे चलकर 'परियाय' शब्दका रूप बिगड़कर 'पलियाय' हो गया। अशोकके प्रसिद्ध भाब्रू शिलालेखमें 'पलियाय' शब्दका प्रयोग इसी अर्थमें मिलता है जहाँ धर्मराजके भिक्खुसंघको कहा गया है—'बुद्ध-वचन सुनो और उसका पालन करो'। यहाँ 'पालि' शब्दका अर्थ 'पालन करना' है।

३. भिक्खु सिद्धार्थका मत है कि 'पालि शब्द संस्कृतके 'पाठ' शब्दसे इस प्रकार बना है—पाठ<पाड़<पार<पाल<पालि। 'पाठ'से 'पालि' शब्दका

विकास इस प्रकार हुआ कि पहले ब्राह्मण लोग वेदके पाठके लिये 'पाठ' शब्दका प्रयोग करते थे। अतः, जब महाशाल ब्राह्मण बौद्ध मतमें आकर प्रविष्ट हुए तब उन्होंने वेदके लिये प्रयुक्त होनेवाले इस शब्दका प्रयोग बुद्ध-वचनोंके लिये करना प्रारम्भ किया। वही 'पाठ' शब्द भिक्खु-संघमें आकर 'पाल' हो गया क्योंकि संस्कृतके सभी मूर्धन्य व्यञ्जन (ट, ठ, ड, ढ, ण), पालि और प्राकृतमें 'ल' हो जाते हैं। इसीमें ह्रस्व 'इ' का आगम होनेसे 'पालि' हो गया।' किन्तु भिक्खु सिद्धार्थने यह नहीं बताया कि 'पाठ' शब्दके 'पाड़, पार, पाल' विकार किस परम्परामें प्राप्त होते हैं।

४. पंडित विधुशेखर भट्टाचार्यका मत है कि 'पालि शब्द संस्कृतके 'पंक्ति' शब्दका पर्याय है। प्रसिद्ध पालिकोष 'अभिधानप्पदीपिका' (१२ वीं शताब्दी) में 'पालि' शब्दका अर्थ 'बुद्ध-वचन' भी दिया है और 'पंक्ति' भी। 'पालि' साहित्यमें 'अम्बपाली' और 'दन्तपाली' जैसे प्रयोग भी 'पंक्ति' अर्थ ही व्यक्त करते हैं।'

अभिधानप्पदीपिकाका 'पालि' शब्द लेकर विद्वानोंने 'बुद्धवचन' और 'पंक्ति'को समानार्थी मानकर उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—'पा, पालिति, रक्खतीति पालि' [जो पालन और रक्षा करती हो वही पालि है।] जो भाषा बुद्ध-वचनका पालन करती हो और उसकी रक्षा करती हो अर्थात् त्रिपिटिकके रूपमें जो भाषा बुद्ध-वचनोंका पालन और रक्षण करती रही उसे 'पालि' कहते हैं। किन्तु 'पालि'का अर्थ आज भ्रमवश भाषाके रूपमें ही ले लिया गया है।

५. जर्मन विद्वान् डा० माक्स वेलेसरने सन् १९२४ और २५में भ्रमवश 'पालि'को पाटलि या पाटलिपुत्रकी भाषा कहकर 'पालि' मान लिया।

६. कुछ लोगोंने 'पल्लि' (गाँवँ) शब्दसे 'पालि' भाषाकी उत्पत्ति बताकर उसे ग्रामीण भाषा बताया है।

७. कुछ लोगोंने प्राकृत<पाकट<पाउड़<पाअल< पालिके विकार-क्रमके अनुसार 'प्राकृत' शब्दसे 'पालि'की व्युत्पत्ति की है।

८. कुछ लोगोंने प्रालेय+क=प्रालेयक (पड़ोसी) शब्दसे पालिकी उत्पत्ति बताई।

९. लंकाके ए० बी० बुद्धदत्त थेराने 'दि न्यू पालि कोर्स'की भूमिकामें लिखा है—'पालि वह भाषा है जिसमें प्राचीनतम बुद्ध-वचन रचे गए थे। इसकी उत्पत्ति प्राचीनतम मगधसे हुई जहाँ अशोकका राज्य था और जो अनेक

शताब्दियों-तक बौद्ध-विद्याका केन्द्र रहा। पालि तो साहित्यिक संस्कृतसे प्राचीनतर है।' किन्तु पालिको संस्कृतसे प्राचीन मानना तो नितान्त निराधार, अप्रामाणिक और असंगत है।

पालि कहाँकी भाषा थी ?

सिंहलवाले 'पालि'को मागधी या मगधकी भाषा मानते हैं। किन्तु सब विद्वान् इस मतसे सहमत नहीं है। राइ डैविसका मत है कि 'छठी या सातवीं शताब्दी ई० पू०में कोशल-प्रदेशमें यह भाषा बोली जाती थी। यही भगवान् बुद्धकी मातृभाषा थी क्योंकि उन्होंने कोशल देशमें ही जन्म लिया था और अपने प्रारम्भिक उपदेश भी इसी प्रदेशमें दिए थे। उनका अधिकांश जीवन भी इसी प्रदेशमें बीता था और भगवान् बुद्धके परिनिर्वाणके पश्चात् १०० वर्षके भीतर प्रधानतः कोशल प्रदेशमें ही उनके उपदेशोंका संग्रह भी किया गया।'

वेस्टरगार्ड और ई० कुह्नका मत है कि 'पालि उज्जयिनीकी भाषा थी क्योंकि गिरनारके अशोकके शिलालेखसे इसका सबसे अधिक साम्य है। कुमारपाल महिन्दने ही सर्वप्रथम लंकामें बौद्ध धर्मका प्रचार किया और वहाँ 'पालि' अर्थात् त्रिपिटिक ले जाकर पहुँचाया। यह कुमारपाल उज्जयिनीका निवासी था। अतः, उसने वहींकी भाषामें ही त्रिपिटिक पहुँचाया होगा।'

आर० ओ० फ्रैंकका मत है कि 'पालि भाषाका उद्गम विन्ध्य प्रदेशमें हुआ। विन्ध्य प्रदेशसे ही लोग लंकामें जाकर बसे और उन्होंने वहाँ धर्म-प्रचार किया।'

ई० मूलर और डा० ओल्डनबर्गका मत है कि 'पालि भाषा कलिंगकी भाषा थी। उनका कहना है कि लंकाके पड़ोसी होनेके कारण शताब्दियों-तक कलिंगसे ही लंकामें धर्मोपदेशका काम होता रहा।' किन्तु कलिंग और लंकामें १००० मील का अन्तर है।

इन सब विवादोंका निष्कर्ष विद्वानोंने यही निकाला कि 'पालि' मगध देशकी भाषा थी। गायरने यही माना है कि 'पालि भाषा मागधीका ही रूप है जिसमें भगवान् बुद्धने उपदेश दिए थे। यह भाषा किसी जनपद-विशेषकी भाषा नहीं थी वरन् सभ्य समाजमें बोली जानेवाली सर्व-मान्य भाषा थी जिसका विकास बुद्धसे बहुत पहलेसे हो रहा था। यद्यपि भगवान् बुद्ध मगध देशके नहीं थे तथापि उनका जीवन-कार्य अधिकांश वहीं सम्पादित हुआ। अतः, मागधीकी छाप उनपर अवश्य पड़ी होगी। इसलिये उनकी भाषा मागधी ही कही जा सकती है।'

पण्डित बटुकनाथ शर्माने लिखा है—'निःसंदेह यह उस समय मगधमें प्रयुक्त होनेवाली कोई भाषा है। भगवान् बुद्ध मागध थे। मगध (?) देशमें उनका जन्म हुआ यह सर्वत्र विदित ही है। यही उनकी भाषा मागधी थी। परन्तु यह मागधी वह मागधी नहीं है जिसका प्राकृत व्याकरणोंमें उल्लेख है क्योंकि यह अर्वाचीन है और वह अति प्राचीन। दोनोंका भेद बतानेके लिये बुद्ध-प्रयुक्त मागधीको बौद्ध मागधी कहा जाता है। यही बौद्ध मागधी मूल ग्रन्थकी भाषा होनेके कारण बादमें 'पालि' नामसे प्रसिद्ध हो गई।' 'पालि' शब्दका प्रयोग मूल ग्रन्थके अर्थमें कैसे होने लगा, इस सम्बन्धमें शर्माजीका अनुमान है कि 'काल-क्रमसे बौद्ध-वचन विस्मृति-पथमें आने लगे। तब बौद्ध उन्हें सुरक्षित रखनेकी ओर ध्यान देने लगे और मूल ग्रन्थ तथा उसके अर्थ और उसकी भाषा दोनोंको अलग घोषित करनेके लिये 'पालि' शब्दका व्यवहार करने लगे।'

सुनीतिकुमार चाटुर्ज्याका मत है कि 'बुद्धदेवके समय-तक पूर्वी भाषा भी वैदिक तथा लौकिक दोनों भाषाओंसे ही भिन्न रूपमें विकसित हो चुकी थी और वह स्वतन्त्र भाषा समझी जाने लगी थी। जब भगवान् बुद्ध तथा महावीरने वैदिक बलि-प्रदान आदि प्रथाओंके प्रतिकूल अपना दार्शनिक आन्दोलन छेड़ा तो उन्होंने संस्कृतका आश्रय नहीं लिया। वे एक ऐसी भाषाका आश्रय लेना चाहते थे जिसमें उनके विचार जनसाधारण-तक पहुँच सकें। अतएव उन्होंने आर्यभाषाके इस पूर्वीय रूपको पकड़ा जो उस समय पूर्वोत्तर-प्रदेश तथा बिहारमें प्रचलित थी। भगवान् बुद्ध तथा महावीरने जब अपना उपदेश उस भाषा (ईस्टर्न डायलेक्ट) में दिया था तब उसे साहित्यिक रूप प्राप्त हो चुका था।' पालिसे पूर्वकी भाषाके सम्बन्धमें यह मत लेवी, ल्यूडर्स आदि विद्वानोंका भी है। वे इसके बाद पालिका समय मानते हैं।

पालिके विषयमें कुछ विद्वज्जनोंकी धारणा है कि यह मगधकी प्राचीन भाषा नहीं है प्रत्युत इसका सम्बन्ध यथार्थमें मध्यदेशकी भाषासे है। विद्वान् लोग पालिको पश्चिमी हिन्दीकी पूर्वजाके रूपमें मानते हुए कहते हैं कि 'पहले बुद्ध भगवान्‌ने पूर्वीय भाषामें ही उपदेश दिए थे। बादमें वे पालि भाषामें परिणत कर लिए गए। बुद्धके समय तथा मौर्य राजाओंके कालमें पाटलिपुत्रमें इस पूर्वीय भाषाकी अधिक उन्नति हुई। इसके बाद पालि भाषाका विकास हुआ और यह विकास पश्चिमी हिन्दीके क्षेत्रमें ही हुआ। ईसवी पाँचवीं शताब्दी-तक पालिका वह स्वच्छन्द रूप पूर्ववत् नहीं रह गया।

इसमें कृत्रिमता आने लगी और इसपर संस्कृतका प्रभाव पड़ने लगा। इस समय यह भारत, सिंहल, ब्रह्मा तथा स्यामकी कृत्रिम भाषा हो गई। साधारण जनतासे इसका सम्पर्क घटने लगा। अतः, इसका ह्रास होना स्वाभाविक था।'

किन्तु जैसा ऊपर बताया जा चुका है कि 'पालि न कोई प्राकृत थी न कहींकी भाषा ही थी। बुद्धके उपदेशका ही नाम 'पालि' दिया गया जो बुद्धने कोशली, मगधी और संस्कृत भाषाके मिश्रित रूपमें प्रचारित किया था।'

पालि-साहित्य

बुद्धने अपने सब उपदेश मौखिक ही दिए थे। एक बार जब उनके शिष्य आनन्दने यह पूछा कि आपके उपदेश संस्कृतमें लिख लिए जायँ तब बुद्धने 'ब्राह्मण भाषा'में उन्हें लिखनेकी अनुमति नहीं दी। यह संभव है कि जैसे गाँधीजीके साथ महादेव देसाई उनके सब व्याख्यान और वचन लेख-बद्ध करते रहे उसी प्रकार बुद्धके साथ भी कुछ ऐसे लोग रहे हों जो उनके वचन लेख-बद्ध करते रहे हों। आनन्दका वचन स्वयं इस बातका प्रमाण है कि उनके वचन लेख-बद्ध किए जाते रहे अन्यथा वे उन्हें संस्कृतमें अनूदित करनेकी बात क्यों छेड़ते। यह तो निश्चय ही है कि बुद्धके धार्मिक ग्रन्थोंका पिटकके रूपमें लेखनका कार्य बुद्धके परिनिर्वाणके पश्चात् ईसाकी प्रथम शताब्दीसे पूर्व ही हुआ क्योंकि ईसाकी प्रथम शताब्दीमें लिखे हुए मिलिन्द-पन्हो (मिलिन्द प्रश्न)में उन सब ग्रन्थोंका उल्लेख हुआ है जो उसके पूर्व लिखे जा चुके थे। पालि-ग्रन्थोंका निरन्तर संशोधन भी होता रहा, जिसके लिये तीन महासम्मेलन भारतमें और तीन सिंहल (लंका) में हुए। भारतवर्षमें प्रथम सम्मेलन बुद्ध-निर्वाणके पश्चात् अजातशत्रुके समयमें, दूसरा सम्मेलन कालाशोकके समयमें और तीसरा अशोकके संरक्षणमें हुआ। सिंहलमें जो सम्मेलनमें हुए वे अशोकके पुत्र महेन्द्रके सिंघल जानेके पश्चात् ईसासे पूर्व हो चुके थे।

विमलाचरण लौने पालि-साहित्यके इतिहासमें इन ग्रन्थोंका समय-विभाजन इस प्रकार किया है—प्रथम काल ४८३ से ३८३ ई० पू० तक, द्वितीय काल ३८३ से २६५ ई० पू० तक, तृतीय काल २६५ से २३० ई० पू० तक, चतुर्थ काल २३० से ८० ई० पू० तक और पंचम तथा अन्तिम काल ८० से २० ई० पू० तक।

इन बौद्ध ग्रन्थोंमें तीन पिटक हैं—१. विनय-पिटक, जिसमें बौद्ध सम्प्रदाय-में प्रविष्ट होनेवाले भिक्खुओंके व्यवहारके सम्बन्धके नियमोंका उल्लेख है; २. सुत्त-पिटक, जिसमें भगवान् बुद्धके प्रवचन संग्रह किए गए हैं, और ३. अभिधम्म-पिटक, जिसमें भगवान् बुद्धके प्रवचनोंकी दार्शनिक व्याख्या की गई है। वास्तवमें इन ग्रन्थोंको ही 'पालि' कहते हैं।

इसके पश्चात् इनपर जो अनेक भाष्य लिखे गए वे सब अट्ठकथा (अर्थ-कथा) कहलाते हैं। बुद्धके जीवन-कालमें उनके साथ जो उनके प्रधान शिष्य रहते थे उन्होंने प्राचीन पद्धतिके अनुसार सब बुद्ध-वचन कंठस्थ कर लिए थे किन्तु बुद्धके परिनिर्वाणके पश्चात् यह चिन्ता हुई कि बुद्ध-वचनका संरक्षण कैसे हो। इसलिये महाकश्यपने उपालिसे विनय-सम्बन्धी और आनन्दसे धर्म-सम्बन्धी जो प्रश्न पूछे और उनके जो उत्तर मिले, उन्हें अन्य भिक्षुओंने सुनकर उनका संगायन किया अर्थात् बार-बार उनकी आवृत्ति करके उन्हें कंठस्थ कर लिया। इस प्रकार उन भिक्खुओंने ठीक उसी प्रकार बुद्धवचन कंठस्थ कर लिए जैसे भगवान् बुद्धके मुँहसे सुने गए थे। जो कुछ उन्होंने संगायन किया वह सुत्त और विनयपटिकमें संग्रह किया गया और वही आगे चलकर बौद्धोंका प्रधान धर्मग्रन्थ बन गया। इसके अतिरिक्त धम्मपद और जातक-कथाएँ भी पालि-साहित्य के अन्तर्गत आती है।

बहुतसे लोगोंका मत है कि पालि-भाषा व्यापक बोलचालकी भाषा थी। यदि ऐसी बात होती तो वह बुद्धके समय उनके दार्शनिक तत्त्वोंकी भाषा बननेके साथ-साथ साहित्यकी भाषा भी होती और उसमें साहित्य भी रचा गया होता किन्तु ऐसी बात हुई नहीं। अतः, पालिका अर्थ है पालित।< पालिअ = पाली हुई अर्थात् बुद्ध, धर्म तथा संघ-द्वारा पाली हुई भाषा जैसे बुद्धने धर्मके सम्बन्धमें मध्यम मार्ग चलाया वैसे ही भाषाके सम्बन्धमें भी उन्होंने मध्यम मार्ग अपनाया और संस्कृत तथा देशी भाषाओंको मिलाकर 'पालि' नामकी अपनी एक मध्यम जन-भाषा वैसे ही गढ़ ली जैसे सोलहवीं शताब्दीमें कबीर, नानक आदि सन्तोंने एक 'सधुक्कड़ी' भाषा गढ़ ली थी और गाँधीजीने 'हिन्दुस्तानी' भाषा गढ़नेकी बात छेड़ी थी। पीछे चलकर लोगोंने 'अर्थकथाओं' या 'भाष्यों'से मूल बुद्ध-वचनको अलग करनेके लिये बुद्ध-द्वारा 'पालित' भाषाके अर्थमें बुद्ध-वचनोंको ही 'पालि' माना। मागधी या कोशलकी भाषा यों भी पालि (धर्म-प्रवचनकी भाषा) नहीं बन सकती थी क्योंकि शास्त्रीय

तथा दार्शनिक शब्दावलीके लिये तो संस्कृतका आश्रय लेना अनिवार्य था। अतः, 'पालि' वह उपदेश-संग्रह है जो निश्चय ही संस्कृत और देशी-भाषा (मागधी और कोशली) का रलगड्डम करके पूर्णतः गढ़ी हुई बनावटी भाषामें था, इसीलिये वह पनप नहीं पाई।

एक विशेष महत्त्वपूर्ण घटनाकी ओर किसी विद्वान्का ध्यान नहीं गया। महाकश्यपने उपालिसे विनय-सम्बन्धी जो प्रश्न पूछे थे उनके उत्तर प्रामाणिक मानकर ही भिक्खुओंने उनका संगायन किया और उनकी यह परम्परा निरन्तर चलती रही। इस उपालि-वचनको 'बुद्धवचन' माना गया और यह 'उपालि-वचन' ही 'उ' का लोप होनेसे 'पालि-वचन' हो गया। 'पालि' और 'अट्ठकथा'का भेद भी इस बात का प्रमाण है कि 'पालि' कहींकी भाषा नहीं थी। प्राकृतोंमें भी पालिका कहीं उल्लेख नहीं हुआ। अतः, यह उपालि-भाषा ही 'पालि' कहलाई जिसका अर्थ कोई भाषा नहीं वरन् 'बुद्ध-वचन' मात्र है।

पालिका स्वरूप

§ २८३. पालि (उपदेश) को सरल करनेके लिये 'ऋ, ऌ, ॡ, ऐ, औ' निकाल दिए गए, संयुक्त व्यंजन द्वित्वका कर दिए गए, शब्दके अन्तिम विसर्ग और व्यंजन छोड़ दिए गए, 'र' से युक्त 'तवर्ग' सब 'टवर्ग' कर दिए गए, 'य' का 'ज', 'व' का 'ब' और 'श ष' का 'स' हो गया, द्विवचन छोड़ दिया गया और क्रियार्थक संज्ञाओंका प्रयोग बढ़ गया।

पालिमें—

'ऋ, ऌ, ऐ औ' ध्वनियाँ नहीं हैं।
'ऐ' और 'औ' के बदले क्रमशः 'ए' और 'ओ' हो गया है।
संयुक्त व्यञ्जन द्वित्व हो गए, जैसे—'कर्म' का 'कम्म', 'सूत्र' का 'सुत्त'।
विसर्ग और अंतिम व्यंजन (न्) आदि लुप्त हो गए।

जिन शब्दोंमें 'र' ध्वनि आती थी उनमें आनेवाले 'तवर्ग' सब 'टवर्ग' हो गए, जैसे—'प्रथम' का 'पठम'।

'य' के बदले 'ज' और 'व' के बदले 'ब' हो गया और 'स श ष' मेंसे केवल 'स' रह गया। ये दोनों विशेषताएँ अब भी अवधी और भोजपुरीमें विद्यमान है।
संगीतात्मक स्वराघातके बदले बलात्मक स्वराघात आने लगा।
शब्दोंके अर्थ बदलने लगे।
द्विवचन समाप्त हो गया। केवल एकवचन और बहुवचन रह गए।

संज्ञाएँ अकारान्त होने लगीं ।
काल, कारक और वाच्यके रूप बहुत कम हो गए ।
क्रियार्थक संज्ञाओंका प्रयोग बढ़ने लगा ।

द्वितीय काल (१ ई० पू० से ५०० ई०)

प्रादेशिक भाषाएँ

§ २८४. संस्कृतको बिगाड़कर बोलनेसे भारतके विभिन्न प्रदेशोंमें विभिन्न प्राकृतें बन गईं ।

आर्योंके व्यापक प्रभुत्वके कारण आर्य-शासित प्रदेशोंके शिष्ट जन तो संस्कृतका ही व्यवहार करते थे किन्तु उसके साथ-साथ भारतके विभिन्न प्रदेशोंमें जन-भाषाएँ भी चल रही थीं । ये भाषाएँ देश-भेदसे अर्थात् पर्वत, नदी, मरुभूमि आदिकी बाधाओंके कारण अलग रहनेवाली अलग-अलग जातियोंके मंडलोंमें पारस्परिक व्यवहारके लिये बोली जाती रहीं । इस प्रकार मगधमें मागधी, शूरसेन (ब्रज) में शौरसेनी, महाराष्ट्रमें महाराष्ट्री, उत्तर-पश्चिमी सीमान्तपर पैशाची और सिन्धमें ब्राचड आदि भाषाएँ बोली जाती रहीं । ये विभिन्न प्रदेशोंके लोग अपने-अपने उच्चारणके अनुसार संस्कृतको बिगाड़कर जैसा बोलते थे उसे ही प्राकृतके वैयाकरणोंने 'प्राकृत' कहकर सम्बोधित किया है । इसका यह अर्थ नहीं कि वे प्राकृतें उन देशोंकी भाषाएँ थीं । इसका शुद्ध तात्पर्य यह है कि संस्कृत ही सम्पूर्ण आर्य-भारतकी राष्ट्रभाषा और शिष्टजन-भाषा थी जिसे विभिन्न प्रदेशोंके अशिक्षित लोग अपने उच्चारणके अनुसार ढालकर बिगाड़कर बोलते थे । उदाहरणके लिये, नागरी (हिन्दी) में कहते हैं—

घोड़ा सड़कपर भड़ककर अड़ गया ।

इसे बिहारमें कहेंगे—

घोरा सरकपर भरककर अर गया ।

यही नागरी (हिन्दी) का प्राकृत रूप हो गया । इसी प्रकार नागरीका वाक्य है—'रामने दशरथसे कहा' । इसे पूर्वी हिन्दीवाले कहेंगे—'राम दशरथसे कहे' । यही प्राकृत हो गया । इसके विपरीत 'घोरवा सरकियापर भरकके अरक गयल,' 'राम दसरथसे कहलन्', 'रामनै दसरथसैं कही', 'राम दसरथसे कहिन्' या 'राम दसरथसैं बोल्यो' सब देशी रूप या देश-भेदसे प्राकृत रूप हैं ।

अतः, विभिन्न प्राकृतोंका अर्थ यही है कि विभिन्न प्रदेशोंके लोग अपने-अपने उच्चारणके अनुसार संस्कृतको अपने-अपने प्रादेशिक भाषा-रूपोंमें बोलते थे। भारतमें भी जो अनेक जातियाँ आईं वे भी अपने साथ अपना भाषा-संस्कार और अनेक नवीन शब्द लाकर प्राकृत भाषाओंके निर्माणमें योग देती रहीं।

विद्वानोंका मत है कि 'मध्य-कालके इस दूसरे भागमें प्राकृतोंने साहित्यिक रूप धारण कर लिया। अलग-अलग प्रदेशोंकी प्राकृतोंमें साहित्य रचा जाने जाने लगा और वह इस सीमातक पहुँच गया कि संस्कृत-नाटकोंमें इन प्राकृतोंका प्रयोग होने लगा, विशेषत: स्त्रियों तथा निम्न कोटिके पात्रोंके द्वारा प्राकृतका प्रयोग कराया जाने लगा। इसके अतिरिक्त द्वितीय कालमें संस्कृत भी वैदिक संस्कृतसे ढलकर व्याकरण-बद्ध काव्य-संस्कृतके रूपमें और इन प्राकृतोंसे मिलकर गाथाके रूपमें ढल गई।'

यह विचार भी सर्वथा भ्रामक है क्योंकि गाथा लिखनेवाले तो गिने-चुने व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने उसी प्रकार प्राकृतके कुछ छन्दोंमें अपने कलम माँजे हैं जैसे आजकल कुछ संस्कृतके लेखक संस्कृतमें नई शैलीके प्रगीत और ग़ज़लें लिख रहे हैं। इसे एकांगी या छिटपुट प्रयास कहना चाहिए क्योंकि यह प्रयास बहुत दिनों-तक नहीं चल पाया और स्वयं अपनी समाधि बनाकर बैठ गया। रही संस्कृत-नाटकोंमें प्राकृतके प्रयोगकी बात, उस सम्बन्धमें यह जान लेना आवश्यक है कि संस्कृत-नाटकोंकी प्राकृत भाषाएँ कृत्रिम हैं। जिस देशके लोग संस्कृतको जैसा बिगाड़कर बोलते थे वही उस देशकी प्राकृत बन जाती थी जो देशी भाषासे भिन्न होती थी।

द्वितीय कालकी प्राकृत भाषाएँ

§. २८१. द्वितीय कालकी प्राकृतोंमें पैशाची, खोतानी, खश, पालि, शौरसेनी, अर्द्धमागधी, मागधी और महाराष्ट्री प्राकृतें गिनी जाती हैं।

विद्वानोंने इस द्वितीय कालमें प्राकृतोंके निम्नलिखित रूप माने हैं—

१–पैशाची, २–खोतानी, ३–केकय, ४–खश, ५–पालि (मागधीसे प्रभावित प्राकृत), ६–शौरसेनी, ७–अर्द्धमागधी, ८–मागधी और ९–महाराष्ट्री। किन्तु ऊपर (§ २८२) बताया जा चुका है कि पालि कोई भाषा नहीं थी।

दरद, पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाबकी प्राकृत भाषाका नाम पैशाची था।

इस प्राकृतमें स्वरके बीचमें आनेवाले स्पर्श घोष सभी अघोष हो गए, जैसे—गगनका गकन, राजाका राचा।

गांधार, पंजाब और सीमाप्रांतमें तीन प्राकृतोंका विकास हुआ—१. खोतानी, जो खोतानके शिलालेखोंमें मिलती है, पर यह आगे नहीं बढ़ पाई, वहीं समाप्त हो गई; २. विहिन नामकी प्राकृत सिन्धमें बोली जाती थी जिससे ब्राचड़का जन्म हुआ; ३. पश्चिमी पंजाबमें केकय प्राकृत थी जिसकी शाखाओंमें टक्क और मध्य प्राकृतें आती हैं।

'खश' प्राकृतका प्रयोग नेपाल, गढ़वाल आदि पहाड़ी प्रदेशोंमें होता था जिसपर पैशाचीका भी पर्याप्त प्रभाव था। मागधीसे प्रभावित 'पालि' भाषाकी भी लोगोंने कल्पना की है किन्तु ऊपर बताया जा चुका है (§ २८२) कि 'पालि' नामकी कोई प्राकृत भाषा नहीं थी। अशोकके गिरनार शिलालेखोंसे सम्बद्ध जिन कई प्राकृतोंपर शौरसेनीका प्रभाव था उनमें आभीरोंकी आभीरी, मालवाकी आवन्ती, आनर्त्त या सौराष्ट्रकी सौराष्ट्री, लाट (गुजरात) की लाटी आदि थीं जिन्हें मिलाकर 'नागर' कहा जा सकता है।

कुरु, पांचाल, पूर्वी पंजाब और गंगा-यमुनाके काँठेमें शौरसेनी प्राकृत चलती थी और इसीमें सबसे अधिक प्राचीन साहित्य प्राप्त होता है। इसका प्रयोग नाटकोंमें भी बहुत मिलता है। इसकी विशेषता यह थी कि संस्कृतके 'त्' और 'थ्' जब स्वरोंके बीच आते थे तब क्रमशः 'द् ध्' हो जाते थे। शौरसेनी और मागधीके बीच अर्धमागधीका क्षेत्र था जिसका प्रयोग जैन ग्रन्थोंमें अधिक हुआ है। यही वास्तवमें अशोकके शिलालेखोंकी मूल भाषा है, जिसमें कहीं-कहीं 'र' का 'ल' ('आरभित्वा' के बदले 'आलभित्वा') हो गया है और 'श' तथा 'ष' के बदले 'स' हो गया है।

मगधकी भाषा मागधी थी जिसमें 'स ष' के बदले 'श', और 'र' के बदले 'ल' आता है, यहाँतक कि 'राजा' भी 'लाआ' हो जाता है। यद्यपि इसका कोई अलग साहित्य नहीं है तथापि नाटकोंमें इस भाषाका प्रयोग हुआ है। इनके अतिरिक्त शकारी, धक्की, चांडाली और शाबरी प्राकृतें भी मानी जाती हैं।

महाराष्ट्रकी प्राकृत भाषा महाराष्ट्री थी जिसमें दो स्वरोंके बीच आनेवाले अल्पप्राण लुप्त हो जाते थे और महाप्राणका 'ह' हो जाता था। बहुतसे विद्वान् महाराष्ट्रीको भी शौरसेनीकी शाखा मानते हैं। जिन आचार्योंने

प्राकृतके व्याकरण लिखे हैं उन्होंने व्याकरणके अन्तमें लिखा है—'शेषं महाराष्ट्रीवत्'। अतः 'महाराष्ट्री' भाषा संपूर्ण आर्यावर्त प्रदेशमें मान्य प्राकृत भाषा थी, इसीलिये 'महाराष्ट्री'को प्रधान मानकर शेष प्राकृतोंके विशेष लक्षण अलग दे दिए गए थे। दंडीने काव्यदर्पणमें (१।३५) कहा भी है—'महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः। [महाराष्ट्री ही सर्वश्रेष्ठ प्राकृत है।]

द्वितीय कालकी भाषाओंकी विशेषता

§ २८६. द्वितीय कालकी प्राकृत भाषाओंमें शब्दके बीचके बहुतसे व्यंजन लुप्त हो गए, महाप्राण वर्णोंका और 'श' का 'ह' हो गया, ओष्ठ्य स्पर्श वर्ण 'म' हो गए, 'ड' का 'ल' या 'र' हो गया, क्रिया-रूपोंमें सहायक शब्द लगने लगे और भाषा सरल हो गई।

इस कालकी प्राकृत भाषाओंकी विशेषताएँ ये थीं—

दो स्वरोंके बीच आनेवाले बहुतसे व्यंजन समाप्त हो गए, जैसे-'कोकिल' का 'कोइल' और 'शकटका' 'शअट'।

बीचमें आनेवाले महाप्राण केवल 'ह' रह गए जैसे 'पृथ्वी'का 'पुहवी'।

बीचमें आनेवाले 'श' भी 'ह' हो गए जैसे 'केशरी' का 'केहरी'।

ओष्ठ्य स्पर्श अधिकांश 'म' हो गए जैसे—'नीप' का 'नीम', 'आपीड' का 'आमेल'।

'ड' का 'ल' या 'र' हो गया जैसे—'गरुड' का 'गरुल'।

क्रिया-रूपोंमें इतनी कमी हो गई कि सहायक शब्दोंकी आवश्यकता पड़ने लगी। अतः, भाषा मिलन्त (संयोगात्मक) से अलगन्त (वियोगात्मक) होने लगी किन्तु हिन्दीकी भाँति पूर्ण वियोगात्मक नहीं हुई।

वाक्यमें शब्दोंका स्थान निश्चित हो गया।

शब्दोंमें अर्थ-परिवर्तन हो गया।

भाषा पहलेकी अपेक्षा सरल हो गई।

तृतीय काल (५०० ई० से १००० ई० तक)

अपभ्रंश

§ २८७. तृतीय कालमें अपभ्रंशोंका अस्तित्व माना जाता है।

तृतीय कालमें विद्वान् लोग अपभ्रंशका अस्तित्व मानते हुए कहते हैं कि इस कालमें प्राकृतोंमें भी विकार आने लगा जिसे भाषा-वैज्ञानिक लोग 'विकार'

कहनेके बदले 'विकास' मानते हैं। उनका कहना है कि यद्यपि सब प्राकृतें व्याकरणसे बँध गईं थीं तथापि जनताकी बोलीमें तो विकास हो ही रहा था। अतः, जो रूप बँध गए वे प्राकृत नामसे प्रसिद्ध हुए और शेष विकसित रूप अपभ्रंश कहलाने लगे।

अपभ्रंशके साहित्यिक रूप कालिदासके विक्रमोर्वशीय नाटकसे लेकर नाथ-सम्प्रदायके ग्रंथों और विद्यापति आदि कुछ हिन्दीके कवियोंकी रचनाओं-तकमें 'अवहट्ठ' रूपसे मिलते हैं। 'प्राकृत-सर्वस्व' के लेखक मार्कण्डेयने अपभ्रंशके तीन भाग किए हैं—नागर, उपनागर और ब्राचड़। इनमेंसे नागर तो गुजरातके नागर ब्राह्मणोंकी भाषा थी जिसे हेमचन्द्रने शौरसेनी प्राकृतसे निकला हुआ बताया है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि नागर ब्राह्मण सब उत्तरसे ही वहाँ गए थे और औदीच्य कहलाते थे। ब्राचड़ अपभ्रंश सिन्धमें प्रचलित थी।

उपनागर अपभ्रंश इन दोनों क्षेत्रोंके बीच अर्थात् सौराष्ट्रमें प्रचलित थी।
कुछ लोगोने माना है कि प्राकृत भाषाओंसे ही अपभ्रंश भाषाएँ निकल आईं। इस
प्रकार पैशाची प्राकृतसे पैशाची और ब्राचड़, केकयसे केकय, खशसे खश, सिंहलसे
सिंहली (एलू,) सौराष्ट्रीसेसौराष्ट्री या नागर, शौरसेनीसे शौरसेनी, अर्धमागधीसे
अर्धमागधी, मागधीसे मागधी और महाराष्ट्री प्राकृतसे महाराष्ट्री अपभ्रंश
निकली। साहित्यमें शौरसेनी अपभ्रंशका ही प्रयोग मिलता है। यह बात
स्पष्ट समझ लेनी चाहिए कि अपभ्रंश-साहित्य तो बहुत पीछेका है किन्तु अपभ्रंश
भाषाएँ तो प्राकृतों और संस्कृतके साथ-साथ प्रारंभसे ही बोली जाती रहीं।

अपभ्रंशकी विशेषताएँ

§ २८८. अपभ्रंश भाषाओंमें अकारान्त शब्द सब उकारान्त हो गए, दो
स्वरोंके बीचका 'म' भी 'व' हो गया और उसका अनुनासिक उसके पूर्व वर्णपर
चढ़ गया, अनुनासिक स्वर बढ़ने लगे, काल और कारककी क्रिया और संज्ञाके
रूप कम हो गए, कवितामें तुकका प्रयोग होने लगा और बाहरसे भी शब्द लिए
जाने लगे।

अपभ्रंशमें—

अकारान्त शब्द उकारान्त बन गए जैसे-'भ्रमर' का 'भमरु'। दो स्वरोंके बीचका 'म' भी 'व' हो गया और उसकी अनुनासिक ध्वनि उसके पूर्वके

वर्णपर जा चढ़ी, जैसे—'कमल'का 'कँवलु'। बहुतसे विद्वानोंने भ्रमवश लिख दिया है कि 'म 'का 'वँ' हो गया।

अनुनासिक व्यंजनके साथ-साथ अनुनासिक स्वर भी हो गए जैसे—'पुत्तें जाएँ'।

काल और कारकके कारण बननेवाली क्रिया और संज्ञाके रूप कम हो गए इसलिये अर्थ स्पष्ट करनेके निमित्त बहुत सी सहायक क्रियाएँ तथा परसर्ग काममें आने लगे, इसलिये भाषा विकीर्ण (अलगन्त) हो चली।

ध्वन्यात्मक शब्दोंका प्रयोग भी होने लगा, जैसे—'घड़घड़, भड़भड़'।

कवितामें तुकका प्रयोग होने लगा।

संगीतात्मक स्वराघातके बदले बलात्मक स्वराघात आ गया।

संस्कृतके तत्सम, अर्ध-तत्सम और तद्भव रूप भी प्रयुक्त होने लगे। आर्येतर भाषाओंसे भी शब्द लिए जाने लगे। शब्दोंके अर्थोंमें बहुत परिवर्तन होने लगा।

अपभ्रंशकी वास्तविक स्थिति

अपभ्रंशके सम्बन्धमें विद्वानोंकी यह धारणा नितान्त निर्मूल है कि वर्तमान हिन्दी (नागरी या खड़ी बोली) अथवा अवधी और ब्रजका उद्भव उस अपभ्रंशसे हुआ है जिसके उदाहरण हेमचन्द्रके प्राकृत व्याकरणमें मिलते हैं। सोमप्रभदेव और हेमचन्द्रने जिस अपभ्रंशके उदाहरण दिए हैं वे सौराष्ट्री, गौर्जर या पश्चिमी अपभ्रंशके हैं। हिन्दी (ब्रज-अवधी)का उद्गम सीधे संस्कृतसे हुआ और यदि उसकी कोई पूर्वगामिनी अपभ्रंश रही भी हो तो वह मध्यदेशीय अपभ्रंश रही होगी, जिसकी गणना कृष्ण पंडितकी प्राकृत-चन्द्रिकामें इस प्रकार २७ अपभ्रंशोंमें की गई है—

> व्राचडो लाटवैदर्भावुपनागर - नागरौ।
> बार्बरावन्त्यपांचालटाक्क - मालव - कैकयाः॥
> गौडौड्रदैव-पाश्चात्य-पांड्य-कौन्तल - सैंहलाः।
> कालिंगप्राच्यकर्णाटकाञ्च्यद्राविड - गौर्जराः॥
> आभीरो मध्यदेशीयः सूक्ष्मभेद-व्यवस्थिताः।
> सप्तविंशत्यपभ्रंशाः वैडालादि - प्रभेदतः॥

अपभ्रंश शब्दका सर्वप्रथम प्रयोग पतञ्जलिके महाभाष्यमें, ईसासे लगभग २०० वर्ष पूर्व हुआ है। महाभाष्यमें लिखा है—

अल्पीयांसः शब्दाः भूयांसोऽपशब्दाः। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः—तद्यथा एकस्य गो शब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्येवादयो शब्दाः।

[मूल शब्द तो थोड़ेसे होते हैं किन्तु अपशब्द बहुत होते हैं, यहाँतक कि एक ही शब्दके बहुतसे बिगड़े हुए (अपभ्रंश) रूप होते हैं, जैसे—एक ही 'गो' शब्दके 'गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका' इत्यादि अपभ्रंश शब्द मिलते हैं।]

उन्होंने छन्दस् (वेद) और भाषा (संस्कृत)के शब्दोंको ही साधु शब्द माना है और शेषको अपशब्द। अतः, पाणिनिकी दृष्टिसे अपभ्रंश शब्द वे हैं जो लौकिक और वैदिक शब्दोंसे भिन्न हैं अर्थात् संस्कृतके शब्दोंको बिगाड़कर, बढ़ाकर, हेरफेर करके जो रूप बनाए गए हैं वे ही अपभ्रंश हैं। कुछ लोगोंका मत है कि 'अपभ्रंशका अर्थ 'बिगड़ा हुआ' या 'विभ्रष्ट' नहीं है क्योंकि 'गावी' शब्द तो 'गो' के विकारसे बन भी सकता है पर 'गोपोतलिका' तो किसी प्रकार भी नहीं बन सकता।' किन्तु उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि 'गो' में 'पोतलिका' शब्द लाड़में प्रयुक्त हुआ है जैसे अपने कुत्ते 'मोती' को लोग प्यारसे 'मोतिया', 'सोनमोतिया' और 'मोतीलाल' भी कहते हैं। शब्दागम भी तो विकारमें ही आता है। एक 'कृष्ण' शब्दको लीजिए। उसके कितने रूप मिलते हैं—'कान्ह, कन्ह, कान्हा, कन्हैया, कान्धा, कान्हरो और कन्हैयालाल' आदि। किन्तु ये सबके सब 'कृष्ण' शब्दके अपभ्रंश ही हैं।

भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें तत्सम, तद्भव और देशी, तीन प्रकारके शब्दोंका अस्तित्व स्वीकार करते हुए संस्कृतके बिगड़े हुए रूपको ही प्राकृत माना है जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है—

एतदेव विपर्यस्तं संस्कार-गुण-वर्जितम्।
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम्॥

यह प्राकृत पाठ भी भरतने तीन प्रकारका बताया है—समान शब्द, विभ्रष्ट और देशी। उन्होंने कहा है कि 'कमला, अमल, रेणु, तरंग, लोल, सलिल' आदि शब्द तो समान या तत्सम शब्द हैं जो प्राकृतमें पहुँचकर भी अपना संस्कृत रूप बनाए रखते हैं। विभ्रष्ट शब्द वे हैं जो उच्चारण-दोषसे बिगड़कर विरूप हो जाते हैं, जैसे—'ग्रीष्म' का 'गिम्हो', 'कृष्ण' का 'कण्हो', 'पर्यङ्क' का 'पल्लंक' आदि। इससे स्पष्ट हो जाता है कि विभ्रष्ट और देशी शब्द भी प्राकृत हैं।

देशी भाषाके सम्बन्धमें भरतने कहा है कि 'प्रयोगके अनुसार भाषाएँ चार प्रकारकी होती हैं–अतिभाषा, आर्यभाषा, जातिभाषा तथा जात्यन्तरी भाषा। देवताओंकी भाषाको अतिभाषा और राजाओंकी भाषा (राज-भाषा या शिष्ट जन-भाषा) को आर्य-भाषा कहते हैं। जाति-भाषा भी दो प्रकारकी मानी है– एक तो वह, जिसमें म्लेच्छ शब्दोंका प्रयोग होता था और दूसरी वह जो भारतवर्षमें बोली जाती थी। जात्यन्तरी भाषा वह थी जो गाँवोंकी या जंगलके पशुओंके अनुकरणपर बोली हुई या अनेक पक्षियोंकी बोलीसे मिलती-जुलती होती थी। इसका अर्थ यह है कि भरतके समयमें भी भाषा बोलनेकी प्रकृति यह थी कि शिष्ट लोग संस्कृतका प्रयोग करते थे, सामान्य लोग प्राकृत अर्थात् संस्कृतको ही उलट-पुलटकर विभ्रष्ट करके या बिगाड़कर बोलते थे या वे अपनी देशी भाषाएँ बोलते थे। ये सब प्राकृतके अन्तर्गत ही थीं। इनके अतिरिक्त अलग-अलग प्रदेशोंमें अलग-अलग देशी भाषाएँ भी बोली जाती थीं। इस प्रकार देशभेदसे उन्होंने सात भाषाएँ गिनाई हैं—मागधी, आवन्ती, प्राच्या, शूरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका और दाक्षिणात्या। शबर, आभीर और द्राविड़ जातियोंकी भाषाओंकी गणना उन्होंने देशीमें की है क्योंकि उनका उच्चारण भ्रष्ट होता था। उन्होंने 'विभ्रष्ट'को ही 'विभाषा' बताया है।

भरतने आभीरोंकी भाषाको उकार-बहुला बताया है और उसके उदाहरण-में 'मोरेल्लउ नच्चन्तउ' शब्द दिए हैं। इसी आधारपर बहुतसे विद्वान यह समझ बैठे कि केवल अपभ्रंशकी प्रकृति उकार-बहुला होती है इसलिये आभीर-भाषा ही 'अपभ्रंश' है। यदि और भी आगेका साहित्य देखा जाय तो प्रतीत होगा कि 'अपभ्रंश' शब्द संस्कृतके 'बिगड़े हुए' रूपके लिये भी प्रयुक्त हुआ है।

वलभीके राजा हरिषेणके शिलालेखमें एक वाक्य आता है—

'संस्कृत-प्राकृतापभ्रंश-भाषात्रय-प्रतिबद्ध-प्रबंधरचना-निपुणान्तःकरणः।'

[वे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओंमें प्रबन्ध-रचना करनेमें निपुण थे।] किन्तु छठी शताब्दीके इस लेखसे बहुत पहले भासने भी अपने नाटकोंमें प्राकृतका प्रयोग किया और कालिदासने भी अपने नाटकोंमें प्राकृत और अपभ्रंशका खुलकर प्रयोग किया। स्वयं भरतने ही यह प्रमाणित कर दिया है कि नाटकोंमें अमुक-अमुक प्रकारकी भाषाओंका प्रयोग किया जाना चाहिए। भामहने काव्यके गद्य और पद्य भेद बताकर भाषाकी दृष्टिसे उनका भेद बताते हुए कहा है कि—'काव्य तीन प्रकारकी भाषाओंमें लिखे

जा सकते हैं—'संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश।' दंडीने अपने काव्यादर्शमें लिखा है—

आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः।
शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशः प्रयोजितम्॥

उन्होंने काव्यमें आभीर आदि जातियोंकी भाषा अपभ्रंश बताई है अर्थात् केवल आभीरोंकी ही नहीं वरन् आभीरोंके समान अन्य असंस्कृत जातियोंकी भाषाको भी अपभ्रंश कहा है। किन्तु दंडीको सम्भवतः अपभ्रंशोंका कोई ज्ञान नहीं था अन्यथा वे अपभ्रंशके सम्बन्धमें इतनी अप्रामाणिक और चलती-सी बात न कह देते कि 'शास्त्रमें संस्कृतके अतिरिक्त सभी अपभ्रंश हैं।' इस दृष्टिसे उन्होंने प्राकृतको भी अपभ्रंश ही माना है। अतः, उनका कथन कोई प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

नवीं शताब्दीमें अपने काव्यालंकारमें रुद्रटने छह प्रकारकी भाषाएँ मानी हैं—'प्राकृत, संस्कृत, मागधी, पैशाची, शौरसेनी और अलग-अलग देशोंकी अपभ्रंश भाषाएँ।' इसका तात्पर्य यह है कि संस्कृतके साथ-साथ प्राकृतें भी चल रही थीं किन्तु विभिन्न देशोंमें असंस्कृत लोग उस प्राकृतको भी बिगाड़-बिगाड़कर अपभ्रंश बनाकर बोल रहे थे।

ग्यारहवीं शताब्दीमें काव्यालंकारकी टीका करते हुए नमिसाधुने प्राकृतका अर्थ लोकभाषा अर्थात् साधारण जानपदीय भाषा बताया है।

§ २८९. संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश सब साथ-साथ चलती थीं।

इसका अर्थ यह है कि भाषाके ये सब रूप एक साथ चलते थे। अत्यन्त पढ़े-लिखे विद्वान्, शिष्ट पण्डित लोग संस्कृतका प्रयोग करते थे, साधारण जनता जब संस्कृत बोलनेवालोंका अनुकरण करनेके प्रयत्नमें बिगाड़कर संस्कृत बोलती थी वह प्राकृत थी, गाँव-जंगलके लोग उसीको और बिगाड़कर अपभ्रंश कर देते थे और इस प्रकार सब कालोंमें भाषाके ये तीनों रूप साथ-साथ विद्यमान रहे। आज भी अँगरेज़ी पढ़ा-लिखा व्यक्ति 'प्लैटफ़ौर्म' कहता है, स्टेशनोंपर काम करनेवाले अनपढ़ लोग 'पलेटफ़ारम' कहते हैं और गाँवके लोग उसे 'लेटफारम' कहते हैं। यह अपभ्रंशकी प्रवृत्ति इस श्रेणीतक पहुँच जाती है कि काशीमें मुक़दमा लड़नेवाले देहाती लोग 'इजलास' को 'गिलास' कहते हैं।

इस प्रकार जिस युगमें कोई नया शब्द शिष्ट लोग चलाते हैं, वह यदि सरल न हुआ तो उसका प्राकृत और अपभ्रंश रूप उसी समय चलने लगता है। अतः, यह मूल धारणा ही अलीक है कि पहले वैदिक संस्कृत रही और सब लोग शुद्ध रूपसे वैदिक संस्कृत ही बोलते रहे। यदि ऐसी बात होती तो शिक्षाकी आवश्यकता ही न पड़ती और यह कभी न कहा जाता—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

[कोई भी शब्द यदि स्वर या वर्णके दोषके कारण ठीक अर्थमें प्रयुक्त नहीं होता तो वह वाग्वज्र बनकर यजमानको उसी प्रकार मार डालता है जैसे स्वरभेदसे 'इन्द्रशत्रु' शब्द कहनेपर वृत्रासुर मारा गया।] और महाभाष्यकार भी यह न लिखता कि—

उदात्ते कर्तव्ये योऽनुदात्तः करोति खंडिकोऽपाध्यायः तस्मै चपेटां ददाति।

[जो उदात्त स्वरके बदले अनुदात्त स्वरका प्रयोग करता है उसे उपाध्यायजी एक चाँटा जड़ देते हैं।]

पीछे बताया जा चुका है (§ २२) कि पश्चिममें मिस्र और रोमसे लेकर पूर्वमें ईरान-तककी जातियाँ दस सहस्र वर्षोंतक परस्पर युद्ध करके अपनी सभ्यता, संस्कृति और भाषा लिए-दिए समाप्त हो गईं। पहली बार जब ईरानी राजा कुरु (कुरुस या साइरस) ने ५२२ ई० पू० में भारतीय सीमासे छेड़छाड़ की उसके बहुत पूर्व भारतमें संस्कृतका बोलबाला था। यद्यपि भारतके राजाओंमें भी परस्पर संघर्ष होते रहे किन्तु सांस्कृतिक एकताके कारण विद्या, कला, दर्शन और संस्कृतिमें न तो किसीने हस्तक्षेप किया, न उन्हें नष्ट किया।

भाषा-विज्ञानके पण्डित यदि उन घटनाओंपर दृष्टिपात करें तो उन्हें प्रतीत होगा कि मिस्रसे लेकर ईरान-तकके प्रदेश निरन्तर मिस्री, यूनानी, असुरी, (असीरियाई), सुरी (सीरियाई), बाबुली, सुमेरी, ईरानी, अरबी, हूण और शक जातियोंके परस्पर संहार, उथल-पुथल तथा आदान-प्रदानके परिणाम हैं। अतः, जिस समय भारतके पण्डित और राजा लोग संस्कृतका पोषण कर रहे थे उस समय मिस्रसे लेकर ईरान-तकके राजनीतिक महत्त्वाकांक्षी राजा एक दूसरे देशपर आक्रमण करके स्वतन्त्र रूपसे इधर-उधर लड़ रहे थे और जो इन युद्धोंमें विजयी होता था वह विजित देशके सैनिकों और नागरिकोंको बंदी बनाकर अपने देशमें ले जाता था। इनके अतिरिक्त व्यापारियोंका

आना-जाना तो चल ही रहा था जो विभिन्न देशोंमें आ-जाकर अपने उच्चारणके अनुसार वहाँकी भाषा बोलते चलते थे। अतः, यह कहना नितान्त भ्रामक है कि पहले संस्कृत हुई, फिर प्राकृत हुई, फिर अपभ्रंश। संस्कृतके साथ-साथ पास-पड़ोसके प्रदेशोंकी न जाने कितनी भाषाओंका मेल यहाँकी भाषाओंमें होता रहा और उन विभिन्न जातियोंके यहाँ आ बसनेके कारण पंजाब, राजस्थान, सिन्ध और सौराष्ट्रके विभिन्न प्रदेशोंकी भाषाएँ बहुत रूपोंमें वैसे ही ढल चलीं जैसे पाकिस्तान बननेके कारण सिन्धके जो लोग भारतमें आए वे यहाँ रहकर अपना संस्कार भी बनाए हुए हैं और साथ ही अपने उच्चारणके अनुसार यहाँकी भाषाका भी प्रयोग कर रहे हैं। इसी प्रकार मिस्र और भारतके बीचकी अनेक प्रतापी और समृद्ध जातियोंके परस्पर संघर्षसे जो भगदड़ मची उनमेंसे कुछ (यहूदियों और पारसियों) ने भारतमें ही आश्रय लिया। ऐसी परिस्थितिमें भाषाका निर्माण शान्ति-पूर्वक नहीं हुआ। जो जातियाँ आती गईं वे अपने उच्चारण-क्रमके अनुसार संस्कृतका विकृत उच्चारण करती रहीं और वे जहाँ-जहाँ आकर बसीं वहाँ-वहाँ उनकी अपनी प्राकृतें भी बन गईं और विभिन्न प्रदेशोंमें बसनेके कारण ही उनके द्वारा उच्चरित भाषा ही उस देशकी अपभ्रंश बन गई अर्थात् उन प्रदेशोंमें जो वहाँके प्राकृत लोग (स्वाभाविक देशवासी) जिस भाषाका प्रयोग करते थे उसीको बिगाड़कर ये नये आगन्तुक जो बोलने लगे वही अपभ्रंश बन गई। संस्कृतका 'इतः' शब्द प्राकृतमें 'इध' और लोकभाषामें 'इधर' हुआ, किन्तु अँगरेज़ इसे और भी बिगाड़कर 'इढर' कहता है। यही अपभ्रंश है। अतः, यह निष्कर्ष निकला कि जिस समय संस्कृतका बोलबाला था उस समय भी विकृत उच्चारण करनेवाले विद्यमान थे। वे तो प्राकृत बोलते थे पर बाहरसे आनेवाले, वन्य तथा ग्रामीण लोग अपनी-अपनी उच्चारण-प्रणालीके अनुसार उसका जो उच्चारण करते वही अपभ्रंश हो गया। यह इससे भी प्रमाणित होता है कि राजशेखरने अपभ्रंशका जो क्षेत्र बताया है वह वहीं है जहाँ उत्तर-पश्चिमके जल-स्थल मार्गोंसे ईरानी, यूनानी, शक, सिथियाई, हूण और अरबी लोग आ-आकर बसते रहे। उसने कहा है—

'सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।'

[सारे मरुस्थल (राजस्थान), टक्क, (पूर्वी पंजाब) से आनक पहाड़ या मालवातक सर्वत्र अपभ्रंश बोला जाता था।]

अपभ्रंश तथा अवहट्टका सम्बन्ध

विद्यापतिने अपनी 'कीर्तिलता' के प्रारम्भमें कहा है—

सक्कयवाणी बहुय न भावइ,
पाउअ रसको मम्म न जानइ।
देसिल बअना सब जन मिट्ठा,
ते तैसन जम्पेओं अवहट्टा॥

[संस्कृत वाणी बहुत लोगोंकी समझमें नहीं आती और प्राकृतका मर्म बहुतसे लोग जानते नहीं। किन्तु देशी बोली सबको मीठी लगती है, इसलिये मैंने यह अवहट्ठ कहा है।]

राजशेखरने भी कर्पूरमंजरीकी भूमिकामें कहा है—

परुसा सक्कअबन्धा पाउअ बन्धोवि होइ सुउमारो।
पुरुस - महिलाणं जेत्तिअ तेत्तिअ मिमन्तरमिमाणं।

[संस्कृतकी कविता कर्णकटु होती है और प्राकृतकी तो कोमल होती ही है। दोनोंमें वही अन्तर है जो पुरुष और स्त्रीमें होता है।]

किन्तु प्रश्न यह है कि विद्यापतिने जब 'देसिल बअना' कह ही दिया तब उन्हें यह कहनेकी क्या आवश्यकता पड़ी कि मैं 'अवहट्ठ' कह रहा हूँ। अतः, 'अवहट्ठ' कोई भाषा-शैली या विशेष प्रकारकी रचनाका नाम है जैसे राजस्थानमें 'रासो' या भोजपुरीमें 'बिदेसिया' है। विद्यापतिकी कीर्तिलतामें जो वर्णनात्मक इतिवृत्त है वह 'अवहट्ठ' या तो 'चलती कथा'के लिये है या अवहठ्ठ (अवसथ, गाँव या घर) की घरेलू या गाँवकी बातके लिये आया है। यह 'औघट' (कठिन प्रसंग) शब्दका भी अपभ्रंश हो सकता है जिसका अर्थ यह है कि 'कठिन प्रसंगको भी मैं मधुर लोक-वाणीमें कह रहा हूँ।'

अपभ्रंशके विषय

§ २६०. हेमचन्द्रकी अपभ्रंश गौर्जर या पश्चिमी अपभ्रंश है।

यदि हेमचन्द्र आदिकी अपभ्रंशके विषयोंका विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि उनमें जितने ऐतिहासिक प्रसंग आए हैं वे सबके सब कच्छ, गुजरात और मारवाड़से पश्चिमके प्रदेशके ही हैं। प्रबन्ध-चितामणिमें उदाहरण दिया गया है—

ऊग्या ताविउ जहिं न किउ, लक्खउ भणइ निघट्ट ।
गणिया लब्भइ दीहड़ा, के दहक अहवा अट्ठ ॥

[जिस उदित (प्रसिद्धि-प्राप्त) वीरसे (शत्रु लोग) तापित नहीं किए गए अर्थात् जिस वीरने शक्ति पाकर भी अपने शत्रुओंको आक्रान्त नहीं किया तो कुशल लक्खा कहता है कि उसे गिनतीके कुल दस या आठ दिन (जीनेको) मिलते हैं]

इस दोहेमें कच्छके प्रसिद्ध राजा लक्खाका वक्तव्य दिया हुआ है जो मूलराजके हाथसे मारा गया था ।

मुंज षडल्ला दोरडी, पेक्खेसि न गम्मारि ।
आसाढ़ि घण गज्जीइँ, चिक्खिलि होसे वारि ॥

[हे गँवार मुंज ! यह जो प्रेमकी डोरी ढीली हो गई है इसे अभी नहीं समझ रहे हो किन्तु आषाढ आनेपर जब बादल गरजने लगेंगे और चारों ओर फिसलन हो जायगी तब (उस समय) देखूँगी (तुम कैसे अपनेको रोक पाओगे ?) अर्थात् यह जो प्रेमकी डोरीका ढीलापन आज दिखाई पड़ता है वह बरसातमें नहीं रहेगा ।]

मुंज भणइ मुणालवइ, जुव्वण गयुँ न झूरि ।
जइ सक्कर सय खंड थिय, तो इस मीठी चूरि ॥

[मुंज कहता है कि हे मृणालवती ! तुम अपने इस बीते हुए यौवनपर मत पछताओ क्योंकि शक्कर चाहे जितनी चूर-चूर हो जाय फिर भी उसकी मिठास नहीं जाती ।]

झाली तुट्टी किं न मुउ, किं न हुयउ छारपुंज ।
हिंडइ दोरी बंधियउ, जिम मंकड तिम मुंज ॥

[मैं जलकर टुकड़े-टुकड़े होकर क्यों नहीं मर गया, क्यों नहीं राखका ढेर हो गया कि आज मेरे होते हुए मुंज इस प्रकार बंदरके समान डोरीमें बाँधकर घुमाया जा रहा है ।]

इस प्रकार उसमें अधिकांश उदाहरण मुंज-मृणालवतीके प्रसंगके ही हैं जिनका सम्बन्ध गुजरातसे ही है। इसके अतिरिक्त उनमें रुद्रादित्य, भोज, सिद्धराज जयसिंह, वर्द्धमानपुर (बढ़वाण), गिरनार आदिकी चर्चा है जिन सबका सम्बन्ध राजस्थानके दक्षिणी भाग, मालवा और गुजरातसे ही है। सोमप्रभसूरिकी कविताओंमें भी जिस नलगिरि हाथीकी चर्चा है वह उज्जयिनीके राजा चंड प्रद्योतके यहाँ था—

नलगिरि हत्थिहिमिं ठितइँ, सिवदेवेहि उच्छंगि।
अग्गिभीरु रह दारुइहि, अग्गि देहि मह अंगि ।।

[मालवाके राजा चंड प्रद्योतसे राजगृहके राजा श्रेणिकका पुत्र अभय वहाँसे बन्धन-युक्त होनेके लिये कहता है—'नलगिरि हाथीपर शिवदेवीको गोदमें बैठाकर अग्निभीरु रथकी लकड़ीसे मुझे जला दो अर्थात् मुझे यहाँसे विदा कर दो।]

यह दोहा भासके नाटकसे लिया गया है जो तीसरी चौथी शताब्दी ई० पू० में माना जाता है। इसमें भी जो कथा आई है वह पश्चिमी भारत अर्थात् उज्जयिनी, राजस्थान और मालवाकी ही है। हेमचन्द्रने अपभ्रंश-प्रकाशमें जो उदाहरण दिए हैं उनमें जितने ऐतिहासिक देशोंका समावेश है वे निश्चित रूपसे उसी प्रदेशका प्रतिनिधित्व करते हैं।

अतः, यह अपभ्रंश निश्चय ही पश्चिमी प्रदेश (पश्चिमी राजस्थान तथा सौराष्ट्र) की ही भाषा थी जहाँ विदेशी जातियाँ आकर मुख्यतः बसीं। इसीलिये सुनीतिकुमार चाटुर्ज्याने इसे पश्चिमी अपभ्रंश और कन्हैयालाल मुनशीने इसे सौराष्ट्री अपभ्रंश ठीक कहा है। इस प्रकारकी २७ अपभ्रंशोंकी गणना प्राकृत-चन्द्रिकामें की गई है (पृ० ४६२)।

अपभ्रंश और हिन्दीका सम्बन्ध

§ २९१. पश्चिमी अपभ्रंशसे हिन्दीका कोई सम्बन्ध नहीं है।

बहुतसे आचार्योंने—

पुत्तेँ जाएँ कवणु गुणु, अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पीकी भुंहड़ी, चम्पिज्जइ अवरेण ॥

[उस पुत्रके उत्पन्न होनेसे क्या लाभ और मरनेसे क्या हानि जिसके पिताकी भूमिपर कोई दूसरा अधिकार कर ले।]

—उदाहरण लेकर और इसमें आए हुए 'बप्पीकी'में प्रस्तुत 'की' सम्बन्ध कारकको देखकर उसे हिन्दीकी जननी बता दिया। किन्तु भाषाकी परीक्षा करनेपर जान पड़ेगा कि उसका सम्बन्ध गुजराती और पश्चिमी राजस्थानीसे ही अधिक है। कालिदासके विक्रमोर्वशीय नाटकसे जो दोहा दिया जाता है—

मइँ जाणिअँ मिअलोअणी, णिसअरु कोइ हरेइ।
जाव णु णव तलिसामल, धाराहरु वरिसेइ ॥

[मैंने समझा था कि मेरी मृगलोचनी (उर्वशी) को कोई निशिचर हरे लिए जा रहा है पर यह तो बिजली कौंधाता हुआ काला बादल पानी बरसा रहा है।]

—वह यदि कालिदासका ही मान लिया जाय (क्योंकि उसे कुछ लोग प्रक्षिप्त मानते हैं) तब भी इस बातकी पुष्टि होती है कि उस भाषाका सम्बन्ध मालवा और राजस्थानकी ही भाषासे रहा है जो आज भी है क्योंकि कालिदास स्वयं उज्जयिनीका था। अतः, इससे भी सिद्ध होता है कि यह गौर्जर अपभ्रंश उधरकी ही भाषा थी, हिन्दीसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

गौर्जर अपभ्रंशकी कुछ विशेष ध्वनियाँ

§ २९२. गौर्जर अपभ्रंशमें 'ऋ' का 'अ' और 'न' का 'ण' हो जाता है। गौर्जर अपभ्रंशमें प्रायः—

१. ऋ का अ हो जाता है, जैसे आज भी गुजरातमें 'कसण (कृष्ण) भाई' नाम मिलते हैं।

२. 'भ्रातृ' शब्दका आज भी 'भाव' हो जाता है जो कच्छ और सिन्धतक प्रचलित है।

इसी प्रकार 'न' के बदले 'ण' का प्रयोग राजस्थान, पंजाब और गुजरातमें है, हिन्दीमें नहीं। हिन्दीकी प्रवृत्ति शुद्ध रूपसे 'न' की है, 'ण' की नहीं। एक विशेष प्रयोग गौर्जर अपभ्रंशमें 'ज' का है जिसका अर्थ है 'ही'। आज भी गुजराती भाषामें उसका प्रयोग किया जाता है—'एक ज = एक ही।' इसके लिये मराठीमें 'च' का प्रयोग होता है—'एक-च प्याला' (एक ही प्याला) इस प्रकार अकारण ही अपभ्रंशको हिन्दीकी जननी मानकर बड़ा बखेड़ा खड़ा कर दिया है।

§ २९३. किसी भी भाषाका संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश रूप साथ-साथ चलता है।

इस विवेचनसे यह परिणाम निकला कि एक ही समय सब भाषाओंमें जहाँ एक ओर शिष्टजन किसी शब्दको भली-भाँति व्युत्पन्न करके विशेष नियमके अनुसार उसका प्रयोग करते हैं वहीं असंस्कृत लोग उसका अशुद्ध अनुकरण करते हैं और ग्रामीण तथा विदेशी लोग उसे भी बिगाड़कर बोलने लगते हैं (§ २८९)। इसका परिणाम यह होता है कि एक भाषाके शिष्ट

(संस्कृत), प्राकृत तथा अपभ्रंश तीनों रूप एक साथ चलने लगते हैं। एक विद्वान् जहाँ दूसरे विद्वान्से कहता है कि 'तुम कुछ धर्म-कर्म नहीं करते ?' वहाँ वही विद्वान् किसी अपढ़से कहता है—'अरे भाई ! तुम लोग कुछ धरम-करम किया करो।' अतः, कभी-कभी शिष्ट लोग भी संबोध्यकी प्रकृतिके अनुसार, अर्थात् जिस योग्यताके व्यक्तिसे बातें करनी होती हैं उस योग्यताके व्यक्तिसे बातचीत करते समय अपनी भाषाको प्राकृत या अपभ्रंश रूपमें ढाल लेते हैं। इसलिये यह धारणा नितान्त भ्रामक है कि किसी युगमें कई सौ वर्षतक संस्कृत रही, फिर कई सौ वर्षों-तक प्राकृत रही, फिर कई सौ वर्षोंतक अपभ्रंश रही और इसी प्रकार भाषाओंका क्रम चलता रहा। यदि व्याकरण-बद्ध हो जानेके कारण ही संस्कृत आजतक ज्योंकी त्यों बनी रही तो प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएँ भी व्याकरण बन जानेपर ज्योंकी त्यों क्यों नहीं बनी रही ? क्या कारण है कि 'पालि' नामकी तथाकथित भाषा अथवा अन्य प्राकृतें सहसा समाप्त हो गईं और अकारण अपभ्रंशकी प्रधानता हो चली ? कारण यही है कि उच्चारण बिगाड़नेवाले किसी नियमसे उच्चारण नहीं बिगाड़ते इसलिये वे व्याकरणसे नियन्त्रित नहीं होते किन्तु शिष्टजन अपनी भाषा (संस्कृत या संसिद्ध) को व्याकरणके अनुकूल ही काममें लाते हैं। अतः, वास्तविक बात यह है कि प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश सब साथ रहीं जैसा कि भास और कालिदासके नाटकों तथा भरतके नाट्यशास्त्रसे भी सिद्ध है।

८०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक उत्तर भारतमें १६ महाजनपद थे जिनमेंसे दो-दो के मेलसे एक-एक युग्म जनपद बन गया था—अंग-मगध, काशी-कोशल, बृज्जि-मल्ल, चेदि-वत्स, कुरु-पांचाल, मत्स्य-शूरसेन, अश्मक-अवन्ती और गान्धार-काम्बोज। अब यदि भरतके बताए हुए सूत्रके अनुसार परीक्षा की जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि भरतने जो सात भाषाएँ गिनाई हैं उनमेंसे मागधी तो अंग-मगधकी भाषा थी, प्राच्या भी काशी - कोशलकी थी, अर्द्ध-मागधी भी बृज्जि-मल्लकी थी, वाह्लीका भी गांधार-काम्बोजकी थी, दाक्षिणात्या भी दक्षिण की थी, अवन्तिजा भी अश्मक-अवन्तीकी थी और शौरसेनी भी मत्स्य-शूरसेनकी थी। यह वाह्लीका यदि कुरु-पांचालकी भाषा मान ली जाय तो गांधार-कम्बोजकी भाषा जाति-भाषा होगी, जिसमें म्लेच्छ शब्दोंका प्रयोग होता था। इस प्रकार भरतकी बताई हुई उस समयकी सातों देशी भाषाओंका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। यह भी स्मरण रखना

चाहिए कि भरतने इन भाषाओंको स्पष्ट रूपसे देश-भाषा कहा है, प्राकृत नहीं। उन्होंने अलग वर्णन दिया है कि चार प्रकारकी भाषाओंका ही प्रयोग करना चाहिए—अति-भाषा, आर्य-भाषा, जाति-भाषा, जात्यन्तरी भाषा। ये भेद इस दृष्टिको रखकर किए गए हैं कि देवताओंसे अतिभाषा अर्थात् अतिशय संस्कृतनिष्ठ भाषा, राजाओंसे श्रेष्ठ या आर्य संस्कृत भाषा, विभिन्न प्रकारकी जातियोंसे उनकी जाति-भाषाएँ और पशु-पक्षियोंके अनुकरणके लिये जात्यन्तरी भाषा बुलवानी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि एक संस्कृत भाषामें भी शैलीके अनुसार कई प्रकारके वर्ग बनाए जा सकते हैं। अतः, अपभ्रंशको हमें कोई अलग ढलकर बनी हुई किसी काल-विशेषकी भाषा नहीं समझना चाहिए।

आधुनिक आर्यभाषा-काल

(१००० ई० से वर्त्तमान काल-तक)

§ २६४. आधुनिक आर्यभाषा-कालमें उत्तर भारतकी सभी वर्त्तमान भाषाएँ आ जाती हैं।

यद्यपि आधुनिक आर्य भाषाओंका प्रारम्भ तो १००० ई० से ही होने लगा था पर साहित्यमें उनका प्रयोग तेरहवीं शदाब्दीसे प्रारम्भ हुआ। इन भाषाओंको अलग-अलग अपभ्रंशोंसे निकला हुआ बताना उतना ही भ्रामक है जितना यह कहना कि अपभ्रंश ही पुरानी हिन्दी है और उसीसे वर्त्तमान हिन्दी निकली है।

वर्त्तमान आर्य भाषाओंके रूपके सम्बन्धमें प्रचलित मत नीचे दिए जाते हैं—

'पैशाची अपभ्रंशसे काश्मीरीका सम्बन्ध है। ये सब भाषाएँ दरदके अन्तर्गत आती हैं। ब्राचड़ अपभ्रंशसे सिन्धीका सम्बन्ध है। इससे 'बिचौली (केन्द्रीय), सिरैकी, लारी, थरेली और कच्ची' पाँच बोलियाँ निकली हैं। इनमें 'बिचौली' ही सिन्धकी प्रधान बोली है। 'कच्छी' भाषा कच्छमें बोली जाती हैं जिसपर गुजरातीका प्रभाव है। कैकय अपभ्रंशसे पश्चिमी पञ्जाबकी 'लहँदा' भाषा निकली है जिसे 'डिलाही, जहकी, हिन्दीकी या उच्चीवी' कहते हैं। इसकी लिपि 'लंडा' है पर वह फ़ारसीमें भी लिखी जाती है। इसमें ग्राम-गीत ही हैं, साहित्य नहीं। इसकी चार बोलियाँ 'लहँदा, मुलतानी, ओठवारी और घन्नी' हैं।

पूर्वी पञ्जाबी या पञ्जाबीका जन्म कैकयसे माना जाता है। इसपर शौरसेनी और दरदका भी प्रभाव है। यह मध्य पञ्जाबकी भाषा है। इसकी लिपि

'लंडा' और 'गुरुमुखी' है। इसकी प्रसिद्ध 'डोगरी' बोली 'टाकरी' लिपिमें लिखी जाती हैं।

पहाड़ी या पर्वतीय भाषाका सम्बन्ध खश अपभ्रंशसे है। इसकी लिपि नागरी है। इनमेंसे पूर्वी पहाड़ीकी प्रधान बोली नैपाली है जिसे खसखुरा या गुर्खाली कहते हैं। मध्य पहाड़ीके दो रूप हैं—गढ़वाली और कमायूँनी, जिनमें कुछ साहित्य भी है। पश्चिमी पहाड़ीकी लगभग ३० बोलियोंमें चम्बाली, जौनसारी और सिरमैरी प्रमुख हैं। इनमेंसे चम्बालीकी अपनी लिपि है। राजस्थानियोंके आधिपत्यमें होनेके कारण इन पर्वतीय बोलियोंपर राजस्थानी भाषाओंका भी बहुत प्रभाव पड़ा।

'मालद्वीपकी माली भाषा और सिंहलकी सिंहलीको कुछ लोगोंने पालिसे विकसित हुआ बताया है। किन्तु यह भ्रम है। इसमें महाप्राणोंका अल्पप्राण और ऊष्मका 'स्' हो गया है। इसके प्राचीन रूप 'एलु' अपभ्रंशपर मराठीका बड़ा प्रभाव पड़ा है।

'नागर अपभ्रंशसे राजस्थानीका विकास हुआ जिसके पश्चिमी रूपसे गुजराती निकली।

'राजस्थानकी प्रधान बोलियोंमें मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती और मालवी प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे मारवाड़ीमें अच्छा साहित्य है।

'भीली भाषा गुजरातीकी शाखा है जो जंगल के भील बोलते हैं और खानदेशी बोलियाँ खानदेशमें बोली जाती हैं।

'शौरसेनी अपभ्रंशसे पश्चिमी हिन्दी निकली मानी जाती है जिसके अन्तर्गत कन्नौजीसे निकली हुई ब्रज तथा वह नागरी भी आती है जिसे भूलसे लोग 'खड़ी बोली' कहते हैं। इस नागरीमें संस्कृतके तद्भव रूपोंका प्रयोग होता है। मुसलिम कालमें इसमें फ़ारसी, अरबी, तुर्की आदि सेमिटिक भाषाओंके भी शब्द मिल गए थे।

'अर्द्ध-मागधी अपभ्रंशसे पूर्वी हिन्दी अर्थात् अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी बोलियाँ निकली हैं।

'मागधी-अपभ्रंशसे बिहारी, बँगला और उड़िया निकली हैं। इनमेंसे बिहारीके अन्तर्गत भोजपुरी, मगही और मैथिली बोलियाँ आती हैं।

'बँगलासे दो भाषाएँ निकलीं—बँगला और असमी। इसमें संस्कृतके शब्द अधिक हैं और 'अ' का उच्चारण 'ओ' के समान, 'स' का 'श' के समान और

'य' का 'ज' के समान होता है। असमीका क्षेत्र असम (आसाम) है जिसे कुछ लोग बँगलाकी पुत्री न मानकर भगिनी मानते हैं।

उड़िया या ओड़्री भाषा उत्कलमें बोली जाती है। आजकल इसमें मराठी और तेलुगु शब्द बहुत मिल गए हैं।

मराठीका सम्बन्ध महाराष्ट्री अपभ्रंशसे है और वह बम्बई, पूना, बरार, नागपुर-तकके व्यापक प्रदेशमें बोली जाती है। इसकी तीन प्रधान बोलियाँ हैं—मराठी, बरारी और कोंकणी। इसके अतिरिक्त द्राविड़ भाषाओंसे मिली हुई एक हल्की बोली भी बरारमें बोली जाती है। मराठीकी लिपि मोड़ी है, जिसका आविष्कार शिवाजीके मंत्री बालाजी आपाजीने किया था पर अब देवनागरीमें ही मराठी लिखी जाती है।

इन आधुनिक भाषाओंका जो वर्गीकरण ग्रियर्सनने किया था उसे डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्याने अशुद्ध सिद्ध करके यह माना है—

१. उदीच्य—सिन्धी, लहँदा, पंजाबी।

२. प्रतीच्य—गुजराती।

३. मध्यदेशीय—राजस्थानी, हिन्दी (पश्चिमी और पूर्वी), बिहारी।

४. प्राच्य—उड़िया, बँगला, असमी।

५. दाक्षिणात्य—मराठी।

किन्तु यह वर्गीकरण आचार्य चतुर्वेदीको मान्य नहीं है। पीछे (§ २७२) विवेचना हो चुकी है कि आधुनिक भाषाओंके सात वर्ग हैं—का, दा, जो, नो, चा, रा, एर,। ४३३ वें पृष्ठपर दिए हुए मानचित्रसे इनका प्रत्यक्ष परिचय मिल जायगा।

वर्त्तमान भाषाओंके लक्षण

§ २९५. वर्त्तमान भाषाएँ विकीर्ण हो रही हैं जिनमेंसे कुछमें नपुंसक लिंग नहीं रहा, अधिकांशमें द्वित्व वर्ण दूर हो गए, वाक्य-विन्यास स्थिर हो गए और नई विदेशी ध्वनियाँ भी आने लगीं।

१. वर्त्तमान भाषाएँ अलगन्त (वियोगात्मक) हो गई हैं, इसलिये सहायक क्रियाओं और परसर्गोंका सहारा लेना पड़ता है।

२. मराठी, गुजराती और सिंहली आदिको छोड़कर शेष भाषाओंमेंसे नपुंसक लिंग लुप्त हो गया है।

३. द्वित्व वर्ण दूर हो गए हैं, जैसे—'कर्म'से 'करम' या 'काम', धर्मसे

'धरम'। पर पंजाबीमें अब भी बहुतसे द्वित्व वर्ण चलते हैं, जैसे—'कित्थे, गल्ल'।

४. कारकके दो ही रूप हैं—विकारी और अविकारी।

५. कालके अलग रूप भी दो ही हैं, शेषको सहायक शब्दोंसे बनाना पड़ता है।

६. वाक्यमें शब्दोंका स्थान स्थिर हो गया है।

७. बाहरकी बहुतसी भाषाओंके शब्द ले लेनेसे 'क़, ख़, ग़, ज़, फ़' आदि नई ध्वनियाँ आ गई हैं। मुंडा और द्राविड़ परिवारकी भाषाओंसे भी कुछ शब्द ले लिए गए हैं। पर अब इन भाषाओंकी प्रकृति धीरे-धीरे संस्कृतनिष्ठ होती जा रही है।

हिन्दीके व्यापक रूप

§ २९६. हिन्दीके व्यापक रूपमें उत्तर भारतकी प्रायः सभी भाषाएँ आ जाती हैं।

बहुतसे लोगोंने 'हिन्दी' शब्दकी व्याख्या करते हुए कहा है कि संस्कृतके 'सिन्धु' और 'सिन्धी' शब्द फ़ारसीमें 'हिन्द' और 'हिन्दी' हो जाते हैं। यह 'स' को 'ह' कहनेका श्रेय केवल फ़ारसीको ही क्यों दिया जाता है। 'स' को 'ह' कहनेकी प्रवृत्ति केवल फ़ारसीमें ही नहीं हमारे यहाँ भी है। स्वयं उदयपुरमें 'साढ़े सात'को 'हाड़े हात' कहते हैं। अतः, 'हिन्दवी' या 'हिन्दी' शब्दको फ़ारसीका समझना अत्यन्त भूल है। पश्चिमी भारतके लोग (जहाँ अब भी 'स' को 'ह' बोला जाता है) व्यापारके लिये बाहर जाते थे और ये सिन्धवी (सैन्धव) या सिन्धी लोग अपनेको अपनी बोलीमें 'हिन्दी' कहते थे। फ़ारसीमें 'हिन्दी'का अर्थ है हिन्दसे सम्बन्ध रखनेवाला। भारतके जो मुसलमान अब भी हज करने मक्का जाते या व्यापारके लिये उधर जाते हैं उन्हें वहाँके लोग 'हिन्दी' ही कहते हैं और इसी नाते यहाँकी भाषा भी 'हिन्दी' कहलाती है। पड़ोसी फ़ारस, अरब आदि देशवाले भारत-भरके लोगोंको 'हिन्दी' और यहाँकी सब बोलियोंको भी 'हिन्दी' कहते हैं। जहाँतक 'हिन्दू' शब्दकी बात है, फ़ारसवाले मुसलमान लोग उन लोगोंको 'हिन्दू' कहते हैं जो इस्लाम धर्म नहीं मानते और हिन्दमें रहते हैं। यह अर्थ इसीलिये लगाया गया कि जब मुहम्मद साहबने अपना इस्लाम धर्म चलाया और सम्पूर्ण अरब, फ़ारस, तुर्किस्तान, अफ़गानिस्तान और चीन-तकका प्रदेश मुसलमान बन बैठा

तब भी हिन्दुस्तानवाले उनके धार्मिक सिद्धान्तोंसे प्रभावित नहीं हुए वरन् उलटे शैव और वैष्णव धर्मका प्रचार करके विष्णु या शिवके मन्दिर बनवाते रहे। इसीलिये 'हिन्दू' शब्दका अर्थ 'इस्लाम धर्म न माननेवाले' और 'हिन्दके निवासी' माना गया। हमारे देशमें हिन्दू शब्दका अर्थ है वह व्यक्ति, जो ईसाई, पारसी या मुसलमान न हो अर्थात् जो हिन्दू धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाले आचार-धर्मका पालन करता हो यहाँतक कि सिक्ख, जैन आदि भी व्यापक अर्थमें हिन्दू ही माने जाते हैं। जहाँतक 'हिन्दी' भाषाकी बात है, भारतके हिन्दू-मुसलमान सभी यहाँकी बोलियाँ अर्थात् व्यापक दृष्टिसे 'हिन्दी' ही बोलते हैं।

यद्यपि बाहरके पड़ोसी देशवाले भारतकी सभी भाषाओंको 'हिन्दी' मानते हैं किन्तु 'भाषा-शास्त्रकी दृष्टिसे हिन्दी वह भाषा है जो उत्तर भारतमें जयपुरसे लेकर बिहार-तक उत्तर भारतमें बोली जाती है अथवा उत्तर-पश्चिममें अम्बालेसे लेकर और पश्चिममें जयपुरसे लेकर पूर्वमें भागलपुर-पटने तक, उत्तरमें शिमलेसे लेकर नैपालके पूर्वी छोर-तकके सम्पूर्ण पहाड़ी प्रदेशके दक्षिण-से लेकर दक्षिण-पूर्वमें रायपुर-बिलासपुर-तक और दक्षिण-पश्चिममें खँडवे-तक बोली जाती है और जिसके अन्तर्गत पूर्वी राजस्थानी, जयपुरिया, छत्तीस-गढ़ी, बुन्देलखण्डी, मैथिली, ब्रज, अवधी आदि सब भाषाएँ आ जाती हैं। किन्तु यदि पत्र-पत्रिका, शिक्षा-माध्यम और साहित्यकी भाषाकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो सम्पूर्ण राजस्थानसे लेकर बिहार-तक और उत्तरमें पहाड़ी भाषाओंसे लेकर विन्ध्याचलके दक्षिणमें सतपुड़ा क्षेत्र-तक 'नागरी' (हिन्दी)'का ही बोल-बाला है जिसे कुछ लोग भूलसे 'खड़ी बोली' कहते हैं। इस प्रकार नागरी भाषाका व्यवहार करनेवाले लोगोंकी संख्या लगभग ३८ करोड़ है। पहले इस क्षेत्रमें भी ब्रजभाषा ही काव्य-भाषा या साहित्य-भाषा थी किन्तु अब ये सब भाषाएँ अर्थात् ब्रज, अवधी, मैथिली आदि केवल जानपदीय भाषाएँ रह गई हैं।

नागरीके इस सम्पूर्ण क्षेत्रमें चार मुख्य प्रादेशिक भाषाएँ मानी जाती हैं, जिनके शिष्ट (साहित्यिक) और ग्रामीण (लोगोंकी बोलचालके) दोनों रूप मिलते हैं—

१. राजस्थानी : राजस्थानकी सब बोलियाँ।

२. मैथिली : दरभंगाके चारों ओरकी बोलियाँ।

३. भोजपुरी : पटना-गयासे लेकर बनारस-गोरखपुर-तकके बीचकी बोलियोंका समूह।

४. पहाड़ी बोलियाँ : हिमालयकी तराईके पहाड़ी प्रदेशोंकी बोलियाँ। बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड और मालवाकी बोलियाँ भी इसी श्रेणीमें आती हैं। कुछ लोगोंने इन सब भाषाओंके समूहको दो भागोंमें विभक्त कर दिया है— पूर्वीय और पश्चिमी। किन्तु इसके रूप तीन माने जाने चाहिएँ—पूर्वी, पश्चिमी और मध्यगत। इन सब भाषाओंके समूहको ही भाषा-शास्त्रवाले 'हिन्दी' मानते हैं। अतः, हिन्दी शब्दके तीन अर्थ हुए—

१. उत्तर भारत-भरकी सब भाषाएँ।

२. उत्तर भारतकी सिन्धी, बँगला, गुजराती, मराठी और उड़ियाको छोड़कर शेष 'का' वर्गकी भाषाएँ।

३. गुजरात और राजस्थानसे लेकर बिहार-तककी भाषाओंका समूह।

हिन्दीका भाषा-शास्त्रीय परीक्षण

§ २९७. हिन्दीकी प्रकृतिका परीक्षण, ध्वनि, शब्द-समूह, वाक्य-विन्यास और शब्दोंकी अर्थ प्रकृतिके अनुसार करना होगा।

भाषा-शास्त्रकी दृष्टिसे हिन्दीका परीक्षण करनेके लिये निम्नलिखित बातोंपर पिचार करना होगा—

१. हिन्दीकी ध्वनियाँ।

२. हिन्दीका शब्द-समूह।

३. हिन्दीकी वाक्यनिर्माण-शैली।

४. हिन्दी शब्दोंकी अर्थ-प्रकृति।

नागरी वर्णमाला

§ २९८. नागरी वर्णमालामें संस्कृत वर्णमालासे कुछ वर्ण अधिक और कुछ कम हैं।

अपभ्रंशकी वर्णमाला देखनेसे जान पड़ता है कि उसमे अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ (ह्रस्व) ओ औ (ह्रस्व) स्वर वर्ण और क ख ग घ च छ ज झ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व स ह व्यंजन वर्ण थे किन्तु नागरी (खड़ी बोली या हिन्दीके जो भी प्राचीनतम उदाहरण मिलते हैं उनमेंसे किसीमें भी किसी संस्कृत स्वरका लोप नहीं हुआ। अमीर खुसरो (१२५५–१३२४ ई०) की पहेली लीजिए—

एक थाल मोतीसे भरा, सबके सिरपर औंधा धरा।
चारों ओर वह थाली फिरै, मोती उससे एक न गिरै॥ (आकाश)

नामदेवजी (१२६०–१३५० ई०) की हिन्दीका रचना लीजिए जो 'सिद्धोंकी बानी' की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट और वर्त्तमान हिन्दीके मेलमें हैं—

जे न भजंते नारायना।
तिनका मैं न करौं दरसना॥
जिनके भीतर रहै अन्तरा।
जैसा पशु, तैसा वह नरा॥

यह ठीक वही भाषा है जिसका प्रयोग हम आज भी कर रहे हैं और यही हिन्दीकी तद्भवात्मिका प्रकृति है।

ऋग्वेदका पहला मन्त्र है—

'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवऋत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।'

इस मन्त्रमें आए हुए 'अग्नि, पुरोहित, यज्ञ, देव, होता, रत्न' शब्द हिन्दीमें द्वित्व वर्णोंको सरल करके प्रयुक्त होते हैं, जैसे 'रत्न'का 'रतन' हो गया। यदि यह शब्द प्राकृतसे होकर आता तो 'रत्न'का 'रअण' हो जाता। किन्तु ऐसी कोई बात नहीं हुई। यदि प्राकृत और अपभ्रंशमें ढलकर हिन्दी आई होती तो उसने 'ऐ औ' छोड़ दिया होता किन्तु ऐसा भी नहीं हुआ। उसकी तद्भवात्मिका प्रकृतिमें 'ऐसा' और 'औढर' दोनों हैं। इसी प्रकार 'धर्म' शब्द भी 'धम्म' नहीं बन पाया, 'धरम' बन गया और 'कर्म' भी एक ओर 'करम' बना और दूसरी ओर कार्यके अर्थमें 'काम' हो गया। अतः, यह कहना पूर्णतः निराधार है कि हिन्दीका निर्माण प्राकृत और अपभ्रंशमें ढलकर हुआ। हाँ, यह अवश्य हुआ कि संस्कृतके स्वरित स्वर वर्ण तथा ऋ, लृ, लॄ, ङ, ञ का प्रयोग हट गया, देशी प्रकृतिसे ड़, ढ़, न्ह, म्ह, ल्ह और फ़ारसी-अरबीके सम्पर्कसे क़, ख़, ग़, ज़, फ़ आगए। वैदिक 'ळ' का प्रयोग कुछ देशी भाषाओंकी बोलचालमें रह गया जैसे पंजाबी, बाँगरू, पश्चिमी उत्तर प्रदेश आदिकी बोलचालकी भाषामें। 'ऐ औ' का उच्चारण भी अइ अउ के बदले अए अओ हो गया। 'ष' का उच्चारण 'श' और 'ऋ' का 'रि' हो गया।

हिन्दीका संस्कृतसे सीधा सम्बन्ध

हिन्दीका सीधा विकास अन्तर्वेदकी शिष्ट भाषा संस्कृतसे ही हुआ।

§ २६९. हिन्दीका सीधा विकास सीधी संस्कृतकी अन्तर्वेदी प्राकृत है। अमीर .खुसरो

हिन्दी वास्तवमें सीधी संस्कृतकी अन्तर्वेदी प्राकृत है। अमीर .खुसरो (१२५५ से १३२४ ई०) ने अपनी मुकरियाँ, पहेलियाँ और ढकोसले (अनमेलियाँ) जिस भाषामें लिखे हैं वह अमीर .खुसरोकी मातृभाषा थी

जो दिल्लीके पास मेरठ-मुजफ़्फ़रनगरमें अर्थात् अन्तर्वेदमें जैसे आजसे ६०० वर्ष पूर्व या उससे पहले बोली जाती थी वैसे ही अब भी बोली जाती है। यह अवश्य है कि अनेक जातियों और संस्कृतियोंके सम्पर्कसे उसमें बहुतसे संज्ञा-विशेषण शब्द बाहरसे आकर मिले किन्तु यह कहना नितान्त भ्रामक है कि हिन्दीकी उत्पत्ति अपभ्रंशसे हुई। नागरी भाषाका विकास सीधे संस्कृतसे इस प्रकार हुआ कि उसने संस्कृतके सन्ध्यक्षरोंको तोड़कर सीधा कर लिया और अपना रूप कोमल बनाकर ढाल लिया किन्तु न उसने प्रसिद्ध प्राकृतोंमेंको होकर अपनेको ढाला, न अपभ्रंशमेंको ही। अधिकसे अधिक उसे संस्कृतकी अन्तर्वेदी प्राकृत भाषा मान सकते हैं। हिन्दीका एक शब्द 'कौन' इसका स्पष्ट प्रमाण है। संस्कृतके 'कोनु' से हिन्दी (नागरी) में 'कौन' बन गया, पंजाबीमें 'कौण,' राजस्थानीमें 'कुण', अवधीमें 'कवन,' ब्रजमें 'कौन' बन गया। ये सभी (हिन्दी और ब्रजको छोड़कर) रूप अपभ्रंश हैं जिनकी प्राकृत 'हिन्दी' ही है।

नागरी भाषाके वर्ण

§ ३००. संस्कृतके वर्णोंकी मूल ध्वनियाँ प्रधानतः दो समूहोंमें विभक्त हैं, जिन्हें स्वर और व्यंजन कहते हैं। इनकी संख्या पाणिनीय शिक्षाके अनुसार ६३ अथवा ६४ है[1]।

अ आ आ३, इ ई ई३, उ ऊ ऊ३, ऋ ॠ ॠ३, ऌ, ए ए३, ऐ ऐ३, ओ ओ३, औ औ३, क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व श ष स ह, चार यम[2], अनुस्वार, (ं) विसर्ग (:), ≍ क् जिह्वामूलीय, और ≍ प् उपध्मानीय, प्लुत ऌकार और दुःस्पृष्ट।

---

१. त्रिषष्टिश्चतुषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः ॥
संस्कृते प्राकृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा।
स्वराः विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः ॥
अनुस्वारो विसर्गश्च ≍ क ≍ पौ चापि पराश्रितौ।
दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो ऌकारः प्लुत एव च ॥

२. वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धः (पलिक्क्नी, चख्ख्नतुः, अग्ग्निः, घ्घ्नन्ति।)
—सिद्धान्तकौमुदी संज्ञा प्रकरण

उच्चारण-स्थान

§ ३०१. संस्कृतमें प्रयुक्त वर्णोंका उच्चारण-स्थान स्पष्टतः निर्दिष्ट है। काव्य-संस्कृतमें प्रयुक्त वर्णमालाके अनुसार 'अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ' स्वर-वर्ण कहलाते हैं।' 'क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह' व्यंजन वर्ण कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त अनुस्वार (ं), विसर्ग (:) और अनुनासिक (ँ) का भी प्रयोग मिलता है। नीचे दिए हुए कोष्ठकसे विदित होगा कि संस्कृत वर्णोंके उच्चारण-स्थानका निर्देश-क्रम सर्वथा वैज्ञानिक है।

वर्ण	उच्चारण-स्थान	वर्ग
अ आ, ह[1]	कण्ठ	स्वर, अन्तःस्थ
क ख ग घ ङ[1]	जिह्वामूल	कवर्ग
इ ई, च छ ज झ ञ, य श	तालु	स्वर, चवर्ग, अन्तःस्थ
ऋ ॠ, ट ठ ड ढ ण, र ष	मूर्धा	स्वर, टवर्ग, अन्तःस्थ
लृ, त थ द ध न, ल स	दन्त	स्वर, तवर्ग, अन्तःस्थ
उ ऊ, प फ ब भ म	ओष्ठ	स्वर, पवर्ग
ए ऐ	कण्ठ-तालु	स्वर
ओ औ	कण्ठोष्ठ	स्वर
व	दन्तोष्ठ	अन्तःस्थ

१. 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' के अनुसार 'अ आ ह क ख ग घ ङ' के उच्चारण-का स्थान कण्ठ है किन्तु ईश्वरचन्द्र विद्यासागरने इसमें संशोधन करते हुए 'अ आ ह' का उच्चारण-स्थान कण्ठ तथा कवर्गका उच्चारण-स्थान जिह्वामूल निर्दिष्ट किया है—'जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तः।' पाणिनीय शिक्षापर उक्त मत 'क़ ख़ ग़' के सम्बन्धमें है। इनका प्रयोग नागरी (हिन्दी)में तो नहीं पर 'कागज़' आदि विदेशी शब्दोंमें होता है। नागरीमें उन्हें तद्भव रूपमें ग्रहण करना चाहिए तत्सम रूपमें नहीं। अतः, नागरीमें इन नवीन ध्वनियोंके स्वीकरणकी कोई आवश्यकता नहीं है, 'कागज' लिखकर भी कार्य चल जायगा। हाँ, तत्सम लिखते समय शुद्धिके लिये नीचे बिन्दु लगाकर उनका प्रयोग अवश्य करना चाहिए।

वर्णोंके पाँच भेद

§ ३०२. स्वर, काल, स्थान, आभ्यन्तर प्रयत्न और बाह्य प्रयत्नके अनुसार वर्णोंके पाँच भेद हैं।

कारणके अनुसार इन वर्णोंके पाँच भेद माने जाते हैं—

१. स्वरकृत भेद : उदात्त (ऊँचे स्वरसे), अनुदात्त (नीचे या मन्द स्वरसे) और स्वरित (समाहार, अर्थात् न बहुत ऊँचे स्वरसे और न बहुत नीचे स्वरसे) बोलना। याज्ञवल्क्य-शिक्षामें इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है—गांधार और निषाद उदात्त हैं (क्योंकि इनमें दो श्रुतियाँ हैं), ऋषभ और धैवत अनुदात्त हैं (क्योंकि इनमें तीन श्रुतियाँ हैं) और षड्ज, मध्यम और पंचम स्वरित हैं (क्योंकि इनमें चार श्रुतियाँ हैं)।

उच्चौ निषादगान्धारौ नीचौ ऋषभ - धैवतौ।
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेयाः षड्ज-मध्यम-पञ्चमाः ॥

२. कालकृत भेद : जैसे ह्रस्व (इ), दीर्घ (ई) और प्लुत (ई३); अर्थात् एक स्वरके उच्चारणमें लगनेवाले समयके अनुसार भेद।

३. स्थान-कृत भेद : मुखके भीतर जिन स्थानोंसे ध्वनिका उच्चारण हो उनके अनुसार भेद।

४. आभ्यन्तर प्रयत्न-कृत भेद : किसी ध्वनिको उच्चरित करनेमें मुखके भीतर जीभके संयोगसे जितना प्रयत्न करना पड़ता हो उसके अनुसार भेद।

५. बाह्य प्रयत्नकृत भेद : वर्णको जितनी साँसके साथ ध्वनित करके मुखसे बाहर व्यक्त करना पड़ता हो, उसके अनुसार भेद।

हिन्दीके विशेष वर्ण

३०३. हिन्दीमें संस्कृतके वर्णोंके अतिरिक्त क़ ख़ ग़ ज़ ड़ ढ़ फ़ न्ह, म्ह, न्य, ल्ह, वर्णोंका भी प्रयोग होता है।

नागरी (हिन्दी) में निम्नांकित स्वरों, व्यंजनों तथा मिश्र व्यंजनोंका प्रयोग होता है—

अ (अ) आ इ ई उ ऊ ऋ (ॠ) ऌ
ए ऐ ओ औ अँ अं अः
क क़ ख ख़ ग ग़ घ ङ

च छ (छ) ज ज़ झ (झ) ञ
ट ठ ड ड़ ढ ढ़ ण (ण)
त थ द ध न न्ह
प फ फ़ ब भ म म्ह
य र न्य ल (ल) ल्ह व ळ
श (श) ष स ह क्ष (क्ष) त्र ज्ञ (ज्ञ) श्र

'य' से पूर्व सब हलन्त वर्ण ब्रज, अवधी, राजस्थानी आदि देशी भाषाओंमें स्पर्श-ध्वनि-मात्रके साथ अर्थात् हलका स्पर्श करके बोली जाती हैं, जैसे—'छक्यौ, देख्यौ, जग्यौ, बध्यौ, बौल्यौ' आदि शब्दोंमें ।

§ ३०४. प्रारंभमें शुद्ध उच्चारण सिखानेकी व्यवस्थाके अभाव, विदेशी भाषाओंके सम्पर्क और स्थानीय भाषा-प्रकृतिके कारण उच्चारणमें बहुत विकार आ गए हैं।

इन उपर्यंकित ध्वनियोंकी भारतके विभिन्न प्रदेशोंमें निम्नांकित विकृतियाँ प्राप्त होती हैं—

वर्ण	उच्चरित ध्वनियाँ	संस्कृत ध्वनि	हिन्दी
ऐ	अए, अइ, ए	अइ	अए
औ	अओ, अउ, ओ	अउ	अओ
ऋ	री, रि, रु, रू, ऋ	ऋ (पश्च मूर्धन्य)	
क	क, ख	क	
ख	ख, क	ख	
ग	ग, क, घ	ग	
घ	घ, क, ग	घ	
ङ	ङ, अंगऽ, ङ्ग, गँ	ङ	
च	च, च़	च (तालव्य)	
छ	छ, च	छ	
ज	ज, ज़, च	ज	
झ	झ, झ़, ज, ज़	झ	
ञ	इयँ, यँ, याँ	ञ	
ट	ट, ठ, ड	ट	

ठ	ठ, ट, ढ	ठ	
ड	ड, ड़, ट, र	ड	
ड़	र, ड़, ड, ळ	ड़	
ढ	ढ, ढ़, ड, ल्ह	ड	
ढ़	ढ, ढ़, ड़, ल्ह	ढ़	
ण	ण, न, ड़, ड, ळ	ण	
त	त, त, थ, द, ट	त	
थ	त, थ	थ	
द	त, द, ध, ड	द	
ध	ध, द, त, ढ	ध	
न	न, ण	न	
फ	फ, फ़, प, भ	फ	
ब	ब, भ, प	ब	
भ	ब, भ, प	भ	
य	य, ज	य	
र	र, ड़, ल	र	
व	व, व़, ब, फ़	व	(दन्त्यौष्ठ)
ल	ल, ळ, ड़, र	ल	
श	श, स	श	(तालव्य)
ष	श, ख, ष़, स	ष	(मूर्धन्य)
स	स, श, ह, ज़	स	(दन्त्य)
क्ष	क्ष, छ, क्स, क्ख	क्ष	(क्ष)
ज्ञ	ग्य, ग्यँ, ज्ञ, ग्गो	ज्ञ	(ज्ञ)
ळ	ल, ळ, ड़	ळ	(ल़)

हिन्दीपर विदेशी प्रभाव

हिन्दी भाषाकी ध्वनियोंपर विदेशी ध्वनियोंका भी बहुत प्रभाव पड़ा। कुछ भारतीय भाषाओंमें उन ध्वनियोंके निर्देशक चिह्न भी बना लिए गए जिनकी देखादेखी लोग कहीं-कहीं हिन्दीमें भी उनका प्रयोग करने लगे हैं, उदाहरणके लिये—'कौलेज, जौली, ऐंड' शब्द उद्धृत किए जा सकते हैं। प्रथम दो शब्दोंमें से 'कौ' और 'जौ' का उच्चारण 'आ' और 'औ' के बीचका है और

'एंड' में हल्के 'ऐ' का। कुछ लोग प्रायः 'औ' और 'ऐ' पर पूरा बल देते हुए इन शब्दोंका उच्चारण 'कउलेज, जउली, अइंड' करते हैं। मराठीमें उक्त ध्वनियोंको स्पष्ट करनेके लिये अनुस्वार-विहीन अर्धचन्द्र (ॅ) का प्रयोग होता है। वे इन शब्दोंको 'कॉलेज, जॉली, एॅंड' लिखते हैं। उक्त ध्वनियोंका निर्देश करनेके लिये हिन्दीमें भी मराठीवाले चिह्नका प्रयोग होने लगा है। किन्तु जब 'बैंक' लिखना हो तो इस चिह्नके अनुसार लिखेंगे—'बॅंक', जो अनुनासिक सहित 'ब' (बँ) बनकर 'बँगला' शब्दका 'बँ' बनकर 'बैंक' शब्दके उच्चारणके लिये अशुद्ध हो जाता है।

उच्चारण-दोष

विदेशी भाषाओंके प्रभावके कारण तथा अपने यहाँ प्रारंभमें सविधि उच्चारण सिखानेकी व्यवस्था छूट जानेसे नागरी लिपि लिखनेवाले तथा नागरी भाषाभाषी भी इन ध्वनियोंके उच्चारणमें भूल करने लगे। कुछ वर्ण तो ऐसे भी हैं जिनके वास्तविक उच्चारणमें लोगोंको बड़ा भ्रम है। ऐसी अनेक ध्वनियोंका उच्चारण भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें भिन्न-भिन्न ढंगसे होने लगा है। नागरी वर्णमालाको पंजाबमें 'का, खा, गा, घा' पश्चिमी उत्तरप्रदेश और राजस्थानमें 'कै, खै, गै, घै', बिहार तथा पार्वत्य प्रदेश (गढ़वाल, कुमायूँ) में प्रत्येक वर्णका उच्चारण हल्का ओकार लगाकर और बंगाली तो स्पष्ट गोल मुँह बनाकर सभी अक्षरोंको गोल करते हुए 'को, खो, गो, घो' पढ़ते हैं। बंगालियोंका अशुद्ध उच्चारण तो साहित्यिक कहानीकी वस्तु हो गया है। किसी पुराने परिहास-प्रिय संस्कृत कविका वह श्लोक द्रष्टव्य है जिसमें बङ्गीय उच्चारणसे विक्षुब्ध सरस्वती-द्वारा ब्रह्माजीसे निवेदन कराया गया है—

ब्रह्मन्विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकारजिहासया।
गौडस्त्यजतु वा गाथामन्या वाऽस्तु सरस्वती॥

[हे ब्रह्माजी ! अपना अधिकार छोड़नेकी इच्छासे मैं यह निवेदन करना चाहती हूँ कि या तो बंगाली लोग गाथा (संस्कृत श्लोक) पढ़ना छोड़ दें या आप कोई अपनी नई सरस्वती बना लीजिए।]

संतोषकी बात है कि पूर्वी उत्तर प्रदेश और नागरी भाषा-भाषी मध्य-प्रदेश के लोग हिन्दी ध्वनियोंका उच्चारण शुद्ध करते हैं। इस संबंधमें सबसे बढ़कर चमत्कारकी बात तो यह है कि जो लोग पृथक् ध्वनियोंका विकृत भी उच्चारण करते हैं वे भी उनसे शब्द बन जानेपर उसका शुद्ध उच्चारण करने

लगते हैं। उदाहरणके लिये पश्चिमी उत्तर प्रदेशमें 'क, ल, म' को अलग-अलग 'कै, लै, मै' कहनेवाले लोग भी मिलाकर 'कलम' ही लिखते और पढ़ते हैं।

अनिश्चित प्रयोग

नागरी वर्णमालामें कुछ ध्वनियाँ ऐसी भी हैं जिनका प्रयोग उठ चुका है या जिनका उच्चारण इस समय अनिश्चित है। वैदिक संस्कृतमें 'ह्रस्व' अ का उच्चारण विवृत (मुँह खोलकर 'आ' के समान) होता था। पर पीछे चलकर काव्य-संस्कृत तथा प्रातिशाख्योंमें पाणिनीय शिक्षादिके द्वारा इसका उच्चारण आजकलकी भाँति 'संवृत' ही होने लगा।

ऋ और लृ का उच्चारण

'ऋ' और 'लृ' का उच्चारण वैदिक कालमें भिन्न होता था। इसके साथ 'र' ध्वनि तो अवश्य उच्चरित होती थी, जिसके प्रमाण ऋक् प्रातिशाख्य और महाभाष्य हैं। पर इसका ठीक-ठीक उच्चारण निश्चित रूपसे नहीं बताया जा सकता। पालि और प्राकृतोंमें 'ऋ' का प्रयोग नहीं था। उनमें 'ऋ' के बदले कभी 'अ', कभी 'इ' और कभी 'उ' हो जाता था जैसे—'कृत' का 'कद', 'ऋषि' का 'इषि' और 'वृक्ष' का 'रुक्ख'। 'ऋ' के उक्त तीन विकार संस्कृतमें भी उपलब्ध हैं—'कृ' का 'करण', 'तृ' का 'तीर्ण' और 'पृ' का 'पूर्ति'। ऐसी स्थितिमें 'ऋ' का उच्चारण न तो 'अम्र्ृताञ्जन'वाला ठीक है और न 'रिशी' ही उचित है।

'लृ'का प्रयोग तो वैदिक संस्कृतमें ही अत्यल्प मात्रामें होता था। काव्य संस्कृतमें 'लृ'का प्रयोग लगभग होता ही नहीं था[1]। आधुनिक पाश्चात्य विद्वानोंका यह भ्रामक मत है कि प्राचीन 'लृ' का उच्चारण अँगरेजीके 'लिटिल्' शब्दके अन्तमें उच्चरित होनेवाले 'ल्'के समान था। वास्तवमें वह स्पष्ट रूपसे क्लृप्में उच्चरित होनेवाले 'ल' के समान अर्थात् 'ल' को तालुपर रगड़नेसे बोला जाता था। पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दीमें 'लृ' का प्रयोग कहीं उपलब्ध नहीं है।

---

१. अथ लृकारोपदेशः किमर्थः। किं विशेषेण लृकारोपदेशश्चोद्यते न पुनरन्येषां वर्णानां चोद्यते। यदि किञ्चिदन्येषामपि वर्णानामुपदेशे प्रयोजनमस्ति लृकारोपदेशस्यापि तद्भवितुमर्हति। को वा विशेषः। अयमस्ति विशेषः। अस्य लृकारस्याल्पीयाँश्चैव प्रयोगविषयः। यश्चापि प्रयोगविषयः सः क्लृपिस्थस्यैव। —महाभाष्य १।१।२।२।

स्वरोंमें सन्ध्यक्षर

'ए ऐ ओ औ' को वैदिक और काव्य-संस्कृतमें सन्ध्यक्षर माना गया है। इनके उच्चारण-स्थान भी (एदैतोः कण्ठतालुः। ओदौतोः कण्ठौष्ठम्) एकके बदले दो बताए गए हैं। महाभाष्यने भी इन्हें सन्ध्यक्षर माना है। इसी आधारपर यह कल्पना की जाती है कि इन चार अक्षरोंका उच्चारण एक स्वरके समान अर्थात् समान स्वरके समान नहीं वरन् दो स्वरोंके समान, सन्ध्यक्षरोंके समान होता रहा होगा। पर उनका ठीक-ठीक उच्चारण देश-भेदके अनुसार भिन्न था। प्रायः 'ए ओ ऐ औ' का प्राचीन उच्चारण क्रमशः 'अइ अउ आइ आउ' माना जाता है। इसका आधार यह है कि सन्धि-स्थलोंके 'ए' 'ओ' 'ऐ' 'औ' की रचना 'अ + इ' 'अ + उ' 'अ + ए' 'अ + ओ' के योगसे होती है। 'अए अओ' भी 'ऐ औ' का एक उच्चारण माना जाता है जो आधुनिक नागरीमें उपलब्ध है। पर हिन्दीकी स्थिति कुछ विचित्र है। आधुनिक हिन्दीमें 'ए ओ' का उच्चारण एक स्वर-सा होता है और 'ऐ औ' का सन्ध्यक्षर सा। अतः, कुछ निर्णय करनेके पूर्व उन वर्णोंके इतिहास-पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए। यह कहा जा चुका है कि संस्कृतमें ये स्वर संयुक्ताक्षर माने गए हैं। पालि और प्राकृतमें 'ए ओ' तो उपलब्ध हैं पर 'ऐ औ' नहीं मिलते। प्राकृतमें प्रायः 'ऐ' का 'ए' और 'औ' का 'ओ' ही जाता है। पर कुछ ऐसे परिवर्तन भी उपलब्ध हैं जो इन स्वरोंके आधुनिक नागरी उच्चारणके कारण माने जा सकते हैं। प्राकृतमें 'दैत्य' शब्दके 'दै' का उच्चारण 'दइ' और 'पौरव' शब्दके 'पौ' का उच्चारण 'पउ' था। अतः, संस्कृतमें चाहे इनका उच्चारण सन्ध्यक्षर-सा भी हो पर हमारा आधुनिक उच्चारण भी निराधार नहीं हैं क्योंकि प्राकृतोंमें भी इनका उच्चारण आज-सा ही था। अतः, 'ऐ औ' का शुद्ध उच्चारण 'अइ' 'अउ' ही मानना चाहिए। किन्तु वृद्धि-सन्धिके नियमानुसार इनका निर्माण 'अ + ए, अ + ओ' से होने के कारण इनका उच्चारण 'ऐसा' 'ऐश' तथा 'औरत' आदि शब्दोंमें उच्चरित होनेवाले 'ऐ औ' को 'अए, अओ' का भी प्रतिनिधि कहा जा सकता है।

इधर कुछ विद्वानोंने भ्रमवश 'आई' 'आओ' शब्दोंको दो-दो स्वरोंका संयोग और 'भइया'के 'अइया'को तीन स्वरोंका संयोग माननेकी भूल भी की है।

ह्रस्व ध्वनियाँ

हिन्दीकी कई भाषाओंमें ह्रस्व 'ए ओ ऐ औ' का भी प्रयोग मिलता है, जैसे—कवितावलीके—

'अवलोकिहौं सोच-विमोचनको'

'बरु मारिए मोहिं बिना पग धोए हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू'।

—में आए हुए 'हौं, ए' वर्ण। आधुनिक हिन्दीमें भी ऐसी ह्रस्व ध्वनियाँ लोहार' 'सोनार' 'एक्का' आदि शब्दोंमें उपलब्ध हैं। प्राकृतके व्याकरणोंमें यद्यपि इसका उल्लेख नहीं मिलता पर गाथाओंमें ह्रस्व 'ए ओ' मिलते हैं। काव्य संस्कृतमें यद्यपि ह्रस्व 'ए ओ' उपलब्ध नहीं हैं तथापि वेदकी 'सात्यमुग्रिराणायनीय' शाखामें ह्रस्व 'ए ओ' का उच्चारण होता था जिसका परिचय महाभाष्यमें दिया हुआ है[1]। आज भी दक्षिणके सात्यमुग्रिराणायनीय पंडित 'ए ओ' का उच्चारण ह्रस्व ही करते हैं। इनके लिये हिन्दीमें नये संकेतोंकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि अवधी-ब्रजके कवित्त-सवैयोंमें आनेवाले एवं 'एक्का, लोहार, सोनार'के ह्रस्व 'ए ओ' का उच्चारण स्वभावतः ठीक रीतिसे किया ही जाता है।

बारहवीं शताब्दीमें राजशेखरने भी काव्य-मीमांसामें भारतके विभिन्न प्रदेश-वासियोंके उच्चारणका सूक्ष्म परीक्षण करते हुए कहा था—

गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः ।
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च ॥
आवन्त्याः पारियात्राः सहदशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते ।
यो मध्ये मध्यदेशे निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः ॥

[गौड (बंगालके निवासी) आदि देश-वासी संस्कृतके प्रेमी होते हैं, लाट (गुजरात)–निवासियोंकी प्रवृत्ति प्राकृतकी ओर अधिक रहती है, सारे मारवाड़ और टक्क (पूर्वी पंजाब) से आनक (आना सागर, अजमेर) तकके लोग अपभ्रंशका प्रयोग करते हैं। उज्जैन, मालवा (पारियात्र पर्वतके बीच) और

१. ननु चैङः सस्थानतरावर्द्ध एकारोऽर्द्ध ओकारः। न तौ स्तः। यदि तौ स्यातां तावेवायमुपदिशेत्। ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्द्धमेकारमर्द्ध-मोकारं चाधीयते। सुजाते ए अश्वसूनृते। अध्वर्यो ओ अद्रिभिः सुतम्। शुक्रं ते ए अन्यत्। यजतं ते ए अन्यत् इति।

—महाभाष्य—एओङ्, ऐऔच्।

दशपुरके निवासी पैशाचीका व्यवहार करते हैं; किन्तु मध्यप्रदेश (हिमालय और विन्ध्यके बीचके देश) में रहनेवाला कवि भारतके मध्यमें रहनेके कारण सभी भाषाओंमें निष्णात होता है।] उक्त उदाहरणसे मध्यदेश-निवासियोंकी उच्चारण-पटुतामें कोई संदेह नहीं रह जाता।

पञ्चम वर्णका प्रयोग

'ङ' का प्रयोग नागरी (हिन्दी) में केवल तत्सम शब्दोंमें होता है, जैसे 'गङ्गा' 'विहङ्गम' 'अङ्ग' आदिमें। अनुस्वार लगाकर भी इन्हें लिखा जा सकता है, जैसे 'गंगा, विहंगम, अंग'। 'ञ' का प्रयोग तो नागरीमें रह ही नहीं गया है। 'चञ्चल, अञ्चल' आदि भी वस्तुतः 'चन्चल, अन्चल' ही पढ़े जाते हैं। केवल अनुकरणात्मक 'साञ् साञ्' आदि शब्दोंमें ही 'ञ' का उच्चारण होता है। इसी प्रकार संयुक्ताक्षरमें आनेवाला 'ण' भी 'कुण्ठित' 'दण्ड' आदि शब्दोंमें 'न' के रूपमें ही उच्चरित होता है। पर पञ्चम-वर्ण-संयुक्त वर्णोंकी नकारयुक्त स्थितिका एक और भी कारण है। महाभाष्यकार पतञ्जलिने भी कहा है कि अनुस्वार और 'ङ्, ञ्, ण्, न्, म्' के पश्चात् यदि 'क, ख, ग, घ, च, छ, ज, झ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, प, फ, ब, भ, श, ष, स, ह' आवें तो उन्हें (अनुस्वार और ङ, ञ, ण, न, म को) नकारोत्पन्न ही समझना चाहिए। ऐसी स्थितिमें आधुनिक नागरीके अनुस्वार और कुछ वर्गोंके पञ्चम वर्णोंका 'न'—जैसा उच्चरित होना अकारण नहीं है।

हिन्दी ध्वनियोंके अनिश्चित उच्चारण

जैसा कि ऊपर बताया चा चुका है, नागरी वर्णमालामें कुछ ध्वनियाँ ऐसी भी हैं जिनका प्रयोग या तो उठ चुका है या जिनका उच्चारण इस समय अनिश्चित है 'ङ ञ ऋ ष लृ क्ष ज्ञ' वर्ण ऐसे ही हैं। इनमेंसे 'ङ ञ लृ' का प्रयोग प्रायः लुप्त हो चुका है। शेष 'ऋ ष क्ष ज्ञ' का उच्चारण भ्रमात्मक और अनिश्चित हो रहा है। जो लोग 'ऋ' का उच्चारण ह्रस्व 'रि' की तरह किया करते हैं वे भूल करते हैं। 'रि' और 'ऋ'के समान उच्चारणका भ्रम सम्भवतः दोनोंके मूर्धन्य वर्ण होनेका परिणाम है। वास्तवमें 'रि' तो 'र' पर ह्रस्व इकारकी मात्रा लगाकर बनती है परन्तु 'ऋ' का उच्चारण 'र'में हल्का कंपन देकर होता है। 'कृपण, कृषि, सरीसृप' आदिमें लगी हुई 'ृ' इसी 'ऋ' का दूसरा रूप है। इनको हम इस प्रकार लिख सकते हैं—'क्ऱ्पण, क्ऱ्षि तथा सरी स्ऱ्प्।'

ष का उच्चारण

'ष' की स्थिति भी 'ऋ' से मिलती-जुलती है। देव नागरी वर्णमालामें यद्यपि दन्त्य 'स', तालव्य 'श' और मूर्धन्य 'ष' अलग स्पष्ट निश्चित किए गए हैं फिर भी तालव्य 'श' और मूर्धन्य 'ष'के उच्चारणमें भेद नहीं किया जाता। मूर्धन्य 'ष' को या तो लोग तालव्य 'श' पढ़ते हैं या सीधे 'ख' पढ़ते हैं। 'श' और 'स' के उच्चारणमें यह भ्रम भी पूर्व-वर्तिनी परम्पराओंसे ही मिला है। 'श' 'स' और 'ष'के उच्चारणका विभेद संस्कृत-तक तो उपलब्ध है किन्तु पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदिमें यह भेद नहीं दिखाई पड़ता। पालिमें 'श', 'ष' और 'स'के लिये केवल दन्त्य 'स' का ही प्रयोग होता था। इसी प्रकार शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतोंमें भी तीनों ध्वनियोंके स्थानपर केवल 'स'का ही प्रयोग होता था। मागधी प्राकृतमें तीनों ध्वनियोंके स्थानपर केवल तालव्य 'श'का ही प्रयोग होता था। यही परम्परा हिन्दीको भी प्राप्त हुई। पर आज हिन्दीकी प्रवृत्ति तत्सम शब्दोंको शुद्ध रूपमें उच्चारण करनेकी ओर है। अतः, उसमें लिखनेके लिये तो तीनों अक्षरोंका प्रयोग होता है परन्तु उच्चारणमें अब केवल दन्त्य 'स' और तालव्य 'श' का ही प्रयोग होता है। यदि वैज्ञानिक दृष्टिसे देखा जाय तो कुछ विशेष परिस्थितियोंमें वस्तुतः दन्त्य 'स'का ही मूर्धन्य 'ष' हो जाता है। यह नागरीके उच्चारणका अपना ध्वनि-नियम है, जैसे—प्रायः 'इ उ ऋ ए ओ ऐ ह य व र ल क ख ग घ ङ ट ठ ड ढ ण व' के पश्चात् दन्त्य 'स' के स्थानपर ही संस्कृतमें मूर्धन्य 'ष' हो जाता है, जैसे—'विष, ऋषि' आदि।

क्ष की स्थिति

ऐसा ही भ्रम 'क्ष' के उच्चारणमें भी दिखाई देता है। विभिन्न स्थानोंमें लोग 'क्ष' का उच्चारण 'ख्य' 'क्श', क्ख या 'क्स'के समान करते हैं। परन्तु नागरी का 'क्ष' वास्तवमें 'क्' और मूर्धन्य 'ष'के योगसे बनता है। ब्राह्मी शिलालेखोंमें आए हुए 'क्ष' को स्पष्ट 'क्' और 'ष'के संयोगसे लिखा जाता था।

संस्कृत व्याकरण पढ़नेवाला साधारण विद्यार्थी भी 'क्-ष-संयोगे क्षः' जानता है कि 'क् ष' के संयोगसे 'क्ष' बनता है। इसी प्रकार 'धुक्षु, मोक्ष' आदि शब्दोंमें 'क्ष'की रचना भी क् + षसे ही होती है। अस्तु, इसके उच्चारणमें

तनिक भी सन्देह नहीं रहना चाहिए। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि 'क्+ष' का संयोग होनेपर इस ध्वनिने एक मिश्रित रूप धारण कर लिया है। अतः, उसके लिये 'क्ष' अक्षर अलग बना दिया गया है। उसे 'क्ष' लिखनेकी भूल नहीं करनी चाहिए अन्यथा उसका उच्चारण 'रिक्शा'में प्रयुक्त 'क्श'के समान होने लगेगा। उसका 'क्ष' रूप ही लिखनेमें प्रयुक्त होना चाहिए और उसका उच्चारण भी 'क्+ष'की मिश्रित ध्वनिके साथ होना चाहिए, 'क्' और 'ष' की क्रमिक ध्वनि लेकर नहीं।

ज्ञ की विषमता

सबसे अधिक वैषम्य 'ज्ञ'के उच्चारणमें पाया जाता है। पंजाबमें शुद्ध 'ग्य', उत्तर प्रदेश और मध्यप्रदेशमें 'ग्यँ', महाराष्ट्रनें 'द्न्य', गुजरातमें 'ग्न' और वेदपाठी-मण्डलीमें इसका उच्चारण 'ज्ञ' होता है।

'ज्ञ'के उच्चारणके सम्बन्धमें पाणिनीय व्याकरणका एक सूत्र मिलता है'—जञोर्ज्ञः,' जो प्रमाणित करता है कि 'ज्ञ' न तो 'ग्' और 'ञ' के योगसे बना हैं और न तो 'द् न्' और 'य' के वरन् यह संन्ध्यक्षर 'ज्' और 'ञ' से मिलकर बनता है। ईसासे १०० वर्ष पूर्ववाले पभोसाके ब्राह्मी शिलालेखसे भी यह बात प्रमाणित होती है कि ब्राह्मीमें 'ज्' और 'ञ'के योगसे ही 'ज्ञ' लिखा जाता था।

सर्वथा प्राचीनतावादी वैदिक मंडली भी 'ज्ञ' का 'ज्ञ' ही उच्चारण करती है। अनेक स्थलोंपर 'ज्ञ' वर्णकी रचना भी 'ज्+ञ' के योगसे ही होती है। अस्तु, वेदकी विभिन्न शाखाओं, प्रतिशाख्यों और शिक्षाओंके अनुसार चाहे उच्चारणमें कुछ वैचित्र्य आ गया हो किन्तु इसका वास्तविक उच्चारण 'ज्ञ' ही होना उचित है। हिन्दीमें इसका उच्चारण 'ग्य' ही स्वीकृत और मान्य हो चुका है।

अनुनासिकका प्रयोग

हिन्दी भाषाके अध्ययनसे सिद्ध होगा कि संस्कृतकी ध्वनियोंके अतिरिक्त हिन्दी भाषाकी प्रकृतिमें अनुनासिकका प्रयोग अधिक है। 'अँधेरा, आँख, पाँच, कुँआँ, इँडुआ, ईँट, उँगली, ऊँट, ऐँच, पेँच, ऐँठ, ओँठ, औँधा, कँपकँपी, खाँड़, गेँद, घुँघरू, चाँदनी, छीँक, जाँघ, झाँझ, ताँत, थूँथन, दाँत, धौँकनी, दोनोँ, पोँगा, फूँक, बाँध, भाँग, माँ, मेँ, मैँ, टाँयँटाँयँ, रँगाई,

लँगड़ा, गाँवँ, चाँटा, गाँजा, साँड़, हँड़िया, हँसना, हैं' आदि शब्दों, भाइयों, लेखों, पुस्तकों' आदि बहुवचनों और 'होना' आदि क्रियाओंके 'हों, हैं, होंगे' आदि रूपोंमें अनुनासिक ध्वनिका ही प्रयोग होता है। कालिदासके अभिज्ञान-शाकुन्तलके प्राकृत पदोंमें भी ऐसा प्रयोग मिलता है—

ईसीसिचुम्बिआइँ भमरेहिँ सुउमारदरकेसरसिहाइँ ।
ओदंसअन्ति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइँ ॥

[शिरीषके जिन फूलोंके अत्यन्त कोमल केशरके सिरोंको भौंरे बारबार चूमे जा रहे हैं उनपर बड़ी दया करके मतवाली नवेलियाँ उन्हें अपने कानोंमें (कर्णफूल बनाकर) खोंसे ले रही हैं।]

अपभ्रंशमें भी अनुनासिकका प्रचुर प्रयोग होता रहा—

पुत्तें जाएँ कवणु गुणु, अवगुणु कवणु मुएण ।
जा बप्पीकी भुंहड़ी चम्पिज्जइ अवरेण ॥

[उस पुत्रके होनेसे क्या लाभ और मरनेसे क्या हानि जिसके रहते हुए उसके बापकी भूमिपर औरोंका अधिकार हो जाय।]

हिन्दीकी विशेष ध्वनियाँ

ड़ ढ़ म्ह न्ह ल्ह हिन्दीकी विशेष ध्वनियाँ हैं । हिन्दी भाषाकी गढ़न देखनेसे ज्ञात होगा कि विदेशी जातियोंके सम्पर्क और अपनी देशी प्रकृतिसे इसमें संस्कृतके अतिरिक्त कुछ ऐसी ध्वनियाँ भी आ गई हैं जो संस्कृतके वर्णसमाम्नायमें नहीं हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि 'क़, ख़, ग़, ज़, फ़' जो अरबी-फ़ारसीके 'क़ाफ़, ख़े, ग़ैन, ज़े, ज़ोय, ज़्वाद, फ़े' से आए हैं उन्हें 'क, ख, ग, ज, फ' ही पढ़ा-लिखा जाय। यह बात हिन्दीकी प्रकृतिके अनुकूल भी है। किन्तु फ़ारसी और अरबीका प्रभाव नागरीपर इतना पड़ा है कि बहुतसे शब्दोंको कभी-कभी तत्सम रूपमें प्रयोग करना ही पड़ जाता है। नागरीके बहुतसे नाटककारोंने मुसलमान पात्रोंके मुखसे फ़ारसी-निष्ठ हिन्दी कहलाई भी है। वह जबतक उसी प्रकार उच्चरित न होगी तबतक उसका ठीक अर्थ नहीं स्पष्ट हो सकता। 'ज़लील' (पतित) और जलील (प्रकाशमान्) आदि शब्दोंके कुछ ऐसे भिन्नार्थक रूप है कि 'ज़लील' को 'जलील' कहना नितान्त अशुद्ध, भ्रामक

और असाधु होगा। अतः, फ़ारसी या अरबीके जो शब्द 'क ख ग़ ज़ फ़'-से युक्त आवें उनमें प्रयुक्त होनेवाली ये ध्वनियाँ 'क ख ग़ ज़ फ़' ही उच्चरित की जानी चाहिएँ।

'ड़' और 'ढ़' का प्रयोग 'बड़ा, सड़ा, कड़ा, पड़ा, जोड़, तोड़, बड़ाई, बूढ़ा, चढ़ना, गढ़ा, कढ़ी, मढ़ी, गाढ़ा' आदि शब्दोंमें होता है। ये ध्वनियाँ शुद्ध मूर्धन्य न होकर विसर्प मूर्धन्य हैं अर्थात् जीभको मूर्धासे लगाकर उच्चरित करनेके बदले जीभको मूर्धासे रगड़कर इनका उच्चारण किया जाता है। इन दो ध्वनियोंका संस्कार इतना प्रबल हो गया कि संस्कृतवाले भी 'गरुड' को 'गरुड़' और 'गूढ' को 'गूढ़' पढ़ते-बोलते हैं। 'ड़' और 'ण' की ध्वनिमें कुछ साम्य होनेके कारण यह अशुद्ध 'गरुड़' और भी बिगड़कर 'गरुण' हो जाता है। इसीसे 'गौड' और 'गौण' के शब्दोंके लेखन और उच्चारणमें भ्रम हो गया है।

वैदिक ळका प्रयोग

'ळ' का प्रयोग वेदोंमें तो हुआ है किन्तु नागरीमें लिखनेमें इसका प्रयोग नहीं होता। मेरठके आस पास 'हलदी, बैल' आदि कुछ शब्दोंके 'हळदी', 'बळद' आदि रूपोंमें इसका प्रयोग होता है जो वैदिक परम्परासे उन्हें प्राप्त हुआ है। कुछ लोगोंने 'ड़' को ही 'ळ' समझने की भूल की है और वे 'खिचड़ी' को 'खिचळो' लिखते हैं किन्तु 'ड़' और 'ळ' में अन्तर यह है कि 'ड' को मूर्धापर जीभ रगड़कर बोलने से 'ड़' होता है और 'ल' को तालुपर जीभ रगड़कर बोलनेसे 'ल़' या 'ळ' होता है।

हिन्दीकी कुछ विचित्र ध्वनियाँ

हिन्दीकी कुछ ध्वनियाँ बड़ी विचित्र हैं। ये हैं तो मिश्र ध्वनियाँ किन्तु सन्ध्यक्षरके समान लिखे जानेपर भी उनका उच्चारण स्पर्शाघातसे किया जाता है, पूर्णाघातसे नहीं। ये ध्वनियाँ हैं—ह्म, न्ह और ल्ह। पालि और प्राकृतोंके 'अह्माकं (अस्माकं), पन्ह (प्रश्न) और कल्हार' (कह्लार) में जो 'ह्म न्ह ल्ह' आते हैं उनमें 'म्, न् ल्' पूर्ण स्वराघातके साथ 'अम्हाकं, पन्ह, कल्हार' के रूपमें उच्चरित होते हैं। किन्तु हिन्दीके 'तुम्हारा, पिन्हाना और कोल्हू' में आने वाले 'म् न् ल्' वर्ण अत्यन्त अल्प स्पर्शके साथ बोले जाते हैं। कभी-कभी इन 'म्ह' और 'न्ह' में प्रयुक्त 'म्' और 'न्' के अल्प स्पर्शका यह भी

परिणाम हुआ है कि, 'कुम्हार' का 'कुँभार', 'जम्हाई' का 'जँभाई' और 'कान्हा' का 'काँधा' हो गया और 'म्ह', 'न्ह' को लोग 'भ ध' पढ़ने-बोलने लगे। 'न्य' का प्रयोग ब्रज तथा अवधीके 'पन्यो, जन्यो भन्यो' आदि शब्दोंमें और मराठीके 'दुसऱ्या' आदि शब्दोंमें होता है। इसमें भी 'र्' का उच्चारण स्पर्शाघातसे किया जाता है; पूर्णाघातसे नहीं। 'य' से पूर्व मिल नेवाले सभी व्यंजनोंका अवधी और ब्रज आदि देशी भाषाओंमें ऐसा ही अल्प स्पर्श होता है, जैसे—'छक्यौ, जग्यौ, बन्यौ' आदि शब्दोंमें।

देश-भेदसे उच्चारणमें विकार

देवनागरी वर्णमालाके उच्चारणमें इतनी स्पष्टता होनेपर भी व्यापक प्रयोग होनेके कारण देश-भेदसे उसमें अनेक विकार आ ही गए हैं। 'अ' या अकारयुक्त सभी व्यंजनोंको पंजाबमें 'का खा गा घा', उत्तर प्रदेश और राजस्थानमें 'कै खै गै घै' पढ़ते हैं। वे 'रहना' को 'रैहना', 'कहना' को 'कैहना', 'पहले' को 'पैहले' पढ़ते-बोलते हुए भी 'कलम' को ठीक पढ़ते हैं अर्थात् 'ह' के पूर्वके स्वरको ही 'ऐ' करते हैं। अक्षरको अलग-अलग 'का खा गा घा' उच्चारण करनेवाले पंजाबी भी शब्दोच्चारणमें 'कहना' को 'कैणा' बोलेंगे और पढ़ते समय यदि उन्होंने बड़ी कृपा की तो 'कैना' पढ़ेंगे। यही अकारकी ध्वनि पूर्वमें जाकर कुछ ओकारकी ओर प्रवृत्त होती है और बंगाल-में जाकर 'क ख ग घ' भी शुद्ध 'को खो गो घो' हो जाते हैं। विलक्षण बात यह है कि वे लोग कभी-कभी एक शब्दमें एक-दो अक्षरोंको तो गोल ओकारके साथ बोलते हैं और एक-आधको शुद्ध, जैसे 'कमल' शब्दको वे 'कोमोल' बोलते हैं। इसमें 'क' और 'म' को तो 'को' और 'मो' बना लेते हैं किन्तु 'ल' शुद्ध रहता है।

शब्दके अन्तके 'इ' या 'उ'को दीर्घ पढ़ना-बोलना हिन्दीवालोंकी साधारण प्रकृति है। वे 'कवि' को 'कवी', 'भानु' को 'भानू,' 'वायु' को 'वायू' पढ़ते-बोलते हैं।

'ऐ' और 'औ' के सम्बन्धमें ऊपर (§३०४) विस्तारसे बताया जा चुका है। 'ऐसा' को 'एसा', 'मैं' को 'में' कहने की प्रवृत्ति मारवाड़ और गुजरातमें बहुत है। मारवाड़में 'और' को 'ओर', 'कौन' को 'कोन' पढ़ा-बोला जाता है। इसके ठीक विपरीत ब्रजमें 'ए' को 'ऐ' और 'ओ' को 'औ' पढ़ने-बोलनेका अभ्यास है। वे 'जिसने' को 'जिसनै', 'प्रेम' को 'प्रैम और 'दोनों' को 'दोनौं' पढ़ते-बोलते हैं।

यद्यपि 'ङ' का उच्चारण जीभको घण्टीसे आगे लगाकर नाकसे किया जाता है और इसका प्रयोग भी नागरीमें अलग नहीं होता तथापि वर्णमालामें पढ़ते हुए इसे पंजाबवाले 'अंगऽ' और कुछ लोग 'ङै' पढ़ते हैं।

'च छ ज झ' हैं तो तालव्य, किन्तु महाराष्ट्रवाले ठेठ मराठीमें इन्हें वर्त्स्य और दन्त्य बनाकर च़ .छ ज़ झ़ बोलते हैं।

ऊपर बताया जा चुका है कि 'ड' और 'ढ' को प्राय: लोग ड़ और ढ़ पढ़ते और बोलते हैं, 'गुडाकेश'को 'गुड़ाकेश', 'गूढ' को 'गूढ़' आदि किन्तु यदि 'ड' और 'ढ' किसी शब्दके प्रारम्भमें आवें तो वे मूल रूपमें ही बोले जाते हैं, जैसे—'डगर, डलिया, ढकना, ढोल, ढमाढम'। बिहार और सिन्धमें 'ड़' का 'र' हो जाता है, वहाँ 'सड़क' भी 'सरक' बन जाती है। हमारे कवि लोग भी इसी झोंकमें 'पतझड़' को 'पतझर' लिखने लगे हैं।

'ण' को प्राय: लोग 'ड़' से मिला देते हैं। ऐसे लोग 'गरुड' को 'गरुण' और 'गणेश'को 'गड़ेश' लिखते-बोलते हैं।

'ध' को पंजाब और दक्षिणमें 'त' ही बोलते हैं और 'धेनु' शब्द 'तेनु' हो जाता है।

'ब' और 'व' का भी ऐसा ही घपला होता है। उत्तर भारतमें 'ब' का अधिक प्रयाग होता है। वहाँ 'वन, वृक्ष, वानर, विमान' भी 'बन, बृक्ष, बानर, बिमान' हो जाते हैं। किन्तु दक्षिणवाले 'व' का शुद्ध उच्चारण करते हैं। वहाँ 'वहिणी' (बहन), वाँदरा (वानर) में 'व' का ही प्रयोग होता है।

पंजाबमें 'भ' को 'प' और 'घ' को 'क' बोलते हैं जिससे 'भानु' भी 'पानू' और 'घन्टा' भी 'कंटा' हो जाता है।

'य' को 'ज' पढ़ने बोलनेकी प्रवृत्ति भी उत्तर भारतके पूर्वी भागमें बहुत है। वहाँ 'यज्ञ' को 'जग्य', 'यजमान' को 'जजमान', 'यदाकदा' को 'जदाकदा' कहते हैं। किन्तु वहाँ भी 'यहाँ, यार, ये, यहूद' आदिको 'जहाँ, जार, जे, जहूदी' नहीं कहते अर्थात् तत्सम शब्दोंके प्रारम्भमें आनेवाले 'य' को ही वे 'ज' बोलते हैं, 'नियन्ता' को 'निजन्ता' नहीं कहते।

'श, स' में कहीं तो 'श' का 'स' जैसे 'प्रकाश'का 'प्रकास', और कहीं 'स' का 'श' जैसे 'कैलास'का कैलाश' हो जाता है। मेवाड़में 'स' का 'ह' हो जाता है। वहाँ 'साढ़े सात' भी 'हाड़े हात' बन जाता है।

मध्यभारत तथा अन्य प्रदेशोंमें भी 'वह' को 'वो' कहनेका अभ्यास है।

'रलयोरभेदः' से 'ल' का 'र' तो बहुधा हो ही जाता है। 'गाली' शब्द ब्रजमें 'गारी' हो जाता है, और भोजपुरीमें 'मन्दिर' का 'मन्दिल' और 'पत्थर' का 'पत्थल' हो जाता है।

हिन्दीकी विश्लिष्ट प्रकृति

§ ३०५. हिन्दीकी ठेठ प्रकृति विश्लेषात्मक है किन्तु संस्कृतनिष्ठ होती चलनेके कारण वह संश्लिष्ट हो गई है।

नागरीकी वास्तविक प्रकृति सन्ध्यक्षरोंको तोड़कर बोलनेकी है। 'दरपन, करम, धरम, परगट, गुपुत, सरग' आदि सच्चे ठेठ नागरी शब्द हैं जिनका प्रयोग कवियोंने खुलकर किया है, किन्तु अब प्रवृत्ति है 'दर्पण, कर्म, धर्म, प्रकट, गुप्त, स्वर्ग' आदि तत्सम रूपमें लिखनेकी। अतः, लिखते तो लोग तत्सम रूपमें हैं किन्तु प्रायः बोलते हैं 'दरपण', 'करम', 'धरम' ही।

'स' के साथ बने हुए सन्ध्यक्षरोंसे प्रारम्भ होनेवाले शब्दोंसे पहले प्रायः 'अ' या 'इ' जोड़कर उनका उच्चारण किया जाता है, जैसे 'स्नान' को 'अस्नान', 'स्कूल' को 'इस्कूल', 'स्तोत्र' को 'अस्तोत्र' आदि।

अवधके रहनेवालोंकी कुछ अपनी विशेषता है। वे 'ए' को 'या' और 'ओ' को 'वा' कर देते हैं। उनका 'लोटा' भी 'ल्वाटा' हो जाता है और 'देखो' भी 'द्याखौ' हो जाता है।

राजस्थानमें दो प्रकारके 'व' चलते हैं—

(१) दन्त्योष्ठ्य और (२) द्वयोष्ठ्य व़। एक ही शब्दमें दोनों प्रकारके 'व' लगा देनेसे उनके अर्थमें भेद आ जाता है, जैसे—'वात = वायु' किन्तु 'व़ात = कहानी'। इसी प्रकार 'वार = दिन' किन्तु 'वार = सहायताके लिये पुकारना।'

सिन्धी वर्णमालामें नागरी वर्णमालाकी ध्वनियोंके अतिरिक्त उपध्मानीय 'ब' और अन्तःश्वसित 'ड' हैं जो भीतर साँस लेकर बोले जाते हैं।

पंजाबवाले पूरी वर्णमालाको तो आकारके साथ 'का खा गा घा' उच्चारण करके पढ़ते ही हैं साथ ही सन्ध्यक्षरोंको भी अलग-अलग उच्चरित करते हैं, जैसे—'प्रकार' को 'परकार', 'स्टेशन' को 'सटेशन'।

गुजरातीमें च और ज तो ठीक बोला जाता है पर 'फ' को वे भी 'फ़' कहते हैं।

मध्यभारत और मध्य प्रदेशमें 'रक्खा जाता है' को 'रखा जाता है' लिखते और बोलते हैं।

दक्षिण भारतमें ह्रस्व 'ओ' तथा 'ए' का प्रयोग भी होता है जिसका प्रयोग हमारे यहाँ भी ब्रज और अवधीमें होता है।

'ढ़' को पश्चिमी उत्तर प्रदेशमें 'ढ' ही पढ़ते हैं—'मैं तो नागरी पढरया (पढ़ रहा) हूँ।' कोटा तथा राजपूतानेके कुछ भागोंमें भी 'पड़ा है' को 'पडा है' तथा 'पढ़ता है' को 'पढता है' बोलते हैं। इस ड़ और ढ़ के प्रयोगके कारण नागरीवाले जब संस्कृत पढ़ते हैं तो 'गुडाकेश' को 'गुड़ाकेश' और 'गूढ' और 'गूढ़' पढ़ते हैं। सिन्धवाले इस ढ़ को 'न्ह' बोलते हैं, जैसे—'पढ़ना' को 'पन्हना'। इसके अतिरिक्त ह्रस्व-दीर्घकी अशुद्धियाँ तो व्यापक रूपसे होती ही हैं, जैसे—मराठी-गुजरातीवाले 'सीताराम' को 'सिताराम' लिखते हैं।

तमिळ, तेलुगु, कन्नड़ और मलयाळमके क्षेत्रोंमें भी नागरीके उच्चारणमें बहुत दोष व्याप्त हो गए हैं, जैसे 'सीताराम' को वे 'सीथाराम' लिखते हैं या 'सीताराम' लिखकर 'सीथाराम' पढ़ते हैं।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रदेशमें एक वाक्य-ध्वनि होती है अर्थात् एक विशेष स्वरके आरोह-अवरोहके साथ वाक्य कहनेकी चाल होती है। यह ध्वनि लिखकर नहीं बताई जा सकती।

हिन्दीका देशव्यापी प्रचार हो जानेके कारण और प्रारंभिक अवस्थामें उसके उच्चारणकी समुचित शिक्षाकी व्यवस्था न होनेके कारण भारतके विभिन्न राज्यों और प्रदेशोंमें उच्चारण-सम्बन्धी इतनी अराजकता और अव्यवस्था व्याप्त है कि बोली और लिखी हुई हिन्दीकी अगणित अशुद्धियोंकी न तो कोई गणना की जा सकती न कोई सूची बनाई जा सकती। स्थानीय उच्चारणका तो अन्य भाषा सीखते समय स्वाभाविक प्रभाव पड़ता ही है किन्तु नवीन भाषा सीखते समय अध्यापकका सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। वह जैसा उच्चारण करता है वही छात्रोंके लिये प्रमाण बन जाता है। इस कारण भी हिन्दीके उच्चारणमें अनेक दोष व्याप्त हो गए हैं। इनका निराकरण तभी हो सकता है जब हिन्दीके मानस्थ उच्चारणतवे (रिकौर्ड) बन जायें या उच्चारण फ़ीते (प्रोनन्सिएशनटेप) तैयार कराकर विभिन्न प्रदेशोंके प्रशिक्षण विद्यालयोंमें भेज दिए जायँ। अगले पृष्ठपर हिन्दीके वर्णोंके शुद्ध उच्चारणके विवरणकी सरणी दी जाती है।

नागरीके व्यंजनोंका कोष्ठक

उच्चारण-करण		ओष्ठ		जिह्वाग्र	जिह्वाग्र	जिह्वोपाग्र	जिह्वाग्र	जिह्वोपाग्र	जिह्वाग्र	जिह्वामध्य	जिह्वामूल	
प्रयत्नकृत भेद	स्थानकृत भेद	द्व्योष्ठ्य	दन्त्योष्ठ्य	दन्त्य	वर्त्स्य	दन्त्य-वर्त्स्य	तालव्य	तालु-वर्त्स्य	मूर्धन्य	कंठ्य	जिह्वामूलीय	काकल्य
स्पर्श	अल्प-प्राण	प् ब्	...	त् द्	...	...	...	...	ट् ड्	...	क् ग्	❀ˎ
	महाप्राण	फ् भ्	...	थ् ध्	...	...	...	...	ठ् ढ्	...	ख् घ्	...
स्पर्श-घर्ष	अल्प-प्राण	...	...	...	...	...	...	च् ज्	...	...	...	...
	महाप्राण	...	...	...	...	...	...	छ् झ्	...	...	...	...
अनुनासिक	अल्प-प्राण	म्	...	...	न्	...	ञ्	...	ण्	ङ्	...	...
	महाप्राण	+ म्ह्	...	...	+ न्ह्	...	...	...	...	...	...	...
पार्श्विक	अल्प-प्राण	...	...	...	ल्	...	...	...	...	...	...	...
	महाप्राण	...	...	...	+ ल्ह्	...	...	...	...	...	...	...
लुंठित	अल्प-प्राण	...	...	...	र्	...	...	...	...	...	...	...
	महाप्राण	...	...	...	+ र्ह्	...	...	...	...	...	...	...
उत्क्षिप्त	अल्प-प्राण	...	...	...	...	...	...	...	ड़् (ळ्)	...	...	...
	महाप्राण	...	...	...	...	...	...	...	ढ़् (ळ्ह)	...	...	...
घर्ष	...		❀फ़्	...	...	स् ❀ज़्	श्	...	ष्	...	❀ख़् ❀ग़्	ह् (ः), ह्
अन्तःस्थ (अर्ध-स्वर)	...	व्	व्	...	...	...	य्	...	...	व् (संयुक्ताक्षरमें)	...	...

देखिये—रेखाङ्कित ध्वनियाँ श्वास-ध्वनियाँ हैं। अन्य सभी ध्वनियाँ नाद-ध्वनियाँ हैं। + चिह्न जिन ध्वनियोंके पूर्वमें हैं, वे ध्वनियाँ आधुनिक भाषा-शास्त्रियोंकी सम्मतिके अनुसार नई विकसित हुई हैं। ❀चिह्न जिन ध्वनियोंके पूर्वमें हैं वे अ़रबी-फारसीके तत्सम शब्दोंमें प्रयुक्त होती हैं।

मनोवैज्ञानिक भाषा-शास्त्र

प्रारम्भमें ही बताया जा चुका है (§ १३) कि भाषा और मनका अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसीलिये भाषात्मक मनोविज्ञान (स्पीच साइकोलौजी) नामक मनोविज्ञानकी एक शाखाका ही प्रचलन हो गया है। यह सम्बन्ध केवल भाषा और मनका ही नहीं वरन् भाषा और बुद्धि तथा भाषा और आत्माका भी है क्योंकि भाषा-प्रक्रियाके भारतीय सिद्धान्तके अनुसार आत्मा या चैतन्य ही बुद्धिसे अर्थ या भाव ग्रहण करके मनको बोलनेकी प्रेरणा देता है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया।

विदेशी मनोवैज्ञानिक और भाषा-शास्त्रिगण आत्मा और बुद्धिको इस प्रपञ्चमें नहीं लाना चाहते। वे भाषाका सम्बन्ध सीधे मनसे जोड़ते हैं किन्तु चैतन्य-विहीन उन्मत्त, निद्रित, मूर्च्छाग्रस्त, रोगी अथवा सन्निपातमें बक-झक करनेवाला व्यक्ति जो अचेतन, असंगत और असम्बद्ध वाग्व्यापार करता है वह किसी भी दशामें नियोजित भाषा-व्यवहार नहीं कहला सकता। यद्यपि शोक, क्रोध आदि तीव्र मनोवेगोंकी स्थितिमें भी सचेतन विचारकी स्वस्थ और व्यवस्थित अभिव्यक्ति नहीं होती और वह वाग्व्यापार भी चैतन्य-नियोजित वाग्व्यापारकी श्रेणीमें नहीं आता फिर भी उसे आंशिक रूपमें वाग्व्यापारके अन्तर्गत ग्रहण कर लिया जाता है क्योंकि तीव्र आवेग होनेपर भी चैतन्यका योग तो उसमें होता ही है।

§ ३०६. श्रोतापर अपने मनके भावका प्रभाव डालनेके लिये ही वक्ता अपनी वाणीका प्रयोग करता है।

सामान्यतः जब भी भाषाका व्यवहार किया जाता है तब उसका यही तात्पर्य होता है कि जो कुछ कहा जाय वह निर्दिष्ट संबोध्य या श्रोता-द्वारा उसी अर्थमें समझा जाय जिस अर्थमें वक्ताने उसका प्रयोग किया। यद्यपि कभी-कभी मनुष्य मन ही मन गुनगुनाता, स्वयंलाप करता तथा बड़बड़ाता भी है तथापि इस व्यवहारको वाग्व्यापार नहीं कह सकते। वाग्व्यापारके लिये वक्ता और श्रोता (अथवा लेखक और पाठक) दोनोंकी उपस्थिति आवश्यक है क्योंकि भाषा सदा द्विपक्षीय होती है। उसमें एक कर्त्ता (वक्ता या लेखक) और दूसरा क्रियाका पात्र (श्रोता या पाठक) होना ही चाहिए। निर्जन वनमें खड़े होकर कोई व्यक्ति चाहे जितना सुन्दर भाषण करे, चाहे जितने कौशलपूर्ण ढंगसे ललित और प्रभावपूर्ण शैलीमें मानव-मात्रके लिये अद्‌भुत, आवश्यक और उपादेय तत्त्वोंकी मीमांसा करे या जीवनोपयोगी अत्यन्त हितकर उपदेश दे किन्तु वह पूर्णतः निरर्थक अरण्य-रोदन मात्र होगा क्योंकि श्रोताके बिना वह सम्पूर्ण वाग्विलास निष्प्रयोजन ही है। भाषाके पूर्णत्वके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वक्ता जो कुछ भी कहे उसका उत्तर भी श्रोता दे क्योंकि श्रोता भले ही किसी कारणवश उत्तर न दे पाता हो या न देना चाहता हो किन्तु उसके हृदय-पर वक्ताका दो रूपोंमें प्रभाव पड़ता ही है—१. वक्ताके शब्दोंका अर्थात् भाषा-शैलीका और २. कहनेके ढंगका अर्थात् मुद्रा, भाव-भङ्गिमा, काकु या स्वरके आरोह-अवरोहका। इन दोनों प्रभावोंसे श्रोताके मनमें वक्ताके प्रति श्रद्धा, भक्ति, अनुराग, क्षोभ, क्रोध, भय, घृणा आदि अनेक भावोंकी सृष्टि होती है, श्रोताको कुछ मानसिक या शारीरिक प्रतिक्रियाके लिये प्रेरणा मिलती है और उसके भावों और विचारोंका परिष्कार, मन्थन और संवर्धन भी होता है। जो श्रोता या वक्ता जितना ही अधिक भावुक होगा उतनी ही उसकी प्रतिक्रिया तीव्र होगी और जितना ही वह कम भावुक होगा उतनी ही उसकी प्रतिक्रिया कम होगी। लेखनकी स्थितिमें इस पारस्परिक व्यवहार-क्रियामें थोड़ा अन्तर आ जाता है। लेखक अपनी वाणीको ही शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास और शैलीके द्वारा इस प्रकार साध लेता है कि वह केवल इन्हींके माध्यमसे समस्त निर्दिष्ट प्रभाव डाल देनेका प्रयत्न करता है। इसी कौशलसे अनभिज्ञ

होनेके कारण बोला या लिखा हुआ कोई शब्द या वाक्य कभी-कभी बड़ी विपत्ति खड़ा कर देता है।

§ ३०७. वक्ताको कुछ भी साभिप्राय कहनेसे पूर्व अपने मनके भाव, कथनका क्रम, शब्दावली और आंगिक-वाचिक मुद्रा स्थिर कर लेनी चाहिए।

कोई भी वक्ता (या लेखक) अपनी वाणीका प्रयोग इसीलिये करता है कि श्रोता (या पाठक) उसकी कही हुई बात ठीक उसी भावसे समझे जिस भावमें वक्ता कहना चाहता है और वह जो प्रभाव डालना चाहता हो उससे प्रत्यक्ष रूपमें प्रभावित या अप्रत्यक्ष रूपमें विभावित हो जाय। श्रोतापर यह प्रभाव तभी पड़ सकता है जब वह उस कही हुई बातको ठीक-ठीक समझ सके। इसका तात्पर्य यह है कि वक्ताको कुछ भी साभिप्राय कहनेसे पूर्व अत्यन्त संयत होकर अपनी भाषाके प्रयोगमें चार बातोंका ध्यान रखना चाहिए—

१. मनके भाव : वह जो कुछ कहना चाहता हो उसका स्पष्ट और निश्चित रूप मनमें विद्यमान हो।

२. क्रम : मनमें निश्चित किए हुए भाव या विचारको व्यक्त करनेका क्रम स्पष्ट होना चाहिए।

३. शब्दावली : भावों या विचारोंको व्यक्त करनेवाली शब्दावली भी स्पष्ट होनी चाहिए।

४. आंगिक, वाचिक मुद्रा : उस शब्दावली या भाषा-शैलीको प्रभावशाली बनानेके लिये समुचित आंगिक चेष्टा, स्वरका आरोह-अवरोह और भावभंगिमा भी निश्चित होनी चाहिए।

जब मनुष्य तीव्र भावावेगसे प्रभावित होता है तब उसके मनमें केवल भावमात्र रहते हैं। उस समय न तो भावों या विचारोंको व्यक्त करनेका क्रम रहता, न समुचित शब्दावली, न उचित काकु और न आंगिक चेष्टा क्योंकि ये सब तत्त्व विवेकपर आश्रित होते हैं। इसका अर्थ यह है कि वाणीके प्रयोगका भार केवल मनपर ही छोड़ देना अत्यन्त घातक सिद्ध हो सकता है इसलिये विवेकका प्रयोग भी नितान्त अपेक्षित है। यह विवेकका प्रयोग बुद्धिके आश्रयसे ही संभव होता है। इतना संयोजन होनेपर ही भाषाका वास्तविक रूप बन पाता है।

इस विवेचनासे स्पष्ट है कि भाव या विचारकी अभिव्यक्तिके निमित्त शब्दोंकी संयोजनामें श्रोता (या पाठक) की मानसिक क्रियाओं,

प्रतिक्रियाओं और अवस्थाओंका विशेष ध्यान रक्खा जाता है। यह सर्वसामान्य अनुभवकी बात है कि साधारण बात-चीतमें भी वक्ता अपनी और श्रोताकी सामाजिक मर्यादाओंका ध्यान रखकर मुँह खोलता है और कभी-कभी तो इस सामाजिक शीलके पालनमें वह मनका वास्तविक भाव छिपाकर दूसरे ही भावकी अभिव्यक्ति करता है, यहाँतक कि कभी-कभी बात करते-करते बीचमें ही श्रोताकी मानसिक प्रतिक्रियाको अपने प्रतिकूल समझते ही अपनी बात, उसका क्रम और कभी-कभी शब्दोंका अर्थ भी बदलकर कह देता है—'मेरा यह अभिप्राय नहीं था।' जब कोई व्यक्ति व्यंग्य बोलने, किसीको मूर्ख बनाने, किसीपर छींटे कसने, ताना देने या खिल्ली उड़ाने लगता है, तब यह शब्द-योजनाकी वृत्ति जितनी ही कलापूर्ण होती है उतनी ही अधिक चुटीली भी होती है। इसका अर्थ यह है कि वक्ताके कण्ठसे निकलनेवाली वाणीका केवल एक ही अर्थ नहीं होता। प्रसंग, परिस्थिति और काकुसे उसके अनेक अर्थ ध्वनित हो सकते हैं। इसलिये शब्द और अर्थकी नित्यताका यह भी तात्पर्य है कि शब्द जिस अर्थका विस्फोट करता है वह केवल अर्थ-व्यक्तिका चमत्कार मात्र ही नहीं होता वरन् वह उसके साथ बँधी हुई वक्ताकी मानसिक वृत्तियोंका भी प्रस्फोटन करता है। इस प्रयासमें कभी-कभी वक्ता जिस विशिष्ट अर्थको व्यक्त करना चाहता है वह श्रोताकी अज्ञानताके कारण निरर्थक हो जाता है और वक्ताका सम्पूर्ण कलात्मक प्रयास विफल हो जाता है। इस प्रकारकी भाषा-प्रक्रियाओंमें वक्ता और श्रोता दोनोंकी भाषाका मान समान ही होना चाहिए।

मन या अन्तःकरणके चार रूप

§ ३०८. वेदान्तमें अन्तःकरणको चार प्रकारका बताया गया है।

भाषाके प्रयोगमें मानसिक प्रक्रियाका व्यवहार समझनेके लिये मन या अन्तःकरणका स्वरूप और उसकी प्रकृति भली भाँति समझ लेनी चाहिए। वेदान्तमें अन्तःकरणको चार प्रकारका बताया गया है—

मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमन्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे॥

[अन्तःकरणके चार रूप होते हैं—मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त। मनसे वितर्क और संशय होता है। किन्तु यह उचित है या अनुचित, कर्तव्य है या अकर्तव्य, भला है या बुरा, यह वस्तु अमुक है या नहीं इत्यादि

ज्ञान बुद्धिसे निश्चय होता है। इसीलिये बुद्धिको सदसद् - विवेचनात्मिका कहते हैं अर्थात् बुद्धि ही यह निश्चय करती है कि यह ठीक है, यह कर्तव्य है, इसमें लाभ होता है, यह अमुक वस्तु है इत्यादि।

अहंकारमें मनुष्यके अहंभावकी अभिव्यक्ति होती है कि 'यह मैं हूँ, यह मेरा है, मैं यह कर सकता हूँ, यह मैं कहता हूँ, मैं ही पण्डित, गुणी या धनी हूँ' इत्यादि।

चित्तसे स्मरण होता है कि यह अमुक है, यह अमुकके समान है, यह बात अमुक ग्रन्थमें लिखी है, यह मैंने अमुकसे सुना था, ऐसा मैंने अमुक समय देखा, सुना, सूँघा या ग्रहण किया इत्यादि।]

इस क्रमके अनुसार यदि विचार किया जाय तो हमारा सम्पूर्ण वाङ्मय ही चार प्रकारके रूपोंमें प्राप्त होता है संकल्प-विकल्पात्मक, जिसका सम्बन्ध मनसे है और जिसमें चिन्तन किया जाता है और यह तर्क-वितर्क अथवा संकल्प-विकल्प किया जाता है कि 'ऐसा हो तो उसका यह परिणाम होता है, ऐसा करना चाहिए या नहीं।' मनका सम्बन्ध हमारी ज्ञानेन्द्रियोंसे भी है और कर्मेन्द्रियोंसे भी। इसीलिये मनको उभयेन्द्रिय कहते हैं। यही मन कर्मेन्द्रियोंके साथ मिलकर मनोमय कोष हो जाता है। संकल्प और विवेचना करना मनका असाधारण धर्म है। हमारी इन्द्रियाँ जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्धकी चेतना ग्रहण करती हैं उसका निर्धारण मन ही करता है। सांख्यसूत्रने महत् तत्त्वसे मनकी उत्पत्ति मानकर इसका कार्य बताया है मनन करना, विचार करना, सोचना, ऊहापोह करना। यह मन अन्नमय होता है अर्थात् यह भक्ष्य पदार्थोंके परिणामसे उत्पन्न होता है। जो जैसा भोजन करता है वैसा ही उसका मन बनता है, वैसे ही विचार और संकल्प उसके मनमें उठते हैं।

मनकी पाँच अवस्थाएँ

§ ३०९. पातञ्जल योगसूत्रने क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध नामक मनकी पाँच अवस्थाएँ मानी हैं।

पातञ्जल योगसूत्रमें मनकी पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। मनकी चंचलता या अस्थिरताको क्षिप्तावस्था कहते हैं अर्थात् बाह्य वस्तुओंकी आकांक्षामें अस्थिर रहना ही मनकी क्षिप्तावस्था कहलाती है।

जब मनुष्य काम, क्रोध आदि अथवा निद्रा या तन्द्राके अधीन होकर गाली बकने लगता, मारने लगता या आलस्यमें सोने लगता है तब वह मनकी मूढावस्थामें रहता है। इस अवस्थामें मनुष्य सामान्य विवेकको तिलाञ्जलि देकर किसी विशेष आवेग—काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, भय, घृणा, शोक आदि—के वशमें होकर उद्वेगपूर्वक काम करता या बोलता है। यही मनकी मूढावस्था होती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे सामान्यतः भाषाके प्रयोगमें अधिकांश मनकी मूढावस्था ही प्रेरणा देती है।

जब मनुष्यके मनकी चंचलताके बीचमें कुछ समयके लिये उसका मन अचंचल होकर या दुःखजनक विषयका परित्याग करके सुखजनक वस्तुमें स्थिर हो जाता है और केवल सुखका ही आस्वादन करनेमें मग्न हो जाता है, उसे मनकी विक्षिप्तावस्था कहते हैं। इसमें मनुष्य मन ही मन कुछ सोचता या वाणीका आनन्द तो लेता रहता है, पर मुखसे कुछ नहीं कहता। अतः, मनकी यह अवस्था भाषा या वाणीकी विचार-परिधिसे बाहरकी है।

जब मन किसी बाह्य वस्तु, काल्पनिक विचार अथवा कल्पनामें मग्न होकर निश्चल और निष्कंप दीपशिखाकी भाँति अविकम्पित रहता है और चित्तकी रजोवृत्ति और तमोवृत्तिके बदले उसमें केवल सात्त्विक वृत्तिका अर्थात् प्रकाशमय और सुखमय वृत्तिका प्राधान्य होता है तब मनकी 'एकाग्र' अवस्था होती है।

एकाग्र अवस्थामें तो मनका कोई बाह्य या आभ्यंतर अवलम्बन रहता भी है किन्तु 'निरुद्ध' अवस्थामें कोई अवलम्बन नहीं रहता। उस समय मन पूर्णतः सत्ताहीन हो जाता है।

यश, अर्थ, व्यवहार और अमंगलनाशके लिये जो कुछ काव्य-रचना होती है वह मनकी क्षिप्त और मूढ अवस्थामें होती है किन्तु शास्त्र-रचना, भक्तिकाव्य-रचना, नीति-कथन आदि एकाग्र अवस्थामें होते हैं।

इन पाँचों अवस्थाओंमेंसे केवल क्षिप्तावस्था और मूढावस्थामें ही मनुष्यकी वाणीका प्रसार होता है। इनमें भी मानसिक प्रेरणासे जिस वाणीका प्रयोग होता है वह मूढावस्थामें ही होता है। इसी अवस्थामें हमारा जीवात्मा पाप-पुण्य, दुःख-सुख आदिका अनुभव करता है। इच्छा, द्वेष, विषय, ज्ञान, प्रयत्न, संकल्प, विचार, स्मरण, कला, विज्ञता आदि सब गुण मनके कारण ही उत्पन्न होते हैं।

मनके तीन भेद

§ ३१०. सात्त्विक, राजसिक और तामसिक वृत्तिके अनुसार मनके लक्षण भिन्न-भिन्न होते हैं।

यह मन सात्त्विक, राजसिक और तामसिकके भेदसे तीन प्रकारका माना गया है। 'भावप्रकाश'में इन तीनोंके अलग-अलग गुण बतलाए गए हैं।

सात्त्विक मनके लक्षण :

आस्तिक्यं प्रविभज्य भोजनमनुत्तापश्च तथ्यं वचो।
मेधाबुद्धिधृतिक्षमाश्च करुणा ज्ञानश्च निर्दम्भता॥
कर्मानिन्दितमस्पृहश्च विनयो धर्मः सदैवादरा—
देते सत्त्वगुणान्वितस्य मनसो गीता गुण-ज्ञानिभिः।

—भावप्रकाश प्र० खण्ड।

[आस्तिक्य (मोक्ष, ईश्वर और परलोक आदिमें श्रद्धा) सदसद्-विवेचना-पूर्वक भोजन, अक्रोध, सत्य वाक्यका प्रयोग, मेधा, बुद्धि, धृति, काम-क्रोध-लोभादिमें अप्रवृत्ति, क्षमा, करुणा, आत्मतत्त्वका ज्ञान, दंभहीनता, अनिन्दित कर्मका आचरण, अस्पृहा, विनय और यत्नपूर्वक धर्मानुष्ठान, ये सब सात्त्विक मनके कार्य हैं।] जिनका मन सत्त्वगुणान्वित होता है, वे इस प्रकारके कर्म करते हैं।

राजसिक मनके लक्षण :

क्रोधस्ताडनशीलता च बहुलं दुःखं सुखेच्छाधिका
दंभः कामुकताप्यलीकवचनं चाधीरता दुष्कृतिः।
ऐश्वर्ये ह्यभिमानितातिशयिताऽनन्दोधिकश्चाटनम्
प्रख्याता हि रजोगुणेन सहितस्यैते गुणाश्चेतसः॥

—भावप्रकाश प्र० खण्ड।

[क्रोध, ताडनशीलता, अत्यन्त दुःख, सुखकी इच्छा, दम्भ, कपटता, कामुकता, मिथ्या बोलना, अधीरता, अहंकार, ऐश्वर्यमें अतिशय अभिमान, अधिक आनन्द और परिभ्रमण, ये सब राजसिक मनके लक्षण हैं।] जिनका मन रजोगुणान्वित होता है वे इस प्रकारके कार्यमें प्रवृत्त होते हैं।

तामसिक मनके लक्षण :

नास्तिक्यं सुविषण्णतातिशयिताऽलस्यं च दुष्टा मतिः
प्रीतिर्निन्दितकर्मशर्मणि सदा निद्रालुताऽहर्निशम्।

अज्ञानं किल सर्वतोऽपि सततं क्रोधान्धता मूढता
प्रख्याता हि तमोगुणेन सहितस्यैते गुणाश्चेतसः ।।

[नास्तिकता, अतिशय विषण्णता, अत्यन्त आलस्य, दुष्ट बुद्धि, सर्वदा निन्दित कर्म-जनित सुखमें प्रीति, रातदिन निद्रालुता, अत्यन्त अज्ञानता, सदा क्रोध और मूर्खता, ये सब तामसिक मनके लक्षण हैं ।] जिन व्यक्तियों-का मन तमोगुणान्वित होता है वे इस प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करते रहते हैं ।]

मनके नौ गुण

महाभारतके अश्वमेध-पर्वमें मनके नौ गुण बताए गए हैं—

धैर्योपपत्तिर्व्यक्तिश्च विसर्गो कल्पना क्षमा ।
सदसच्चाशुता चैव मनसो नव वै गुणाः ।।

[मनके नौ गुण हैं—धैर्य, उपपत्ति, (समाधान या युक्ति) स्मरण, भ्रान्ति, कल्पना (मनोरथ- वृत्ति) क्षमा, सत् (वैराग्य आदि), असत् (रागद्वेष आदि) एवं आध्यात्मिकता ।] यहाँ मनको अध्यात्म तत्त्व माना गया है ।

मन और बुद्धिका योग

§ ३११. सब प्रकारके मनःप्रेरित वाग्व्यापारमें बुद्धिका योग नहीं होता ।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य जितना कुछ भी कर्म करता या वचन कहता है उस सबका प्रेरक मन ही है । इस प्रकार वाणीमें भी मुख्य प्रेरक शक्ति मन ही मानी गई है । किन्तु मनके द्वारा प्रेरित होकर मनुष्य जितना कुछ काम करता या वाणीका प्रयोग करता है वह दो प्रकारका होता है—१. बुद्धि-द्वारा व्यवस्थित, २. बिना बुद्धिके किया हुआ कार्य या कही हुई वाणी ।

तीन प्रकारकी बुद्धि

§ ३१२. भगवद्गीतामें सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकारकी बुद्धिका उल्लेख किया गया है।

भगवद्गीतामें सात्त्विक, राजसिक और तामसिक बुद्धिका परिचय इस प्रकार दिया गया है—

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।
यथा धर्ममधर्मञ्च कार्यञ्चाकार्यमेव च ।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ।।

अधर्मं धर्ममिति वा मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

—भगवद्गीता, अध्याय १८ ।

[जिसके द्वारा प्रवृत्ति, निवृत्ति, कर्तव्य, भय, अभय, बन्धन और मोक्ष-आदि जाना जा सके उसे सात्त्विक बुद्धि कहते हैं। जिसके द्वारा धर्म-अधर्म, कार्य-अकार्य आदिको भलीभाँति बिना जाने-सुने अन्यथा ज्ञान उत्पन्न हो उसे राजसी बुद्धि और जिस बुद्धिके द्वारा अधर्मको धर्म, अकर्तव्यको कर्तव्य समझा जाय, ऐसे विपरीत भावप्रकाशन-ज्ञानको तामसी बुद्धि कहते हैं।]

इनमेंसे राजसी और तामसी बुद्धिके द्वारा अयथार्थ या मिथ्या ज्ञान निश्चित होता है। कल्कि-पुराणमें अयथार्थ ज्ञानकी अवस्थाओंको बुद्धि-क्षय और बुद्धि-नाशका कारण बताया गया है—

शोकः क्रोधश्च लोभश्च कामो मोहः परासुता ।
ईर्ष्याभिमानो विचिकित्सा कृपासूयाजुगुप्सिताः ॥
द्वादशैते बुद्धिनाश-हेतवो मानसा मलाः ॥

—कल्कि पुराण, १८ अ० ।

[शोक, क्रोध, लोभ, काम, मोह, निर्जीवता, ईर्ष्या, अभिमान, विचिकित्सा (सन्देह या भ्रम), कृपा, असूया (द्वेष) और जुगुप्सा, ये १२ बुद्धिनाशके कारण और मानस मल हैं।]

सात्त्विक बुद्धिसे लोकमङ्गलकारी वाणीका, शास्त्रका तथा भक्तिपरक या आस्तिक काव्योंका जन्म होता है। राजसिक तथा तामसिक बुद्धिसे अन्य सब प्रकारकी वाणी और वाग्रचनाओंका जन्म होता है। इन अवस्थाओंमें जिस वाणीका प्रयोग होता है वही वाणीके विवेचनका प्रमुख लक्ष्य है।

चित्त और अहंकार

§ ३१३. चित्तसे स्मृत्ति और अहंकारसे अभिमान होता है।

चित्तका कार्य है स्मरण करना और यही वास्तवमें अन्तःकरणकी अनुसन्धानात्मक वृत्ति है। इसी प्रकार अहंकार भी अन्तःकरणकी अभिमानात्मक वृत्ति है। इस अहंकारके कारण ही मनुष्यके मनकी मूढ अवस्था होती है।

इस सम्पूर्ण विवेचनका यह तात्पर्य निकला कि मनुष्यके मनकी मूढावस्था अथवा राजसिक और तामसिक वृत्तिके कारण ही जो बुद्धिमें विकार होते हैं और बुद्धि-क्षय होता है उससे जो अनेक प्रकारके मनोविकार

मनोवेग, भावावेग आदि मन:स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं उनमें मनुष्य जिस प्रकारकी वाणीका प्रयोग करता है और साधारण शब्दोंके अर्थोंमें नया उद्योतन उत्पन्न करके अर्थमें परिवर्तन करता चलता है उन्हींसे वास्तवमें वाणीका विकास और विलास होता है।

भाव-संस्कार

§ ३१४. अनुराग, विराग और उदासीनताके भाव- संस्कारोंके विस्तारके साथ वागभिव्यक्तिके प्रकारोंका भी विस्तार हो चला।

उपर्यङ्कित शास्त्रीय विवेचनके अतिरिक्त सामान्य दृष्टिसे विचार करनेपर भी प्रतीत होगा कि मनुष्यकी आदि प्रवृत्तियाँ जब केवल आत्मतुष्टि (आहार, निद्रा, भय, मैथुन) से आगे बढ़कर सामाजिकताके संस्कारमें, सामाजिकताके संस्कारसे आगे बढ़कर जाति-संघटन और राज्य-संघटनमें लगीं तबसे मनुष्यने अनुरक्ति और विरक्तिके दो मोटे-मोटे भावोंको काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मद, मत्सरता, अहंकार, अनुराग, श्रद्धा, भक्ति और ममता आदि अनेक प्रकारके प्रिय और अप्रिय भावोंमें ढालकर उनके अनेक भाव-संस्कार बना लिए और ज्यों-ज्यों मनुष्यके सामाजिक संस्कारों, व्यवहारों और सम्बन्धोंमें वृद्धि होती चलती गई त्यों-त्यों प्रत्येक भाव-संस्कारके अनेक सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम भेद-प्रभेद पल्लवित होने लगे। इन अनेक प्रकारके भाव-संस्कारों और विचार-संस्कारोंको अभिव्यक्त करनेके लिये भाषा-संस्कारको भी अनेक शाखा-प्रशाखाओंमें अपना विस्तार करना पड़ा।

इन अनेक सूक्ष्म भाव-संस्कारोंकी तीन ही मूल वृत्तियाँ थीं—१. ममत्व या अनुराग, २. विरक्ति या घृणा और ३. तटस्थता या उदासीनता। इन्हीं तीन वृत्तियोंसे सम्बद्ध अनेक प्रकारके भाव निरन्तर क्रमिक या अक्रमिक रूपसे मनुष्यके मनमें उठते, उसके विचारोंको उत्तेजित करते और फलत: अभिव्यक्तिके लिये भाषाका रूप और उसकी शैली स्थिर करते चलते हैं। प्रत्येक प्रकारकी भावकी अभिव्यक्तिके लिये भाषा निरन्तर भावकी अभिव्यक्ति करती चलती है। भारतीय साहित्य-शास्त्रियोंने इन अनेक प्रकारके भावोंको रसका अङ्गभूत बनाकर स्थायी, सात्त्विक और संचारी भावके रूपमें इनका वर्गीकरण भी किया है। उनके अनुसार निम्नाङ्कित नौ स्थायी भाव हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, भय, आश्चर्य, उत्साह, घृणा और निर्वेद। अनुभावोंके अन्तर्गत स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, कम्प, अश्रु, वैवर्ण्य, प्रलय, स्वरभंग, जृम्भाकी गिनती कराई है किन्तु ये तो भावके पीछे प्रकट होनेवाली शारीरिक

अवस्थाएँ मात्र हैं। संचारी भावोंके अन्तर्गत जिन भावोंकी गणना कराई गई है है इनकी संख्या पुराने आचार्योंने ३३ मानी है—

निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जडता, गर्व, विषाद, उत्सुकता, निद्रा, अपस्मार, सुप्ति, प्रबोध, अमर्ष, अवहित्था (भाव छिपाना), उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क।

अभिनवभरतने इन ३३ के अतिरिक्त १७ और संचारी माने हैं—

लोभ, ईर्ष्या, लालसा, कामना, आसक्ति, कुतूहल, श्रद्धा, विश्वास, विनोद, प्रतिहिंसा, प्रवंचना, आशा, निराशा, मान, उपेक्षा, स्पर्धा और विजय।

कुछ आचार्योंने मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ, विवेक, निर्णय, क्षमा और उत्कंठा-को भी संचारी भाव बताया है। किन्तु रसतरङ्गिणीकारने इसका खण्डन करते हुए कहा है कि असूया, त्रास, अवहित्था, अमर्ष, मति, धृति, उत्सुकता और चपलताके अन्तर्गत ही क्रमशः इनका समावेश हो जाता है। महाकवि देवने छलको भी संचारी भाव माना है। किन्तु वह अभिनवभरतके 'प्रवंचना' नामक संचारी भावका पर्याय ही है। रसगंगाधरमें लिखा है कि संचारी भाव और भी हो सकते हैं पर भरत मुनिने ३३ ही गिनाए हैं इसलिये सर्वदा इनके अन्तर्भावमें ३३ भेद कर लेने चाहिएँ।

इन सब भावोंमें जो स्थायी भाव बताए गए हैं उनमेंसे रति, हास, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शान्ति सभीमें वक्ता या श्रोता दोनोंकी भाषाके स्वरूप और उसकी प्रतिक्रियामें अन्तर हो जाता है अर्थात् ये सभी भाव निश्चित रूपसे भाषाको प्रभावित करते हैं। इन भावोंमें कही हुई बातका निश्चित रूपसे श्रोताके मनपर प्रतिक्रियात्मक प्रभाव पड़ता है और वह कभी-कभी श्रोताके शरीरपर अनुभावोंके रूपमें दृष्टिगोचर होता है। किन्तु जो संचारी भाव गिनाए गए हैं उनमेंसे ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, गर्व, विषाद, उत्सुकता, निद्रा, अपस्मार, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, त्रास, वितर्क, लोभ, लालसा, कामना, आसक्ति, कुतूहल, श्रद्धा, विश्वास, विनोद, प्रतिहिंसा, प्रवंचना, आशा, निराशा, मान, उपेक्षा, स्पर्धा और विजयकी मानसिक स्थितिमें वक्ताकी भी भाषापर प्रभाव पड़ता है और श्रोताकी मानसिक स्थितिपर भी अर्थात् इन भावोंके साथ यदि

कोई बात कही जायगी तो भावके अनुसार श्रोताके मनपर भी प्रभाव पड़ेगा और उसके मनमें भी इन उपर्युक्त भावोंमेंसे कोई भाव उत्पन्न होगा, यहाँ-तक कि कभी-कभी जडता और मरण भी उसका परिणाम हो सकता है।

मनोवेग, भावना, व्यवहार और प्रवृत्ति

योरोपीय मानस-शास्त्रियोंने मानवीय मनोवेगों (इमोशन्स), भावनाओ (फ़ीलिंग्स), व्यवहारों (बिहेवियर) तथा प्रवृत्तियों (ऐटीट्यूड्स) का विश्लेषणात्मक विवेचन इस प्रकार किया है—

मनोवेग :

विदेशी मानस-शास्त्रियोंने सामान्यतः व्यापक रूपसे निम्नाङ्कित मनोवेगों-का अस्तित्व स्वीकारकर लिया है—१. भय (फ़ीयर) जिसके अन्तर्गत आतंक, आशंका और उद्वेग भी आता है; २. ऊब (डिस्गस्ट), ३. स्नेह या प्रेम-वासना (लस्ट), ४. व्याकुलता या विषाद (डिस्ट्रेस), ५. आश्चर्य तथा कुतूहल, ६. आह्लाद (इलेशन), ७. आत्मनिरादर (सेल्फ़-एबेसमेन्ट), ८. भूख, ९. अकेलेपनकी भावना (फ़ीलिंग ऑफ़ लोनलीनेस), १०. स्वामित्व या अधिकार-भावना (ओनर-शिप), ११. रचनात्मकता (क्रिएटिवनेस), १२. विनोद (एम्यूज़मेंट), १३. गर्व (वेनिटी)

रूढतः दो प्रकारकी मानसिक भावनाएँ मानी गई हैं—अरुचिकरता (अन्प्लेजेन्टनेस), रुचिकरता (प्लेजेन्टनेस)। डब्ल्यू० वूण्ट (१८९६) ने भावनाओंके तीन परिणाम बतलाएँ हैं—१. सुहावनापन और असुहावनापन, २. उद्वेग और शान्ति (एक्साइटमेण्ट एण्ड क्वायट), ३. तनाव या प्रत्याशा (टेन्शन और एक्सपेक्टेंसी), ४. सन्तोष या निश्चिन्तता (रिलीफ़ और रिलेक्सेशन)। जी० बो० फैलेन (१९२५) ने भावनाओंको दो वर्गोंमें विभक्त किया है—बाह्य (ऑब्जेक्टिव) और सात्त्विक (सब्जेक्टिव)। आर० एस० वुडवर्थने तो भावनाओंके विभिन्न स्तरोंको ही निम्नांकित रूपमें वर्णित कर दिया है—आनन्द (प्लेज़र), प्रसन्नता (हेपीनेस) , हर्ष (ज्वॉय), आह्लाद (डिलाइट), अप्रसन्नता (डिसप्लेज़र), शोक (ग्रीफ़), असंतोष (डिसकण्टेण्ट), हास (मर्थ), विनोद (एम्यूज़मेण्ट), उल्लास (हिलेरिटी), उद्वेग (एक्साइटमेन्ट), विक्षोभ (एजिटेशन), विरोध (अपोज़िशन), जडता (नम्बनेस), प्रत्याशा (एक्स्पेक्टेन्सी), आशा (होप), आश्वासन (एश्योरेंस), उत्सुकता (ईगरनेस), शंका (डाउट), व्रीडा (शाइनेश), आश्चर्य

(सरप्राइज़), विस्मय या चकित होना (एमेज़मेंट), घृणा (एवर्शन), उदासीनता या विरक्ति (लोथिंग), क्रोध (इन्डिग्नेशन), प्रतिरोध (रिजेक्टमेंट), चिढ़ (स्लेननेस)। इन भावनाओंमें आश्वासन, द्विविधा और असंतोषको छोड़कर शेष सभी भाव भारतीय आचार्यों-द्वारा गिनाए हुए संचारी भावों और स्थायी भावोंके अन्तर्गत आ जाते हैं। इस दृष्टिसे भारतीय आचार्योंने इस सम्बन्धमें अधिक सूक्ष्मताके साथ विचार किया है।

धारणाएँ या प्रवृत्तियाँ (ऐटीट्यूड्स)

धारणाओंकी कोई सर्वमान्य सूची नहीं है क्योंकि 'धारणा वह पूर्ण निर्धारित मनोवृत्ति है जो किसी परिस्थितिमें उसके समर्थन या विरोधमें प्रतिक्रियाके रूपमें उत्पन्न होकर बनी रह गई हो।' ऐसी परिस्थितियाँ मानव-जीवनमें अगणित होती हैं, इसीलिये धारणाएँ भी उतनी ही अगणित होती हैं। जिस प्रकार भावनाओंको रुचिकर या प्रिय (प्लेज़ेन्ट) और अरुचिकर या अप्रिय (अनप्लेज़ेन्ट) दो वर्गोंमें बाँटा गया है उसी प्रकार धारणाएँ भी दो मुख्य प्रकारमें विभक्त कर दी गई हैं—समर्थनात्मक धारणाएँ और विरोधात्मक धारणाएँ।

प्रवृत्तियाँ (टेण्डेन्सी)

धारणाओंके समान ही प्रवृत्तियाँ भी अनन्त हैं और उनका भी कोई मान्य वर्गीकरण नहीं है क्योंकि प्रवृत्ति कुछ तो स्थायी या परम्परागत चलती हैं और कुछ सीखी जाती हैं। इनके साथ सीखी हुई आंगिक और मानसिक चेष्टाएँ अगणित हो सकती हैं।

बालककी मनोवृत्ति और भाषा

§ १९. मनुष्यका बालक बचपनसे मन और बुद्धिका पूर्ण प्रयोग करने लगता है।

ऊपर जितने प्रकारके भारतीय और विदेशी भाव, मनोवेग, भावना, प्रवृत्ति और धारणाओंका विवेचन किया गया है इन सब अवस्थाओंमें मनुष्य अनेक शब्दोंके रूढ अर्थ छोड़कर उनके नये-नये अर्थ निकाल-कर उन नये-नये आरोपित अर्थोंमें चमत्कार उत्पन्न करते हैं। यही भाषा और मनके सम्बन्धका प्रधान आधार है। मानस-शास्त्रियोंने मन और अर्थके इस सम्बन्धका अत्यन्त गम्भीरताके साथ विश्लेषण करके प्रस्तुत किया है। अर्थके मनोविज्ञान (दि साइकोलौजी औफ मीनिंग) नामक ग्रन्थके चौथे

अध्यायमें 'अर्थके अनुभवका विकास' शीर्षक अध्यायमें इसका विस्तृत विवेचन करते हुए कहा गया है कि 'दो बातें स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं कि अर्थ सब प्रकारके छोटे-से-छोटे तथा आरम्भिक अनुभवोंको व्यक्त कर देता है और उन अनुभवोंके विकासके साथ-साथ स्वयं विकसित भी होता चलता है। यदि हम शिशुओं और बालकोंके विकसित कला-कलापोंकी ओर ध्यान दें तो हमें अर्थके विकास और उसकी व्यापकताका भली प्रकार बोध हो जायगा। जब नन्हाँ बच्चा माताकी ओर देखकर दूध पीनेके लिये रोता है तब माता तत्काल उसका अर्थ समझ जाती है। बालकके रोदनमें जो अर्थ छिपा रहता है उसीका उत्तर वह अपनी मातासे चाहता है। उसी प्रकार किसी अपरिचित व्यक्तिके सम्मुख आ जानेपर बालकका व्यवहार परिवर्तित हो जाता है। उसके रोने, चिल्लाने तथा हिचकिचाहटसे उसके मनोभाव पूर्णतः व्यक्त हो जाते हैं। बालकके व्यवहारमें होनेवाले इन परिवर्तनोंको देखकर ही उनका अर्थ पूर्णतः समझ लिया जाता है। इस प्रकार शारीरिक परिवर्त्तन या मुखमुद्रा भी निश्चित रूपसे अपना अर्थ-बोध कराती है।'

कुछ लोगोंका कथन है कि नन्हाँ बच्चा सबको एक-सा समझता है। किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि कुछ दिनका बालक भी अपनी माताके पास एक प्रकारका व्यवहार करता है और अन्य परिचितोंके आनेपर अथवा प्रिय या अप्रियदर्शी मुखको देखकर तदनुसार प्रेम, क्रोध, घृणा और विरक्ति आदिका प्रदर्शन करता है। प्रौढोंके समान ही बालक भी वातावरण-के अनुसार परिवर्तित व्यवहार करता है। तात्पर्य यह है कि कार्य, व्यवहार और घटनाकी प्रकृतिसे भी अर्थ स्वतः व्यक्त हो जाते हैं। ये सब व्यवहार (कार्य, भाव, स्मृति और विचार) मनुष्यकी शारीरिक बनावट, मानसिक स्थिति तथा सामाजिक वातावरणके अनुसार निश्चित होते हैं।

कुछ लोगोंका कथन है कि बच्चोंका मस्तिष्क गुंजनपूर्ण, विकासोन्मुख और गड़बड़झाला (बज़िग, ब्लूमिग, कन्फ्यूज़न) होता है किन्तु इस मतमें बच्चोंके विकसित होनेवाले अनुभवोंकी उपेक्षा की गई है। बच्चों तथा प्रौढोंके अनुभवोंमें यही अन्तर है कि बच्चा क्रमसे धीरे-धीरे विस्तारकी ओर अग्रसर होता है। इस कारण बालकोंके मस्तिष्कको गड़बड़झाला बताना बड़ी भूल है। यदि ऐसी बात होती तो बालकके शारीरिक विकास तथा अनुभवोंके विकासके साथ उसकी बुद्धि, ज्ञान तथा अर्थोंमें भी विकास होता है। तथ्य

तो यह है कि बालक ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसके व्यवहारमें विकास होता चलता है। इस विकासके साथ एक अर्थसे दूसरे अर्थका ही आगमन नहीं होता वरन् नवीन अनुभवोंके साथ-साथ अर्थ भी अधिक व्यापक बनते चलते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकोंने कहा है कि बालकका मस्तिष्क जंगलियों और पागलोंके समान होता है और उनके मस्तिष्कमें उन्माद (सीज़ोफ्रेनिक) रोगके लक्षण पाए जाते हैं किन्तु बालकके व्यवहारमें जिन भावोंका प्रत्यक्षीकरण होता है, उससे तो बालकके व्यवहारमें कोई असाधारणता नहीं दिखलाई पड़ती वरन् कभी-कभी तो बालक ऐसी बुद्धिमानी, चतुरता और कौशलका परिचय देते हैं कि अच्छे पुराने अनुभवी लोगोंको भी उनका लोहा मानना पड़ता है।

व्यवहारके साथ अर्थ विकास

§ ३१६. व्यवहारके विकासके साथ अर्थका विकास होता है।

व्यवहारके विकासके साथ-साथ अर्थके विकासका क्रम इस प्रकार बताया गया है—

१. देखकर (परसीविंग)
२. कल्पनासे (इमेजिनिंग)
३. विचार करके (थिंकिंग)
४. भावावेगसे (इमोशन)

'देखने'के अन्तर्गत केवल एक कार्य ही नहीं, बहुतसे कार्य समाहित होते हैं। एस० नेफ़ने इस देखनेकी क्रियाको पाँच भागोंमें बाँट दिया है—१. रूपात्मक (फ़िगरेशनल), २. सामान्य रूपात्मक (जनरलाइज़्ड), ३. भावात्मक (एब्स्ट्रैक्टिव), ४. वर्णनात्मक (डेस्क्रिप्टिव), और ५. प्रतीकात्मक (सिम्बौलिकल)। इन पाँचोंमें अलग-अलग विशेष प्रकारसे अर्थका बिकास होता है। रूपात्मकमें किसी अनजान, अस्पष्ट आकारको देखकर निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह आकार किसका, किस प्रकारका और क्या अभिव्यक्त करनेवाला है। वह केवल यही कह सकता है कि यह कोई आकार (फ़िगर) है। सामान्य रूपात्मकमें सम्मुख दिखाई पड़नेवाली वस्तुके किसी विशेष वर्गका बोध होता है। ऐसा तब होता है जब वह आकार न बहुत स्पष्ट हो न अस्पष्ट। भावात्मक रूपमें दिखाई पड़नेवाली वस्तु या आकारसे किसी विशेष वर्गका नहीं वरन् किसी विशेष वस्तुका बोध होता है। यह तभी

होता है जब कोई सूक्ष्म निरूपित चित्र दिखलानेके पश्चात् उसका स्थूल रेखाचित्र दिखला दिया जाय। वर्णनात्मक रूपमें दिखलाई देनेवाली वस्तुका याथातथ्य निरूपण हो जाता है। प्रतीकात्मक रूपमें जब कोई वस्तु दिखलाई पड़ती है तब उसका चित्र मस्तिष्कमें अंकित हो जाता है और उसका अर्थ व्यापक होने लगता है। इस प्रकारके अनेक चित्र बालकोंके विचारकी अभिवृद्धि करते हुए अपने अर्थ नियत करते चलते हैं और तब बालक अपनी भाषाके द्वारा उन अर्थोंकी अभिव्यक्ति करता है। मस्तिष्कके इस विकासके साथ-साथ उसकी उलझनें दूर होती चलती है और दूसरोंका अनुकरण करके वह अपने मस्तिष्कमें अर्थपूर्ण भावोंको स्थान देता चलता है और तर्क-द्वारा विशेषसे विशेषको ग्रहण करता है, विशेषसे सामान्यकी ओर नहीं जाता।

अर्थोंके सम्बन्ध

§ ३१७. आकस्मिकता, अनुकरण, संश्लेषण और सहयोग-सम्बन्धसे भी भाषाका विस्तार होता है।

सातसे ग्यारह वर्षके बीचके बालकके उलझे हुए विचार सुलझ जाते हैं और वह जीवनके कार्य-व्यवहारके बाह्य स्तरसे हटकर विचारशील हो जाता और नये विचार ग्रहण करने लगता है। इस दशामें अर्थ अधिक व्यापक होकर अधिक समृद्ध हो जाते हैं और इस प्रकार भाषा दृढ हो जानेपर भाषाकी प्रगति होने लगती है। मानस-शास्त्रियोंने बालकोंका परीक्षण करके यह निष्कर्ष निकाला कि उच्चारण करनेसे पहले बालक १५२ शब्द समझने लगता है। यह संख्या कोई प्रामाणिक नहीं है, किन्तु मोटे रूपमें यह कहा जा सकता है कि बालक १०० शब्दोंसे अधिक समझने लगता है और ज्यों-ज्यों वह नये शब्द उच्चारण करने लगता है त्यों-त्यों उसका शब्द-भाण्डार बढ़ने लगता है और उसके शब्दोंमें भी शक्ति आने लगती है। ज्यों-ज्यों उसके अनुभवका विकास होता है, त्यों-त्यों उसकी भाषाका भी विकास होता है और अर्थोंके सम्बन्धमें भी उसकी भाषाका विस्तार होता है। ये सम्बन्ध कई प्रकारके होते हैं, जैसे—१. आकस्मिक सम्बन्ध (केजुअल रिलेशन), २. सम्पर्क और अनुकरण (एसोसिएशन ऐण्ड इमीटेशन), ३. संश्लेषण (सिन्थेसिस), और ४. सहयोग (पार्टीसिपेशन) अर्थात् बात-चीतमें स्वयं भाग लेना।

आकस्मिक सम्बन्ध

आकस्मिक सम्बन्ध भी तीन प्रकारके होते हैं—१. वेग या स्वतः-प्रवृत्ति (फ़ोर्स और दि एनीमिस्थिक टेण्डेन्सी); २. तर्कात्मक कारण (लौजिकल कौज); ३. मनोवैज्ञानिक कारण (साइकोलौजिकल कौज)। इन सम्बन्धोंसे बालकमें अर्थयुक्त चेतना जागती है। पाइगेटका कहना है कि तीन चार वर्षके पश्चात् बालक किसी भी स्थिति तथा उससे सम्बन्धित विषयोंको समझकर उसे व्यक्त कर सकता है और ७ से ११ वर्षके बालक तो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी कर सकते हैं। बड़े होनेपर विभिन्न परिस्थितियों, विभिन्न भावों तथा विचारोंसे मनुष्यका मानस प्रभावित होने लगता है और इन परिवर्तित भावों तथा विचारोंके कारण शब्दोंके प्रयोग और उन शब्दोंके अर्थोंमें स्वाभाविक परिवर्तन होने लगता है।

शब्द-प्रयोगमें मानसिक क्रिया

§ ३१८. पारस्परिक व्यवहारकी भाषामें सदा विशेष मानसिक प्रक्रिया होती है।

सभी देशोंमें यह प्रथा है कि सामान्य सामाजिक शिष्टाचारमें किसी अपने इष्ट, मित्र, हितैषी या अतिथिके आ जानेपर गृहपति या आतिथेय सहसा अपना व्यवहार कोमल कर देता है चाहे उससे पूर्व वह अपने घरमें किसीपर क्रोध उतारता या किसीको डाँटता क्यों न रहा हो। उसके इस कोमल व्यवहारमें उसकी शब्दावलीके साथ-साथ उसकी भावभंगिमा और चेष्टाओंमें भी कोमलता आ जाती है। इसे सामाजिक शिष्टाचार या भाषात्मक शिष्टाचार कहते हैं। कुछ देशोंमें यह भी प्रथा है कि नमस्कार आदिके लिये विशेष रूढ आंगिक चेष्टा करते हैं, जैसे तिब्बतमें किसीको नमस्कार करते समय बाएँ हाथमें अपनी टोपी लेकर दाएँ हाथसे कान पकड़ कर जीभ बाहर निकाल लेते हैं। इस प्रकारके शिष्टाचार विभिन्न देशोंमें विभिन्न प्रकारके होते हैं। कहीं तो इस शिष्टाचारके साथ वाणीका भी प्रयोग होता है और कहीं नहीं होता। इस प्रकारके जातिरूढ, समाजरूढ या शिष्टजन-प्रयुक्त कोमल व्यवहारसे अभ्यागतके प्रति स्नेह, आदर, सम्मान तथा आत्मीयता व्यक्त होती है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति किसी प्रकारका अपराध करके सम्मुख आता है तब उसके प्रति रोष और उसके अपराधके प्रति आंतरिक क्षोभ व्यक्त करनेके लिये लोग अपने नथने फुलाकर, आँखें निकालकर, भौंहें चढ़ाकर, दाँत पीसकर, ओठ चबाकर

अपना रोष व्यक्त करते हैं। जिस प्रकार भावभंगिमा और आंगिक चेष्टासे आन्तरिक भाव व्यक्त किए जाते हैं उसी प्रकार साधारण शब्दोंको विशेष ढंगसे, क्रमसे सजाकर लेखक या वक्ता अपने भाव व्यक्त करता है। प्रत्यक्ष बातचीतमें तो श्रोता और वक्ता दोनों उपस्थित रहते हैं इसलिये भाव-भंगिमा और आंगिक चेष्टाके द्वारा भी भाव व्यक्त करनेमें सुविधा होती है किन्तु यदि श्रोता परोक्षमें अर्थात् आँखके सामने होनेके बदले ऐसे स्थानपर हो जहाँ केवल शब्द-सम्पर्क किया जा सके तो वहाँ भावके अनुसार ऊँचे या नीचे स्वरमें अथवा स्वरके आरोहावरोहके साथ भाषाके माध्यमसे ही भाव व्यक्त करने पड़ते हैं। किन्तु लेखकके लिये तो स्वरके आरोह-अवरोह अथवा उदात्त, अनुदात्त और स्वरितका भी कोई महत्त्व नहीं है। इसलिये उसे तो अपने मनके सम्पूर्ण अनुराग या विरागको भाषाके माध्यमसे ही व्यक्त करना पड़ता है। अतः, शब्दके प्रयोगमें मनुष्यकी मानसिक क्रिया विशेष रूपसे प्रेरक होती है। जिस मनुष्यका जितना ही अधिक शब्द और अर्थपर अधिकार होगा वह अपनी भावनाको भाव-भंगिमा, आंगिक चेष्टा और स्वरके उतार-चढ़ाव या आरोह-अवरोहका आश्रय न लेकर केवल शब्दोंके विन्याससे ही अपने मनके भावको उतने ही अधिक प्रभावशाली ढंगसे व्यक्त कर सकता है।

भाषा और बुद्धिका संयोग

§ ३१६. भाषाका एक पक्ष केवल बुद्धि-द्वारा प्रेरित होता है, मन-द्वारा नहीं।

बहुतसे विचार ऐसे होते हैं जो केवल चिन्तन और मननके लिये ही व्यक्त किए जाते हैं। उन विचारोंके साथ किसी प्रकारकी रागात्मक या विरागात्मक भावनाओंका सहयोग नहीं होता। ये विचार बुद्धि-द्वारा प्रेरित होते हैं, मनके द्वारा नहीं। इसलिये ऐसे विचारोंको व्यक्त करते समय शैली या भाषा-विन्यासका अधिक महत्त्व नहीं होता। इसीलिये जहाँ कहानी, उपन्यास या नाटककी भाषाको मनोवैज्ञानिक बतलाया गया है वहाँ निबन्ध या शास्त्रोंकी भाषाको उदासीन भाषा कहा गया है। सम्पूर्ण व्यक्तिगत पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धोंमें हमें मनःप्रेरित या मनोवैज्ञानिक भाषाका ही प्रयोग करना पड़ता है अर्थात् भाषाका प्रयोग करते समय यह ध्यान रखना पड़ता है कि अमुक प्रकारके वाक्य-विन्याससे अमुक प्रकारके श्रोतापर अमुक प्रभाव पड़ेगा।

अतः, शब्दावलीका प्रयोग करते समय श्रोताकी भाव-प्रकृति या मानसिक प्रकृतिका भी ध्यान रखते चलना पड़ता है क्योंकि कोई श्रोता बड़े भावुक होते हैं और कोई सहनशील, कोई ऋजु होते हैं तो कोई कुटिल। अतः, उनकी मानसिक प्रकृतिके अनुसार ही वाणीका प्रयोग किया जाता है इसलिये मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भाषाका परीक्षण और उसका रूप-निर्धारण करना भी वाग्विज्ञानका प्रमुख अंग है। लोग साधारणतः अपने बच्चोंका नामकरण दूसरा करते हैं, किन्तु घरमें उन्हें पुकारनेके लिये उनके वास्तविक नामसे भिन्न लल्ला, मुन्ना, मुन्नी, लल्लो आदि बहुतसे नामोंसे पुकारते हैं। इसका कारण यह नहीं है कि उनके वास्तविक नाम अभव्य हैं वरन् इसलिये कि उस नामके पुकारनेमें स्नेहकी पूरी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। अतः, वात्सल्यके व्यवहारके लिये भी बहुतसे शब्द बना लिए जाते हैं।

भाषा और हृदय

§ ३२०. हृदयकी भावना भी भाषाको प्रभावित करती है।

जिससे स्नेह किया जाता है उसके भी कुछ नाम होते हैं। किन्तु उन नामोंसे उसे सम्बोधित न करके राजा, रानी, सजनी, प्राण आदि संज्ञाओंसे सम्बोधित करके स्नेहकी तीव्रता व्यक्त की जाती है।

जब किसीको क्रोध आता है तब क्रोधके पात्रमें घृणित तथा निकृष्ट जीवोंका आरोप करके गधा, सूअर कहते हैं या मूर्ख, निर्लज्ज आदि विशेषण देते हैं, भले ही व्यक्ति अत्यन्त चतुर और लजीला क्यों न हो। इसी प्रकार लोग जिन बातोंसे डरते हैं उनका न नाम लेते न उनका वर्णन करते हैं और उनके बदले दूसरे शब्दोंका प्रयोग करके अर्थापदेश (यूफेमिज्म) का प्रयोग करते हैं। जिस व्यक्तिके घरमें चार प्राणी होंगे उसके यहाँ कभी द्वार बन्द न होगा। अतः, द्वार बन्द करनेका अर्थ है निर्जन होना। निर्जन होनेकी भावना भयावह है। अतः, किवाड़ बन्द करना न कहकर 'किवाड़ देना' कहते हैं। इसी प्रकार किसीका निधन हो जानेपर अमंगल तथा भयकी भावनासे लोग उसे 'वैकुण्ठलाभ' या 'गंगालाभ' कहते हैं। इस प्रकार मनुष्यकी मानसिक वृत्तियोंने वास्तविक अर्थ हटाकर उन अर्थोंके लिये ऐसे शब्दोंका प्रयोग चला दिया है जिनका रूढ अर्थ उलटा ही होता है।

ब्रेअलका कहना है कि जो लोग जितने अधिक सभ्य होते हैं उनकी भाषामें उतना ही अधिक शब्द-संकोच पाया जाता है। एक ही 'गोली' शब्द

भिन्न-भिन्न व्यक्तियों-द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त होता है—गोली खेलना, गोली बनाना, गोली खाना, गोली मारना, गोली भरना, गोली चूसना।

कभी-कभी सादृश्यके कारण एकके अंगका दूसरेपर आरोप भी कर लिया जाता है, जैसे घड़ेकी गर्दन, बोतलका गला, पतंगकी पूँछ, नदीकी गोद, आलू या अनन्नासकी आँख, कमलका उदर। कभी-कभी लाक्षणिक शब्दोंका भी प्रयोग किया जाता है, जैसे—'पंजाब साहसी है, गंगापर गाँव है, सड़कपर सिर ही सिर थे, लाल पगड़ीको देखते ही चोर भाग गया, तुम बैल हो, घृत ही आयु है, आपने उसका घर बिकवाकर बड़ा उपकार किया है, मैं आपके सौजन्यपर मुग्ध हूँ।'

गोपनीय बात कहनेकी शब्दावली

§ ३२१. गोपनीयताके लिये विशेष भाषा गढ़ ली जाती है।

मनुष्य अपने मनकी बहुत-सी बातोंको प्रत्यक्ष रूपसे कह देता है किन्तु बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिन्हें वह प्रत्यक्ष रूपसे व्यक्त तो करना चाहता है किन्तु कुछ विशेष व्यक्तियोंके उपस्थित होनेके कारण स्पष्ट नहीं कह पाता। फिर भी अनेक व्यवधान होनेपर उसे स्पष्ट करनेके लिये उसे विवश होना पड़ता है। ऐसी परिस्थितिमें वह छद्म भाषाका प्रयोग करता है, जैसे बनारसके पण्डे या दलाल या क्रान्तिकारी लोग गुप्त भाषाका प्रयोग करते हैं। बनारसी पण्डोंको यदि कहना हो 'दो पैसेका पान ले आओ' और वे अपने यजमानके सामने कहनेमें संकोच करते हों तो वे कहेंगे कि—'बरवा बरी कऽ बरँगा बिलौले आवऽ'। काव्योंमें इस प्रकारकी भाषाका अनेक बार प्रयोग होता है जिसमें संकेत या क्रियासे मनकी बात समझानेका प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकारके बहुतसे शब्द और वाक्य हमारे समाजमें भी प्रचलित हैं। काव्यशास्त्रमें ऐसी नायिकाओंका वर्णन है जिन्होंने अभिसार-स्थलका संकेत करनेके लिये गोपनीय शब्दावलीका प्रयोग किया है। कभी-कभी ऐसे ही अवसरोंके लिये अन्योक्तियोंका प्रयोग भी हुआ है जहाँ किसी बातको गोपनीय ढंगसे कहकर मनकी बात समझाई गई है—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही तें बँध्यो, आगे कौन हवाल॥
स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा, देखु बिहंगु बिचारि।
बाज पराऐं पानि परि, तू पच्छीनु न मार॥

अकबरके राज्यमें व्यक्तिने बीरबलके अवसानका समाचार अकबरको इन शब्दोंमें दिया—

कटक अटकमें अटक रहि, अटक न आयौ हाथ।
सब सोभा दरबारकी, गई बीरबर साथ॥

इसी प्रकार राजनीतिक क्षेत्रोंमें भी एक प्रकारकी शब्दावली प्रचलित होती है जिसमें इस प्रकारकी कूट भाषाका प्रयोग किया जाता है। वास्तवमें शीलकी दृष्टिसे नहीं, व्यवहारकी दृष्टिसे कभी-कभी इस प्रकार प्रयोगके आवश्यक हो जाते हैं। अत्यन्त साधारण रूपसे कभी-कभी जब नहानेका पानी ठंढा हो रहा हो और अतिथि बैठे हुए हों तो चतुर नौकर या गृहस्वामिनी यह न कहकर कि पानी ठंढा हो रहा है यह कहती है कि आपके लिये स्नानका पानी कब गरम किया जाय। अथवा किसीको कोई पहलेसे कही हुई वस्तुका स्मरण कराना हो तो कहला देते हैं—लेते आइएगा। इसीसे लानेवाला समझ जाता है कि किस वस्तुके लिये बात कही गई है। सभामें बैठे हुए राजा साहबने अपने एक नौकरसे कहा—'ले आओ', और वह पीकदान उठा ले आया। इसी प्रकार बहुत लोगोंके बीचमें बैठे हुए किन्हीं नवाब साहबको यह सूचना देनी थी कि 'नर्तकीको दूसरे प्रकोष्ठमें ठहरादो' तो उन्होंने यह कहा कि 'खिला-पिलाकर सुला दो,' जिससे दरबारियोंने समझा कि अपने बच्चेके लिये कहा गया है, किन्तु नौकर उसका ठीक अर्थ समझ गए।

इसका तात्पर्य यह है कि व्यवसाय-भेद छिपानेके लिये, राजनीतिक कूटताकी रक्षाके लिये, शील-निर्वाहके लिये और पारस्परिक गुप्त सम्बन्धके संरक्षणके लिये गोपनीय शब्दावलीका ही व्यवहार होता है, जिसका वास्तविक अर्थ मुख्यार्थसे भिन्न होता है। अतः, मानव-जीवनमें ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब मनुष्यको अपना आचार-विचार गोपनीय बनाए रखनेके लिये या तो नई शब्दावली गढ़नी पड़ती है या पुरानी बनी हुई शब्दावलीमें नये शब्दार्थोंका आरोप कर लिया जाता है।

भाषा और शिष्टाचार

§ ३२२. सामाजिक शील और शिष्टाचारकी भाषा प्रायः रूढ हो जाती है।

सृष्टिके विकास-कालमें मानव केवल संकेतोंके द्वारा अपने मनोभाव व्यक्त करता था। धीरे-धीरे जब उसकी बुद्धिका विकास हुआ तब वह केवल संज्ञा शब्दमात्रसे बालकोंके समान अपने भावोंको व्यक्त करने लगा। धीरे-धीरे

क्रिया, विशेषण आदिका भी वह प्रयोग करने लगा। जैसे-जैसे मनुष्य सभ्य होता गया वैसे-वैसे उसने अपने आचरणमें ही नहीं, विचारमें भी शिष्टाचारकी भाषा बना डाली, जैसे—

'कृपया आसन ग्रहण कीजिए। आपके नामने किन-किन अक्षरोंको पवित्र किया है? आपका शुभ नाम क्या है? मेरी कुटिया पवित्र कीजिए। मेरा यह ग़रीब खाना है। आपका दौलतखाना किधर है? जल मँगानेका कष्ट कीजिए। हमारे यहाँ जूठन गिराइएगा। जल ग्रहण कीजिए। थाली आपकी प्रतीक्षा कर रही है। बच्चे आपके ही हैं। घर आपका ही है।' राजाके अस्वस्थ हो जानेपर लोग कहते हैं कि 'जहाँपनाहके दुश्मनोंकी तबीअत नासाज़ है।'

शिष्टाचारके कारण ही भारतीय स्त्रियाँ अपने पतिका नाम नहीं लेती। 'आप सुनते हैं' इत्यादि प्रयोग ही संबोधनका स्थान ले लेते हैं। पतिके नामसे मिलनेवाले शब्दोंको प्रायः स्त्रियाँ बदल देती हैं।

अभिनन्दनपत्र देते समय परम गुणहीन और मूर्खको भी अनेक सुन्दर और भव्य विशेषण देनेकी प्रथा है।

पद तथा व्यक्तियोंके अनुसार भी शिष्टाचार-भाषामें परिवर्तन हो जाता है। एक ही व्यापार विभिन्न व्यक्तियोंके लिये विभिन्न रीतिसे व्यक्त किया जाता है, जैसे—'देवताको मिठाईका भोग लगाया। मेरे मित्रने भी मिठाई ग्रहण करनेकी कृपा की और उन महात्मा तथा संन्यासियोंने भी मिठाई पाई।' इसी प्रकार पूज्य तथा मान्य लोगोंके 'दर्शन करने' जाते हैं और मित्रोंके यहाँ 'मिलने' जाते हैं। इसी प्रकार आदरणीय और पूज्य व्यक्तियोंसे कहा जाता है कि 'कृपाकर मेरी कुटियामें पधारकर अपने चरण-रजसे उसे पवित्र करनेका कष्ट कीजिए' किन्तु साधारण परस्परके शिष्टाचारमें कहा जाता है कि 'मेरे घर पधारिएगा।'

यदि किसी साधु या महात्माकी मृत्यु होती है तो कहा जाता है कि 'अमुक साधु ब्रह्मलीन हो गए' और किसी असाध्य रोगसे पीडित व्यक्तिके लिये कहा जाता है कि 'बेचारेको मुक्ति मिली।'

रास्तेकी धूलको 'धूल' अथवा 'गर्द' परन्तु पवित्रताके भावोंसे युक्त शिष्टाचारमें उसके लिये 'रेणु' अथवा 'रज'का प्रयोग होता है, जैसे—श्रीगुरु-चरण-सरोज-रज, निज मन-मुकुर सुधारि।

इस प्रकार शिष्ट होनेके साथ मानव-समाजमें परस्पर आदर, स्नेह और सम्मानके लिये कृत्रिम वाक्यावली निश्चित है और वह इतनी रूढ हो गई है कि जिन विशेष अर्थोंमें उनका प्रयोग निश्चित किया गया उनमें साधारण अर्थवाले शब्दोंका प्रयोग करना अशिष्ट समझा जाने लगा।

मंगल-भावना

§ ३२३. भाषाके रूप-गठनमें शिवेतर भावनाको सदा दूर रक्खा जाता है।

मानव-मन सदासे ही सुखकी कामना करता है। दुःखकी कल्पनासे भयभीत होना मनुष्यकी सर्व-साधारण भावना है। जिस वस्तु या क्रियासे उसे भय होता है उसे अमंगल समझकर वह उससे दूर रहनेकी चेष्टा करता है और ऐसी सभी वस्तुओं और क्रियाओंको वह मंगलवाची नाम देकर स्मरण करता हैं—जैसे 'किवाड़ देना, दीया बढ़ाना, चूड़ी मौलना, गुड़िया या मूर्ति सिराना, फूल उतारना, होली मँगलाना, वैकुण्ठवास, दूकान बढ़ाना।' मृत्युके लिये स्वर्गवास, पञ्चत्व-प्राप्ति, गंगालाभ, वैकुण्ठलाभ आदि शब्द प्रसिद्ध हैं। रोगोंसे भयभीत होकर कहा जाता है—'शीतलाकी कृपा, माताका आगमन, महारानीकी दया' आदि।

इस प्रकार गंभीरता-पूर्वक विस्तारसे विचार करनेपर प्रतीत होता है कि मनुष्यने सम्पूर्ण अमंगल और अशुभ कार्यों और व्यापारोंके लिये अमंगलके भयसे ऐसी मंगलवाची शब्दावली बना लिया है कि जिसे सुननेपर अमंगलकी कल्पना या भावनासे उत्पन्न विभीषिकाका बोध न हो। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य साधारण बोलचालमें भी शब्दोंके वास्तविक या मूल अर्थको बदलकर नवीन अर्थका आरोप करता चलता है और उसकी इस प्रक्रियामें उसकी बुद्धि और उसका हृदय भी कभी-कभी प्रेरक होता है किन्तु मुख्य रूपसे उसका मन ही निरन्तर प्रेरणा देता है।

मानसिक संस्कारकी श्रेणियाँ और भाषा

§ ३२४. भाषा-संस्कारकी मानसिक वृत्तियाँ व्यक्तिगत भी होती हैं तथा समाजगत, वर्गगत और राष्ट्रगत भी।

प्रत्येक मानव-समाजमें जहाँ प्रत्येक भावात्मक, सामाजिक तथा आपद्गत परिस्थितियोंमें प्रत्येक व्यक्तिकी अलग-अलग प्रतिक्रिया होती है वैसे ही प्रत्येक समाजके कुछ अपने सामूहिक भावात्मक या मानसिक संस्कार होते हैं जिनके कारण उस समाजका प्रत्येक व्यक्ति निश्चित परिस्थितियोंमें निश्चित प्रकारकी भावात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। यह प्रतिक्रिया स्वभावतः समूहगत, वर्गगत, जातिगत और राष्ट्रगत भी होती है। इस प्रकारके भावात्मक संस्कार उस वर्ग, जाति या राष्ट्रके महापुरुषों-द्वारा किसी विशेष युगमें चला दिए जाते हैं जो धीरे-धीरे उस जाति या राष्ट्रके प्रत्येक सदस्यके अभ्यासपूर्ण अंग बन जाते हैं। ये अभ्यास केवल आंगिक प्रतिक्रिया-तक ही परिमित नहीं होते वरन् इनके अन्तर्गत शाब्दिक या वाचिक प्रतिक्रियाका भी समावेश होता है।

भाषाको प्रभावित करनेवाले मानस-संस्कार

मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विभिन्न प्रकारके मानसिक संस्कारोंको दो मुख्य श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है जो हमारी वाचिक प्रतिक्रियाओंको भी प्रभावित करते हैं—व्यक्तिगत मानस-संस्कार, सामूहिक मानस-संस्कार।

व्यक्तिगत मानस-संस्कार और भाषा

व्यक्तिगत मानस-संस्कारके अन्तर्गत प्रत्येक मनुष्यकी प्रकृतिके अनुसार उसका किन्हीं भावों, वस्तुओं, व्यक्तियों, समाजों अथवा प्रदेशोंके प्रति स्वाभाविक राग या विराग, स्नेह या विद्वेष उत्पन्न हो जाता है और वह उन वस्तुओं, व्यक्तियों, समाजों आदिका प्रसंग उठनेपर किसी प्रकारकी शारीरिक या मानसिक प्रक्रियाके द्वारा अथवा भाषाके ही द्वारा अपनी प्रतिक्रियाको व्यक्त कर देता है। भाषा और मनके प्रसंगमें जिन अनेक प्रकारके स्थायी और संचारी भावों, भावनाओं, उद्वेगोंका तथा धारणाओंका विवेचन किया जा चुका है, उन सभी प्रकारके व्यक्तिगत मानसिक संस्कार सब युगों, देशों और समाजोंके व्यक्तियोंमें विशेषतः समुन्नत और सभ्य समाजमें सदा व्याप्त रहे हैं। किन्तु कुछ मानस-संस्कार सामूहिक रूपसे इतने दृढ जातीय संस्कार बन जाते हैं कि वे भी किसी भाषाके शब्दोंके प्रचलित या प्रसिद्ध अर्थको बदलनेमें प्रभावकारी सिद्ध होते हैं। अतः, शब्दोंके अर्थोंमें मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे परिवर्तनके प्रसंगमें उन विशेष सामूहिक प्रवृत्तियोंका अध्ययन भी आवश्यक है जो शब्दोंका अर्थ-परिवर्तन करनेमें सहायक होते हैं।

सामूहिक मानस-संस्कार और भाषा

§ ३२५. सामूहिक मानस-संस्कारको धार्मिक, जातीय, स्वदेशीय तथा सांस्कृतिक पक्षपात और विरोध प्रभावित करते हैं।

सामूहिक मानस-संस्कारको प्रभावित करनेवाले वे थोड़ेसे इने-गिने ही तत्त्व हैं जो किसी समाज या राष्ट्रको निरन्तर किसी एक विशेष प्रकारकी मानसिक परिस्थितिमें रखनेको बाध्य करते हैं। इस दृष्टिसे हम यदि भारतके सामूहिक मानसिक संस्कारका विश्लेषण करनेका प्रयत्न करें तो प्रतीत होगा कि चार ही मुख्य तत्त्व-युग्मोंने सदा भारतके सामाजिक या सामूहिक मानसको प्रभावित किया है—

(क) धार्मिक पक्षपात, धार्मिक विरोध।

(ख) जातीय पक्षपात, जातीय विरोध।

(ग) स्वदेशीय पक्षपात और स्वदेशीय विरोध।

(घ) सांस्कृतिक पक्षपात और सांस्कृतिक विरोध।

ऊपर बताया जा चुका है कि भारतवर्षमें अनेक भाषाओं और प्रदेशोंकी विभिन्नता होते हुए भी एक विशेष प्रकारकी धार्मिक अखण्डता व्याप्त रही है जिसका मूल सूत्र यह व्यापक विश्वास रहा है कि ईश्वर सर्व-व्यापक,

सर्वान्तर्यामी और सर्वशक्तिमान् है, वही सृष्टिका कर्ता, और विधाता है। वही ईश्वर साकार और निराकार रूपमें समय-समयपर और निरन्तर हमारा पोषण और रक्षण करता है। इस सिद्धान्तका प्रतिपादन वेदने किया है जिसे आर्योंने अपौरुषेय माना है। अतः, जिन व्यक्तियों, समाजों या सम्प्रदायोंने इस धार्मिक विश्वासका विरोध किया, उनके प्रति वैदिक आस्थावालोंके हृदयमें स्वाभाविक विरोधकी भावना उत्पन्न हो गई, उनको हेय समझा जाने लगा, उनसे घृणा की जाने लगी और उन्हें नास्तिक कहा जाने लगा। किन्तु जो लोग इस मतका समर्थन करते थे वे प्रिय, पूज्य और आत्मीय समझे जाने लगे और तदनुसार उनके प्रति या उनकी आस्थाओंके प्रति जिन शब्दों-का प्रयोग किया गया उनके अर्थमें तदनुसार भावोंका आरोप करके अर्थ किए जाने लगे। 'नग्न' और 'लुंचित' शब्द जैन साधुओंके लिये आदर-सूचक शब्द थे किन्तु उसके बुरे अर्थ लगाकर निकृष्ट व्यक्तिके अर्थमें 'नंगा, लुच्चा' शब्दका प्रयोग किया जाने लगा। बुद्धके अनुयायीके लिये प्रयुक्त होनेवाले 'बौद्ध' शब्दको बिगाड़ कर 'बुद्धू' शब्द बना लिया गया और उसका प्रयोग 'मूर्ख'के अर्थमें होने लगा।

अशोकने उन साधुओंको पाखण्डा कहा जो बौद्ध नहीं थे। मनुने पाखण्डका बुरा अर्थ लिया 'ढोंगी या कपटी'। वैष्णवोंने पाखण्डका अर्थ अवैष्णव लिया।

सहजयानी लोगोंकी सहजावस्था या शून्यावस्थाका वाचक शब्द 'खसम' है—शून्यके समान या आकाशके समान। बौद्ध लोग इस शब्दसे आत्माके लुप्त होनेका भाव लिया करते हैं। कबीरके समय अरबीका 'खसम' शब्द 'पति' के अर्थमें आ पहुँचा।

कबीरने 'खसम'का अर्थ क्षणिक आनन्द माना। बड़ी वस्तु तो सहज समाधि है इस कारण उन्होंने सदैव 'खसम' शब्दका निकृष्ट अर्थमें किया।

साधारण रूपमें 'निरञ्जन' शब्द निर्गुण ब्रह्मका और विशेष रूपमें शिवका वाचक है। नाथ-पंथमें निरंजनकी महिमा बहुत गाई गई है। हठयोगी जब नादानुसन्धानका सफल अभ्यासी हो जाता है तब उसके समस्त पाप क्षीण हो जाते हैं और उसके चित्त और प्राण निरंजनमें लीन हो जाते हैं। इनका कहना है कि अर्द्ध-चन्द्रमें ईश्वर है और सबसे ऊपरवाले बिन्दुमें सदाशिवका वास है। इसके भी ऊपर निरंजन है जो सृष्टि, स्थिति और प्रलयके कारण हैं।

बीजककी इक्कीसवीं रमैनीके अन्तमें एक साखी है। वहाँ 'मैं ही सिरजता हूँ, मैं ही मारता हूँ, मैं ही जलाता हूँ।' निरंजनका अर्थ यहाँ है 'शैतान'।

भाषाको प्रभावित करनेवाली भावनाएँ

§ ३२६. धार्मिक, जातीय, प्रादेशिक, सांस्कृतिक तथा भावनात्मक पक्षपातसे भी भाषा प्रभावित होती है।

जातीय पक्षपात और जातीय विरोधके अनुसार भी सामूहिक भावना स्वरूप ग्रहण करने लगी। आर्य और अनार्य, भारतीय और अभारतीय, हिन्दू और मुसलमान, स्वदेशी और विदेशी आदि जातीय भेदोंके कारण ही सामूहिक पक्षपात या विरोधकी भावनाओंका विकास होने लगा। अपनी जातिके बुरेसे बुरे व्यक्तिको अच्छा समझने और दूसरी जातिके अच्छेसे अच्छे व्यक्ति और उसके आचार-विचारको बुरा समझनेकी सामूहिक प्रवृत्ति भी शब्दोंके अर्थ-परिवर्तनमें बहुत प्रेरक सिद्ध हुई। भारतसे बाहरकी मुसलमान जातियोंने मूर्ति-पूजक हिन्दुओंसे घृणा करनेके कारण 'हिन्दू' शब्दका अर्थ 'नास्तिक' और 'डाकू' मान लिया और इसी अर्थमें उसका प्रयोग करने लगे। इसी प्रकार हिन्दू भी अपने आचार-विचारसे भिन्न यवनोंको 'म्लेच्छ' कहने लगे जिसका अपभ्रंश 'मलिच्छ' शब्द 'गन्दे' और 'आचार-भ्रष्ट'के अर्थमें आने लगा। यह भावना यहाँतक अमर-बेल बनी कि एक दूसरेके आचार-विचार और कर्मकाण्डको अनेक बुरे नामोंसे पुकारा जाने लगा।

धर्म और जातिके समान ही एक विशेष राज्य या प्रदेशमें रहनेवाले लोग अपने-अपने प्रदेशको ही अपना स्वदेश मानकर अन्य दूसरे प्रदेशके रहनेवालोंको अपना शत्रु समझने लगे। यह प्रवृत्ति उस समय और भी अधिक बढ़ी जब हमारे देशमें अनेक राजाओंने अपने छोटे-छोटे राज्य बना लिए थे और वे निरन्तर परस्पर एक दूसरेसे युद्ध करते रहते थे। इस अवस्थामें देश-प्रेमकी भावना संकुचित होकर एक छोटेसे प्रदेशतक परिमित हो गई। वे अपने उस प्रदेशके निवासियोंको अपना समझते रहे और शेषको अपना विरोधी या पराया। इस परिस्थितिने भी उक्त प्रदेशमें रहनेवालोंके लिये अनेक शब्दों और नामोंके विचित्र अर्थ लगाकर उनके अर्थ परिवर्तन कर दिए जैसे 'यहूदी'का अर्थ 'अत्यन्त कृपण और अर्थ-पिशाच' है। पंजाबीको डग्गा, बिहारीको बुद्धू (भोला-भाला), बंगालीको भतखौआ, मराठेको कढ़ी, सिक्खोंको बारह बजे, उत्तर प्रदेशवालोंको भैया, मारवाड़ीको मक्खीचूस आदि। आजकल यह प्रान्तीयतावाद और जातीयतावाद इतना भीषण हो गया है कि सामूहिक मानस-संस्कार अगणित प्रकारके सामूहिक भावोंसे प्रभावित होते चले जा रहे हैं।

सांस्कृतिक भावना

सांस्कृतिक दृष्टिसे भी सामूहिक भावोंके बननेमें बड़ी सहायता मिलती है। एक विशेष सांस्कृतिक परिधिमें पला हुआ व्यक्ति दूसरी संस्कृतिके आचार-विचारको बुरा समझता है। यदि कोई भारतीय अँगरेज़ी ढंगसे खाना खाने लगे या रहन-सहन बना ले तो उसे कहते हैं 'साहब हो गया या अँगरेज़ हो गया है' आदि।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक समाजका एक विशेष प्रकारका अपना सामाजिक पक्षपात होता है और वह उस पक्षपातके अनुसार अपने और दूसरे समाजोंके प्रति अपनी धारणा बना लेता है। इस धारणाके अनुकूल या प्रतिकूल वातावरण या परिस्थिति प्राप्त करते ही वह तत्सम्बद्ध शब्दोंके अर्थोंमें अपनी भावनाके अनुसार नये अर्थोंका आरोप करके उनके प्रति अनुराग या घृणा व्यक्त करने लगता है।

इस प्रकार हिन्दी भाषा-भाषियों अथवा हिन्दी भाषाका प्रयोग करनेवाले व्यक्तियोंके व्यक्तिगत और सामूहिक मानस-संस्कारके आधारपर अनेक शब्दोंके अर्थोंमें अनेक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन हो गए हैं।

धार्मिक भावना

धार्मिक दृष्टिसे जो सामूहिक मानस-संस्कार किसी भी देश या समाजमें बनता है उसमें उस देशकी परम्परागत भावनाके अनुसार इतिहाससे पूर्वकी अनेक ऐसी रूढियाँ भी बनी चली आती हैं जिनका वर्तमान रूपमें समर्थन या समाधान नहीं किया जा सकता। फिर भी उनके प्रति जन-समाजकी इतनी दृढ आस्था होती है कि उसके विरुद्ध न तो वे कुछ सुनना चाहते हैं न कहना ही वरन् उसके प्रति उनकी जो आस्था या निष्ठा होती है उस निष्ठाके कारण उस रूढिको तोड़ने या उसका विरोध करनेमें उन्हें स्वाभाविक भय होता है। इस भय और आतंकाका यह परिणाम होता है कि उसके प्रति अनादरसूचक शब्दोंके प्रयोगमें भी उन्हें अनिष्ट और अमंगलकी आशंका होती है। इसी प्रकार विभिन्न सम्प्रदायों और धर्मोंके अनुगामी लोग भी अपने सम्प्रदाय अथवा धर्मके विशिष्ट महापुरुषों अथवा धार्मिक या साम्प्रदायिक कर्मकाण्डसे सम्बन्ध रखनेवाले आचार-विचार अथवा पदार्थोंके प्रति इतना आदरका भाव रखते हैं कि साधारण वस्तुओंके लिये भी वे

ऐसा नाम खोजते हैं कि जिससे अपने सम्प्रदायमें उनकी आदरपूर्ण निष्ठा व्यक्त हो जैसे नमकको वैष्णव लोग 'रामरस', प्याजको रामलड्डू, अभिवादन, प्रणाम या नमस्कारके बदले राम-राम या जै रामजीकी कहते हैं। यह सामूहिक धार्मिक या साम्प्रदायिक भाव-संस्कारका द्योतक है। इसका व्यक्तिगत मानस-संस्कारसे नहीं वरन् सामूहिक मानस-संस्कारसे सम्बन्ध है और वह भी धार्मिक पक्षपातके कारण। अतः, शब्दोंके मूल अर्थोंका परिवर्तन करनेमें सामूहिक धार्मिक मानस-संस्कारका भी बड़ा हाथ रहा है।

सामूहिक मानस-संस्कार

धार्मिक मानस-संस्कारके समान ही जातीय मानस-संस्कार भी भाषाकी अर्थप्रकृतिको प्रभावित करनेमें अत्यन्त सशक्त सिद्ध हुआ है। विशाल जाति-समूहोंमें तो इस प्रकारके सामूहिक मानस-संस्कारकी भावनाएँ ऐसे प्रबल रूपसे व्याप्त हो जाती हैं कि एक जाति या वर्गके लोग अपनी जाति या वर्गके व्यक्तियों, आचार-विचारों, व्यवसायोंके प्रति अत्यधिक पक्षपातके कारण उन्हें अपनी जाति या वर्गसे सम्बद्ध प्रत्येक बात उचित प्रतीत होती है और उस औचित्यको प्रभावशाली और प्रिय बनानेके लिये वे अपने नित्यप्रतिके व्यवहारमें प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंके कुछ विशेष प्रिय अर्थ लगा लेते हैं और अपनेसे भिन्न वर्गवालोंके लिये प्रयोग किए जानेवाले शब्दोंके बुरे अर्थ लगा लेते हैं।

इसी प्रकार विभिन्न व्यावसायिक, औद्योगिक तथा वृत्तीय वर्गोंके सम्बन्धमें भी कुछ ऐसे सामूहिक संस्कार बन गए हैं कि उस वर्गका नाम लेते ही उसके साथ उसके स्वभावके सम्बन्धमें एक धारणात्मक अर्थ भी ध्वनित हो जाता है—जैसे योरपमें किसीको स्कॉच (स्कॉटलैण्डका रहनेवाला) कहनेका अर्थ यह है कि वह महाकृपण है। इसी प्रकार एक-एक पैसेके लिये हिसाब-किताब करनेवाला और पैसे-पैसेके लिये प्राण देनेवाला व्यक्ति मारवाड़ी कहलाने लगता है। इस प्रकार जाति, सम्प्रदाय, वर्ग, व्यवसाय आदिके आधारपर जो सामूहिक उपसमाज बने हुए हैं उन सबके प्रति और उन सबका भी अलग-अलग ऐसा मानस-संस्कार बन जाता है जिसके कारण वे अपने प्रिय व्यक्तियों या पदार्थोंका बोध करानेवाले शब्दोंके लिये अनेक शुभ या सुन्दर अर्थोंका आरोप कर लेते हैं और अपनेसे भिन्न समुदायवाले व्यक्तियों या वस्तुओंके शब्दोंमें बुरे अर्थोंका आरोप कर लेते हैं।

प्रादेशिकताकी भावना

यही बात अपने-अपने देश, प्रदेश या प्रान्तके सम्बन्धमें है। जापानवाला जापानकी, बंगालवाला बंगालकी और मद्रासवाला मद्रासकी रीति-नीति, आचार-विचार, भाषा, वेषभूषा, खान-पान आदि किसी बातकी निन्दा नहीं सहन कर सकता वरन् उलटे अपने सदोष आचार-विचारको भी श्रेष्ठ समझता हुआ अन्य लोगोंके आचार-विचारको अपनेसे भिन्न होनेके कारण हेय या अग्राह्य समझता है। इस भावनाके कारण एक देश, प्रदेश, राज्य अथवा महाद्वीपका व्यक्ति दूसरे प्रदेश या महाद्वीपके व्यक्ति, वस्तु, आचार-विचारको हेय समझता हुआ उनके लिये प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंमें बुरे अर्थका आरोप करता है, जैसे— बुरे, सस्ते, नकली या शीघ्र टूट जानेवाले मालको लोग 'जापानी माल' कहते हैं और अपने देशसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रत्येक वस्तुको लोग इतना अच्छा समझते हैं कि उनके लिये प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंके अर्थोंमें अच्छे भावोंका आरोप करते हैं। कभी-कभी यह पक्षपात सीमोल्लंघन भी कर जाता हैं, जैसे—अँगरेज़ोंके शासनमें अँगरेज़ीपनकी भावनासे ओत-प्रोत लोग समयसे प्रारम्भ न होनेवाले कार्यके लिये कहते हैं 'भारतीय समय' (इण्डियन टाइम) है।

भावनात्मक संस्कार

§ ३२७. भावनात्मक भेदसे उत्पन्न होनेवाला मानस-संस्कार भी भाषाको प्रभावित करता है।

केवल देश-भेदसे नहीं वरन् भावनात्मक भेदसे भी इस प्रकारका पक्षपात उत्पन्न हो जाता है जो सामूहिक मानस-संस्कारको अत्यन्त बलपूर्वक प्रभावित करता रहता है। भारतीय संस्कृतिका एक विशेष नैतिक पक्ष है जिसमें भारतीय महिला एक विशेष प्रकारके शील, संकोच, सरलता, नम्रता, सेवा भाव और सहिष्णुताकी मूर्ति समझी जाती है। इसके विरुद्ध जो महिला बनी-ठनी, इधर-उधर सभी समाजोंमें आने-जानेवाली, संकोचहीन और स्वार्थी होती है उसके लिये हम लोग कहते हैं 'वह तो मेम साहब बन गई है'। यद्यपि अँगरेज़ीमें 'मेम' शब्द 'आदरणीय महिला'के लिये ही प्रयुक्त होता है किन्तु भावनात्मक भेदके कारण अँगरेज़ी आचार-विचारके प्रति हमारा इतना सामूहिक विरोध है कि उनके अच्छे अर्थमें प्रयुक्त होनेवाले शब्दके अर्थमें भी हमने बुरे भावका आरोप कर दिया है।

राजनीतिक भावना

राजनीतिक दलके लोग एक दूसरेकी बुराई करनेमें इतने अधिक सामूहिक रूपसे दत्त-चित्त होते हैं कि यदि उनमेंसे किसी एक दलकी प्रकृतिके सम्बन्धमें अथवा उस दलके अधिकांश सदस्योंकी प्रकृतिके सम्बन्धमें कोई विशेष प्रवृत्ति प्रसिद्ध हो जाती है तो उस दलको ही वे उस प्रवृत्तिका प्रतिनिधि मानकर उस दलके नाममें ही उस प्रवृत्तिका आरोप कर देते हैं। आजकल अधिकांश कांग्रेसवालोंके सम्बन्धमें यह भावना है कि वे चोरबाज़ारी करते हैं, झूठा पक्षपात करते हैं, अपने सगे-सम्बन्धियोंको अच्छे पद दिलवाते हैं। इसलिये जो व्यक्ति ऐसा करता है उसीको लोग कहते हैं कि 'यह तो कांग्रेसी है।' इसी प्रकार जब कोई बुरा काम होता सुनाई देता है तो कहा जाता है कि 'किसी गांधी-टोपीवालेने किया होगा।' इस प्रकार सामूहिक राजनीतिक दलों अथवा आर्थिक वर्गोंके आधारपर भी जो सामुदायिक मनोवृत्ति बनती है उस मानस-संस्कारके प्रभावसे भी शब्दोंके अर्थोंमें नये-नये अर्थोंका आरोप होने लगता है।

ये उपर्युक्त अनेक प्रकारके मानस-संस्कार निरन्तर किसी भाषाके शब्दोंमें नित्य नये अर्थोंका आरोप करनेकी प्रेरणा देते चलते हैं और सामूहिक मनोभावको एक विशेष प्रकारके मानस-संस्कारमें ऐसा ढाल देते हैं कि वह दूसरे वर्ग, समाज या समूहके लिये प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंमें नये अर्थोंका आरोप कर देता है। इस सम्पूर्ण विवेचनका यह निष्कर्ष निकला कि बहुतसे शब्दोंके मूल अर्थमें जो परिवर्तन हुए और हो रहे हैं उनमें जहाँ एक ओर व्यक्तिगत मानस-संस्कारको प्रबलता है वहीं दूसरी ओर धर्मगत, सम्प्रदायगत, जातिगत, देशगत, संस्कृतिगत, मानव-दलगत, राजनीतिक दलगत तथा वर्गगत सामूहिक मानस-संस्कारके कारण भी शब्दोंके अर्थोंमें परिवर्तन होते रहते हैं और पुराने अर्थोंके बदले नये और विचित्र अर्थोंका आरोप होने लगता है।

●●

मनोविज्ञान और भाषा

पीछे (§ १४५) विस्तारपूर्वक बताया जा चुका है कि किसी भाषामें किस प्रकार अन्य शब्द आते या ले लिए जाते हैं और फिर सहसा किसी कारण-वश किसी शब्दशक्तिके आश्रयपर अपना मूल तथा रूढ अर्थ छोड़कर किसी विशेष प्रकारसे किसी नये अर्थमें चल पड़ते हैं। उसी प्रसंगमें यह भी संकेत दे दिया गया है कि इन परिवर्त्तनोंके मूलमें अनेक मनोवैज्ञानिक कारण होते हैं।

अर्थ-परिवर्त्तनकी प्रक्रिया

§ ३२८. मानसिक संस्कारसे अर्थ-परिवर्त्तनकी प्रक्रियामें या तो अर्थ पूर्णतः बदल जाता है या मूल अर्थके साथ नया अर्थ भी चलता रहता है या कई अर्थ साथ-साथ चलते रहते हैं।

मानसिक अर्थ-परिवर्त्तनकी इस क्रियाकी तीन गतियाँ होती हैं—

१. अर्थ-परिवर्त्तनकी उस प्रक्रियामें या तो अर्थ पूर्णतः बदल जाता है; या

२. मूल अर्थके साथ-साथ दूसरा परिवर्तित अर्थ भी चलता रहता है; या

३. एक शब्दके कई परिवर्तित अर्थ एक साथ चलते रहते हैं।

ये परिवर्तित अर्थवाले शब्द या तो स्वतंत्र होते हैं अथवा किसी क्रियाके साथ मुहावरेके रूपमें चल पड़ते हैं।

भारतीय काव्य-शास्त्रियों तथा योरोपीय मनोविज्ञान-शास्त्रियोंने जो भावों, मनोभावों, भावनाओं, मनोवेगों, प्रवृत्तियों और धारणाओंकी सूची दी है वह पूर्ण नहीं है। जैसे-जैसे मनुष्य सभ्य होता चल रहा है वैसे-वैसे उसके मनोभाव

भी सूक्ष्म, जटिल और रूप-बहुल होते चले जा रहे हैं। भावोंकी इस बहुलता और जटिलताके कारण वह अपने भाव व्यक्त करनेके लिये नये शब्द बनानेके बदले पुराने शब्दोंमें ही नये अर्थोंका आरोप करता चलता है।

जीवनमें मनुष्य जो कुछ स्वयं सोचते, विचारते या इच्छा करते या उसके जो विचार तथा मनके विकार, बाह्य-जगत्की क्रियाओं, परिस्थितियों, वस्तुओं, व्यक्तियों और विचारोंके प्रभावसे उसके मनमें कोई विशेष विकार उत्पन्न कर देते हैं वे सभी भाव कहलाते हैं। ऐसे भावों, मानसिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओंकी अवस्थामें जिन शब्दों और मुहावरोंका प्रयोग होता है वे या तो उस भावकी अवस्थाका परिचय देनेके लिये आते हैं या उस भावसे अभीष्ट व्यक्तिकी दशाका निरूपण करनेमें प्रयुक्त होते हैं अथवा उनका प्रयोग उस अवस्थामें पड़ा हुआ व्यक्ति करता है।

अर्थ-परिवर्तन करनेवाले मानसिक भाव-स्रोत

§ ३२६. स्वार्थ, पर-सम्बन्ध और वर्ग-प्रवृत्तिसे भावित अनेक भावों और मानस-संस्कारोंसे शब्दोंके अर्थ बदल जाते या बदलते रहते हैं।

निम्नांकित भावों, आवेगों, धारणाओं, प्रवृत्तियों, भावनाओं, परिस्थितियों और संस्कारोंके कारण अर्थ-परिवर्तन हुआ करते या हो सकते हैं—

१. अधिकार-भावना
२. अनादर
३. अनुराग
४. अपमान
५. अपस्मार
६. अमंगल-कामना
७. अमंगल-भावना
८. अमर्ष
९. अवहित्था (भाव-गोपन)
१०. असन्तोष
११. आतंक
१२. आत्मग्लानि
१३. आत्म-त्याग
१४. आत्मविश्वास
१५. आत्म-हीनता
१६. आदर
१७. आनन्द
१८. आर्ति
१९. आलस्य
२०. आवेग
२१. आशा
२२. आश्चर्य
२३. आशंका
२४. आश्वासन
२५. आसक्ति
२६. आह्वान

२७. इच्छा
२८. उग्रता
२९. उत्कंठा
३०. उत्तेजना
३१. उत्साह
३२. उद्वेग
३३. उन्माद
३४. उपहास
३५. उपेक्षा
३६. उल्लास
३७. ऊब
३८. ऋजुता
३९. एकाकित्व
४०. एकान्तता
४१. औत्सुक्य
४२. औदार्य
४२. कटुता
४४. कठोरता
४५. करुणा
४६. कलह
४७. कामना
४८. कामुकता
४९. कायरता
५०. कुतूहल
५१. कुटिलता
५२. कृपणता
५३. कोमलता
५४. क्रूरता
५५. क्लेश
४६. क्षमा
५७. क्षोभ
५८. गर्व
५९. ग्लानि
६०. घृणा
६१. चपलता
६२. चिड़चिड़ापन
६३. चिढ़
६४. चिन्ता
६५. छल
६६. जडता
६७. झेंप
६७. तर्क
६९. त्रास
७०. दम्भ
७१. दया
७२. द्विविधा
७३. धृति
७४. ध्यान
७५. निःस्पृहता
७६. निन्दा
७७. निरर्थकता
७८. निरानन्दता
७९. निराशा
८०. निर्णय
८१. निर्वेद
८२. पराजय
५३. परिहास
८४. पलायन
८५. पिशुनता
८६. पीडा
८७. प्रतिज्ञा
८८. प्रतिरोध

८९. प्रतिहिंसा	९०. प्रतीक्षा
९१. प्रत्याशा	९२. प्रलय
९३. प्रवंचना	९४. प्रसन्नता
९५. प्रशंसा	९६. बेइमानी (दुर्वृत्ति)
९७. बुभुक्षा	९८. भय
९९. मति	१००. मद
१०१. मात्सर्य	१०२. मान
१०३. मूर्खता	१०४. लज्जा
१०५. लोभ	१०६. वात्सल्य
१०७. वासना	१०८. विकलता
१०९. विजय	११०. विनोद
१११. विपत्ति	११२. विरक्ति
११३. विरोध	११४. विलास
११५. विवेक	११६. विवोध
११७. विषाद	११८. विस्मय
११९. व्रीडा	१२०. व्यंग्य
१२१. व्याधि	१२२. शंका
१२३. शान्ति	१२४. श्रद्धा
१२५. श्रम	१२६. संकट
१२७. संकल्प	१२८. संकोच
१२९. संतोष	१३०. संदेह
१३१. संधि	१३२. सम्पत्ति
१३३. सहनशीलता	१३४. सहानुभूति
१३५. सान्त्वना	१३६. सीधापन
१३७. सौभाग्य	१३७. स्नेह
१३९. स्मृति	१४०. स्वप्न
१४१. स्वामित्व	१४२. स्वार्थ
१४३. हर्ष	१४४. हास

उपर्युक्त भावोंके अतिरिक्त और भी अनेक मानसिक परिस्थितियाँ होती और हो सकती हैं। यदि मनुष्यकी साधारण वृत्तियोंका परीक्षण किया जाय तो उनमें तीन मुख्य प्रवृत्तियाँ मिलेंगी—

१. स्वार्थ-प्रवृत्ति
२. पर-सम्बन्ध प्रवृत्ति
३. वर्ग-प्रवृत्ति

स्वार्थ प्रवृत्तिके अन्तर्गत निम्नलिखित भावनाएँ आती हैं—

सब प्रकारसे आत्मरक्षा, सब प्रकारसे अपने प्रिय परिजनकी रक्षा, सब प्रकारसे जीविकाकी रक्षा, सब प्रकारसे अपने लिये एक या अनेक संगी (स्त्रीका अपने लिये पुरुष संगी तथा पुरुषका अपने लिये स्त्री संगिनी) प्राप्त करना, सब प्रकारसे यश प्राप्त करना, सब प्रकारसे अपनी आन या मर्यादाका रक्षण, मित्र-संग्रह, सेवक-संग्रह, जन-संग्रह (सेना, अनुवर्ती अनुयायी या सहायक-रूपमें) तथा मनोविनोद।

इस उपर्युक्त भावनाओंको तुष्ट और पुष्ट करनेके लिये मनुष्य बल, बुद्धि, विद्या, सेवा, याचना, धन, सम्पत्ति और जनका प्रयोग करता है। सद्वृत्तिवाला मनुष्य तो अच्छे तथा लोक-हितकर साधनोंसे अपनी विभिन्न भावनाओंको तृप्त करता है और दुर्वृत्त मनुष्य बुरे तथा अहितकर उपायोंसे तृप्त करता है।

पर-प्रवृत्तिके अन्तर्गत निम्नलिखित भावनाएँ आती हैं—

सब प्रकारसे किसी एक व्यक्ति, वर्ग, समाज, देश, मनुष्य-मात्र, जीव-मात्र अथवा सृष्टि-मात्रकी रक्षा, सहायता, सेवा और रक्षण अथवा उनका विनाश तथा पीडन।

वर्ग-प्रवृत्तिके अन्तर्गत इतनी भावनाएँ आती हैं—

अपने वर्ग या समाजकी प्रशंसासे प्रसन्न होना, निन्दासे अप्रसन्न होना तथा अपने वर्गकी आकांक्षा, प्रवृत्ति तथा उद्योगमें सहयोग देना और उसका समर्थन करना वह चाहे अच्छा हो या बुरा।

कुछ ऐसे भी लोग होते हैं जिनमें आलस्य अथवा विरागके कारण प्रवृत्ति-शून्यता या उदासीनता होती है।

इनके अतिरिक्त भोजन प्राप्त करने, निद्रा लेने, भयभीत होने और काम-वासनामें प्रवृत्त होनेकी भावना सब प्रकारके स्वस्थ मनुष्योंमें होती है।

ऊपर जिन अनेक प्रवृत्तियोंका विवरण दिया गया है उनकी अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं और उन अवस्थाओंके अनुसार आचरणमें ही नहीं, वाणीमें भी भेद हो जाता है। इन अवस्थाओंमें तीन मुख्य वृत्तियाँ होती हैं—प्रेम (राग), घृणा (विराग) और उदासीनता (उपेक्षा)। संसार भरके

मनुष्यों, प्राणियों तथा वस्तुओंमेंसे कुछके प्रति मनुष्यका राग या प्रेम होता है अर्थात् वे उसे अच्छे लगते हैं, कुछके प्रति घृणा होती है अर्थात् वे बुरे लगते हैं और कुछके प्रति वह उदासीन रहता है।

प्रेम या रागकी अवस्थामें मनुष्य किसीके गुण (रूप, विद्या, कला, बल, चातुर्य आदि) के कारण उसपर रीझता है, उसकी ओर आकृष्ट होता है, उसमें गुण ढूँढता है, उसकी प्रशंसा करता है, उसे अपनानेके प्रयत्नमें बाधा पड़नेपर व्यग्र और आकुल होता है, अपने प्रति उसकी उदासीनतापर कुढ़ता है या उसपर खीझता है, जो उसका स्नेह या उसकी कृपा प्राप्त करनेका प्रयत्न करता हो उससे ईर्ष्या या वैर करता है, प्रतिस्पर्धीको हराने तथा मार्गसे हटानेका प्रयत्न करता है और उस प्रिय या इष्ट व्यक्ति अथवा वस्तुके प्राप्त होने पर हर्षित होता है।

घृणा (विरक्ति, विरति, अरुचि या वितृष्णा) के कारण मनुष्य किसी व्यक्ति या वस्तुसे दूर रहता है, उसमें दोष ढूँढता है, उसकी निन्दा करता है, उसे दूर रखनेका प्रयत्न करता है, उसके पास जानेपर व्याकुल, असन्तुष्ट और रुष्ट होता है, यदि दूसरा उसे स्वीकार करता हो तो प्रसन्न होता है कि चलो अच्छा हुआ पिंड छूटा, उसे ग्रहण करनेवाले व्यक्तिको प्रोत्साहित करता है और उस व्यक्ति या वस्तुके विनाशसे सन्तुष्ट होता है।

उदासीनताकी भावना आलसी, अकर्मण्य, विरक्त, जड, मोहजित् अथवा स्थितप्रज्ञमें होती है।

मानव-प्रवृत्तियोंके आधार

§ ३३०. मानव-प्रवृत्तियोंके छह आधार हैं—सम्पत्ति, परिवार, विद्या, आयुष्य, यश और मोक्ष।

संसारमें जिन छह प्राप्य पदार्थोंके निमित्त संसारमें सभी मानव-चेष्टाएँ या कर्म-प्रवृत्तियाँ होती है, वे हैं—१. सम्पत्ति (भूमि, धन, भवन आदि) या राज्य, २. स्त्री और परिवार, ३. विद्या, ४. आयुष्य (शरीरकी स्वस्थता और कुशलता), ५. यश और ६. मोक्ष या आत्मज्ञान। इन छह पदार्थोंके अनुसार परीक्षण करनेपर तथा संसार भरके लोगोंके भावोंका अध्ययन करनेपर ऊपर बताई हुई अवस्थाओंमें मनकी निम्नलिखित वृत्तियोंके युग्म प्राप्त होते हैं—

१. अनुराग : व्यक्ति, जीव, वस्तु, क्रिया या भाव (प्रिय-चिन्तन, आलस्य, निद्रा या तन्मयता) के प्रति,

घृणा : व्यक्ति, जीव, वस्तु, क्रिया या भावके प्रति।

२. जीविका प्राप्त करनेकी,
जीविका छोड़नेकी।

३. जीविकाके रक्षण करनेकी,
जीविका नष्ट करनेकी।

४. दूसरोंको जीविका दिलानेकी,
दूसरोंकी जीविका हरण करनेकी।

५. सेवक, मित्र, सहायक या समाजका संग्रह करनेकी,
सेवक, मित्र, सहायक या समाजका त्याग करनेकी।

६. सेवक, मित्र, सहायक या समाज बढ़ानेकी,
सेवक, मित्र, सहायक या समाज घटानेकी।

७. अपने शरीरका (रोग, ऋतु, जल, अग्नि, आघात तथा सर्प आदिसे) रक्षण करनेकी,
अपने शरीरको अरक्षित करने या संकटमें डालनेकी।

८. शरीरका संवर्धन करनेकी (व्यायाम तथा पौष्टिक भोजन आदिसे),
शरीरका ह्रास करनेकी (उपवास तथा आत्महत्या आदिसे)।

९. यश प्राप्त करनेकी,
यश नष्ट करनेकी।

१०. यश बढ़ानेकी,
यश घटानेकी।

११. दूसरेका यश बढ़ानेकी (स्तुति या प्रशंसासे),
दूसरेका यश घटानेकी (निन्दा या अपस्तुतिसे)।

१२. अपनी मर्यादा बनाए रखनेकी,
अपनी मर्यादा नष्ट करनेकी।

१३. धन, सम्पत्ति, वस्तु या राज्यका संग्रह करनेकी,
धन, संपत्ति, वस्तु या राज्य त्याग देनेकी।

१४. धन, सम्पत्ति, वस्तु या राज्य (देश) की रक्षा करनेकी,
धन, सम्पत्ति, वस्तु या राज्य (देश) का नाश करनेकी।

१५. दूसरोंको धन, सम्पत्ति, वस्तु, या राज्य देनेकी,
दूसरेका धन, सम्पत्ति, राज्य लेनेकी ।

१६. परिवार संग्रह करनेकी,
परिवार त्याग देनेकी ।

१७. परिवारके पालन और रक्षणकी,
परिवारके अपालन और अरक्षणकी ।

१८. परिवारकी उन्नतिकी,
परिवारकी अवनतिकी ।

१९. भयभीत होनेकी,
निर्भीक होनेकी ।

२०. आलस्य ग्रहण करनेकी,
आलस्य त्याग करनेकी ।

२१. कल्पना करनेकी,
व्यवहार करनेकी ।

२२. दूसरेका हित करनेकी,
दूसरेका अहित करनेकी ।

२३. मनोविनोदकी,
कुढ़ते रहनेकी ।

२४. सत्साहसका कार्य करते रहनेकी,
दुस्साहसका कार्य करनेकी ।

मनकी चार अवस्थाएँ

§ . मनकी चार अवस्थाओंसे मनोवृत्तियाँ प्रभावित होती हैं—स्वभाव, आवेग, विवेक और अज्ञान ।

ऊपर जिन २४ मनोवृत्ति-युग्मोंका उल्लेख किया गया है, ये सब मनकी चार अवस्थाओंसे प्रभावित होते हैं—

१. स्वभावसे, जो नित्यके अभ्याससे सध गया हो ।

२. आवेगसे, जिसमें विचार करनेका अवसर न मिला हो ।

३. विवेकसे, जिसमें भली प्रकार सब पक्षोंपर विचार करके निर्णय किया गया हो ।

४. अज्ञानसे, जिसमें अनजाने कोई काम कर दिया गया हो। इसके अन्तर्गत निद्रा, पागलपन, अपस्मार, रोग आदि अवस्थाओंकी क्रियाएँ भी आ जाती हैं।

ये चारों अवस्थाएँ भी मनुष्यकी प्रकृतिपर अवलंबित होती हैं और यह प्रकृति सत्संग-कुसंग, सुविधा-असुविधा, सुसंस्कार-कुसंस्कार, पिछले जन्मोंके सुकर्म या कुकर्मोंके अनुसार बनती हैं। इन विभिन्न वृत्तियोंके अनुसार ही मनुष्यकी मौखिक और लिखित भाषा या वाणी अपना स्वरूप और शैली स्थिर करती है।

अनुराग और विराग

§ ३३१. मनकी मुख्य वृत्तियाँ हैं अनुराग और विराग।

डा० भगवानदासने अपने रस या भावावेग (इमोशन्स) नामक प्रसिद्ध ग्रन्थमें दो ही रस या मुख्य भावावेग माने हैं—रति और विरति या अनुराग और विराग (घृणा)। अतः, ऊपर दिए हुए चौबीस वृत्ति-युग्मोंमेंसे अनुराग और घृणापर ही विचार कर लेना अधिक उचित होगा।

अनुराग

जब किसी जीव, व्यक्ति, वस्तु, क्रिया या भावके विनाश, लोप, असन्निधि, अभाव अथवा उसपर संभावित या संभूत संकटसे मनुष्यका मन व्याकुल हो उठता है तब समझ लेना चाहिए कि उस व्यक्ति, जीव, वस्तु, क्रिया या भावके प्रति उसका अनुराग है, वह चाहे इस जन्मका हो या पूर्व जन्मका। महाकवि कालिदासने अपने अभिज्ञान-शाकुन्तलमें उसका संकेत करते हुए कहा है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भाव-स्थिराणि जननान्तर - सौहृदानि ॥

[सुन्दर व्यक्तिको देखकर, मधुर शब्द सुनकर जब सुखी मनुष्य भी उत्कंठित हो उठता है तो समझ लेना चाहिए कि वह अज्ञात रूपसे संस्कारमें स्थित जन्मान्तरकी आत्मीयताको स्मरण करता है।]

अनुरागका प्रकार

§ ३३२. अनुराग दो प्रकारका होता है—स्वाभाविक और अस्वाभाविक।

जिस अनुरागमें प्रिय या इष्टसे कुछ प्राप्त करने, जीवन-यापन करनेकी सुविधा प्राप्त करने अथवा अन्य किसी प्रकारके भौतिक सुख, लाभ या कृपा प्राप्त करनेकी भावना होती है वह अस्वाभाविक होती है। जिस अनुरागमें स्वार्थकी भावनाके बिना केवल उस इष्ट या प्रियको पास रखने, उसे देखते रहने तथा उसे अमंगलसे बचाए रखनेकी भावना हो वहाँ स्वाभाविक अनुराग होता है। इस अनुरागकी कई श्रेणियाँ होती हैं जिसमें मुख्य हैं पारस्परिक मानव-अनुराग, जीवों, वस्तुओं, भावों तथा क्रियासे अनुराग—

पारस्परिक मानव-अनुराग

§ ३३३. पारस्परिक मानव-अनुराग अनेक प्रकारका होता है।

स्त्रीका पुरुषके प्रति : माधुर्य भाव (पत्नी या प्रेमिका भावसे), सखी, मित्र, कन्या, पौत्री, माता, भगिनी, दूती, सेविका, प्रेयसी, गणिका, गुरु, शिष्य, प्रशंसिका, उपासिका, स्वामिनी या साधुनी भावसे।

पुरुषका स्त्रीके प्रति : पति, प्रेमी, मित्र, पिता, पुत्र, पौत्र, भ्राता, स्वामी, जार, सेवक, गुरु, शिष्य, साधु, प्रशंसक, पड़ोसी अथवा नागरिक भावसे।

पुरुष और स्त्रीका परस्पर अनुराग : प्रेमी-प्रेमिकाके रूपमें।

पुरुषका पुरुषके प्रति :

(क) पिता या पितामहका पुत्र या पौत्रोंके प्रति (वात्सल्य)

(ख) पुत्रका पिताके प्रति या पौत्रका पितामह या मातामहके प्रति (आदर)।

(ग) गुरुका शिष्यके प्रति (वात्सल्य)।

(घ) शिष्यका गुरुके प्रति। (श्रद्धा)।

(ङ) मित्रका मित्रके प्रति (स्नेह)।

(च) एक सहपाठीका अपने सहधर्मी या सहकर्मीके प्रति (विश्वासपूर्ण आत्मीयता)।

(छ) राजाका परिजनके प्रति (रक्षक या पालक भाव)।

(ज) एक राजाका दूसरे राजाके प्रति (मैत्री या शत्रुता)।

(झ) एक देशवासीका दूसरे देशवासीके प्रति (सहनागरिकता)।

(ञ) परिजनका राजाके प्रति (विश्वास तथा राजभक्ति)।

(ट) सेवकका स्वामीके प्रति (स्वामिभक्ति)।

(ठ) स्वामीका सेवकके प्रति (सराहना)

(ड) एक पुरुषका किसी बालक या युवकके प्रति (मैत्री या शत्रुता)

(ढ) साधारण मनुष्यका महापुरुषके प्रति (आदर)

स्त्रीका स्त्रीके प्रति :

(क) माताका पुत्रीके प्रति (वात्सल्य)।

(ख) पुत्रीका माता या पितामही आदिके प्रति (आदर तथा स्नेह)।

(ग) शिष्यका गुरु (स्त्री) या गुरु-पत्नीके प्रति (आदर)।

(घ) स्वामिनीका सेविकाके प्रति (सराहना)।

(ङ) सेविकाका स्वामिनीके प्रति (स्वामिभक्ति)।

(च) गुरु स्त्रीका शिष्य या शिष्याके प्रति (वात्सल्य)।

(छ) शिष्य या शिष्याका अपने स्त्री गुरुके प्रति (आदर, भक्ति)।

(ज) सखीका सखीके प्रति (सौहार्द)।

(झ) स्वामिनीका दासीके प्रति (सराहना, विश्वास)।

(ञ) दासीका स्वामिनीके प्रति (स्वामिभक्ति)।

(ट) पड़ोसिनका पड़ोसिनके प्रति (आत्मीयता, ईर्ष्या)।

(ठ) गृहस्थिनका साधुनीके प्रति (आदर)।

(ड) साधुनीका गृहस्थिनके प्रति (स्नेह)।

जीवोंसे अनुराग

§ ३३४. जीवोंसे दो प्रकारका अनुराग होता है—स्वार्थपूर्ण तथा निःस्वार्थपूर्ण।

गौ, भैंस, बकरी आदिसे दूधके कारण, बैल, घोड़े, गधे आदिसे सेवा लेनेके कारण तथा मांस-भक्षीजन मांसके लोभसे अपने पालित जीवोंसे इतना अनुराग करते हैं कि आवश्यकता पड़नेपर उनकी शपथ भी लेते हैं, जैसे—कुम्हार कहते हैं—'गधोंकी सूँ' (गधोंकी सौगन्ध)। कुत्ते, बिल्ली आदिसे गृह-रक्षा अथवा चोर-चूहोंसे रक्षा अथवा उनकी स्नेहाभिव्यक्तिके कारण अनुराग होता है।

तोता, मैना आदि पक्षियोंसे उनके सौन्दर्य, मधुरव आदिके कारण निःस्वार्थ अनुराग होता है। कभी-कभी यह अनुराग वात्सल्य भाव-तक पहुँच जाता है। अश्व, गज, वृषभ आदिसे स्वार्थपूर्ण अनुराग होता है और इसमें भी कभी कभी परम सखा-भावका अनुराग हो जाता है जैसे राणाप्रतापका चेतक घोड़ेसे था।

पशु-पक्षी भी सेवा, भोजन, स्नेह तथा सद्व्यवहारके कारण अपनी हिंसक वृत्ति छोड़कर भी मनुष्यसे स्नेह करने लगते हैं और अपने पोषकके लिये प्राण-तक उत्सर्ग कर देते हैं। उनकी यह भावना स्वामिभक्ति भी कही जा सकती है और मैत्री भी। यह अनुराग एक-पक्षीय भी हो सकता है और उभय-पक्षीय भी। कुत्ते, हाथी और घोड़ेकी स्वामिभक्ति और मृगकी सहचर-वृत्तिके अनेक उदाहरण मिलते हैं। बहुतसे पक्षी बड़े स्वार्थी होते हैं। इनमें शुक तो इतना स्वार्थी होता है कि अवसर पाते ही उड़ जाता है। कबूतरसे दूतका काम लिया जाता है। वह प्राय: लौटकर अपने अड्डेपर आ जाता है। बन्दर, सिंह आदि कुछ जीव मनुष्यकी इच्छाके अनुसार काम करनेके लिये शिक्षित किए जाते हैं, किन्तु यह प्रदर्शन मात्रके लिये, व्यवहारके लिये नहीं।

वस्तुओंसे अनुराग

§ ३३५. वस्तुओंके प्रति एक-पक्षीय ममत्व होता है।

कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनसे हमारा मनोविनोद तथा स्वार्थ-साधन होता है। पुस्तक, वाद्ययन्त्र, तूलिका या जीविकाके यन्त्रोंके प्रति मनुष्यका सखा-भाव होता है, शेषमें स्वामित्वकी आत्मीयता होती है। शोभाके लिये संग्रह की हुई वस्तुओंका केवल प्रदर्शनात्मक महत्त्व होता है जो वैभवसिद्धि तथा आत्मविज्ञापनमें योग देती हैं। इन वस्तुओंके प्रति भी जो ममत्व या अनुराग होता है, वह उसी स्तरका होता है जैसा किसी प्रिय व्यक्तिके प्रति, क्योंकि उन वस्तुओंके कारण मनुष्यके अहंकी तृप्ति होती है।

भावसे अनुराग

§ ३३६. सिद्धान्त, विचार या भावोंके प्रति भी लोगोंका अनुराग होता है।

सत्य, अहिंसा तथा लोक-सेवाकी भावना, किसी विशेष राजनीतिक सिद्धान्त या दलके प्रति, अथवा किसी महापुरुष या इष्टकी भक्ति-भावनाके प्रति भी अनुराग हो जाता है।

क्रियाओंसे अनुराग

§ ३३७. क्रियाओंके प्रति भी अनुराग हो जाता है।

व्यायाम करने, व्याख्यान देने, शृंगार करने, कोई खेल खेलने, मल्लयुद्ध करने, लिखने-पढ़ने, कथा सुनने, पाठ-पूजा करने आदि कार्योंसे भी अनुराग

होता है। इनमें व्यायाम करनेके यन्त्र, पूजाके पदार्थ, शृंगार-सामग्री, वाद्य-यन्त्र तथा खेलके साधनसे अनुराग हो जाता है किन्तु युद्धके लक्ष्य, लेख, पाठ अथवा कथाके विषय आदिसे कोई सम्बन्ध या अनुराग नहीं होता, केवल उस क्रियामें आसक्ति होती है। यह मनोविनोदके अन्तर्गत नहीं आता, यह तो केवल क्रियामें अनुराग या आसक्ति है। यह आसक्ति ही तीव्र होनेपर व्यसन बन जाती है।

घृणा

§ ३३८. अनुरागके समान ही घृणाकी भी श्रेणियाँ होती हैं।

स्त्रीकी पुरुषके प्रति : शत्रुसे सम्बन्ध, कुरूपता, कुव्यवहार, अकर्मण्यता, कठोरता, कुरोग, विश्वासघात, पर-स्त्रीमें आसक्ति आदिके कारण।

पुरुषकी स्त्रीके प्रति : शत्रुसे सम्बद्धता, कुरूपता, कर्कशता, कुरोग, अकर्मण्यता, कठोरता, विश्वासघात, पर-पुरुषमें आसक्ति आदिके कारण।

पुरुषकी पुरुषके प्रति : शत्रुसे सम्बद्धता, अपकार, विश्वासघात, निन्दा, अपमान, अत्याचार।

स्त्रीकी स्त्रीके प्रति : शत्रुसे सम्बद्धता, कुरूपता, कुरोग, विश्वासघात, निन्दा, अपने प्रियसे प्रेम, अभिमान, कर्कशता आदि।

पुरुष या स्त्रीकी किसी जीवके प्रति : हानिकारक या निरर्थक होनेके कारण।

किसी जीवकी किसी पुरुष या स्त्रीके प्रति : घातक होने या कष्टप्रद होनेके कारण।

किसी वस्तुसे घृणा : हानिकारक या अरुचिकर होनेके कारण।

किसी क्रियाके प्रति घृणा : अरुचिकर होनेके कारण।

किसी भाव, सिद्धान्त या विचारके प्रति : अपने भाव, विचार या सिद्धान्तसे भिन्न होनेके कारण या किसी शत्रु-द्वारा प्रतिपादित होनेके कारण।

शेष वृत्तियाँ स्वयंसिद्ध और स्पष्ट हैं।

रुचिका मनोवैज्ञानिक आधार

§ ३३९. मनुष्यकी सांस्कारिक और अन्ध रुचिका आधार मन है।

रहीमका एक दोहा है—

मन सों कहाँ रहीम प्रभु, दृग सों कहाँ दिवान।
देखि दृगनि जो आदरै, मन तेहि हाथ बिकान॥

[रहीम कहते हैं कि मनके समान स्वामी कौन है और आँखके समान मंत्री कौन है ? अर्थात् कोई नहीं, क्योंकि देखते ही आँखें जिसका आदर करने लगती हैं, मन उसीके हाथ बिक जाता है।]

मनुष्यकी चेतन अवस्थामें उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ (नेत्र, जिह्वा, नासिका, कर्ण और त्वचा) संसारकी जिन वस्तुओंका सम्पर्क प्राप्त करती हैं, उनके सम्बन्धमें अपने स्वाभाविक संस्कारके आधारपर वे उन पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करके मनको प्रेरित करती हैं और मन तत्काल उनकी श्रेष्ठता या निकृष्टताके सम्बन्धमें अपना निर्णय देकर उन्हें ग्रहण करने या त्यागने, उनके पास पहुँचने या उनसे दूर हटनेके लिये कर्मेन्द्रियोंको आदेश देता है। ये कर्मेन्द्रियाँ यदि सशक्त हुई तो मनकी इच्छा पूर्ण कर देती हैं अर्थात् मनके आदेशका पालन कर देती हैं, यदि वे सशक्त न हुईं तब मन उन्हें प्राप्त करनेकी इच्छा और उनके प्राप्त न होनेसे उत्पन्न हुए विक्षोभके बीच द्वन्द्व करता रहता है। इसी द्वन्द्वको चिन्ता कहते हैं। जब मनकी ऐसी आज्ञाओंका पालन हो जाता है, चाहे अपनी कर्मेन्द्रियों-द्वारा या ज्ञानेन्द्रियों-द्वारा या अन्य किसी व्यक्ति या साधन-द्वारा, तब मनुष्य निश्चिन्त हो जाता है। यही निश्चिन्तता क्षणिक हर्ष, अल्पकालिक सुख और शाश्वत आनन्दका आधार है। इसी हर्ष, सुख या आनन्दके अभावमें मनुष्य शोक, दुःख और निरानन्दका अनुभव करता है जिससे बचनेके लिये केवल मनुष्य ही नहीं, सब प्राणी सदा सचेष्ट रहते हैं। इस चेष्टामें मनुष्य सुस्वादु भोजन, मधुर स्वर या गीत तथा नेत्ररञ्जक द्रव्योंकी ओर आकृष्ट होता है। यही आकृष्ट होना रुचि है और उससे हटना या दूर होना अरुचि है। मनुष्य इसी रुचि या अरुचिको अभिव्यक्त करनेके लिले वाणीका प्रयोग करता है और जिस व्यक्ति या पदार्थके प्रति वह अपने भावकी अभिव्यक्ति करता है उसकी भाषाको निरापद बनानेके लिये वह अनेक शैलियोंका आश्रय लेने लगता है।

सांस्कारिक रुचि

इस आकर्षण और विकर्षणकी सामग्रियाँ असंख्य, अनन्त और अपरिमित हैं। अतः, उनमें भी मनुष्यकी प्रवृत्ति, संस्कार, परम्परा तथा सम्पर्कके अनुसार उसका आकर्षण कुछ इने-गिने विशिष्ट पदार्थों, व्यक्तियों या क्रियाओंकी ओर ही होता है, जैसे—वैद्यके पुत्रकी प्रवृत्ति या आकर्षण

वैद्यक तथा चोरके पुत्रकी प्रवृत्ति चोरीकी ओर होती है। अपने आस-पास किसी विशेष प्रकारका व्यवसाय या कार्य होनेके कारण उसमें भी रुचि होती है जैसे साड़ी बुननेवालोंके पड़ोसमें रहनेवाले भी साड़ी बुननेके काममें रुचि प्रदर्शित करते हैं। सम्पर्कके अन्तर्गत सङ्गति भी आ जाती है इसीलिये तमाखू पीनेवालोंके साथ लोगोंको तमाखूका, चाय पीनेवालोंके साथ चायका और जुआरियोंके साथ जुएका चस्का लग जाता है। किन्तु ये आकर्षण व्यावसायिक तथा बाह्य हैं। इनके अतिरिक्त संस्कार तथा स्वाभाविक प्रवृत्ति ही रुचिके लिये अधिक विचारणीय आधार है। यह प्रवृत्ति और संस्कार पिछले जन्मके सम्बन्धसे भी सम्बद्ध होता है जिसे आज-कलके मनोवैज्ञानिक नहीं मानते। किन्तु कुल, परम्परा और परिस्थितिके पूर्ण प्रभावसे पूर्णतः मुक्त स्वभाववाले असंख्य लोग इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

यही जननान्तर सौहृद या प्राक्तन जन्म-संस्कार हमारी रुचि और अरुचिमें विशेष सहायक होता है। किन्तु यह भी एकाङ्गी होता है अर्थात् इसके अनुसार कोई व्यक्ति अत्यन्त ईश्वर-भक्त, दानी, शूर, पर-हित-निरत आदि उदात्त भावोंसे सम्पन्न होता है और कोई कृपण, परपीडक, कुटिल और पापात्मा होता है।

किन्तु इन बाह्य और सांस्कृतिक वृत्तियोंके साथ व्यापक रूपसे सम्पूर्ण मानव-समाजकी चेष्टाओंमें एक समवृत्ति व्याप्त मिलती है। वही भाषा या वाणीके क्षेत्रके अन्तर्गत विचारका विषय है।

अन्ध रुचि

इस रुचिमें दो प्रकारकी भावनाएँ होती हैं—एक तो मोहकी और दूसरे मानसिक तृप्तिकी। मोहसे जो रुचि बनती है उसके कारण मनुष्यको अपना देश, प्रान्त, जाति, अपने देशके महापुरुष और कवि, अपनी प्रेयसी, अपने पुत्र, अपने सम्बन्धी, अपनी वस्तुएँ तथा अपने स्थान प्रिय लगते हैं, यहाँतक कि उनके दोष भी उसे गुण प्रतीत होते हैं। उसी मोहके कारण वे न उनकी बुराई सुनना चाहते हैं न देखना चाहते हैं। यह अन्ध रुचि कहलाती है। इसके लिये न तो कोई सिद्धान्त बनाया जा सकता है, न इस अन्ध-रुचिके आधारपर बने हुए सिद्धान्तोंका आरोप ही किया जा सकता है।

सुन्दर, असाधारण अद्भुत

§ ३४०. सुन्दर, असाधारण और अद्भुतके प्रति सबकी स्वाभाविक रुचि होती है।

रुचिकी या मानसिक तृप्तिकी कुछ वृत्तियाँ लोक-व्यापक हैं और इसलिये वाणीके प्रसंगमें वे ही अधिक विचारणीय हैं। इस मानसिक तृप्तिसे प्रेरित रुचिका यदि विश्लेषण किया जाय तो प्रतीत होगा कि कुछ विशेष रङ्ग जैसे लाल, हरा, आकाशीय, बैंगनी, नारङ्गिया और श्वेत सबको प्रिय लगते हैं किन्तु काला, मटियाला, काही, गहरा नीला स्वभावतः लोगोंको नहीं रुचता। रङ्गोंमें भी अधिक चटकीले और हलके रंग लोगोंको अधिक प्रिय लगते हैं। कोमलताके साथ कही हुई बात या उतार-चढ़ावके साथ बँधे हुई स्वरकी ध्वनियाँ कानको अच्छी लगती हैं। तात्पर्य यह है कि कुछ गुण-तत्त्व ऐसे व्यापक हैं जिन्हें समष्टि रूपसे सम्पूर्ण मानव-समाज रुचिकर समझता आया है। इनके अतिरिक्त एक विशेष प्रकारसे ढली हुई मुखाकृतियाँ, शरीरकी बनावट आदिसे सम्पन्न व्यक्ति भी प्रिय समझा जाता है। बहुत-सी वस्तुएँ एक क्रमसे सजा देनेपर भी अच्छी प्रतीत होती हैं। इन सब गुणतत्त्वोंका समन्वित नाम लोगोंने 'सुन्दर' रख दिया। अतः, रुचिका पहला आधार हुआ सौन्दर्य-गुण-तत्त्व। यह सौन्दर्य-गुण-तत्त्व कथाके तत्त्वोंमें होनेके साथ-साथ रचना-कौशल, भाषा-शैली तथा उक्ति-चातुर्यमें भी होता है। अतः, उसकी ओर पाठककी स्वाभाविक रुचि होती है जो मानसिक तृप्तिके रूपमें ही व्यक्त होती है।

असाधारणता

समाजमें मनुष्य अपने साथियोंमेंसे ही किसी व्यक्तिको जब कोई ऐसा विशिष्ट कार्य करते देखता है जिसमें वह अपने प्राण, धन आदि अतिशय प्रिय पदार्थोंका परित्याग करके लोक-कल्याणके लिये कोई असामान्य पराक्रम अथवा वैशिष्टच दिखाता है तब उसके प्रति कुछ स्वाभाविक उत्सुकता होने लगती है। यह उत्सुकता बढ़ते-बढ़ते श्रद्धा हो जाती है और उस व्यक्तिमें आदर तथा पूजनीयताका भाव आरोपित हो जाता है। यह केवल प्रत्यक्ष या अनुभूतके प्रति ही नहीं वरन् पूर्व कालमें भी यदि किसीने इस प्रकारका अलौकिक अलोक-सामान्य कार्य किया हो तो उसके प्रति भी आदर-भावना सचेष्ट होती है और मनुष्य अत्यन्त चावसे उसका वर्णन

सुनता और पढ़ता है। तात्पर्य यह हुआ कि असाधारणके प्रति भी सबकी रुचि होती है। अतः, रुचिका दूसरा आधारभूत गुण-तत्त्व हुआ असाधारणता। यह असाधारणता कथाके तत्त्वोंमें होनेके साथ-साथ रचना-कौशल, भाषा-शैली तथा उक्ति-चातुर्यमें भी होती है। अतः, उसकी ओर भी मनुष्यकी स्वाभाविक रुचि होती है जो मानसिक तृप्तिके रूपमें ही व्यक्त होती है।

अद्भुतता

बालकसे लेकर वृद्ध-तक प्रत्येक व्यक्ति अत्यन्त मनोयोगसे कथाएँ सुनता, पढ़ता या देखता है अर्थात् कथा-उपन्यास आदि पढ़ता-सुनता और नाटक तथा चलचित्रमें कथा देखता है। इस कथामें कुछ तो असाधारण तत्त्वके कारण पाठककी रुचि होती है और कुछ उसमें आए हुए ऐसे व्यक्तियों, वस्तुओं, दृश्यों, घटनाओं और परिणामोंके कारण जो न कभी देखे गए हों, न सुने गए हों अर्थात् जिन्हें लोग आश्चर्यसे देखते या सुनते रह जायँ। राक्षसों, दैत्यों परियों, तिलस्मी भवनों तथा इस प्रकारकी कल्पित लोककी बातोंमें भी सबका मन रमता है। अतः, रुचिका तीसरा आधार है अद्भुतता। कथाके तत्त्वोंके अतिरिक्त रचना-कौशल, भाषा-शैली तथा उक्ति-चातुर्यमें भी अद्भुतता होती है। अतः, उसकी ओर भी मनुष्यकी स्वाभाविक रुचि होती है जो मानसिक तृप्तिके रूपमें ही व्यक्त होती है।

यह अद्भुतता या नवीनता ही आकर्षणका सबसे बड़ा लक्षण है जैसा कि कहा गया है—

क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।

[क्षण-क्षणपर जिसमें नवीनता दिखाई पड़े वही सौन्दर्य है।]

रुचिका आधार : प्रचार

§ ३४१. प्रचार भी रुचिका कारण बन जाता है।

ऊपर रुचिके जिन तीन तात्त्विक आधारोंकी विवेचना की गई है वे पूर्ण सात्त्विक तथा मानव-मात्रमें व्यापक रूपसे प्रतिष्ठित हैं। किन्तु इस वैज्ञानिक युगमें चलचित्र, रेडियो, समाचारपत्र तथा टेलिविज़न आदिके द्वारा भी जनताकी रुचि निर्मित की जाती है अर्थात् निरन्तर प्रचार तथा विज्ञापनके द्वारा भी जनताके मनमें यह संस्कार भरा जा सकता है कि वह अमुक वस्तु, व्यक्ति, मत तथा सिद्धान्तको ही ठीक समझे। अधिकांश अपढ़ जनता निरन्तर सुनते-

सुनते अपने नैसर्गिक तथा सात्त्विक विवेचन-संस्कारको छोड़कर इन प्रचारित भावोंके आधारपर अपनी रुचिका निर्माण करती है। इसलिये कहा जाता है कि किसी समर्थ समीक्ष्यवादीके हाथमें पड़ जानेसे भी कोई रचना अधिक प्रसिद्ध होकर व्यापक रूपसे सुन्दर समझ ली जाने लगती है जैसे रामचन्द्र शुक्लका आश्रय पाकर जायसी-जैसे कवि चिरजीवी हो उठे। अतः, रुचिके निर्माणमें प्रचार और विज्ञापन भी इस युगमें बड़ा आधार बन गया है, किन्तु वह अतात्त्विक, अस्थिर तथा मिथ्या होता है।

सौन्दर्यवादी वाग्विज्ञान

§ ३४२. सौन्दर्यकी प्रतीतिका आधार मनकी विशेष वृत्ति होती है।

वाणीकी सौन्दर्यात्मिका वृत्तिका रुचि-पक्ष समझनेके लिये सर्वप्रथम सौन्दर्यात्मिका वृत्तिको समझ लेना चाहिए। मनोवैज्ञानिकोंका कथन है कि 'मनकी एक विशेष वृत्ति (सौन्दर्यात्मिका वृत्ति) होनेपर ही किसी निश्चित देखी या अनुभव की हुई वस्तुसे सौन्दर्यकी प्रतीति होती है।'

इस सौन्दर्यात्मिका वृत्तिकी प्रकृतिके सम्बन्धमें अत्यन्त विस्तारसे विचार किया गया है क्योंकि इसीको सम्पूर्ण कलात्मक, प्रभावोत्पादक और चित्ताकर्षक तत्त्वोंका स्रोत बताया गया है। आजकल प्रायः कहा जा रहा है कि 'कलामें उपयोगितावाद और उद्देश्यका अभाव है।' कलाकी इस व्याख्यासे स्पष्ट है कि सौन्दर्यात्मक भावनामें हमारी प्रवृत्ति जीवनकी व्यावहारिक वृत्तियोंसे मूलतः भिन्न है, क्योंकि जीवनमें प्रत्येक वस्तुका गुण प्रायः उसके उन उद्देश्योंसे आँका जाता है जिनमेंसे कुछ तो पूर्णतः उद्देश्य ही होते हैं, कुछ उद्देश्य-प्राप्तिमें बाधा-स्वरूप होते हैं और कुछ बाधा दूर करनेमें सहायक होते हैं।

सौन्दर्यात्मिका शक्तिका सबसे अधिक आवश्यक महत्त्व यह है कि उसके द्वारा मनुष्य कलाकृतिको संजीवन देता है अर्थात् उसमें वह स्वयं अपनी कृतिके कुछ तत्त्व प्रविष्ट कर देता है।

कुछ विद्वानोंके मतसे सौन्दर्यात्मिका वृत्तिमें महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसमें कला-कृतिका धुँधला रूप भी सम्मिलित रहता है। यह महत्त्व ही सौन्दर्यात्मक या मानसिक दूरीकी कसौटी है और यही महत्त्व इस बातका आधार है कि 'सौन्दर्यात्मिका वृत्तिमें वास्तविकताका अभाव होता है। इस वृत्तिको न स्वीकार किया जा सकता, न अस्वीकार किया जा सकता न उसमें सन्देह किया जा सकता, क्योंकि उस कलाकृतिकी वास्तविकता कोई प्रत्यक्ष

वास्तविकता नहीं है।' यही स्टाउट और लंढोल्मका मत है। मुन्स्टेर-बर्गका विचार है कि 'विषयसे अलग होने और वस्तुको अलग निकालकर दिखाने' को ही सौन्दर्यात्मिका वृत्ति कहते हैं।' पफ़रका कथन है कि 'सौन्दर्य-पूर्ण वस्तुमें पूर्ण रूपसे लीन हो जानेको ही सौन्दर्यात्मिक वृत्ति कहते हैं।'

इसके विपरीत आई० ए० रिचार्ड्सका सिद्धान्त है कि 'मनुष्यको पूर्ण सावधान रहना चाहिए और उसे अपनी सहज प्रेरणाओंका सुसङ्गत और सुसन्तुलित समन्वय करना चाहिए।' ड्यूईका विचार है कि सौन्दर्यात्मिका वृत्ति तो गतिशील सङ्घटन है।' उसने अपने 'अनुभव-रूपमें कला' (आर्ट एज़ एक्सपीरियंस, १९३४) में कहा है कि 'शुद्ध सौन्दर्यात्मक अनुभवमें वे सब अनुभव (गुणके वे सभी तत्त्व) स्पष्ट हो जाते हैं जो अन्य अवसरोंपर लुप्त रहते हैं, यहाँतक कि जो अन्य अवसरोंपर गौण रहते हैं वे ही सौन्दर्यात्मिक अनुभवके अवसरपर प्रधान हो जाते हैं।'

गोचरत्वका सिद्धान्त (पर्सेप्सन थियरी)

'सौन्दर्यात्मिका वृत्तिका सिद्धान्त' कोई निश्चित और अकाट्य सिद्धान्त नहीं है। उसकी व्युत्पत्तिसे स्पष्ट हो जाता है कि वह केवल इन्द्रिय-ज्ञान मात्र है। उसका महत्त्व इन्द्रिय-ज्ञानके समय-तक ही रहता है। पूर्ण इन्द्रिय-ज्ञानके अतिरिक्त उसका और कोई उद्देश्य भी नहीं है। इस सिद्धान्तके अनुसार सौन्दर्य-वृत्तिका साध्य केवल इन्द्रिय-ज्ञान मात्र है। इससे स्पष्ट है कि अन्य प्रकारके साधारण अनुभवके लिये हम जिन व्यावहारिक और वैज्ञानिक वृत्तियोंका प्रयोग करते हैं उनसे यह सौन्दर्यात्मिका वृत्ति भिन्न होती है। इस प्रकार इन्द्रिय-ज्ञानपर आश्रित इस सौन्दर्यात्मिका वृत्तिके सिद्धान्तके द्वारा सौन्दर्यवादके परस्पर विरोधी सिद्धान्तोंमें सामञ्जस्य स्थापित करनेका प्रयत्न किया गया है।

§ ३४३. सौन्दर्यात्मिका वृत्तिके दो पक्ष होते हैं—एकाग्रता और रुचि।

यह सौन्दर्यात्मिका वृत्ति विभिन्न स्तरोंपर उत्पन्न हो सकती है। कोई खट्टी वस्तु खा लेनेसे जो साधारण इन्द्रिय-ज्ञान होता है उससे लेकर किसी गुलाबी रङ्गकी आकस्मिक चमक-तकके वे सब अनुभव इसके भीतर समाहित हो जाते हैं जिनसे मनुष्यका इन्द्रिय-ज्ञान प्रभावित होता है। इस प्रकार इसके अन्तर्गत साधारण इन्द्रिय-ज्ञानसे लेकर अत्यन्त जटिल तथा प्रभावशाली कला-धर्मतक सभी अनुभव आ जाते हैं। इन सब रूपोंमें सौन्दर्यात्मिका वृत्तिके दो पक्ष होते हैं—एक एकाग्रता और दूसरे रुचि।

एकाग्रता

एकाग्रताका महत्त्व उन स्थितियोंमें अधिक प्रतीत होता है जिनमें मनुष्य किसी वस्तुको स्पष्ट समझनेका प्रयास करता है, विशेषतः उन अत्यन्त जटिल स्थितियोंमें जिनमें सम्वेदन, सहज ज्ञान, कल्पना, भावना और बुद्धिका साथ-साथ प्रयोग होता है। किसो व्यक्तिको प्रकाश, रङ्ग या ध्वनिके अनेक प्रकारके सम्वेदन होते हैं, किसीको रङ्ग, रूप, बनावट, ध्वनि और वस्तुओंका भावनामय और भौतिक दोनों प्रकारोंका सहज ज्ञान होता है। कोई व्यक्ति केवल कल्पनामें ही नाटककी भाव-प्रतिक्रिया कर लेता है और दृश्यमान अभिनयमें आत्मभावनाका आरोप करके प्रत्यक्ष उपस्थित मनुष्यों और घटनाओंको ऐसे बहुरूप होनेकी कल्पना कर लेता है, जो वास्तवमें वे नहीं हैं, जैसे वह देखता तो है कोई भिन्न प्रेम-दृश्य किन्तु समझ लेता है कि शकुन्तला और दुष्यन्त परस्पर एक दूसरेके प्रति प्रगाढ स्नेह व्यक्त कर रहे हैं। इससे भी अधिक महत्त्वकी बात यह है कि मनुष्य किसी भी नाटकका दृश्य देखकर यह समझ बैठता है कि इसमें सम्पूर्ण प्रकारके भाव-गुण हैं—यह सुखप्रद है, थकावट उत्पन्न करनेवाला है, कामोत्तेजक है, कष्टप्रद है, कठोर है। इस प्रकार कोई भी व्यक्ति निरन्तर नाट्यके प्रभावशाली रूपोंके इन्द्रियात्मक, सहज बोधात्मक, कल्पनात्मक रूपोंका अर्थ लगाकर सम्पूर्ण नाटकका समीक्षात्मक रीतिसे या असमीक्षात्मक रूपसे एक पूर्ण स्वरूप स्थिर कर लेता है और फिर उसी स्वरूपके अनुसार दूसरोंके सम्मुख उसका वर्णन करता, उसकी समीक्षा या आलोचना करता और उसके गुण दोषकी मीमांसा करता है।

रुचि-पक्ष

सौन्दर्यात्मिका वृत्तिका रुचि-पक्ष इन एकाग्रताकी शक्तियोंमें ही निहित है और उन्हींकी प्रेरणासे कार्य करता या विवेचना करनेको प्रेरित करता है। इसे इस प्रकार समझाया जा सकता है—किसी व्यक्तिको तो कोई बात समझाई जानेपर समझमें आती है, किसीको बिना समझाए सहज बोध हो जाता है, कोई उसकी कल्पना ही कर लेता है, कोई उसका प्रत्यक्ष अनुभव करता है, और कोई उसमेंसे विशेष अर्थ निकालता है। पर यह सब तभी सम्भव है जब उस वस्तुमें उन व्यक्तियोंकी या तो रुचि हो या रुचि उत्पन्न की जा सकती हो। यह रुचि भी विभिन्न प्रकारकी हो सकती है। नाटक देखने-

वाले प्रेक्षककी रुचि नाटकमें न होकर कभी केवल रङ्ग-दीपन (प्रकाश-व्यवस्था) अथवा कलात्मक रङ्ग-व्यवस्थामें ही हो सकती है, कभी पात्रोंमें या उनकी अन्य मानवीय वृत्तियोंमें, कभी नाट्यके रूपमें और कभी नाटककी गम्भीरतासे जागरित की हुई किसी विशेष भावना (करुणा, क्रोध, शोक आदि) में भी हो सकती है। कभी-कभी इस रुचिके दर्शन अत्यन्त साधारण सम्वेदनसे लेकर मनुष्यके भाग्यकी व्याख्याके जटिल स्वरूपोंमें भी होते हैं। किन्तु यदि सम्बोध्य या उपभोक्ता (अनुभव करनेवाले) की वृत्ति सौन्दर्यात्मिका हो तो उसमें इन सब रुचियोंके अतिरिक्त और भी एक रुचि उत्पन्न हो जायगी। यह रुचि इस तत्त्वको समझनेमें होगी कि उस वस्तुसे उसके ज्ञानके अतिरिक्त और क्या प्राप्त हो सकता है अर्थात् उस वस्तुके इन्द्रियज्ञानसे आगे बढ़कर उससे क्या विशेष आनन्द प्राप्त हो सकता है। किसी वस्तुमें उपभोक्ता (अनुभोक्ता, दर्शक) की यह रुचि ही सौन्दर्यात्मिका वृत्ति कहलाती है और यही वृत्ति इस अनुभव करनेवाले मनुष्यको ऐसे ढङ्गसे उस अनुभवका वर्णन करनेके लिये प्रेरणा देती है कि उसे सुनकर श्रोता या पाठक भी वैसा ही आनन्द प्राप्त कर सकें। इस आनन्दकी सृष्टिके लिये वह श्रुति-मधुर शब्दों और व्यञ्जनापूर्ण भाषा-शैलीका प्रयोग करता है जिससे निर्दिष्ट आनन्दकी अनुभूति कराई जा सके। इसीलिये एलीजेओ विवासने 'सौन्दर्यात्मक अनुभवकी परिभाषा' (डेफ़िनिशन ऑफ़ ऐस्थेटिक एक्सपीरियन्स १९३४) में कहा है कि 'सौन्दर्यात्मिका वृत्ति तो तत्काल किसी पूर्ण रूपको प्रत्यक्ष कर देनेके लिये उसपर केन्द्रित वैसी ही निष्क्रिय एकाग्रता है जैसे सौन्दर्य निष्क्रिय प्रेम है।'

प्रयोगात्मक सौन्दर्यवाद

प्रयोगात्मक विधियोंमें सौन्दर्यवादकी छानबीन करनेमें उन सभी प्रकारके सम्प्रेक्षणोंका समावेश हो सकता है जिनमें उपभोक्ता या प्रयोक्ता (अनुभव करनेवाले व्यक्ति) ने वे सब परिस्थितियाँ पहलेसे प्रस्तुत कर रक्खी हों जिनके द्वारा वह उन साधनोंका विधान करना चाहता है जो सम्प्रेक्षित सौन्दर्यात्मक प्रभावके अस्तित्वके आधार हों। जी० टी० फ्लेचर (१८०१ से १८८७) ने विभिन्न व्यक्तियोंकी सौन्दर्यात्मक रुचियोंका उन परिस्थितियोंमें अध्ययन किया जो अत्यन्त साधारण रूपवाले सौन्दर्यात्मक ज्ञानके सरल और भावात्मक रूपोंमें प्रस्तुत किए गए थे, जैसे चतुष्कोण या उच्चरित

स्वरोंकी ध्वनियाँ। फ्लेचरकी इस प्रणालीके प्रयोगमें प्रयोक्ता सभी परीक्षणीय सामग्रीको एक क्रमसे लगाकर रख देता है और फिर जिसकी सौन्दर्यात्मका वृत्तिका परीक्षण करना हो उससे जिज्ञासा करता है कि इनमेंसे जो वस्तु तुम्हें अच्छी लगती हो उसे छाँट लो। अभी इस प्रकारके चुननेके ढंग (वाह्ल), रचनाके ढंग (हर्स्टेललुंग) और प्रस्तुत वस्तुओंमें सौन्दर्यात्मिक अनुपातकी विधि (वेरवेंडूंग) तथा आवश्यक सूचनाओंके साधारण लेखे आदि सभीपर प्रारम्भिक रूपमें ही विचार हो रहा है किन्तु इतना तो सबको मानना ही पड़ेगा कि जैसे वस्तुओं, व्यक्तियों या जीवोंके रूप, रंग, आकृति, स्निग्धता, कोमलता, कर्कशता, मधुरता, कुरूपता आदिका दर्शकपर प्रभाव पड़ता है वैसे ही मधुर वाणीका भी प्रभाव पड़ता है।

अनेक प्रकारकी ऐसी सौन्दर्यात्मक वृत्तिकी जिज्ञासाओंकी जटिलता अर्थात् केवल सौन्दर्यात्मक सम्प्रज्ञान और समीक्षाके सम्बन्धमें ही नहीं वरन् सौन्दर्यात्मक रचनाके सम्बन्धमें भी उसका प्रयोग किया जा रहा है। इन सब विचारणीय विषयोंमें संगीत, चित्रकला और काव्यपर सबसे अधिक प्रयोगात्मक छान-बीन की गई है, किन्तु अभी भाषा और साहित्यके अन्य पक्ष (गद्य-साहित्य, नाटक, चलचित्र और रेडियो) के सम्बन्धमें विस्तारसे विचार करना और उनको प्रयोगात्मक छानबीन करना शेष है। इस विषयमें ज्ञानके विभिन्न क्षेत्रोंसे अर्थात् भाषा-विज्ञान, ध्वनि-शास्त्र, शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान, शिक्षा-शास्त्र, मानसिक चिकित्सा तथा अन्य कलाओंके प्रयोक्ताओंका सहयोग लिया गया है। यद्यपि प्रारम्भमें जो प्रयोग किए गए उनमें प्राय: समान रूपसे केवल उनके सरलतम आवयविक तत्त्वों या कलाके स्वरूपोंपर ही प्रयोग किए गए, जैसे—लय, रेखा, रङ्ग और गति या ताल। किन्तु अब तो सौन्दर्यात्मक छानबीनके सम्बन्धमें यह प्रवृत्ति हो रही है कि कलाकी सम्पूर्ण जटिल परिस्थितियोंका भी प्रयोगात्मक अन्वीक्षण कर लिया जाय।

अनुभवात्मक प्रणालियोंसे यह ज्ञात हुआ है कि प्रयोगशालाओंमें जिन परिस्थितियोंके अनुसार सौन्दर्यवादी भावनाओंका कठोर परीक्षण हुआ है उनके साथ-साथ उन साधनोंका भी विकास हुआ है जो जीवनकी विभिन्न स्थितियोंमें अथवा उनसे सम्बन्ध रखनेवाली स्थितियोंमें प्रयुक्त हो सकते हैं। विद्युद्-यन्त्र और चित्र-ग्रहण-कला (फोटोग्राफ़ी) से तथा याथातथ्य प्रतिरूपण करनेवाले यन्त्रोंसे ऐसे प्रयोगोंको परिधि और सटीकता बढ़ गई

है जिनके आश्रयसे जटिल प्रतिक्रियाओंकी भी आवृत्ति कराई जा सकती है। परीक्षित परिस्थितियोंका परीक्षण करनेके लिये कुछ लेखे रखनेकी प्रणाली भी समुन्नत हो गई है क्योंकि कुछ वर्ष पहले तो केवल सीधे-सादे परिणाम और वर्गीकरणके आधारपर ही काम होता था किन्तु अब तो मनःशारीरिक माप तथा उदाहरण-कौशल, अन्तर्योग, खण्ड-विश्लेषण आदि वर्तमान अनेक प्रणालियोंके द्वारा अत्यन्त जटिल सौन्दर्यवादी भावनाओंका ठीक-ठीक परीक्षण हो जाता है। इतना ही नहीं, इस प्रकारके परीक्षणमें यदि कोई भूल हो जाय तो उसका भी ठीक-ठीक विवरण मिल जाता है। वाणीकी कलात्मक-रचनाके सम्बन्धमें जो मनोवैज्ञानिक परीक्षण हो रहे हैं, उनकी सहायतासे यह सम्भव हो गया है कि व्यक्तियोंकी कलात्मक प्रवृत्तियोंका प्रभावपूर्ण ढङ्गसे पुष्ट करनेमें भो प्रयोगात्मक सौन्दर्यवादका प्रयोग किया जा सके।

असुन्दरता या कुरूपता

§ ३४४. वाणीके सौन्दर्य-पक्षको समझनेके लिये उसके असौन्दर्य-पक्षका जानना भी आवश्यक है।

सौन्दर्यका उपर्युक्त विवेचन जान लेनेके पश्चात् यह साधारण भ्रान्ति हो सकती है कि भाषा या साहित्यमें सुन्दरता ही उसका एक मात्र ग्राह्य तथा विवेच्य विषय है किन्तु जैसे प्रकाश भी अन्धकार-सापेक्ष्य होता है उसी प्रकार सौन्दर्य भी असौन्दर्य-सापेक्ष्य होता है, यहाँतक कि जीवनकी कुरूपता और असुन्दरता भी कलामें पहुँचकर ऐसा सौन्दर्य-तत्त्व बन जाती है कि वह सौन्दर्यको ठीक-ठीक समझनेमें सहायकका कार्य करने लगती है। रामके चरित्रकी उज्वलता यद्यपि स्वतः अपनेमें पूर्ण है तथापि रावणके दुश्चरित्रकी तुलनामें आकर वह और भी अधिक जाज्वल्यमान हो उठती है। काव्य या साहित्यिक रचनामें इस प्रकारका भावात्मक विरोध दिखानेसे और विरोध दिखलानेके लिये कुरूपताका प्रयोग करनेसे सौन्दर्यका वैसे ही समर्थन और पोषण होता है जैसे सुन्दर चित्रमें छाया दिखानेके लिये प्रयोग की हुई काली रेखाएँ उसके सौन्दर्यकी अभिवृद्धि करती हैं। इस प्रकार भाषा और साहित्यमें जीवनकी कुरूपताएँ जीवनकी सुन्दरताओंको अत्यन्त तीव्र रूपसे व्यञ्जित करनेमें सहायक होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वाग्विज्ञानके अन्तर्गत सौन्दर्य-तत्त्वको भली प्रकार समझनेके लिये असौन्दर्य-तत्त्वका अध्ययन और विश्लेषण भी आवश्यक तथा अनिवार्य अंग है।

सौन्दर्यात्मक विश्लेषण

सौन्दर्यशास्त्रीय भाषाशास्त्रके आचार्योंने भाषाका प्रयोग करनेवालोंके लिये यह विधान किया है कि 'सौन्दर्यात्मक विश्लेषणमें जहाँ सुन्दर व्यक्ति या वस्तुकी शोभा, अनुपात, क्रम और सङ्गतिका विस्तृत विवेचन किया जाय वहाँ यह भी स्पष्ट किया जाय कि उसके विरोधी असौन्दर्यके साथ पड़ जानेसे उस सौन्दर्यमें क्या चमत्कार उत्पन्न हो गया है। किन्तु यह असुन्दरता ऐसी प्रचंड न हो कि वह सुन्दरताको ही दबा बैठे और मिल्टनके 'पैरेडाइज़ लौस्ट' के 'शैतान'के समान ऐसा प्रबल न हो जाय कि उसके सम्मुख ईश्वर अत्यन्त दीन, हीन, निर्वीर्य और अशक्त जान पड़ने लगे, अर्थात् साहित्यमें कुरूपताका संयोजन करते समय यह देखना चाहिए कि इसके संयोगसे वर्णनीय वस्तु, विषय या पात्रका सौन्दर्य कितना निखरा है।

आकर्षण और सौन्दर्य

प्रसिद्ध इतालवी समालोचक हौरेसने अपने 'आर्स पोएतिका' नामक ग्रन्थमें कहा है कि 'कवितामें सौन्दर्य अर्थात् बाह्य भव्यता (पल्क्रा) तथा आकर्षण या भावोंको प्रभावित करनेका गुण (डलिशया या चार्म) दोनों होने चाहिएँ क्योंकि सौन्दर्यके साथ-साथ आकर्षण ही ऐसा तत्त्व है जो पाठकों या श्रोताओंको वास्तविक संतुष्टि प्रदान करता है। हेलिकारनेसस-निवासी दिअनूसिअसने अपने 'शब्दोंकी सज्जा' नामक लेखमें इस आकर्षण और सौन्दर्यके लक्षण भी बताए हैं। उसका कथन है कि 'आकर्षण'में तो नवीनता (फ्रैशनेस)', शोभा (ग्रेस) और मनवानेकी शक्ति (परसुवेसिवनैस) नामक गुण होने चाहिएँ और 'सौन्दर्य' में भव्यता (ग्रैंजियर) और गम्भीरता (सौलम्निटी)। किन्तु हौरेसने 'आकर्षण' और 'सौन्दर्य' में जो यह अन्तर दिखाया है वह पूर्णतः निराधार है। बिना आकर्षणके सौन्दर्य नहीं हो सकता और बिना सौन्दर्यके आकर्षण सम्भव नहीं। जिस वस्तुमें नवीनता और लुभानेकी शक्ति विद्यमान होगी वह आकर्षक और सुन्दर अवश्य होगी।

उद्वृत्त

यूनानी भाषाके 'हुप्सोस', लातिनके 'सब्लिमितास' और जर्मनके 'एरहाबिनहोइट'को अँगरेज़ीमें 'सब्लाइम' कहते हैं। 'इस 'सब्लाइम' या 'उद्वृत्त' के अन्तर्गत शब्दोंकी वह पूर्णता और श्रेष्ठता आ जाती है जो स्वयं

उनमें उपयुक्त तथा उचित रीतिसे फूट पड़ती है, जान-बूझकर या गढ़कर उसमें नहीं भरी जाती। ऐसी रचनाका उद्देश्य भी दूसरोंका समर्थन पाना नहीं होता वरन् भाव-संक्रमण या भावित करना होता है। उसकी कसौटी यही है कि वह जितनी बार पढ़ी या सुनी जाय उतनी बार सिहरनकी लहर उत्पन्न करती रहे।' यह उत्तर है उस अज्ञात यूनानी अध्यापकका जिसने किसी लेखकके प्रश्नके सम्बन्धमें पहली या दूसरी शताब्दीमें रोममें कहा था। अठारहवीं शताब्दीमें फ्रान्स और इँगलैंडमें 'उद्वृत्तता' पर शास्त्रार्थ करना साधारण साहित्याचार समझा जाने लगा था। इस शास्त्रार्थका प्रारम्भ किया एडमंड बर्कने अपने 'हमारे उद्वृत्त और सुन्दरके भावोंकी उत्पत्तिकी दार्शनिक जिज्ञासा' (ए फिलोसौफिकल इन्क्वायरी इनटु दि ओरिजन औफ़ अवर आइडियाज़ औफ दि सब्लाइम ऐंड दि ब्यूटिफुल, १७५७) में। बर्क तो सुखवादी (हिडोनिस्ट) था। अतः, उसने 'उद्वृत्त' (सब्लाइम) को सौन्दर्यका उत्कृष्टतम स्वरूप न मानकर ठीक इसका विरोधी माना। उसकी दृष्टिसे 'सौन्दर्यका मनोवैज्ञानिक उद्गम तो साधारण आनन्द है और उद्वृत्तका केवल हर्ष है जो उन भावनाओंसे जागरित किया जा सकता है जो आनन्दकी भावनाओं (वेदना, भय आदिसे) पूर्णतः भिन्न होती हैं।'

उसका मत है कि 'सौन्दर्यका भाव प्रायः उन वस्तुओंसे उत्पन्न होता है जो प्रेम या अनुरक्तिको प्रोत्साहन देती हैं और जिनमें स्निग्धता, कोमलता, सुघरता, अनुपात तथा एकात्मताका संस्कार भरा रहता है। किन्तु उदात्ततासे तो रीझ या गुणलुब्धता (असाधारणता) तथा आश्चर्य (अद्भुत) की प्रेरणा होती है और उन वस्तुओंसे होती है जिनपर भव्यता तथा गम्भीरताकी छाप बनी होती है। बर्कके मतसे 'सौन्दर्य' तो केवल इन्द्रिय-जन्य सौन्दर्य-विज्ञानका तत्त्व है और 'उद्वृत्तता' वह भावात्मक प्रेरणा है जिसे श्रोता अपने सात्त्विक अनुभावोंसे व्यक्त भी करता चलता है और कहता है—'वाह ! धन्य है !' आदि। इस प्रक्रियामें वह शिव (दि गुड) को सुन्दर और उद्वृत्त दोनोंसे भिन्न कर देता है क्योंकि उदात्तवादी (क्लासिकल) और मिथ्योदात्तवादी (नूडोक्लैसिकल) सौन्दर्य-विज्ञानमें दोनों एक ही मान लिए गए थे। अतः, बर्कका मत है कि 'मानव-कृतियाँ सभी ससीम हैं, इसलिये उद्वृत्तता केवल प्रकृतिकी रचनात्मिक शक्तिकी अभिव्यञ्जना मात्र है। बर्कके इन विचारोंका दूसरे रूपसे विस्तार किया इमानुअल कांटने और उसने वहींसे प्रारम्भ किया जहाँ बर्कने गणित-सम्बन्धी और गत्यात्मक

उद्वृत्ततामें भेद बताया था। इसपर कांटने जो व्याख्या की है उसका लोगोंने भूलसे यह अर्थ लगा लिया है कि कांट बाह्य-सौन्दर्यको मानता ही नहीं था। कांटने सुन्दरको ससीम बताया था और उद्वृत्तको निस्सीम। कांटके तत्सम्बन्धी विचारोंपर ही सौन्दर्यवादियोंने उदात्तकी व्याख्या की। वर्ड्सवर्थने कहा—'उद्वृत्तकी भावना कहीं अधिक गम्भीरताके साथ मनुष्यमें अन्तर्हित रहती है।' जिन लोगोंने उद्वृत्तताके सिद्धान्तका विचार किया उन्होंने उद्वृतके साथ सुन्दरको भी ला रक्खा। शैलिङ्गने कहा है कि 'उदात्त तो ससीममें निःसीमका समावेश है और सौन्दर्य है निःसीममें ससीमका नियोजन'। इसे ही दूसरे ढंगसे उन्होंने कहा कि 'सुन्दरता तो उदात्तवादी कलाका तत्त्व है और उद्वृत्तता है स्वैरवादी कलाका।'

सुन्दरता और उद्वृत्तता

§ ३४५. सुन्दरता औ. . उद्वृत्तता दो तत्त्व नहीं है।

इस शास्त्रार्थका व्यापक परिणाम यह हुआ कि काव्य या साहित्यमें सुन्दर और उद्वृत्तको दो भिन्न तत्त्व समझा जाने लगा। किन्तु यह भेद अत्यन्त भ्रामक और अलीक है क्योंकि सुन्दरता वहीं होती है जहाँ उसके प्रति सात्त्विक आकर्षण हो। इस सात्त्विक आकर्षणके अन्तर्गत वह भव्यता और गम्भीरता भी समाहित है जिसे बर्कने उद्वृत्तताका लक्षण माना है। भारतमें काव्यके चरित-नायकमें जब सौन्दर्यके साथ शीलकी प्रतिष्ठा कर दी गई और शीलको सौन्दर्यका पूरक मानकर इसी सौन्दर्य-सिद्धान्तपर धीरोदात्त, धीरललित, धीरशान्त और धीरोद्धत नायकोंकी तथा अपरिमित सौन्दर्य-राशिके साथ अलौकिक शीलसे संयुक्त नायिकाओंकी सृष्टि की गई तो उन्होंने इस प्रकारका कोई भेद नहीं किया। हमारे यहाँ बाह्य सौन्दर्य वहींतक श्रेष्ठ समझा गया जहाँतक वह अन्तःसौन्दर्य या भाव-सौन्दर्यसे परिपुष्ट हो। यदि उसका अभाव हो तो वह रूप एवं सौन्दर्य अपनेको असुन्दर और हेय समझने लगता है। पार्वतीजीने भगवान् शङ्कर-जैसे पतिको प्राप्त करनेके लिये जबतक लौकिक रूप-सौन्दर्यको साधन माना तबतक वे असफल रहीं। कामदहनके पश्चात् स्वयं उनके मनमें आत्म-ग्लानि हुई और उसके कारण—

'निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती'

[पार्वतीने हृदयसे रूपकी निन्दा की]

और फिर—

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां,
समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।

[पार्वतीजीने अबाध रूपसे समाधि लगाकर तप करनेकी ठान ली ।]

इस तपस्यासे सन्दीप्त उनके तेजपर, किन्तु तपसे कुम्हलाए हुए उनके रूप-सौन्दर्यपर रीझकर स्वयं भगवान् शंकर उनके पास जा पहुँचे और जब उन्हें विश्वास हो गया कि अब बाह्य रूपका अभिमान नष्ट हो गया है और आत्माके सौन्दर्यसे पार्वतीजी ज्योतिष्मती हो उठी हैं, तब परमेश्वर महादेवजीने आत्म-समर्पण कर दिया—

अद्यप्रभृत्यवनतांगि तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिः·········।

[आजसे मैं तुम्हारा तपसे मोल लिया हुआ दास हो गया हूँ ।]

यही सौन्दर्य ऐसा वास्तविक, उद्वृत्त और सात्त्विक सौन्दर्य है, जिसकी सृष्टि कविको काव्यमें और साहित्यकारको साहित्यमें करनी चाहिए और ऐसी ही रचना श्रोता या पाठककी सौन्दर्य-वृत्तिको पुष्ट और तुष्ट कर सकेगी। होमरने अपने महाकाव्य 'इलियाद' की हेलेनमें रूप तो भरा किन्तु वह शकुन्तलाका पत नहीं भर सका, उसने 'पैनेलोपी'में पति-प्रेम तो भरा किन्तु सीताका वह तेज न भर सका जिसे अपनी लपटोंकी गोदमें पाकर भी अग्नि स्पर्श करनेका साहस न कर पाई। इसी सात्त्विक सौन्दर्यकी मीमांसा भारतीय वाङ्मयकी सौन्दर्य-मीमांसा है ।

वाणीमें ऋत और सत्यकी स्थापना

§ ३४६. वाणीमें सौन्दर्यका समावेश सदा ऋत और सत्यके संयोजनसे होता है ।

ऋत तत्त्वके कारण ही ब्रह्माण्डके समस्त पिंड और तत्त्व एक दूसरेसे भिन्न और पृथक् होते हुए भी शाश्वत रूपसे अप्रत्यक्षतः एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं। अग्निकी उष्णता, जलका जीवन-तत्त्व, सूर्यका ताप और प्रकाश, वायुका निरन्त गमन ऐसे सत्य तत्त्व हैं जिनका प्रभाव इन्द्रियोंसे देखा, सुना और समझा जा सकता है। मन और इन्द्रियोंके माध्यमसे जो कुछ देखा, सुना, सूँघा, बोला, छुआ, खाया, किया, उठाया या अनुभव किया जाय वह सब सत्य या प्रत्यक्ष तत्त्व हैं। मन्त्र-द्रष्टा ऋषियोंने ऋतम्भरा वाणी (परा और पश्यन्ती वाणी) के दर्शन (अनुभव) मन्त्रोंके रूपमें किए और वेदोंको सबके हितके लिये प्रकट कर दिया। किन्तु सामान्य मनुष्य अपनी इन्द्रियोंके द्वारा अपने मनमें जो अनुभूति करता है तथा अपनी इन्द्रियोंके माध्यमसे जितने प्रकारके अनुभव प्राप्त करता है उन सबको संबोध्य (श्रोता

या पाठक) की योग्यता, परिस्थिति, अवस्था आदिका ध्यान करके अपने अनुभवको यथासम्भव तीव्रतम रूपमें व्यक्त कर सकनेवाली शब्द-योजना, वाक्य-योजना तथा स्वर-योजनाके माध्यमसे अभिव्यक्त करके यथासम्भव उसे अधिकसे अधिक सशक्त बनानेका उपक्रम करता है। इस उपक्रममें वह अपनी वाणीको अधिकसे अधिक आकर्षक बनानेके लिये यथावसर शुद्ध, कलात्मक, मधुर और प्रभावशाली बनानेका प्रयत्न करता है। इस प्रयत्नके कारण ही दृश्य और श्रव्य काव्यके विभिन्न रूपोंमें भाषाकी विभिन्न शैलियाँ और अभिव्यक्तिके विभिन्न कौशल व्यक्त होते हैं। इस प्रयासमें जिस साहित्यकी सृष्टि होती है वह ऋत तत्त्वसे और सत्य तत्त्वसे पूर्ण होनेके कारण ही सुन्दर, असाधारण और अद्भुत होती है, इसीलिये सबको प्रिय और आकर्षक लगती है।

असाधारण तत्त्व

मनुष्यके आकर्षणका लक्ष्य केवल सुन्दरता ही नहीं, असाधारणता (§३४०) भी होती है। जिन महापुरुषोंने सामान्य मानव-समाजके बीच जन्म लेकर प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें सामान्यत: व्याप्त रहनेवाले लोभ, मोह, काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि मनोविकारोंपर पूर्ण विजय प्राप्त करके अनेक प्रकारकी असुविधाएँ और यातनाएँ झेलकर निरन्तर लोक-कल्याणको ही अपने जीवनका लक्ष्य बनाया उनके प्रति स्वभावत: सबकी श्रद्धा होती है, सबका आकर्षण होता है और सबको उनसे प्रेरणा मिलती है इसीलिये सब लोग उनके व्यक्तित्वकी ओर रुचिपूर्वक आकृष्ट होते हैं, उनकी लोक-कल्याण-गाथा बार-बार सुनना चाहते हैं और अपने मनमें वैसे ही गुणोंके सन्निवेशकी कामना करते हैं। ऐसे ही महापुरुषके गुणतत्त्वको असाधारण अर्थात् साधारण मानव-समाजके बीच विशेष गुणोंकी अभिव्यक्तिसे युक्त असाधारण तत्त्व कहते हैं।

संस्कृतके एक सूक्तिकारने कहा ह—

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृता स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥

[एक तो ऐसे परोपकारी सत्पुरुष होते हैं जो अपना हित छोड़कर दूसरोंका हित करते हैं। कुछ ऐसे सामान्य लोग होते हैं जो अपने स्वार्थकी रक्षा करते

हुए दूसरोंका कल्याण करते रहते हैं। किन्तु वे तो मानव-राक्षस हैं जो अपने स्वार्थके लिये दूसरेका अहित कर डालते हैं किन्तु जो अकारण दूसरोंका अनिष्ट करते हों उन्हें क्या कहा जाय, हम नहीं जानते।]

ऐसे महापुरुष ही असाधारण तत्त्वका पोषण करते हैं जो अपना हित छोड़कर दूसरोंका हित करनेमें लगे रहते हैं।

यह असाधारणता कभी तो काव्यमें वर्णित पात्रके रूप, गुण, क्रिया और वाणीमें होती है और कभी कविकी भाषा, शैली या रचना-कौशलमें। आजकल जो लोग सामान्य-जनवाद (पौप्यूलिज्म) या लोकवादकी दुहाई दे रहे हैं वे भी यह समझनेका प्रयत्न नहीं करते कि अपनी रचनाओंमें वे कभी पूरे जन-समाजका तो चित्रण नहीं करते हैं। वे तो जनसमाजसे ही कोई एक विशेष पात्र और कथा ले लेते हैं और जहाँ उन्होंने जनसमाजमेंसे कोई इस प्रकारकी इस घटना या पात्र लिया कि वह सामान्यसे असामान्य हुआ या साधारणसे असाधारण हुआ वहाँ इसी असाधारणताके कारण ही अर्थात् अपने वर्गके लोगोंमें उसके असामान्य होनेके कारण ही वह रुचिकर हो जाता है और इसीलिये लोग उसमें रस लेते हैं।

इस असाधारणताकी परीक्षा एक अन्य दृष्टिसे भी कर लेनी चाहिए। एक व्यक्ति सदा वनमें रहता है और कभी-कभी उस वनके पास ही बनी हुई अपने पिताकी झोंपड़ीमें आकर रह जाता है। यह व्यक्ति जंगलमें रहनेके कारण इतना अभ्यस्त हो जाता है कि उसे वहीं आनन्द मिलने लगता है। एक अन्य व्यक्ति सदा नगरमें अत्यन्त सुखमें पाला-पोसा जाता है। उसने कभी वन और वन-मार्गके दर्शन ही नहीं किए। यदि इन दोनों व्यक्तियोंको, निरपराध ही सही, यह दण्ड दे दिया जाय कि तुम दोनों बारह वर्षतक वनमें रहो तो जनसाधारणकी सहानुभूति किसके साथ होगी? निस्सन्देह सबकी सहानुभूति उस व्यक्तिके साथ ही होगी जिसने कभी वन देखा-तक न हो। राम-वनवासकी लीला देखकर जो जन-समाज प्रायः रो उठता है, उसका कारण यही होता है कि वह तत्काल रामके साधारण जीवनसे उनके वन्य-जीवनकी असाधारणताकी तुलना करने लगता है और उनमें भी जब वह देखता है कि साधारणतः जिस परिस्थितिमें पड़नेपर मैं (दर्शक या पाठक) रो देता या विद्रोह कर बैठता उसमें भी रामने धैर्य

धारण करके असाधारणता दिखलाई तो रामके प्रति उसका आदर-भाव या श्रद्धाभाव अधिक उद्बुद्ध हो उठता है। इसीलिये यदि कवि अपने काव्यको आकर्षक और लोकप्रिय बनाना चाहे तो 'असाधारणता' भी काव्यका बहुत बड़ा तत्त्व है जिसकी प्रतिष्ठा काव्यमें करना कविका परम धर्म है। इस असाधारणताकी प्रतिष्ठाके लिये उसे अपनी भाषा शैली भी असाधारण बना लेनी पड़ती है जैसे श्रीमद्भागवतकी शैली।

अद्भुतता

प्राय: प्रत्येक व्यक्तिने अपने बचपनमें अत्यन्त कौतूहलके साथ अपनी दादी या नानीसे भूतों, विशाल राक्षसों और सुन्दर परियोंकी कहानियाँ सुनी होंगी। उन कहानियोंमें उन भूतों या राक्षसोंसे लोहा लेनेवाले किसी बालक या राजकुमारके साथ सबकी पूर्ण सहानुभूति रही होगी। परियोंकी कहानियाँ सुनकर सदा यह आकांक्षा हुई होगी कि कोई परी मिल जाती और वह कोई ऐसा उड़नखटोला दे देती जिसपर चढ़कर हम भी किसी राजाके सुनहले बालोंवाली कन्या और उसका आधा राज्य पा जाते। किन्तु यह विचार किसीने कभी न किया होगा कि ऐसे राक्षस या ऐसी परियाँ वास्तवमें होती भी हैं या नहीं। योरोपीय आचार्योंने इनके सम्बन्धमें कहा है कि 'जब पाठक ऐसी कथाएँ पढ़ता है तब वह इच्छापूर्वक अविश्वास-को दबा देता है' (विलिङ्ग सस्पैंशन ऑफ़ डिस्बिलीफ़)। कारण यह है कि जो कभी देखा न गया हो, सुना न गया हो, नित्य वस्तुओंकी प्रकृतिसे भिन्न हो तथा अप्रत्याशित रूपसे आ पहुँचा हो, उसकी ओर स्वाभाविक कुतूहल-वृत्ति जाग उठती है। इसके लिये यह आवश्यक है कि यह कुतूहल जगानेवाली वस्तु, जीव, व्यक्ति या घटना अपरिचित या आकस्मिक हो। किन्तु यह अपरिचित वस्तु, व्यक्ति, जीव या घटना भयप्रद नहीं होनी चाहिए और यदि भयङ्कर हो तो उस भयकी निवृत्ति भी हो जानी चाहिए। सर्कसमें आया हुआ और कटघरेमें बन्द सिंह हमें अद्भुत लगता है क्योंकि हमने पहले उसे कभी देखा नहीं। यदि वहीं सिंह खुलकर दहाड़ दे तो भगदड़ मच जाय और वह फिर अद्भुत न रहकर भयानक हो जायगा। अत:, अद्भुतके लिये भयप्रद न होना अत्यन्त आवश्यक है और यदि कुछ कालके लिये भयप्रद हो भी तो उसका तत्काल परिहार हो जाना चाहिए। हाथी

हमारे देशमें सभी लोग जानते और देखते हैं किन्तु जहाँ हाथी नहीं होता वहाँके लिये वह अद्भुत है। घर-घर नित्य बच्चे होते हैं किन्तु जब यह सुनाई पड़ जाय कि दो सिरवाला बच्चा उत्पन्न हुआ है या बकरीके बच्चेके समान मनुष्यका बच्चा हुआ तब भी लोग देखने दौड़ जाते हैं क्योंकि दो सिर एक साथ होना या बकरीके बच्चेका-सा सिर लेकर जन्म लेना मानव-शिशुके लिये आश्चर्यजनक बात है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति शत्रुओंसे घिर जाय और दैवयोगसे शत्रु जिस कमरेमें खड़े हैं उसकी छत उनपर गिर पड़े तो यह आकस्मिक घटना भी चर्चाका विषय या कुतूहलका विषय हो जाता है। ऐसी ही घटनाओंके कारण धार्मिक श्रद्धालु लोगोंके हृदयमें यह भावना जम गई है कि जब किसीपर विपत्ति आती है तो भगवान् जन्म लेकर या प्रकट होकर उसका दुःख दूर करते हैं। नृसिंहने खम्भेसे प्रकट होकर प्रह्लादकी रक्षा की। इस घटनाको विवेकवादियोंने यह कहकर समझाया कि 'दैवसंयोगसे पत्थरका खम्भा ही टूटकर हिरण्यकशिपुपर जा गिरा।' चाहे खम्भा फाड़कर नृसिंह प्रकट हुए हों या वह खम्भा ही स्वतः गिर पड़ा हो किन्तु ये दोनों ही परिस्थितियाँ अद्भुत हैं क्योंकि अप्रत्याशित हैं। अतः, इसपर आश्चर्य करना प्रत्येक व्यक्तिके लिये अत्यन्त स्वाभाविक है। संसार-भरके सभी लेखकोंने जहाँ एक ओर केवल साधारण कुतूहल उत्पन्न करके मनोविनोद-मात्र करनेके लिये ऐसी घटनाओंका प्रयोग किया है, वहाँ ऐसे भी लेखक हैं जिन्होंने जनतामें नैतिकताकी स्थापना करनेके लिये दुर्जनों-द्वारा पीडित सज्जनोंको 'अन्तमें सुख' का आश्वासन देनेके लिये इस अद्भुतताके तत्त्वका समावेश किया है और इसका निर्वाह करनेके लिये उन्होंने एक ओर भयानक तथा घोर त्रासक दानवों, राक्षसों तथा भूत-प्रेतोंकी कल्पना की है और दूसरी ओर उनका नाश करनेको ऐसे कृपालु तथा पराक्रमी देवताओं तथा मनुष्योंकी सृष्टि की जो अकस्मात् प्रकट होकर ठीक ऐसे समय आकर किसी सज्जनका उद्धार करते हैं जब उसका अन्त ही होनेवाला हो। ऐसे आकस्मिक प्रकटीकरण काव्यों और उपन्यासोंमें भी दिखाए जाते हैं किन्तु नाटकमें इनका प्रयोग अधिक होता है, इसलिये ऐसी आकस्मिक घटनाओंको लोग 'नाटकीय' कहने लगे। इसी नाटकीय कौतूहलके कारण लोग जासूसी या तिलस्मी कहानियाँ पढ़ते हैं और यही अद्भुतता-तत्त्व (§ ३४०) योरपके सम्पूर्ण त्रासद (ट्रैजेडी) की परम्पराका मूल प्रेरक तत्त्व है।

ममता, श्रद्धा और कौतूहल

§ ३४७. सुन्दरके प्रति ममता, असाधारणके प्रति श्रद्धा और अद्भुतके प्रति कुतूहल होनेसे ही वाणीमें उनके समावेशसे आकर्षण होता है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह परिणाम निकला कि सुन्दरके प्रति सबकी ममता होती है, जो उनके स्नेह या अनुरागके भावका पोषण करता है। असाधारणके प्रति श्रद्धा या आदर-भाव होता है, जो मनुष्यकी नैतिक वृत्ति और विवेक-वृत्तिको तृप्त और तुष्ट करता है। अद्भुतके प्रति कौतूहल होता है जो मनुष्यकी जिज्ञासा-वृत्तिको तृप्त करता है। इस प्रकार सौन्दर्य हमारी चयन-वृत्तिको परिष्कृत करता है, असाधारण हमारी अहं वृत्तिको शुद्ध करता है और अद्भुत हमारी जिज्ञासा वृत्तिका संस्कार करता है। अतः, वाणीका प्रयोग करनेवालेका यह धर्म है कि वह सुन्दर (जिसे बार-बार देखने सुननेका मन करे और जो सदा नवीन प्रतीत हो), असाधारण (जो साधारणमेंसे ही अद्भुत हो किन्तु अपने विलक्षण गुणोंके कारण भिन्न प्रतीत हो) तथा अद्भुत (जो अदृष्टपूर्व, अश्रुतपूर्व, आकस्मिक तथा अप्रत्याशित हो किन्तु भय न उत्पन्न करे) की ही सृष्टि साहित्यमें करे क्योंकि उसी प्रकारकी वाणीसे समुचित प्रभाव डाला जा सकता है। नीचे इस प्रकारकी वाणीके कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

यह लाहौर नगरके शालीमार बाग़की रंगीन फुलवारी है, जिसके बीचोंबीच सङ्गमरमर और लाल पत्थरके बँधे घाटोंमें बहती हुई नन्हीं-सी नहर, फूलोंकी हँसीमें बसी हुई ठंडी बयारकी थपकियोंके सहारे धीमे-धीमे लहराती चली जा रही है। इसके बीच-बीचमें बने हुए चौड़े, अठपहले कुण्डोंमें खिले हुए लाल और नीले कमल, इसकी चमकमें चार चाँद लगा रहे हैं। इस नहरके बहावकी ओर ढलते हुए झरनेकी भीतपर जो सैकड़ों नन्हें-नन्हें गोखोंवाली झिलमिली बनी है, उसमें साँझको तेलके दीवे जगाकर सजा रखिए तो उसपर ढलकर गिरती हुई पानीकी चादरके पीछे अनगिनत लौ नचाती हुई जल-दीवालीकी ऐसी झाँकी खड़ी हो जाय मानो पीछे कोई आगकी परी झूमर नाच रही हो।

× × ×

ऐं! यह कौन नवेली है जो बाएँ हाथमें गुलाबके फूलोंसे भरी बेंतकी पिटारी लटकाए, पंजोंके बल खड़ी होकर, हाथसे हरसिंगारके झाड़ हिला-हिलाकर, ऊपर बरसते हुए फूलोंकी फुलझड़ीमें निराली मस्तीके साथ खिलखिलाती बल खाती अठखेलियाँ कर रही हैं। इसके पैरोंमें नागरेकी लाल जूतियाँ, कमरसे उलझा हुआ

चमकीला हरा सलवार, गोरी देहसे लिपटा-चिपटा घुटनोंतक लटकता हुआ आबरेवाँका बूटेदार शलूका और उसपर कसी हुई रुपहले सितारों-जड़ी कुर्त्ती किसी भी अनजानकी जान लेनेका कम सामान नहीं है। उसके गलेमें पड़े हुए धानी रंगके पल्लूके दोनों आँचल बयारके साथ दोनों कन्धोंपर झूलते हुए ऐसे लहरा रहे हैं कि उन्हें सँभालनेके लिये झलक उठनेवाली मेंहदीसे रँगी उसकी पतली, गोरी, चिकनी उँगलियोंके साथ उनमें फँसी हुई बहुत-सी अँगूठियाँ भी चमक-चमक उठती हैं। इसी लपक-झपकमें उसके कानोंमें उलझी हुई बहुत-सी बालियोंके तले फँसा हुआ चाँदीका झूमका भी झम-झम झनक उठता है।

× × ×

मातादीन शुक्लजी उन गिने-चुने लोगोंमेंसे अकेले बच रहे हैं जो आज भी लखनऊकी नवाबीको बड़ी सच्ची लगनके साथ जिलाए चले जा रहे हैं। जब वे तोले भरकी सुनहरी कामदार जूतियोंपर रेशमी चूड़ीदार पाजामा, बूटेदार चिकनकी अचकन और पाव तोलेकी नोकदार चनी हुई दुपलिया डाटकर, हाथमें गंगा-जमनी मूठकी चन्दनकी लहरिया छड़ी लेकर निकल पड़ते हैं तब आप भला कह तो दीजिए कि ये नवाब वाजिदअली शाहके छोटे भाई नहीं हैं। उनका रंग वह गोरा-चिट्टा कि हाथ धो दें तो दूध बन जाय, मुँहकी ढलन वह साँचेदार कि कहीं परियाँ झलक भर पा लें तो आपसमें जूझ मरें, गझिन टेई हुई मूँछें वह सजावदार कि नीबू काटकर रख दीजिए तो टँगे रह जायँ, कजरारी आँखें वह चुम्बक-भरी कि पहाड़की ओर घूम जायँ तो वह पूराका पूरा खिचा चला आवे, पतली नोकदार नाक इतनी गमकीली कि सौ-सौ महकवाले फूल कपड़ेमें लपेटकर सुँघा भर दीजिए तो एक-एक फूल नाम गिना दें, छोटे-छोटे पैर इतने छुई-मुई कि चार पग नंगे पैर चलना पड़ जाय तो तलवे लहू उगलने लगें, महीनों पैरकी गदेलियाँ सेंकनी पड़ जायँ, मूलीका छिलका दिखाई पड़ जाय तो नाकके दोनों नथने दुनली बनकर 'आकूछीं' की गोलियाँ दनादन छोड़ने लगें, इक्केकी घड़घड़ाहट कानमें पड़ जाय तो पखवाड़ों सिर भिन्नाता रहे, मिर्चका नाम सुन लें तो जीभ झन्ना उठे, जाड़ेमें ठंडा पानी दिखाई पड़ जाय तो बिना कस्तूरीकी डली मुँहमें डाले कँपकँपी न जाय, नींद ऐसी फरहट कि मक्खी छींक दे तो हड़बड़ाकर उछल खड़े हों और चाल वह जनवासेकी कि बताशे बिछा दीजिए तो फूटनेका नाम न लें।

× × ×

यों तो हम लोगोंमें दसवें दिन ही बच्चोंका नाम रख दिया जाता है, पर गंगारामके माँ-बापने बैकुण्ठ बसानेकी जो हड़बड़ी दिखाई, उससे नामकरन भी महीने भर टाल देना पड़ा। पर बात इतनी ही होती तो बहुत थी। पुरोहितजीसे भी

जब नामकरनकी बात छेड़ी गई तो वे कुछ दिनोंतक कन्नी काटते रहे, टाल-मटोल करते रहे। पर जब एक दिन गंगारामकी मौसीने आगे ग्यारह रुपए और चावलोंसे भरा चाँदीका कटोरा ला रक्खा तब पुरोहितजी भी बमक उठे। उन्होंने दो-टूक कह दिया कि 'ऐसे अभागेके नामका पैसा जहाँ पहुँचेगा वहाँ बंटा-ढार हो जायगा, घर उजड़ जायगा, नामलेवा पानीदेवा न बचेगा। आप ग्यारह क्या, ग्यारह करोड़ भी दें तो मैं ठीकरे समझूँगा।' मौसीजीने सुना तो उन्हें मानो काठ मार गया। वे सन्न रह गईं। पर उन्होंने तो ओखलीमें सिर दे ही दिया था, अब मूसलोंसे क्या डर था। उन्होंने सोचा कि मेरा घर तो यों ही अँधेरा है। कौन जाने गंगाराम ही इस घरका उजाला बन जाय।

× × ×

वह महीना माघका, पछुवाँ पवन, बादल-भरा आकाश, बिजलीकी कड़क, घनघोर अँधियारा, अँधेरा पाख, पथरीली, कँटीली झाड़ियोंवाली भयंकर अटपटी-सी गैल, बीहड़ बन, सियारोंका रुदन, चीत्कार, कोलाहल, निरंतर भिनभिनाते कीट, भुनगे और मच्छड़-डाँस, ऐसी विकट वेला, विकट पथपर, चल रहे हम तीन, धुकधुक कर रहे थे हृदय जिनके। झाड़ आगे, झाड़ियाँ दाएँ, उदर बाएँ बड़ा-सा खड्ड, बिजलीकी चमकमें फाड़कर मुँह कह रहा था—बस, उधर रहना, इधर बढ़ना न तुम पग एक। हम बढ़े आगे जिधर था झाड़, पथ भी था विषम। पैरकी सब उँगलियाँ फूटी हमारी, छिल गई सब देह, कपड़े भी हुए सब तार-तार। ढाकका जंगल खड़ा था सामने। साँस रोके, पत्थरोंमें लड़खड़ाते, चोट खाते और जाड़ेके पवनकी मारसे हम थरथराते, काँपते, कुछ दाँत भी थे किटकिटाते। हाथकी सब उँगलियाँ ऐंठी, लहू भी जम चला था किंतु बढ़ते जा रहे थे वन्य जीवोंकी शरणमें पग हमारे। उस समय मानव बना था व्याघ्र, जिससे भागकर हम फाँदकर दीवार काराकी चले थे। वह नजीबाबादका जंगल बना था हम भगोड़ोंका सहारा और उसके बाघके मुखको समझते थे मनुजकी दुष्ट करुणासे अधिक गम्भीर, प्यारा। जेलका कुर्ता, फटा-सा जाँघिया, साथ कबतक दे भयानक शीतमें। इसलिये मुठिया लिए अपनी बगलमें हाथ और सिसकारी भरे बढ़ते चले हम जा रहे थे, ले हथेलीपर विवश पर वीर प्राण।

× × ×

"आज मुझे यही सन्तोष है कि पिताजी सुखी हैं, प्रसन्न हैं। मेरे लिये क्या यह कम गौरवकी, कम सौभाग्यकी, कम गर्वकी बात है?

मैंने इसलिये प्रतिज्ञा नहीं की है कि वे राजर्षि हैं, हस्तिनापुरके राजा हैं, इतने विशाल साम्राज्यके स्वामी हैं, उन्हें प्रसन्न करनेसे मुझे राज्य मिल जायगा। मैंने केवल इसलिये प्रतिज्ञा की कि वे मेरे पिता हैं,...पिता, जिन्होंने मुझे यह साधन-धाम मनुष्य तन दिया, जिन्होंने पृथ्वीपर जन्म लेनेके क्षणसे आजतक निरन्तर मेरा पालन-पोषण किया, जिन्होंने अनवरत चेष्टा करके मेरे सुख और मेरी सुविधाका ध्यान रखते हुए कभी मेरे मुखपर विषादकी रेखा नहीं आने दी। उनके लिये यदि मैंने यह छोटी-सी प्रतिज्ञा कर भी डाली तो कौन हिमालय सिरपर उठा लिया? इतनी-सी तुच्छ बातको लोग इतना महत्त्व क्यों दे रहे हैं? मुझे भीष्म क्यों कह रहे हैं? अपने उन स्नेहमय पिताजीके लिये क्या मैं इतना भी न करता......!

× ×

रंगकी महा घनश्यामता होनेपर भी वह अपनेको कामदेवसे कम नहीं समझता था। यद्यपि सवर्ण होनेके नाते मेरा यह धर्म नहीं है कि मैं पल्लेका नख-शिख वर्णन करूँ किन्तु कथाकारके धर्मकी रक्षाके लिये आवश्यक समझकर इतना ही कह देता हूँ कि जब वह अपने काले भुच्च शरीरपर अधबहियाँ कमीज़ पहनकर, लुंगी लगाकर, पेशावरी चप्पल पैरोंमें डालकर और माथेपर लाल टीका देकर निकलता तब ऐसा लगता मानो मध्यप्रदेशके जंगलसे पकड़े हुए किसी काले भालूको उजले कपड़े पहनाकर उसके माथेपर लाल पकी हुई झड़बेरी टाँक दी गई हो। किन्तु पिल्ले उस समय अपने मनमें यही समझता था मानो नगरकी सभी कुमारियाँ हाथोंमें वरमाला लेकर अपने-अपने द्वारपर उत्सुकताके साथ मेरा वरण करनेके लिये खड़ी हों। वह फर्राटेकी हिन्दी बोलता था और यदि उसका रंग और नाम ही उसका भेद न खोल देते तो कोई सपनेमें भी न भाँप पाता कि श्री पिल्लेजी साक्षात् किष्किन्धासे चले आ रहे हैं।

× × ×

अखंड ब्रह्मांडका प्रकांड पाखंड अपने प्रचण्ड दोर्दंडसे डगमगा देनेवाले, अपने भास्वर भव्य भालपर भगवान् भूतभावनकी भूतिमय विभूतिका भासमान त्रिपुंड अंकित करके भूभुंवस्स्वर्लोककी भास्वरताका दुर्दान्त दम्भ विदीर्ण करनेवाले, अपने विकट भ्रूभंगकी गर्जनोर्मियोंसे विच्छुरित वह्निनेत्रोंके जाज्वल्यमान स्फुलिंगोंसे समग्र सृष्टिके दुर्दमनीय दुष्कांडोंको भस्म कर डालनेवाले, मदान्ध अत्याचारी नृपतियोंके अकाण्ड तांडवसे वित्रस्त प्राणिमात्रको निर्भयत्वका शान्तिपूर्ण समाश्रय प्रदान करनेवाले, गन्धमादनके भीषण कान्तारमें कुंडलिनी सिद्ध करके मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाके षट्चक्र भेदन करके, वैखरीके

द्वार रोककर, क्रमशः मध्यमा, पश्यन्ती और परा वाणीका गुरु गंभीर अनाहत नाद सुनकर, त्रिकुटीमें अधिष्ठित ब्रह्मस्वरूप त्र्यम्बकेश्वरके ध्यानमें तल्लीन होकर आत्म-साक्षात्कार करनेवाले तथा अपने प्रचण्ड परशुकी प्रखर धारसे मदान्ध राजन्य-वर्गका गर्व खर्व करनेवाले सुख्यातनामा भगवान् परशुराम आप ही हैं।

× × ×

नन्दनवनका मन्द गन्धवाह मन्दारके मरन्दका अमन्द गन्ध अपने नन्दित कन्धोंपर लिए हुए आनन्दसे मन्द-मन्द सञ्चरण कर रहा था। नन्दन-काननकी ललित लताओंके अमल पल्लवोंमें ललित लास्य करनेवाली उत्फुल्ल मञ्जरियोंसे कम्पित मन्दारकी कुसुम-माला लेकर विद्याधर-बन्धुओंने सन्तानक-वनमें विचरण करनेवाले दुर्वासा मुनिको आदरपूर्वक समर्पित कर दी। दुर्वासाजीने उसी पन्थमें ऐरावतपर भासमान पाकशासनको देखकर मन्दारकी मालासे उनके कर-कमल समलंकृत कर दिए। भगवान् इन्द्रने वह माला अपने कमनीय कंठमें न पहनकर अपने महागजके मनोहर मस्तकको उस मालासे नन्दित कर दिया। मधुमय मन्दारकी मन्दिर गन्धसे अन्ध होकर मदमत्त ऐरावतने वह माला महीपर डालकर मसल डाली। महर्षि दुर्वासाने इसे अपनी सुमंगला मालाका अपमान मानकर महामानके साथ नाकनायकसे कहा—'आजसे आपके नन्दन-काननकी कान्तिका अन्त हो जायगा और आपकी अनन्त लक्ष्मी भी अनल्पकालमें लुप्त हो जायगी।'

× × ×

पञ्जाबके लिये शिमलेका, उत्तर प्रदेशके लिये मसूरी और नैनीतालका, बिहारके लिये राँचीका, बङ्गालके लिये दार्जिलिङ्का, मध्यप्रान्तके लिये पचमढ़ीका, मैसूरके लिये ऊटीका और सम्पूर्ण भारतके लिये कश्मीरका जो महत्त्व है, वही बम्बईवालोंके लिये महाबलेश्वरका है। इसीलिये बम्बई पहुँचकर महाबलेश्वर न जाना वैसा ही बौंध्य है जैसे देहरादून पहुँचकर मसूरी न देखना, काठगोदाम-तक जाकर नैनीताल जानेमें अलसाना, नन्दनवनमें पहुँचकर आकाश-गङ्गामें न तैरना, कल्पवृक्ष पाकर उसकी डालपर न झूलना या कामधेनुके दुग्धामृतसे भरा कमण्डलु हाथमें आ जानेपर भी अपचके डरसे उसे स्वर्गंगामें बहा देना।

नरशास्त्रीय और सामाजिक वाग्विज्ञान

मानव-शास्त्र या नर-शास्त्रसे वाग्विज्ञानका अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। अत्यन्त प्रारम्भिक कालमें स्वाभाविक उन्मेषसे उत्पन्न होनेवाली लोक-वाणी विभिन्न मानव-जातियोंके आदिकालमें उनके कुतूहलका विषय बनी रही। उसके अनन्तर अपने चारों ओर स्वभावतः बोलनेवाले पशु-पक्षियोंकी वाणीका अनुकरण करके उन्हें फँसानेके लिये मनुष्यने आवश्यकतावश वाणीका उपयोग किया। उसके साथ-साथ केवल मनोरञ्जनके लिये, उन जीवोंसे आत्मीयता स्थापित करनेके लिये या उन्हें चिढ़ानेके लिये भी उन जीवोंकी बोलियोंका अनुकरण किया गया।

§ ३४७. वाणीका प्रथम सामाजिक उपयोग नामकरणके लिये हुआ।

उदर-पोषण, कुतूहल और मनोरञ्जनकी इस आदिम स्थितिसे ऊपर उठकर धीरे-धीरे मनुष्यको यह अनुभव होने लगा कि भाषा या बोली या केवल मुँहसे निकलनेवाली विभिन्न प्रकारकी ध्वनियाँ हमारे उपयोगकी भी हैं। इस उपयोगिताका सर्वप्रथम प्रयोग था प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति, स्थान, क्रिया या रूपका नामकरण। इस अवस्थासे पूर्व सम्पूर्ण सृष्टि रूपात्मक मात्र थी, उसे नामात्मक बनानेका श्रेय मनुष्यको मिला। कभी-कभी यह एकध्वनि-भाषा इतनी उपयोगी सिद्ध हुई कि शब्दकी पहुँचपर रहनेवाले दूर-स्थित व्यक्तियोंने उसीके सहारे एक दूसरेका सङ्कट समझा और उनकी सहायताके लिये दौड़ पड़े। गोहार और पुकार लगानेकी पुरानी प्रणाली इसीका प्रमाण है।

अभी थोड़े दिनों पूर्व वेस्ट इण्डीज़में डौनल्ड पार्क नामका व्यक्ति वहाँके पहाड़ोंमें मार्ग भूल गया। संयोगवश उसने रात्रिके समय दूरसे अग्निका प्रकाश देखा और समझ लिया कि वहाँ रेड इण्डियन लोग आग ताप रहे हैं। वह झट वहाँ पहुँचा और उसने बताया कि मेरा मित्र जिम मुझसे बिछुड़ गया है। एक रेड इण्डियनने उनसे कहा कि तुम तत्काल अपनी बन्दूकसे तीन गोलियाँ छोड़ो। ज्योंही डौनल्डने तीन गोलियाँ दागीं त्योंही उस रेड इण्डियनने अपने मुँहपर हाथ लगाकर पुकारा 'जिम-जिम-ई-ई-ई'। कुछ दूरपर फिर वही शब्द सुनाई पड़ा 'जिम-ई-ई-ई।' यह ध्वनि और भी दूरपरके दूसरे रेड इण्डियन पड़ावसे आ रही थी। इसके पश्चात् फिर तीसरे पड़ावसे वही ध्वनि सुनाई पड़ी। कुछ देरकी शान्तिके पश्चात् डौनल्डने दूरपर बन्दूककी तीन धायँ-धायँ सुनी और उसके पश्चात् बारी-बारीसे तीन बार 'डौन-ई-ई-ई' की ध्वनि पहले दूरसे, फिर कुछ और समीपसे और फिर अत्यन्त समीपके पड़ावसे सुनाई पड़ी और तब एक रेड इण्डियनने डौनल्डसे कहा कि अब इन पहाड़ोंके रहनेवाले सब लोग जान गए हैं कि तुम कहाँ हो और वे तुम्हारे मित्र जिमको यहाँ ले आवेंगे। एक घण्टेके पश्चात् जिम सचमुच वहाँ आ पहुँचा। अतः, वाणीका यह आदिम प्रयोजन आज भी प्रयोज्य है कि ध्वनिके द्वारा दूरसे अपना सन्देश किसीतक पहुँचाया जा सकता है।

मुग़लोंके शासन-कालमें पेशावरसे दिल्लीतक लगभग एक-एक कोसकी दूरीपर स्तम्भ बने हुए थे जिनपर नगाड़ेवाला चौकीदार बैठा रहता था। जब पश्चिमोत्तर सीमापर किसी प्रकारके आक्रमणकी सूचना मिलती थी तो वह तत्काल नगाड़ा बजाकर घोड़ेपर चढ़कर वहाँसे चल देता था। इसी प्रकार अन्य नगाड़ेवाले भी अपना नगाड़ा बजाते चलते थे और लगभग आध घण्टेमें उत्तर-पश्चिमसे होनेवाले आक्रमणकी सूचना दिल्ली पहुँच जाती थी। अतः, निरुक्त वाणीका ही नहीं, अनिरुक्त ध्वनिका भी बड़ा महत्त्व होता है। यों भी सामान्य व्यवहारमें किसी प्रकारकी ध्वनिको सुनकर यह पहचान लिया जाता है कि कोई वस्तु टूटी है या गिरी है या कोई घटना हुई है या कोई कष्टमें है। यद्यपि कभी-कभी स्पर्श, गन्ध और रूपसे भी वस्तुओंका ज्ञान होता है किन्तु जितने स्पष्ट ढङ्गसे कानके द्वारा निरुक्त वाणी सुननेसे किसी बातका स्पष्ट ज्ञान होता है उतना किसी अन्य माध्यमसे नहीं।

धीरे-धीरे भाषाकी उपयोगितामें मनुष्य वृद्धि करने लगा और ज्यों-ज्यों आवश्यकता बढ़ती गई त्यों-त्यों भाषाके रूपों, शैलियों और अवस्थाओंमें

नये-नये आविष्कार होने लगे। संकेतके लिये, समाज या जातिके जीवों, मनुष्यों और वस्तुओंके भेदके लिये तथा पारस्परिक परिचयके लिये भाषाने महत्त्वपूर्ण काम किया। अस्पष्टार्थ-निर्देशक आंगिक संकेतकी अपेक्षा स्पष्ट अर्थका आधार बनकर मनुष्यके सूक्ष्मतम भावोंकी अभिव्यक्तिके साधनके रूपमें भाषाका विकास वेगसे हो चला।

समाज, संस्कृति और कलाके लिये भाषा

§ ३४८. सामाजिक, सांस्कृतिक और कलात्मक अभ्युन्नतिमें भाषाने सबसे अधिक योग दिया।

मानव-समाजकी सामाजिक और सांस्कृतिक अभ्युन्नति तथा कलात्मक-अभिव्यक्तिके अनुसार उसकी अभिव्यक्त्यात्मक आवश्यकताएँ भी बढ़ गईं और उसे समाज-व्यवस्थाके लिये नीति-शास्त्र (धर्मशास्त्र), न्याय-विधि, दण्ड-विधान तथा आयुर्वेद आदि मानव-कल्याणकारी शास्त्रोंकी और संगीत, चित्र, नाट्य आदि मनोरञ्जनात्मक कलाओंकी रचना करनी पड़ी।

इस आवश्यकताके पश्चात् मनुष्यने भाषाका प्रयोग ज्ञानके संरक्षण, अनुभवकी अभिव्यक्ति और पारस्परिक सामाजिक व्यवहारके निर्वाहके अतिरिक्त भाषाके नियमसे सम्बद्ध व्याकरण, निरुक्त, शिक्षा और छन्दःशास्त्रकी, यज्ञ यागादिकी व्यवस्थाके लिये ज्योतिष और कलाकी, कल्पनात्मक मनोरंजनके लिये गद्य, पद्य, चम्पू, दृश्यकाव्य आदि काव्य-रूपोंकी तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी सिद्धिके लिये अनेक शास्त्रोंकी रचना की। मौखिक रूपसे पाण्डित्य-प्रदर्शन और वाग्विलासके लिये भाषण और तर्ककी भी अनेक विधियाँ और शैलियाँ निकाल ली गईं। पारस्परिक वार्तालाप, कहानी कहनेकी कला, शास्त्रार्थ-कौशल तथा कथा-वाचन आदि अनेक वाग्रूप इस वाग्विलाससे प्रस्फुटित हो चले। वाणीका सबसे अधिक उदात्त और जटिल स्वरूप उस जिज्ञासामें प्रकट हुआ जिसे दर्शन कहते हैं और जिसके अन्तर्गत ईश्वर, जीव, जगत्, सृष्टिके तत्त्व, धर्म और मोक्षके सम्बन्धमें गम्भीर विचार किया गया। इसीके अन्तर्गत मन्त्र-तन्त्र, 'मानव-शास्त्र और साहित्य' (ऐन्थ्रोपौलौजी ऐण्ड लिट्रेचर) आदिका विधान भी आ जाता है।

§ ३४९. आदिम मानव-जातियोंके वाग्व्यवहारका रूप एक-सा था।

प्राचीनतम युगके मानव-समाजका सम्पूर्ण वाग्व्यवहार मौखिक ही था। उसका अधिकांश उसके गीतों, कथाओं और रीति-नीतिके रूपमें आज भी परम्परागत रूपसे सुरक्षित है। उसकी इस वाक्प्रवृत्तिकी

प्रक्रियाओंका बहुत-सा भाग उसकी कहानियोंमें प्राप्त होता है। आदिम संस्कृतिके इन सभी रूपोंमें थोड़े-बहुत हेर-फेरके साथ संसार-भरमें लगभग एक प्रकारके ही वाक्प्रयोग दिखाई पड़ते हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि मनुष्य-मात्रका मूल मस्तिष्क सर्वत्र एक-सा ही रहा होगा। इन आदिम मानव-समूहोंके भाषागत रूपोंका अध्ययन करनेसे उन प्रारम्भिक सामग्रियोंका ज्ञान भी होता है जिनके आधारपर उनकी भाषात्मक प्रवृत्तिकी नींव ढूँढ़ी जा सकती है। ऐसी सम्पूर्ण सामग्रीका अधिक परिमाण उन ग्रन्थोंमें प्राप्त हो सकता है जो नरशास्त्र-विशारदोंने पिछले सौ वर्षोंमें प्रकाशित किए हैं। अभीतक इस ऋद्ध सामग्रीका प्रयोग केवल चाडविक्सने तुलनात्मक, आलोचनात्मक और साहित्यिक कार्योंके लिये ही किया है और वह भी बहुत थोड़े अंशमें। यह आश्चर्यकी बात है कि भाषा-शास्त्रके क्षेत्रमें इस सामग्रीका कोई प्रयोग अभीतक नहीं किया गया।

आदिम मनुष्य-समाजोंका सम्पूर्ण मौखिक साहित्य मानव-अनुभूतिके प्रारम्भिक रूपोंके सम्पूर्ण क्षेत्रोंतक व्याप्त है और प्रायः एक ही प्रकारका है। अनुभूतियाँ भी सरलतमसे लेकर अत्यन्त जटिलतम रूपमें प्राप्त हैं। इस प्रकारके जितने आदिम साहित्यिक रूपोंसे पश्चिमी संसारका परिचय है उनमें कथावस्तु, विरोधी वस्तु, आख्यान तथा सुखान्त या दुःखान्त उपसंहार आदिसे युक्त बड़े-बड़े उपन्यासों–जैसी कथात्मक सामग्रियाँतक व्याप्त हैं। स्वभावतः इस मौखिक साहित्यसे उन संस्कृतियोंका परिज्ञान होता है, जिनमें उनका संस्कार या जन्म हुआ है। सभी स्थानोंके सामाजिक मनुष्योंने अपनी कल्पना व्यक्त करनेके लिये भी अपने उस अनुभवका आधार लिया जो उन्हें अपने-अपने प्रदेशों या जातियोंकी कथा, गीत, कविता, धर्म तथा लौकिक व्यवहारमें प्राप्त होता था। ये आदिम सभ्यताएँ आजकी अपेक्षा कहीं अधिक सुघटित थीं। उनका यह सम्पूर्ण वाग्व्यापार उनके अतीत और वर्त्तमान इतिहासके अनुषंगमें अधिक सरलतासे समझा जा सकता है। इसलिये उनकी भाषात्मक प्रवृत्तियोंकी उत्पत्ति, विकास और विस्तारके सब रूप अध्ययन करनेके ये अत्यन्त सशक्त और लोकप्रिय आधार बन सकते हैं।

§ ३५०. आदिम मौखिक साहित्यसे प्रारंभिक भाषात्मक अभिव्यक्तिका ज्ञान हो सकता है।

यह समस्त आदिम मौखिक साहित्य दो प्रकारका है अर्थात् उनका दुहरा महत्त्व है, एक तो यह कि वे आदिम मानवकी भाषात्मक अभिव्यक्तिकी

प्रतिक्रियाओं तथा उनकी मौलिक भाषात्मक तथा साहित्यिक क्रियाओंके समझनेके साधन हैं और दूसरे यह समझनेके साधन हैं कि उनके मौखिक साहित्यमें कितने भाषात्मक और अभिव्यञ्जनात्मक तत्त्व उनके अपने हैं और कितने उन्होंने दूसरी संस्कृतियोंसे लिए हैं। अट्ठारहवीं शताब्दीके मध्यमें जब कप्तान कुक और बूगाइँविलिए आदि व्यक्तियोंने आदिम जातियोंके अस्तित्वकी खोज की, उस समय योरोपीय लेखकोंको एक नये अनुभवकी चेतना हुई। यह अनुभव पुन: विशेष रूपसे बोर्नियाके जंगलके मानवकल्प वानर अर्थात् ओरङ्गऊटङ्ग, अफ़रीकाके चिम्पांज़ी आदिकी खोजसे और भी अधिक बढ़ गए जिनका वर्णन सत्रहवीं शताब्दीके मध्यसे योरोपमें होता रहा है और जिनपर अनेक विद्वानोंने भाषा-सम्बन्धी अनेक प्रयोग भी किए (§ ४४)।

संसारमें सब जातियोंके बुद्धिमान् लोग सदा एक दूसरेकी ओर आकृष्ट होते रहे हैं और सत्रहवीं शताब्दीमें जबसे योरोपमें नये दर्शनका जन्म हुआ तभीसे अनेक साहित्यिक महापुरुषोंने वैज्ञानिक ग्रन्थोंको विचार और अध्ययन-का विषय बना लिया। इसीलिये उन लोगोंने इन वैज्ञानिक ग्रन्थोंके आधार-पर बहुत कुछ लिखना भी आरम्भ कर दिया था। जोन डोनसे लेकर आल्डुअस हक्सले और टी० एस० ईलियट-तकके साहित्यिक लेखकोंपर विज्ञानके विकासकी धारा अविच्छिन्न रूपसे प्रभाव डालती रही है किन्तु नर-शास्त्रका प्रभाव ऐडीसन और ब्लेकमोरके लेखोंमें आए हुए कुछ थोड़े-से उदाहरणोंके अतिरिक्त मुख्य रूपसे तबतक नहीं आरम्भ हुए कहे जा सकते जबतक सन् १७२६ में 'गुलिवरकी यात्रा' (गुलिवर्स ट्रैविल्स) का प्रकाशन नहीं हुआ। इसीके पश्चात् रूसोने बन्दरों और असभ्य मनुष्योंसे सम्बन्ध रखनेवाली सामग्रियोंका एक विचित्र सम्मिश्रण प्रस्तुत किया (सन् १७५४) जिसमें एक 'सज्जन जङ्गली' की भावना सर्वप्रथम अवतारित की गई थी और जिसके परिणाम-स्वरूप सन्त पियरेका 'पाउल एत वरजिनी' (१७८८) लिखा गया किन्तु भाषा-शास्त्रके क्षेत्रमें फिर भी उसका प्रयोग नहीं हुआ।

साहित्यके क्षेत्रमें इन नर-शास्त्र-सम्बन्धी खोजोंका प्रभाव जर्मनी और इँगलैंडमें बहुत पड़ा। जर्मन स्वैरवादके पिता हेरडेर थे। संसारकी किसी साहित्यिक रचनामें नर-शास्त्रीय विचारोंका इतना प्रभाव स्पष्टत: व्यक्त नहीं हुआ जितना हेरडेरके 'इडीन' (१७८४) में। गेटे, नोवालिस, शिलर, लेसिङ्ग, हार्डेनबर्ग तथा अन्य जर्मन लेखकोंने अपने ग्रन्थोंमें इन विचारोंका विशेष

रूपसे प्रयोग किया है। इँगलैंडके एक तीन खण्डोंके उपन्यासमें उन्नीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें ओरङ्ग-ऊटङ्गको उपन्यासका नायक बनाकर चित्रित किया गया। पीकौकके 'मेलिनकोर्ट' (१८१७) में 'सज्जन जंगली' का अत्यन्त तर्कपूर्ण ढंगसे समाधान किया गया है। शैलीने अपने 'क्वीन मैन' में इसी प्रकारके नर-शास्त्रीय प्रभावोंका प्रदर्शन किया है किन्तु वास्तवमें नर-शास्त्रीय ग्रन्थ (विशेषतः उपन्यास) उन्नीसवीं शताब्दीके पिछले भागमें प्रकाशित हुए। उनमेंसे सबसे पहला ग्रन्थ था हेनरी कर्वेनका 'ज़िट ऐण्ड जो', जो अज्ञात नामसे प्रकाशित हुआ था। इसके पश्चात् एच० जी० वेल्सका 'प्रस्तर युगकी कथा' (१८९९) तथा अन्य ऐसी ही पुस्तकोंका प्रकाशन हुआ जो मुख्यतः काल्पनिक ही थीं और जिनका आधार मनुष्यके प्रारम्भिक इतिहाससे सम्बद्ध नरशास्त्र था। इतना होनेपर भी भाषा-शास्त्रका क्षेत्र नरशास्त्र-सम्बन्धी खोजोंसे अप्रभावित ही रहा।

नर-शास्त्र और भाषा

नर-शास्त्रके ज्ञान और समकालीन आदिम जातियोंके व्यक्तिगत अनुभवका प्रयोग इँगलैण्डके राइडर हैगर्ट और किपलिङ्गने तथा अमेरिकाके ब्रेटहार्ट, फेनीमोर कूपर, लौङ्गफैलो तथा अन्य अनेक सज्जनोंने साहित्यमें किया और इस प्रसंगमें भाषाके सम्बन्ध और उनके प्रयोगके प्रसंग भी उठाए। इस आन्दोलनका स्वरूप वही है जो 'सज्जन जंगली' (जैंटिल बार्बेरियन) मण्डलके लोगोंने प्रारम्भ किया था। इलियनोर डार्कने अपने 'कालहीन देश' (दि टाइमलेस लैण्ड १९४१) में कहा है—'प्रायः इन सभी ग्रन्थोंमें हमें इस व्यवसायवादी युगकी भौतिकताके विरुद्ध स्पष्ट प्रतिक्रिया लक्षित होती है क्योंकि इनमें पश्चिमी संसारके पतित मनुष्योंकी तुलनामें ये प्राकृतिक आदिम मनुष्य अधिक गुणशील और सच्चे प्रदर्शित किए गए हैं।' किन्तु इस मालामें एक और भी प्रकारके उपन्यास हैं जिनमें ये नरशास्त्रीय सामग्रियाँ (भाषा, आचार-विचार आदि) बिना किसी नैतिक सन्देश-कथनके ही प्रयोगमें लाई गई हैं, जैसे राइडर हैगर्टका 'राजा सौलोमनकी खानें' (किंग सौलोमन्स माइन्स) और 'वह स्त्री' (शी)। नर-शास्त्रकी सामग्रीका अधिक लोकप्रिय प्रयोग वर्तमान चलचित्रोंमें 'टार्जन' आदिकी कथाओंमें और समाचार-पत्रोंके व्यंग्य चित्रोंमें प्रयुक्त हुआ है। टी० एस० ईलियटके 'बंजर भूमि' (दि वेस्ट लैण्ड, १९२२) से यदि प्रारम्भ किया किया जाय तो ज्ञात होगा

कि वर्त्तमान अँगरेज़ी काव्य विशेषत: औडेन, स्पेण्डर, रौय केम्बेल आदि विशेष रूपसे इस नरशास्त्रसे प्रभावित हैं, जिनमें प्राचीन मानवकी भावा-प्रवृत्तिके संकेत भी प्रचुर मात्रामें उपलब्ध हैं।

भाषाका सामाजिक पक्ष

§ ३५१. भाषा ही मानव-समाजकी सम्पूर्ण सामाजिक प्रेरणाकी अभिव्यक्तिका एकमात्र आधार है।

साहित्यको समाजका दर्पण बताया गया है। साहित्यका आधार है भाषा। 'हृद्य भाषा-शैलीमें की हुई अभिव्यक्ति ही साहित्य है।' जैसे किसी वैज्ञानिक तथ्यकी परिभाषा दी जाती है उस सार्थक रूपमें 'साहित्य' शब्दकी विवरणात्मक परिभाषा नहीं दी जा सकती। इस बाधाके होते हुए भी भाषात्मक रचना या साहित्यके कुछ ऐसे विशेष तत्त्व अवश्य हैं जिनके आधारपर उसके विराट् स्वरूपका कुछ न कुछ अधिष्ठान अवश्य निर्धारित किया जा सकता है, जैसे—काव्यको साहित्यका दर्शन ही माना जा सकता है और इस आधारपर उसे कला-तत्त्व तथा समीक्षासे भिन्न समझा जा सकता है। साहित्यमें महाकाव्य तथा लोक-साहित्य दो ऐसे रूप हैं, जिनसे हम मानव-जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंके साथ भाषाकी गतिके सम्बन्धमें भी अत्यन्त उपयोगी ज्ञान संग्रह कर सकते हैं। किन्तु जबसे कवियों और समीक्षकोंने काव्यको कल्पनाका अधिक आधार बनाना प्रारम्भ किया तबसे उसका वह महदुद्देश्य भी शिथिल हो गया। क्षेनोफनेस् और हिरेक्लितसने कहा था कि दर्शनमें सत्य और ज्ञान है तथा साहित्यमें जनमतका संघर्ष। इसका तात्पर्य यही था कि साहित्य और दर्शन दोनों एक दूसरेके प्रतिद्वन्द्वी हैं। यह मत अफ़लातून (प्लेटो)के समयमें ही इतना पुराना पड़ चुका था कि साहित्य-सिद्धान्तके सम्बन्धमें अरस्तू और अफ़लातूनने मौलिक रचनाका विरोध करते हुए कहा था कि 'साहित्यिक कलाकारको केवल अनुकरण करना चाहिए।' अफ़लातून और अरस्तूका यह मत बहुत पीछे-तक भी माना जाता रहा किन्तु आगे चलकर उनके विचारोंको तोड़-मरोड़-कर उनके इतने अर्थ लगा लिए गए कि उसका मूल रूप ही लुप्त हो गया। हौरेसका मत था कि 'साहित्यका उद्देश्य व्यवहार सिखाना, ज्ञान देना और शिक्षा देना है।' उसका कथन है—'कविका उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह आनन्दप्रद और उपादेय तत्त्वोंका उचित सम्मिश्रण करे। प्लूतार्कका

भी यही मत था कि 'काव्यका उद्देश्य शिक्षा देना है और पाठकका भी यह उद्देश्य होना चाहिए कि वह साहित्यमेंसे अच्छे गुण ग्रहण कर ले और उसमें आई हुई समस्त बुरी बातोंको निकाल फेंके। लौंगिनसका मत है 'कि साहित्य (मुख्यतः भाषण-कला) तो ऐसे श्रेष्ठात्माओंके श्रेष्ठ विचारोंकी अभिव्यक्ति है जो मनुष्यके मस्तिष्कको महत्ताकी ओर प्रवृत्त करती है और हमें देवताओं तथा वीरोंके सम्बन्धमें उद्वृत्त (सब्लाइम) विचार प्रदान करती है।' इस संपूर्ण कलाका आधार तो भाषा ही है। अतः, इसका अर्थ यही है कि भाषामें ऐसा प्रभाव भरा जाय कि वह इस इष्ट उद्देश्यकी पूर्ति करे। अरस्तूके मतका एक पक्ष यह है कि 'साहित्यमें प्रकृतिका अनुकरण होना चाहिए अर्थात् उसमें वस्तुओंकी वास्तविकता दिखानी चाहिए किन्तु अनुकरण तो स्वयं विद्यमान वास्तविकताके अज्ञेय प्रतिकरण या भ्रांत स्वरूप हैं। रोम-साम्राज्यमें भी कलाके सम्बन्धमें यही मत प्रचलित था और तभीसे यह सिद्ध करनेके लिये कि 'अनुकरणमें क्या बात कितनी सटीक होती है,' यह कहा गया कि 'अनुकरणमें जो बात व्यक्त की जाय वह सत्यसे अधिकाधिक मिलती-जुलती होनी चाहिए; अर्थात् जिन वस्तुओं या मानवीय क्रियाओंका विवरण दिया जाय वह प्रामाणिक सत्य होना चाहिए।' सिडनी आदि भी यही मानते थे और जिन समीक्षकोंने यह कहा है कि 'काव्य तो जीवनके अनुकूल ही होना चाहिए,' वे भी इसी विचारकी पुष्टि करते हैं। जिस प्रकारका अनुकरण हमें सदा नई प्रकारकी रचनाएँ प्रदान करता हो और जिसमेंसे सदा नये-नये विचार उत्पन्न होते हों, ऐसी रचनाके लिये केवल अनुकरणात्मक वृत्ति ही पर्याप्त नहीं है। उसके लिये कुछ ऐसे कौशलकी अवश्यकता होती है जो उतना अनुकरणात्मक नहीं होता जितना कल्पनात्मक होता है।' त्यानाके अपोलोनियसने इसी 'पूर्व कल्पना'के आधारपर कहा है कि 'कल्पना (.फैन्टेज़िया) की प्रेरणासे अपना काव्य-चातुर्य अधिक बुद्धिसंगत कर लेना चाहिए।' इस प्रकार कल्पनाके संयोगसे काव्य-गुणके सम्वर्द्धनका सुझाव देते हुए उसने कहा है 'कल्पना ही ऐसी शक्ति है जिसके सहारे हम अदृष्ट वस्तुको भी प्रत्यक्षके समान देख सकते हैं।' सिसरोका मत है कि 'कविके मस्तिष्कमें काव्य लिखनेसे पहले अपने इष्ट नेताका मूर्त रूप आ ही जाता है।' किन्तु उसे यह भी कहना चाहिए था कि कविके मस्तिष्कमें अपने पात्रोंके मुखसे बोले जानेवाले शब्दों, वाक्यों और अभिव्यंजना-शैलियोंके रूप भी आ जाते हैं। इसीलिये दियोक्रुसोस्तमने कहा था कि

'आदर्श प्रतिकृति तबतक स्पष्ट नहीं होती जब तक कलाकार ही उसे रूप देकर पूर्ण न कर दे।' इस दृष्टिसे अनुकरण और कल्पना संपूर्ण भाषात्मक कला (साहित्य) के वास्तविक आधार माने गए हैं।

किसी साहित्यिक वस्तुकी रचना करनेकी प्रक्रियामें साहित्यिक सामग्रीको क्रमबद्ध करने और भाषा-शैली स्थिर करनेका कौशल सबसे अधिक आवश्यक है। हमारे यहाँ तो पहले ही रचयिताको 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' कह दिया गया पर योरपमें मध्ययुगमें दो कारणोंसे कविको रचयिता माना गया— (१) कवि केवल मानसिक बिम्ब ही नहीं प्रस्तुत करता वरन् उसके साथ-साथ (२) अपनी भावनाओंका तत्त्व भी (भाषाके माध्यमसे) प्रकट करता है।

कवियोंमें यह प्रवृत्ति रही है कि वे विशेष भाषा-शैलीके माध्यमसे भावात्मक और आध्यात्मिक वास्तविकताओंको रूपक और दृश्यात्मकताके द्वारा भौतिक बिम्बके रूपमें प्रस्तुत करते रहे हैं। साहित्यिक रूपोंकी दृष्टिसे वे इसीलिये अनुपयुक्त हैं कि कल्पनाके प्रभावसे उनकी आध्यात्मिक शक्ति कुछ आवृत हो जाती है और उनकी उपयुक्तता आध्यात्मिकतासे हटकर वास्तविक संसारके भावात्मक उत्थानकी ओर मुड़ जाती है। मध्यकालीन विचारक कल्पनाके अवास्तविक प्रयोगमें जो दोष समझते थे वह रूपक और दृश्यात्मकता-द्वारा दूर कर दिया जाता था। संत औगस्टाइनने स्वीकार किया है कि 'कविको उपदेशक समझना अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है।' उसके इस मतका समर्थन बहुतसे विद्वानोंने किया है। बोकेशियोने कहा है कि 'पिछले कई सौ वर्षोंसे विद्वान् लोग यही मानते आ रहे हैं कि साहित्यका उद्देश्य शिक्षा देना है।' इसका तात्पर्य यह है कि काव्य शुद्ध सामाजिक प्रक्रिया है। किन्तु साथ ही वह यह भी मानता है कि 'साहित्यिक कलाकार केवल कल्पनाशील ही नहीं वरन् दार्शनिक और ज्ञानका प्रेमी भी होता है क्योंकि वह सब प्रकारके रूपों और उनके कारणोंका व्याख्याता होता है। इस दृष्टिसे 'कविता एक प्रकारका वह धर्मशास्त्र है जिसके द्वारा दैवी प्रेरणासे सम्पुष्ट कवि मानव-समाजके हितके लिये अनेक गुप्त रहस्योंका भेदन भी करता है।' पेत्रार्कने भी कविताको यही सम्मान देते हुए और धर्म-विज्ञानके साथ उसका नाता जोड़ते हुए कहा है कि 'कविता गिरजाघरके धार्मिक प्रवचनोंके लिये अत्यन्त लाभकर और सहायक सिद्ध हो सकती है।' जागरणकाल (१५वीं शती) के साहित्यिक समीक्ष्यवादियोंने कुछ थोड़े हेरफेरके साथ इन्हीं विचारोंकी आवृत्ति की है। देकार्त, हौब्स और बीचोने कल्पनाको ऐसी शक्ति

माना है जो स्वयं अपनेमें पूर्ण और आध्यात्मिक दृष्टिसे शुद्ध होती है। उनका कहना है कि 'कविताको किन्हीं श्रेणियोंमें विभक्त नहीं करना चाहिए। कविताको तो उसी प्रकारकी प्रेरणा मानना चाहिए जैसा स्वयं-स्फुरण होता है।' इस दृष्टिसे उसने भी काव्यका सम्प्रेक्षण सामाजिक दृष्टिसे ही किया है। हौब्सने इस कविताको कुछ और व्यापक करके सम्बद्ध विचारोंके क्षेत्रमें स्वतन्त्रता प्रदान करते हुए कहा है कि 'कल्पना वह उदार क्षेत्र है जिसमें कवि अपनी कविताको साधारण श्रेणीकी रूढियोंसे परे पहुँचा देता है।' ब्रालोका मत है कि 'सहसा उत्पन्न होनेवाली कल्पना तभीतक उन नियमोंके द्वारा संचालित होनी चाहिए जबतक कोई साहित्यिक कृति किसी निश्चित बौद्धिक क्रममें उपस्थित न हो जाय।' इसी मतके कारण स्वाभाविक प्रतिभा और रूढिगत कलाका विवाद छिड़ गया। स्पेन्सर-से लेकर आगेतकके सब लेखकोंने इन तुलनात्मक सिद्धान्तोंकी विभिन्न प्रकारसे व्याख्या की। पोपने कहा कि 'साहित्य-कला तो केवल मानव-प्रकृतिका अनुकरण मात्र है', अर्थात् किसी एक विशेष समयके समाज और जीवनके सार्वभौम और बुद्धिसंगत तत्त्वको ही साहित्य-कला मानना चाहिए। उनका मत है कि 'भाव और विवेक सब देशोंमें समान होते हैं, अतः, वे सदा, सब स्थानोंपर समान रूपसे मान्य और उदारणीय होंगे। फिर भी भावोंके नये सम्बन्ध खोज निकालनेकी गतिशील शक्तिके सहारे ऐसे विचार और अर्थ निकल सकते हैं जो आजतक कभी प्रकृतिमें उपस्थित ही नहीं हुए। रुचिकी शक्तिके सहारे साहित्यिक रचनाओंके रूप और विषय दोनोंमें सार्वभौम सौन्दर्यका दर्शन किया जा सकता है।' आजकलका आदर्शात्मक दर्शन यह चाहता है कि—'साहित्य बुद्धिसंगत रूपसे आध्यात्मिक संसारका रूप बतावे और उसकी व्याख्या करे' अर्थात् साहित्य ऐसा साधन बने जिसके द्वारा स्वतन्त्र अनुभवका क्षेत्र ज्ञानेन्द्रियोंके स्तरपर गोचर हो जाय। कांटका मत है कि 'कल्पना वह ज्ञानशक्ति है जो इस प्रकार रचना करती है मानो वास्तविक प्रकृति-द्वारा प्रस्तुत सामग्रीमेंसे उत्पन्न हुई दूसरी प्रकृति हो। हमारे ज्ञानकी विभिन्न शक्तियाँ जब किसी वस्तु या पदार्थको समझनेके लिये प्रयुक्त की जाती हैं तब वे उस वस्तु या पदार्थको भली-भाँति समझनेके गम्भीर कार्यकी स्पर्धा करनेके लिये उस कल्पनाको स्वतन्त्र छोड़ देती हैं जो इतनी पूर्ण होती है कि स्वयं प्रकृतिमें भी उसके समान कोई वस्तु नहीं रहती।' इससे ठीक विपरीत दिशामें विचार करते

हुए शिलरने कहा है कि 'कल्पनाका उच्चतम उद्देश्य यह है कि वह इन्द्रियातीत वास्तविकताको इस प्रकार प्रस्तुत करे कि हम उसकी प्रकृतिकी ठीक-ठीक खोज कर सकें।' प्रस्तुत करनेकी यह क्रिया मनुष्यके भीतर रहनेवाली वह परा शक्ति है जिसे हम पूर्ण चेतनता कह सकते हैं। शिलर और शैलिंग दोनों इस संसारको ही कलाकृति मानते हैं और शैलिगने तो कलाकी भावनाको अपनी दार्शनिक प्रणालीका एक अंग ही मान लिया है। उसके अनुसार 'साहित्य तो अपने रूपमें ससीम और निःसीमके बीचका मध्यबिन्दु अर्थात् वह केन्द्र है जहाँ आत्मा और सांसारिक पदार्थ दोनोंका एकीकरण हो जाता है।' गेटेका मत है कि 'कविता वह स्वतःप्रवाहित कल्पनाकी सृष्टि है जो सार्वभौम युक्ति-संगतताके उच्च स्तरतक पहुँच जाती है और मनुष्य-मात्रको सार्वभौम मानवकी दृष्टिसे उपदेश देती है। उस समय साहित्यिक कलाकार उच्चतम गोचर रूप धारण करनेके लिये सम्पूर्ण प्रकृतिको आत्मसात् कर लेता है।' नोवालिसका मत है कि 'कविता वास्तवमें पूर्ण तथ्य है।' हेगेलका मत है कि 'साहित्य वह धारा है जिसमें पूर्ण आत्मा कलाकी सुन्दरतामें अभिव्यक्त होता है अर्थात् जहाँ पदार्थपर आत्माका शासन होता है, जहाँ गोचर बिम्बका प्रयोग करके आत्माका प्रत्यक्षीकरण किया जाता है और जहाँ मानसिक बिम्ब भी सामग्रीके रूपमें ज्योंका त्यों बना रहता है।' श्लेगलका मत है कि 'साहित्यमें जो सार्वभौम तथ्य दिखाई पड़ता है वह उन विशेष रचनाओंके सामञ्जस्यमें उत्पन्न होता है जिनके द्वारा कोई एक युग या राष्ट्र अपनी अभिव्यक्ति करता है।' शोलगेरका कथन है कि 'साहित्य तो सार्वभौम विश्व-विचार है जो कलाकारकी अतिचेतनामें प्रकट होता है और उसके विभिन्न रूप उसी क्रमसे निश्चित रहते हैं जिस परिमाणमें वह पूर्ण तथ्यों और उसके विभिन्न रूपोंमें सन्तुलित होता है।' इस सिद्धान्तका अधिक स्पष्ट प्रयोग बैलिन्स्कीने किया है जो विश्व-साहित्यका अस्तित्व मानते हुए राष्ट्रीय साहित्याक भी अस्तित्व मानता है।

विश्व-साहित्य

§ ३५२. भाषाके माध्यमसे साहित्य समस्त सामाजिक भावनाओंका अभिव्यंजन और पोषण करता है।

भाषाकी महत्ताकी दृष्टिसे विश्व-साहित्यके सम्बन्धमें बैलिन्स्कीकी धारणा है कि 'शब्दके राज्यमें मानवीय चेतनताकी अभिव्यक्ति ही विश्व-साहित्य है।'

विश्व-साहित्यकी एक व्याख्या वर्गवादी सिद्धान्त-पत्र (कौम्युनिस्ट मैनीफ़ेस्टो)-में भी प्राप्त होती है। टेनके विचारोंमें विकास और विज्ञानका प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। वह कहता है—'साहित्य उस चेतनाका प्रस्तरीभूत अवशेष है जिसे किसी जाति, परिस्थिति और युगने या उस प्रकारकी परिस्थितिने उत्पन्न किया हो जिससे एमील ज़ोलाके प्रयोगात्मक उपन्यासकी सृष्टि हुई है।' सार्वभौम सहयोगसे उपन्यासमें सामाजिक संघटनोंके वे तत्त्व इकट्ठे किए जा सकते हैं जिससे चरित्र-निर्माणके नियम बनाए जा सकें। इस प्रकार साहित्य वह क्षेत्र है जिसमें कौम्टेके मतानुसार 'विचारकी तृतीय श्रेणीकी छानबीन की जा सके।' इस प्रकार भाषाके माध्यमसे प्रकट होनेवाला संपूर्ण साहित्य मनुष्यकी सामाजिक भावनाकी अभिव्यंजना करके उसकी वृत्तियोंका पोषण करती रहती है।

आजकलके विशेष मान्य सिद्धान्तोंमें बर्गसनका यह मत अत्यन्त प्रसिद्ध है कि—'यद्यपि बौद्धिक विचार तथा इन्द्रियानुभवके माध्यमसे काम करनेकी आवश्यकताके द्वारा साहित्यका वास्तविक रूप हमसे छिपा रहता है तथापि साहित्य वास्तवमें सत्यताकी आत्म-प्रेरणाको उद्‌बुद्ध करता है।' नीत्शेका मत है कि 'शौपेनहावरके संगीतज्ञकी अपेक्षा कवि अधिक उपादेय है। इस भ्रमको सुलझानेके लिये कलाकी आवश्यकता होती ही है कि हम दर्शनकी सहायतासे सत्यका रहस्य समझ सकते हैं और कवि वही है जो ऐसे स्वप्नोंकी वास्तविकता प्रकट कर सके और दृश्यमान जगत्‌के अंतरालमें छिपे हुए सत्यको व्यक्त कर सके।' साहित्यमें सामाजिक सिद्धान्त माननेवाले लोग साहित्यको वास्तवमें जनताकी संस्कृतिका एक अंग समझते हैं और उसके समीक्षात्मक सिद्धान्तोंको उपेक्षा करके उसका केवल बाह्य तत्त्व ही स्वीकार करते हैं।

अतः, उपर्यंकित अनेक कवियों, लेखकों, समीक्षकों और विचारकोंके मतोंका मन्थन करनेसे सह स्पष्ट हो जाता है कि भाषाके माध्यमसे जिस तत्त्वकी अभिव्यक्ति होती है वह मानव-समाज है और इस दृष्टिसे भाषा और मानव-समाजका अत्यन्त घनिष्ठ और एकनिष्ठ सम्बन्ध है। इसका अर्थ यह है कि भाषा शुद्ध सामाजिक प्रक्रिया है जिसका प्रयोग मनुष्यको अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों तथा सामाजिक बन्धनोंके निर्वाहके लिये करना ही पड़ता है। भाषाने चाहे श्रुति या अनुश्रुतिके द्वारा अनेक पीढ़ियोंके ज्ञान और अनुभवको साहित्यके रूपमें सुरक्षित रक्खा हो किन्तु उससे भी अधिक सत्य यह

है कि मानव-समाजको चिरजीवन प्रदान करनेका सम्पूर्ण श्रेय भाषा या वाणीको ही है।

व्यक्तिगत और सामाजिक वाणी

§ ३५३. चिन्तनशील होते चलनेसे मनुष्यकी वाणी व्यक्तिगत भी हो चली।

वाणीका प्रारम्भिक रूप तो पूर्णतः सामाजिक ही था किन्तु जैसे-जैसे मनुष्यकी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी और चिन्तन-प्रधान होती गईं वैसे-वैसे मनुष्यकी व्यक्तिगत भावाभिव्यञ्जना उसके मानसिक, सामाजिक, नैतिक, भावात्मक और साहित्यिक संस्कारके अनुसार गद्य, पद्य; चम्पू, गीत आदि अनेक रूपोंमें, शब्द और अर्थपर अधिकारके अनुसार अनेक भाषा-शैलियों और भाव-शैलियोंमें, कल्पना-शक्तिकी प्रौढताके अनुरूप अनेक रूप-शैलियोंमें और प्रातिभ ज्ञानकी सम्पन्नताके अनुसार अनेक अभिव्यक्ति-कौशलोंमें कभी स्वतः अपनी ओरसे, कभी किसी कल्पित पात्रको माध्यम बनाकर और कभी व्यंग्य शैली या अन्योक्ति आदिके द्वारा भाषाको श्रुति-मधुर शब्दों तथा अलंकार, ध्वनि और शब्द-शक्तियोंके संयोजनसे आकर्षक बनाकर सम्पूर्ण समाजके लिये हृद्य बनती चली गई।

इस प्रयासमें एक ओर मानव-जीवन और समाज-हितसे सम्बद्ध आयुर्वेद, रणनीति, धर्म-शास्त्र, संगीत, पालिकाप्य (हाथी पालनेकी विद्या), शालिहोत्र (घोड़े पालनेकी विद्या), रत्न-शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र, रस-शास्त्र आदि अनेक व्यावहारिक शास्त्रोंकी रचना की गई और दूसरी ओर चिन्तनशील महापुरुषोंने वेद, उपनिषद्, दर्शन आदिकी सृष्टि करके ऐकान्तिक उदात्त चिन्तनकी परम्पराका प्रवर्तन किया। यद्यपि ये सब प्रवृत्तियाँ शुद्ध रूपसे व्यक्तिगत थीं और इनमेंसे कुछकी रचना स्वान्तःसुखाय भी की गई जिसके रचयिताके मनमें यश, अर्थ, अनिष्ट-विनाश, मुक्ति या उपदेशकी कोई भावना नहीं थी, फिर भी जिन अन्य व्यक्तियोंने उसे सुना, उसका पारायण या अनुशीलन किया और उसे समाजके लिये हितकर समझा उसका उन्होंने प्रचार किया, परिचय दिया, विवेचन किया, उसपर भाष्य लिखा, टीकाएँ लिखीं और इस प्रकार उसकी चिन्तन-परम्परा, विचार-परम्परा और अभिव्यक्ति-परम्पराको चेतन, सशक्त, सजग और सजीव बनाए रखनेमें निरन्तर योग दिया। इस प्रकार वाणीके

विलास और चिन्तनके क्षेत्रमें जितना कुछ व्यक्तिगत वाक्प्रयास हुआ वह सबका सब प्रकृतितः और व्यवहारतः सामाजिक ही है।

पूर्वसंचित ज्ञानकी रक्षा

§ ३५४. पूर्वसंचित ज्ञानकी रक्षाके लिये भी भाषाका प्रयोग हुआ।

कुछ व्यक्तियोंने केवल ज्ञानकी रक्षाके लिये अथवा अपने और दूसरोंके अनुभवोंको अपने व्यक्तिगत हितके लिये भी सुरक्षित किया और कुछने पूर्वजोंके ज्ञानको सुरक्षित रखनेकी भावनासे ही आनुश्रौतिक परम्पराके द्वारा ज्ञानकी किसी विशेष शाखाकी परम्पराको जिलाए रक्खा। उन्होंने यद्यपि उस ज्ञानमें अपनी ओरसे कुछ भी जोड़ा नहीं तथापि व्यक्तिगत साधनाके द्वारा उस ज्ञानको सुरक्षित रखनेमें उन्होंने सहायता अवश्य दी। वाणीके क्षेत्रमें इस प्रकारकी व्यक्तिगत साधना भी सामाजिक दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन ज्ञान और अनुभवको सुरक्षित रखनेमें भाषासे बढ़कर कोई दूसरा सशक्त और प्रौढ साधन नहीं है।

संसारमें चीन राष्ट्रके जन्मदाता चिन-शी-ह्वाङ्-ती-जैसे कुछ मूढ व्यक्ति भी हुए हैं जिन्होंने अपने समयके सब विद्वानोंको इसलिये तलवारके घाट उतार दिया और सब प्राप्य पुस्तकें इसलिये नष्ट करा डालीं कि जिससे आगामी पीढ़ीको यही ज्ञात हो कि ज्ञान, संस्कृति, सभ्यता और विद्याका श्रीगणेश चिन-शी-ह्वाङ्-तीने ही किया। इसी श्रेणीमें वे सब लोग भी आते हैं जो अनेक विद्याओंका ज्ञान और रहस्य प्राप्त करके उन्हें किसीको सिखाए और बताए बिना इस संसारसे चल देते हैं। इस प्रकारके सभी स्वार्थी लोगोंका वाक्-सम्बन्धी समस्त आयास निरर्थक, निष्प्रयोजन और असामाजिक होता है। इसी श्रेणीमें पुस्तक-भारवाही गर्दभके समान वे लोग भी आते हैं जो अनेक विद्याओंमें पारंगत होते हुए भी उन्हें न दूसरोंको सिखाते हैं न लेख रूपमें उन्हें छोड़ जाते हैं।

रूढ सामाजिक वाग्व्यापार

§ ३५५. कुछ सामाजिक वाग्व्यवहार रूढ होता है।

जैसा कि बताया जा चुका है, वाणीका प्रयोग शुद्ध सामाजिक क्रिया है और यह क्रिया मुख्यतः मौखिक और गौणतः लिखित है। मौखिक सामाजिक भाषाके भी दो स्पष्ट रूप हैं; एक है रूढ और दूसरा है अवसरोचित।

समाजके सबसे छोटे और प्राथमिक अंग परिवारमें अपनेसे बड़ों और छोटोंके लिये सम्बोधन और बड़ों और छोटोंके सामान्य सम्बोधनोंके उत्तर,

घरमें भोजन तथा अन्य कार्योंके लिये प्रयुक्त होनेवाली शब्दावली, क्रोधके समय कहे जानेवाले दुर्वचन, स्नेहमें पुकारे जानेवाले सम्बोधन और विशेषण सब रूढ होते हैं। इसी प्रकार अपने पास-पड़ोसके बड़े-बूढ़ों, साथियों और अवस्थाओंमें छोटे लोगोंके लिये सम्बोधन, विशेषण और शिष्टाचार-सम्बन्धी वाग्व्यवहार सब रूढ हो जाते हैं। ये सभी भाषाके रूढ प्रयोग सामाजिक भाषा-संस्कारके अंग होते हैं। अभ्यागतके सत्कार, पारस्परिक वार्तालापके शिष्टाचार, उस सम्पूर्ण शिष्टाचारके साथ प्रयुक्त किए जानेवाले अंग-संचालनकी क्रियाएँ, सभाओंमें अभ्यागतोंके स्वागत-सत्कारकी भाषा-शैली, सभापति तथा सदस्योंको सम्बोधित की जानेवाली शब्दावली और भाषा-प्रक्रिया, सभापतिको सम्बोधित करके प्रस्ताव उपस्थित करने, उसका अनुमोदन और समर्थन करने, प्रस्तावपर सम्मति माँगने और सभापति बनानेपर कृतज्ञताके साथ दैन्य तथा आभार प्रकट करते हुए अपनी अक्षमता, प्रस्तावकोंकी उदारता तथा अन्य किसी योग्य व्यक्तिको चुननेकी कामना आदिका सम्पूर्ण मिथ्या वाक्प्रदर्शन सब रूढ वाक्-शिष्टाचार होता है। राजसभाओंमें भी अपने स्वामी या आश्रयदाताके प्रति इसी प्रकारका रूढ वाक्-शिष्टाचार चलता था और अब भी विधान-सभाओं तथा संसदोंमें इस प्रकारके वाक्-शिष्टाचारके पालनकी प्रथा भी है तथा सदस्योंसे उस प्रकारके व्यवहारकी आशा भी की जाती है। यद्यपि लोक-तंत्रमें कुछ संस्कार-हीन व्यक्ति उस वाक्-शिष्टाचारका पालन नहीं करते तथापि उसकी रूढि, परम्परा और व्यवस्था तो बनी ही रहती है।

अवसरोचित तथा अरूढ सामाजिक वाग्व्यवहार

§ ३५६. सामान्य सामाजिक वाग्व्यवहारकी भाषा संबोध्यकी प्रकृतिके अनुसार अरूढ तथा अवसरोचित होती है।

पीछे (§ १८४, ३२४) यह बताया जा चुका है कि मनुष्यकी प्रत्येक वाक्-प्रक्रियाको मनकी स्थितिसे जो प्रेरणा मिलती है उसी प्रेरणाके फल-स्वरूप वह सोचता, विचारता तथा अवसरके अनुकूल अपने स्वभाव, प्रकृति और अवस्था तथा संबोध्यकी योग्यता और उसके पदके अनुसार शब्दोंका चयन करके अपनी योग्यताके अनुसार विशिष्ट शैलीमें बात करता है।

कुछ ऐसी भी परिस्थितियाँ होती हैं जिनमें मनकी प्रेरणा उतनी नहीं होती जितनी बुद्धि-कौशल और चातुर्यकी। जब बच्चे अपनी नानी या

दादीसे कोई कहानी सुनानेका अनुरोध करते हैं अथवा कोई राजा अपने किसी सभासद्, विदूषक या कथाकारसे चुटकुले या कहानी कहने अथवा किसी वन्दीजन, चारण या भाटसे अपने कुलगौरव या शौर्यकी गाथा सुनानेके लिये आदेश देता है उस समय वक्ता अपने वर्ण्य विषय (कहानी या कुलगौरव) को ऐसी मधुर, कलात्मक, कौशलपूर्ण तथा आकर्षक शैलीमें उसे सुनाता है कि श्रोताको मनोरंजनके साथ-साथ उस कथाके नैतिक तत्त्वका विभावन भी होता रहता है। अधोलिखित दोहा इसी प्रकारकी अभिव्यंजना-शैली और नैतिक विभावनकी अभिव्यंजनाका उदाहरण है—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही तें बँध्यों, आगे कौन हवाल॥

बाल-वधूके मोहपाशमें बँधे हुए राजा जयसाहिको राजकर्तव्यकी प्रेरणा देनेवाला यह दोहा स्वयं अपनी प्रयोजनताके लिये मुखर है। इस प्रकारकी उक्तियों, अन्योक्तियों, समासोक्तियों, चुटकुलों और कहानियोंके कहनेवालोंका अपना कथन-कौशल था जो रूढ न होकर प्रत्यक कहानी कहनेवालेके अनुसार अलग-अलग होता था। आज भी सभी देशोंके गाँवों और नगरोंमें और सभी भाषाओंमें ऐसे कुशल कहानी कहनेवालों, चुटकुले सुनानेवालों और गल्पकारोंकी प्रचुरता है जो ऐसे रसीले ढंगसे, ऐसी रसीली बातें और कहानियाँ कहने लगते हैं कि सुननेवाले साँस रोककर, मन्त्रमुग्ध होकर उनकी बातें सुनते चले जाते हैं और सुनते अघाते नहीं। यह व्यक्तिगत वाक्कौशल इस दृष्टिसे सामाजिक है कि इसके द्वारा या इसका लक्ष्य समाजको या औरोंको हँसाना, प्रसन्न रखना, अनुरञ्जित करना तथा मोदमग्न या रसमग्न करना होता है।

वार्तालाप

§ ३५७. वाग्व्यवहारका अधिक व्यापक सामाजिक रूप वार्त्तालाप है।

सामाजिक वाग्व्यवहारका तीसरा वह रूप है जिसमें दो या दोसे अधिक व्यक्ति परस्पर स्नेहपूर्ण, आत्मीयतापूर्ण, निर्लिप्त भावसे समाजकी, देशकी, राष्ट्रकी अथवा किसी सामाजिक या पारिवारिक समस्याकी मीमांसा करते, उसपर मनोरंजक टीका-टिप्पणी करते, उसकी खिल्ली उड़ाते, उसपर फबतियाँ कसते और इस प्रकार उस वार्तालापका आनन्दमय रसमय ग्रथन करते हैं। इस रसमय वार्तालापके अन्तर्गत राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक,

व्यावसायिक या व्यक्तिगत समस्याओंपर चिन्तन और विचार-विमर्शपूर्ण नीरस विचार नहीं किया जाता क्योंकि उस प्रकारके गम्भीर विषयोंमें वार्तालापकी सरसता विद्यमान न होकर चिन्तन और गम्भीर परामर्शकी नीरसता व्याप्त रहती है। अतः, उन्मुक्त वार्तालापमें सरसता लानेकी भी अपनी अलग कला होती है। इसीलिये योरप और अमरीकामें बातचीत या वार्तालापको भी वाणीकी कला माना गया है, यहाँतक कि 'वार्तालापकी कला' (आर्ट ऑफ़ कनवर्सेशन) सिखानेके लिये बहुतसे विद्यालय भी चल रहे हैं जहाँ मेधावी वार्तालाप-शास्त्रियोंको सुन्दर उक्तियाँ, चुटकुले, दृष्टान्त, उदाहरण, कथाएँ और घटनाएँ इस प्रकार सिखा दी जाती हैं कि किसी प्रकारका भी अवसर आनेपर वे अपने उस संचित भांडारमेंसे आवश्यक सामग्री निकालकर यथावसर यथोचित प्रयोग कर सकें। प्रायः, प्रत्येक समाजमें इस प्रकारके लोग मिल ही जाते हैं जो इस कौशलमें पारंगत होते हैं कि किसी प्रकारके समाजको भी बातचीतमें उलझाए रक्खें, ऊबने न दें और इस प्रकार उन्हें मन्त्रमुग्ध किए रक्खें कि वे वहाँसे उठने-तकका नाम न लें।

भाषण

§ ३५८. वाग्व्यापारका सर्वोत्कृष्ट सामाजिक रूप भाषण-कला है।

अत्यन्त प्राचीन कालसे ही मौखिक वाग्व्यापारकी पराकाष्ठा भाषणमें ही समझी जाती थी। भारतवर्षमें भाषणकी प्रसिद्धि उस रूपमें प्रकट और ज्ञात नहीं हुई जिस रूपमें वह सिसरोकालीन रोममें या ऐन्तोनी-कालीन यूनानमें थी। उस समय उन योरोपीय देशोंमे शिष्ट पुरुषको सिखाई जाने वाली सात उदार कलाओंमें भाषण-कलाका भी समावेश था और इसीलिये लगभग ६०० ई० पू० से १६०० ई० तक योरपमें प्रसिद्ध भाषण-कलाविद् सिसरोकी ही धूम मची रही। वास्तवमें लोक-व्याख्यान, लोक-वक्तृता या लोक-भाषणकी परम्परा लोकतंत्रमें ही उत्पन्न और पल्लवित हो सकती है जहाँ प्रत्येक महत्त्वाकांक्षी लोकनायकको अपने दलका महत्त्व या अधिमतत्त्व स्थापित करनेके लिये लोक-भाषण-शैलीका पंडित होना अनिवार्य होता था। भारतवर्षमें भी यह कला महामना पंडित मदनमोहन मालवीय, सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, डाक्टर एनी बेसेन्ट, श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्रीनिवास शास्त्री थया सर राधाकृष्णन् जैसे महापुरुषोंकी वाणीमें पल्लवित हुई क्योंकि अँगरेज़ी राज्यमें कांग्रेसके मंचसे स्वतंत्र अभिव्यक्तिके लिये मार्ग खुल गया था अन्यथा

भाषण-कलाका क्षेत्र मुख्यतः धार्मिक मंच, दार्शनिक शास्त्रार्थ-गोष्ठी और कथा वाचन-तक ही परिमित था। भारतमें शास्त्रार्थकी पद्धतिका अत्यन्त प्रचार होनेके कारण तर्क-शास्त्रका अध्ययन आवश्यक हो गया था और हमारे यहाँ यह उक्ति ही प्रसिद्ध हो गई थी—

अवैयाकरणास्त्वन्धः बधिरः कोशवर्जितः।
साहित्यरहितः पङ्गुर्मूकस्तर्कविवर्जितः॥

[जो व्याकरण नहीं जानता वह अंधा है, जिसे कोश कण्ठस्थ नहीं है वह बहरा है, जिसे साहित्य (काव्य-शास्त्र) का ज्ञान नहीं है वह लँगड़ा है और जो तर्क-शास्त्रसे अपरिचित है वह गूँगा है।] इस शास्त्रार्थ-पद्धतिके अतिरिक्त राजसभाओं, पंडित-सभाओं और जनसाधारणकी सभाओंमें भी वाणीके संयत और मधुर प्रयोगकी अत्यन्त प्रशंसनीय परम्परा रही है। इसीलिये कहा गया था—

तास्तु वाचः सभायोग्याः या चित्ताकर्षणक्षमाः।
स्वेषां परेषां सर्वेषां विदुषामविदुषामपि॥

[वे ही भाषा-प्रयोग सभामें प्रयुक्त होनेके योग्य हैं जो अपनों, परायों, विद्वानों और मूर्खों सबका चित्त आकृष्ट करनेवाले हों।] इस प्रकारके वाक्कौशलके अपने विशेष लक्षण और गुण होते हैं।

रोम-वासियोंकी दृष्टिमें व्याख्याता ही संस्कृति और शिक्षाका प्रतीक था। रोमके भाषण-कला-विद्यालयोंमें नियमित रूपसे तीन गुणोंसे युक्त भाषण सिखाए जाते थे—स्पष्ट, युक्तियुक्त और प्रशंसापूर्ण।

१. स्पष्ट भाषणका अर्थ यह था कि जो बात कही जाय उसे श्रोता ठीक-ठीक समझ सकें। उसमें किसी प्रकारकी ऐसी भाषाकी जटिलता न हो जिससे भाषणका तात्पर्य समझनेमें श्रोताओंको कठिनाई हो।

२. युक्तियुक्त भाषणमें तर्क और युक्तिके द्वारा अपने विचार या पक्षका समर्थन और विरोधियोंके विचार या पक्षका खंडन किया जाता था।

३. प्रशंसापूर्ण भाषणोंमें लच्छेदार, अलंकृत तथा अतिशयोक्तिपूर्ण भाषामें किसी वीर या महापुरुषके गुणोंकी प्रशंसाके पुल बाँधे जाते थे। उन दिनों अथेन्स, स्पार्ता और रोममें यह प्रथा थी कि जब कोई वीर युद्धमें जीतकर आता था तब सार्वजनिक सभास्थलपर उसका सम्मान किया जाता

था और उसके सिरपर जैतूनके पत्तोंका मुकुट रक्खा जाता था। उस समय अत्यन्त कलात्मक भाषामें उसकी प्रशंसा की जाती थी और अत्यन्त उदात्त शैलीमें उसका गुण-गान किया जाता था।

सार्वजनिक जीवनमें भाषणका इतना महत्त्व होनेके कारण व्याख्यान-कला-विद्यालयोंमें इस बातपर विशेष ध्यान दिया जाने लगा कि भाषण-कला सीखनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको भाषणके विषय, क्रम, शैली, स्मृति और भाषा-प्रवाहका ठीक ज्ञान हो। हमारे यहाँ सुसंस्कृता वाणीको ही मनुष्यका सबसे बड़ा अलंकार माना गया है—

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वलाः
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमैश्चालंकृता मूर्धजाः।
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्॥

[मनुष्यका शृंगार न केयूरसे होता न चन्द्रमाके समान चमकीले हारसे होता और न स्नान तथा विलेपनसे होता। अच्छी मँजी हुई और सुसंस्कृत वाणी ही मनुष्य का एक मात्र अलंकार है क्योंकि अन्य अलंकार तो नष्ट भी हो जाते हैं किन्तु वाग्भूषण सदा बना रहता है।]

फिर भी हमारे देशमें भाषण-कला सिखानेके लिये कभी किसी प्रकारका व्यक्तिगत, सार्वजनिक या राजगत कोई प्रयास नहीं हुआ। किन्तु इस लोक-तंत्रके युगमें सार्वजनिक सभाओं, विधान-सभाओं और संसदोंमें जिस प्रकार वाणीका लज्जाजनक तथा असंयत प्रदर्शन किया जा रहा है उसे देखते हुए यह आवश्यक हो चला है कि भाषण-कलाकी समुचित शिक्षाका विधान किया जाय, विशेषतः उन लोगोंके लिये जो अध्यापन, प्रवचन, कथावाचन या सार्वजनिक सभाओं और विधान-सभाओंमें भाषण करते हैं।

भाषणके छह साधन

§ ३५९. भाषणके छह साधन हैं—वक्ता, अवसर, श्रोता, विषय, विचार और अभिव्यक्ति-कौशल।

जब कोई व्यक्ति किसी विशेष अवसर पर किसी जन-समूहके सम्मुख किसी विषयपर अपने विचार अभिव्यक्त करता है तब वह भाषण कहलाता है। इस दृष्टिसे भाषणके लिये छह साधन आवश्यक हैं—१. वक्ता, २. अवसर, ३. श्रोता, ४. विषय, ५. विचार, ६. अभिव्यक्ति-कौशल (भाषा-शैली)।

इनमेंसे प्रथम पाँचकी व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि वक्ता, अवसर और श्रोता संसारमें अनेक प्रकारके और सभी हैं और इनका विवेचन भी विषय और विचारके प्रकरणमें विस्तारसे किया जा चुका है। यहाँ केवल अभिव्यक्ति-कौशलका ही परिचय देना अभीष्ट है।

साधनाएँ

भाषणकी चार साधनाएँ हैं—१. भावभङ्गी (जेस्चर), २. देहमुद्रा (पौश्चर), ३. भाषा-शैली (डिक्शन) और ४. प्रवचन (डिलिवरी)। भावभङ्गी आवश्यक, सुघर, भावोंको स्पष्ट करनेवाली, प्रभावशाली और विचारोंको उत्तेजना देनेवाली हो। देह-मुद्राके सम्बन्धमें आचार्योंका मत है कि 'भाषण-कर्ताको सीधे खड़े होकर अपना बाँयाँ हाथ पीठकी ओर मोड़कर सब लोगोंकी ओर धीरे-धीरे मुँह घुमाते हुए गम्भीरतापूर्वक भाषण करना चाहिए, जिससे सुरुचि, विद्वत्ता, शालीनता और स्फूर्तिका आभास मिले। व्याख्याताको अवसरके अनुकूल अपनी मुखमुद्रा प्रसन्न या गम्भीर बनाते चलना चाहिए।'

भाषणकी भाषा-शैलीमें चार गुण होने चाहिएँ—

१. शुद्धता, २. कलात्मकता, ३. मधुरता, और ४. प्रभावोत्पादकता। वक्ताको इस प्रकार भाषण देना चाहिए कि श्रोता उसकी भाषा और वह जो कुछ कहे उस विषयको तन्मय होकर सुनें। इस सबन्धमें रोम और यूनानमें अत्यन्त विस्तारसे विचार किया गया है कि भाषण कितने प्रकारके होते हैं और उनके कितने अंग होते हैं।

भाषणके प्रकार

सामाजिक प्रभावकी दृष्टिसे क्विन्तीलियनने श्रोताओंकी तीन प्रकारकी जातियों या वर्गोंके अनुसार भाषण-कलाकी भी तीन जातियाँ बताई हैं—

१. श्रोता या तो बीती हुई बातके निर्णायक होते हैं या तथ्यके प्रश्नोंपर निर्णय देते हैं अर्थात् किसी न्यायालयके निर्णायक या परामर्शदाता (जूरर) का काम करते हैं।

२. भावी बातोंका निर्णय या नीति निर्धारित करते हैं अर्थात् किसी धारा-सभा या राजनीतिक दलके सदस्यका काम करते हैं।

३. समीक्ष्यवादी बनकर सम्प्रेक्षण करते हैं, जो वक्ताकी चातुरीको समझते तथा उसके भाषणसे सम्बद्ध गुणको जानते हैं।

इस प्रकार भाषणकी तीन सीमाएँ होती हैं या तीन प्रकारके मौलिक भाषण होते हैं—

१. निर्णायक भाषण (फ़ोरेन्सिक या जुडीशल) जो न्यायालयोंमें आए हुए विषयोंपर होते हैं और यह निर्णय देते हैं कि क्या हो गया है या क्या नहीं हुआ है।

२. विचारात्मक या राजनीतिक (डेलिबरेटिव या पोलीटिकल) जिसमें सभासदों-द्वारा सम्मति दी जाती है कि कौन-सी बातें होनी चाहिएँ, कौन-सी नहीं।

३. कलात्मक भाषण (एडीडिक्टिक या डिमॉन्स्ट्रेटिव), जिसमें लच्छेदार भाषामें वर्त्तमान सभी विषयोंपर भाषणात्मक प्रदर्शन होता है। ऐसे भाषणमें किसी भी पक्षका अतिरञ्जन होता है। ये भाषण दो प्रकारके होते हैं—(क) प्रशंसात्मक और (ख) निन्दात्मक, जिनका उद्देश्य यह बताना होता है कि क्या सुन्दर और अच्छा है और क्या असुन्दर, बुरा तथा निन्दनीय है। यही भाषणका सबसे अधिक स्वतंत्र रूप है और इसीमें भाषाके बहुत अलंकरणका अवसर रहता है। यही वास्तवमें साहित्यिक भाषण कहला सकता है।

भाषण-कला

इस दृष्टिसे भाषण-कला पूर्णतः सामाजिक कला है। यह वास्तवमें शब्द-योजनाकी ऐसी कला और ऐसा विज्ञान है जिसके निम्नाङ्कित आठ अर्थ योरपमें प्रचलित हुए जो सभी प्रायः पिछले चौबीस-सौ वर्षोंसे प्रयुक्त होते चल आ रहे हैं—

१. उन सिद्धान्तोंका समूह जो प्रभावशाली सार्वजनिक प्रवचनोंकी रचनाके लिये काममें लाए जाते हैं; २. स्वयं भाषण; ३. वक्ताकी कला; ४. प्रकाशित गद्य-साहित्य या मौखिक प्रवचनके सिद्धान्त; ५. गद्यशैलीकी कला; ६. कृत्रिम गद्यशैली; ७. मौखिक गद्य या पद्य; ८. रचनाके शृङ्गारका व्यवस्थित सिद्धान्त; ९. गद्य या पद्यके लिये इन शृङ्गारों या प्रक्रियाओंका योग।

भाषणका तत्त्व

रोम और यूनानमें प्राचीन कालमें भाषण-कलाकी अत्यन्त व्यवस्थित शिक्ष दी जाती थी। उस समय भाषण-कलाके कुछ ऐसे भी आचार्य थे, जिनका घोष था कि 'हम भद्दे व्याख्यानको भी सुन्दर बना सकते हैं।' किन्तु

सुकरातका मत था कि 'भाषण-कला पूर्णतः कृत्रिम कला है।' अरस्तूने तो सार्वजनिक व्याख्यानकी अपनी अलग प्रणाली ही निकाल ली थी। उसने अपने 'भाषण-शास्त्र' (ह्रटौरिक्स) में कहा है कि 'नियमित तर्क ही सत्य और प्रभावशाली भाषणका प्रमुख आधार है।' उसने १. तर्कपूर्ण तथा २. न्यायशालाओंमें काम आनेवाली दो प्रकारकी भाषण-कलाओंके अतिरिक्त तीसरे प्रकारकी ३. प्रशंसात्मक भाषण-कलाकी भी चर्चा की है और उसके पश्चात् उसने विभिन्न परिस्थितियोंमें काम आने योग्य तर्कका विवरण, व्याख्यानोंकी योजना, उक्ति-चयन और प्रवचनकी दृष्टिसे शैलीका निरूपण भी किया है। रोमके भाषण-शास्त्रियोंने शाब्दिक अलङ्करणको भाषणमें अधिक महत्त्व दिया और प्रत्येक प्रकारके अलंकरणका नामकरण भी किया। मध्यकालमें भाषण-शास्त्रपर जो ग्रन्थ लिखे गए, उन्होंने तीन प्रकारकी शैलियाँ मानीं—१. सशक्त, २. मध्यवर्गीय और ३. निम्न। इनमेंसे सशक्त या उच्च शैलीमें अलङ्करणका प्रयोग ही अधिक किया जाता था। पुनर्जागरण-काल (१५वीं शती) में सार्वजनिक भाषणके लिये कि पाँच शक्तियाँ आवश्यक मानी गईं—१. तर्कान्वेषण (इन्वेन्शियो), २. मनोवृत्ति (डिस्पोज़ीशियो), ३. भाषण-शैली (इलोक्यूशियो), ४. स्मृति (मैमोरिया) और ५. भाषा-प्रवाह (प्रोनंसिएशियो)।

विषय या तर्कान्वेषण (इन्वेन्शियो)

उपर्यङ्कित शक्तियोंमेंसे विषय (इन्वेन्शियो), मनोवृत्ति (डिस्पोज़ीशियो) और शैली (इलोक्यूशियो) के सम्बन्धमें अरस्तूका और मध्य युगके आचार्योंका यह विश्वास था कि 'तर्क, नैतिक सिद्धान्त तथा लगनसे ये तीनों गुण प्राप्त होते हैं।' आगे चलकर इस शब्दका प्रयोग सब साहित्यिक रूपोंमें सामग्रीकी खोज या परीक्षणके लिये भी होने लगा। पुनर्जागरण-कालके काव्यशास्त्रमें इसकी यह परिभाषा दी गई कि 'इस तर्कान्वेषण-शक्तिसे इन्द्रियानुभूति तथा काल्पनिक वर्णन और कथा आदिके नये समन्वयसे रची जानेवाली सामग्रीकी सूझ होती है और इसलिये इसे वाग्वैदग्ध्य (विट), कल्पना (इमैजिनेशन) और भावना (फैन्सी) का पर्याय समझ सकते हैं। कभी-कभी इस शब्दका प्रयोग स्वयं भाषाके लिये भी किया जाता था जिसके अन्तर्गत 'काव्य-सामग्री' और 'शैली' दोनों आ जाते थे। सत्रहवीं शताब्दीमें भी इस तर्कान्वेषणका अर्थ था वाग्वैदग्ध्य, जो कभी तो समीक्षाके लिये और कभी-कभी भाषणके

लिये भी प्रयुक्त होता था जैसे ड्राइडनने कहा है कि 'कविकी कल्पनाका प्रथम उन्मेष यह है कि वह विचारोंकी खोज करे।' टेम्पिलने कहा है कि 'यह तर्कान्वेषण-शक्ति प्रतिभाका फल और कविताकी माता है।' अट्ठारहवीं शताब्दीमें यह शब्द 'वाग्वैदग्ध्य' (विट) और कवि-सामर्थ्यके लिये प्रयुक्त होने लगा। पोपने कहा है कि 'इस तर्कान्वेषणकी परीक्षा करके ही सभी महान् प्रतिभा-शालियोंकी आनुपातिक महत्ता व्यक्त होती है।' उस शताब्दीके अंत-तक यह कल्पनाका ही पर्याय समझा जाता रहा जिसके कारण स्वैरवादी सिद्धान्तमें 'अन्वेषण' का अर्थ समझा जाता था 'सम्प्रेक्षण-द्वारा प्रस्तुत सामग्रीसे चरित्रोंका निर्माण करनेकी शक्ति।' उन्नसवीं शताब्दीमें इसका अर्थ हुआ 'वास्तविकताके बदले काल्पनिक सामग्री खोजनेकी शक्ति।' तात्पर्य यह है कि उन लोगोंने विषयको अलंकृत करनेके सब साधनोंका समन्वित नाम तर्कान्वेषण (इन्वेन्शियो) रख छोड़ा था।

वृत्ति (डिस्पोज़ीशियो)

भाषणके योगमें यह दूसरी शक्ति समझी जाती है। इसका तात्पर्य है 'भाषण प्रस्तुत करनेकी शक्ति।' इस शक्तिके अन्तर्गत छह गुण आते हैं—

स्पष्टता, अर्थात् संक्षिप्त और नम्र प्रारम्भ या भूमिका (ऐग्ज़ौर्दियम)।

२. विषय-कथन (नैरेशन), अर्थात् सरल, विश्वसनीय, संक्षिप्त और हर्षपूर्ण मुद्रामें मूल बातों या तथ्योंका निवेदन।

३. प्रस्तावना (प्रपोज़िशन), अर्थात् अपना पक्ष उपस्थित करना। यदि पहलेसे विषय-सूत्र दिए गए हों तो इसे विश्लेषण (पार्टिशन) कहते हैं।

४. मण्डन (कन्फ़र्मेशन), या तर्कोंके द्वारा अपना पक्ष सिद्ध करना।

५. खण्डन (रेफ़्यूटेशन) अर्थात् विरोधी तर्कोंको झूठा, असम्भव और असंगत सिद्ध करना।

६. प्रभावक उपसंहार (पैरीरेशन), अर्थात् अत्यन्त भावुकता-पूर्ण अभ्यर्थनाके साथ समाप्त करना।

वाचाशक्ति (इलोक्यूशियो)

यह भाषणकी तीसरी शक्ति मानी जाती है। इसके तीन भाग हैं—

१. रचना (स्पष्टता और वाणीका औचित्य),

२. लालित्य (ऐलिगेन्स), अर्थात् भाषाकी शुद्धता, शिष्टता, नम्रता और सरलता।

३. भव्यता (डिग्निटी) या भावोंको आलङ्कारिक सौन्दर्यसे सज्जित करना। उन्नीसवीं शताब्दीके पश्चात् इस शक्तिका महत्त्व कम हो गया।

स्मृति (मेमोरिया)

यह भाषणकी चौथी शक्ति समझी जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि वक्ताको जो कहना हो वह विषय, उस विषयसे सम्बद्ध उक्तियाँ, उसके पक्ष या विपक्षके सब प्रमाण उसे ऐसे कण्ठस्थ और प्रस्तुत रहें कि उचित अवसरपर उपस्थित किए जा सकें।

प्रवाह (प्रोनन्सियेशियो)

प्रवाहका अर्थ है अपने भाषणमें प्रत्येक अक्षर तथा शब्दको शुद्ध तथा स्पष्ट रूपसे उच्चरित करके भावके अनुकूल स्वरके आरोह-अवरोहके साथ उसे इस प्रकार व्यक्त करे कि वह श्रोताओंपर जो भी करुण या हासजनक प्रभाव डालना चाहता हो, उससे वे अवश्य प्रभावित हो जायँ और अश्रु तथा उल्लास आदि अनुभावोंसे उसे अभिव्यक्त करें।

हालिकारनेसस-निवासी दिअनुससने भाषणकी दो शक्तियाँ बताई हैं—

१. तर्कान्वेषण (ह्यूरेसिस) और २. शैली (लेक्सिस)। अब इसमें लोग भाषण-शैली (डिलिवरी)को भी जोड़ लेते हैं।

भाषणकी पाँच शक्तियाँ :

रोमके प्रसिद्ध वक्ताओंने भाषणकी पाँच शक्तियाँ बताई हैं—

१. भाषणके विषयोंकी खोज (इन्वेन्शन या डिस्कवरी) अर्थात् किसी भाषणके योग्य सामग्रीके ढूँढ़ना, इकट्ठा करना, प्रस्तुत करना, विश्लेषण करना और भाषणके लिये उचित सामग्री चुनना। अरस्तूके मतका उनपर यह प्रभाव पड़ा कि वे तर्कान्वेषणको ही महत्त्वपूर्ण भाग मानने लगे।

२. भाषणमें सामग्रीका क्रम और सजावट (टेक्सिस ओइकोनोमियाँ या डिस्पोज़ीशियो)।

३. उचित भाषामें विचारोंको व्यक्त करना (लेक्सिस इलोक्यूशियो)।

४. भाषामें आवेष्टित भाषणके विचारोंको स्मरण रखना या स्मृति (नीम या मैमोरिया)।

५. भाषणको प्रभावशाली शैलीमें अभिव्यक्त करना (इफैक्टिव डिलिवरी, हाइपोक्रिसिस, एक्तियो और पीछे चलकर प्रोनन्सेन्शियो), जिसमें स्वर (ओसिस), खड़े होनेका ढङ्ग (गेस्तर मौदरेशियो), मुद्राएँ (ओलितस) और क्रम (विन्स्तेत) आते हैं।

भाषणके अङ्ग

योरोपीय आचार्योंने भाषणके मुख्य अंगोंको विभिन्न प्रकारसे अभिव्यक्त किया था जिसका कुछ परिचय ऊपर वृत्ति (डिस्पोजीशियो) के अन्तर्गत दिया जा चुका है। अरस्तू, सिसरो और क्विन्तीलियनने भाषणके चार अङ्ग बताए हैं—

१. प्रस्तावना (प्राएम एग्ज़ोर्दियम), २. विषय-स्थापन (दीगेसिस, नैरेशियो), ३. तर्क (एगौन), जिसके और भी दो अङ्ग थे— (क) मण्डन (पिस्तिस, अपोदीक्षिस, प्रोवातियो) और (ख) खण्डन (लिसिस); और ४. उपसंहार (एपिलोगस, पेरीरेशियो)। कुछ लोग इनमें विषय-स्थापनके पश्चात् और भी एक अंग मानते हैं— तीवोजिया या पार्टीशियो, जिसके अन्तर्गत (क) मान्य बातें, (ख) अमान्य बातें और (ग) वक्ता-द्वारा इच्छित बातोंकी स्थापना । कुछ लोग उपसंहारसे पूर्व एक दूसरा तत्त्व असंगत वस्तुओंका प्रवेश (डाइग्रेशन या एक्सकर्शन परि-कवेसिस) लाना चाहते हैं। ये अंग आजतक भी ज्योंके त्यों प्रयोगमें आते हैं और यूनान तथा रोमके भाषण-विद्यालयोंमें सिखाए जाते हैं।

तीन तत्त्व

लातिनमें व्याख्यानके तीन तत्त्व माने गए हैं—

१. रचना (कम्पोज़ीतियो) अर्थात् व्याख्या (एक्स्पोज़िशन), तर्क (आर्गुमेंट), विवरण (डेस्क्रिप्शन) और कथन (नैरेशन)से संयुक्त करके भाषणका रूप स्थिर करना, २. एलीगेन्शिया और ३. भव्यता (डेग्नाताश)

एलिगेन्शिया या लालित्यके दो अंग हैं—

१. सुरुचि (लातीनितास्त) अर्थात् ग्राम्य दोषों और असम्बद्ध वाक्योंसे बचकर चलना और २. स्पष्टता (ऐक्शप्लेनेशियो) अर्थात् शब्दोंके उचित प्रयोगसे बातको स्पष्ट करना। भव्यताका विवरण ऊपर दिया जा चुका है।

तथ्यका प्रश्न

भाषणमें दो प्रकारके प्रश्नोंका समाधान किया जाता है—तथ्य-सम्बन्धी तथा नीति-सम्बन्धी। तथ्य-सम्बन्धी प्रश्नोंमें किसी ऐसी घटना या अवस्थाका विवरण होता है जो हो चुकी हो या जिसके हो चुकनेकी कल्पना की जाती हो। यह शुद्ध रूपसे निम्नाङ्कित प्रमाणपर अवलम्बित है—

१. वक्तव्य : किसी तथ्यका प्रस्तुत रूप होता है।

२. समर्थन (एसर्शन) : वह वक्तव्य, जो वक्ताके प्रमाणपर प्रमाणित किया जाय—'ऐसा कहा जाता है।'

३. साक्ष्य : उस प्रकारका कथन जो किसी दूसरे द्वारा तथ्यको स्थापित करनेके लिये प्रस्तुत किया जाय।

४. प्रत्यक्ष साक्ष्य : जो किसी तथ्यकी स्थापनामें सटीक सहायता करता हो।

५. प्रमाण : जो किसी तथ्यको स्थापित करनेके लिये स्वीकार कर लिया गया हो।

नीतिका प्रश्न किसी भावी कार्य-पद्धतिके सम्बन्धमें सम्मति देता है कि यह उचित है या नहीं इसलिये इसमें प्रमाणकी प्रक्रिया आवश्यक नहीं है और इसीलिये उसके लिये कम प्रामाणिक प्रणालीसे भी काम चल जाता है, जैसे—१. शास्त्र-प्रमाण, २. साम्य-प्रमाण, ३. विवरण, ४. उदाहरण ५. तर्क, जैसे—जहाँ धुआँ है वहाँ अग्नि होगी। इस कम प्रामाणिकताके कारण किसी नीति-सम्बन्धी प्रश्नके लिये तथ्य-सम्बन्धी मौलिक प्रश्नोंको ठीक कर लेना आवश्यक होता है। ये नीति-सम्बन्धी प्रश्न भी दो प्रकारके होते हैं—१. निश्चित और २. अनिश्चित। इनमेंसे निश्चितके अन्तर्गत विशिष्ट या परिमित बातें आती हैं, अनिश्चितमें सामान्य।

प्रश्नाभास (इरोतेसिस)

भाषणमें जब कोई विशिष्ट उत्तर प्राप्त करनेके लिये प्रश्न किया जाता है, वह प्रश्नाभास कहलाता है। इसीको ह्टौरिकल क्वैश्चन कहते हैं। इसके अतिरिक्त भी इसके कई रूप हैं जैसे—

१. तात्कालिक प्रभावके लिये कोई छोटा बलपूर्वक प्रश्न करना (इयरौटैसिस)—

क्या हम लोग आखें बन्द करके यह अन्याय सहन करते जायँगे!

२. प्रश्न पूछकर स्वयं उसका उत्तर देना (ऐन्थुयोफोरा)—

क्या समाज हमारी उदासीनताको क्षमा कर सकेगा ? कभी नहीं।

३. ऐसा प्रश्न करना जिसका उत्तर प्रत्यक्ष हो (इरोतेमा)।

अपने मनसे पूछिए कि भ्रष्टाचारने हमारे समाजका कितना अहित किया है ?

४. केवल विरोधके लिये प्रश्न करना (उत्मा), जैसे—

क्या मैं अपने भाईका रखवाला हूँ कि उसका ठिकाना जानता फिरूँ।

५. किसी प्रतिपक्षी, निर्णायक, कल्पित या अनुपस्थित व्यक्तिको सम्बोधित करके प्रश्न करना (ऐनेकौयनोसिस)—

उनसे पूछिए कि वे कौन दूधके धोए हैं ?

६. इस प्रकार प्रश्न करना मानो सम्मति ले रहे हों या परामर्श कर रहे हों (सिम्बाउलेसिस)।

आप ही बताइएकि उनका यह व्यवहार कहाँतक उचित और न्यायसंगत है ?

इस प्रकारके प्रश्नोंका प्रयोग स्थान-स्थानपर भाषणको प्रभावशाली बनानेके लिये किया जाता है किन्तु यथा-सम्भव इस प्रकारके भाषणात्मक प्रश्न केवल कहीं-कहीं प्रयोग करने चाहिएँ, निरन्तर नहीं।

संवर्धन (एम्प्लीफ़िकेशन)

योरोपीय भाषण-शास्त्रियोंने किसी भावको भाषाके द्वारा अधिक अभिवृद्ध या तीव्र करनेके लिये अथवा उस भावका ह्रास करनेके लिये बहुत-सी विधियाँ निकाली थीं—

१. नया शब्द चुनकर जैसे—'उसे मारा' के भावको तीव्र करनेके लिये 'उसे तलवारके घाट उतारा' या 'उसका कचूमर निकाल दिया।' 'उन्होंने उसको मार गिराया' के भावका ह्रास करनेके लिये 'उन्होंने उसे मारा।'

२. तुलनात्मक शब्दोंका क्रम दे कर जैसे—

वह चोर नहीं डाकू था, स्त्री-गामी नहीं व्यभिचारी था, पाखण्डी नहीं धूर्त्त था।'

३. कई प्रकारका क्रमिक बल देकर जिसे आज-कल लोग पराकाष्ठा (क्लाइमेक्स) कहते हैं, जैसे—

तुम इतने छोटे, इतनी कच्ची अवस्थाके, इतना कम ज्ञान लेकर और इतने थोड़े साधनके साथ इतने बड़े शत्रुके साथ लड़नेका साहस कर रहे हो ?

४. कम या अधिक महत्त्वकी वस्तुसे उपमा देकर जिससे कि प्रस्तुत वस्तु अधिक महत्त्वकी या कम महत्त्वकी प्रतीत हो, जैसे—

तुम्हारे मुखकी उपमा चन्द्रमासे देकर मैं तुम्हारा अपमान नहीं करना चाहता।

५. किसी प्रसङ्गगत बातको इतना बढ़ाकर कहना कि उसमें प्रस्तुत विषय आ जाय, जैसे सिसरोने मदिरा पिए हुए एन्तोनीका तिरस्कार करते हुए कहा था कि—

तुम ऐसा खुरखुरा गला लेकर, शरीरमें यह डगमगाहट और यह पागलपन लेकर यहाँ खड़े हुए हो ?

—यहाँ तिरस्कारके द्वारा सिसरोने श्रोताओंको यह समझाया कि एन्तोनीने कितनी मदिरा पी है।

६. संग्रह, अथवा एक ही बातको कई प्रकारसे कहना जैसे—

कहो, तुम्हारी तलवार क्या कर रही थी ? किसके शरीरपर उसका लक्ष्य था ? कहाँ गए थे तुम्हारे हाथ ? कहाँ थे तुम्हारे विचार ? तुम्हारी आँखें ? तुम्हारा भयंकर साहस ? तुम्हारी अपरिमित शक्ति ?

अस्पष्टता या द्विविधा (एम्बिगुइटी)

अस्पष्टताको भाषणका बहुत बड़ा दोष बताते हुए उसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'जहाँ वाक्य या बातका अर्थ अनिश्चित हो अथवा उसके किसे अधिक अर्थ लगाए जा सकें वहाँ अस्पष्टता होती है।' इसके दो रूप हैं—

१. अनिश्चित वाक्य-विन्यास (एम्फीबोल या एम्फीबोलोजी), जिसमें शब्द तो स्पष्ट होते हैं किन्तु वाक्यकी रचना ऐसी होती है कि अर्थ समझमें नहीं आता जैसे—

'चन्द्र बिखरा-सा समुद्रमें लहरोंमें प्रतिबिम्बित होकर लगता था।'

यह वाक्य होना चाहिए—

समुद्रमें प्रतिबिम्बित होकर चन्द्रमा लहरोंमें बिखरा-सा लगता था।'

२. अनेकार्थ शब्दात्मक (इक्वीवोकेशन) अर्थात् एक ही बातमें एक ही शब्दको कई अर्थोंमें प्रयुक्त करना या भ्रम उत्पन्न करनेके लिये कई अर्थोंमें एक ही शब्दका प्रयोग कर देना जैसे श्लेषमें होता है। डब्ल्यू० एम्प्सनने ऐसी सात प्रकारकी अस्पष्टताएँ बताई हैं—

क. कोई शब्द या वाक्य-विन्यास एक साथ कई प्रकारके प्रभाव डालता हो।

ख. लेखकके एक ही शब्दमें एक या अधिक अर्थ ध्वनित हों।

ग. श्लेष, जहाँ दो अर्थ एक साथ ठीक लगते हों।

घ. जहाँ किसी वक्तव्यके दो या अधिक अर्थ आपसमें मेल न खाते हों।

ङ. जहाँ किन्हीं दो वस्तुओंके बीच कोई उपमा ऐसी लटक जाय कि लेखक एक वस्तुका वर्णन करते-करते दूसरी वस्तुका वर्णन करने लगा हो।

च. जहाँ किसी वक्तव्यसे कोई अर्थ ही न निकलता हो अर्थात् या तो वे परस्पर विरोधी हों या निरर्थक पुरावृत्ति होती हो या असंगत वक्तव्य हों और स्वयं पाठकको उसमें ऐसे वक्तव्य ढूँढ़नेपर मिलें जो परस्पर-विरोधी हों।

छ. जहाँ दोनों अर्थ विरोधी हों और प्रसंगसे पूर्णतः विपरीत हों।

सिसरोवाद (सिसरोनियनिज्म)

योरपके पुनर्जागरणके मध्य और अन्तिम अंशमें कुछ लोगोंने सिसरोकी लातिन शैली और शब्दावलीका अत्यन्त अतिरेकपूर्ण तथा यन्त्रवत् अनुकरण प्रारम्भ कर दिया था। इसे प्रारम्भ किया पेत्रार्कने, यद्यपि उसकी शैली सिसरोसे उतनी मिलती-जुलती नहीं थी। धीरे-धीरे यह रोग इटलीसे फैलते-फैलते सम्पूर्ण योरपमें यहाँ तक फैल गया कि सिसरोके शब्दोंका कोष बन गया और कुछ लोग तो उसके इतने अन्ध-भक्त बन गए कि सिसरोकी शब्दावलीके अतिरिक्त शब्दोंका प्रयोग करना भी उन्हें दोष प्रतीत होने लगा। किन्तु इरास्मसने इस अतिरेकका विरोध किया और कहा कि 'सबको अपनी भाषण-शैली बनानी चाहिए, किसीका अन्धानुकरण नहीं करना चाहिए।'

भाषणकी प्रकृति

§ ३६०. भाषण साधारणतः दो प्रकृतिके होते हैं—१. गम्भीर और २. विनोदपूर्ण।

अवसरपर भाषणकी प्रकृतियाँ अवसरपर अवलम्बित होती है। हर्षके सामान्य जनता या मित्र-मण्डलीमें विनोदपूर्ण तथा दुःखके अवसरपर या विद्वज्जनोंमें या गम्भीर औपचारिक अवसरोंपर गम्भीर भाषण देने चाहिएँ।

भाषणके प्रकार

आजकलके भाषण-शास्त्रियोंने भाषणके निम्नलिखित प्रकार गिनाए हैं–

१. औपचारिक : विवाह, भोज, माङ्गलिक अवसरपर तथा सभापतिका प्रस्ताव या धन्यवाद आदि सभाचारके लिये प्रयुक्त होनेवाले।

२. गम्भीर : किसी दार्शनिक, शास्त्रीय या साहित्यिक विषयपर शास्त्रार्थ या विवेचन अथवा जयन्ती, शोकसभा, धारासभा या विद्वद्गोष्ठीमें प्रयुक्त होनेवाले ।

३. उत्तेजनात्मक : राजनीतिक, धार्मिक या सोद्देश्य आन्दोलनके लिये जनमत जागरित करने और लोगोंको भड़कानेके निमित्त प्रयुक्त होनेवाले।

४. अभ्यर्थनात्मक : किसी संस्थाके लिये अथवा संकट-ग्रस्त जनता या देशकी सहायताके निमित्त जनताकी सहायता प्राप्त करनेके लिये भाविकतापूर्ण भाषण।

५. विनोदपूर्ण : जनताके मनोरञ्जनके लिये।

६. आत्मनिवेदनात्मक : सरलता तथा निश्छलताके साथ अपना पक्ष उपस्थित करनेके लिये।

७. प्रवचन : धार्मिक कथाओं अथवा काव्योंको भावपूर्ण व्याख्याके लिये।

८. उपदेश : बालकों या किसी विशेष वर्गको उपदेश देनेके लिये समझाने-वाली शैलीमें ।

९. भजनोपदेश : प्रायः धर्म-प्रचारकों-द्वारा भजन तथा गीतके साथ किए जानेवाले व्यंग्यात्मक और प्रचारात्मक भाषण।

१०. शास्त्रार्थ या वाद-विवाद।

भाषण-क्रम

आजकल भाषण-शास्त्रियोंका मत है कि कम बोलो और भाषणमें यह क्रम रक्खो—

१. अत्यन्त संक्षिप्त प्रस्तावना।

२. विषयका स्पष्ट परिचय।

३. विरोधी पक्षका शान्तिपूर्ण ढंगसे खण्डन ।

४. अपने पक्षका समर्थन ।

५. जनतासे अपना मत माननेके लिये भावपूर्ण अभ्यर्थना ।

शास्त्रार्थ या वाद-विवादमें यदि पूर्व पक्ष स्थापित करना हो तब तो उपर्युङ्क्ति पाँचों पदोंका प्रयोग करना चाहिए अन्यथा केवल अन्तिम तीन पदोंका ही ।

भाषणाचार

भाषण-शास्त्रियोंने वक्ताके कुछ आचार बताते हुए कहा है कि प्रत्येक सफल वक्ताको सामाजिक, नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे कुछ नियमोंका पालन करना चाहिए; जिनकी अवहेलना करनेसे भाषा-शैली, विषय और वपुष्मत्ता आदि सब गुण निरर्थक हैं । वे नियम हैं—

सभामें समयसे पहुँचो । अपने पदका ध्यान रक्खो । मुसकराहटके साथ हाथ मिलाओ या हाथ जोड़ो । धीरे-धीरे चलो । एक आसनपर पलथी मारकर या कुर्सीपर सीधे बैठो । मुँह-हाथ खुजलाते हुए, आसन बदलते हुए या टेढ़े-मेढ़े होकर मत बैठो । धीरे-धीरे पैर रखते हुए मञ्चकी ओर बढ़ो । यदि कोई माला पहनावे तो सिर झुका लो और हाथ जोड़ो । जबतक सभा समाप्त न हो तबतक माला न उतारो, क्योंकि माला उतारनेका अर्थ है मालाका और माला पहनानेवालेका अपमान । मञ्चपर पहुँचकर सबको एक दृष्टिसे सिर घुमाकर देख लो । सीधे तनकर खड़े हो । मेजपर हाथ न पटको । नीचे मत देखते रहो । नियमित रूपसे इधरसे उधर धीरे-धीरे सिर घुमाते हुए सबको सम्बोधित करते हुए भाषण करो । व्याख्यानके विषयमें जहाँ जिस प्रकारका भाव आवे वहाँ उसके अनुरूप ललित, सुरुचिपूर्ण तथा आवश्यक भावभङ्गी, मुखमुद्रा, वाणीके आरोह-अवरोह और अङ्ग-संचालनका प्रयोग करो । यदि कोई हास्यकी बात कहो तो स्वयं न हँसो । यदि करुण बात हो तो स्वयं रो मत पड़ो, केवल अपना स्वर कुछ भारी कर लो । जिस प्रकारका भाषण हो उसीकी प्रकृतिके अनुसार अपनी भाषा-शैली रक्खो । भाषा-शैलीका प्रयोग करते समय श्रोताओंकी योग्यताका ध्यान रक्खो । अत्यन्त संक्षिप्त प्रस्तावनाके साथ भाषण प्रारम्भ करो । अत्यन्त नाटकीय ढंगसे भावावेग उत्पन्न करते हुए सहसा समाप्त करो । श्रोताओंकी मुद्रा देखते रहो । यदि यह प्रतीत हो कि

वे असन्तुष्ट या अशान्त हैं तो बात बदल दो, दृष्टान्त या कथा सुनाओ, जिससे उनकी वृत्ति केन्द्रित हो जाय। यदि विलम्बके कारण श्रोता थक गए हों और आपसे पूर्व कई वक्ता बोल चुके हों तो अपना भाषण संक्षिप्त कर दो। जिसकी सभामें जाओ उसके मतसे सहमत न होते हुए भी उसकी बुराई न करो। किसी शोक-सभामें मृत व्यक्तिके दोषोंका वर्णन मत करो। जिस व्यक्तिकी जयन्तीमें बोलना हो उसके भी दोषोंका नाम न लो। बीच-बीचमें 'एक बात और' कहकर व्याख्यान न बढ़ाओ। जो कुछ कहना है सब एक धारामें कहो। सभापतिने जितना समय दिया हो उतने ही समयमें भाषण समाप्त करो, न तो अधिक समय माँगो न कम समय मिलनेपर टिप्पणी करो, न इस बातमें समय गँवाओ कि आपको भाषणके लिये कितना समय चाहिए था और कितना मिला। यदि कई वक्ता हों तो कम बोलो। किसी भी सभाका क्रम अधिकसे अधिक डेढ़ घंटेतक चलना चाहिए। अतः, जितने वक्ता हों उसी अनुपात-से अपना समय निर्धारित कर लो। भाषणके प्रारम्भमें बहुत मंगलाचरण, स्तुति या 'जय-जय सियाराम' मत करो। केवल प्रथम वक्ताके लिये ही इस प्रकारका उपचार पर्याप्त है। यदि अन्य लोग भी इसका प्रयोग करना चाहें तो एक श्लोक, एक दोहा या एक मन्त्र पर्याप्त है। जो बात औरोंने कह दी हो या स्वयं कह चुके हो उसे तबतक न दुहराओ जबतक उसका विरोध न करना हो। भाषणके समय रोष न प्रकट करो, घबराओ मत, टेक (सखुनतकिया) का प्रयोग न करो। किसीके भाषणपर 'आह-वाह' न करो। अपने भाषणमें या परस्पर बात-चीतमें किसी व्यक्ति, धर्म, संस्था या जातिकी खिल्ली न उड़ाओ। कम बोलो जिसमें अर्थ अधिक भरा हो, निरर्थक बात न कहो। भाषणके पहले या पीछे यह कभी मत कहो कि 'मैं अयोग्य हूँ। आप लोगोंने मुझपर बड़ी कृपा की है' आदि। भाषणके बीचमें न घड़ी देखो, न पानी पियो, न जनताको डाँटो। शीतकाल, वृष्टि या धूपमें जनताका झूठी वीरताकी उत्तेजना देकर मत रोके रक्खो। प्रतिपक्षीकी समीक्षा करते हुए अत्यन्त मृदुताके साथ उसके तर्कोंका खण्डन करो और उस प्रतिपक्षीका कभी नाम न लो। अत्यन्त नम्र और मधुर स्वरमें भाषण करो। जब अन्य लोग बोल रहे हों उस समय न स्वयं किसीसे बात करो और न अपने भाषणमें भी अन्य वक्ताओंपर कभी टिप्पणी करो। पर्चा लेकर पढ़ते हुए भाषण न करो। ध्वनि-प्रस्तारकसे एक हाथ दूर खड़े होकर बोलो। भाषणके समय श्रोताओंके मनकी परीक्षा भी करते चलो। बालकोंकी सभामें सुन्दर कहानियों तथा आख्यायिकाओं-द्वारा अपनी बात समझाओ। उन्हें ऐसी बातें सुनाओ जो अद्भुत हों, जिसमें उन्हें

कुतूहल हो। महिलाओंकी सभामें कोई फूहड़, अश्लील या संकोचजनक बात न करो। महिलाओंकी सभामें कोई ऐसी बात भी न कहो जिससे वे भयभीत और शंकित हो जायँ क्योंकि वे स्वभावतः कोमल हृदयवाली और धर्मभीरु होती हैं। धार्मिक कथाएँ, वीरतापूर्ण उद्धरण सुनाकर तथा मातृत्वका उद्बोधन करके, उनकी प्रशंसा करके अपनी बात मनवाओ। अपढ़ जनताकी वृत्ति भी बालकों-सी होती है। अतः, उन्हें भी लोक-प्रसिद्ध चुटकुलों, कथाओं, आख्यानों और दृष्टान्तोंके द्वारा अपनी बात समझाओ। यदि श्रोता उठने लगे हों, जम्हाई ले रहे हों, ताली बजाते हों और आपसमें बातचीत करते हों तो समझ लेना चाहिए कि अब भाषण समाप्त कर देना चाहिए।

सामाजिक भाषाका लेखन-तत्त्व

§ ३६१. लेख-भाषा भी दो प्रकारकी होती है—रूढ और अरूढ।

जिस प्रकार मौखिक भाषाके दो पक्ष हैं-रूढ और अरूढ, उसी प्रकार लेख-भाषाके भी दो समाजिक पक्ष हैं—रूढ और स्वतंत्र।

रूढ लेख-भाषा

सभी सभ्य देशोंमें पारस्परिक व्यवहारके लिये अनेक प्रकारके लेख-कार्य करने पड़ते हैं, जैसे—निमन्त्रण-पत्र, व्यावसायिक पत्र, आवेदन-पत्र, प्रसंसा-पत्र आदि। इन सबके रूप और इनकी भाषा-शैली रूढ होती है। इनके अतिरिक्त अभिनन्दन-पत्र, विदा-पत्र, स्वागत-पत्र, प्रशंसा-पत्र आदिका रूप तो रूढ होता है किन्तु उनकी भाषा-शैली उनके रचना-कर्त्ताकी योग्यता और उनके पाण्डित्यपर अवलम्बित होती है।

पहले हमारे यहाँ इस रूढ लेखनकी भी निश्चित पद्धति थी जिसका पालन अब भी ग्रामीण पत्रोंमें किया जाता है। पत्रके प्रारम्भके लिये एक नियम ही प्रचलित था—

श्री लिखिए षट गुरुनको, स्वामि पाँच रिपु चार।
तीन मित्र, दो भृत्यको, एक पुत्र अरु नारि॥

[पत्रके प्रारम्भमें गुरुको श्री६, स्वामीको श्री५, शत्रुको श्री४, मित्रको श्री३, भृत्य या सेवकको श्री२ और पुत्र तथा स्त्रीको श्री१ लिखना चाहिए]

स्वतंत्र लेखन

स्वतन्त्र लेखनमें भाषाके तीन स्पष्ट पक्ष होते हैं—चिन्तन (मनन), पाण्डित्य-प्रदर्शन और कल्पना। चिन्तन या मनन करनेवाले लोग आध्यात्मिक

दर्शन या लौकिक शास्त्रकी रचना करते हैं। समस्त दार्शनिक लेख, उपनिषद्, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, शिक्षा, कल्प, ज्योतिष, आयुर्वेद, गान्धर्व वेद, अथर्ववेद, धनुर्वेद, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि सब विषयोंका लेखन-कार्य चिन्तन या मननसे समद्भूत होता है।

पाण्डित्य-प्रदर्शनके लिये अत्यन्त क्लिष्ट पांडित्यपूर्ण ग्रन्थ लिखे जाते हैं जैसे श्री हर्षने नैषधीयचरित लिखा या केशवने रामचन्द्रिका। लेख-भाषाका वास्तविक रूप तो कल्पना-द्वारा प्रसूत होता है जो या तो विनोदात्मक होता है या काव्य-विलास (गद्य-पद्य-चम्पूयुक्त काव्य, नाटक, कथा, उपन्यास आदि) के रूपमें पल्लवित होता है। इन सबका उद्देश्य मुख्यत: चतुर्वर्ग-फलप्राप्ति तो माना गया किन्तु ये सब रूप शुद्ध सामाजिक होते हैं क्योंकि कविका उद्देश्य भाषा-शैली और विषय-प्रतिपादनके माध्यमसे लोक-मंगल भावनाका स्थापन ही होता है जिसके द्वारा लेखक या काव्य-रचयिता अपने समाजको उदात्त बनानेका संकल्प करता है।

इसीके साथ-साथ कुछ ऐसे भी असंस्कृत और दुर्वृत्त लोग होते हैं जो वाणीके विलासका प्रयोग लोगोंके हृदयकी निम्नतम, कलुषित और क्षुद्र भावनाओंकी तुष्टिके लिये या मनुष्यकी प्रशंसाके लिये करते हैं। वे लोग वाणीके जिस कौशलका प्रयोग करते हैं उससे मनुष्यकी दबी हुई वासनाओं और असामाजिक कृत्योंको प्रोत्साहन मिलता या किसीके अहङ्कारका पोषण होता है।

भाषाका परीक्षण

जहाँ एक ओर रचनाकारकी व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे परीक्षा की जाती है और यह देखा जाता है कि किन विशेष मानसिक, या पारिवारिक परिस्थितियोंमें कविने कोई रचना की है वहाँ सामाजिक दृष्टिसे यह परीक्षण करना भी आवश्यक है कि उस रचनाका समाजपर कैसा प्रभाव पड़ता है और रचनाकारने जिस भाषा-शैलीका प्रयोग किया है वह समाजकी योग्यताके अनुकूल है भी या नहीं। अतः, भाषाका सामाजिक पक्ष भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना उसका मनोवैज्ञानिक पक्ष इसीलिये काव्यशास्त्रियों काव्य या साहित्यके दोषोंमें अश्लील तथा ग्राम्य-जैसे दोषोंकी गणना कराई है।

● ●

वाणीका कला-पक्ष

किसी प्रकारकी कोई भी मानवीय रचना-प्रवृत्ति जब आवश्यकताकी सीमासे आगे बढ़ती है तब वह कलाके क्षेत्रमें प्रवेश कर जाती है। जहाँ आवश्यकता समाप्त होती है वहींसे कला प्रारम्भ हो जाती है।

§ ३६२. मनुष्यकी कलावृत्तियोंसे ही वाणीके अनेक रूप प्रकट होते हैं।

कलाकी वृत्ति मनुष्यकी सौन्दर्यात्मिका वृत्तिसे उत्पन्न होती है। मनुष्यकी वाग्वृत्तिपर आश्रित अभिव्यक्तियोंका विश्लेषण करनेपर प्रतीत होगा कि मनुष्यकी कुछ निश्चत वृत्तियाँ होती हैं जिनमेंसे केवल सौन्दर्यात्मिका वृत्ति ही कलात्मक वृत्ति होती है। ये वृत्तियाँ निम्नांकित हैं—

१. सौन्दर्यात्मिका वृत्ति, २. असौन्दर्यात्मिकका वृत्ति, ३. उदासीन वृत्ति, ४. उच्छृङ्खल वृत्ति, ५. लोकैषणा वृत्ति और ६. भावावेग-वृत्ति।

सौन्दर्यात्मिका वृत्ति

सौन्दर्यात्मिका वृत्तिसे प्रेरित होकर मनुष्य भक्ति-परक तथा शृंगारपरक उदात्त काव्य (प्रबन्धकाव्य, गीत और मुक्तक) या सराहनात्मक समीक्षा करता है जिसमें शब्द और अर्थका ललिततम विन्यास अपने समस्त चामत्कारिक साधनोंसे पुष्ट होकर विलसित होता है। अपने इष्ट या प्रियको समस्त मानव-मात्रका इष्ट और प्रिय बना देनेकी विभावन-शक्तिसे सम्पुष्ट करके कवि अपनी रचनामें अपना सम्पूर्ण प्रातिभ कौशल लगा देता है। इसी सौन्दर्यात्मिका वृत्तिसे प्रेरित होकर कवि या लेखक अपने शब्द, शब्दोंके अर्थ, भाषा-शैली, उक्ति-कौशल, प्रबन्ध-कौशल अथवा अभिव्यक्तिके रूप-कौशलमें ऐसा रस भरकर कृतिको इतना सुपाठ्य और हृदयग्राही

बना देता है कि उसे बार-बार पढ़नेको जी चाहता है। किसी भी प्रकारकी सुन्दरताका सबसे बड़ा लक्षण यही है कि उसे पढ़ते-पढ़ते कभी तृप्ति न हो। इसीलिये माघ और मेघदूतके सम्बन्धमें कहा जाता है—

'माघे मेघे गतं वयः'

[माघ कविके शिशुपालवध और कालिदासके मेघदूतको आयुभर मनुष्य पढ़ता रहे फिर भी तृप्ति नहीं होती।]

कहा भी गया है—

काव्येन हन्यते शास्त्रं काव्यं गीतेन हन्यते ।
गीतं च स्त्रीविलासेन स्त्रीविलासो बुभुक्षया ॥

[शास्त्रको काव्य मार डालता है अर्थात् काव्यके आगे शास्त्रकी कोई पूछ नहीं, काव्यको गीत मार डालता है अर्थात् संगीतके आगे काव्यकी भी कोई पूछ नहीं, संगीतको भी स्त्रीविलास हरा देता है और भूख तो स्त्रीविलासको भी समाप्त कर देती है।] अतः, वाणीकी सौन्दर्यात्मिका वृत्ति यदि काव्य और गीतके रूपमें प्रस्फुरित हो तो वह निश्चय ही लोक-हृदयको अपनी ओर आकृष्ट कर सकती है।

असौन्दर्यात्मिका वृत्ति

वाणीकी असौन्दर्यात्मिका वृत्ति भी वाग्रचनाके लिये प्रेरणा देती है। वह सौन्दर्यात्मिका वृत्तिसे समुद्भूत होनेवाली समस्त रचनाओंके विरोधी भावोंको उकसाकर चिरकोन कविकी अश्लील रचनाओंके समान काव्यों-की सृष्टि करती है। इस प्रकारकी वृत्तिवाले कवि या लेखक उद्दाम शृंगार, अश्लील साहित्य और समाजके कुत्सित, हीन, अनैतिक, दुर्बल और घृणित पक्षका ही चित्रण करते हैं। यदि ऐसे लेखकों और कवियोंकी वाणीके चमत्कारका प्रयोग करनेका बल मिल जाय तो वे समाजको नरकमें ले जा सकते हैं। 'लन्दन-रहस्य' (मिस्टरीज़ औफ़ दि कोर्ट औफ़ लन्दन)-जैसी पुस्तकें इसी वृत्तिके परिणाम हैं। इसी लोक-संहारक वृत्तिपर अंकुश लगानेके लिये ही भारतीय आचार्योंने काव्यका लक्ष्य चतुर्वर्ग-फल-प्राप्ति रक्खा था कि जिससे कविगण बहककर पथभ्रष्ट न हो जायँ। काव्य-शास्त्रमें दोषों और गुणोंकी व्यवस्था भी इसीलिये की गई थी कि कवि या लेखक गुणोंका सन्निवेश करके दोषोंसे बचाकर अपनी काव्य-रचना करें।

उदासीन वृत्ति

प्रायः उदासीन वृत्तिवाले, जिनमें सौन्दर्यात्मिका या असौन्दर्यात्मिका वृत्ति दोनोंका अभाव होता है और जो मनोविज्ञानकी भाषामें अधिक अन्तर्मुखी होते हैं, वे प्रायः लिखने और बोलनेमें कृपण होते हैं। यदि वे लिखते भी हैं तो अन्तर्मुखी चिन्तनपर आश्रित निबन्ध या दार्शनिक प्रबन्धकी रचना करते हैं।

उच्छृङ्खल-वृत्ति

उच्छृङ्खल वृत्तिवाले मनुष्य कभी सौन्दर्यात्मिका और कभी असौन्दर्यात्मिका वृत्ति दोनोंका आश्रय लेकर अत्यन्त सशक्त वाणीमें काव्य-शास्त्रके समस्त नियमों और व्यवस्थाओंकी उपेक्षा करके अपनी ही स्वेच्छा या मौजमें आकर किसी व्यक्ति, रचना या व्यवस्थाके सम्बन्धमें ऐसे उद्वेगजनक व्यंग्यपूर्ण शब्दों और शैलियोंका प्रयोग करते हैं कि उसे सुनकर उससे सम्बद्ध व्यक्ति तिलमिला तो उठते हैं किन्तु साथ ही उसकी शैलीपर वाह-वाह भी करते हैं। हिन्दीमें पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' इसी प्रकारके पूर्णतः बहिर्मुखी लेखक थे।

भावावेग-वृत्ति

बहुतसे लेखक या कवि भावावेगसे प्रेरित होकर तदनुसार अपनी वाग्वृत्ति अर्थात् भाषा-शैलीको अपने भावावेगके अनुसार प्रभावशाली बना डालते हैं। यदि वे किसीसे ईर्ष्या करते हैं तो निन्दात्मक और कटु आलोचनात्मक साहित्यकी रचना करते हैं। यदि वे समाज, राजा आदिसे भयभीत होते हैं तो तदनुसार चाटुकारितापूर्ण रचना करते हैं, यदि किसीमें श्रद्धा करते हैं तो उसकी सराहनाके पुल बाँध देते हैं। इस प्रकारको रचनाओंके पीछे काम करनेवाली मानसिक भाववृत्तियोंका परिचय पीछे विस्तारसे दिया जा चुका है (§ ३२६)।

लोकैषणा वृत्ति

इन सब उपर्यङ्कित कला-प्रेरक वृत्तियोंके अतिरिक्त मनुष्यकी एक अत्यन्त रोचक कलावृत्ति होती है और वह होती है असत्यको सत्य-तुल्य बना देनेकी। मनुष्यकी (बाल, युवक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष सबकी) एक बड़ी विचित्र दुर्बलता होती है कि उसे अत्यन्त असंभावित, अविश्वसनीय और असत्य घटनाओंके

सुनने या पढ़नेका बड़ा व्यसन होता है। जितनी ही कोई कथा अविश्वसनीय हो उतना ही उसकी ओर आकर्षण होता है। मनुष्यकी इस दुर्बलतासे परिचित वाक्सिद्ध लेखकों और कथाकथकोंने सरलतासे प्रसिद्धि प्राप्त करनेके लिये अनेक ऐसी कल्पित कहानियाँ रच डालीं जिन्होंने न जाने किस युगसे बच्चोंको, बड़ोंको और राजाओंको उनके अवकाशके समय उनका मन बहलाए रक्खा। वही परिपाटी आज उपन्यासोंके रूपमें हमारे समाजका सर्वाधिक लोकप्रिय साहित्य बनकर प्रचलित हो रही है। इस प्रकार सस्ती लोकैषणा-वृत्तिने अद्भुत कथाओंके रूपमें अपनी तृप्तिका मार्ग प्रशस्त कर लिया।

पर-प्रेरित रचना

§ ३६३. कलात्मक वाणीकी अभिव्यक्ति कल्पना या अनुभवपर आश्रित होती है।

जितने भी प्रकारोंकी कलाप्रेरित वाणीकी अभिव्यक्ति होती है वह दो रूपोंमें प्रकट होती है—या तो कल्पनापर आश्रित या अनुभवपर आश्रित। ये दोनों प्रकारकी रचनाएँ अनायास भी होती हैं और सायास भी अर्थात् स्वतःप्रेरित भी होती हैं और पर-प्रेरित भी। जिन कवियोंने स्वयं किसी व्यक्ति या कथा अथवा किसी भावसे प्रेरित होकर स्वयं अपने मनसे कोई कलात्मक रचना की, वह स्वतःप्रेरित होती है किन्तु बहुतसे ऐसे वाक्सिद्ध कवि या लेखक भी होते हैं जो दूसरोंके कहनेसे, धनके प्रलोभनसे या आश्रयदाता राजाको प्रसन्न करनेके लिये भी ऐसी रचना कर डालते हैं मानो वह उनकी स्वयंप्रेरित रचना हो। इस प्रकारकी सब रचनाएँ सायास होती हैं और ऐसी रचनाएँ वे ही कवि कर सकते हैं जिनमें वाणीकी कलाका पूर्ण संस्कार हो—

दीजिए समस्या मोहिं, कलम रुकै तो कर कलम कराइए।

अतः, भाषा और कलाका ठीक सम्बन्ध भली प्रकार स्पष्ट समझ लेना चाहिए।

कलात्मक वाणी

§ ३६४. कलात्मक वाणीमें तत्काल आकृष्ट कर लेनेका गुण होना चाहिए।

कलात्मक वाणीका तात्पर्य यह है कि उसे सुनते ही श्रोता उस वाणीके कौशलपर मुग्ध हो उठे। एक-सामान्य वाक्य है—

चलिए खाना खा लीजिए।

इसीको कलात्मक वाणीमें कहा जाता है—

पधारिए, थाली आपकी प्रतीक्षा कर रही है।

यहाँ जड थालीमें प्रतीक्षा करनेकी चेतन आत्मीयता भरकर वाणीको कलात्मक बना दिया गया है।

किन्तु कलात्मक भाषाका प्रयोग करते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह इतनी गूढ, जटिल और दुरूह न हो जाय कि सुननेवालेकी समझमें ही न आवे, जैसे 'चलिए, भोजन कर लीजिए' के बदले कहा जाय—

'कुशल पाचकके सम्पूर्ण पाक-विद्या-कौशलका उत्कृष्टतम विन्यास आपके मुखारविन्दके अन्तर्गत व्याप्त रसनाके भोगका विषय बनकर अगणित व्यञ्जन-समन्वित होकर आपके उदर-कोषका सान्निध्य प्राप्त करनेके लिये लालायित है।'

भाषाको रमणीय बनानेके प्रयासमें कवि अपने कहनेके ढंग, शब्दोंके चयन तथा कथनीय विषयमें सुन्दरता, असाधारणता तथा अद्भुतताका संयोग (सम्यक् योग अर्थात् उचित योग) करके जो वाङ्मय प्रस्तुत करता है वह साहित्य बन जाता है और इस कार्यके लिये किए हुए व्यवस्थित प्रयासको ही कला कहते हैं। कलाचार्योंका कहना है कि 'कलाकी परिधि अत्यन्त विस्तृत है, जिसके भीतर अनेक कलाएँ आती हैं, जिनमें काव्य-कला या व्यापक अर्थमें साहित्य-कला भी है।' अतः, यह विचार करना आवश्यक है कि कला और साहित्यकी परिभाषा और पहचान क्या है और उनका पारस्परिक सम्बन्ध क्या है।

कलाका संस्कार

§ ३६५. साहित्य (काव्य)-रचना भी कला है।

राजर्षि भर्तृहरिने अत्यन्त निर्भीकतासे कहा है कि—

साहित्य-संगीत-कलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः।
तृणन्न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम्॥

[साहित्य, संगीत और कला-विहीन पुरुष उस पशुके समान है जिसे सींग और पूँछ नहीं। वह घास न खाकर जीता हुआ भी पशु ही है।]

यह तो मानी हुई बात है कि मनुष्य भी एक प्रकारका पशु ही है, यह दूसरी बात है कि वह चौपाया नहीं। जैसे घोड़ा, गाय, बकरी आदि पशुओंकी

दो श्रेणियाँ हैं उसी प्रकार मनुष्य-पशुकी भी। पशु दो प्रकारके हैं—सभ्य और असभ्य। असभ्य शब्द जङ्गली शब्दका ही संस्कृत रूप है। एक दिन वह भी था जब मनुष्य और पशु दोनों ही एक साथ जंगलमें रहते थे। दोनोंके आहार-सञ्चयन, शयन और भ्रमणका ढंग एक ही था। तब वस्त्रको तो बात ही दूर थी, तबतक कानोंकी लालीका कारण लज्जायुक्त शील न होकर क्रोध-युक्त प्रतिहिंसा ही होती थी। जैसे अप्रकट क्रोधका नाम ईर्ष्या है उसी प्रकार संकोच-युक्त स्वसौन्दर्य-बोधका नाम लज्जा है। तबतक लज्जा नहीं थी, अतः, सौन्दर्य-बोध नहीं था। सौन्दर्य-बोधका फल है कलाकी उत्पत्ति। तबतक सौन्दर्य-बोध नहीं था, अतः, कला भी नहीं थी। कला-विहीन मनुष्यका नाम है पशु। तबतक कला नहीं थी, अतः, तब नर भी नरपशु था। कलाने मनुष्यों और पशुओंको ही अलग-अलग नहीं किया अपितु उसने दोनोंमें ही दो-दो भेद कर दिए। जैसे सभ्य मनुष्योंके साथ रहनेवाले पशु पालतू कहलाए उसी प्रकार जङ्गली जानवरोंके बीच रहनेवाले मनुष्य जङ्गली अथवा असभ्य।

अति प्राचीन कालसे मनुष्यकी इच्छा ईश्वरके काममें वृद्धि करती आई है। ईश्वरने जङ्गल बनाए, पशु बनाए और मनुष्य बनाए। मनुष्यने जङ्गलको बस्ती, पशुको मनुष्यवत् और अपने आपको ईश्वर बनाया और यह सब बनाया कलाकी सहायतासे। स्वप्न देखना निर्माण करना है, इच्छा करना बुलाना है और कल्पना करना वास्तविकताको जगाना है। मनुष्यने कलाकी कल्पना की अर्थात् अवास्तविककमें वास्तविका विधान किया। दूसरी ओर पश्चिमके जानकारोंका कथन है कि 'कला कृत्रिम है'। उन्होंने अपनी समझमें कलाकी कृत्रिमता प्रमाणित भी कर दी है। अनुमानके आधारपर उनके तर्कने ऐसी उक्तियाँ तैयार की हैं जो प्रमाणके समान दीख पड़ती हैं। उनकी इस भ्रान्तिका परिणाम बड़ा भयंकर हुआ। अज्ञानके अन्धकारमें कलाका कोई अन्य उद्देश्य न दिखाई पड़ा। अतः, लोगोंने 'कला-कलाके लिये' का भीषण नारा लगाया। इसका एक अवाञ्छनीय परिणाम यह हुआ कि आजकल योरपमें कला भी सभ्यतासे सम्बन्ध रखनेवाली आडम्बर-क्रिया हो गई है।

हमारे यहाँ इसके सर्वथा प्रतिकूल कलाकी स्थिति सोद्देश्य है। हमारे यहाँ प्रकृतिका ही दूसरा नाम सत्य है। जो सत्य है वही मंगलमय है और जो मंगलमय है वही सुन्दर है। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' यद्यपि उपनिषद्वाक्य नहीं है तथापि भारतीय विचारसे 'कला क्या है' इसकी यह सूत्र रूपमें परिभाषा है। कहा जाता है कि यह 'दि ट्रू, दि गुड, दि ब्यूटीफुल' का अनुवाद है जो

कवीद्र रवीन्द्रके पितामह-द्वारा ब्रह्म-समाजमें व्यवहृत हुआ और वहींसे फैशनके रूपमें इसने अच्छा प्रचार पाया। जो हो, पर कलाके सम्बन्धमें जब यह वाक्य उद्घृत किया जाता है तब हम इसे कलाकी परिभाषा ही मान लेते हैं।

कला क्या है? जो सत्य है—सत्याभास नहीं, सत्यकी छाया नहीं—शुद्ध सत्य है, वही कला है। कलाकी सृष्टि मंगलको पुष्ट करनेके लिये हुई है, नष्ट करनेके लिये नहीं। जिस कलासे हमारा अशुभ होता हो वह कला नहीं है, और चाहे जो कुछ हो। फाँसी चाहे जितने कलात्मक ढंगसे दी जाय, है तो वह फाँसी ही। कलाका जितना सत्य होना आवश्यक है उतना ही शुभ होना भी। जिससे अपना शुभ होता हो उससे मुँह फेर लेनेवाले प्रायः पागल कहलाते हैं। समझदारोंकी दृष्टिमें जिससे अपना शुभ होता हो उससे बढ़कर सुन्दर कुछ नहीं। 'कला कलाके लिये नहीं, हमारे कल्याणके लिये है'। जिस नथसे नाक कटती हो उसे पहने रहना मानसिक स्वस्थताका लक्षण नहीं है।

कलाका अर्थ

कलाकी उत्पत्तिका यही कारण 'कला' शब्दकी व्युत्पत्ति करनेसे भी समझ पड़ता है। 'क' संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ होता है 'आनन्द और प्रकाश,' और 'ला' धातुका अर्थ है लाना। अतः, कलाका अर्थ है वह क्रिया या शक्ति जो आनन्द और प्रकाश लाती हो। आनन्ददायक होनेके लिये रमणीय होना आवश्यक है। रमणीयताकी एक पुरानी परिभाषा अपने यहाँ है—

क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।

[प्रतिक्षण जो ननीनताका रङ्ग रखती हो उसे रमणीय कहते हैं।]

नवीनता प्रकाश देती है, नवीनता आनन्द देती है। अतः, कलासे ज्ञानका प्रकाश होता है। सत्य ज्ञान है, असत्य अज्ञान। ज्ञान मङ्गल-मूल है, कला मङ्गलमयी है। कला रमणीय है इसलिये सुन्दर है। सहृदय अँगरेज़ कवि कीट्सने भी कहा है—

'ए थिंग ऑफ़ ब्यूटी इज़ ए जौए फ़ौर एवर'

[सुन्दर वस्तु शाश्वत आनन्द देती है। कला सत्य है, शिव है, सुन्दर है।]

जंगली जनवरोंके बीच सत्यकी खोज शिकारकी खोजतक ही परिमित रही। उसके आगे अन्धकार था, अज्ञान था। सोते, जागते, उठते, बैठते चौबीस घंटे इस बातकी आशंका कि 'अब शेर झपटा, अब बाघने धावा मारा'

कल्याण, शुभ और मंगलका सूचक नहीं है। जो स्थान हमारे लिये सदा अरक्षित है वह हमें भव्य ही कब लगने लगा। ऐसी परिस्थितियोंके कारण वनवासी मनुष्यने जंगलको केवल अपना आखेट-स्थल बनाकर अपने रहनेके लिये वस्तियोंका निर्माण किया। कला उनकी सहायतार्थ प्रस्तुत थी। आँधी, पानी, धूप, सर्दी, चोर डाकूसे सुरक्षित रहनेके लिये कलाकी सहायतासे मनुष्यने घर बनाया। ऐसी अवस्थामें कला मनुष्यके लिये अतीव उपयोगी सिद्ध हुई। कलाका उपयोगी अंश जहाँ समाप्त हुआ वहीं उसके ललित पक्षका प्रारम्भ मानना चाहिए। इस प्रकार कलाके दो विभाग हो गए एक उपयोगी कला, दूसरी ललित कला। मानव-समाजके जिस समूहने बोलने-चालने, उठने-बैठने, आने-जाने, खाने-पीने आदि साधारण व्यवहारमें जितनी ही कला-कुशलता दिखलाई वह उतना ही सभ्य कहा गया। इस प्रकार कला हमारे जीवनके प्रत्येक अङ्गमें घुल-मिल गई, हमारे लिये अनिवार्य हो गई।

कला किसे कहते हैं ?

यह कहा गया है कि 'कं आनन्दं लाति इति कला' अर्थात् जो आनन्द लावे उसे कला कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि आनन्द-भावनासे ही कला-वृत्ति उत्पन्न होती है और यह आनन्द-भावना सौन्दर्य-भावनासे आती है। क्रोचेने न जाने कैसे यह व्यवस्था दे दी कि 'क्योंकि कला अभिव्यक्ति है इसलिये सब अभिव्यक्ति कला है' (औल आर्ट इज़ एक्सप्रेशन देअरफ़ोर औल एक्सप्रेशन इज़ आर्ट)। यह कहना तो वैसा ही हुआ कि 'सब वाद्य बजते हैं इसलिये जो कुछ बजता है सब वाद्य है'। इस दृष्टिसे बाँसकी हरहराहट और टर्र-टर्र करनेवाला मेंढक भी वाद्य हो गया। क्रोचेको कहना चाहिए था कि 'कला वह अभिव्यक्ति है जो व्यवस्थित तथा सौन्दर्य-भावित हो।' इस दृष्टिसे यदि उसकी परिभाषाको शुद्ध किया जाय तो कह सकते हैं कि 'क्योंकि कला अत्यन्त व्यवस्थित तथा सौन्दर्य-भावित अभिव्यक्ति है इसलिये वास्तवमें 'सम्पूर्ण व्यवस्थित तथा सौन्दर्य-भावित अभिव्यक्ति ही कला है।'

क्योंकि 'कला' शब्द पारिभाषिक है और 'अभिव्यक्ति' शब्द बिना विशेषणके निरर्थक और अस्पष्ट है, अतः, 'सौन्दर्य-भावनासे ही कलाकी उत्पत्ति होती है और केवल उसका ही समीक्षण हो सकता है जो केवल कला दिखानेके लिये लिखा गया हो। अतः, व्यवस्थित तथा सौन्दर्य-भावित मानवीय क्रिया ही कला है।

कलामें रुचि-भेद

इसी प्रसङ्गमें यह भी जान लेना चाहिए कि कुछ कला तो ऐसी है जिसका आनन्द सब ले सकते हैं, जो सबके द्वारा आस्वाद्य है और कुछ ऐसी है जिसका कि केवल जौहरी या विशिष्ट व्यक्ति ही परीक्षण कर सकते हैं। यदि हम कलाओंकी दृष्टिसे देखें तो प्रतीत होगा कि हम चित्रका परीक्षण आँखसे करते हैं, सङ्गीतका कानसे, मूर्तिका आँखोंसे और स्पर्शसे, भोज्यका नासिका और मुखसे। किन्तु कानसे सुनकर या दृश्य-काव्यको आँखसे देखकर हम साहित्यका तात्कालिक आनन्द भले ही प्राप्त कर लें किन्तु उसका सूक्ष्म परीक्षण और उसके विभिन्न तत्त्वोंकी सङ्गति हम तबतक नहीं जान सकते जबतक हम उसके भली प्रकार परीक्षण करनेकी विधियों, साधनों, उद्देश्यों आदिसे परिचित नहीं हो जाते। ये परीक्षण भी अपने-अपने कौशल, रुचि, वृत्ति, शिक्षा, संस्कार और रूढ़िके अनुसार अलग-अलग होते हैं। भारतीय दृष्टिसे दुःखान्त नाटक बहुत बुरा है किन्तु योरपवालोंकी दृष्टिसे वही अत्यन्त सुन्दर और मधुर है।

सात उदार कलाएँ

योरपमें प्राचीन और मध्ययुगके अन्तर्गत यूनानियोंने साधारण जन-समाजको सुसंस्कृत करनेके लिये और उनके ज्ञानका आधार बनानेके लिये जो अध्ययन-योजना बनाई उसे उन्होंने 'सात उदार कलाएँ' कहकर सम्बोधित किया। उदारका तात्पर्य यह है कि 'वे, उन यान्त्रिक शिल्प-कलाओंसे भिन्न हैं जो निम्न कोटिके व्यक्ति काममें लाते हैं।' किन्तु ये उदार कलाएँ स्वतन्त्र पुरुषकी शोभा हैं और उदार संस्कृतिकी प्रेरणा देती हैं। उदार-कला और शिल्प-कलाका यह भेद छठी शताब्दी ई० पू० में सोलन, प्लेटो और अरस्तूने स्पष्ट कर दिया था किन्तु ये सात कलाएँ भी सदा एक-सी नहीं रहीं, कभी इनमें कोई कला सम्मिलित कर ली जाती थी, कभी निकाल दी जाती थी, यहाँतक कि रोमके प्रभुत्वके समय आयुर्वेद, वास्तु-कला, व्यायाम-कला तथा कृषि-शास्त्र भी कलाओंमें सम्मिलित थे।

इसके अतिरिक्त जहाँ मूल कलाओंके सम्बन्धमें ऐकमत्य था वहाँ उनकी प्रकृति और प्रयोजनके सम्बन्धमें बड़ा मतभेद भी था और इसी आधारपर उस योजनामें उनका क्रम भी स्थिर होता था। मूलतः इस योजनाके अन्तर्गत साहित्यिक और गणित-सम्बन्धी कलाएँ थीं जो त्रिवियम् और क्वाद्रियम्

कहलाती थीं और मिलकर सात कलाएँ हो जाती थीं। त्रिवियमके अन्तर्गत व्याकरण, भाषण-शास्त्र और तर्क-शास्त्र था, क्वाड्रियम्के अन्तर्गत गणित, ज्यामिति, सङ्गीत और ज्योतिष-विद्या थी।

जान पड़ता है यह सम्पूर्ण कला-योजना दर्शनकी तैयारीका सांस्कृतिक आधार बनानेके उद्देश्यसे स्थापित की गई थी क्योंकि अरिस्तित्पसने कलाको दर्शनकी सखी बताया है। आगे चलकर जब ये विद्याएँ ज्ञानसे अलग कर दी गईं तब सिसरोने चिढ़कर कह भी दिया था कि 'जबसे इन कलाओंको अलग किया गया है तबसे वक्ताओं और दार्शनिकोंमें निरन्तर द्वन्द्व और विद्वेष छिड़ गया है जिससे भाषण-कला और दर्शन दोनों समाप्त हो गए हैं। इसलिये इस परिस्थितिको ठीक करनेके उद्देश्यसे सिसरोने ज्ञानके उसी प्राचीन आदर्शकी स्थापना की जिसका आधार यह सप्त-कला-योजना थी। इन विषयोंको कला कहनेका जो चलन उस समयसे चला वह आज-तक हमारे यहाँ भी त्योंका त्यों आँख मूँदकर चलाया जा रहा है जिससे कि बी० ए० पास करनेवाले लोग 'कलाके कुमार' और एम्० ए० पास करनेवाले 'कलाओंके स्वामी' कहलाते हैं। यद्यपि ये सब कलाएँ न होकर शास्त्र या साहित्य हैं किन्तु यह भ्रामक 'कला' शब्द अभीतक चलाया जा रहा है और इसका सुधार नहीं किया जाता।

हमारे यहाँ 'कला' शब्द उस विशेष कौशलके लिये प्रयुक्त होता था जिसके द्वारा मनुष्यकी सौन्दर्य-वृत्ति, बुद्धि-कौशल और विवेकका संस्कार होता था। जो कलाओंकी सूची वात्स्यायनके कामसूत्रमें प्राप्त होती है उसे देखनेसे ज्ञात होता है कि संसारमें मनुष्यकी इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ भी ज्ञेय, व्यवहार्य तथा उपभोग्य है उसको सुन्दरतम रूपमें ढालना ही कला है।

साहित्य भी कलाका एक रूप

§ ३६६. साहित्यिक रचनाएँ भी कला-कृतियाँ हैं।

उपर्यङ्कित सूचीसे यह भी स्पष्ट हो जायगा कि सङ्गीत, आलेख्य आदि अनेक कलाओंके साथ-साथ प्रहेलिका, प्रतिमाला, दुर्वाच योग, पुस्तकवाचन नाटिका, आख्यायिका-दर्शनका भी विधान है जो शुद्ध रूपसे कवि-कर्म या साहित्य-रचना ही है। अतः, हमारे यहाँ भी काव्य-रचना या साहित्य-रचनाको कला ही मानते रहे हैं।

कलाका सहजोन्मेष (आर्ट इम्पल्स)

मनोविज्ञानगत सौन्दर्यवादकी दूसरी समस्या है कलाका सहजोन्मेष। इस सम्बन्धमें निम्नलिखित बातोंपर विशेष ध्यान दिया जाता है—

१. बालकोंकी चित्र-रेखाका अध्ययन।
२. प्राचीनतम कलाका मानवतावादी अध्ययन।
३. महान् कलाकारोंका प्रमाण या साक्ष्य।

कलाके सहजोन्मेषकी प्रकृतिके सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

१. शिलर और स्पेन्सरका मत है कि 'कलाका सहजोन्मेष खेलनेकी स्वाभाविक प्रेरणाका परिणाम है।'

२. मार्शलका मत है कि 'कलाका सहजोन्मेष उस इच्छासे उत्पन्न होता है जिसमें दूसरोंको प्रसन्न करके उनका ध्यान आकृष्ट करनेकी भावना होती है।'

३. बाल्डविनका मत है कि 'आत्म-प्रदर्शनकी इच्छासे ही कलाका सहजोन्मेष होता है।'

४. लौंगफ़ील्डका मत है कि 'यह कलाका सहजोन्मेष वहाँ उत्पन्न होता है जहाँ खेलनेकी प्रेरणा आत्म-प्रदर्शनकी इच्छासे प्रेरित हो अर्थात् जहाँ यह इच्छा हो कि हमें देखने-सुननेवाले लोग भी हों।'

५. एलेग्जेण्डरका मत है कि 'मनुष्यमें जो रचनाकी आत्म-प्रेरणा होती है उसीका वह उदात्त रूप है' अर्थात् यह उसी प्रकारकी प्रेरणा है जिसके कारण पक्षी अपना घोंसला बनाते हैं। उसी स्तरपर मनुष्य भी अनेक प्रकारकी आवश्यक सहायक वस्तुओंका निर्माण करता है। यही सहजोन्मेष कलात्मक रचनाके स्तरपर पहुँचकर उन नित्य और शाश्वत कलात्मक वस्तुओंका निर्माण करता है जिनका जीवनमें कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं होता।

६. फ्रौयडका मत है कि 'यह औडिपस कौम्प्लैक्स या ओडिपस ग्रन्थिकी शक्तियोंके निर्गमका प्रतिनिधि मात्र है अर्थात् असफल कामवासनाका उदात्त निर्गम है।'

७. मैकडूगल और लंढोलमका मत है कि 'यह हमारी किसी भी विकृतिकी सहज प्रेरणाका उदात्त स्वरूप है।'

८. हिर्नका मत है कि 'जो बहुतसे चित्र आदि अत्यन्त प्राचीन कलाके रूप माने जाते हैं वे मूलतः शृङ्गारके लिये नहीं रचे गए थे, जैसे—अपनी प्रेयसीको आकृष्ट करनेके लिये या सहकारी परिश्रमको सहायता देनेके लिये, शत्रुओंको डरानेके लिये अथवा जादू-टोना करनेके लिये। किन्तु यह सम्भव है कि सांस्कृतिक विकासकी इसी बीचकी अवस्थामें मनुष्योंने यों ही विचार मात्रसे ही कुछ वस्तुओंका निरुद्देश्य सर्जन कर दिया हो अर्थात् किसी सहायक अथवा उपादेय उद्देश्यके बिना भी वे रच दी गई हों।'

सूचनाके लिये अथवा धार्मिक तथा अन्य भावोंके उद्दीपनके लिये कलाको साधन बनानेकी भावनाका सम्बन्ध शुद्ध सौन्दर्यवादसे नहीं है, यद्यपि बहुतसे लोग इस दृष्टिसे भी उसका अध्ययन करते हैं। वास्तवमें इस सबका तो सौन्दर्यके बाहरी रूपसे सम्बन्ध है, उसके आन्तरिक दार्शनिक भावसे नहीं।

उन्मेषण (रेवेलेशन)

बैनेदेत्ते क्रोचेने अपनी पुस्तक 'अभिव्यक्ति-विज्ञानके रूपमें सौन्दर्य-शास्त्र' (एस्थैटिक्स ऐज़ सायन्स ऑफ़ एक्स्प्रेशन) में कहा है कि 'यदि कला अभिव्यक्तिसे 'कुछ अधिक' हो भी तो आजतक कोई ऐसा माईका लाल नहीं जनमा जो इस 'कुछ अधिक' का परिचय देकर उसका रहस्य बता सके।' कुछ आचार्योंने उत्तर दिया कि वास्तवमें यह 'कुछ अधिक' ही उन्मेषण (रेवेलेशन) है। कला केवल अभिव्यक्ति ही नहीं करती, वह कुछ प्रतीति भी कराती है अर्थात् वह केवल अभिव्यक्ति मात्र नहीं रहती, वह किसी रहस्यका उद्घाटन भी करती है। हमारे यहाँ प्रतिभाकी परिभाषा ही बताई गई है—'नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा।' [नई-नई बातें सुझानेवाली शक्तिको ही प्रतिभा कहते हैं।] जब टी० एस्० ईलियटने यह कहा कि 'कविता एक भावकी शिथिलता-मात्र नहीं वरन् भावसे हटकर बचना है' तब इसका तात्पर्य किसी व्यक्तिकी अभिव्यक्ति नहीं वरन् 'व्यक्तित्वसे बचकर चलना' है। इससे यह समझना चाहिए कि वह प्राच्य देशोंकी प्राचीन भावनाको ही प्रतिध्वनित कर रहा है। किन्तु इसमें उसने प्रारम्भिक स्थितिका ही चित्रण किया है क्योंकि बच निकलनेके पश्चात् इस स्वतन्त्रताका क्या प्रयोग किया जायगा इसका कोई विवरण उसने नहीं दिया। कोई भी क्रोधी व्यक्ति अपने क्रोधको उद्विग्न वाक्योंसे व्यक्त करता है, कोई प्रेमी

अपनी भावनाको प्रार्थना या प्रेम-निवेदनके रूपमें व्यक्त करता है। वास्तवमें हमारे भीतर सब भाव इतने तरल हैं कि यदि वे किसी दूसरेके द्वारा अत्यन्त भावुकताके साथ व्यक्त किए जायँ तो हमारे हृदयकी तन्त्री भी उसीके साथ बज उठे। किन्तु कलाकार इससे भी अधिक तीव्रताके साथ कार्य करता है। वह केवल भावकी प्रवृत्ति ही नहीं देखता-दिखलाता वरन् उसका स्वत्व, उसके अतिरेककी असङ्गता और भयानकता, अन्य प्राकृतिक विरोधी शक्तियाँ, समय और हमारे पापके चारों ओर रहनेवाला विश्व सबको दिखाता है। अतः, यह समझना चाहिए कि अभिव्यक्ति हमें उत्तेजित करती है और हमारे हृदयके उन्मेषणको प्रेरणा देती है।

माधुर्य और प्रकाश

स्विफ्टका मत है कि 'कलाकारकी मुख्य प्रेरणा प्रकाश और माधुर्य ही है।' आरनोल्डने स्विफ्टका यह वाक्य लेकर वर्तमान कालके लेखकोंकी तुलना मकड़ियोंसे करते हुए कहा है कि 'ये वर्तमान कवि तो धूल और विषकी सृष्टि करते हैं और मधुमक्खी (प्राचीन कविता) मधु और मोम देती है। इस प्रकार वह मनुष्योंको श्रेष्ठ पदार्थ देती है प्रकाश और माधुर्य, अर्थात् तत्कालीन आनन्द भी देती है और आत्मोन्नतिके लिये मार्ग-निर्देश भी।'

इच्छापूर्ति या पलायन

मनोविश्लेषण-शास्त्रियोंका कहना है कि 'प्रत्येक मनुष्यके भीतर उसकी इच्छाओं और उसकी शक्तियोंके बीच द्वन्द्व चलता रहता है। इन शक्तियोंके मार्गमें संसारने अनेक प्रकारकी बाधाएँ खड़ी कर रक्खी हैं। रबेका वेस्टका कथन है कि 'सम्पूर्ण कला-कृतियाँ काल्पनिक संसारमें लड़कर इस द्वन्द्वको परास्त करनेके प्रयास हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि जब कोई व्यक्ति अपने वास्तविक जीवनमें उठे हुए द्वन्द्वको जीत नहीं पाता तब वह साहित्यका आश्रय लेकर उसमें अपनी अतृप्त इच्छा, लालसा, कामना और वासनाको साहित्यके द्वारा तृप्त करने लगता है। इस प्रकार वास्तविक सङ्घर्षमय जीवनसे पलायन करके वह साहित्यकी कन्दरामें छिपकर विश्राम करता है और यही इच्छापूर्ति की पलायनवादी वासना ही साहित्यको जन्म देती है।'

एकत्वका सिद्धान्त

कलात्मक एकत्वकी भावना सर्वप्रथम प्लेटो और अरस्तूने प्रतिपादित की थी। वे मानते थे कि किसी भी रचनामें कार्य और चरित्र (पात्र)

एक ही होना चाहिए, कई नहीं, किन्तु हौरेसने पूर्ण रचनामें ही 'एकत्व' माना था। हौरेसने कहा था कि 'बीच-बीचमें जो निरर्थक अलंकरणयुक्त सामग्री दे दी जाती है अर्थात् 'पर्पिल पैच' डाला जाता है वह ठीक नहीं है।' इससे यही बात सिद्ध होती है कि वह एकत्वके सिद्धान्तको मानता था, जो उसके साहित्य-सिद्धान्तमें शीलके नियमसे आबद्ध हैं। किसी भी रचनाको या विभिन्न रचनाओंको इस सिद्धान्तके साथ समन्वित करनेके लिये कई प्रकारके एकत्वोंका वर्णन किया गया है, जैसे—क्रिया, रूप और उद्देश्य-का एक होना। भारतवर्षमें उद्देश्यको ही प्रधान माना है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी लोग नाटकीय एकत्वकी तुलना प्रबन्ध काव्यके एकत्वसे करने लगते हैं और कहते हैं कि प्रबन्ध-काव्यका मुख्य पात्र, एक व्यापारके बदले अनेक कथा-व्यापारोंसे सम्बद्ध रहता है, जो ठीक नहीं है। वास्तवमें एक काव्य, नाटक या उपन्यासमें एक नायक, एक कथा और एक ही कार्य या व्यापार (उद्देश्य) होना चाहिए।

रूढि (कन्वैन्शन)

सर्वसम्मतिसे या समाज-द्वारा स्वीकृत या मान्य किसी नियम या व्यवहारको ही रूढि कहते हैं। इसी प्रकार किसी कलामें भी जो एक विशेष परिपाटी मान्य हो जाती है वह रूढि बन जाती है। किसी भी साहित्यिक रूढिके विकासमें दो विरोधी शक्तियाँ निरन्तर काम करती पाई गई हैं—एक रूढि दूसरे विद्रोह। रूढिमें तो निश्चित और अपरिवर्त्तनशील रूपोंके अनुसार साहित्यिक रचना करनेकी प्रवृत्ति होती है और विद्रोहमें कोई भी व्यक्तिगत लेखक मूल रूढिमें कुछ परिवर्तन करके अपनी छाप दे देना चाहता है। रूढिमें सब स्वरूप स्थिर होते हैं। चीनी साहित्य-जैसी स्थिर संस्कृतिमें या मुसलमानोंकी-सी संस्कृतिमें पहुँचकर साहित्य भी रूढिबद्ध हो जाता है।

जादू (मैजिक)

एडिथ सिटवेलने कहा है कि 'कला जादू है, तर्क नहीं।' उसने यह घोषणा की है कि 'शेक्सपियर, दा विंची और बीथोवन तीनोंमें समान रूपसे अनियमित और अतर्क्य भावना सङ्गत रूपमें व्यक्त हुई है क्योंकि अतर्क्य रूपमें तर्क-सङ्गत भावनासे क्षुद्र कवि और तथ्यातिरेकवादी उत्पन्न होते हैं, कवि नहीं।'

मानसिक दूरी (साइकिक डिस्टेंस)

श्रोता या दर्शकका यह समझना भ्रान्तिका उलटा है कि वह किसी कलाकृतिके सामने है और उसके सम्मुख क्रिया, चरित्र, भाव आदि प्रदर्शित नहीं हो रहे हैं। इस प्रकारकी परिस्थितिसे कोई भी कलाकृति अपनी उपादेयताके अतिरिक्त कलाकी निर्लिप्तताकी भावना उत्पन्न करना सम्भव करती है। यदि यह मानसिक दूरी अनुचित रूपसे उपस्थित की जाय तो यही अत्यन्त कृत्रिम प्रतीत होने लगे। सजीव अभिनेताओंकी उपस्थितिके कारण ही रङ्गमञ्चपर यह मनोवैज्ञानिक या मानसिक दूरी और भी अधिक आवश्यक है। ऐसा होनेपर ही नाटककी ओर जनताका ध्यान अधिक एकाग्रताके साथ आकृष्ट करनेमें अभिनेताका कौशल सफल हो सकेगा।

आकर्षण बनाम सौन्दर्य (चार्म वरसेस ब्यूटी)

हौरेसने 'आर्स पोएतिका' नामक ग्रन्थमें लिखा है कि 'मनुष्यकी कवितामें सौन्दर्य (प्रस्का या बाह्य सौन्दर्य) और आकर्षण या चार्म (डल्शिया) अर्थात् भावोंको प्रभावित करनेकी शक्ति, दोनों गुण होने चाहिएँ। इनमेंसे दूसरा अर्थात् आकर्षण भी वास्तविक सन्तुष्टि प्रदान करता है। हैलिकारनेसस-निवासी दिअनूसियसने अपने 'शब्दोंकी सज्जा' नामक लेखमें बताया है कि आकर्षणमें इतने गुण होने चाहिएँ—

(१) नवीनता (फ्रेशनेस), (२) कोमलता (ग्रेस); (३) फुसलानेकी शक्ति या मनवानेकी शक्ति (पर्सुएसिवनेस); और सौन्दर्यमें ये गुण होने चाहिएँ—

(१) भव्यता (ग्रेंजियर) और (२) गम्भीरता (सौलम्निटी)।

कला निरुद्देश्य होती है

१९१९ ई० में पीट्रोगैडमें 'सीरापियन बन्धु' नामक ऐसा साहित्यिक संघ खुला जिसने यह घोषणा की कि 'जीवनके समान कला भी निरुद्देश्य होनी चाहिए।'

कला विज्ञापन है

कुछ लोगोंका विचार है कि 'सम्पूर्ण कला ही विज्ञापन है'। कुछका विचार है कि 'जाने या अनजाने कला भी पक्षपात करती है और वर्ग-संघर्षके लिये शस्त्रके रूपमें काममें लाई जा सकती है।' 'जीवनार्थे कला'के

पक्षपाती उसे अपने पक्षके वकीलके रूपमें प्रयुक्त करते हैं, निष्पक्ष निर्णायकके रूपमें नही। इस प्रवृत्तिको बहुतसे लोग मानते और इसका समर्थन करते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो इस पुकारके साथ इसे भासमान करते हैं कि 'सब कला विज्ञापन ही है।' यह बात रचनाकारके उद्देश्यसे नहीं वरन् पाठक या दर्शकके समझनेसे ही सिद्ध होती है अर्थात् यदि कोई कृति निष्पक्ष प्रतीत होती है तो वह कला है, यदि उसमें तनिक भी असंतुलन है तो वह विज्ञापन है। किन्तु कला और विज्ञापनका यह भेद ठीक नहीं है क्योंकि कोई भी कलाकृति विज्ञापन और कला दोनों ही हो सकती है।

कला किसके लिये है ?

कलामें कुछ लोगोंने अत्यन्त भावावेगके साथ इतनी दार्शनिकताका आरोप कर दिया है कि उसकी चकाचौंधमें कलाका वास्तविक व्यावहारिक रूप अस्पष्ट हो गया है। अनेक मन्दिरों, विशाल भवनों, चित्रशालाओं तथा कला-केन्द्रोंमें सौन्दर्यभासित कृतियाँ मनुष्यकी कल्पना और उसकी तूलिका या छेनीसे अलंकृत होकर बिखरी पड़ी हैं किन्तु इन सबके साथ यह प्रश्न अवश्य लगा हुआ है कि जिन व्यक्तियोंने इनकी कल्पना की और जिन्होंने रचना की, वे व्यक्ति क्या एक ही थे। दूसरा प्रश्न यह है कि यदि वे व्यक्ति एक ही थे, तो क्या उन्होंने स्वयं स्वान्त:प्रेरणासे उनकी रचना और कल्पना की अथवा दूसरोंकी कल्पनाको आधार बनाकर केवल अपनी उँगलियों या हाथोंके प्रयाससे उनको मूर्त रूप दे दिया? जबतक इन दोनों प्रश्नोंकी जिज्ञासाओंका समाधान नहीं हो जाता तबतक किसी कलाकृतिकी रचनाका वास्तविक मूल्यांकन करना भी निरापद नहीं है।

जो लोग पथरकटोंके पास रहते हैं या परम्परागत पत्थर छीलनेका काम करते हैं अथवा कुम्हारके यहाँ या मूर्तिकारके घर जन्म लेकर पारम्परिक निकुलीनिका (कुल-व्यवसाय) का अभ्यास करते हैं उनमें इतनी दक्षता आ जाती है कि स्वयं सोचकर नवीन रूप बनाने या ढालनेका सामर्थ्य न होनेपर भी यदि उन्हें कोई अपनी कल्पनासे कोई नया विचार सुझा दे तो वे उसके अनुसार मूर्ति या या चित्र गढ़ सकते हैं, अथवा पत्थरमें या कागजपर बेल-बूटोंसे सजावट कर सकते हैं, अथवा किसी दिखाई हुई किसी कलाकृतिका ज्योंका त्यों अनुकरण कर सकते हैं। इस प्रकारकी कलाओंसे ही विश्वका अधिकांश कला-भाण्डार समृद्ध हुआ है अर्थात् सोचने या विचारने-

का काम किसी दूसरे व्यक्तिने किया है और उसे मूर्त-रूप देनेका काम किसी दूसरेने। अतः, स्वाभाविक जिज्ञासा यह है कि इन दोनोंमें अर्थात् कल्पना करनेवाले व्यक्ति और रचना करनेवाले व्यक्तिमेंसे वास्तविक कलाकार कौन है? कल्पनाकारको यदि कलाकार कहते हैं तो वह इसलिये उचित नहीं है कि उसकी कल्पना केवल भावात्मक और अप्रत्यक्ष है, किन्तु कला तो प्रत्यक्ष, व्यवस्थित सौन्दर्य-भावित मानवीय क्रिया है। यदि हम रचनाकारको ही कलाकार मान लें तो प्रत्यक्ष विरोध यह है कि उसने जो रचना की है उसमें उसकी बुद्धिका तनिक भी संयोग नहीं है। उसने केवल यन्त्रकी भाँति काम किया है जैसे छापेकी मशीन एक-जैसे ठप्पेको निरन्तर ज्योंका त्यों छापती चली जाती है। अतः, यह स्पष्ट है कि जो केवल रचनाकार हैं, जिन्हें रङ्ग मिलाने और तूलिका चलाकर रङ्ग भरनेका कौशल निरन्तर अभ्याससे आ गया है वे कलाकार नहीं हैं। साथ ही वे भी कलाकार नहीं जो केवल बैठे-बैठे सुन्दरताके स्वप्न देखा करते हैं और अपने मनमें ही नई-नई सौन्दर्य-भावित कला-कृतियोंकी कल्पना करके केवल मनमोदक खाते रहते हैं। वास्तविक कलाकार वह है जो कविके समान प्रत्यक्ष या मानस जगत्के अनेक रूपों, विक्षोभों और गोचर पदार्थों तथा क्रियाओंको प्रतिक्रियाके रूपमें स्वयं कुछ चिन्तन करता हो और उस चिन्तनको अपने अभिव्यक्ति-कौशलसे सुसज्जित करके इस प्रकार प्रस्तुत करता हो कि दूसरोंकी दृष्टि भी उधर आकृष्ट हो और वे उसी प्रकार अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करें जिस प्रकार कवि उन पदार्थों या क्रियाओंके गोचर होनेपर करता है। किन्तु साथ ही उस व्यक्तिका महत्त्व भी कम नहीं है जो किसीके समझाने या सङ्केत देनेपर सङ्केत देनेवाले व्यक्तिकी भावनाके अनुसार या कभी-कभी उससे भी सुन्दर कलाकृति प्रस्तुत कर देता है। इस दृष्टिसे कलाके दो स्वरूप हुए—एक तो वह जो शुद्ध रूपसे व्यक्तिगत या सात्त्विक है, जिसमें कलाकार स्वतः अपने भावोंको रूप देनेका प्रयत्न करता है; दूसरी कला वह है जिसमें कोई कलाकार किसी अन्य व्यक्तिकी भावनाओंको मूर्त्त रूप देनेका प्रयत्न करता है अथवा समाज-द्वारा निर्णीत या अनुभूत भावनाको रूप समृद्ध करता है अथवा किसी परम्परागत या रूढ शैलीमें ज्योंका त्यों अनुकरण करके अपना कौशल दिखाता है। इनमेंसे प्रथम वर्गका कलाकार वास्तविक कलाकार है जिसकी ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और मनमें परस्पर अत्यन्त निकट घनिष्ठ तथा एकात्म सम्बन्ध है। दूसरे वर्गका कलाकार मध्यम

कोटिका है, जिसका मन और जिसकी ज्ञानेन्द्रियाँ कुंठित हैं किन्तु कर्मेन्द्रियाँ विशेषतः हाथ-पैर सधे हुए हैं।

कला क्या है ?

मोटे रूपसे लोगोंने कलाको अनुकरणात्मक (इमिटेटिव), सज्जात्मक (डेकोरेटिव), क्रमात्मक (ऑर्डर्ली) और अभिव्यञ्जनात्मक (एक्स्प्रेसिव) बताया है। इनमेंसे अनुकरणात्मक कला तो वही है जिसमें किसी पहलेसे चले आए हुए या प्रस्तुत किसी प्राकृतिक या मानव-रचित निर्मितिको देखकर उसकी चित्रमय या मूर्तिमय प्रतिकृति उपस्थित की जाय। दूसरी सज्जा-कला या अलंकरण-कला वह है जिसमें किसी व्यक्ति या वस्तुको नये वस्त्रों, परिधानों, आवेष्टनों, रङ्गों अथवा बेलबूटोंसे सुन्दरतर बनानेका प्रयास होता है। तीसरी क्रमात्मक कला वह है जिसमें अनेक रूप-रंग तथा आकार-प्रकारकी वस्तुओंकी प्रतिकृतियाँ बनाकर उन्हें एक क्रमसे सजाते हैं अथवा केवल प्रत्यक्ष वस्तुओंको ही एक विशेष क्रमसे लगाकर रख देते हैं। इस प्रकारकी सब क्रियाएँ क्रमात्मक कलाके भीतर आती हैं। चौथी अभिव्यंजनात्मक कला वह है जिसमें अपने मनमें उठी हुई भावनाको इस शैलीसे व्यक्त किया जाता है कि वह दूसरोंको अच्छी लगे अर्थात् व्यवस्थित तथा सौन्दर्यभावित अभिव्यक्ति ही कला है, जिसकी व्याख्या ऊपर हो चुकी है। वह कला उस समय प्रतीकात्मक (सिम्बौलिक) भी कहलाती है जब उसमें प्रस्तुत विचारको छिपाकर उसके बदले कोई दूसरा मूर्त्त प्रतीक स्थापित कर दिया जाता जैसे एक बाणका चिह्न → इस बातका प्रतीक है कि 'इधरसे जाना चाहिए'। इसी प्रकार कविताएँ भी प्रतीकात्मक होती हैं, जिनमें लोग रूपकोंका आश्रय लेकर किसी प्रत्यक्ष विवरणके बहाने कोई अप्रत्यक्ष बात कहना चाहते हैं। किन्तु साधारण अर्थमें प्रत्येक चित्र ही उसमें वर्णित विषयका संकेत या प्रतीक-मात्र है। इसी प्रकारकी अभिव्यञ्जनात्मक रचनाओंमें वे रचनात्मक कलाएँ भी आती हैं जिनमें कलाकार कोई ऐसी वस्तु उपस्थित करता है जो न तो किसीकी प्रतिकृति हो, न किसी भावका ही अभिव्यञ्जन हो, न अलङ्करण ही हो वरन् स्वयं अपनेमें सुन्दर वस्तु हो जैसे कोई सुन्दर घड़ी बनाकर ही टाँग दे तो वह न तो अभिव्यक्ति है, न सज्जा है, न क्रम है, न अलङ्करण है और न प्रतीक है। वह स्वयं अपनेमें संसारकी अन्य वस्तुओंके समान एक रचना है, जिसका महत्त्व कलापनसे भिन्न व्यावहारिक रूपमें है। इस दृष्टिसे

ईश्वरकी रचनाको भी कला कहते हैं जिसमें सुन्दर फूल, सुन्दर मुखड़ा, सुन्दर मोर, पशु, पक्षी आदि सब आ जाते हैं। जिस प्रकार ये सब ईश्वरकी रचनात्मिका कला होते हुए भी स्वतः अपनेमें सोद्देश्य हैं उसी प्रकार इन रचनाओंका भी शुद्ध, सोद्देश्य तथा अपनी कलात्मकतासे भिन्न अपना महत्त्व है। ऐसी कृतियाँ रचनात्मक कलाके अन्तर्गत आती हैं। कलाके इन सब रूपोंमें भी कुछ अनुकरण हो सकता है कुछ मौलिक हो सकता है और इनके कारण कलाओंकी रूपसज्जा (पैटर्न) बदलती रहती है।

इस विवरणसे स्पष्ट हो जाता है कि किसी कलाकृतिकी मीमांसा करते हुए यह भी देखना चाहिए कि कहीं आवेश या भ्रममें आकर हमने मौलिक विचारकको महत्त्व न देकर केवल सधे हुए मिस्त्रीको ही महत्त्व न दे डाला हो। अतः, यह आवश्यक है कि कलाके परीक्षणके लिये कलाकी प्रेरक शक्तिका भली प्रकार ज्ञान प्राप्त कर ही लेना चाहिए।

काव्य या साहित्यकी व्याख्या करते हुए आगे समझाया जायगा कि साहित्य दो प्रकारका होता है—सायास या परिश्रमके साथ किया हुआ और अनायास या अन्तःप्रेरित। इनमें से अनायास काव्य तो सात्त्विक होता है किन्तु सायास तो चित्र या मूर्तिके समान शुद्ध रूपसे बाह्य है जो किसी भी समय रचा जा सकता है। वह बाह्य कला होती है जो कविके ज्ञान, प्रतिभा और अभ्यासके साथ चलती है किन्तु उसके साथ मनुष्यकी अपनी बुद्धि और उसके मानसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसीलिये पहले लोग चित्रकला, मूर्तिकला और संगीत-कलाको तो अभ्यास-विद्या कहते थे किन्तु काव्यको प्राक्तन जन्म संस्कारसे प्राप्त विशेष शक्ति मानते थे। योरपमें भी पहले चित्रकला और मूर्तिकला केवल कारीगरी मानी जाती थी। बहुत पीछे चलकर 'जैसा चित्रमें वैसा काव्यमें' (उत पिक्तूरा पोइसिस) का आन्दोलन चला तो लोगोंने चित्रकला-को भी उठाकर काव्यकलाकी श्रेणीमें ला बिठाया। कभी एक और भी विचित्र स्थिति आ जाती है जैसी वास्तुकलामें दिखाई देती है। वहाँ एक व्यक्ति आदेष्टा होता है जो यह समझाता है कि मुझे अपने लिये अमुक प्रकारकी सुविधाओंसे सम्पन्न अमुक कार्यके लिये अमुक प्रकारका भवन चाहिए। वह व्यक्ति वास्तु-कलाका कल्पनाकार है। दूसरा वह व्यक्ति है जो उसका रूपचित्र (डिजाइन) प्रस्तुत करता है और तीसरे वर्गमें कलाकार—ईंट चुननेवाले, पत्थर छीलनेवाले और लकड़ीका काम करनेवाले आते हैं जो उस रूपचित्रके

अनुसार भवन-निर्माण करते हैं। किन्तु काव्यमें इस प्रकारकी बातें नहीं होतीं। वहाँ यह तो सम्भव है कि किसीके कहनेपर आप उसके लिये एक कविता बना दें और जैसे गला सध जानेपर कोई गवैया चाहे जिस समय गा दे, चित्रकार जहाँ चाहे वहाँ वैसा चित्र बना दे किन्तु साहित्यकी रचना इस प्रकार नहीं होती। उसमें कविको बहुत सोचना पड़ता है और अनेक प्रकारके चिन्तन, मननके पश्चात् उसे अभिव्यक्तिका आवरण पहनाकर प्रस्तुत करना पड़ता है। अतः, उसका काम अत्यन्त कठिन होता है। यदि ऐसा होता तो कवि भी गायक और चित्रकारके समान अभ्याससे नित्य काव्य लिख डाला करता। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि अच्छे गायकके मुखसे गाए हुए सब गीत सदा मधुर लगते हैं किन्तु किसी कविके सभी काव्य सुन्दर नहीं होते।

कलाके भेद

कलाके यूनानी पर्याय 'पेक्सन', लातिन 'आर्स' और जर्मन 'कुन्स्ट' का तात्पर्य है—'वह कौशल और योग्यता जो धैर्य-पूर्ण अभ्यास-द्वारा सिद्ध हो और किसी ऐसे निश्चित उद्देश्यके लिये प्रवृत्त हो, जो या तो सौन्दर्यात्मक हो, या नैतिक हो, या उपयोगी हो।' इन तीन उद्देश्योंके अनुसार योरपमें कलाके तीन भेद माने गए हैं—

१. ललित कला (फाइन आर्ट्स), जिनका उद्देश्य है सौन्दर्यकी प्राप्ति या साधना।

२. आचार-कला (आर्ट्स ऑफ कौन्डक्ट) जिसके अन्तर्गत शिष्टाचारकी समस्त क्रियाएँ आती हैं और जिससे शिव या लोक-मङ्गलके उद्देश्यकी पूर्ति होती है।

३. उदार कलाएँ (लिबरल आर्ट्स), जिनका उद्देश्य है मनुष्यके किसी न किसी उपयोगमें आना जैसे—बढ़ईगिरी, वस्त्र बुनना, पाक-कला आदि।

ललित कलाके दो रूप : चल और अचल

आजकल लोग केवल ललित कलाओं अर्थात् उन मानवीय प्रक्रियाओंको ही कला मानते हैं जो सौन्दर्य-भावनाकी ओर प्रवृत्त करें। इन ललित कलाओंको भी उन्होंने दो भागोंमें बाँट दिया है—

१. अचल-कला (स्टैटिक आर्ट्स), जिनके अन्तर्गत वास्तु-कला, मूर्तिकला और आलेख्य-कला (चित्रकला) आती हैं, और

२. चल या गतिशील कला (डायनैमिक आर्ट्स), जिनके अन्तर्गत सङ्गीत, कविता, नाटक और भाषण-कला आती है।

पीछे बताया जा चुका है कि कलाकी मूल प्रकृतिका विवेचन लोगोंने अनेक प्रकारसे किया है किन्तु उन सबमें किसी न किसी प्रकारकी त्रुटि अवश्य रह जाती है। प्लेटो और शिलरसे लेकर के० लांगे तकने बताया है कि 'कला उपयोग-रहित तथा अभौतिक प्रकृतिकी होती है और वह भी एक प्रकारका खेल है।' किन्तु आजकल यह सिद्धान्त अमान्य हो गया है। अब तो कलाचार्योंकी यह धारणा है कि 'आदिम युगके लोगोंने प्रकृतिकी अज्ञात शक्तियोंसे भयभीत होकर अन्धविश्वासके कारण कलाको जन्म दिया। उन्होंने अपनी कला-कृतियों-द्वारा अज्ञात विरोधी शक्तियोंको प्रसन्न करनेके लिये उसका प्रयोग किया और विश्वमें व्याप्त भयङ्कर सङ्घर्षमें शान्ति और स्थिरताका प्रतीक बनाकर कलाको प्रतिष्ठित किया।' इसी सिद्धान्तके समान एक दूसरा सिद्धान्त एकात्मता (आइनफ़्यूहलुंग या ऐम्पेथी) का है जिसे चलाया तो सबसे पहले हर्डेरने किन्तु जिसका विस्तार किया वर्नन लीने। यद्यपि इस सिद्धान्तमें यह तो आभास मिल जाता है कि 'सौन्दर्यात्मक आनन्द वास्तवमें कैसा होता है', किन्तु इस समस्याका कोई समाधान उससे नहीं प्राप्त होता कि 'कलाकी मूल प्रकृति क्या है।' इसका समाधान न तो क्रोचेके 'अन्तःप्रेरणा' (इन्ट्यूशन) और 'कलाके एकत्वके सिद्धान्त'में प्राप्त होता है न सान्तायनके 'मूर्तिकृत आनन्द' (ऑब्जेक्टीफ़ाइड प्लेज़र) में। साधारणतः कलाकी यह परिभाषा भी अत्यन्त भ्रामक है कि 'कला किसी मनोवृत्ति द्वारा देखी हुई प्रकृति है'। तौल्स्तौयने कुछ ठीक कहा था कि 'सम्पूर्ण कलात्मक अभिव्यक्तिके लिये भावात्मक प्रेरणा अपरिहार्य है', किन्तु अपना सिद्धान्त स्पष्ट करनेमें वह भी अस्पष्ट हो गया। कुछ लोगोंका यह भी मत है कि 'प्रकृतिकी प्रतिकृति उपस्थित करना ही कला है' या 'प्रकृतिमें जो सौन्दर्य है उसकी प्रतिकृति उपस्थित करना ही कला है।' किन्तु यह मत भी अत्यन्त भ्रामक है क्योंकि कला कोई प्रतिकृति नहीं है, वह तो व्याख्या है। कला वहीं प्रारम्भ होती है जहाँ कलाकार प्रकृतिके शुद्ध अनुकरणसे भिन्न पथ ग्रहण करता हुआ अपनी औचित्य-धारणाके अनुसार अपनी कृतिमें लय भरता चलता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रकृति ही कलाकारकी प्रेरणाका अक्षय भाण्डार है किन्तु किसी कलाकारकी कलाकृतिपर शासन करनेवाले नियम, प्रकृतिके नियमोंसे पूर्णतः स्वतन्त्र होते हैं।

आवश्यकतासे आगे बढ़ना ही कला है

इस आधारपर कलाकी यही परिभाषा ठीक है कि 'जहाँ मनुष्यकी आवश्यकता समाप्त होती है, वहींसे कला प्रारम्भ हो जाती है।' प्रत्येक मनुष्य अपने रहनेके लिये कोई ढका हुआ स्थान चाहता है। वह वृक्षके नीचे या गुफामें भी सो सकता है, दो बाँसोंके डण्डोंपर अटपट छाई हुई पुआलसे भी अपना काम चला सकता है। किन्तु ऐसा न करके वह ईंटें पकाता है, उन्हें एक विशेष ढंगसे सजाकर दीवार उठाता है और उसपर छत डाल लेता है। यहाँतक भी उपादेयता और आवश्यकता मानी जा सकती है, किन्तु वह जब उसपर बेलबूटे बनाने लगता है, उसे विभिन्न रङ्गोंसे रँगने लगता है तब वह आवश्यकतासे आगे बढ़ जाता है और यही 'आवश्यकतासे आगे बढ़ जानेकी क्रिया' ही कला है।

कलाका उद्देश्य

अतः, कलाका उद्देश्य हुआ 'आनन्द देना' और यह आनन्द तभी प्राप्त हो सकता है जब उस वस्तुमें अन्य तत्त्वोंके साथ सुन्दरता, असाधारणता और अद्भुततका सम्मिश्रण हो।

कलाका कार्य

§ ३६७. वाणीकी कलात्मक अभिव्यक्ति ही सर्वश्रेष्ठ कला है।

यह नहीं समझना चाहिए कि निश्चित रूपसे रची हुई किसी रचनाको ही कला कहते हैं। कला तो नवीनता उत्पन्न करनेमें भी होती है और अनुकरण करनेमें भी। इसलिये यदि कलाके कार्यकी दृष्टिसे विचार करें तो प्रतीत होगा कि कला पाँच कार्य करती है—

१. सजावट या अलंकरण : अर्थात् किसी एक वस्तुमें या वस्तुपर इस प्रकारकी क्रिया करती है कि वह पहलेकी अपेक्षा अधिक आकर्षक होने लगे अर्थात् यदि वह सुन्दर रही हो तो सुन्दरतर बन जाय, यदि असुन्दर रही हो तो सुन्दर हो जाय।

२. मिश्रण : अर्थात् कई भावों, रंगों, वस्तुओं या रूपाकारों (पैटर्न) को इस प्रकार घोलकर या मिलाकर उपस्थित करती है कि उनके सम्मिश्रणसे कुछ नया, निराला सुन्दर रूप उपस्थित हो जाय।

३. क्रम-सज्जा : अर्थात् बिखरी पड़ी हुई अनेक आकार-प्रकारोंकी वस्तुओंको ऐसे क्रमसे सजा देती है अथवा औचित्यकी दृष्टिसे विभिन्न पदार्थोंको इस ढंगसे उचित स्थानपर संयोजित कर देती है कि वे सुन्दर प्रतीत होने लगें।

४. अनुकरण : अर्थात् किसीकी क्रिया, वाणी और रूप आदिको ज्योंका त्यों दिखला देती है, जैसे नाटकमें होता है।

५. कल्पनाभिव्यक्ति : अर्थात् देखी या सुनी अथवा कल्पनामें आई हुई वस्तु, क्रिया या भावको आकर्षक ढंगसे व्यक्त कर देती है, जैसे काव्यमें।

इनमेंसे वाणीके द्वारा जो कला अनुकरण और कल्पनाभिव्यक्ति करती है वही वास्तवमें साहित्य बन जाती है और वही सर्वश्रेष्ठ कला है।

कला और प्रकृति

इस विवरणसे स्पष्ट है 'कि कलाका उद्देश्य है सौन्दर्यकी सृष्टि करना'। इसे दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि 'कलासे बाहर दूसरा कोई सौन्दर्य नहीं है।' वास्तवमें प्रकृतिमें कोई वस्तु सुन्दर या असुन्दर नहीं है क्योंकि सुन्दरता या असुन्दरता तो कलाकारकी प्रवृत्तिपर निर्भर है। वह किसी भी वस्तुको सुन्दर समझकर उसकी अभिव्यक्ति कर सकता है। इस दृष्टिसे सौन्दर्यको सौन्दर्य-भावनाका वह मूर्तिकरण कह सकते हैं जिसे कलाकार अपने कौशलसे दृश्य या श्रव्य बनाकर उसका रस लेनेको हमें प्रेरित करता है। इसी भावनासे कलामें प्रकृति भी दिखाई देती है; क्योंकि उस कलाकी मूल प्रेरणा तो प्रकृति ही है। आदिकवि वाल्मीकिने रामायणमें वनश्री या प्रकृतिके बड़े सुन्दर और भव्य वर्णन उपस्थित किए हैं। वन, उपवन, नदी, सरोवर शारदीय आकाश, समुद्र, पर्वत, निर्झर और पशु-पक्षी ये सभी इस प्राकृतिक सौन्दर्यके अनेक प्रतिनिधि हैं। मानव कलाकार भी ईश्वर कलाकारकी ये सामग्रियाँ लेकर मानव-निर्मित सुन्दरता या कलाकी सृष्टि करता चलता है।

जड प्रकृतिमें सौन्दर्य

जिस यूनानने मानवीय शरीरके अनुपातका सर्वश्रेष्ठ कला-रूप स्थिर किया, वह सम्भवत: जड प्रकृतिका सौन्दर्य जानता ही नहीं था। इटलीमें तो पुनर्जागरण-कालतक पर्वतका दृश्य सुन्दर नहीं समझा जाता था, क्योंकि पर्वतको मनुष्यकी गतिमें बाधक तथा संकट और थकावटका कारण समझा जाता था। प्रसिद्ध कवि पेत्रार्कने एक पर्वतका विवरण दिया है जिसमें

उसने पर्वतपर चढ़नेकी कठिनाइयों, संकटों और विपत्तियोंका विवरण तो दिया किन्तु पर्वतकी विशालता, उसकी हरीतिमा और उसके स्फटिक जल-प्रपातोंके सौन्दर्यके सम्बन्धमें उसने एक शब्द भी नहीं कहा। योरपमें तो केवल गियोत्तोंके समयमें मनुष्यकी दृष्टिमें पर्वत सुन्दर प्रतीत होने लगा, जब उसने तथा उसके साथियोंने सर्वप्रथम अपने चित्रोंमें पर्वतोंका चित्रण किया।

कलाका विशेषण ही सौन्दर्य है

सौन्दर्य वास्तवमें प्रकृतिका विशेषण न होकर कलाका या कलाकारके मस्तिष्कका विशेषण है। यदि ऐसा न होता तो वह अपरिवर्त्तनीय और स्थायी होता, किन्तु सौन्दर्यका मानदण्ड निरन्तर बदलता रहता है, यहाँतक कि विभिन्न देशों, जातियों और व्यक्तियों-तकमें यह मानदण्ड विभिन्न होता है, कलाके द्वारा सौन्दर्यका जो मानदण्ड स्थापित होता है वही स्थायी होता है और उसीकी समीक्षा करना वास्तवमें कलात्मक समीक्षा होती है। अतः, साहित्यमें भी यह देखना आवश्यक है कि कविने इसमें कौनसे ऐसे शाश्वत सौन्दर्य, असाधारणत्व और अद्भुतत्वके संयोजन किए हैं जिनसे साहित्य आकर्षक हो गया है।

कलामें नैतिकता

§ ३६८. कलामें श्लीलत्व और अश्लीलत्व सब अवस्था-सापेक्ष्य होता है। जिन लोगोंने कलापर विशेषतः काव्यकलापर सामाजिक दृष्टिसे विचार किया है वे समझते हैं कि कलात्मक रचना करते समय यह भी विचार करना चाहिए कि उससे लोगोंके मनपर कोई बुरा प्रभाव तो नहीं पड़ता। किन्तु बुरे और भलेकी कसौटी क्या है, इसपर बहुत विचार किया गया है। कुछ लोग मानते हैं कि 'दस भले मानुषोंके बीच बैठकर जिस प्रकारका बोलना या बातचीत करना (शब्दों या वाक्योंका प्रयोग करना) समाजमें भद्दा समझा जाता हो या जो बातें हम माता और पुत्रियोंके सम्मुख न कह सकते हों या जिन्हें सुनकर समष्टि रूपसे समाज नाक-भौंह सिकोड़े वे सब बुरे, अभद्र और अश्लील हैं, उनका प्रयोग कलामें नहीं करना चाहिए।' कुछ लोग कहते हैं कि 'मनुष्यको उदात्त भावना (त्याग, उदारता, परहित, आत्मबलिदान आदि) का जिससे प्रेरणा मिलती हो, केवल उन्हींकी अभिव्यक्ति कलामें होनी चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर

आदिको प्रोत्साहन देनेवाली रचनाएँ न रची जायँ।' कुछ लोगोंका मत है कि 'ऐसे अंगों या दृश्योंका चित्रण न किया जाय जो साधारणतः हमारी विलास-प्रियता या कामुकताको उत्तेजित करनेवाली हों।' इसी आधारपर वे लोग काव्यमें कपोल, स्तन, उरुका वर्णन तथा चुम्बन और आलिंगन आदिका वर्णन बुरा समझते हैं।

कलाकी सामाजिक दृष्टिसे प्रत्येक व्यक्ति अपनी अभिव्यक्तिके लिये वहीं तक स्वतन्त्र है जहाँतक वह दूसरेकी स्वतन्त्रता या सुविधामें बाधक नहीं होता। यदि वह बाधक होता हो तो उसकी स्वतन्त्रताको स्वयं समाज नष्ट कर डालेगा। यही बात वागात्मक अभिव्यक्ति (काव्य) या कलाके सम्बन्धमें भी है। अपने पड़ोसीका व्यंग्यचित्र बनाकर अपने या उसके घरके सामने टाँगनेका अर्थ ही है कि आप झगड़ा मोल ले रहे हैं। अतः,कलाके क्षेत्रमें भी व्यक्तिगत स्वातन्त्र्यके साथ-साथ प्रत्येक व्यक्तिको समाजकी रुचि और अरुचि-का ध्यान रखना ही चाहिए। यद्यपि कलाका यह पक्ष आवश्यक है किन्तु समाजको भी ऐसा मिथ्या आडम्बर नहीं धारण करना चाहिए कि मनुष्यकी जिन वासनाओंको उदात्त रूपसे उत्तेजित करके मानव-मात्रके हृदयमें समवस्थित सात्त्विक प्रेमको उद्‌बुद्ध करके उसका पोषण किया जा सके, उसमें ये मिथ्या नैतिक भावनाएँ बाधक हो जायँ। इसी सौन्दर्यकी कलात्मक अभिव्यक्तिके लिये यूनानियोंने चित्रों और मूर्तियोंमें सुन्दर सानुपात शरीरवाले पुरुषों और स्त्रियोंकी नग्न मूर्तियाँ ढाली थीं और यही कारण है कि वह परम्परा कलाओंमें आजतक ज्योंकी त्यों चली आ रही है। किन्तु यदि काव्यमें वैसा वर्णन हो जाय तो लोग नाक-भौंह सिकोड़ने लगते हैं।

वास्तवमें श्लील और अश्लीलका विचार व्यक्ति-सापेक्ष्य, अवसर-सापेक्ष्य तथा अवस्था-सापेक्ष्य है। छोटे बालक-बालिकाको नग्न देखना या चित्रित करना, पागल या नाँगे साधुओंको नग्न देखना, चीरफाड़ घरमें या चिकित्सालयमें या पुरुष स्त्रीकी-नग्नता अश्लील नहीं मानी जाती। यद्यपि आयुर्वेदकी शिक्षाके समय युवा स्त्री और पुरुषोंकी सम्मिलित कक्षामें पुरुष और स्त्री जननेन्द्रियके सम्बन्धमें भाषण देना अश्लील नहीं है किन्तु काव्यकी कक्षामें या सार्वजनिक सभामें वह अश्लील समझा जायगा।

क्या शृङ्गार-प्रदर्शन अनैतिक है ?

काम या शृङ्गार-भावना मनुष्यकी जीवन-शक्ति या प्रेरणा-शक्ति है। अपने जीवनका बहुत-सा अंश मनुष्य इसीके लिये व्यतीत करता है। अतः,

यह आवश्यक है कि उस काम-भावना या शृंगार-भावनाका उचित प्रकारसे पोषण किया जाय। अश्लीलत्वसे बचकर मनुष्यकी सौन्दर्य-भावना और काम-भावनाको उद्दीप्त करनेकी वृत्ति-तक तो कोई दोष नहीं है। यही कारण है कि महाकवि कालिदास-जैसे विश्व-विश्रुत कविने भी शृंगार-चित्रणकी उस परिपाटीमें नैतिकताकी चिन्ता न करके परिपाटीका ही पालन किया। आजकल भी जो अनेक कविताएँ, कहानियाँ और ग्रन्थ रचे जा रहे हैं उन सभीमें व्यापक रूपसे भावना तो वही है किन्तु अब वह रूपक और अध्यवसानके चोलेमें प्रकट होने लगी है जिसमें किसी अज्ञात, अलौकिक प्रियतम और किसी कल्पित सजनीको लक्ष्य करके कवि अपनी उद्दाम भावनाओं और वासनाओंका प्रदर्शन करता है।

कलामें गुणतत्त्व

§ ३६९. सब कलाओंमें सुन्दरता, असाधारणता और अद्भुतताके तत्त्व होने ही चाहिएँ।

जिस सुन्दर, असाधारण और अद्भुतके आरोपको सम्पूर्ण रचनाके आकर्षणका केन्द्र बताया गया है (§ ३४०) उन तीनों तत्त्वोंका समावेश तो व्यापक रूपसे सभी कलाओंमें होता है किन्तु उनकी अनुभूति-भावनाएँ एक दूसरेसे भिन्न होती हैं। जो तत्त्व सुन्दर है, वह ममत्वकी प्रेरणा करता है अर्थात् उस सुन्दरको देखकर यह इच्छा, लालसा, कामना, वासना और आकांक्षा होती है कि यह सदा पास रहे, कान इसकी ध्वनि सुनते रहें, यह मेरे कण्ठसे लगा रहे। यह ममत्वकी भावना इस श्रेणीतक पहुँच जाती है कि उस आत्मीयके सौन्दर्यको ग्रहण करनेसे जो विशेष प्रकारका गर्व और दूसरेके मनमें ईर्ष्या जगानेकी प्रवृत्ति भी होती है उसकी तृप्ति-के लिये उस सुन्दर वस्तुका प्रदर्शन भी किया जाता है जिससे दस लोग यह पूछें कि 'यह कौन है? यह आपने कहाँसे प्राप्त की? यह कहाँ मिली?' आदि। इससे मनुष्यके उस अहंभावकी तृप्ति होती है जो सुन्दर वस्तु प्राप्त करनेवालेके मनमें आ बसती है। इसीलिये लोग सुन्दर वस्त्र पहनकर, सुन्दर आभूषणोंसे सुसज्जित होकर अपने सुन्दर पति या अपनी सुन्दर पत्नीके साथ सभाओंमें जाते हैं, जिससे दसके मनमें यह कुढ़न और ईर्ष्या उत्पन्न हो कि 'हाय! यह मुझे क्यों नहीं मिल गया (या मिल गई)?' इस प्रकारकी कुढ़न उत्पन्न करनेसे उसके मनमें एक विचित्र प्रकारका आनन्द आता है

और इस आनन्दको उत्पन्न करनेका सामर्थ्य जिस वस्तुमें होता है वह अवश्य सुन्दर होती है। उस सुन्दरताकी भावनामें उसे अपनाने, ग्रहण करने और उसका प्रदर्शन करनेकी भावना होती है।

किन्तु असाधारणता-तत्त्व ऐसा शाश्वत सत्य होता है जो किसी व्यक्ति या वस्तुमें होने पर ममत्व उत्पन्न न करके उसके प्रति श्रद्धा जागरित करता है। उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि वह सदा आँखके सामने रहे ही। वह मनुष्यके मनमें ऐसी प्रेरणा जगाता है कि वह उसतक पहुँचनेके लिये लालायित रहता है। यह असाधारणता तत्त्व समाजमें उत्पन्न वैषम्यको सन्तुलित करनेके लिये अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि यह केवल सात्त्विक प्रकृतिवालोंको ही नहीं वरन् कभी-कभी तामसी प्रकृतिवालोंको भी उद्वृत्तताके लिये ऐसा प्रोत्साहन देता है कि उनके सम्पूर्ण दुर्भावोंका रेचन हो जाता है और वे राक्षससे देवता बन जाते हैं। यह भी सौन्दर्यके समान ही कलाका' विशेषतः वाणीकी कलाका प्रमुख जीवन-तत्त्व है। इसी तत्त्वसे प्रेरित होकर राम-जैसे असाधारण महापुरुषकी गाथाका वर्णन रामायण-परंपरामें होता रहा।

अद्भुतता-तत्त्व न तो ममत्व उत्पन्न करता है न श्रद्धा। वह एक विचित्र प्रकारका ऐसा आशंका-रहित कुतूहल जागरित करता है जो सहसा हमारी वृत्तिको ढकेलकर उसकी ओर मोड़ देता है। एकाग्रताके लिये इससे बड़ा कोई दूसरा साधन नहीं है। यद्यपि यह अल्पकालिक ही होता है तथापि यह ऐसा मूल तथा प्रारम्भिक जीवन-तत्त्व है जिसके अभावमें कलाकी ओर किसीकी रुचि न हो और रुचि न होनेसे उसके अन्तर्गत सौन्दर्य तथा असाधारणताका भी लोग आनन्द न लें। अतः, कलात्मक कृतिके लिये यह आवश्यक है कि उसमें सुन्दरता, असाधारणता और अद्भुतताके गुण अवश्य विद्यमान रहें।

कलाओंका पारस्परिक सम्बन्ध

§ ३७०. सब कलाएँ परस्पर सम्बद्ध और एक हैं।

प्राचीन कालमें यूनान और रोमके आचार्योंका दृढ विश्वास था कि सब कलाएँ पूर्णतः एक दूसरेसे भिन्न हैं और प्रत्येकका सौन्दर्य-विज्ञान उनके प्रकारों, रूपों और कौशलोंके पूर्णतः भिन्न वर्गीकरणपर अवलम्बित है। इस दृष्टिसे कहा जा सकता है कि उदात्तवादी (क्लासिकल), पुनर्जागरणकालीन (रिनैसाँ) और नवोदात्तवादी (निओक्लासिकल) समीक्षामें 'कला' शब्दका प्रयोग बहुवचनमें होता है (ब्यूक्स आर्त्स)। वर्त्तमान स्वैरवादी और दार्शनिक

लोग भी कलाको पूर्ण तत्त्व मानते हैं। हौरेसने 'जैसा चित्रमें वैसा काव्य में' (उत पिक्तूरा पोएसिस) का जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया है उसका यही अर्थ लगाना पड़ेगा कि 'व्यापक रूपसे सब कलाओंका विशेष रूपसे काव्य और चित्रण-कलाका ध्येय एक ही है और वह है प्रकृतिका अनुकरण करना।' एक प्रकारसे यह अरस्तूके अनुकरण-सिद्धान्तका ही समर्थन है।

सम्पूर्ण कलाओंकी विभिन्न अभिव्यक्तियोंके दार्शनिक समन्वयकी भावना और उनकी प्रतीकात्मक तथा कौशलात्मक एकात्मकताकी भावना जब योरोपीय संक्रान्ति-कालमें समुन्नत हुई, उस समय उदात्तवादी और मिथ्योदात्तवादी (.जूडो-क्लासिकल) सौन्दर्यभावना लुप्त हो गई और स्वैरवादी (रोमांटिक) सौन्दर्य-भावनाका विकास हुआ। इनका मूल सिद्धान्त ही यह था कि 'हमारी किसी भी ज्ञानेन्द्रियपर पड़ा हुआ कोई प्रभाव दूसरी ज्ञानेन्द्रियमें भी संक्रमित हो सकता है।' यह सिद्धान्त पीछे चलकर 'सहसंवेदन' (सिनैस्थीसिया) कहलाया, जिसका तात्पर्य यह था कि 'यदि किसी एक इन्द्रियको कोई तीव्र उत्तेजना मिल जाय तो वह अन्य इन्द्रियोंको भी तत्सम रूपसे स्पन्दित कर देगी।' बोएहमे और स्वेडनबर्गके अनुसार यही भावना आगे चलकर यातुवाद (जादूगरी), प्रेतवाद, प्रेतात्मावाद आदिमें स्थापित की गई और इस प्रकार एक सार्वभौम 'स्वर्गीय भाषा' (ऐडनिक लैंग्वेज) में रहस्यात्मक विश्वास बनकर बँध गई। इसीको डीक्वेन्सीने अपनी 'अफ़ीमचीकी रामकहानी' (कन्फ़ैशन्स ऑफ़ एन ओपियम-ईटर) में स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'मादक तत्त्वोंके प्रयोगसे साधारण परिणाम यह होता है कि इन्द्रियोंके बीचके बन्धन रोमाञ्चक रूपसे टूट जाते हैं।' इसी भावनाको बौदेलेयाने भी अपने 'पैरदी आर्तिफ़िशेल' में प्रयुक्त किया है।

'सब कलाएँ एक हैं और उन सबका प्रभाव भी एक होता है' इस भावका सर्वप्रथम प्रयोग ब्लैक और कौलरिजने अपने काव्योंमें किया और कौलरिजने तो सम्भवतः स्वेडनबर्गके ही प्रभावसे किया। किन्तु इसका प्रथम सज्ञान प्रयाग जर्मन स्वैरवादी विशेषतः नोवालिस और हौफ़मानने सौन्दर्य-विज्ञानके लिये किया। शुद्ध स्वैरवादी आवेगमें लडविग टीकने 'काव्यको सब कलाओंका समन्यव' माना, किन्तु प्रतीकवादियोंने यह श्रेय सङ्गीतको दिया। बौदेलेयाने अपने प्रसिद्ध 'पारस्परिक सम्बन्ध' (कारेस्पोन्दान्से) में इसकी विस्तृत व्याख्या की है जिसका प्रथम अंश तो ऐसा प्रतीत होता है मानो

वह सहसंवेदनकी ही बात कर रहा हो। किन्तु जिन संवेदनों और अनुभवोंकी उसमें चर्चा है उन्हें विश्वात्माकी वाणी और दार्शनिक उन्मेष ही समझना चाहिए। जहाँ उसने इस विचारकी गद्यात्मक व्याख्या की है वहाँ उसने इन कलाओंको एकात्मक न मानकर उनके विभिन्न माध्यमोंको ही समान माना है। इस प्रयासमें कहीं तो उसने केवल संगीत और चित्रकलाको ही परस्पर सम्बद्ध माना है और कहीं चित्रकला और काव्यको, यहाँतक कि वह काव्यको चित्रकलाका समीक्षात्मक अनुवाद मानता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ उसने अपनी कविताओंमें लय, प्रकाश और गन्धोंके व्यक्त सम्बन्धोंमें एकताकी बात कही है वहाँ उसने सैद्धान्तिक लेखोंमें 'रङ्ग और ध्वनि' (आडीशन, कलरी या तोन्फ़ार्बे) के बीच व्यापक सम्बन्धोंकी चर्चा करते हुए कहा कि 'ये दोनों लयात्मक और सङ्गीतात्मक हैं' और काव्य तथा सङ्गीतको लगभग एक ही बता दिया। कहीं-कहीं बौदेलेयाने एकाङ्गी होकर भी विचार किया है। स्वैरवादियों और प्रतीकवादियोंके समान ही बौदेलेयाने भी मूर्त्तिकलाको कोई महत्त्व नहीं प्रदान किया क्योंकि उसने मूर्तिकलाको अत्यधिक सत्यतुल्य माना है। वास्तवमें बौदेलेयाने विभिन्न कलाओंको बहुत एकात्मक न समझकर समकक्ष माना था और उसका सम्बन्ध भी केवल गहराई और ऊँचाईकी दृष्टिसे ही बताकर कहा था कि इन दोनोंका एक ही लक्ष्य है—परम सौन्दर्यकी ओर पहुँचना और अलौकिक संसारके साथ पारस्परिक सम्पर्क स्थापित करना।' उसका मत था कि 'सब कलाओंसे लगभग एक ही अभिव्यक्ति होती है जो उनके रूपोंको उल्लङ्घन कर जाती है। रङ्ग, ध्वनि, रूप और गन्ध सबका इसलिये पारस्परिक सम्बन्ध है कि सभी एक दूसरेको प्रभावित करते हैं और इस प्रकार उनके पारस्परिक सम्बन्ध और प्रतीक दोनों एक हो जाते हैं।'

इस पारस्परिक सम्बन्धकी भावनाका सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विकास किया प्रतीकवादियों' (सिम्बोलिस्ट्स) ने जो इस सम्बन्धको भी विशेष प्रकारका प्रतीक मानते हैं। किन्तु उसके अतिरञ्जित रूपोंका प्रादुर्भाव रिम्बाउडके प्रसिद्ध गीत 'वायली' (१८७१) से हुआ जो बौदेलेयाके गीतके साथ-साथ इस सिद्धान्तका सबसे अधिक प्रभावशील प्रमाण है। रिम्बाउडका मत था कि 'प्रतीक और पारस्परिक सम्बन्ध दोनों केवल मानसिक तत्त्व हैं, काव्यगत माध्यम नहीं। वे काव्यात्मक और बौद्धिक समन्वयके साधन न होकर मानवीय और सृष्टिगत अनस्तित्त्वके समन्वयके साधन हैं।' उसके मतसे 'कवि वह देवदूत या भविष्यद्रष्टा है जो अत्यन्त लम्बी और कठोर

भावानुभूतिके पश्चात् अपने उदात्त और त्रासद (ट्रेजिक) दृश्यों-तक पहुँचता है।' तथ्यातिरेकवाद (सुररीअलिज्म) का भी यही मूल मंत्र है।

अत्यन्त शुद्ध प्रतीकवादी कवि मलार्मेने सौन्दर्यके सम्बन्धमें विचार करते हुए विचार, और लय तथा प्रतीक और पद्यमें समरूपता बताई है। इसीका समर्थन उस मण्डलके प्रतिभाशाली कवि वर्लेकी 'काव्य-कला' (आर्त पोइचिक) में प्राप्त होता है।

ह्रासवादियों (डिकैडेन्ट्सने) 'सहसम्वेदन' को ही अधिक महत्त्व दिया। अपने साहित्यिक सन्देशके ग्रन्थ हुयस्मान्सके उपन्यास (ए रेबू) में संवेदनाओं-की बड़ी विचित्र तथा जटिल बहुलता है। हुयस्मान्सका नायक (दा एशियन्ते) श्रवण तथा दर्शनकी अपनी दो सौन्दर्यात्मक ज्ञानेन्द्रियोंके साथ गन्ध और स्वादको भी जोड़ लेता है। वह कहता है कि 'फ्रान्सीसी शैलीका क्रम लोक-प्रयुक्त गन्धोमें होनेवाले परिवर्तनोंके आधारपर बदलता रहा है। वह ऐसा साधन खोज निकालता है जिसके द्वारा वह अपनी जिह्वापर मादक रोगोंका प्रयोग दिखाता है। इस प्रकार कला और इन्द्रियका पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त निराले तथा समाज-द्वारा निषिद्ध इन्द्रियात्मक सुखका कारण बन जाता है और वह सुख, कलामें इतना नहीं जितना जीवनमें होता है।' हुयस्मान्सकी इस प्रवृत्तिका अनुगमन वील्डे तथा द' अनुन्जियो आदि ह्रासवादी सौन्दर्यवादियोंने किया।

प्रतीकवादियोंकी दूसरी पीढ़ीके कवियोंने कलाओंके पारस्परिक सम्बन्धको एक प्रकारका व्यावहारिक सम्बन्ध माना। यह भावना उत्तरीय और बेल्जियन मण्डलके सामाइँ, रोडनबाख तथा मैटिरलिंक आदि कवियोंमें अधिक प्राप्त हुई। उसकी चरम सीमा देखनेको मिली कवि तथा सिद्धान्तवादी रेने घिलकी रचनामें। घिलने अपनी रचनाओंमें मौखिक अभिव्यक्तियों (संगीत और भाषामें) इस पारस्परिक सम्बन्धकी बात दिखाई और फिर तो दृश्यता, श्रव्यता, वाणी, मनोविज्ञान और रहस्यवादका अध्ययन करके उसने वैज्ञानिक दृष्टिसे सब प्रकारके वाद्य यन्त्रों, स्वर और व्यञ्जनकी ध्वनियों, रङ्गों और उनकी छायाओं, भावनाओं, आवेगों, वासनाओं और भावोंमें पूर्ण एकत्वका सम्बन्ध सिद्ध कर दिया। भाषा-वैज्ञानिकोंने इस सम्बन्धमें अभीतक कोई विचार नहीं किया।

प्रतीकवादके पश्चात् फ्रांसमें तथा अन्य स्थानोंपर वर्तमान कवियोंने कलाओंके पारस्परिक सम्बन्धके सिद्धान्त और प्रयोगको लगभग पास-पास

और एक सुझाव मात्र समझा है किन्तु तथ्यातिरेकवादी कवितामें और मनोविश्लेषणात्मक कहानियोंमें यह सिद्धान्त पुनः मानवीय सहज प्रवृत्तियोंकी अभिव्यक्तिका (जैसे दमन की हुई इच्छाओं और दुःस्वप्नोंकी व्याख्या करनेका) स्वतंत्र आधार या साधन मान लिया गया है। अतः, यह कहनेका आधार बतानेके लिये कि कला एक ही है और इन्द्रियों और कौशलके कारण उसके भेदोपभेद शुद्ध अनुभवात्मक हैं, यह कलाओंके पारस्परिक सम्बन्धका सिद्धान्त, शब्दपर विचार करनेवाले रहस्यवादियों, तन्त्र-मन्त्र-विद्यावालों और जादूगरोंके लिये बड़ा प्रबल आधार बन गया।

क्या साहित्य भी कला है ?

कविताके सम्बन्धमें यह प्रश्न पूछना असङ्गत होगा कि 'वह कला है या नहीं' क्योंकि अब तो कविता एक मतसे कला मान ली गई है। किन्तु साहित्य तो मानवीय भावनाओं और अनुभवोंका वह विस्तृत अभिव्यक्ति-क्षेत्र है जिसकी परिभाषा ही यह दी गई है कि 'हृद्य भाषा-शैलीमें अभिव्यक्त अनुभूति ही साहित्य है।' अतः, इसके अन्तर्गत कविताके अतिरिक्त भाषात्मक अभिव्यक्तिके वे सब रूप समा जाते हैं जो कवितासे भिन्न हैं या उसके विरोधी हैं। जेक्स मारिटैनने भी 'कला और विद्वद्वाद' (आर्ट ऐंड स्कौलेस्टिसिज्म १९३७) में इसी मतका समर्थन करते हुए कहा है—'साहित्यमें वह दार्शनिक तत्त्व नहीं जो काव्यमें है।' इसलिये साहित्यको समझनेके लिये उसके व्यापक क्षेत्रका अध्ययन और साहित्यको उसी व्यापक अर्थमें समझना आवश्यक है।

इससे यह प्रश्न उठता है कि 'सर्वसम्मतिसे कला मानी जानेवाली कवितामें और उस साधारण साहित्यमें क्या अन्तर है जिसका रूप अनिश्चित प्रतीत होता है ?' इस प्रसङ्गमें यही जान लेना पर्याप्त होगा कि 'वह कौन-सा ऐसा तत्त्व है जिसके कारण कविता और साहित्य दोनों दो प्रतीत होते हैं।'

साहित्य सर्वश्रेष्ठ कला है

§ ३७१. वाणीकी कला (साहित्य) ही सर्वश्रेष्ठ कला है।

भारतीय चौंसठ कलाओंकी सूचीमें जिन कलाओंकी गणना कराई गई है, उनमेंसे कुछ तो नेत्रको आनन्द देनेवाली हैं जैसे चित्र और मूर्ति, कुछ कानको जैसे सङ्गीत, कुछ जिह्वाको जैसे मधुर व्यञ्जन, कुछ त्वचाको जैसे कोमल,

चिकने, शीतल पुष्पोंकी रचना और कुछ नासिकाको तृप्त करनेवाली हैं जैसे सुगन्धित वस्तुएँ। किन्तु शेष ऐसी हैं जो हमारे मनको प्रसन्न करनेवाली या हमारे दैनिक व्यवहारमें कुशलता, प्रवीणता तथा योग्यता दिलानेवाली हैं। इस दृष्टिसे कलाकी परिभाषा यह हो सकती है कि—'कर्मेन्द्रियों-द्वारा वह कौशलपूर्ण रचना ही कला कहलाती है जो ज्ञानेन्द्रियोंको तृप्त करती हुई मनको प्रसन्न और तुष्ट करती है। इन सब प्रकारकी कलाओंमें भी साहित्य या काव्य ही ऐसी कला है जो किसी एक इन्द्रियको हर्षित न करके मनको तुष्ट करती है, आत्माको उदात्त तथा नैतिक आदर्शोंके द्वारा ऊँचा उठाती है, विवेककी स्थापनाके द्वारा बुद्धिका परिष्कार करती है, सूक्तियोंके संयोजनसे वाणीका संस्कार करती है और घटनाओंके नियोजनसे व्यावहारिक ज्ञान सिखाती है। अन्य सब कलाओं द्वारा मनुष्यकी किसी एक इन्द्रिय या दो इन्द्रियोंको सुख मिलता है और मनको क्षणिक तृप्ति मिलती है किन्तु काव्यके द्वारा कानको और नाटक-द्वारा नेत्र तथा कानको सुख मिलनेके साथ-साथ मनका भी सन्तर्पण और संस्कार होता चलता है। अतः, वाणीका यह संस्कार कलाकी दृष्टिसे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

साहित्यका अन्य कलाओंसे सम्बन्ध

कलाओंमें परस्पर क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्नकी मीमांसा पीछे (§ ३७०) की जा चुकी है। यदि यह पूछा जाय कि 'अन्य अलाओंसे साहित्यका क्या सम्बन्ध है?' और इस प्रश्नमें साहित्यके स्थानपर कविता शब्द रख दें तो एक उत्तर या एक प्रकारके उत्तर उन लेखकोंसे प्राप्त होंगे जिन्होंने कलाओंके वर्ग बाँध लिए हैं। कांट, शेलिङ्ग, स्पेंग्लर, हेगेल, शौपनेहावर, श्लोइएर माखेर आदि जर्मन आदर्शवादियोंका मत था कि 'चित्रकला, मूर्तिकला और वास्तुकलामें कल्पनात्मक रचनाका तत्त्व अत्यन्त प्रमुख रूपसे व्याप्त है। इसी प्रकार नृत्य, अभिनय और सङ्गीतमें आवेगात्मक अभिव्यक्तिका तत्त्व विद्यमान है। किन्तु कवितामें इन दोनों विरोधी तत्त्वोंका सन्तुलन स्थापित किया जाता है' [के० ई० गिलबर्ट और एच्० कुह्नका 'सौन्दर्यवादका इतिहास' १९३९]। इस विवेचनके अनुसार सब कलाओंमें कविताको सर्वोच्च स्थान दिया गया है। किन्तु बेनेदेत्तो क्रोचेने सब कलाओंको समान बताकर 'कलाओंके वर्गीकरण' का सिद्धान्त ही अमान्य कर दिया क्योंकि उसने इस प्रकारकी कला-जातियोंका अस्तित्त्व स्वीकार नहीं किया। यद्यपि कुह्नने

अपने 'कला-वर्ग' (१९४१) नामक लेखमें इस विषयको पुनः छेड़ा भी किन्तु वह चल नहीं पाया ।

जी० ई० लेसिंगने साहित्यके विभिन्न रूपोंमें अलग-अलग परिधि बाँधना तो प्रारम्भ किया किन्तु उनमें क्या पारस्परिक व्यवस्थित सम्बन्ध है इसपर विचार नहीं किया । अपने 'लाउक्नन' (१७६६)में उसने कहा है कि 'कविता तो लौकिक प्रतीकोंका प्रयोग करती है, इसलिये कवितामें केवल क्रियाओंकी अभिव्यक्ति होती है अर्थात् उसमें गतिशीलता होती है किन्तु चित्रकलामें स्थानका विस्तार और एक साथ अभिव्यक्ति किए जा सकनेवाले प्रतीक होते हैं इसलिये उसकी विषय-सामग्री केवल स्थिर तथ्य-मात्र है ।' कुछ ऐसे भी युग हुए हैं जिनमें चित्रकला भी साहित्यिक हो गई अर्थात् या तो उससे कोई नैतिक उपदेश निकाला गया या उसमें कथा चित्रित की गई जैसे भारतमें अजन्ताके चित्रोंमें या रामायण, महाभारत, गीता, दुर्गा-सप्तशती आदि ग्रन्थोंमें बने हुए चित्रोंमें या कैलेट, रैनोल्ड्स, हौगर्थ और राफेलसे पूर्वके लोगोंकी रचनाओंमें । कुछ युगोंकी कविताएँ भी चित्रकलाके समान-अचल मूर्तियाँ उपस्थित करती है, जैसे देवताओंके स्तोत्रोंमें (किन्तु शिवतांडव-स्तोत्रमें नहीं) या योरपके पारनेशियनों और बिम्बवादियों (इमेजिस्ट्स) की रचनाओंमें । इसी प्रकार जैसे कवि लोग शब्दके द्वारा चित्रण करते हैं वैसे ही चित्रकार लोग भी रङ्गके द्वारा अपनी कृतियोंमें भाव अभिव्यक्त कर सकते हैं । सन् १९१० में इर्विङ्ग बैबिटने इन कलाओंकी परिधिका निर्धारण पुनः प्रारम्भ किया और इस 'एक कलाको दूसरी कलामें घुसेड़नेकी' वृत्तिको ह्रास (डिकेडेन्स) का चिह्न बताया ।

सङ्गीत और साहित्य

भर्तृहरिने कहा है कि 'साहित्य और संगीत जिसे नहीं आता है, वह बिना पूँछ और सींगका पशु है—

साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।

साहित्य और संगीत दोनों श्रव्य शास्त्र हैं अर्थात् इनका कानपर प्रभाव पड़ता है । ये दोनों चित्रकला, मूर्तिकला और वास्तुकला आदि उन दृश्य कलाओंसे भिन्न हैं जो तल (स्पेस) पर विकसित होती हैं क्योंकि साहित्य और संगीत तो काल या समयमें विकसित होते हैं । संगीत और साहित्यमें यह समता रहते हुए भी उनमें भेद यह है कि संगीतकी ध्वनियां तो स्वतः

अपनेमें ही पूर्ण होती हैं किन्तु साहित्यमें प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंका अर्थ भी होता है। प्रायः प्राचीन कवियोंने साहित्य और संगीतका मधुर समन्वय किया है और यह निर्देश भी दे दिया है कि 'कौन-सा गीत, किस रागमें, किस लयमें, किस समय गाना चाहिए।' सूर, तुलसी आदिने तो इस विषयमें अधिक सजगता दिखलाई है। संस्कृतके गीतगोविन्दमें भी यही विशेषता मिलती है। जितना गीतात्मक संगीत होता है उसमें इसी प्रकार साहित्य और संगीतका सम्मिलन होता है। यद्यपि आजकल लोगोंने उसके संगीत-तत्त्वकी बहुत उपेक्षा कर दी है किन्तु वह है बहुत विचारणीय बात। इन दोनों कलाओंने एक दूसरेपर बहुत प्रभाव डाला है। यों भी कवितामें शब्दोंकी योजना कभी-कभी संगीतकी दृष्टिसे की जाती है जैसे गोस्वामीजीने की है—

कङ्कन किङ्किनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन राम हृदय गुनि।

—और पद्योंकी लय या गति तो शुद्ध रूपसे संगीतके लयपर ही चलती है, चाहे वे पाठ्य हों या गेय। किन्तु यह सहयोग होते हुए भी साहित्य और संगीत दो भिन्न कलाएँ हैं।

रूपात्मक कलाओंको साहित्यका सहयोग

चलता-सा परिणाम निकालनेकी प्रवृत्तिने जर्मनोंकी शैली-सम्बन्धी खोज लगभग समाप्त कर दी, किन्तु अँगरेज़ कवि और समीक्ष्यवादी लौरेंस बिन्योनने इसे पुनः सन्तुलित किया। इस सम्बन्धमें हम्बुर्गके (और पीछे लन्दनके) वारबुर्ग इन्स्टीटयूटने अत्यन्त सराहनीय कार्य किया। उसके प्रकाशनोंने साहित्य और कलाका पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट करनेमें बड़ी सहायता दी। नवीन खोजके अनुसार उन्होंने जो परिणाम निकाले और गवेषणाएँ कीं, उनसे प्रतीत होता है कि 'किसी जाति या सभ्यताके विचार और कल्पनाओंको प्रकट करने और उन्नत करनेका माध्यम बनानेवाला साहित्य, सदा कलाओंको शक्तिशाली विषय-सामग्री प्रदान करता रहता है।' इस प्रकार उन्होंने सिद्ध किया कि 'रूपात्मक कलाओंकी व्याख्याके लिये साहित्यका अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मार्ग प्रदर्शन करता है।' इन दो साथियोंमें अर्थात् कला और साहित्यमें जो पारस्परिक आदान-प्रदान होता है उसे देखकर यह समझना चाहिए कि साहित्य तो नई खोज उपस्थित

करता है और कलाएँ उनका विवरण देतीं या चित्र प्रस्तुत करती हैं। प्राचीन ग्रन्थोंमें ये दोनों कलाएँ अर्थात् साहित्य और चित्र साथ-साथ आते थे और आज भी यद्यपि उच्च श्रेणीकी पुस्तकोंसे चित्र लुप्त होने लगे है तथापि छोटे बालकोंकी पुस्तकोंमें अब भी और कभी-कभी कथात्मक ग्रन्थों और प्रबन्ध-काव्योंमें भी उनमें वर्णित विषयोंका चित्र उपस्थित रहता है। भारतके प्राचीन ग्रन्थोंमें तो नियम यह था कि लेखके साथ उससे सम्बद्ध चित्र भी होते थे जिसका सबसे सुन्दर प्रमाण हरिद्वारके 'गुरुमण्डलाश्रम' में सुरक्षित हरिवंश-पुराण है जिसके २००० पृष्ठोंमेंसे प्रत्येक पृष्ठपर भिन्न-भिन्न सुनहरी बेल है, चारों कोनोंपर चार भिन्न प्रकारके फूल हैं और अत्यन्त कलात्मक प्रकृतिके सुन्दर रंगीन चित्र हैं जिनकी एक-एक रेखा अनुपात और सूक्ष्मताके कौशलसे पूर्ण है।

मानव-जीवनमें कलाका प्रयोग

साधारणत: कलाका प्रयोग दो प्रकारसे किया जा सकता है—१. साध्यके रूपमें, २. साधनके रूपमें। किसी कलात्मक वस्तुका निरीक्षण इस उद्देश्यसे भी किया जा सकता है कि उसमें क्या है ? वह क्या व्यक्त करती है ? क्योंकि उसमें स्वयं अपना निजी आकर्षण होता है भले ही उसके पास पहुँचनेपर वह कुछ और ही क्यों न प्रतीत हो। यह जाननेके लिये भी उसका निरीक्षण किया जाता है कि उसका परिणाम अर्थात् प्रयोजन क्या है ? किसी कलावस्तुका निरीक्षण करते समय यह आवश्यक नहीं है कि उपर्यङ्कित दोनों प्रकारके उद्देश्योंसे प्रेरित होनेपर ही उसका ज्ञान हो। यह बहुत सम्भव है कि किसी कलाकृतिके सम्पर्कमें आते समय ये दोनों भावनाएँ विभिन्न शक्तियोंके साथ मनमें विद्यमान रहती हों। यदि ये दोनों भावनाएँ सदा साथ रहती भी हों, तब भी बुद्धिसे भली प्रकार उन्हें अलग-अलग करके ही समझा जा सकता है। मान लीजिए कोई सुन्दर वस्तु केवल सुन्दर होनेके नाते ही किसीके मस्तिष्कको प्रभावित करती है। यह छोटी या बड़ी अनुभूति एक प्रकारकी ऐसी अनुभूति है जिसमें वह सुन्दर वस्तु ही पूर्ण रूपसे हमारी भावनाओंपर शासन करती है। उसके प्रभावसे प्रभावित होनेपर मनुष्य उस वस्तुकी ओर ही उन्मुख बना रहता है क्योंकि वह वस्तु पूर्ण रूपसे आकर्षक और रुचिकर दोनों है। अनुभवमें प्रतीत होनेवाला कोई गुणतत्त्व उसका स्वाभाविक और अङ्गीभूत गुणतत्त्व होगा जिसके कारण वह इतना प्रभाव डालती है।

किन्तु यह गुणतत्त्व उस गुणतत्त्वसे भिन्न होता है जो किसी कलात्मक वस्तुमें तब प्रतीत होता है जब किसी वस्तुके अङ्गीभूत गुणसे आकृष्ट न होकर उसके पश्चात् व्यक्त होनेवाले प्रभावके कारण उसकी ओर आकर्षण होता है।

अपनी प्रधान रुचिपर अवलम्बित उस गुणतत्त्वको यदि 'अन्तःस्थिति' या सौन्दर्यात्मक अनुभूतिका 'तदात्म गुणतत्त्व' मान लिया जाय और दूसरे प्रकारके अनुभवको 'बहिर्गत' या 'अस्थित' मान लें तब सम्भवतः हमें उसका कुछ-कुछ रूप स्पष्ट हो पावे। कलाका पोषण करनेके लिये उन दो प्रश्नोंका समाधान आवश्यक है जो प्रायः एक दूसरेसे उलझाकर छोड़ दिए जाते हैं कि--(१) कलाके अन्तःस्थित गुण विशेष रूपसे क्या हैं और (२) उसके बहिर्गत या अस्थित गुण क्या हैं ?

कलाका अन्तःस्थित गुण

वर्तमान मनोविज्ञानने कलाके अन्तःस्थित गुणकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'व्यावहारिक सजगता किसी वस्तुको एकाग्रताके साथ समझनेका प्रयास नहीं करती वरन् वेगसे उन सब लक्षणोंको परख लेती है जिनके कारण वह मोटे रूपसे उस वस्तुको अन्य वस्तुओंसे अलग कर सके जिनका उसी वस्तुको ग्रहण करनेके लिये महत्त्व हो।' जहाँ प्रत्येक वस्तु बड़े ध्यानसे देखी जाती है उस वैज्ञानिक प्रयोगशालामें किसी वस्तुके लक्षण केवल उन संकेतोंके समान प्रयुक्त किए जाते हैं जो अपनेसे परे उन स्थिर सम्बन्धोंकी जटिलताका परिचय कराते हैं जो वास्तवमें वैज्ञानिकका लक्ष्य है। अपने कामसे जाते समय हम मार्गमें पड़ती हुई फूलकी दूकानको एक झपकमें देख लेते हैं किन्तु उस समय उन फूलोंके रङ्ग, उनके समूह और उनकी गुँथावटपर ध्यान नहीं देते क्योंकि उसी समय तत्काल हमें यह भी स्मरण हो आता है कि हमें अस्पतालमें पड़े हुए अपने मित्रसे मिलने जाना है। साधारण अनुभूति इसी प्रकारकी वेगशील होती है क्योंकि शीघ्रतामें हम वस्तुओंके मुख्य गुणतत्त्वपर सूक्ष्मताके साथ ध्यान नहीं देते। किन्तु यदि उन सुन्दर फूलोंकी प्रकृति और उसके अर्थपर ध्यान दिया जाय तो जान पड़ेगा कि अपने 'अन्तःस्थित' गुणोंके कारण वे हमें बहुत देरतक आकृष्ट किए रख सकती हैं। किन्तु जो वस्तु वास्तवमें सौन्दर्यात्मक होती है वह हमारी एकाग्रताको सहसा झकझोरकर पकड़ लेती है विशेषतः जब उसकी रचना इसी उद्देश्यसे जान-बूझकर की गई हो। ऐसी सोद्देश्य कला-कृतियाँ नवीन, एकरूप, गठी हुई, बहुविचित्र तथा स्वतःपर्याप्त होती हैं

और इसीलिये वे हमारी रुचिको चेतन और पुष्ट करती हैं। प्रत्येक रेखा, प्रत्येक धागा, प्रत्येक कथा या दृश्य इसी उद्देश्यकी पूर्ति करता है। ये सब एकत्र होकर ऐसी कृति प्रस्तुत करते हैं जिसका महत्त्व तभी समझा जाता है जब विशेष रूपसे एकाग्र होकर उस वस्तुपर ध्यान दिया जाय जो हमारे सम्मुख तत्काल प्रत्यक्ष उपस्थित की जाय। उसपर एकाग्र होनेके कारण वह हमें इस दृढतासे आकृष्ट कर लेती है कि उसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ अर्थात् दैनिक जीवनकी निराशाएँ और विपत्तियाँ, अन्य वस्तुओंके बिखरे हुए असम्बद्ध विचार, सब मिट जाते या समाप्त हो जाते हैं और हम सन्तुष्ट तथा एकाग्र होकर बैठ जाते हैं। यही वास्तवमें कलाका अन्तःस्थित गुण है। इस अन्तः-स्थित गुणसे समृद्ध कला-वस्तु चाहे प्रकृतिका दृश्य हो, चाहे नाटकीय सङ्घर्ष हो, चाहे ध्वनियोंका जटिल समुदाय हो, चाहे कहानी या बातचीत या गीत हो पूर्ण रूपसे ग्राह्य हो जाता है और उसे ग्रहण करते समय उसकी विशेष अप्रतिमताके सम्बन्धमें हमारी जो समुन्नत चेतना स्थिर हुई है वह हमें सहसा उठाकर जीवनके पूर्ण भावतक पहुँचा देती है।

कला साधन भी है

किन्तु यदि आकर्षणत्व ही कलाका एकमात्र गुण होता तो सम्भव है मानव-जीवनमें कलाको वह महत्त्वपूर्ण स्थान न मिलता जो मिल रहा है। सच्चे नैतिकवादी या इस हृदयहीन संसारको अपने वशमें करनेकी इच्छावाले और संस्कृतियोंका निर्माण और पोषण करनेवाले व्यक्ति कलाको भी कोई ऐसा खेल या खेल-जैसा कार्य समझते, जो उपयोगी तो है किन्तु उससे मनुष्य-को कोई महत्ता नहीं बढ़ जाती। किन्तु ये लोग भूल जाते हैं कि कलाका प्रभाव केवल उसके प्रत्यक्ष दर्शनके अवसरपर ही नहीं होता, उसके पश्चात् भी बना रहता है और वह विभावन-व्यापार-द्वारा जीवनके अन्तस्तलमें होकर अत्यन्त आत्मीयताके साथ उसे उदात्त बनाकर जीवनका स्तर ऊँचा उठा देती है। इसी कारण कलाके सम्बन्धमें कहा गया है कि 'कला ही समाजको मानवित करनेका आवश्यक साधन है।' इसीलिये कीट्सने एलेग्जैंडर पोपके 'रेप ऑफ़ दि लौक' पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि 'पोपने काव्यका वह उदात्त उद्देश्य भुला दिया कि कविता तो मित्रके समान चिन्ताओंका शमन करे और मनुष्योंके विचारोंको ऊपर उठा दे।' इस प्रकार कला अपने अन्तःस्थित गुणोंके कारण समाजको उन्नत करनेमें भी समर्थ है

और जबतक वास्तवमें उसका उचित प्रयोग नहीं किया जाता तबतक वह समाजमें नैतिक साधनके रूपमें प्रयुक्त भी नहीं हो सकती।

कलाका बाह्य गुण

कलाके 'अ-स्थित' या बाह्य गुणोंका महत्त्व इसीसे प्रकट है कि 'वह ऐसा साधन है जिसके द्वारा गुण मूर्त्तिमान और सुरक्षित रहते हैं।' यदि हम बाइजेन्टियमके निवासियोंके सम्बन्धमें कुछ नहीं जानते तो टी० ई० हुल्मेके अनुसार इतना तो जानना ही चाहिए कि 'चाहे आदर्शके रूपमें ही सही', किन्तु जीवित मूर्तियोंकी आकस्मिक तथा तुच्छ विशेषताओंकी ओर उनकी कोई रुचि नहीं थी। वे तो अपने जीवनमें गम्भीरता, स्थिरता और नित्यता लाना चाहते थे।' उनकी पूर्णताका लक्ष्य दैवी था, लौकिक नहीं। इसी प्रकार यदि लोपेज़के युगके सम्बन्धमें और कुछ न भी जानें तो भी हमें उसके 'कौमुदीयास'से इतना तो जानना ही चाहिए कि ईश्वर और अपने युगकी महिलाओंके सम्बन्धमें उन लोगोंकी क्या भावनाएँ थीं? किन बातोंने उन्हें प्रेरित किया था? किन वस्तुओंको वे प्राण देकर भी सुरक्षित करना चाहते थे किन्तु गुणोंके अधिष्ठानमें कला केवल इतना ही काम नहीं करती। वह हमारी भावात्मक और शुद्ध संप्रज्ञानात्मक उत्सुकताको सुरक्षित रखनेसे अधिक भी कुछ कार्य करती है। जब पौल एलमर मोरने यह कहा कि 'कलामें मानव-जातिके अतीतका अत्यन्त सत्य भाव हमारे वर्तमानमें जीवित सत्यके रूपमें उपस्थित रहता है,' तो हमें समझना चाहिए कि वह असत्य नहीं कह रहा है, क्योंकि कला तो अपनेको उन रूपोंमें व्यक्त करती है जो हमारी प्रवृत्तियों और भावनाओंका निर्माण करती है। कला हमारी भावनाओं और प्रवृत्तियोंको सामग्री और निर्देश देकर उन्हें ऐसा अर्थ-गाम्भीर्य और माधुर्य प्रदान करती है जिसके बिना वे निर्जीव हो जायँ। कलाहीन मनुष्य अपने पैतृक रिक्थका भविष्य बिगाड़ देते हैं। वे कोई इतिहास नहीं छोड़ते। प्राचीन विवरण और लेख तबतक निर्जीव हैं जबतक उनमें कोई ऐसा विशेष संजीवन गुण न हो जिससे उनकी विषय-सामग्रीको प्राण मिलता हो और कला जिसकी रक्षा करती हो। कला और साहित्य दोनोंसे मनुष्योंको यह नैतिक प्रवृत्ति मिलती है कि वे अपन उन अनुभवोंको व्यवस्थित कर लें जो कला और साहित्यके अभावमें ऐसे अस्त-व्यस्त हो सकते हैं कि न तो उनमें परस्पर सम्बद्धता हो न सङ्गति। समाजवादी आदर्शवादियोंने कहा है कि 'जो व्यक्ति अपनेको समाजसे पृथक् कर लेता है वह जीवनका महत्त्व ही नष्ट कर देता है

क्योंकि वह गहन तथा सुपरीक्षित उच्च उद्देश्यों तथा सौजन्यपूर्ण लक्ष्योंसे युक्त जनताके दोषोंको छोड़कर, उनके बदले नये गढ़े हुए अपेक्षाकृत हीन और स्वार्थपूर्ण उद्देश्य स्थापित कर देता है।' इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कला ही एक मात्र ऐसा साधन है जो सामाजिक रिक्थकी सुरक्षा करती हो वरन् अपने गुणोंके तात्कालिक प्रदर्शनके बलसे वह ऐसी सम्भावना अवश्य उत्पन्न कर देती है जो उन अन्य साधनोंसे नहीं उत्पन्न होते, जो समृद्ध वर्त्तमानकी उत्पत्तिमें सहायक हो सकें।

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कला किसी प्रकारका विज्ञापन है। विज्ञापनका उद्देश्य तो कोई विशिष्ट, सीधा और तात्कालिक प्रभाव उत्पन्न करना होता है और उसका यह उद्देश्य तभी पूरा होता है जब वह ऐसा विषय उपस्थित कर दे कि चाहे उसका स्वतः कोई महत्त्व भले हो न हो किन्तु उसका प्रभाव अवश्य महत्त्वपूर्ण हो जाय। कला कभी वन्ध्या नहीं होती क्योंकि वह मानव-जीवनका बहुत परिष्कार और सुधार भी करती है किन्तु उसके बाह्य गुण उसके अन्तःस्थित गुणोंसे ही उत्पन्न होते हैं इसलिये वे वास्तवमें उद्देश्य नहीं हो सकते। फिर, विज्ञापनके प्रभाव तो स्पष्ट होते हैं किन्तु कलाके प्रभाव तो अज्ञात रूपसे हमारी प्रवृत्तियोंको ढालते हैं और हमारे मापदण्डको समृद्ध करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कला कभी-कभी विज्ञापनका भी कार्य करती है किन्तु यदि उसे शुद्ध सौन्दर्यात्मक प्रवृत्तिके रूपमें देखा जाय तब वह विज्ञापन नहीं रह जाती। यद्यपि विज्ञापनवादी लोग उसके बाहरी रूप और प्रभावकी ही चिन्ता करते हैं तथापि सौन्दर्यात्मक ज्ञानके लिये उसके अन्तःस्थित गुणोंका परीक्षण ही आवश्यक है।

कला जीनेका एक ढंग है

§ ३७२. कला जीवन है।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो 'कला जीनेका एक ढंग है।' यह स्वयं अनुभव और अपनेमें महत्त्वपूर्ण वस्तु है। मनुष्य अपने अस्तित्वका समर्थन इसीलिये करते हैं कि वे कभी-कभी उस बुराईको भी स्पष्टताके साथ कह सकते हैं जिसके वे आखेट रहे हैं और इसीलिये नित्य-प्रतिकी विपत्ति और अपमान झेलते हुए भी उसका विचार करके वे कहते हैं कि 'जीवन अच्छा है।' यह बात वे तब कहते हैं जब वे अपने ठाने हुए किसी काममें पूर्ण सफलता प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु मानवीय और सभ्य जीवनके अन्तर्गत उस

अनुभवको भी जीवनके महत्वपूर्ण विषयोंमें सम्मिलित कर लेना चाहिए जो केवल कलाके ही द्वारा सम्भव है।

साधनके रूपमें कला

कला साधन है या साध्य इस विषयपर जिनने विचार उपस्थित हुए हैं उन्हें हम दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—१-उसे किसी कलाकृतिके बाहर स्थित उद्देश्यका सहायक मानना, या २—उसे प्रधान मानना।

१. ऐसे बहुत कम लोग हैं जिन्होंने कलाको मानवीय सुख और सान्त्वनाके रूपमें सहायक तत्त्व न माना हो। हौरेसने कहा है कि 'जब मृत्यु मनुष्यके पार्थिव शरीरको नष्ट कर डालती है तब भी कला उससे यशःशरीरको अमरत्व प्रदान करती है।' कलाकारको कलासे यहीं सबसे बड़ी सान्त्वना मिलती है। परिवर्तन, ह्रास और विभाजनसे संत्रस्त मानवको कला ही शाश्वत और गम्भीर सौन्दर्यकी प्रतीति कराती है। कलाकी सुखदायिनी शक्तिकी बात अरस्तूके रेचन-सिद्धान्त (केथार्सिस) से प्रारम्भ होकर ब्लेकके 'क्रियाहीन इच्छा सदा विनाश उत्पन्न करती है' के सिद्धान्तमें होती हुई वर्त्तमाथ मनोविश्लेषणके उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) के सिद्धान्त-तक प्राप्त होती है। रस्किन और मौरिसने कलाका यह भी प्रयोजन माना है कि 'वह हमारे नित्यके जीवनमें महत्त्व और शक्ति प्रदान करती है।' दूसरे दृष्टिकोणसे रस्किनने पहले यह भी कहा था कि 'कला वास्तवमें धर्म, नैतिकता, राष्ट्रीय आकांक्षा और सामाजिक आचरणकी अभिव्यक्ति तथा कुञ्जी है।'

२. इस विषयपर घोर वैमत्य है कि 'सत्यका अन्वेषण करनेके लिये दार्शनिक साधनके रूपमें भी कलाका महत्त्व है।' अपने 'जनतन्त्र' (रिपब्लिक) में कलाकी इस तत्कालीन परिभाषाकी व्याख्या करते हुए अफलातून (प्लेटो) ने कहा है कि 'कला वास्तविकताका अनुकरण करती है, भावका नहीं, अर्थात् वह किसी घटना या विचारके भौतिक प्रदर्शनका ही अनुकरण करती है। अतः, वह वास्तवमें अनुकरणका अनुकरण करती है और इसलिये उसका कोई दार्शनिक आधार नहीं है।' दूसरी ओर अरस्तूका मत है कि 'कलाकार तो विचारका ही अनुकरण करता है।' जो कोग कलाको सत्य-प्राप्तिका उचित साधन समझते हैं वे घूमकर प्लेटोके विचारपर ही पहुँच जाते हैं अर्थात् वे विचार या तत्त्वको प्रधानता देते हैं और ऐसा करते हुए वे कहते हैं कि 'कलाके क्षेत्रको इतना विस्तृत कर देना चाहिए कि आदर्श

सौन्दर्यकी खोज की जा सके।' प्लेटोके मतसे यही दर्शनका विषय है। ब्लेक, वर्ड्सवर्थ, ह्यूगो, विग्नी और रिम्बाउड आदि अनेक कवि यह मानते रहे हैं कि 'कवि सचमुच वास्तविकता या सत्यतामें भविष्य-द्रष्टा रहा है।' प्राउस्टके मतसे 'कलाका कार्य है तत्त्वोंको देखना और उन्हें प्रस्तुत करना क्योंकि तत्त्वका राज्य देश-कालाद्यनवच्छिन्न है। कला भी काल-बाधित नहीं है इसलिये कला भी समयके बन्धनसे मुक्त कर देती है।' पी० डी० आउस्पेंस्कीने यही बताते हुए कहा है—'कलाकारका आत्मा कहलानेवाला सूक्ष्म शरीर ही किसी परिस्थितिमें अज्ञात तथा अज्ञातव्य वस्तुका प्रतिबिम्ब ग्रहण कर लेता है। कला साधारण मानवीय दृष्टिसे आगे देखती है इसलिये जीवनके कुछ पक्षोंके सम्बन्धमें केवल कला ही कुछ कह सकती है और उसे ही यह कहनेका अधिकार भी है।' इस वैज्ञानिक युगमें इस प्रकारके विश्वास किसी बिरलेके ही होते हैं। साधारणतः लोगोंकी यही भावना है जो मैक्स ईस्टमैनके इस वक्तव्यमें है—'कविता स्वयं अपनी प्रकृतिसे ही अनुभवकी व्याख्या करने और जिसे हम सत्य कहते हैं उसे जाननेका काम विज्ञानको सौंपती है।' कलाको जो पलायनवादका नैतिक ठप्पा लगा दिया है वह उसे साधन माननेके कारण ही। जो लोग उसे सत्यतक पहुँचनेका उचित साधन मानते हैं वे स्वभावतः उसके प्रयोगोंको सीमाओंके बन्धनसे मुक्त समझते हैं। आजकल कलाके विरोधमें जो एक शब्द पलायनवाद (एस्केपिज्म) या एकान्त-सेवन (आइवरी-टावर) चल पड़ा है वह केवल कलाके गौण रूपके लिये ही प्रयुक्त होता है और वह भी तब, जब कि उसमें आत्म-प्रवञ्चना या सामाजिक उत्तरदायित्वसे भाग खड़े होनेकी भावना विद्यमान रहती है। संयोगवश भारतीय काव्यपर यह पलायनवादका आरोप नहीं लग सकता क्योंकि यहाँ तो काव्यका उद्देश्य ही है चतुर्वर्ग-फल-प्राप्ति।

कलामें सत्य

जब हम कलाके प्रसंगमें विशेषतः वाणीकी कला (काव्य आदि) में सत्यका विवेचन करने चलते हैं तो स्वभावतः दो प्रश्न उठते हैं—

१. क्या कलाके प्रसंगमें सत्यका प्रश्न उठाना संगत है ?

२. क्या कलामें सत्यका रूप वैसा ही है जैसा जीवनके सत्यमें होता है ?

प्रथम प्रश्नकी दृष्टिसे दो बातें ऐसी है जिनके अनुसार किसी कलाकृतिमें सत्यका प्रश्न उठाना असम्बद्ध प्रतीत होता है—

(क) सत्य या झूठ तो वक्तव्यमें ही देखा जाता है किन्तु कलाकृतिमें तो कोई वक्तव्य दिया नहीं जाता। कलाकृति तो हमारी भावनाओं और प्रवृत्तियोंको उत्तेजित करती है। अतः, उसमें सत्य न होकर गुण होना चाहिए।

(ख) जब कोई वस्तु सौन्दर्यात्मक दृष्टिसे देखी जाती है तब उसके सत्य या मिथ्या होनेका प्रश्न ही नहीं उठता, जैसे यदि कोई व्यक्ति बम बरसनेका विचार छोड़कर आकाशमें उड़ते हुए विमानके सौन्दर्यको देखे तब सत्य-असत्यका प्रश्न कहाँ उठता है? हमारी दृष्टि जब वस्तुके सम्पूर्ण तत्त्वपर पड़ती है तब उस वस्तुका गुण-तत्त्व समझना पड़ता है क्योंकि गुणकी समस्या भी उतनी ही जटिल है जितनी सत्यकी। ये सब गुण प्रत्यक्षतः उसके सत्यपर ही अवलम्बित हैं। किसी भी मिथ्या गुणमें उलझन हो सकती है किन्तु उसके महत्त्वमें नहीं हो सकती।

तीन ऐसे मुख्य अर्थ हैं जिनमें 'सत्य' शब्द कलाकृतिके साथ सम्बद्ध हुआ है—

(क) किसीके विश्वासोंसे एकात्म होना।

(ख) जीवनसे मिलते-जुलतेको सत्य कहना जो कि अनुकरणके सिद्धान्तमें आता है।

(ग) कलाकृतिका आत्म-सङ्गत होना।

किन्तु इस सत्यको काव्य-सत्यसे भिन्न समझना चाहिए।

कलाका विशेष लक्षण

किसी कलाकृतिकी रूप-सज्जाके वैशिष्ट्य या विशेष लक्षणको 'मोटिफ़' कहते हैं अर्थात् एक-सी परिस्थितियोंमें आनेवाले एक-से ही शब्द या विचार-के साँचेका प्रयोग अथवा किसी एक कृति या किसी एक प्रकारकी अनेक कृतियोंमें एक ही प्रकारका भाव जागरित करनेवाला तत्त्व ही 'मोटिफ़' कहलाता है। इसी विशेष लक्षणको देखकर ही किसी कलाकी परम्पराका अभिज्ञान होता है चाहे वह मूर्त्तिकला हो, चित्रकला हो या काव्यकला हो।

कला छिपानेमें ही कला है (आर्स एस्त सेलारे आर्तेम्)

ओविदने अपने 'प्रेमकी कला' (आर्ट औफ़ लव) में जो यह कहा है कि 'सी लातेत आर्स प्रोदेस्त' (यदि कला छिपी रहती है तो वह सफल

होती है), उसीको लातिनमें 'आर्स एस्त सलारे आर्तेम्' के रूपमें बदल दिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जो सर्वश्रेष्ठ कला होती है वह स्वतः-प्रवृत्त और स्वाभाविक होती है। बहुतसे लोगोंने इसीकी देखा-देखी अनेक उक्तियाँ चला दी हैं, जैसे स्टीवेन्सनने कहा है कि 'तुम्हारा यह मधुर पाठ घृणित कठोर लेख है' अर्थात् 'तुमने जो काव्यमें माधुर्य उत्पन्न किया है वह परिश्रमसे गढ़ा हुआ है, स्वाभाविक नहीं है।' रस्किनने इसी विचारको कुछ और परिवर्द्धित करके कहा है कि 'श्रेष्ठ काव्य वही है जो कल्पनाके पङ्खोंपर हमें वहाँतक उड़ा ले चले जहाँका दृश्य देखकर हम उस जादूकी दरीको भी भूल जायँ जिसपर चढ़कर हम वहाँतक उड़कर आ पहुँचे हैं' अर्थात् श्रेष्ठ काव्य वह है जिसे पढ़कर हम उसमें स्वयं अपनेको भूल जायँ। रहीमने कहा है—

बिन्दुमें सिन्धु समान, यह अचरज कासों कहौं।
हेरनिहार हेरान, रहिमन आपुहि आपमें॥

यह स्मरण रखना चाहिए कि अत्यन्त श्रेष्ठ कलामें यह तन्मयता उन बहुतसे लेखकों और पाठकोंको अनायास प्राप्त हो जाती है जो उसके रूपसे पूर्ण अपरिचित रहते हैं और जो इस तन्मयताके कारण उस कलाको सत्य समझ बैठते हैं।

कलाकार और समाज

§ ३७३. कलाके द्वारा समाजका कल्याण होना ही चाहिए।

बहुतसे आचार्योंका मत है कि 'कलाकार स्वयं समाजका अंग है। वह समाजसे सुविधाएँ प्राप्त करके समाजमें रहता है। अतः, उसका धर्म है कि वह समाजके हितका ध्यान रक्खे।' गेटेके बहुतसे आलोचकोंने उसपर यही आरोप लगाया है कि 'गेटेने अपना सारा जीवन साहित्यकी सेवामें तो बिताया किन्तु अपने साथी मनुष्यकी सहायताके लिये उसने एक उँगली-तक नहीं हिलाई।' यही बात अनातोले .फ्रान्सकी मृत्युपर भी कही गई कि 'अनातोले .फ्रान्सने कभी मनुष्यकी कोई सहायता नहीं की।'

इस प्रकारकी प्रवृत्तियोंने यह भी एक समस्या खड़ी कर दी कि 'कलाकार और तत्कालीन सामाजिक समस्याओंका पारस्परिक क्या सम्बन्ध है?' यह कहा जा सकता है कि चाहे कोई भी लेखक हो किन्तु वह भी अन्य व्यक्तियोंके समान मौन या सक्रिय होकर समाजकी विशिष्ट समस्याओंका कोई न कोई पक्ष अवश्य ग्रहण कर लेता है। किन्तु इसमें भी यह तो सम्भव

ही है कि कोई व्यक्ति या तो जान-बूझकर पूर्णतः तटस्थ रहे या पूर्णतः सक्रिय भाग ले अर्थात् या तो 'गजदन्तको अटारी' (आइवरी टॉवर) में एकान्त-सेवन करे या युद्ध-क्षेत्रमें आकार जूझ मरे। अप्टन सिन्क्लेयरका मत है कि 'जो लोग लेखकको सक्रिय रूपसे सामाजिक समस्याओंमें योग देनेका आदेश देते हैं, उन्हें यह भी जान लेना चाहिए कि जो इस प्रकार द्वन्द्व-क्षेत्रमें आकर सक्रिय भाग लेता है, वह या तो विज्ञापन-साहित्यको सृष्टि करता है या फिर उसे रचनात्मक कार्यके लिये समय ही नहीं मिल पाता।' जेम्स ब्रांच काबेलका मत है कि 'जो लेखक पूर्णतः तटस्थ रहेगा वह अपनी जीव-शक्ति ही नष्ट कर देगा।' इस सम्बन्धमें एक दूसरा भी पक्ष है जिसके अनुसार यह कहा जा सकता है कि 'किसी व्यक्तिको आत्मोन्नतिके लिये समाजके उन्नयनमें सक्रिय योग देना चाहिए, किसीको अपनी साहित्य-रचनाके लिये एकान्त तटस्थता ही अपेक्षित है क्योंकि वह अपनी इस तटस्थतामें की हुई रचनासे ही समाजकी सेवा कर देता है।' सब पक्षोंसे विचार करनेपर प्रतीत होगा कि 'कलाकारका जीवन और उसका उद्देश्य दोनों ही उसकी रचनाओंके लिये पूर्णतः असङ्गत हैं, क्योंकि यह सम्भव है कि किसी कलाकारका जीवन बहुत बुरा रहा हो किन्तु उसकी रचनाएँ अत्यन्त उदात्त श्रेणीकी हों।' ऐसे बहुतसे कवि और कलाकार हुए हैं जिनका जीवन अत्यन्त कुत्सित रहा किन्तु उनकी रचनाएँ अत्यन्त श्रेष्ठ हुईं। बाणभट्टने अपने विषयमें स्वयं लिखा है कि 'मैं बहुत बड़ा निठल्ला और कुपङ्गा था तथा सब प्रकारके निम्नतम वर्गके लोगोंके साथ उठता-बैठता रहा' फिर भी बाणकी रचनाएँ इतनी उत्कृष्ट हुईं कि पण्डितोंने उनका लोहा मानकर यह व्यवस्था दे दी—

'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्।'

[सारा संसार बाणकी जूठन है।]

भारतीय आचार्योंने स्पष्ट रूपसे चतुर्वर्ग-फल-प्राप्तिको काव्यका लक्षण और 'यश, व्यवहार-ज्ञान तथा कान्तासम्मित उपदेश' को काव्यका उद्देश्य बताकर काव्यका समाजके लिये हितकर होना अनिवार्य घोषित कर दिया क्योंकि मनुष्यकी कोई प्रवृत्ति निष्प्रयोजन नहीं होनी चाहिए, उसके द्वारा लोक-कल्याण होना ही चाहिए। 'रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवत्' (राम आदिके समान आचरण करना चाहिए, रावण आदिके समान

नहीं) इसी लोक-कल्याणकी भावनाका आधार-सूत्र है, जिसकी ध्वनि किसी भी काव्य या कलाकृतिसे आनी ही चाहिए।

संस्कृतिका आधार साहित्य और कला

'साहित्य और कला दोनों मिलकर संस्कृतिके अंग बनते हैं। किसी देश या जातिकी संस्कृतिके पूर्ण रूपको व्यक्त करनेके ये दो विभिन्न माध्यम हैं।' यह मत साधारणतः स्वीकृत भी हुआ और सभ्यताके इतिहासमें इसे मूर्त रूप भी दिया गया। 'यह रोमन है, गोथिक है या बारोक है', इस प्रकारकी रचना-सम्बन्धी धारणाओंका विकास करके योरपमें साहित्यपर तो इनका आरोप किया ही गया, साथ ही चित्र, मूर्ति और संगीत-कलापर भी इन धारणाओंका आरोप हुआ। अत्यलङ्करण (बारोक) की भावना वास्तुकला और तत्त्वतः मूर्तिकलाकी ही भावना थी किन्तु उसका प्रभाव यूफूवाद (यूफूइज्म या दुरूह शैली) या ब्राशो आदिकी दार्शनिक कविताओं-पर भी दिखाई देने लगा। विलहैल्म गिल्डेके प्रभावसे जर्मनीमें विकसित होनेवाली गाइस्टेसवीशेनशाफ्टके द्वारा भी 'सांस्कृतिक समानता'का यह सिद्धान्त दूर-तक व्याप्त हुआ। इस मतके कुछ अप्रसिद्ध अनुयायियोंने पूर्ण संस्कृतिको सरल रूपसे प्रस्तुत करनेके उद्देश्यसे साहित्य और कलाओंके पारस्परिक स्वतन्त्र अस्तित्वकी उपेक्षा की (औसवाल्ड स्पेङ्गलरका 'दि डिक्लाइन ऑफ़ दि वेस्ट', १९३२)। सन् १९४० के लगभग कुछ जर्मन पत्रों तथा 'जर्नल ऑफ़ दि हिस्ट्री ऑफ़ दि आइडियाज़'ने भी लगभग इन्हीं विचारोंका प्रसार किया।

इस प्रकार वाणी स्वयं ऐसी अद्भुत कला है जो चिरन्तन कालसे काव्य और साहित्यके रूपमें मानव-समाजको ज्ञान, शक्ति, उद्बोधन, प्रेरणा, निर्देश और प्रोत्साहन देती आई है। इसलिये वाणीका परीक्षण उसकी कलात्मक रचनाकी दृष्टिसे भी आवश्यक है।

भाषा और लिपि

जिस प्रकार मुखसे निकली हुई किसी ध्वनि, शब्द या वाक्यसे उस भाषासे अभिज्ञ लोग उसका अर्थ समझ लेते हैं अथवा किसी रेखाचित्रको देखकर लोग किसी जीव या वस्तुकी पहचान कर लेते हैं उसी प्रकार विभिन्न देशोंमें विकसित अनेक प्रकारकी लिपियोंके अक्षर देखकर भी लोग लेखकका भाव समझ लेते हैं। पीछे बताया जा चुका है बाणके आकारकी रेखा (←) देखकर यह स्पष्ट समझ लिया जाता है कि जिधर उस बाणकी रेखाकी नोक है उधर कोई निर्दिष्ट वस्तु, स्थान या व्यक्ति स्थित है। बाणकी रेखा बनाकर रेखाकारने उधर दर्शनका ध्यान आकृष्ट किया है।

§ ३७४. लिखित अक्षर भी भाषाका ही सार्थक संकेत है।

जैसे अशोकके शिलालेखों, स्तम्भलेखों और पात्रलेखोंके पत्थरपर खुदे हुए अक्षर देखकर उस समयकी समस्त राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक भावनाओंका पूर्ण परिज्ञान हो जाता है उसी प्रकार लौह-लेखनीसे ताल-पत्रोंपर तथा काष्ठ-लेखनीसे वस्त्र, चर्म, काष्ठ या कागजपर लिखा हुआ अपरिमित साहित्य विश्व-वाङ्मयका अजस्र और अक्षय्य कोश रहा है। अन्तर इतना ही है कि किसी वस्तु या जीवके आकारका रेखाचित्र देखकर अशिक्षित और निरक्षर व्यक्ति भी उस वस्तु या जीवकी पहचान कर लेता है या बाणके आकारकी रेखा देखकर भी उसके संकेतित अर्थकी कल्पना कर लेता है किन्तु किसी विशेष लिपिमें लिखे हुए अक्षरोंका अर्थ केवल वे ही लोग पढ़ या समझ पाते हैं जिन्हें उस लिपिका ज्ञान हो। ये लिपियाँ विभिन्न देशोंमें विभिन्न रूपोंमें विकसित हुईं, यहाँतक कि किसी-किसी देशमें (जैसे भारतमें) तो अनेक लिपियोंका प्रयोग होता रहा या हो रहा है।

तन्त्रमें पाँच प्रकारकी लिपियोंका उल्लेख मिलता है—मुद्रा, शिल्प, लेखनी-सम्भवा, गुण्डिका और घुणलिपि।

ललितविस्तर (चीनी अनुवाद ३०८ ई०) में निम्नांकित ६४ लिपियोंके नाम दिए गए हैं—ब्राह्मी, खरोष्ठी, पुष्करसारी, अङ्ग, बङ्ग, मगध, माङ्गल्य, मनुष्य, अंगुलीय, शकारि, ब्रह्मवल्ली, द्राविड, (तमिळ), कनारि (कन्नड़), दक्षिण (तेलुगु या तुलु आदि), उग्र, संख्या, अनुलोम, ऊर्ध्वधनु, दरद, खास्य, चीन, हूण, मध्याक्षरविस्तर, पुष्प, देव, नाग, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, महोरग, असुर, गरुड, मृगचक्र, चक्र, वायुमरु, भौमदेव, अन्तरिक्षदेव, उत्तरकुरुद्वीप, अपरगौडादि, पूर्वविदेह, उत्क्षेप, निक्षेप, विक्षेप, प्रक्षेप, सागर, वज्र, लेखप्रतिलेख, अनुद्रुत, शास्त्रावर्त्त, गणावर्त्त, उत्क्षेपावर्त्त, विक्षेपावर्त्त, पादलिखित, द्विरुत्तरपदसन्धिलिखित, दशोत्तरपदसन्धि-लिखित, अध्याहारिणी, सर्वरुतसंग्रहणी, विद्यानुलोम, विमिश्रित, ऋषितपस्तप्त, धरणीप्रेक्षण, सर्वौषधिनिष्यन्द, सर्वसार-संग्रहणी और सर्वभूत-रुतग्रहणी।

इनमेंसे कुछ लिपियाँ तो विभिन्न प्रदेश, जातियों तथा अवसरों और प्रयोजनोंकी हैं और कुछ द्विरुत्तर-पदसन्धि-लिखित आदि शैलियोंके नाम हैं और कुछ कल्पित हैं। जैनियोंके पन्नवणा (प्रज्ञापन) सूत्रमें १८ लिपियोंके नाम मिलते हैं—बंभी, जवणालि (या), पोसापुरिया (सा), खरोट्ठी (खरोठी), पुक्खरसारिया, भोगवइया, पह(हा)राइया, उपअन्तरिक्खिया (उपन्तरकरिया), अक्खरपिट्ठिया (अक्खरपुंठिया), तेवणइया (वेणइया), गि(णि)ण्हइया (णिण्हत्तिया), अङ्कलिपि (अङ्कलिक्खा), गणितलिपि (गणियलिवि), गन्धव्वलिपि, आदन्सलिवि (आयसलिपि), महिसरी (माहेस्सरी), दामिली (द्राविडो), पोलिन्दी।

प्रज्ञापनासूत्रके टीकाकारने लिखा है—

ब्राह्मी यवनानीत्यादयो लिपिभेदास्तु सम्प्रदायादवशेयाः।

[ब्राह्मी यवनानी इत्यादि १८ प्रकारकी लिपियाँ विभिन्न सम्प्रदायोंसे समुद्भूत हुई हैं।]

जैनियोंके समवायांग सूत्रमें कुछ भिन्न नामोंकी १८ लिपियोंका विवरण आया है—ब्राह्मी, यवनानो, दशोत्तरिका, खरोष्ट्रिका, पुष्करसारिका, पार्वतिका, उत्तरकुरुका, अक्षरपुस्तिका, भोमवाहिका, विक्षेपिका, निक्षेपिका, अङ्क, गणित, गन्धर्व, आदशंक, माहेश्वर, द्राविडो, बोलिन्दी।

इनमेंसे कुछ नाम नए हैं और कुछ वे ही हैं जो ललितविस्तरमें आए हुए नामोंसे मिलते-जुलते हैं। ब्राह्मी और खरोष्ठी निश्चय ही मान्य लिपियाँ थीं। ब्राह्मी लिपिका तो इतना सम्मान था कि भगवती-सूत्रमें 'नमो बम्भीए लिविए' लिखकर ब्राह्मी लिपिको नमस्कार करके ग्रन्थ प्रारम्भ किया गया है। इन लिपियोंमेंसे ब्राह्मी आदि लिपियाँ बाईंसे दाईं ओरको और खरोष्ठी आदि दाईंसे बाईं ओरको लिखी जाती थीं।

बौद्ध विश्वकोष 'फा-युग्रङ्-चुङ्-लिङ्' में लिखा है कि 'दैवी शक्ति-युक्त तीन आचार्योंने लिपियोंका आविष्कार किया। ब्रह्मा-द्वारा रचित ब्राह्मी लिपि बाईंसे दाईं ओरको पढ़ी जाती है, किअ-लु (किअ-लु-से-टो = खरोष्ठ) लिपि दाईं ओरसे बाईं ओरको पढ़ी जाती है और सबसे कम महत्त्वपूर्ण त्सं-की (चीनी) लिपि ऊपरसे नीचेको पढ़ी जाती है। इन आचार्योंमेंसे ब्रह्मा और खरोष्ठ तो भारतमें हुए और त्संकी चीनमें। ब्रह्मा और खरोष्ठने अपनी लिपियाँ देवलोकसे पाईं और त्सं-कीने पक्षियों आदिके पंजोंके चिह्नोंसे अपनी लिपि बनाई।

त्वरा-लिपि

§ ३७५. वेगसे बोले हुए विषयको लेखबद्ध करनेके लिये त्वरा-लिपि या अनुद्रुत लिपिका विकास हुआ।

यद्यपि अत्यन्त प्राचीन कालसे भारतवर्षमें भी शास्त्रार्थकी व्यापक पद्धति रही तथापि शास्त्रार्थको लेखबद्ध करनेकी कोई प्रवृत्ति नहीं हुई। योरपमें रोमके प्रसिद्ध वक्ता सिसरोकी भाषण-कलाने कई शताब्दियोंतक धूम मचाए रक्खी और सिसरोके भाषण कण्ठाग्र कर लेना तथा उसके वाक्योंका ज्योंका त्यों प्रयोग करना ही शिष्टता और पाण्डित्यका लक्षण माना जाता रहा। फिर भी कभी यह प्रयत्न नहीं हुआ कि कोई ऐसी लिपि-प्रणाली आविष्कृत कर ली जाय कि उससे किसी व्याख्यानके सब शब्द उसी क्रमसे ज्योंके त्यों ग्रहण कर लिए जायँ। उपर्यंकित लिपि-सूचीमें जिस अनुद्रुत लिपि, सर्वरुत-संग्रहणी, सर्वभूत-रुत-संग्रहणी तथा सर्वसार-संग्रहणी की चर्चा है वे त्वरा-लिपियाँ ही होंगी किन्तु उनके प्रयोगका कहीं विवरण नहीं मिलता। गुजरातमें प्रथा थी कि कुछ लेखक अपने धनी स्वामीके रथके साथ दौड़ते हुए लिखते चलते थे। वह निश्चय ही त्वरा-लिपि थी। उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम चरणमें व्यापार और व्यवसायकी

व्यस्त अभिवृद्धिके साथ यह आवश्यक हो गया कि कही हुई बात पहले संक्षिप्त लिपिमें लेख-बद्ध कर ली जाय जिसे टंकणकार अवकाशके समय टंकित करके अथवा हाथसे लिखकर पीछे पूर्ण कर दे। अब तो ऐसे वाग्यंत्र (डिक्टाफ़ोन) और पट्टीयन्त्र (टेपरिकोर्डर) आविष्कृत हो गए हैं कि टंकणकार-को बुलाकर लेख देनेकी भी आवश्यकता नहीं पड़ती। वक्ता अधिकारीको जितने पत्र लिखाने होते या विषय लेखबद्ध कराने होते हैं, उन सबको वह यथावकाश उस यन्त्रमें यन्त्रस्थ कर देता है अथवा अपने कार्यालयमें बैठा-बैठा टंकणकार उसे अपने टंकण-यन्त्र-द्वारा लेखबद्ध करता चलता है।

लेखन-कला और तत्सम्बद्ध नये आविष्कारोंसे स्पष्ट हो जाता है कि स्वरालिपि भी हमारी भाषाका ऐसा अनिवार्य अङ्ग बन गई है कि भाषाका परीक्षण करते समय उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस युगमें हमारी समस्त वाग्ध्वनियों, शब्दों, मन्तव्यों अथवा विषयोंको अभिव्यक्त करनेका आधार लिपि ही है इसलिये लिपिके जन्म, विकास और प्रयोगका परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है, विशेषतः इस युगमें, जब कि सब प्रकारके ज्ञान-परीक्षणकी व्यापक पद्धति लिखित ही अधिक प्रचलित है, मौखिक कम।

लिपिका जन्म

§ ३७६. अभिज्ञानके लिये बनाए हुए चिह्नोंसे चित्रात्मक और अक्षरात्मक लिपिकी सृष्टि हुई।

हमारी पृथ्वी जब धीरे-धीरे मानव-सभ्यताको पुष्ट और समृद्ध करने लगी और मनुष्य अपने वन्य जीवनसे ऊपर उठकर, विकसित होकर प्रबुद्ध हो चला, उस समय जहाँ एक ओर ईश्वरकी कृपासे उसे अपने व्यवहारके लिये वाणीका प्रसाद मिला वहीं उसने अपनी प्रतिभाके बलसे लेखकी पद्धतिका भी आविष्कार कर लिया। प्रारम्भमें वाणीको लेखबद्ध करनेकी दृष्टिसे लिपि-का आविष्कार नहीं हुआ था। ज्यों-ज्यों सामाजिक जटिलता बढ़ती गई, पारिवारिक सङ्घटनके साथ-साथ मानव-समाज सम्पत्ति-संग्रह भी करने लगा तब प्रत्येक व्यक्ति या परिवारकी वस्तुओं, व्यक्तियों, जीवों आदिके अभिज्ञानके लिये अलग-अलग चिह्न बना लिए गए। विभिन्न मानव-समुदायोंने अपना अलग-अलग चिह्न निर्धारित कर लिया और अपने परिवारसे सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु, जीव, पशु, वस्त्रादि सबको उसी चिह्नसे अङ्कित कर दिया, यहाँतक

कि कहीं-कहीं तो परिवारके सदस्योंपर भी वह चिह्न अङ्कित कर दिया जाने लगा। पाणिनिकी अष्टाध्यायीसे प्रमाणित है कि पशुओंके कानोंपर स्रुवा, स्वस्तिक आदिके लक्षण और ५ तथा ८ के अंक अङ्कित किए जाते थे—

कर्णो लक्षणस्याविष्टाष्टपञ्चमणि-भिन्नछिन्नछिद्रस्रुवस्वस्तिकस्य।

[६-३-११५]

इस चिह्नके प्रयोगके साथ-साथ वन्य जीवनमें उन्हें अनेक प्रकारके वृक्ष, लता, गुल्म, पुष्प और जड़ी-बूटियोंके गुणोंका भी अनुभव होने लगा। अतः, अनुभवमें प्रकट होनेवाली प्रत्येक नई वस्तुके लिये उसका केवल नामकरण ही नहीं किया जाने लगा वरन् उसके लिये चिह्न भी बना डाले गए जिनसे एक ओर चित्रकला या आलेख्य-कलाका विकास हुआ और दूसरी ओर लेखन-कला या लिपि-कलाका। यद्यपि कुछ देशोंमें चित्र ही अक्षरोंका प्रतिनिधित्व करते रहे तथापि चित्रोंकी रेखा-जटिलताने उन्हें अक्षरोंका रूप सरल करनेके लिये बाध्य किया और इस प्रकार विभिन्न देशोंमें लिपियोंके अनेक रूप चल पड़े।

लेखनका प्रयोजन केवल व्यक्तियों, वस्तुओं और स्थानोंके अभिज्ञान-तक ही परिमित नहीं रहा। ज्यों-ज्यों मानव-परिवारोंका विस्तार हुआ और विभिन्न मानव-परिवार जीविकाकी खोजमें दूर-दूर प्रदेशोंमें जा बसे त्यों त्यों उन दूर समवस्थित सम्बन्धियोंसे पारस्परिक व्यवहार, कुशल-मंगल पूछने आदिका सम्बन्ध रखनेके लिये भी लिपिका अवलम्ब लेना पड़ा। यद्यपि प्रारम्भमें यह सब लेखन-कार्य अत्यन्त संक्षिप्त होता था फिर भी उसका महत्त्व किसी प्रकार भी वाणीसे कम नहीं था। इन प्रारम्भिक अक्षरोंके अक्रम समूहसे धीरे-धीरे प्रत्येक प्रदेशमें अपनी लिपि-पद्धति चल निकली। किसी देशमें तो एक अक्षर एक वर्ण-ध्वनिका प्रतीक हुआ, किसीमें शब्दका, किसीमें भावका और किसीमें वस्तुका। प्रारम्भमें इस लिपिसे सामान्य पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक कार्य-व्यवहार चलता रहा। ज्यों-ज्यों वाणीका विकास हुआ त्यों-त्यों वाणीके अनेक कलात्मक रूप भी विकसित हो चले और कविगण अक्षरोंका प्रयोग करके अपने गीत भी स्थायी करनेके लिये लिखने लगे। फिर भी अधिकांश देशोंमें बहुत कम लोग लिखना सीखते और लिखा हुआ बाँच सकते थे। ऐसे लोगोंको सामान्यतः अशिक्षित और निरक्षर लोग जादूगर समझते थे और उनका बड़ा भयपूर्ण सम्मान करते थे।

शिलाओं और स्तम्भोंपर जो सर्वप्राचीन लेख मिलते हैं उनके सम्बन्धमें विद्वानोंकी धारणा है कि पत्थरपर खोदनेसे पूर्व लिपिके ज्ञाता लेखक लोग मिट्टी, गेरू या सेलखड़ीसे उसपर लिख देते थे और फिर निरक्षर पथरकट लोग छेनीसे उसे खोद डालते थे जैसे आज भी पत्थरका काम करनेवाले पथरकट लोग पत्थरपर अक्षर खोदते हैं।

भारतमें लेखन-कलाकी प्राचीनता

भारतवर्षमें लिपिने आध्यात्मिक क्षेत्रसे जन्म लिया। तन्त्रशास्त्र और हठयोगकी प्रक्रियाओंमें विस्तारसे यह विवेचन मिलता है कि मूलाधार चक्रसे सहस्रार चक्रतकके षट्चक्रोंपर किन विशेष वर्णोंकी अभिव्यक्ति होती है[1]—

[सब जीवोंके मूलाधार (गुदा और लिंगके बीच दो अंगुल चौड़े प्रदेश या त्रिकोणमें जहाँ इच्छा, ज्ञान, क्रियाका प्रेरक करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशमान स्वयंभू लिंग रहता है) में सर्पिणीके समान कुण्डली मारे पड़ी हुई कुण्डलिनी नामकी नाडीसे ही सब ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। इस कुण्डलिनीसे शक्ति, शक्तिसे ध्वनि, ध्वनिसे नाद, नादसे निबोधिका शक्ति, निबोधिकासे अर्द्धेन्दु, अर्द्धेन्दुसे बिन्दु और बिन्दुसे ४२ वर्णोंवाली वर्णमाला उत्पन्न होती है। सुषुम्ना नाडीसे सम्बद्ध मूलाधार पद्मके चार दलोंपर वं शं षं सं वर्ण हैं। इस पद्मके बीच चौकोना आधारचक्र है जिसके आठ ओर आठ शूल हैं और बीचमें पृथ्वी-बीज लं और त्रिकोण बना है जिसमें लिंगरूपी महादेवका वास है। इसी अमृतकुण्डसे मुँह सटाकर कुण्डलिनी बैठी रहती है। लिंगके मूलमें स्थित स्वाधिष्ठान पद्मके छह दलोंपर बं भं मं यं रं लं छह वर्ण हैं। उस पद्मके बीच गोल वरुण-मण्डलमें अर्द्धेन्दुका वास है जिसमें वं वर्ण अंकित है। नाभि-स्थित दस दलवाले मणिपूर पद्मपर डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं दस वर्ण हैं जिनके मध्यके त्रिकोण अग्निमण्डलके तीन कोनोंपर स्वस्तिक आकारके तीन भूपुर और बीचमें रं

---

१. द्विचत्वारिंशतामूले गुम्फिता विश्वनायिका।
सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्दब्रह्ममयी विभुः॥
शक्ति ततो ध्वनिस्तस्मान्नादस्तस्मान्निबोधिका।
ततोऽर्द्धेन्दुस्ततो बिन्दुस्तस्मादासीत्परा ततः॥

—शारदातिलक

अंकित है। इसमें ला(डा)किनी शक्ति रहती है। हृदय-स्थित अनाहत पद्मके बारह दलोंपर कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं बारह वर्ण अंकित हैं जिसके बीचके षट् कोणवाले वायु-मण्डलके बीच षं बीज है और उसमें शिव तथा काकिनी शक्तिका वास है। कण्ठमें स्थित षोडश दलवाले पद्मपर अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं लॄं एं ऐं ओं औं अं अः सोलह वर्ण अंकित हैं। उसके बीचके गोलाकार चन्द्र-मण्डलके भीतर गोलाकार नभोमंडलमें बीज है और उसमें शाकिनी शक्तिका वास है। भौंहोंके बीच दो दलवाले आज्ञा-पद्मपर हं क्षं वर्ण लिखे हैं जिसके बीच त्रिकोणके आकारकी शक्ति और उसमें शिव अवस्थित हैं। इसीके कुछ ऊपर प्रणव (ॐ) की आकृतिवाले परमात्मा, उसके ऊपरी भागमें चन्द्रबिन्दु (ँ), उसके ऊपर शङ्खिनी नाडी और सबसे ऊपर सहस्रार चक्र है जिसके ५० दलोंपर अनुस्वार-सहित ५० वर्ण अंकित हैं। यही कुण्डलिनी सब वर्णोंमें मिलकर मन्त्र जगाती है, शब्द और अर्थमें परिवर्त्तन करती है और उदात्त, अनुदात्त, स्वरितका अन्तर स्पष्ट करती है। यह चित् शक्ति सत्वगुणसे मिलकर शब्द और वाक्यको प्रकाशित करती है। यही सत्वयुक्त शक्ति आकाशमें पहुँचकर रजोगुणसे मिलकर ध्वनिका रूप ग्रहण करती है और यही ध्वनि जब अक्षर बनकर तमोगुणसे मिलती है तब पद और वाक्य बन जाती है।]

भारतीय वाक्शास्त्रकी यह भी बड़ी विशेषता रही है कि संस्कृत भाषामें विभिन्न वर्णों या ध्वनियोंके मेलसे ही शब्द नहीं बनता वरन् प्रत्येक वर्ण स्वतः भी शब्द है और वह एकवर्णांक शब्द भी बह्वर्थक होता है (§ ७५)। इस प्रकार संस्कृत या देववाणीके समस्त वर्णोंका प्रादुर्भाव आध्यात्मिक माना जाता है जिनके स्वरूप, अर्थ, गुण, दैवत और वर्ण सब निश्चित हैं अर्थात् ये सब वर्ण भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातिके हैं, इनके अलग-अलग देवता हैं और विभिन्न प्रकारकी तान्त्रिक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियाओंमें विभिन्न प्रकारसे इनका विनियोग होता है। वर्ण-निघण्टुमें अत्यन्त विस्तारसे प्रत्येक वर्णके रूप और उसकी आकृतिका विधान दिया गया है। इस प्रकार लिपिका शास्त्रीय और वैज्ञानिक विकास अन्य किसी देशमें नहीं हुआ। इतना ही नहीं, भारतीय वैयाकरणोंने उच्चारण-स्थान और प्रयत्नके अनुसार सब उच्चरित वर्णोंको क्रमिक वर्गोंमें विभक्त करके उन्हें नियमबद्ध कर डाला जिससे संस्कृतके वैयाकरणोंको अत्यन्त व्यवस्थित व्याकरण बनानेमें बड़ी सुविधा हुई।

§ ३७७. भारतमें लेखनका प्रयोग वैदिक कालसे ही होता रहा ।

भारतवर्षमें लेखनकी प्रथा ब्रह्माके लेखसे ही प्रारम्भ हो जाती है क्योंकि अत्यंत प्रारंभिक कृतियोंमें भी भाग्य-लेख और कर्म-लेखकी चर्चा आती है[1] किन्तु लेखको कभी उतना महत्त्व नहीं दिया गया जितना मौखिक शब्द-श्रवण और शब्दाभ्यासको, यहाँतक कि लिखित पाठक (लिखा हुआ ज्योंका त्यों बाँचनेवाले) को अधम पाठक कहा गया ।[2] भारतवर्षमें पुरातत्त्व-शास्त्रियोंके प्रयत्नके अनुसार मोहनजो-दड़ो (अथवा मुअन्-जो-दड़ो) और हड़प्पामें जो मिट्टीके खपड़ोंपर लिखावट मिली है वह ईसासे पाँच सहस्र वर्ष पूर्वकी आँकी



[मोहनजो-दड़ोमें प्राप्त मिट्टीकी खपड़मुद्रा-परके अक्षर]

गई है और यह भी कहा जाता है कि सिंधु-गंगाके कछारमें रहनेवाले आर्योंने बाबुलोन और मिस्रवालोंसे अपना घनिष्ठ व्यापारीय संबंध स्थापित कर रक्खा था । अतः, यह संभव है कि मिस्रकी खपड़-पुस्तकें भी भारतकी ही प्रेरणासे बन पाई हों ।

सैयद सुलेमान नदवीने अपनी पुस्तक 'अरब व हिंदके तअल्लुक़ात' में सप्रमाण सिद्ध किया है कि 'चीन और अरबका तथा मिस्रसे चीनतकका व्यापारिक संबंध भारतके माध्यमसे होता था और जैसे अरब भाषाके माध्यमसे समस्त योरपमें गणित, ज्योतिष और आयुर्वेदका प्रचार हुआ वैसे ही अरबकी संस्कृति और इस्लाम मतपर भी भारतीय संस्कृति और भाषाका प्रभाव पड़ा ।'

---

१. यत्पूर्वं विधिना ललाट-लिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः ॥

२. गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः ।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः ॥
[गा-गाकर, हड़बड़ाकर, सिर कँपाकर, लिखे हुएको ज्योंका त्यों बाँचकर, बिना अर्थ जाने बाँचकर, अशुद्ध अर्थ समझकर और मन्द स्वरसे पढ़नेवाला अधम पाठक कहलाता है ।]

ब्राह्मी लिपिका प्रथम प्रमाण पिप्रावा (नेपालकी तराई) में पाए हुए उस प्रस्तर-कलशके ढक्कनसे मिलता है जिसमें भगवान बुद्धके फूल (अवशेष) रक्खे मिले थे। इसके पश्चात् अशोकके स्तम्भ, स्तूप और शिलाओंपर बौद्ध धर्म, सदाचार और राजादेशके लेख खुदे मिलते हैं। इसीके साथ-साथ तालपत्रों, भूर्ज-पत्रों, वंशपत्रों तथा कपड़ोंपर लेखकी प्रथा चलती रही। किन्तु इन सब पदार्थोंपर लिखे हुए समस्त लेख अनेक प्रकारके कीटों तथा ऋतु-प्रहारोंके कारण चिरस्थायी नहीं हो पाए। छठी शताब्दीकी तालपत्रपर ब्राह्मी लिपीमें लिखी हुई 'उष्णीष - विजय - धारिणी' नामक सर्वप्राचीन पुस्तक जापानके हौर्म्यूंज मठसे मिली है। इसी ब्राह्मी लिपिने भारतके विभिन्न प्रदेशोंमें देवनागरी, गुजराती, बँगला, उड़िया, टाकरी, शारदा आदि अनेक रूप ग्रहण कर लिए। कुछ विद्वानोंने द्राविडी लिपिको भी ब्राह्मी लिपिसे विकसित बताया है किन्तु यह युक्तियुक्त नहीं है। कुछ वर्ण ऐसे अवश्य हैं जिनका संबंध ब्राह्मी लिपिके कुछ अक्षरोंसे जोड़ा जा सकता है किन्तु सामान्यतः तमिळ, तेळुगु, कन्नड़, मलयाळी, तुळु और सिंहली लिपियाँ स्वयं अपनेमें भिन्न लिपियाँ हैं जिनका परस्पर भी किसी प्रकार का साम्य नहीं है। लेखनकी कला हमारे देशमें भी उसी रूपमें विलसित हुई जैसे मिस्रमें थी। हमारे यहाँके लेखक भी लेखनके लिये काली मसी और रेखा तथा अन्य निर्देशोंके लिये लाल रौशनाईका प्रयोग करते थे और जो अंश काटना होता था उसपर हरताल (पीला) फेर देते थे। इतना ही नहीं, वे उसे बेल-बूटों और प्रसंगगत चित्रोंसे भी सजाते थे। इस प्रकारकी कलात्मक लिखावटकी 'हरिवंश पुराण' नामक २००० पृष्ठोंकी पुस्तक गुरुमण्डलाश्रम, हरिद्वारमें सुरक्षित है जिसके प्रत्येक पृष्ठपर भिन्न प्रकारकी सुनहरी बेल, प्रत्येक पृष्ठके चारों कोनोंपर भिन्न रंगोंके चार-चार फूल और प्रत्येक पृष्ठपर अत्यन्त कलात्मक दो या अधिक चित्र बने हैं। ऐसी-ऐसी सैकड़ों पुस्तकें भारतके अनेक पुस्तकालयोंमें सुरक्षित हैं।

हमारे यहाँ तो लिपिका लक्षण बताते हुए कहा ही गया था—

'लिपिः प्रशस्ता सुमनो लतेव केषां य चेतांसि मुदा विमर्त्ति ॥

[फूली हुई लताके समान सुन्दर लिपि किसका मन नहीं हर लेती।]

फ़ोनिकोंकी वर्णमाला देखकर माक्सम्यूलर, वर्नेल तथा ब्यूहलर आदि विद्वानोंका भ्रामक मत है कि 'भारतवासियोंने फोनिकोंसे लेखनकला सीखी

जिनके अक्षरोंका प्रवेश ५०० या ४०० ई० पू० के लगभग भारतमें हुआ।



[फ़ोनीसी या फणिक् (वणिक्) लिपि, जिससे कुछ विद्वानोंने ब्राह्मी लिपिकी उत्पत्ति बताई है क्योंकि ये अक्षर क्रमशः ब्राह्मीके अ घु ग ए ज ख ओ से मिलते है।]

ब्युहलरका मत है कि सेमेटिक (अरबी आदि) लिपिसे ही ब्राह्मी लिपिकी उत्पत्ति हुई जिसका प्रवेश ८०० ई० पू०में हो चुका था एवं ५०० ई० पू० के लगभग ब्राह्मी लिपि व्यवस्थित हो चुकी थी।' इसीका समर्थन बोप, लेप्सिअस, वेबेर, बेनफ़ी, ह्विटनी, पट, वेस्टरगार्ड, नर्स तथा लेनरमेंट आदिने भी किया किन्तु कनिंघम, डबसन और टौमसका स्पष्ट मत है कि भारतने अपनी लिपिका स्वयं आविष्कार किया। फ़ोनिक, फरिणक, परिणक या वरिणक् भारतके वरिणक् ही थे जिन्होंने सुदूर योरपतक अपना व्यापार-सम्बन्ध बना रक्खा था। सिन्धमें अभीतक हट्टवाणिया नामकी लिपि चलती है जो इसी प्रकृति की है।

अशोककालीन स्तम्भों एवं शिलाओंपर खुदे हुए लेख इस बातके प्रमाण हैं कि सम्पूर्ण भारतमें लिखने एवं लिखे हुएको पढ़नेका पूर्ण प्रचार था। अशोकसे पूर्वके दो छोटे शिलालेख भी (अजमेर जिलेके बड़ली ग्रामसे और नेपालकी तराईमें पिप्रावाके स्तूपके भीतरसे प्राप्त कलशके ढक्कनपर, जिसमें बुद्धदेवकी अस्थि रक्खी थी) प्राप्त हैं। इनमेंसे प्रथम ४४३ ई० पू० का है और द्वितीय ४८७ ई० पू० के कुछ पीछेका।

सिकन्दरके सेनापति नेआर्कसने लिखा है कि 'भारतवासी रूईको कूट-कूटकर कागज बनाते हैं।' मेगस्थनीज़ने लिखा है कि–'यहाँ दस-दस स्टेडिया (एक स्टेडियम = ६०६ फुट ९ इंच) दूरीपर पत्थर लगे हैं जिनसे धर्मशालाओं तथा अन्य स्थानोंकी दूरीका ज्ञान हो जाता है। यहाँ नव वर्षके दिन भावी फल सुनाया जाता है, जन्मपत्र बनानेके लिये जन्म-समय लिखा जाता है और स्मृति (संभवतः पाराशर-स्मृति क्योंकि 'कलौ पाराशरस्मृतिः') के अनुसार न्याय होता था।' इन वक्तव्योंसे स्पष्ट है कि चौथी शती ई० पू० में भी भारतके लोग कागज बनाते थे, पंचांग तथा जन्मपत्र बनाते थे एवं वर्तमान मीलोंके पत्थरोंके समान निश्चित दूरीपर पत्थर लगाते थे।

बौद्ध शीलग्रन्थोंमें भिक्खुओंके लिये अक्खरिका (अक्षरिका) नामक खेलका निषेध किया गया है। विनय-सम्बन्धी ग्रन्थोंमें लेखन-कलाकी प्रशंसा की गई है और बौद्ध आर्याओंको लेखन-कला सीखनेका आदेश दिया गया है। जातकोंमें व्यक्तिगत तथा राजकीय पत्रों, ऋण-पत्रों, पुस्तकों, राजकीय आदेशों तथा धर्मके नियमोंको स्वर्ण-पत्रपर खोदनेकी व्यवस्था मिलती है। विनय-पिटकके महावग्गमें लेखा (लिखना या लेखन), गणना, (पहाड़े) और रूप (गणित) के शिक्षणका, जातकोंमें छात्रोंके लिये फलकका और ललित-विस्तारमें बुद्ध-द्वारा लिपिशालामें जाकर अपने गुरु विश्वामित्रसे चन्दनकी पाटीपर सोनेके वर्णक (कलम) से लेखन सीखनेका वर्णन मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि छठी शती ई० पू० में और उससे पूर्व लेखनका प्रचार इतना सर्व-सामान्य था कि प्रारम्भिक पाठशालाओंमें उसी प्रकार लेखन एवं गणितकी शिक्षा दी जाती थी जैसे आज दी जाती है। अतः, निश्चय ही उसकी परम्परा बहुत प्राचीन थी।

महाभारत तो व्यासजीने गणेशजीसे ही पूर्ण लिखवाया था। इसी प्रकार धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामसूत्र आदि ग्रन्थोंमें लेखन और लिखित पुस्तकोंका व्यापक उल्लेख मिलता है। पाणिनिने अपनी अष्टाध्यायीमें लिपि और लिपिकर-की चर्चाके साथ ही लिपिके चिह्न एवं ग्रन्थका भी उल्लेख किया है। उसीमें यह विवरण भी मिलता है कि पशुओंके कानोंपर स्रुवा और स्वस्तिक आदिके तथा ५ और ८ के अंकोंके चिह्न बनाए जाते थे (§ ३७८)। छान्दोग्य उपनिषद्में 'अक्षर' शब्द तथा तैत्तिरीय उपनिषद्में वर्ण तथा मात्राका उल्लेख मिलता हैं। ऐतरेय आरण्यकमें ऊष्म, स्पर्श, स्वर और अन्तःस्थका, व्यंजन और घोषका, णकार एवं षकारका नकार और सकारसे भेद तथा सन्धिका विवेचन किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मणमें अ, उ, म् से ॐ अक्षरकी रचना बताई गई है। शतपथ ब्राह्मणमें वचन और लिंगोंके भेदका विवेचन है।

ऋग्वेदमें गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, विराज, त्रिष्टुप् एवं जगती छन्दोंके नाम मिलते है। वाजसनेयि संहितामें पंक्ति-छन्दका और द्विपदा, त्रिपदा, चतुष्पदा, षट्पदा तथा ककुभ् आदि छन्दोंके भी भेद मिलते हैं। अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय, मैत्रायणी और काठक संहितामें अनेक छन्दों एवं उनके चरणोंके अक्षरोंकी संख्या भी गिनाई गई है।

वैदिक युगमें जुएके ४ पासों (कृत, द्वापर, त्रेता, कलि) पर क्रमशः ४, ३, २, १ के अंक खुदे रहते थे। यजुर्वेद संहितामें १, १०, १००,

अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त और परार्द्ध-तककी जो संख्या दी गई है वही तैत्तिरीय संहितामें भी प्राप्त है।

इस प्रकार वैदिक कालसे ही लेखन और अङ्क-गणनाकी पद्धति प्राप्त हो गई थी। अतः, योरोपीय विद्वानोंका यह कथन निराधार है कि चौथी-पाँचवीं शती ई० पू० से ही लेखन और गणनाकी प्रणाली प्रारम्भ हुई। वास्तवमें वैदिक कालसे ही लेखन और गणनाकी पद्धति प्रचलित थी। ज्योतिष नामक वेदाङ्ग तो पूर्णतः गणनापर ही अवलम्बित था।

कैल्डियाकी पुस्तकें

जैसे-जैसे मानव-समाज विकसित होता गया वैसे-वैसे पत्थरोंपर लेख खोदनेके साथ-साथ सीधे चपटे मिट्टीके खपड़ों और पतली ईंटोंपर लोहेके तकुओंसे लेख खोदकर उन्हें आगमें पकाकर पुस्तकका रूप दिया जाने लगा। ऐसी खपड़-पुस्तकें सर्वप्रथम सर हेनरी लेअर्डको कैल्डियाकी खोजमें प्राप्त हुई थीं।



[कैल्डियाकी खपड़-पोथियों परके फन्नीदार अक्षर]

इन खपड़-पुस्तकोंमेंसे एक पुस्तक लन्दनके संग्रहालयमें सुरक्षित है जिसमें 'बाढ़की कथा' लिखी हुई है। इस पुस्तकको लेखनका सर्वप्राचीन उदाहरण माना जाता है और कल्पना की जाती है कि यह ईसासे लगभग ४४ सहस्र वर्ष पूर्व लिखी गई होगी। वास्तवमें हिब्रुओंने अपने 'जन्मकी कथा' वाली पुस्तकमें इस बाढ़की कथाका सन्निवेश कैल्डियावालोंसे लेकर किया था जो बाइबिलके जन्मसे सैकड़ों वर्ष पूर्व लिखी जा चुकी थी। कैल्डियावाले लेखक ऐसे फन्नी-दार एक-एक अक्षर एक या कई फन्नियोंके मिश्रणसे चौकोर नोकवाले तकुओंसे बाईं ओरसे दाईं ओरको लिखते थे।

कैल्डियाके ये लेखक वहाँके राजकीय वैतनिक सेवक होते थे। जब वहाँके शासक किसी देशपर चढ़ाई करते थे तब लेखकोंको भी उनके साथ-साथ जाना पड़ता था और उन शासकोंके समस्त कौशल, शौर्य, विजय आदिका पूरा विवरण लेखबद्ध कर देना पड़ता था। इस प्रयासमें अत्युक्तिपूर्ण यशोगाथा भी विस्तार-

से गाई जाती थी। इस प्रकार ये ग्रंथ इतिहास और आशंसाके सम्मिलित प्रयास होते थे। इतना ही नहीं, कैल्डियामें धर्म-पुस्तक लिखनेवाले पुजारी लोग भी राजकीय सेवक ही थे। युद्ध और धर्मकी इन पुस्तकोंके साथ-साथ इन खपड़-पुस्तकोंमें कृषि, ज्योतिष और राज्य-शासनका भी पूरा तंत्र प्राप्त होता है। यह माना जाता है कि लेअर्डको और असीरियाके अन्वेषकोंको जो खपड़-पुस्तकें प्राप्त हुई हैं वे निनेवेके राजा सैनाचेरिबके राज्यकाल और परिवारकी हैं जिसका अंत ईसासे ६८१ वर्ष पूर्व हो गया था।

मिस्रकी पुस्तकें

लेखनके प्राचीनत्वकी दृष्टिसे कैल्डियाके पश्चात् मिस्रकी गणना की जाती है। मिस्रमें बेंत, बाँस या नरकटके कलमोंसे पपुरस या पैपाइरस नामक सरपतकी गुद्दी कूटकर बनाए हुए लपेटनोंपर लिखा जाता था। ये सरपत नील नदीके कछारमें अब भी बहुतायतसे उत्पन्न होते हैं। अबतक जितनी मिस्री लिपिकी पुस्तकें मिली हैं, उनमें सर्वप्राचीन पुस्तक 'मृतकोंकी पुस्तक' है। इनकी रचना उस समय हुई थी जब मिस्रके महाशिखरों (पिरामिडों) की नींव डाली जा रही थी। ऐसी एक 'मृतकोंकी पुस्तक' लन्दनके संग्रहालयमें सुरक्षित है। जार्ज पुटनमका कथन है कि इस पुस्तकमें अनेक देवस्तोत्र और देवोंका यशोवर्णन है। इतना ही नहीं, इसमें अनेक मृतक राजाओंके अगले-पिछले जन्मोंका भी पूरा विवरण दिया हुआ है।



[मिस्रकी चित्र-लिपि (हिअरोग्लिफ़िक्स)के अक्षर]

यह 'मृतकोंकी पुस्तक' प्रत्येक मृतक राजाके साथ उसकी समाधिमें इसलिये सुरक्षित रख दी जाती थी कि इससे उसके आत्माको अगला जन्म लेनेतक निरन्तर सुख मिलता रहे। ये प्राचीन मिस्रवासी लोग इस पृथ्वीके सर्वप्राचीन पुस्तक-विक्रेता भी थे क्योंकि वे पुस्तकें लिखकर बेचते भी थे।

मिस्रमें पढ़ने-लिखनेका प्रचलन वहाँके मन्दिरोंसे प्रारम्भ हुआ। जिस प्रकार हमारे यहाँ वाणीकी देवी सरस्वती और विद्याके गुरु बृहस्पति माने जाते हैं उसी प्रकार मिस्रके देवताओंमें थोथहर्मेस नामक देवता भी पुस्तकालयोंके रक्षक माने जाते हैं। मिस्रियोंकी चित्रलिपिमें अन्य लिपियोंके रेखान्वित

अक्षरोंके बदले मछली, कौए, सिंह, पाश अथवा तत्कालीन पात्रोंके आकारके अक्षर बनाए जाते थे (पृ० ६५७)।

मिस्रकी पुस्तकोंमें 'मृतकोंकी पुस्तक' के पश्चात् 'प्ताह होतेपकी शिक्षा' नामक दूसरी सर्वप्राचीन पुस्तक है। प्ताह होतेपका जन्म लगभग ३५०० ई० पू० मैम्फ़िसमें हुआ था। जिन दिनों शुकदेवजी राजा परीक्षितको श्रीमद्भागवतकी कथा सुना रहे थे उन्हीं दिनों मिस्रमें यह पुस्तक लिखी जा रही थी। यह बहुत सम्भव है कि यह 'प्ताह होतेप' शब्द 'व्याससुत' का ही मिस्री रूपान्तर हो। मूसासे दो सहस्र वर्ष पूर्व और होमरसे ढाई सहस्र वर्ष पूर्व प्ताह होतेप हुआ था। उसकी लिखी हुई ये शिक्षाएँ लगभग सोलह हाथ लम्बे और साढे तीन हाथ चौड़े लपेटनोंपर लिखी गई हैं और अब पैरिसके राजकीय पुस्तकालयमें सुरक्षित हैं।

चीनी पुस्तकें

कैल्डिया और मिस्रकी पुस्तकोंके पश्चात् चीनकी पुस्तकोंकी गणना होती है। प्रसिद्ध चीनी दार्शनिक कङ्-फू-चीने ईसासे लगभग ४५० वर्ष पूर्व ही कथा-कहानी, गीत और शिक्षात्मक पुस्तक लिखनेका प्रचलन कर दिया था। ये पुस्तकें तीखे नोकीले तकुओंसे बाँसके चौड़े फट्टोंपर लिखी जाती थीं जिनपर भारतीय कालिख फैलाकर अक्षरोंमें कालिमा भर दी जाती थी। चीनी लोग पाटके कपड़ोंपर भी लिखा करते थे। ईसासे लगभग सौ वर्ष पूर्वसे ही वहाँ छपाई होने लगी थी।



[चीनी लिपि जो ऊपरसे नीचेको लिखी जाती है।]

चीनकी इन प्राचीन पुस्तकोंमें शिक्षा, नैतिकता और सदाचरणका विस्तृत विवेचन है। उन दिनों चीनमें लेखकोंका बड़ा सम्मान था किन्तु दुर्भाग्यवश ईसासे लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व चीनके रावण शे-हाङ्-ती ने यह घोषणा करा दी कि कृषि तथा आयुर्वेदकी पुस्तकोंको छोड़कर शेष सब पुस्तकें जला दी जायँ। इस दुर्नीतिपूर्ण आदेशके अनुसार पुस्तकें जला तो दी गईं किन्तु चीनी विद्वानोंने उन पुस्तकोंकी समग्र सामग्री कंठाग्र कर ली और शे-हाङ्-तीकी मृत्युके पश्चात् उन्हें पुनः लिख डाला।

कैल्डियाके समान ही चीनमें भी सभी लेखक राजकीय सेवक ही होते थे। उनका इतना सम्मान था कि कोई भी लेखक जीविका-विहीन नहीं रह पाता

था। इन प्राचीन चीनी लेखकोंमें पाङ्-शा-श्रो नामकी एक लेखिका भी थी जो ईसवी प्रथम शताब्दीमें अपने देशके महापुरुषों और घटनाओंका इतिहास लिख रही थी। उन दिनों चीनमें इतना अधिक लिखा गया कि आज भी उतना नहीं लिखा जा रहा है। चीनी लेखक प्राय: पुरानी पुस्तकोंपर अपने कलम अधिक माँजते रहे। जहाँ किसीने किसी पुरानी पुस्तकमें मीन-मेख निकालकर कोई नई बात कही कि चट लोग उसके पीछे पड़ जाते थे और उसके इस व्यवहारको धृष्टतापूर्ण और असम्मानपूर्ण समझते थे इसीलिये वर्गवादी सरकारकी स्थापनासे पूर्व चीनके लेखक अपरिवर्तनीय ढंगसे प्राचीन गीत ही गाते रहे। उन्होंने अपने ऊपर नया रंग चढ़ने ही नहीं दिया। किन्तु वर्गवादी शासन आते ही पद्धति बदल गई। चीनी लिपिके लगभग तीन सहस्र अक्षरोंमेंसे अधिकांश चित्रात्मक और विचारात्मक हैं जिसके अक्षर विभिन्न वस्तुओं, शब्दों और विचारोंके प्रतीक हैं, ध्वनियोंके नहीं। मूलतः वह चित्रलिपि ही थी। वहाँकी साहित्यिक भाषा (वेन-लो)के लिये प्रयुक्त होनेवाली प्राचीन विचारात्मक लिपिके बदले कुओ-यू (राष्ट्र-भाषा) के लिये वेन-लीके अक्षर तो स्वीकार कर लिए गए पर उन्हें अब ध्वनि-वर्णोंका प्रतीक मान लिया गया है।

हिब्रू की पुस्तकें

सर्वप्राचीन हिब्रू भाषाकी पोथियाँ भी ईसासे लगभग ६ सौ वर्ष पहले लिख डाली गई थीं। इन पुस्तकोंमें लगभग सभी विषयोंका समावेश हुआ। तत्कालीन धर्म और संस्कृतिके प्रवाहका ज्ञान इन हिब्रूकी पुस्तकोंसे अधिक प्राप्त होता है।

यूनानी लिपि

कोई समय था कि उत्तर अफ्रीकामें कार्थेज नगर विश्वका वैसा ही प्रसिद्ध और समृद्ध नगर था जैसे आज लन्दन, बर्लिन, दिल्ली, कलकत्ता, टोकियो और न्यूयार्क है। उन दिनों वहाँके व्यापारी फोनीशियों (फ़ोनिकों<वणिकों) ने सर्वप्रथम यूनानवासियोंको लेखनकला सिखाई और मिस्रवासियोंने उन्हें पुस्तक-रचना सिखाई। यों तो यूनानी वर्ण-समाम्नाय ईसासे आठ सौ वर्ष पूर्व ही जन्म ले चुका था किन्तु उसका प्रयोग बहुत मन्द था। जेवन्सीका कथन है कि यूनानमें पढ़ने-लिखनेका प्रचलन ईसासे लगभग ५०० वर्ष पहले प्रारंभ हुआ और वह प्रचलन इस वेगसे बढ़ा कि जो लोग पढ़ने-लिखनेसे जी चुराते या पढ़-लिख

नहीं सकते थे उनकी खिल्ली उड़ाई जाती थी और उन्हें हेय समझा जाता था। किन्तु वहाँ पढ़ने-लिखनेका तात्पर्य विद्वान् होना नहीं वरन् इतना ही ज्ञान प्राप्त करना माना जाता था कि वे अपने घरबार और व्यवसायका पूरा विवरण रख सकें और पारस्परिक पत्र-व्यवहार कर सकें।

सिकन्दरियामें लेखन-कलाका विकास

यूनानके प्रसिद्ध नगर अथेन्सके पश्चात् यूनानियोंने सिकन्दरियामें अपना गढ़ स्थापित किया जहाँ प्तोलेमी बन्धुओंने सभी श्रेष्ठ यूनानी पुस्तकें संग्रह करके सुन्दर पुस्तकालय स्थापित कर दिया। जब जूलियस सीज़रने ईसासे ४८ वर्ष पूर्व सिकन्दरिया नगरके इस पुस्तकालयमें आग लगाई उन दिनों इस पुस्तकालयमें ७ लाख पुस्तकें संगृहीत थीं। आज दो सहस्र वर्ष पश्चात् भी विश्वके सर्वश्रेष्ठ लन्दन-पुस्तकालयमें कुल साढ़े चार लाख पोथियाँ एकत्र हो पाई हैं। अतः, यह सहज ही कल्पना की जा सकती है कि सिकन्दरियाके पुस्तकालयके जल जानेसे कितनी महत्त्वपूर्ण पुस्तकें भस्म हो गई होंगी।

सिकन्दरियाके पुस्तकालयकी पुस्तकें लन्दनके पुस्तकालयकी पुस्तकों-जैसी नहीं थीं। उनमेंसे सहस्रों तो सरपतकी गुद्दियोंके लपेटनोंपर और उन काग़ज़ोंपर लिखी हुई थीं जो अग्निकाण्डके १०० वर्ष पूर्व ही वहाँ बनने लगे थे। इन लपेटनोंके दोनों ओर काठके गोल डण्डे लगे रहते थे जिनपर उन्हें लपेट दिया जा सकता था। यद्यपि इनमेंसे कुछ लपेटन बहुत लम्बे भी होते थे तथापि प्रायः छोटे लपेटनोंपर ही लिखनेका प्रचलन अधिक था। ये लपेटन लगभग हाथ-भर चौड़े होते थे जिनपर साढ़े छह अंगुल चौड़ी पट्टीमें ऊपरसे नीचेको लिखा जाता था और फिर सीधी खड़ी लाल रेखा बीचमें खींचकर उतनी ही चौड़ी अगली पट्टीमें लिखना प्रारम्भ कर दिया जाता था।

हमेरस (होमर) की ईलियाद (ईलियड) और अदूसी (ओडीसी) नामक पुस्तकें ऐसे-ऐसे १५ लपेटनोंपर लिखी गई थीं जिनकी बहुत-सी प्रतियाँ सिकन्दरियाके पुस्तकालयमें विद्यमान थीं। इन लपेटनोंपर लिख लेनेके पश्चात् लेखकगण उन्हें चित्रकारोंको दे-देते थे जो प्रत्येक लपेटनको अनेक रङ्गों, बेलबूटों और प्रसंगगत चित्रोंसे सजा देते थे। इसके पश्चात् वे लपेटन-पुस्तकें मिस्त्रियोंके पास पहुँचा दी जाती थीं जो इन लपेटनोंको काट-छाँटकर बराबर करते, उन्हें घोटकर चिकना करते, उनके दोनों छोरोंपर लकड़ीके

गोल डं` लगाकर, उन्हें लपेटकर छल्लेवाले डोरेसे बाँध देते थे। कभी-कभी इन गोल डंडोंके छोरोंपर चाँदी, पीतल या किसी चमकदार धातुकी फुलियाँ भी मढ़ दी जाती थीं। इन लपेटनोंपर लिखनेके पश्चात् दीवेकी कालिखमें गोंद मिलाकर नरकटके कलमसे उसपर नाम लिख दिया जाता और उसका पीछेका भाग केसरसे रँगकर फिर पीले या बैंगनी रंगके काग़जके गोल नलकोंमें ये सँभालकर रख दिए जाते थे।

ये प्राचीन यूनानी लेखक पुस्तकें बेचते भी थे। वे प्रायः कुछ पैसा देकर किसीसे कोई लिखी हुई पुस्तक उधार ले लेते थे और फिर परिश्रम करके लपेटनोंपर प्रतिलिपि करके उन्हें धनिकोंके हाथ बेच देते थे। ईसाके जन्मके समय-तक अथेन्समें इस प्रकारके पुस्तक-व्यापारियोंका बहुत बड़ा समाज था। वे लोग सड़कों और चौहट्टोंपर अपना हाट लगाकर बैठ जाते थे। उस समय (३०० ई० पू०) यूनानमें पुस्तकोंका विक्रय बहुत बड़ा व्यापार समझा जाता था। ये प्राचीन पुस्तक-विक्रेता बड़े धूर्त भी होते थे। नये लेखको शताब्दियों पुराना सिद्ध करनेके लिये वे उन्हें अनाजके बोरों या मिट्टीके मटकोंमें डाल रखते थे जिससे कुछ ही दिनोंमें उनका रंग धुँधला पड़ जाता था और उसमें घुन भी लग जाते थे। प्राय: उस समयके बड़े-बड़े धनिक इस प्रकारकी तथासिद्ध जीर्ण पुस्तकें ऊँचे मूल्यमें मोल लेकर अपना पुस्तकालय सजाते और इस प्रकार अपने विद्याप्रेमके अहं-भावको तृप्त करके दूसरोंपर अपनी गुणग्राहकता और विद्या-व्यसनका आतंक जमाते थे।

यूनानी पुस्तकें

ईसासे ३०० वर्ष पूर्व सिकन्दरिया ही यूनानी विद्वानोंका गढ़ बन चला था। लगभग उन्हीं दिनों रोमवासी लोग यूनानियोंके अनुकरणपर उन्हींकी शैलीसे लेखन-कार्य करने लगे थे। उन दिनोंकी सबसे बड़ी सिकन्दरियाकी देन है यहूदियोंके धर्मग्रन्थका अनुवाद—सप्तु आगिस्त। कहा जाता है कि सत्तर यहूदी रब्बियोंने मिलकर यह अनुवाद किया था। एक तो मिस्रमें बननेवाले लपेटनोंसे ही सिकन्दरियाको बड़ा सम्मान मिल गया था फिर परस्पर युद्धरत राजाओंकी पहुँचसे दूर होनेके कारण उसका कार्य-व्यापार अधिक विस्तृत और संवर्धनशील हो गया था। वहाँके पुस्तकालयमें विद्वानों-के साथ-साथ लेखकोंका भी विशाल समूह विद्यमान था। परिणाम-स्वरूप वहाँ संख्यातीत पुस्तकें लिखी भी गईं तथा देश-विदेशमें बाँटी और बेची भी

गईं। किन्तु सिकन्दरियाका यह स्वर्ण-युग बहुत दिन स्थायी न रह सका। रोमवासियोंने उसे उजाड़ डाला और उसके साथ यूनानी साम्राज्य भी विलीन हो गया।

रोमकी लेखन-पद्धति

प्रारम्भमें रोमकी पुस्तकोंकी सब सामग्री बाहरसे, विशेषतः यूनानसे, ली गई किन्तु जब रोम-साम्राज्य पूर्ण शक्तिके साथ स्थापित हो गया तब दूर-दूरके अगणित लेखक रोममें आ-आकर बसने लगे। पहले तो वहाँ यूनानी भाषाकी ही तूती बोलती रही और रोमवासी भी यूनानी पुस्तकोंके पृष्ठ उलटते रहे यहाँतक कि रोमकी भाषाका तेज प्रबल हो चलनेपर भी उसका आधार और रूप यूनानी ही बना रहा। समस्त यूनानी नाटकोंका रोमी भाषामें अनुवाद कर लिया गया। होमरके काव्य भी रोमकी भाषामें अनूदित हो गए। वास्तविक स्थिति यह हुई कि यूनानी काव्यको रोमके कपड़े-भर पहना दिए गए थे, उसकी प्रकृति पूर्णतः यूनानी बनी रही। उसका कारण भी यह था कि वहाँके सभी प्राचीन लेखक बाहरसे आए थे, विशेषतः यूनानसे। रोमकी यह विद्या-प्रवृति, विशेषतः लेखन-प्रवृत्ति १०० वर्ष-तक अर्थात् ईसाके १०० वर्ष पूर्वसे लेकर ईसाके जन्म-तक विद्यमान रही जिसमें सिसरो, लुक्रितियस, सीज़र, हौरेस, वर्जिल, ओविद और लिवि-जैसे प्रख्यात लेखक और विद्वानोंने महत्त्वपूर्ण रचनाओंकी सृष्टि की। वहाँ भी ऐसे अनेक लेखक थे जो अपनी जीविकाके लिये धनिकोंका आश्रय लेते थे और यह पद्धति बहुत दिनोंतक चलती भी रही किन्तु यह प्रणाली इतनी दूषित थी कि होमर और वर्जिल-जैसे प्रतिभाशाली विद्वानों और कवियोंको भी मैसेनस-जैसे कोट्यधीशका आश्रित रहना पड़ा था। अच्छी बात यही थी कि वे कोट्यधीश आजकलके जैसे निकम्मे नहीं वरन् गुणग्राहक होते थे और इसीलिये तत्कालीन विद्वानों और कवियोंको अपने उदरकी ज्वाला बुझानेके लिये द्वार-द्वार हाथ नहीं पसारना पड़ता था।

लिपिकी चार अवस्थाएँ

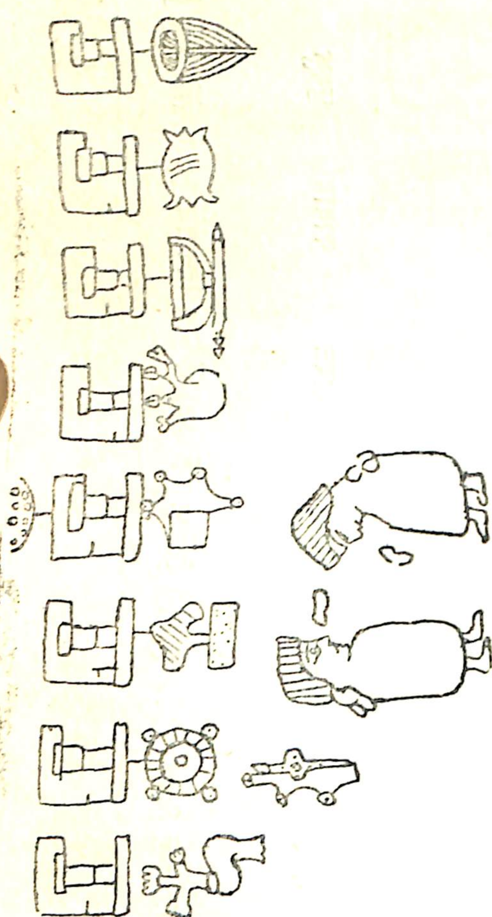
§ ३७८. लिपियोंकी चार अवस्थाएँ बताई गई हैं—विचार-लिपि, चित्र-लिपि, लयान्विति-लिपि तथा ध्वन्यक्षर लिपि।

जिन विद्वानोंने लिपिके स्वरूपका विशेष अध्ययन किया है उनका मत है कि संसारकी लिपियाँ निम्नांकित विशेष अवस्थाओंमें ढलकर बनी हैं— १. विचार-लिपि (आइडियोग्रैफ़िक), २. चित्रलिपि (पिक्टोग्रैफ़िक), ३. लयान्विति-लिपि (सिलेबिक) और ४. ध्वन्यक्षर - लिपि (अल्फ़ाबेटिक)।

पौप उओ ज़िप ज़ौक त्सेक क्सुल यावसकिन मोल चं एन्

याक्स .जाक चेह माच कानकिन मोअन पाक्स कायाब चुमकू

[मध्य अमरीकाकी माया संस्कृतिमें प्रयुक्त होनेवाली विचार-लिपि (आइडियोग्रैफ़िक स्क्रिप्ट) में २२ दिनवाले १८ मासोंके नाम]



[मैक्सिकोमें अज़तेक सभ्यताकी चित्रात्मक लिखावट] —लूम औफ़ लौंगवेजसे साभार ।

विद्वानोंका मत है कि सर्वप्रथम किसी पूरे भाव या विचारके लिये एक चिह्न बनाया जाता था (पृ० ६६३)। इसके पश्चात् चित्रलिपिका आगमन हुआ जिसमें प्रत्येक वर्णनीय वस्तुका चित्र बना दिया जाता था (पृ० ६६४-६६५)। तीसरी स्थिति लयान्विति-परक (सस्वराक्षर या सिलेबिक) लिपिकी है जिसमें व्यंजनके



[सीरियाके हाया प्रदेशमें प्राप्त हित्तियों या खत्तियोंकी चित्रलिपि]

—लूम औफ़ लैंग्वेजसे साधार

	स्वर-सहित	a (आ)	e (ए)	i (इ)	o (ओ)	u (उ)
	एकाकी	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
क	K	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
त	T	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
प	P	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
ल	L	[illegible]	[illegible]	[illegible]	+	[illegible]
र	R	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
म	M	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
न	N	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
य	J	[illegible]	[illegible]			
व	F.V	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	
स	S	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
ज़	Z	[illegible]	[illegible] (?)		[illegible]	
क्ष	X	[illegible] (?)	[illegible]			

[प्राचीन साइप्रसकी लयान्विति-परक (सिलेबिक) वर्णमाला। (K) क, के सामनेके पाँच अक्षर आ, ए, इ, ओ, उ स्वरोंके साथ मिलकर का, के, कि, को, कु बन जाते हैं। किन्तु यह लिपि भी लयान्विति-परक न होकर देवनागरीके समान वर्णाक्षरी है।

साथ स्वर मिले रहते हैं। इसी श्रेणीमें वे लोग देवनागरी लिपिको भी सम्मिलित कर लेते हैं किन्तु वे भूल जाते हैं कि सिलेबिल या लयान्विति तो किसी शब्दमें आनेवाली बहुत-सी ध्वनियोंका वह सबसे छोटा ध्वनिसमूह है जो एक झटकेमें बोला जाता हो जैसे अँगरेज़ीके 'ऐप्लीकेशन' शब्दमें चार लयान्वितियाँ हैं—'ऐप्, ली, के, शन्'। यदि संस्कृतका 'संसार' शब्द लिया जाय तो इसमें दो लयान्वितियाँ हैं—'सम्' और 'सार'। पर इस शब्दमें ३ अक्षर हैं—सं, सा, र और ६ ध्वनियाँ हैं (स्, अम्, स्, आ, र्, अ)। इसलिये देवनागरी लिपिको लयान्विति-परक (सिलेबिक) मानना नितांत अलीक है। चौथी अवस्थाकी लिपियोंके अन्तर्गत वे ध्वन्यक्षरी (ऐल्फ़ाबेटिक) लिपियाँ मानते हैं जिनमें प्रत्येक स्वर और व्यंजन ध्वनिके लिये एक-एक अक्षर आता है, जैसे यूनानी, रोमन या

प्राचीन मिस्री चित्र-लिपि	सिनाइ लिपि	मोबाइ प्रस्तर और प्राचीन मुद्राएँ	प्रारंभिक फ़ोनिक	पश्चिमी यूनानी	पश्चिमी लातिन	ब्राह्मी
[illegible]	[illegible]	K	K K	A, ∝	A	K
□ ⊂	□ ⊂	4	4	B, B	B	□
Y Y	[illegible]	⌣	Y, Y	V, Y, Y	V	⊥
[illegible]	[illegible]	[illegible]	§ 3	M, M	M	8
[illegible]	[illegible]	y	4	N, N	N	⊥
[illegible]	[illegible]	o	o	O	o	D
[illegible]	[illegible]	4	4	D, R, P	R, R	S
	+	x +	+	T	T	ʌ
	ω	W	W	≤ S ≤	≤ S	∩

[प्राचीन शिलालेखोंसे अक्षर (एल्फेबेट) जो ध्वन्वक्षर भी हैं, वर्णाक्षर भी]

योरोपी लिपियाँ जहाँ बी (B) = ब है और बी ए (BA) = बा (बार BAR) या बै (बैड BADE) या बै (बैड BAD) या बौ (बौल BALL) है अर्थात् जहाँ व्यंजनके अन्तर्गत उच्चरित होनेवाले स्वरका भी अलग वर्ण होता है।

देवनागरी लिपि

§ ३७६. देवनागरी लिपि सर्वप्राचीन और वर्णाक्षरी या ध्वन्यनुगामिनी है।

यह कहना नितान्त भ्रामक है कि सब लिपियाँ इन चार अवस्थाओंमें होकर ढलीं। वास्तवमें विभिन्न देशोंमें विभिन्न प्रकारकी लिपियोंका अलग-अलग विकास हुआ। मिस्रकी चित्र-लिपि मिस्रमें ही रह गई और साइप्रसकी विचार-लिपि साइप्रसमें बनी रही। संसारके किसी भी देशमें कोई लयान्विति-लिपि

(सिलेबिक स्क्रिप्ट) चली नहीं। जिस देवनागरीको वे लोग लयान्विति-परक या सस्वराक्षर (सिलेबिक) मानते हैं वह शुद्ध रूपसे ध्वन्यनुगामिनी या वर्णाक्षरी (फ़ोनेटिक) लिपि है और इसीलिये वह संसारकी सब लिपियोंमें सबसे अधिक पूर्ण और व्यवस्थित है। उसमें जो अक्षरका नाम है, वही उसकी ध्वनि है और उसमें यह क्षमता है कि जैसा कोई बोले वैसा ही उसमें लिख दिया जा सकता है। अँगरेज़ी-जैसी ध्वन्यक्षरी लिपियोंमें अक्षरका नाम कुछ है और वह आता है किसी अन्य ध्वनिके लिये। 'सी' C नामक अक्षर 'स' और 'क' दोनोंके लिये प्रयुक्त होता है। अक्षरका नाम 'बी' (B) है पर वह आता है 'ब' के लिये। इसी प्रकार 'ए' (A) अक्षर 'अ, आ, ए, ऐ, औ के लिये प्रयुक्त होता है किन्तु देवनागरी लिपिमें इस प्रकारकी कोई अव्यवस्था नहीं है। इसीलिये उसे पढ़ने, समझने और लिखनेमें किसी प्रकारकी कोई असुविधा नहीं होती। इस आधारपर हम देवनागरी लिपिको पूर्ण पंचम ध्वन्यात्मक अवस्था मानते हैं और यह पूर्ण अवस्था उसने भारतमें प्रारम्भमें ही ग्रहण कर ली थी, वह विकसित होकर नहीं बनी।

लिपिकी गति

§ ३८०. लिपिकी गति दाएँसे बाएँ, बाएँसे दाएँ, या ऊपरसे नीचेको होती है।

संसारकी समस्त लिपियाँ तीन प्रकारसे लिखी जाती हैं—

१. बाएँसे दाएँ, जैसे ब्राह्मी, देवनागरी या योरपकी रोमन लिपियाँ।

२. दाएँसे बाएँ, जैसे खरोष्ठी, अरबी और फ़ारसी।

३. ऊपरसे नीचे, जैसे चीनी।

अभीतक ऐसी कोई लिपि दृष्टिगोचर नहीं हुई जिसमें नीचेसे ऊपरको लिखा जाता हो। आजकल अनेक पत्रों और पत्रिकाओंमें विभिन्न प्रकारकी कलात्मक सजावटोंके अनुसार कभी-कभी दाएँ या बाएँसे लिखी जानेवाली लिपियोंको ऊपरसे नीचे या टेढ़ा-बाँका करके लिखनेका प्रचलन हो गया है किन्तु यह प्रचलन अलंकरणमें ही होता है, व्यावहारिक लेखनमें नहीं।

फ़ारसी और अरबीकी प्राचीन पुस्तकोंमें निश्चय ही टेढ़ी पंक्तियोंमें शेर लिखनेकी प्रथा प्रचलित रही किन्तु अक्षरोंको नीचेसे ऊपर रखकर वाक्य लिखनेकी प्रथा संसारकी किसी लिपिमें दृष्टिगोचर नहीं होती।

संकेत-विद्या

§ ३८१. हाथके संकेतसे भी वाणीकी प्रतीकाभिव्यक्ति होती थी।

लिपिके समान ही प्राचीन कालमें गोपनीय वार्ताके लिये कुछ निश्चित अंगुलि-संकेत बना लिए गए थे जिसका विवरण रामायणमें राम और हनुमान-की तथा महाभारतमें विदुर और पांडवोंकी वार्ताके प्रसंगमें मिलता है। हाथ और उँगलीके इन संकेतोंमें अक्षर और मात्राएँ सब उसी प्रकार स्पष्ट व्यक्त की जाती थीं जैसे लिपिमें। लंकामें पहुँचकर राम और हनुमान-ने परस्पर वार्ताके लिये अपनी भाषाका संकेत-सूत्र बना रक्खा था—

अहिफन कमल चक्र टंकार।
ताल पवन यौवन सिसकार॥
उँगली अक्षर चुटकी मात्रा।
राम-पवनसुत करते वात्रा॥

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है। हाथको सर्पके फणके समान बना लेनेका अर्थ है अ से अः तक सम्पूर्ण १६ स्वर। हाथको कमल-जैसा बनानेका अर्थ है कवर्ग (क, ख, ग, घ, ङ), चक्रके समान उँगली घुमाने-का अर्थ है चवर्ग (च, छ, ज, झ, ञ), मुँहसे टंकार देनेका अर्थ है टवर्ग (ट, ठ, ड, ढ, ण), हाथसे ताल देनेका अर्थ है तवर्ग (त, थ, द, ध, न), पंखेके समान हाथ घुमानेका अर्थ है पवर्ग (प, फ, ब, भ, म,), मुँहपर हाथ फेरने (यौवन) का अर्थ है यवर्ग (य, र, ल, व,) और सिसकारी भरनेका अर्थ है श वर्ग (श, ष, स, ह)। इस प्रकार वर्गका संकेत करके उस वर्गका जो अक्षर बताना हो उतनी उँगलियाँ उठा ली जायँ; जैसे 'ग' के लिये कमल-जैसा हाथ बनाकर तीन उँगलियाँ उठा ली जायँ और 'गा' कहने के लिये दो चुटकियाँ बजा दी जायँ। किन्तु मुद्रण-यंत्रके आविष्कार और नवीन प्रकारके लिपि-संकेतोंके कारण यह संकेत-विद्या अव्यवहृत हो गई।

लेखन और भाषणमें भेद

§ ३८२. लेखन और भाषणमें स्वाभाविक भेद है।

यद्यपि लेखन और भाषण दोनोंमें वर्ण, शब्द और वाक्य समान ही रहते हैं किन्तु दोनोंकी प्रकृतिमें बहुत अन्तर है। कोई भी व्यक्ति कुछ कहते समय वाणीके साथ-साथ आँख, भौं, हाथ, नाक और सिर भी चलाता है और भावके

अनुसार स्वर भी उतारता-चढ़ाता चलता है। इसलिये उसके बहुतसे भाव और अर्थ उसके आंगिक अभिनय, शिरः संचार और स्वरके आरोह-अवरोहसे स्पष्ट हो जाते हैं किन्तु किसी लेखका अर्थ समझनेके लिये उस भाषाके सब शब्द, उनके अर्थ, उनके प्रयोगकी प्रक्रिया और शैली जानना आवश्यक है। इसलिये कही हुई बातका अर्थ समझनेकी अपेक्षा लिखी हुई बातका अर्थ समझना कठिन होता है। अनेक प्रतिभाशील और कुशल लेखकोंने कुछ तो सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रभावसे और कुछ अपनी प्रतिभासे लेखनकी ऐसी शैलियाँ निकाल ली हैं कि जो बात वक्ता आंगिक संचार और स्वरके आरोह-अवरोहसे कहता या कह सकता है उसका पूर्ण प्रभाव लेखमें भी ज्योंका-त्यों स्थापित किया जा सके।

नागरी अङ्क और अक्षर

§ ३८३. नागरी अंकों और अक्षरोंका विकास ब्राह्मी लिपिसे हुआ।

स्वर्गीय रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझाने नागरी अंकोंके विकासके सम्बन्धमें विचार प्रकट करते हुए लिखा है—'जैसे नागरी लिपिके प्राचीन और वर्तमान अक्षरोंके बीच बड़ा अन्तर है वैसे ही नागरीके प्राचीन और वर्तमान अंकोंमें भी बड़ा अन्तर है। यह अन्तर केवल अंकोंके रूपोंमें ही नहीं, वरन् प्राचीन तथा अर्वाचीन अंकोंकी लेखन-शैलीमें

भी है। इस समय जैसे एक ही अंक इकाई, दहाई, सैकड़ा, हजार, लाख आदिके स्थानोंमें आ सकता है वैसे प्राचीन अंक-क्रममें नहीं था। प्राचीन अंक-क्रममें शून्यका व्यवहार होता ही नहीं था। १ से ९ तककी संख्या बतलानेके लिये ९ अंक-चिह्न नियत थे और ऐसे ही १०, २०, ३०, ४०, ५०, ६०, ७०, ८०, ९०, १००, १०००, १००००० आदिके लिये भी भिन्न-भिन्न चिह्न नियत थे। प्राचीन क्रम कुछ अधिक जटिल था। क्रम-क्रमसे विकास और सुधारकी अवस्था पार करते हुए हमारे अंकोंको वर्तमान रूप प्राप्त हुआ है। समय-समयपर जो रूप-परिवर्तन होते रहे हैं उसके ये दो मुख्य कारण अनुमान किए जा सकते हैं—१. अंकोंको सुन्दर बनानेका प्रयत्न, तथा २. लेखनीको उठाए बिना शीघ्रतासे अंकको पूरा लिखनेकी चेष्टा। आगे दी हुई सरणीसे विकासकी अवस्था स्पष्ट हो जायगी।

१ का चिह्न प्राचीन कालमें एक आड़ी लकीर (—) था। लगभग ईसवी सन्‌की चौथी शताब्दी-तक १ का अंक प्रायः इसी प्रकार लिखा जाता था और अब भी व्यापारी लोग रुपयोंके अंकोंके साथ आनेका अंक लिखते समय यही चिह्न काममें लाते हैं। दूसरे रूपमें थोड़ा-सा घुमाव डालकर सुन्दर बनानेका यत्न पाया जाता है। तीसरा रूप दूसरेसे मिलता हुआ ही है, परन्तु उसमें आरम्भके भागमें छोटीसी गाँठ लगाने तथा घुमाव बढ़ानेका यत्न किया गया है। तीसरे रूपको नीचेकी ओर अधिक बढ़ानेसे चौथा रूप बना है। इससे वह पाँचवाँ तथा छठा रूप बना है जो अबतक लिखा जाता है।

२ का चिह्न पहले दो आड़ी लकीर (=) था (जिसका विवरण १ के पहले रूपके अनुसार ही है)। दूसरे रूपमें इन लकीरोंमें कुछ घुमाव पाया जाता है जो सुन्दरताके विचारसे ही डाला गया होगा। इसका विवरण अंक १ के दूसरे रूपके अनुसार ही है। तीसरे रूपमें लकीरोंके नीचेकी ओरका झुकाव बढ़ा हुआ पाया जाता है। इन दोनों लकीरोंके परस्पर मिल जानेसे चौथा रूप बन जाता है जो वर्तमान २ के अंकसे मिलता हुआ है। यह रूप लेखनीको उठाए बिना दोनों लकीरोंको लिखनेसे बना है और अनेक प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों, शिलालेखों तथा ताम्रपत्रोंमें मिलता है।

३ का चिह्न पहले तीन आड़ी लकीरें (≡) था; जिसमें घुमाव डालनेसे दूसरा रूप तथा प्रारम्भमें छोटीसी गाँठ लगानेसे तीसरा रूप बना है। बिना लेखनी उठाए लिखनेका यत्न करनेसे चौथा रूप बना है जो वर्तमान

३ के अंकसे मिलता हुआ है। इन भिन्न-भिन्न रूपान्तरोंका विवरण अंक २ के रूपान्तरोंके अनुसार ही है। व्यापारी लोग २ और ३ आनोंके लिये क्रमशः दो और तीन आड़ी लकीरें (=, ≡) बनाते थे जो वास्तवमें प्राचीन अंक ही हैं।

४ का पहला रूप अशोकके समयकी प्राचीन नागरी या ब्राह्मी लिपिके 'क अक्षर (+) के रूपसे मिलता हुआ है। दूसरा रूप नानाघाट आदि अनेक स्थानोंके प्राचीन शिलालेखोंमें मिलता है। तीसरा रूप क्षत्रियवंशी राजाओंके सिक्कोंपर मिलता है जिसमें नीचेकी ओरकी खड़ी लकीरके अन्तमें घुमाव डाला गया है। उसी घुमावको वेगसे लिखनेमें गाँठका रूप देने तथा बीचकी आड़ी लकीरके साथ उसे मिला देनेसे चौथा रूप बना है जो वर्तमान ४ के अंकसे बहुत ही मिलता हुआ है और दसवीं शताब्दीके आसपासकी हस्तलिखित पुस्तकोंमें पाया जाता है।

५ का पहला रूप आंध्रभृत्यों तथा क्षत्रियोंके लेखोंमें मिलता है। दूसरा रूप गुप्तोंके शिलालेखोंमें मिलता है जिसमें खड़ी लकीरको कुछ छोटा बनाकर सुन्दरता लानेका प्रयत्न पाया जाता है। तीसरा रूप नेपालके शिलालेखों तथा प्राचीन पुस्तकोंमें मिलता है। चौथे तथा पाँचवें दोनों रूप नवीं तथा दसवीं शताब्दीके लेखोंमें मिलते हैं और नागरीके वर्तमान ५ अंकसे मिलते हैं। पाँचवाँ तथा छठा दोनों रूप इस समय लिखे जाते हैं।

६ का पहला रूप मौर्यवंशी राजा अशोकके सहस्राराम (बिहारके शहाबाद जिलेमें वर्त्तमान सहसराम) और रूपनाथ (जबलपुर जिलेमें) के लेखोंमें पाया जाता है जो वर्तमान ६ के अंकसे बहुत कुछ मिलता हुआ है। दूसरा रूप पहलेसे मिलता हुआ ही है। तीसरा रूप दूसरेसे तथा वर्तमान ६ के रूपसे विशेष मिलता हुआ है।

७. का पहला रूप आंध्र-भृत्यवंशी राजाओंके शिलालेखोंमें मिलता है। दूसरा रूप क्षत्रिय राजाओंके सिक्कोंमें पाया जाता है जिसमें खड़ी लकीरके नीचेके भागको कुछ बाएँ हाथकी ओर घुमा दिया गया है। इसी घुमावको कुछ और बढ़ानेसे तीसरा तथा चौथा रूप बना है। ये दोनों रूप क्षत्रियोंके सिक्कों तथा वलभीके राजाओंके ताम्रपत्रोंमें मिलते हैं। इन्हींसे वर्तमान ७ के अंककी उत्पत्ति हुई है।

८ का पहला रूप आंध्र-भृत्यवंशी राजाओंके शिलालेखोंमें पाया जाता है। दूसरा तथा तीसरा रूप गुप्तवंशी राजाओंके लेखोंमें मिलता है। इन्हींसे वर्तमान ८ का अंक बना है।

९ का पहला तथा दूसरा रूप आन्ध्र-भृत्योंके लेखोंमें मिलता है। तीसरा रूप क्षत्रियोंके सिक्कोंमें पाया जाता है। तीसरेको शीघ्रतासे लिखनेके कारण चौथे रूपका प्रादुर्भाव हुआ होगा। यह रूप तीसरे रूपसे और नागरीके 'उ' अक्षरसे भी मिलता हुआ है। चौथेसे पाँचवाँ रूप बना है, जिससे बाईं ओरके नीचेके भागकी गोलाई बढ़ जानेसे वर्त्तमान ९ के अङ्कसे कुछ समानता आ जाती है। यह रूप ईसवी सन्की दसवीं शताब्दीके लेखोंमें मिलता है। इसीका रूपान्तर छठा रूप है, जो वर्त्तमान समयमें भी कहीं-कहीं लिखा जाता है। उसीसे वर्त्तमान ९ का अङ्क बना है।

९ का यह रूप विशेषत: दक्षिणमें प्रचलित है। इसके पहले तथा दूसरे रूपका विवरण ऊपर लिखे अनुसार ही है। तीसरा रूप दूसरेसे मिलता हुआ है केवल ऊपरके हिस्सेमें गाँठ लगा दी गई है। इसीसे शीघ्रतासे लिखनके कारण चौथे रूपकी उत्पत्ति हुई।

० (शून्य) का प्रयोग छठी शताब्दी ईसवी-तकके शिलालेखों, ताम्रपत्रों तथा सिक्कोंमें नहीं पाया जाता, जिसका कारण यह है कि लगभग उस समय-तक अङ्क प्राचीन क्रमसे लिखे जाते थे जिसमें शून्यकी आवश्यकता ही न थी, क्योंकि १०, २०, ३० आदिके अङ्कोंके लिये भिन्न-भिन्न चिह्न नियत थे।'

नागरी अक्षर

नागरी अक्षरोंके सम्बन्धमें ओझाजीका मत है कि 'वर्त्तमान नागरी लिपिका मूल अर्थात् प्राचीन रूप अशोकके शिलालेखोंकी लिपिमें मिलता है जो विक्रम संवत्से लगभग २०० वर्ष पूर्वका है और काठियावाड़से उड़ीसा-तक और नेपालकी तराईसे मैसूर-तक अनेक स्थानोंसे मिला है। अशोकके समय वह लिपि बहुधा सारे भारतमें वैसे ही प्रचलित थी जैसे इस समय नागरी लिपि है। अशोकके पूर्व ब्राह्मी लिपिका क्या रूप था और उसमें कैसे-कैसे पतिवर्त्तन होनेके पश्चात् वह उस स्थितितक पहुँची यह जाननेके लिये अबतक ठीक साधन उपलब्ध नहीं हुए हैं। अतएव अभी तो अशोकके समयकी लिपिको ही अपनी नागरी लिपिका प्राचीनतम रूप मानना चाहिए।

अशोकके समयकी लिपिका नाम 'ललितविस्तर' में 'ब्राह्मी' मिलता है और 'नित्यषोडषिकार्णव' के भाष्य 'सेतुबन्धु' में भास्करानन्दने उसका नाम 'नागर' (नागरी) लिपि ही माना है क्योंकि वे लिखते हैं कि 'नागरी लिपि' में 'ए' का रूप त्रिकोण है जैसा कि अशोकके लेखोंमें मिलता है।

'नागरी' शब्द 'देवनागरी' का संक्षिप्त रूप है और इसका 'देवनागरी' नाम पड़नेका कारण सामशास्त्रोंके मतानुसार यह है कि देवताओंकी प्रतिमाओंके बननेके पूर्व उनकी उपासना सांकेतिक चिह्नों-द्वारा होती थी जो कई प्रकारके त्रिकोणादि यन्त्रोंके मध्यमें लिखे जाते थे। वे यन्त्र 'देवनगर' कहलाते थे। उन देवनगरोंके मध्य लिखे जानेवाले अनेक प्रकारके सांकेतिक चिह्न कालान्तरमें अक्षर माने जाने लगे। इसीसे उनका नाम 'देवनागरी' हुआ।

यह कहना अनुचित न होगा कि अशोकके लेखोंकी नागरी (ब्राह्मी) लिपि वर्त्तमान नागरीसे अधिक सरल थी और गुजराती लिपिके समान उसके अक्षरोंके सिर नहीं मिलाए जाते थे। परन्तु पीछेके लेखकोंके हाथसे उसके अनेक रूपान्तर हुए जिसके मुख्य चार कारण अनुमान किए जा सकते हैं—

१. अक्षरोंके सिर बनना, २. अक्षरोंको सुन्दर बनानेका प्रयत्न करना, ३. त्वरासे लिखना तथा ४. कलमको उठाए बिना अक्षर पूरा-पूरा लिखना।

अगले पृष्ठ (६७५) पर दिए हुए मानचित्रमें अशोक-कालीन तथा समय-समयपर हुए समस्त अक्षर-रूपान्तर दिए गए हैं जिनका विवरण नीचे लिख जाता है। प्रत्येक अक्षरका पहला रूप अशोकके समयका है। नीचे जहाँ-जहाँ 'पहला रूप' लिखा है वहाँ-वहाँ उसका अर्थ दूसरा रूप ही समझना चाहिए।

अ—का पहला रूप गिरनार पर्वत (काठियावाड़में) के पासकी एक चट्टानपर खुदे हुए अशोकके लेखोंसे लिया गया है। दूसरा रूप कुषाणवंशी राजाओंके लेखोंमें (जो ईसवी सन्‌की दूसरी शताब्दीके आस-पासके हैं) मिलता है। इसमें सिर बनानेका यत्न स्पष्ट पाया जाता है। आरम्भमें अक्षरोंके सिर बहुत छोटे बनते थे परन्तु पीछेसे बहुधा पूरे अक्षरपर बनने लगे। ऐसा अनुमान होता है कि प्रारम्भमें यह यत्न भी अक्षरको सुन्दर बनानेके उद्देश्यसे किया गया होगा। तीसरा रूप दूसरे रूपसे मिलता

नागरी अक्षरों का विकास

= अ
= अ
= इ
= उ
= ए
= क
= ख
= ग
= घ
= ङ
= च
= छ
= ज
= झ
= झ
= ञ
= ट
= ठ
= ड
= ढ
= णा
= ण
= त
= थ
= द
= ध
= न
= प
= फ
= ब
= भ
= म
= य
= र
= ल
= व
= श
= ष
= स
= ह
= ळ
= क्ष
= ज्ञ
= का
= कि
= की
= कु
= कू
= कै

हुआ है, अन्तर केवल इतना ही है कि दूसरे रूपमें नीचेके बाईं ओरके भागमें सुन्दरताकी दृष्टिसे जो घुमाव डाला गया है उसका मूल अक्षर तोड़ दिया गया है। चौथे और पाँचवें रूपमें 'अ' की दाहिनी ओरकी खड़ी लकीरको सुन्दर बनानेका यत्न किया गया है, जिससे अक्षरकी आकृतिमें विशेष अन्तर आ गया है। ये रूप नवीं शताब्दी ईसवीके आस-पाससे लगाकर बारहवीं शताब्दीतकके अनेक लेखों तथा हस्तलिखित पुस्तकोंमें मिलते हैं। कई जैन लेखक तो अबतक प्रत्येक खड़ी लकीरके अन्तको सुन्दरताके विचारसे हलन्तके चिह्नका-सा रूप दे देते हैं।

अ—का यह रूप अब बहुधा दक्षिणमें लिखा जाता है और ऊपर लिखे हुए 'अ' के तीसरे रूपको उसकी वास्तविक स्थितिमें रहने देने अर्थात् उसमें सुन्दरता लानेका यत्न न करनेसे ही इसकी उत्पत्ति हुई है।

इ—का दूसरा रूप गुप्तवंशी राजा समुद्रगुप्तके इलाहाबादके लेखमें तथा स्कन्दगुप्तके समयके कुमाऊँके लेखमें मिलता है जिसमें 'इ' की बिन्दियोंपर सिर बनानेका यत्न किया गया है। चौथा रूप हैहय (कलचुरी)-वंशी राजा जाज्वल देवके लेखमें तथा कई हस्तलिखित प्राचीन पुस्तकोंमें पाया जाता है। पाँचवाँ रूप १२ वीं शताब्दीके आस-पासके शिलालेखों तथा पुस्तकोंमें मिलता है और वर्त्तमान 'इ' से बहुत कुछ मिलता हुआ है।

उ—के दूसरे रूपमें सिर बना है और नीचेकी लकीरके अन्तिम भागको सुन्दरताके विचारसे कुछ नीचेको झुका दिया गया है। उक्त झुकावको बढ़ा देनेसे चौथे रूपकी सृष्टि हुई है जो अनेक लेखोंमें मिलता है।

ए—के दूसरे रूपमें त्रिकोणको उलटा कर दिया गया है जिससे ऊपरकी ओर सिर-सा दिखाई देता है। चौथे रूपमें त्रिकोणको पलटकर वर्त्तमान 'ए' का प्रादुर्भाव दिखाई पड़ता है। पाँचवाँ रूप, जो वर्त्तमान 'ए' से बहुत ही मिलता हुआ है, राठौड़ राजा गानन्दराज (तीसरे) के शक संवत् ७३० (वि० सं०८६४=ई० स० ८०७) के ताम्रपत्रोंमें तथा अन्य शिलालेखों एवं पुस्तकोंमें मिलता है।

क—के दूसरे रूपमें सिर बनानेका यत्न पाया जाता है और बीचकी आड़ी लकीरको झुका दिया है। तीसरे रूपमें बीचकी लकीरका झुकाव बढ़ा दिया गया है। चौथा रूप अनेक लेखोंमें पाया जाता है।

ख—का दूसरा रूप कुषाणवंशी राजाओंके लेखोंमें तथा गिरनार पर्वतके पास उपर्युक्त चट्टानपर खुदे हुए लेखमें मिलता है जो ई० स० की दूसरी शताब्दीका है। तीसरे रूपमें सिर बनानेके कारण अक्षरके दो खण्ड हो गए हैं, जिनमेंसे पहले अर्थात् खड़ी लकीरके भागको सुन्दर बनानेका यत्न किया गया है। इस प्रकार उक्त अक्षरके 'र' और 'व' दो रूप बन गए जिनको मिलकर लिखनेसे ही 'ख' बनता है। इसी भ्रमको दूर करनेके लिये नया ख अक्षर चला है जिसमें र के नीचेकी तिरछी रेखा बढ़ाकर व की सीधी रेखामें मिला दी गई है।

ग—'ख'के समान 'ग' के रूपान्तरोंका मुख्य कारण सिर बनाना है। दससे रूपमें ऊपरके कोणके स्थानमें वक्रता पाई जाती है। इसी रूपके ऊपर सिर बनाने तथा पहली खड़ी लकीरको तनिक बाईं ओर मोड़ देनेसे तीसरे रूपकी उत्पत्ति हुई है जो वर्त्तमान 'ग' से मिलता हुआ ही है।

घ—के दूसरे रूपमें सिर बनाया गया है और दाहिनी ओरकी दोनों ऊर्ध्व रेखाओंकी ऊँचाई बढ़ा दी गई है। इसीका सिर पूरा बनाने तथा त्वराके कारण अक्षरको कुछ टेढ़ा लिखनेसे तीसरा रूप बना है जो वर्त्तमान 'घ' से मिलता हुआ है। चौथा रूप भी उसीसे मिलता हुआ है।

ङ—अक्षर अशोकके किसी लेखमें नहीं मिलता। यह पहले-पहले कुषाणवंशीय लेखोंके संयुक्ताक्षरोंमें पाया जाता है। इसका पहला रूप समुद्रगुप्तके लेखके एक संयुक्ताक्षरसे लिया गया है। पीछेसे इसके नीचेके भागकी गोलाई बढ़ती गई और इसकी आकृति 'ङ' से मिलने लगी जिससे इसको उससे भिन्न बनानेके लिये इसके सिरके अन्तमें गाँठ लगाई जाने लगी जो कहीं चतुरस्र, कहीं गोल और कहीं त्रिकोण-सी मिलती है। इस गाँठका प्रादुर्भाव ई० स० की आठवीं शताब्दीके आस-पास पाया जाता है। पीछेसे यह बिन्दीके रूपमें अक्षरके मध्य भागमें लगाई जाने लगी।

च—के दूसरे भागमें सिरके अतिरिक्त बाईं ओरके नीचेके भागपर नोक-सी बनी है। तीसरे रूपमें वर्त्तमान 'च' की कुछ आकृति दिखाई पड़ती है जो चौथे रूपमें पूरी तरह बन गई है।

छ—के दूसरे रूपमें खड़ी लकीर वृत्तको पारकर बाहर निकल गई है। जयचन्दके और मालवाके परमारवंशी महाकुमार उदय वर्माके वि० सं०

१२५६ के ताम्रपत्रोंमें यह मिलता है। इसका एक बिना खड़ी रेखा और बिना नीचेकी घुंडी वाला अभव्य 'छ' रूप भी चला है।

ज—के दूसरे रूपमें नीचेके भागको कुछ आगे बढ़ाकर सुन्दर बनानेके लिये उसे कुछ नीचे झुका दिया गया है। उसी भागको बाईं ओर घुमानेसे तीसरा रूप बना है। चौथा रूप वर्त्तमान 'ज' से मिलता ही है और पाँचवाँ रूप तो इस समय कहीं-कहीं लिखा भी जाता है।

झ : वर्त्तमान नागरी लिपिमें जो 'झ' अक्षर लिखा जाता है उसकी उत्पत्ति कैसे हुई यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकोंमें उसका प्रयोग कहीं नहीं मिलता।

ञ—वर्ण प्राकृत लेखोंमें मिलता है और संस्कृत लेखोंमें बहुधा संयुक्ताक्षरोंमें ही पाया जाता है। इसका दूसरा रूप मेवाड़के राजा अपराजितके समयके वि० सं० ७१७ के लेखमें और तीसरा कुमारगुप्तके समयके मन्दसौरके लेखमें मिलता है जो वि० सं० ५२६ (ई० सं० ४७२) का है। तीसरे रूपकी दाहिनी ओरकी खड़ी लकीरको ऊपरकी ओर बढ़ानेसे चौथा रूप बना है, जो वर्त्तमान 'ञ' से मिलता हुआ ही है।

ट—का दूसरा रूप पहलेसे मिलता हुआ है और सिर बनानेके कारण ऊपरके भागमें कुछ परिवर्त्तन प्रतीत होता है। तीसरा तथा चौथा रूप वर्त्तमान 'ट' से मिलता है।

ठ—का दूसरा रूप केवल सिर बनाए जानेके कारण बना है। इसमें और पहले रूपमें शेष कोई भेद नहीं है। तीसरे रूपमें सिर तथा नीचेमें वृत्ताकार भागके बीचमें छोटी-सी खड़ी लकीर रहनेके कारण ठीक वर्त्तमान 'ठ' बना गया है।

ड—के तीसरे रूपमें मध्यका घुमाव बढ़ा देनेके कारण उसकी आकृति वर्त्तमान 'ड' के सदृश बन गई है।

ढ : वर्त्तमान नागरी लिपिकी वर्णमालामें केवल एक 'ढ' अक्षर ही अपनी प्राचीन स्थितिमें बना हुआ है। केवल उसपर सिर बढ़ाया गया है।

ण—का दूसरा तथा तीसरा रूप कुषाणोंके लेखोंमें मिलता है। चौथेसे छठेतकके रूप अनेक लेखादिमें पाए जाते हैं। छठे रूपमें सिर बढ़ा देनेसे वर्त्तमान 'ण' बना है।

ण—का यह रूप दक्षिणमें प्रचलित है। इसके भेद ऊपरके 'ण' के अनुसार ही हैं। इसके चौथे रूपमें सिर जोड़ देनेसे यह रूप बना है।

त—का दूसरा रूप वर्त्तमान 'त' से मिलता हुआ है।

थ—का दूसरा रूप समुद्रगुप्तके लेखमें मिलता है। तीसरेसे पाँचवेंतकके रूप अनेक लेखोंमें पाए जाते हैं।

द—का दूसरा रूप अशोकके जौगड़के लेख तथा पभोसाके लेखोंमें (जो दूसरी शताब्दी ई० पू० के हैं) मिलता है। तीसरा कुषाणोंके लेखोंमें और चौथा अनेक लेखोंमें पाया जाता है। पाँचवाँ रूप वर्त्तमान 'द' से मिलता हुआ है।

ध—का दूसरा रूप कन्नौजके परिहार राजा भोजदेवके ग्वालियरके लेखमें तथा देवल गाँवकी प्रशस्तिमें पाया जाता है। तीसरा रूप कन्नौजके राजा जयचन्दके ताम्रपत्रमें मिलता है। चौथा रूप वर्त्तमानसे बहुत कुछ मिलता हुआ है।

न—का दूसरा रूप उपर्युक्त क्षत्रिय राजा रुद्रदामाके लेखमें और तीसरा राजानक लक्ष्मणचन्द्रके समयके वैद्यनाथके लेखमें मिलता है। चौथा तीसरेका ही रूपान्तर है।

प—का दूसरा रूप पहलेसे मिलता हुआ ही है। तीसरा अनेक लेखोंमें पाया जाता है।

फ—का दूसरा रूप पहलेसे मिलता हुआ ही है। तीसरा रूप समुद्रगुप्तके लेखमें पाया जाता है। चौथा रूप तीसरेको त्वरासे लिखनेके कारण उत्पन्न प्रतीत होता है और अनेक प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकोंमें मिलता है। पाँचवाँ चौथेसे मिलता हुआ है और उसीसे छठा रूप बना है।

ब—का दूसरा रूप राजा यशोधर्मके लेखमें तथा अन्य कई लेखोंमें मिलता है। तीसरा रूप 'प' से मिलता हुआ है, कहीं-कहीं 'व' के समान भी पाया जाता है। इसे उक्त 'प' और 'व' अक्षरोंसे भिन्न बनानेके लिये इसके बीचमें एक बिन्दी लगाने लगे जिससे चौथा रूप बना। पाँचवाँ रूप चौथेसे मिलता हुआ है और गुजरातके सोलंकी राजा भीमदेवके ताम्रपत्रमें मिलता है।

भ—का दूसरा रूप कुषाण-वंशियोंके लेखोंमें और तीसरा गुप्तवंशके राजा स्कन्दगुप्तके इन्दौरसे मिले हुए गुप्त सं० १४६ के ताम्रपत्रमें मिलता है। चौथा रूप तीसरेसे मिलता हुआ ही है।

म—के पहले तीन रूप एक दूसरेसे मिलते हुए ही हैं और चौथा रूप वर्त्तमान 'म' के सदृश ही है।

य—के पहले दो रूप अशोकके लेखोंमें मिलते हैं। दूसरेको कलम उठाए बिना लिखनेसे तीसरा रूप बना है और चौथा उसीका भेद है जो वर्त्तमान 'य' के सदृश है।

र—का दूसरा रूप पहले रूपकी खड़ी लकीरके अन्तको सुन्दरताके विचारसे दाहिनी ओर कुछ नीचे झुकानेसे बना है। यह रूप बौद्ध श्रमण महानामनके वि० स० ६४५ के लेखोंमें पाया जाता है। तीसरा रूप वर्त्तमान 'र' से मिलता हुआ है।

ल—का दूसरा रूप हूणवंशी राजा तोरमाणके ई० स० ५००के लगभगके लेखमें मिलता है। तीसरा रूप कई लेखोंमें पाया जाता है। तीसरेको सुन्दर बनानेका यत्न करनेसे चौथे रूपकी उत्पत्ति हुई है और पाँचवाँ रूप वर्त्तमान 'ल' से मिलता है।

व—के पहले रूपको बिना कलम उठाए लिखनेसे दूसरा रूप बना है और उसके नीचेके भागमें सुन्दरता लानेका यत्न करनेसे तीसरे रूपकी सृष्टि हुई।

श—का दूसरा रूपान्तर पहलेसे मिलता हुआ ही है। तीसरा एवं चौथा रूप दूसरेके ही रूपान्तरण हैं। पाँचवाँ रूप कई लेखोंमें मिलता है। छठा रूप पाँचवेंका ही रूपान्तर है।

ष—अक्षर अशोकके लेखोंमें नहीं मिलता। इसका पहला रूप घोसुंडी (मेवाड़) के ई०पूर्वकी दूसरी शताब्दीके शिलालेखसे लिया गया है। दूसरा रूप पहलेसे मिलता हुआ ही है और तीसरा कई लेखोंमें मिलता है।

स—का दूसरा रूप पहलेके सदृश ही है। तीसरा समुद्रगुप्तके लेखोंमें पाया जाता है।

ह—का दूसरा रूप पहलेके समान ही है। तीसरा उच्छकल्पके महाराज शर्वनाथके वि० स० ५२० के ताम्रपत्रसे उद्धृत किया गया है और चौथा अनेक लेखोंमें पाया जाता है।

ळ—का प्रयोग वेदोंके अतिरिक्त संस्कृत-साहित्यमें कहीं नहीं मिलता परन्तु संस्कृत-शिलालेखोंमें इसका प्रयोग 'ल' या 'ड' के स्थानोंपर मिल जाता है। दक्षिणके शिलालेखोंमें यह विशेष रूपसे मिलता है। गुजरातसे कन्याकुमारी-तक यह अक्षर अबतक बोला और लिखा जाता है।

क्ष—वर्ण नहीं वरन् संयुक्त वर्ण है, जो क् और ष के मिलनेसे बना है। ई० स० की दसवीं शताब्दी-तकके शिलालेखों, ताम्रपत्रों, सिक्कों और पुस्तकोंमें इसके दोनों वर्ण अन्य संयुक्ताक्षरोंके समान मिलाकर लिखे जाते थे। परन्तु पीछेके लेखकोंने सुन्दरताकी धुनमें इसका रूप ऐसा विलक्षण बना दिया कि उक्त वर्णोंका कहीं लेश भी बचने नहीं पाया और एक विलक्षण ही रूप बन गया जिससे कई लेखकोंने इसे वर्णमालामें स्थान दे दिया, जैसा कि 'त्र' को भी अब दिया जाता है। इसका पहला रूप क्षत्रप राजा सोडासके मथुराके लेखसे उद्धृत किया गया है। दूसरा रूप पहलेसे मिलता हुआ है और तीसरा हस्तलिखित प्राचीन पुस्तकोंमें मिल जाता है। अन्य दो रूप तीसरेके ही भेद हैं।

ज्ञ—यह भी वर्ण नहीं वरन् संयुक्त वर्ण है जो 'ज्' और 'ञ' के मिलनेसे बना है। ऊपर 'क्ष' के विषयमें जो लिखा गया है वह इसके लिये भी चीरतार्थ होता है। इसका पहला रूप रुद्रदामाके लेखमें मिलता है, दूसरा रूप पहलेसे मिलता हुआ ही है। अन्तिम दो रूप हस्तलिखित पुस्तकोंमें मिलते हैं।

व्यञ्जनोंके साथ जुड़नेवाले स्वर-चिह्नोंकी उत्पत्ति कैसे हुई यह पीछे (पृ० ६७५) दिए हुए मानचित्रसे स्पष्ट हो जायगा।

ब्युहलर आदि विद्वानोंका मत है कि योरपकी लिपियाँ भी ब्राह्मीसे ही विकसित हुई (पृ० ६८२)। अन्तर इतना ही है कि ब्राह्मी तो वर्त्तमान देवनागरीके समान सस्वराक्षर लिपि है किन्तु वर्त्तमान या प्राचीन योरोपीय लिपियोंमें व्यंजनोंकी पूर्णताके लिये अलग स्वरवर्ण लगते हैं और लगते थे।

	ब्राह्मी (ब्यूहलरके अनुसार)	खरोष्ठी (ब्यूहलरके अनुसार)	ईथिओपी (प्रत्न) (यूटिंगके अनुसार)	साबाई (यूटिंगके अनुसार)	नाश्की (अरबी) (यूटिंगके अनुसार)	तेमा (५०० पू०) (यूटिंगके अनुसार)	सिन्दजिर्ली (यूटिंगके अनुसार)	मोआबाई	फ़ोनिक (साइप्रस)	यूनानी	लातिन (प्रत्न)	सिरिली	ग्लागोलिती
A	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
B	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	B(?)	[illegible]	[illegible]
G	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]		[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
D	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
E	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]		[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
F(W)	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]			[illegible]	[illegible]
Z	[illegible]	[illegible]		[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]		[illegible]	[illegible]
H	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
T-H	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]		[illegible]	[illegible]		[illegible]	[illegible]
I	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
K	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	M=g'
L	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
M	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
N	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
X(SH)	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]		[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
O	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]		
P	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
S	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
Q	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]		
R	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
S	[illegible]		[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
T	[illegible]		[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
										YY	VY	Y=ü	[illegible]

After Bühler — After Euting

Value f(φ), χ(h), o, št, c, š ŭ y, ĭ, ĕ, ju, ja, je ɛ(jɛ), ɐ, jɛ jɐ x(ɛ) ps(ψ) θ

Cyrillic [illegible]

Glagolitic [illegible]

१. ध्वनितुल्यता; २. सिरिलियाइ, ३. ग्लागोलितियाई ।

[ब्राह्मी लिपिसे ही योरोपीय लिपियोंके संभावित विकासकी सरणी ।]

नीचेकी सरणीसे यह स्पष्ट हो जायगा कि यूनानी आदि लिपियोंसे वर्त्तमान योरोपीय लिपियोंका क्या सम्बन्ध है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि भारतीय ब्राह्मी लिपिने किसी प्रकार समस्त योरप और पश्चिमी एशियाको लिखना सिखाया।

वर्त्तमान योरोपीय	लातिन	रूनो	यूनानी	सिरिलिक	ग्लागोलिती
Mod European	Latin	Runes	Greek	Cyrillic	Glagolitic
A	A		A	a	[illegible]
B	B	B	B	Б(v) Б(b)	[illegible]
C	Ↄ	< ⅄ ᚳ ᚴ	< Λ	Γ	[illegible]
D	D	D ᚦ ᚦ Þ(th) ⊠ ᛞ ᚺ	D Δ ⊗	Δ	[illegible]
E	Ɛ	ᚯ ᚨ ᚠ ᚫ	ᚯ	E	Э
F	F	ᚠ ᚹ & &	Φ F	Φ	[illegible]
G	G	6 ᛟ			
H	日	N N N H H	H	H (i)	[illegible]
I	I	I	I	I (i)	[illegible] (g)
J					
K	ꓘ	ᛉ	K	K	[illegible]
L	ᒧ	ᚴ	ᚴ	Λ	[illegible]
M	M	ᛗ	M	M	[illegible]
N	N	X ᚾ X h	N	N	[illegible]
O	O	ᛟ ᛟ ᛟ	o ◇	O	[illegible]
P	Ↄ	ᛈ M (e)	Γ	Π	[illegible]
Q	Q		Q		
R	q	R R	R	P	[illegible]
S	ϟ	ϟ	ϟ	C	[illegible]
T	T	↑	T	T	[illegible]
U	V	Λ ∩	V		
V					
W		ᚹ ᚹ			
X	X	X (g)	X	X (h)	[illegible]
Y	Y	ᛉ ᛉ ⅄ λ		Y (ü)	[illegible]
Z	Z	ᛇ ᛊ (ih eo)	I	ӁS(ž) S(dz) З(z)	[illegible]
N.G.		◇ ᛜ (ng)	Ξ +		

Value	o	št	c	č	š	ŭ	y	ĭ	ě	ju	ja	je	ę(ję)	ą	ję	ją	x	ps	θ
Cyrillic	Ѡ	Щ	Ц	Ч	Ш	Ъ	ЪІ	Ь	Ѣ	Ю	Ꙗ	Ѥ	Ѧ	Ѫ	Ѩ	Ѭ	Ѯ	Ѱ	Ѳ
Glagolitic	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]

श्रेष्ठ लिपिके गुण

§ ३८४. वैज्ञानिक लिपि सुन्दर, उस भाषाकी सब ध्वनियोंके प्रतीकोंसे युक्त, ध्वनिके नाम और उच्चारणके अभेदसे युक्त, ध्वनिके लिये एक चिह्न वाली, गतिपूर्वक लिखी जानेवाली और शब्दाकारयुक्त होनी चाहिए।

लिपि-शास्त्रियोंने वैज्ञानिक लिपिमें निम्नलिखित गुण बताए हैं—

१. लिपि कलात्मक हो, देखनेमें सुन्दर हो, उससे आँखोंको कष्ट न हो' सुख मिले, अर्थात् अक्षरोंके रूप, उनके अङ्गोंका अनुपात और उनकी रेखाओंका पतलापन या मोटापन यथाक्रम कलात्मक हो।

२. जिस भाषाके लिये उस लिपिका प्रयोग हो उसकी सब भाषा-प्रयुक्त ध्वनियोंके प्रतीक उसमें आ जायँ।

३. जो लिखा जाय, वही पढ़ा भी जाय।

४. एक ध्वनिके लिये सदा एक चिह्न हो। फ़ारसीके समान यह न हो कि केवल 'स' ध्वनिके लिये कहीं 'सीन', कहीं 'स्वाद', कहीं 'से' नामक तीन-तीन अक्षर लेकर 'सरगम' शब्दमें 'सीन', 'सन्दूक' शब्दमें 'स्वाद' और 'असर' शब्दमें 'से'का प्रयोग हो।

५. एक चिह्नसे एक ही ध्वनिका बोध हो। ऐसा न हो कि अँगरेज़ीके समान एक ए (A) से 'अ, आ, ए, ऐ, औ' अथवा सी (C) से 'स, च' और 'क' सबका काम ले लिया जाय।

६. लिखते समय प्रत्येक शब्दके अक्षर मिलकर एक पूर्ण शब्दाकार धारण कर लें, अँगरेज़ीके समान केवल अक्षरोंके समूह मात्र न बने रह जायँ। शिरोरेखाके कारण मिलकर 'परमेश्वर' एक पूर्ण शब्दका आकार बन जाता है। इसे अलग-अलग 'प र मे श् व र' या 'प् अ र् अ म् ए श् व् अ र् अ' (Parameshwara) न लिखा जाय।

७. गतिपूर्वक ऐसा लिखा जा सके कि वह शुद्ध पढ़ा जा सके।

८. अक्षरोंके लिखित और मुद्रित रूपोंमें भ्रम न हो जैसे 'त्र' में 'तू' का, 'श्र' में 'शू' का और 'प्र' में 'पू' का भ्रम हो जाता है।

कुछ विद्वानोंका अत्यन्त भ्रामक मत है कि भारतकी राष्ट्रलिपिके लिये कुछ सुधारोंके साथ रोमन लिपि स्वीकार कर ली जाय। उसमें स्वराक्षर लगानेके बदले व्यञ्जनको ही सस्वर वर्ण मान लिया जाय और स्वर

केवल दीर्घवर्णोंके लिये ही लगाया जाय, जैसे—'कटहल' शब्दके लिये 'KTHL' लिखा जाय और 'राम' के लिये 'RAM', किन्तु वे नहीं समझे कि जहाँ मिश्र व्यंजन आवेगा जैसे 'श्रम' शब्दमें, वहाँ 'SHRM' भी 'शरम' या 'सहरम' पढ़ा जायगा।

उपर्युक्त कसौटीपर कसकर देखनेसे प्रकट हो जायगा कि नागरी लिपि निर्दोष, सर्वगुण-सम्पन्न और भारतकी ही नहीं वरन् सारे संसारकी एक मात्र लिपि होनेके योग्य है। इसमें किसी प्रकारका संशोधन, परिवर्त्तन या परिवर्द्धन होनेसे यह लिपि न रहकर लीपी हुई वस्तु हो जायगी।

ध्वनि-प्रतीकोंकी पूर्णता

नागरी लिपिमें नागरी भाषाकी ध्वनियाँ ही नहीं वरन् सारे सभ्य संसारकी ध्वनियाँ स्पष्टतापूर्वक अङ्कित की जा सकती है। रोमन लिपि यह काम कभी नहीं कर सकती। ऋ, ङ, ञ, ण, त, थ, द, ध, ष, ज्ञ, क्ष, ड़, ळ आदि ध्वनियोंके स्पष्टीकरणका कोई उपाय रोमन लिपिमें नहीं है और अरबी या फ़ारसी लिपिमें भी ङ, ञ, ण, ऋ, ष, ज्ञ, क्ष, ळ के लिये कोई व्यवस्था नहीं है। १९ वीं शताब्दीके तृतीय चरणमें सिन्धमें देवनागरी लिपि हटाकर उसके बदले फ़ारसी लिपि स्वीकार कर ली गई और उसमें संस्कृत वर्णोंकी ध्वनियोंके अक्षर भी बना लिए गए थे।

लेखनमें तीव्र गति

रोमन लिपिके पक्षमें एक तर्क यह भी दिया जाता है कि वह उर्दूके समान बहुत शीघ्रतासे लिखी जा सकती है। किन्तु यह तर्क भी निःसार है। शीघ्रतासे लिखा जाना ही किसी लिपिका गुण नहीं हो सकता। लिपिकी विशेषता यह होनी चाहिए कि वह गतिसे लिखी जानेके साथ-साथ शुद्ध भी पढ़ी जाय। जो शिकिश्त उर्दू वेगसे लिखी जाती है वह कभी स्पष्ट और शुद्ध नहीं पढ़ी जाती।

जो लिखो वही पढ़ो

ध्वनि-पूर्णताके सम्बन्धमें फ़ारसी लिपिकी अक्षमता दिखाई जा चुकी है। रोमनकी दुर्बलता और भी अधिक तीव्र है। मान लीजिए हमें 'असर' लिखना है तो रोमनमें इसे लिखेंगे—'Asar', जिसे हम 'असर, आसार, आसर, असार' सब कुछ पढ़ सकते हैं। 'असर' (प्रभाव) और 'आसार' (लक्षण) में भूत-भविष्यका भेद है। 'आसर' और 'असार' में एक पूरबको जाता है

तो दूसरा पश्चिमको। किन्तु देवनागरी लिपिकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उसमें जो लिखा जाता है वही पढ़ा भी जाता है और नागरीकी सम्पूर्ण ध्वनियोंके प्रतीक उसमें आ भी गए हैं।

ध्वनि और प्रतीकोंकी एकता

नागरीमें एक ध्वनिके लिये एक ही अक्षरका प्रयोग होता है तथा एक अक्षरसे एक ही ध्वनिका बोध होता है। अतः, इस दृष्टिसे भी नागरीसे कोई लिपि स्पर्द्धा नहीं कर सकती।

शब्दकी एकरूपता

नागरी लिपिमें अक्षर अलग-अलग भी रहते हैं और शिरोरेखाके कारण शब्दोंमें एकाकारता भी आ जाती है। अँगरेज़ीके समान शिरोरेखाके अभावमें अलग अक्षर रहनेसे उन्हें पढ़नेमें आँखोंको बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। शब्दकी एकाकारता रहनेसे केवल आदि और अन्तके अक्षरोंपर दृष्टि पड़ते ही पूरे शब्दकी प्रतीति हो जाती है। यदि भिन्न-भिन्न रङ्गोंकी पचास चिड़िएँ अलग-अलग बैठी हों तो एकाएक उनकी संख्या और रङ्गका अनुमान करना कठिन हो जायगा, परन्तु यदि पचास हाथ लम्बा और रंग-बिरंगा अजगर आ जाय तो वह तुरन्त आँखकी पकड़में आ जायगा। इसका कारण यह है कि आँखको जितने कम आकार देखने पड़ते हैं उतना ही कम उसे कष्ट होता है। अक्षर मिलाकर लिखनेसे वे आँखोंको सुन्दर लगते हैं। इसपर यह आपत्ति हो सकती है कि अक्षरका भला-बुरा लगना अभ्यासपर निर्भर है। परन्तु रोमनके लिखित और टाइपवाले अक्षरोंके तुलनात्मक मननसे यह आपत्ति मिट जायगी। रोमन टाइपमें प्रत्येक अक्षरका रूप अलग-अलग रहता है और आँखोंमें भालेके समान चुभता है। यह दूसरी बात है कि सतत अभ्यासके कारण हम इसका अनुभव न करें किन्तु युवकोंकी आँखों-पर पड़े हुए चश्मे इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। इसी दोषके कारण वे लिखते समय उन अक्षरोंको मिलाकर शाब्दिक एकरूपता लानेकी चेष्टा करते हैं।

राष्ट्र-लिपिकी आवश्यकता

संसारके अन्य विशाल देशोंके समान भारतमें भी एक राष्ट्रलिपिकी आवश्यकता है। अशोकके शिला-लेखोंसे स्पष्ट हो जाता है कि ईसासे ३०० वर्ष पूर्व समस्त भारतमें उत्तरसे दक्षिण और पूर्वसे पश्चिम-तक

(शहबाज़गढ़ी और मानसेराके खरोष्ठी लिपिके क्षेत्र उत्तर-पश्चिम भारतको छोड़कर) सर्वत्र ब्राह्मी लिपिका प्रयोग होता था जो विभिन्न युगोंके लेखकोंके हाथमें पड़कर वर्तमान अनेक लिपियोंके रूपमें परिवर्तित हो गई।

राष्ट्रकी एकताकी दृष्टिसे एक भाषा या एक लिपिका क्या महत्त्व है यह बतानेकी आवश्यकता नहीं है किन्तु राजनीतिक कुचक्रके कारण राष्ट्रभाषा हिन्दी और राष्ट्रलिपि देवनागरीके सम्बन्धमें भारतके कुछ भागोंमें विवाद और विरोध खड़ा हो गया है। यह सब होते हुए भी भारतीय अखण्डता और राष्ट्रीय भावात्मक एकताकी दृष्टिसे सभी विचारकोंने सदा भारतके लिये देशव्यापी राष्ट्रीय लिपिकी आवश्यकताका अनुभव किया है। बंगालके न्यायाधीश श्री शारदाचरण मित्रने सर्वप्रथम एक-लिपि-विस्तार-परिषद् और देवनागर पत्रिकाके द्वारा एक-राष्ट्रलिपिका अन्दोलन चलाया था। उन्होंने सन् १९१० में प्रयागमें एक-लिपि-सम्मेलनका आयोजन किया था जिसके अध्यक्ष संस्कृतके प्रसिद्ध विद्वान् न्यायाधीश श्री वी० कृष्णस्वामी अय्यरने कहा था कि 'समस्त भारतके लिये एक भाषा और एक लिपिकी नितान्त आवश्यकता है। देवनागरी-लिपि देशभरमें प्रचिलित और वैज्ञानिक है। इसलिये उसे देश-भरकी भाषाओंकी लिपिके रूपमें मान्य किया जा सकता है।' सन् १९३७ में महात्मा गाँधीने भारतीय साहित्य परिषद्, मद्रासके अध्यक्ष-पदसे स्पष्ट कहा था कि 'फ़ारसी और रोमन लिपिमें न तो देवनागरी-जैसी पूर्णता है और न देवनागरीके समान भारतीय भाषाओंकी विभिन्न भाषा-ध्वनियोंको शुद्ध रूपसे व्यक्त करनेकी क्षमता है। इसलिये जब अनेक लिपियोंके बोझसे सहज ही छुटकारा मिल सकता है तब अनेक लिपियोंका बोझ ढोना अनावश्यक है।' ११ फ़रवरी सन् १९३९ के हरिजनमें उन्होंने लिखा था कि 'समस्त भारतकी व्यापक लिपिके रूपमें रोमन लिपिको अपनाना भारतीय भावना और वैज्ञानिकता दोनोंके प्रतिकूल है। उसे प्रचलित करना भारतीय जनताके सिरपर उसे अनिच्छापूर्वक लादना ही होगा और ऐसी लादी हुई वस्तु कभी लोकप्रिय नहीं हो सकती। ज्योंही जनता उद्बुद्ध और जागरित होगी त्योंही वह उसे उखाड़ फेंकेगी।' पण्डित जवाहरलाल नेहरूने अपनी मृत्युसे कुछ समय पूर्व कहा था कि 'समस्त भारतीय भाषाओंके लिये कभी न कभी एक व्यापक लिपिको प्रोत्साहित करना आवश्यक होगा। इसका यह तात्पर्य नहीं कि अखिल भारतीय स्तरपर स्वीकृत की हुई कोई लिपि विभिन्न भारतीय भाषाओंकी प्रचलित लिपियोंका स्थान ले लेगी। किसीको यह भ्रम नहीं

होना चाहिए कि देवनागरी लिपि ही विभिन्न लिपियोंका स्थान लेकर उनके बदले जम जायगी। हो सकता है कि देवनागरी लिपिमें भी कुछ संशोधन करना पड़े। देवनागरी लिपिको समस्त भारतीय भाषाओंके लिये अतिरिक्त लिपिके रूपमें स्वीकार किया जा सकता है। इसका परिणाम यह होगा कि भारतके एक प्रदेशके लोग दूसरे प्रदेशकी भाषाको अधिक सरलतासे सीख सकेंगे क्योंकि अन्य भाषा सीखनेमें मुख्य कठिनाई भाषाकी नहीं, लिपिकी है।

१०, ११, १२ अगस्त, सन् १९६१ को भारतके विभिन्न राज्योंके मुख्य मंत्रियों और केन्द्रीय मंत्रियोंका दिल्लीमें एक सम्मेलन हुआ था जिसमें एक मतसे यह स्वीकार किया गया था कि समस्त भारतीय भाषाओंके लिये एक सर्व-सामान्य लिपि वाञ्छनीय ही नहीं आवश्यक भी है क्योंकि वह भारतीय भाषाओंके बीच पुलका काम करेगी और उससे भावात्मक एकताको प्रोत्साहन मिलेगा। वर्त्तमान परिस्थितिको देखते हुए देवनागरी लिपि ही ऐसी लिपि है जो पूर्ण भी है और आदर्श भी।

आदर्श लिपि : देवनागरी

बहुतसे विद्वानों-द्वारा समर्थित फ़ारसी और रोमन लिपियोंकी अपेक्षा देवनागरी लिपिमें बड़ी विशेषता यह है कि वह फ़ारसी और रोमन लिपियोंकी अपेक्षा अधिक पूर्ण और वैज्ञानिक है। २ मार्च सन् १८९८ को काशी नागरी प्रचारिणी सभाकी ओरसे महामना पंडित मदन मोहन मालवीयजीने 'कचहरीकी लिपि और उत्तर-पश्चिमी प्रान्तोंमें प्रारम्भिक शिक्षा' (कोर्ट कैरेक्टर ऐण्ड प्राइमरी एजुकेशन इन नौर्थ वैस्टर्न प्रौविन्सेज़) के नामसे तत्कालीन संयुक्त प्रान्तके शासकके पास जो प्रपत्र दिया था उसमें अत्यन्त स्पष्टताके साथ यह सिद्ध कर दिया गया था कि देवनागरी लिपिमें क्या गुण हैं और कचहरियोंमें फारसी लिपिके प्रयोगसे जनताको कैसी हानियाँ और कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं।

आदर्श लिपिका लक्षण बताते हुए कहा गया है कि किसी भी आदर्श लिपिमें—

क. एक ध्वनिको व्यक्त करनेके लिये केवल एक अक्षर हो।

ख. एक अक्षरसे केवल एक ही ध्वनिका बोध हो।

ग. मात्रा और वर्णका बोध करनेवाले चिह्न परस्पर इतने भिन्न हों कि उनके किन्हीं दो या अनेक चिह्नोंके स्वरूपोंमें कोई ऐसा स्वरूप-साम्य न हो कि उससे भ्रम या संशय उत्पन्न हो सके।

घ. सभी अक्षर सुन्दर और कलात्मक होनेके साथ-साथ वर्त्तमान-युगीन लेखन, मुद्रण, टंकणयन्त्र, तारमुद्रक (टेलीप्रिंटर) और मुद्रण-यन्त्र आदिके लिये सरलतासे प्रयुक्त किए जा सकें।

जिस देशमें अनेक लिपियोंका प्रचलन हो वहाँ राष्ट्रीय दृष्टिसे और अन्तः-प्रादेशिक पारस्परिक व्यवहारकी सुविधाकी दृष्टिसे जो लिपि स्वीकार की जाय उसमें निम्नांकित विशेषताएँ अवश्य होनी चाहिएँ—

क. देशके अधिकांश लोग उस लिपिसे परिचित हों।

ख. देशकी अन्य लिपियोंसे उस लिपिका अधिकसे अधिक साम्य हो।

ग. उस लिपिकी वर्णमालाका क्रम अन्य लिपियोंकी वर्णमालाके क्रमके अनुरूप हो।

घ. उस लिपिकी प्राचीन परम्परा हो, जनताका उससे भावात्मक सम्पर्क हो और उसके माध्यमसे सम्पूर्ण प्राचीन साहित्यकी परम्परा पढ़ी और समझी जा सके।

ये सभी गुण देवनागरी लिपिमें पूर्णतः मिलते हैं। पीछे समझाया गया है कि वर्त्तमान देवनागरी लिपिका सम्बन्ध सीधे ब्राह्मीसे बना हुआ है। भारतवर्षके सभी संस्कृतके विद्वान् तथा अन्य देशोंके भी संस्कृत और हिन्दी पढ़नेवाले विद्वान् और अन्य सामान्य जन भी देवनागरी लिपिका ही प्रयोग करते हैं। जिन प्रदेशोंमें अन्य लिपियाँ प्रचलित हैं उनमें भी संस्कृत पढ़नेके लिये देवनागरी लिपिका ही प्रयोग होता है। समस्त उत्तर भारतमें तो देवनागरी लिपिका प्रयोग होता ही है। गुजराती, पंजाबी और बँगला लिपियाँ भी देवनागरीसे मिलती-जुलती हैं। नैपालकी नैपाली और नेवाड़ी भाषाके लिये भी देवनागरीका ही प्रयोग होता है। विदेशी विद्वानोंने भी देवनागरी लिपिकी पूर्णता और वैज्ञानिकताका समर्थन किया है। तमिळको छोड़कर समस्त भारतीय लिपियोंकी वर्णमालाका क्रम भी समान है। महाराष्ट्रमें तो देवनागरी लिपिका ही प्रयोग होता है। अतः, सभी दृष्टियोंसे देवनागरी लिपि ही भारतकी आदर्श राष्ट्रलिपि बननेके योग्य है।

देवनागरी लिपिका व्यवस्थापन

देवनागरी लिपिको राष्ट्रलिपि बनानेके लिये भारतके कुछ लिपि-विशेषज्ञों, राज्य-सरकारों और केन्द्रीय सरकारके मन्त्रियों और अन्य संस्थाओंके परामर्शसे

सन् १९६१ में देवनागरी वर्णमालाका निम्नांकित सिद्ध रूप मान्य कर लिया गया—

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ ऍ ए ऐ ऑ ओ औ अं अः

क ख ख़ ग ग़ घ ङ च छ ज ज़ झ फ़ ञ ट ठ ड ड़ ढ ढ़ ण त थ द ध न

प फ फ़ ब भ म य र ल व श ष स ह क्ष त्र ज्ञ श्र।

जिन वर्णोंके दो रूप प्रचलित रहे हैं उनमेंसे एक मान्य कर लिया गया है—जैसे अ और अ में अ मान्य किया गया है किन्तु यह रूप सुन्दर नहीं है।

ऐसे मान्य अक्षर हैं—अ झ ण ल क्ष।

ख अक्षर में र और व वर्णोंका भ्रम होता था। अतः, उसके बदले नवीन ख मान लिया गया है।

मराठी, गुजराती, असमिया, बँगला, पंजाबी और उड़िया भाषाओंके लिपिग्राम देवनागरीके समान होनेके कारण उनका अक्षरशः लिप्यन्तरण उचित होगा।

तमिळ, तेलुगु, मलयाळम, कन्नड़, कश्मीरी और सिंधी भाषाओंमें देवनागरीसे भिन्न जो विशिष्ट ध्वनियाँ हैं उनके लिये निम्नांकित विशेष अक्षर-चिह्न मान्य किए गए हैं—

विशिष्ट ध्वनि

स्वर	अक्षर रूप	मात्रा रूप
१. तमिळ, तेलुगु, कन्नड़ मलयाळम और कश्मीरी भाषाके ह्रस्व ए और ओ	ऍ ऑ	ॅ ॉ
२. कश्मीरी भाषाके विशिष्ट स्वर अ आ	अ॑ आ॑	ॖ ा॑
और उ ऊ	उ॑ ऊ॑	ॖ ॗ
३. कश्मीरी भाषाके कुछ शब्दोंके अन्तिम अत्यल्प इ और उ	इ॰ उ॰	ि॰ ु॰

व्यंजन

१. कश्मीरी चवर्ग 　　　　च̱ छ̱ ज̱ झ̱

२. सिंधी भाषाके अन्तःश्वसित
व्यंजन 　　　　ग̱ ज̱ द̱ ब̱

३. तमिळ, मलयाळम, तेलुगु और कन्नड़की विशेष ध्वनियोंके लिये जो चिह्न मान्य किए गए हैं वे लिपि-सरणी (पृष्ठ ६९५) में स्पष्ट हैं।

४. उर्दूकी विशिष्ट ध्वनियोंको व्यक्त करनेके लिये तदनुरूप देवनागरी वर्णोंके नीचे बिन्दु लगाया जाय—क़ ख़ ग़ ज़ फ़

कुछ विचित्रताएँ

भारतीय भाषाओंमें तमिळ लिपि ऐसी विचित्र है कि उसमें अन्य भारतीय भाषाओंकी पूरी वर्णमाला नहीं आती। इसलिये उन्होंने संस्कृत ग्रन्थ लिखनेके लिये एक ग्रन्थ-लिपि बना ली (पृ० ६९२ से ६९४)। आगे दी हुई लिपि-सरणीको देखनेसे स्पष्ट हो जायगा कि विभिन्न भाषाओंके लिये लिपियोंका प्रयोग किस प्रकार किया जाता है। आजसे लगभग १५० वर्ष पूर्व सिंधमें देवनागरी लिपिका ही प्रचलन था किन्तु वहाँके यवन शासकोंके प्रभावके कारण वहाँ देवनागरी लिपिके बदले अरबी-फ़ारसी लिपि स्वीकार कर ली गई जिसमें संस्कृतकी वर्णमालाके सब वर्णोंके लिये और साथ ही सिन्धीकी अपनी विशेष अन्तःश्वसित ध्वनियोंके लिये भी अक्षर बना लिए गए। राजस्थानमें दो प्रकारके व चलते हैं—एक द्व्योष्ठ और एक दन्तोष्ठ। इनमेंसे पहलेके लिये व के नीचे बिन्दी लगाकर व़ लिखते हैं और दूसरेके लिये शुद्ध व। भारत सरकार-द्वारा प्रस्तावित मानक देवनागरीमें इसकी चर्चा नहीं की गई है। पंजाबी भाषामें भी उच्चारणकी अपनी प्रवृत्ति है। वहाँ 'घंटा' शब्द को भीतर साँस लेकर 'कंटा' कहते हैं। इस प्रकारकी असंख्य प्रादेशिक उच्चारणके विभिन्नताओंके लिये अक्षर निर्माण करना सम्भव नहीं है। अतः, निर्दिष्ट उच्चारण-स्थान और प्रयत्नके अनुसार जो भाषा-ध्वनियाँ विभिन्न प्रदेशोंमें मान्य हैं केवल उन्हींका निर्देश आगे दी हुई सरणीमें किया गया है। कश्मीरमें पहले देवनागरीसे मिलती-जुलती शारदा लिपिका प्रचलन था किन्तु अब उसके बदले फ़ारसी प्रचलित है (पृ० ६९२ से ६९५)।

खरोष्ठी लिपिके वर्ण-समाम्नायका क्रम क्या था यह ज्ञात नहीं है, किन्तु वह दाएँसे बाएँ लिखी जाती थी। अतः, लिपि-सरणी (पृ० ६९२ से ६९५) में दाईं ओर खरोष्ठीके अक्षर देकर उनके समध्वनिक अरबी, फ़ारसी, उर्दू, सिंधी और कश्मीरी भाषाओंके अक्षर नागरीके ध्वनि-क्रमके अनुसार दे दिए गए हैं।

संसारकी मुख्य भाषाओंके वर्ण

संसारकी विभिन्न मुख्य भाषाओंकी वाग्ध्वनियोंकी संख्या निम्नांकित प्रकारसे है—

संस्कृत	५० (तन्त्रमें ५१)	यूनानी	२४
अँगरेज़ी	२६	लातिन	२२
फ्रांसीसी	२३	डच (हुलाँश)	२६
अरबी	२८	स्पेनी	२७
फ़ारसी	३१	इतालवी	२०
तुर्की	३३	तातारी	२०२
हिब्रू	२२	ब्राह्मी	१९
रूसी	४१	चीनी	लगभग ८००००

भारतीय लिपियाँ और देवनागरी

आगेकी लिपि-सरणीकी देखनेसे स्पष्ट होगा कि भारतकी सभी लिपियोंमें देवनागरी लिपि लिखनेमें सबसे अधिक सरल और बाँचनेमें सबसे अधिक स्पष्ट और व्यवस्थित है। उसके अक्षरोंमें न तो अधिक घुंडियाँ, वर्त्तुल रेखाएँ और सूक्ष्म चिह्न हैं और न अक्षरोंकी समानता और अं अक्षरके लिये उडिया, कन्नड़, तेळुगु और मलयाळम्के समान बिन्दु अलग नहीं लगाया जाता।

देवनागरीमें ह्रस्व ए और ओ के लिये अक्षर नहीं हैं क्योंकि हिन्दीमें ऐसे शब्द ही नहीं है। फिर भी अवधी, ब्रज आदि भाषाओंमें ह्रस्व ए और ओ वाले शब्द आते हैं जो अभ्याससे ह्रस्व पढ़ लिए जाते हैं। इस सब दृष्टियोंसे देवनागरी लिपि निःसन्देह विश्व-भरकी विशेषतः भारतकी राष्ट्रलिपि होनेके परम योग्य है।

देव नागरी	असमिया	उड़िया	कन्नड़	गुजराती	तमिल	तेलगु	पंजाबी गुरुमुखी	बंगला	मराठी	मलयालम	सिंधी हटवाणा	ग्रन्थ	ब्राह्मी	कश्मीरी	सिन्धी	उर्दू	फारसी	अरबी	खरोष्ठी
अ	অ	ଅ	ಅ	અ	அ	అ	ਅ	অ	अ	അ	m	𑌅	𑀅	ا	ا	ا	ا	ا	𐨀
आ	আ	ଆ	ಆ	આ	ஆ	ఆ	ਆ	আ	आ	ആ		𑌆		آ	آ	آ	آ	آ	
इ	ই	ଇ	ಇ	ઇ	இ	ఇ	ਇ	ই	इ	ഇ	◦◦)	𑌇	𑀇	اِ	اِ	اِ	اِ	اِ	𐨁
ई	ঈ	ଈ	ಈ	ઈ	ஈ	ఈ	ਈ	ঈ	ई	ഈ		𑌈		ای		ای	ای	اي	
उ	উ	ଉ	ಉ	ઉ	உ	ఉ	ਉ	উ	उ	ഉ	O	𑌉	𑀉	اُ	اُ	اُ		اُ	𐨂
ऊ	ঊ	ଊ	ಊ	ઊ	ஊ	ఊ	ਊ	ঊ	ऊ	ഊ		𑌊		او	ؤ	او	او	او	
ऋ	ঋ	ଋ	ಋ	ઋ		ఋ	ਰੀ	ঋ	ऋ	ഋ		𑌋							
ॠ	-		ೠ			ౠ			ॠ	ൠ		𑍠							
ऌ	ঌ					ఌ		ঌ	ऌ	ഌ		𑌌							
ऎ			ಎ		எ	ఎ		এ		എ				ێ					
ए	এ	ଏ	ಏ	એ	ஏ	ఏ	ਏ	এ	ए	ഏ	X	𑌏	𑀏	اے		اے	اے	اے	𐨅
ऐ	ঐ	ଐ	ಐ	ઐ	ஐ	ఐ	ਐ	ঐ	ऐ	ഐ		𑌐						اے	
ऒ			ಒ		ஒ	ఒ				ഒ				او					
ओ	ও	ଓ	ಓ	ઓ	ஓ	ఓ	ਓ	ও	ओ	ഓ		𑌓				او	او	او	𐨆
औ	ঔ	ଔ	ಔ	ઔ	ஔ	ఔ	ਔ	ঔ	औ	ഔ		𑌔							
अं	অং	ଅଂ	ಅಂ	અં		అం	ਅੰ	অং	अं	അം		𑌅𑌂							
अः	অঃ	ଅଃ	ಅಃ	અઃ		అః	ਅਃ	অঃ	अः	അഃ									

देवनागरी	असमिया	उड़िया	कन्नड	गुजराती	तमिल	तेलुगु	पंजाबी गुरुमुखी	बँगला	मराठी	मलयालम	सिन्धी-हट्टवाण	ग्रन्थ	ब्राह्मी	कश्मीरी	सिन्धी	उर्दू	फारसी	अरबी	खरोष्ठी
क	ক	କ	ಕ	ક	க	క	ਕ	ক	क	ക	𑊺	𑌕	𑀓	ک	ڪ	ک	ک	ك	𐨐
ख	খ	ଖ	ಖ	ખ		ఖ	ਖ	খ	ख	ഖ	𑊻	𑌖	𑀔	کھ	کھ	کھ			𐨑
ग	গ	ଗ	ಗ	ગ		గ	ਗ	গ	ग	ഗ	𑊼	𑌗	𑀕	گ	گ	گ	گ	گ	𐨒
घ	ঘ	ଘ	ಘ	ઘ		ఘ	ਘ	ঘ	घ	ഘ	𑊾	𑌘	𑀖		گھ	گھ			𐨓
ङ	ঙ	ଙ	ಙ	ઙ	ங	ఙ	ਙ	ঙ	ङ	ങ	𑊿	𑌙	𑀗		ڱ				
च	চ	ଚ	ಚ	ચ	ச	చ	ਚ	চ	च	ച	𑋀	𑌚	𑀘	چ	چ	چ	چ	چ	𐨕
छ	ছ	ଛ	ಛ	છ		ఛ	ਛ	ছ	छ	ഛ	𑋁	𑌛	𑀙	چھ	ڇ	چھ			𐨖
ज	জ	ଜ	ಜ	જ	ஜ	జ	ਜ	জ	ज	ജ	𑋂	𑌜	𑀚	ج	ج	ج	ج	ج	𐨗
झ	ঝ	ଝ	ಝ	ઝ		ఝ	ਝ	ঝ	झ	ഝ	𑋄	𑌝	𑀛		جھ	جھ			𐨘
ञ	ঞ	ଞ	ಞ	ઞ	ஞ	ఞ	ਞ	ঞ	ञ	ഞ	𑋅	𑌞	𑀜		ڃ				
ट	ট	ଟ	ಟ	ટ	ட	ట	ਟ	ট	ट	ട	𑋆	𑌟	𑀝	ٹ	ٽ	ٹ	ٹ		
ठ	ঠ	ଠ	ಠ	ઠ		ఠ	ਠ	ঠ	ठ	ഠ	𑋇	𑌠	𑀞	ٹھ	ٺ	ٹھ			𐨛
ड	ড	ଡ	ಡ	ડ		డ	ਡ	ড	ड	ഡ	𑋈	𑌡	𑀟	ڈ	ڊ	ڈ	ڈ		𐨜
ढ	ঢ	ଢ	ಢ	ઢ		ఢ	ਢ	ঢ	ढ	ഢ	𑋊	𑌢	𑀠		ڍ	ڈھ			
ण	ণ	ଣ	ಣ	ણ	ண	ణ	ਣ	ণ	ण	ണ	𑋋	𑌣	𑀡		ڻ				𐨞

देवनागरी	असमिया	उड़िया	कन्नड	गुजराती	तमिल	तेलुगु	पंजाबी गुरुमुखी	बँगला	मराठी	मलयालम	सिंधी हट्टवाण	ग्रन्थ	ब्राह्मी	कश्मीरी	सिन्धी	उर्दू	फ़ारसी	अरबी	खरोष्ठी
त	ত	ତ	ತ	ત	த	త	ਤ	ত	त	ത	𑋍	𑌤	𑀢	ت	ٽ ت	ت	ط ت	ط ت	𐨟
थ	থ	ଥ	ಥ	થ		థ	ਥ	থ	थ	ഥ	𑋎	𑌥	𑀣	تھ	ٿ	تھ			𐨠
द	দ	ଦ	ದ	દ		ద	ਦ	দ	द	ദ	𑋏	𑌦	𑀤	د	د	د	د	د	𐨡
ध	ধ	ଧ	ಧ	ધ		ధ	ਧ	ধ	ध	ധ		𑌧	𑀥		ڌ	دھ			𐨢
न	ন	ନ	ನ	ન	ந	న	ਨ	ন	न	ന	𑋑	𑌨	𑀦	ن	ن	ن	ن	ن	𐨣
प	প	ପ	ಪ	પ	ப	ప	ਪ	প	प	പ	𑋒	𑌪	𑀧	پ	پ	پ	پ	پ	𐨤
फ	ফ	ଫ	ಫ	ફ		ఫ	ਫ	ফ	फ	ഫ	𑋓	𑌫	𑀨	پھ	ڦ	پھ			
ब	ব	ବ	ಬ	બ		బ	ਬ	ব	ब	ബ	𑋔	𑌬	𑀩	ب	ٻ	ب	ب	ب	𐨦
भ	ভ	ଭ	ಭ	ભ		భ	ਭ	ভ	भ	ഭ	𑋖	𑌭	𑀪		ڀ	بھ			𐨧
म	ম	ମ	ಮ	મ	ம	మ	ਮ	ম	म	മ	𑋗	𑌮	𑀫	م	م	م	م	م	𐨨
य	য	ଯ	ಯ	ય	ய	య	ਯ	য	य	യ	𑋘	𑌯	𑀬	ی	ي	ی	ی	ی	𐨩
र	ৰ	ର	ರ	ર	ர	ర	ਰ	র	र	ര	𑋙	𑌰	𑀭	ر	ر	ر	ر	ر	𐨪
ल	ল	ଲ	ಲ	લ	ல	ల	ਲ	ল	ल	ല	𑋚	𑌲	𑀮	ل	ل	ل	ل	ل	𐨫
व	ৱ	ଵ	ವ	વ	வ	వ	ਵ	ব	व	വ	𑋛	𑌵	𑀯	و	و	و	و	و	𐨬
श	শ	ଶ	ಶ	શ		శ	ਸ਼	শ	श	ശ		𑌶	𑀰	ش	ش	ش	ش	ش	𐨭
ष	ষ	ଷ	ಷ	ષ	ஷ	ష		ষ	ष	ഷ		𑌷	𑀱				ص ش س	ص ش س	𐨮
स	স	ସ	ಸ	સ	ஸ	స	ਸ	স	स	സ	𑋝	𑌸	𑀲	س	ث ص س	س			𐨯
ह	হ	ହ	ಹ	હ	ஹ	హ	ਹ	হ	ह	ഹ	𑋞	𑌹	𑀳	ہ	ح ھ	ہ	ہ	ہ	𐨱
क्ष	ক্ষ	କ୍ଷ	ಕ್ಷ	ક્ષ	க்ஷ	క్ష	ਕ੍ਸ਼		क्ष	ക്ഷ			𑀓𑁆𑀱						𐨐𐨿𐨮
त्र				ત્ર					त्र										
ज्ञ	জ্ঞ			જ્ઞ			[illegible]		ज्ञ				𑀚𑁆𑀜						𐨗𐨿𐨙

देवनागरी	असमिया	उड़िया	कन्नड	गुजराती	तमिल	तेलुगु	पंजाबी गुरुमुखी	बँगला	मराठी	मलयालम	सिंधी हट्टवाण	ग्रन्थ	ब्राह्मी	कश्मीरी	सिन्धी	उर्दू	फ़ारसी	अरबी	खरोष्ठी
[illegible]														[illegible]					
[illegible]														[illegible]					
[illegible]														[illegible]					
[illegible]														[illegible]					
ज़															[illegible]				
ग															[illegible]				
ड															[illegible]				
ब															[illegible]				
[illegible]					[illegible]														
[illegible]										[illegible]									
र			[illegible]		[illegible]	[illegible]				[illegible]									
र र										[illegible]									
म					[illegible]					[illegible]									
ड ढ		[illegible]						[illegible]											
त य								[illegible]											
ळ		[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]				[illegible]		[illegible]							
क़ ख़															[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	
ग ज़																		[illegible]	
[illegible]																		[illegible]	
[illegible]					[illegible]														
[illegible]	(केवल राजस्थानी में)																		
[illegible]						[illegible]				[illegible]		[illegible]							

उपसंहार

भाषा या वाणीका प्रारंभ पहले तो स्वाभाविक रूपमें और फिर कुतूहलतः जीवोंकी ध्वनियोंके अनुकरणके रूपमें प्रस्फुटित हुआ किन्तु धीरे-धीरे वह सामाजिक आवश्यकताका प्रमुख अंग बन गया, यहाँतक कि इंजे-इंजे जातिकी एक-शब्दीय भाषाका प्रयोग भी उनके समस्त सामाजिक व्यवहारके लिये ही होता है। इस सामाजिक आवश्यकताके अनुसार ज्यों-ज्यों मानव-समाजकी बौद्धिक समुन्नति होती गई त्यों-त्यों भाषाकी आवश्यकता और उसका रूप मनोवैज्ञानिक शैलीपर ढलता चला गया। ज्ञान और कलाके संवर्धनके साथ-साथ मनुष्यने अपने अभिव्यक्ति-कौशलको जहाँ एक ओर पारिभाषिक शब्दावलीसे समृद्ध किया वहीं दूसरी ओर उसने उसे कलात्मक बनाकर उसे अधिकसे अधिक आकर्षक, रोचक, मधुर और प्रभावशाली बनानेका प्रयत्न किया और उसे केवल सामाजिक आवश्यकता और मानसिक अनुभूतिकी अभिव्यक्तिका ही माध्यम न बनाकर उसे मनोरञ्जनका साधन भी बना लिया जिसके निमित्त अनेक काव्य, नाटक, उपन्यास आदिकी कलात्मक रचनाएँ हुईं।

भाषा-शास्त्रियोंके लिये यह जानना अवश्यक है कि विभिन्न भौगोलिक परिधियोंमें विभिन्न मानव-जातियोंने नदी, पर्वत आदि व्यवधानोंके कारण अपनी अलग-अलग भाषा बनाई और उसे समृद्ध किया। इस समृद्धिमें उन्होंने अन्य जातियोंके संपर्कसे भी लाभ उठाया। कभी-कभी अत्यन्त सभ्य और

सुसंस्कृत जातियोंने उनकी भाषाके संस्कारपर प्रभाव भी डाला, उसे शब्द-भाण्डार भी दिया और उसमें अभिव्यक्ति-कौशल भी ला भरा। कभी-कभी कुटिल और युद्धप्रिय व्यक्तियोंने किसी देशकी भौतिक समृद्धिके साथ-साथ उसकी भाषा, उसके साहित्य और संस्कृतिको सदाके लिये समाप्त भी कर डाला।

यह भ्रम तत्काल दूर हो जाना चाहिए कि कोई मूल या आदिम हिन्द-योरोपीय भाषा थी जैसा कि बौप और उनके अनुयायी लोगोंका मत है। संसारके तीन मुख्य प्रदेशोंमें अलग-अलग प्रबल भौगोलिक व्यवधानोंके कारण तीन संस्कृतियोंका अलग-अलग विकास हुआ। एक ओर हिमालय और उसकी श्रेणियों तथा दक्षिणमें समुद्रसे घिरे होनेके कारण भारतीय और पूर्वी भारतीय द्वीप-समूहोंमें आर्य संस्कृति पल्लवित हुई जो वैदिक संस्कृति या सप्तसिन्धुमें रहनेवाले (बाहरसे आनेवाले नहीं) आर्योंकी संस्कृति थी जिसने ज्ञान, विज्ञान, शास्त्र, कला और दर्शन आदि जीवनके सभी भौतिक और आध्यात्मिक वैभवोंमें पारमिता प्राप्त कर ली थी। उन्हींकी वैदिक संस्कृत भाषा ही मूल भाषा थी जिसका प्रभाव भारतके शान्तिप्रिय व्यापारियों, विद्वानों और दार्शनिकों-द्वारा समस्त योरप, पश्चिमी एशिया और चीन आदि उत्तर-पूर्वके प्रदेशोंमें फैली। दूसरी संस्कृति मिस्र, कार्थेज, रोम, क्रीत, यूनान, अरब, बाबुलोन, असुरिया, सुरिया और फ़ारस आदि देशोंके परस्पर संघर्ष-रत होनेके कारण अपना वैभव, विद्या, कला, स्थापत्य लेकर समाप्त हो गई। तीसरी संस्कृति चीन आदि पूर्वोत्तर एशियाके देशोंमें पल्लवित होती रही। किन्तु भारतमें रहनेवाले आर्योंने युद्धके समय भी दर्शन, शास्त्र, कला, विज्ञान और कृषि-कर्ममें न कभी बाधा दी और न कभी उन्हें नष्ट करनेका उपक्रम किया। यही कारण है कि भारतमें सभी विद्याएँ अपनी पूर्ण पारमिताके साथ निर्विघ्न रूपसे समुन्नत होती रहीं।

यह सामान्य अनुभवकी बात है कि भाषा न तो ईश्वरकी दी हुई है और न कहींसे आई है। वह तो जीवोंकी ध्वनियोंके अनुकरण, अन्य जातियोंके सम्पर्क, स्वाभाविक उन्मेष और नैसर्गिक वाक्प्रवृत्तिके कारण उत्पन्न होती है। विभिन्न भौगोलिक परिधियोंके निवासियोंके मुखियोंने अपने आवश्यकतानुसार अपने प्रदेशकी समस्त ध्वनियोंको व्यवस्थित करके उनका प्रयोग चलाया। इन मुखियोंमें उस जातिके बुद्धिमान् व्यक्ति भी थे और शासक भी।

यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि विभिन्न भाषाओंकी ध्वनियों, वर्णों, शब्दों और वाक्योंके रूप और उनकी प्रकृतिमें जो दोष या विकार आते हैं उनका

न तो कोई भौगोलिक कारण है न उनका कोई नियम ही है। यह दोष, विकार और परिवर्तन केवल अज्ञान और असावधानीसे होते हैं। उनके लिये किसी प्रकारका कोई नियम नहीं बनाया जा सकता जैसा योरपके कुछ विद्वानोंने उच्च जर्मनके लिये बना दिया है।

विभिन्न योरोपीय भाषाओंमें संस्कृतसे मिलती-जुलती जो अनेक ध्वनियाँ मिलती हैं उसका कारण यही रहा है कि भारतके व्यापारियोंके साथ जानेवाले ज्योतिषियों, वैद्यों और दार्शनिकोंने अरब देशके माध्यमसे सम्पूर्ण योरपमें अपनी विद्याओंका प्रचार करके उनकी भाषा और उनके शब्द-भाण्डारको प्रभावित किया। ये सब लोग अधिकांश समुद्री व्यापारी थे इसलिये भारतीय संस्कृतिका अधिक प्रभाव उन्हीं देशोंकी भाषाओंपर अधिक पड़ा जिनका भारतसे व्यापार-सम्बन्ध था। चीन आदि उत्तर-पूर्वके प्रदेशोंमें सर्वप्रथम अशोकने ही बौद्ध धर्मका प्रचार कराया। यही इस बातका सबसे प्रबल प्रमाण है कि हमारे देशके लोग भारतके बाहर अन्य देशोंमें केवल व्यापार, विद्या, धर्म, संस्कृति चरित्र और आचारकी शिक्षाके लिये जाते रहे। अनेक विदेशी लेखकोंने सप्रमाण इसका समर्थन करते हुए बताया है कि अरबीका 'हिन्दसा' (अंक) शब्द ही इस बातका बोधक है कि अंक-विद्या (गणित, ज्योतिष) भारतसे ही योरपमें पहुँची। इसी प्रकार आयुर्वेद-विद्या भी वहाँ पहुँची। मनुस्मृतिका प्रथम श्लोक भी इसी ऐतिहासिक तथ्यका समर्थन करता है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

[इस देशमें उत्पन्न होनेवाले अग्रजन्मा ब्राह्मणोंने पृथिवीके सब मनुष्योंको अपने अपने चरित्रकी शिक्षा दी।]

भारतवर्षकी विद्याओं और कलाओंका सर्वनाश करनेका पाप उन दुष्ट यवन-आक्रमणकारियोंके सिर है जिन्होंने भारतवर्षमें आकर यहाँकी कला और यहाँके पुस्तकालयोंको नष्ट करके उसे अत्यन्त हानि पहुँचाई अन्यथा ११ वीं शताब्दीसे पूर्व तो भारतवर्षका सांस्कृतिक वैभव अक्षुण्ण ही बना हुआ था।

जैसे विभिन्न प्रदेशोंमें विभिन्न भाषाएँ चलीं वैसे ही विभिन्न देशोंमें विभिन्न लिपियाँ भी चलीं और उनका विकास भी अपने-अपने देशोंमें अपने-अपने ढंगसे हुआ। जैसे-जैसे आवश्यकता पड़ती गई वैसे-वैसे ध्वनि-प्रतीक जोड़े जाने

लगे और ज्यों-ज्यों विभिन्न भाषा-भाषियोंका भारतसे अधिकाधिक सम्पर्क बढ़ता गया त्यों-त्यों ये चिह्न बढ़ते गए।

वाग्विज्ञानका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। यद्यपि इस ग्रन्थमें मानसिक या मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भी भाषाशास्त्र और भाषा-प्रयोगपर विचार किया गया है तथापि उतना ही पर्याप्त नहीं है। अभी इस क्षेत्रमें विशेष अध्ययन, अनुसंधान और विवेचनकी आवश्यकता है। अनेक यन्त्रोंके आधारपर विभिन्न भाषाओं-की ध्वनियोंका निरर्थक अन्वेषण करनेवाले ध्वनि-वैज्ञानिकोंको इस ओर विशेष ध्यान देकर सामाजिक और मनोवैज्ञानिक भाषा-शास्त्रका अधिक अध्ययन करना चाहिए क्योंकि भाषा या वाणीका प्रयोग पूर्णतः सामाजिक प्रक्रिया है और उसका अध्ययन उसी दृष्टिसे अर्थात् सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे ही अधिक होना चाहिए।

●●

अभिधानानुक्रम

आ

इ

ई

घ

च

छ

ज

ट

ड

फ

ब

ल

व

श

स

ह

प्रस्तावनाका शब्दानुक्रम

